सौंदर्य — मीमांसा

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोधन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य: राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

सौंदर्य—मीमांसा

लेखक

रा. भा. पाटणकर

अनुवादक

चंद्रकांत बांदिवडेकर

साहित्य अकादेमी

Saundarya Mimansa (सौंदर्य – मीमांसा);
Hindi translation by Chandrakant Bandivadekar of R. B. Patankar's Akademi Award winning book on Aesthetics in Marathi.
Sahitya Akademi, New Delhi

Published by:
Sahitya Akademi
Head Office:
Rabindra Bhavan, 35, Ferozeshah Road,
New Delhi 110 001
Sales Department:
Basement in 'Swati', Mandir Marg, New Delhi 110 001

Regional Offices:
172, M. M. G. S. Marg, Dadar (East), Bombay 400 014
Jeevan Tara, 23A/44X, Diamond Harbour Road, Calcutta 700 053
29, Eldams Road, Teynampet, Madras - 600 018

Printed by:
Fontasey
212 Mahadkar Chambers
127/3A, Karve Road,
Pune 411 029

मूल्य 120 रुपये

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रंथ के स्वरूप के बारे में थोड़ा स्पष्टीकरण देना आवश्यक लग रहा है, इसलिए यह प्रस्तावना है। जिन्होंने पारंपरिक सौंदर्य-शास्त्रज्ञों की पुस्तकें पढ़ी हों, उन्हें मेरे ग्रंथ का प्रस्तुतीकरण एवं विचार करने की मेरी पद्धति बहुत कुछ अनपहचानी लगने की संभावना है। अत: यह गलतफहमी होने की संभावना है कि मैंने भी पारंपरिक पद्धति से ही पुस्तक लिखने का प्रयत्न किया है, परंतु उसमें मुझे असफलता प्राप्त हुई है। इसलिए बिलकुल प्रारंभ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रीय पुस्तकों में प्राप्त प्रस्तुतीकरण प्रणाली को यहाँ हेतुत: टाल दिया गया है। इसका कारण यह है कि सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप के संबंध में मेरी कल्पना पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रियों की अपेक्षा बहुत कुछ अलग है। विचार करने की मेरी पद्धति भी पारंपरिक पद्धति की अपेक्षा अलग है। मैं आज के युग में जी रहा हूँ। अत: आधुनिक विचारपद्धतियों का मुझपर थोड़ा बहुत प्रभाव है, उनमें से कुछ पद्धतियों को मैंने जान-बूझकर स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वे मुझे फलप्रद लगीं। जिन्होंने पिछले तीस-चालीस वर्षों में पाश्चात्य देशों में दर्शन पर लिखीं पुस्तकें पढ़ी हों, उन्हें मेरी विचार पद्धति में अनपहचाना-सा कुछ नही लगेगा। अर्थात् मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वह सब आधुनिकों को स्वीकार्य होगा या पसंद आएगा ऐसा नहीं है। यद्यपि यह सही है कि मेरी अध्ययन पद्धति उन्हें अनपहचानी नहीं लगेगी तथापि मेरा अध्ययन-विषय अनेक आधुनिकों को अपरिचित लगेगा। सौंदर्य संवाक्य का स्वरूप, मूल्य - अवधारणाओं का स्वरूप, इत्यादि विषयों पर मैं अपना सारा ध्यान केंद्रित करूँ इसके बदले मेरा प्लेटो, अरस्तू, कांट, क्रोचे, शंकुक, अभिनवगुप्त, वामन मल्हार के सिध्दांतों की चर्चा करना शायद उन्हें नहीं रुचेगा, क्योंकि बहुत सारे आधुनिकों को सौंदर्यादि अवधारणाओं के आशय की अपेक्षा उनकी तार्किक विशिष्टताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण लगती हैं। चूँकि पारंपरिक और आधुनिक भूमिकाओं में समन्वय का मेरा प्रयास है, दोनों पक्षों की ओर से मेरा अभिनंदन होने के स्थान पर दुहरी गलतफहमी के फलस्वरूप दोनों की ओर से दूषण मिलने की संभावना अधिक है। लेकिन इसका कोई उपाय नहीं है।

हमारे यहाँ पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रीय पद्धतियों की थोड़ी बहुत जानकारी होने के कारण यह बताना आवश्यक है कि उन पद्धतियों की अपेक्षा मेरी पद्धति कुछ अंशों में अलग किस प्रकार है। पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रज्ञ का गृहीतक होता है कि सभी कलाओं में एक समान तत्त्व होता है और उसे खोज निकालना सौंदर्यशास्त्री का उद्देश्य है।

इसलिए वह कला एवं सौंदर्य की परिभाषा देता है, अपने सिद्धांत को प्रस्थापित करने के लिए अन्य सिद्धांतों का खंडन करता है। यह मुद्दा स्पष्ट होगा अगर हम इस गृहीतक एवं उसमें से निकलनेवाली पद्धतियों का उपयोग करनेवाले सौंदर्य-शास्त्रज्ञों के दो एक उदाहरण ले लें. क्रोचे का सिद्धांत है : "कला = प्रातिभ ज्ञान = अभिव्यंजना। इस विश्वास के साथ यह स्पष्ट है कि सभी कलाएँ अभिव्यंजना स्वरूप होती हैं या होनी चाहिए, उसने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इसी वैचारिक प्रणाली का अनुगमन करते हुए मराठी में मर्ढेकर ने 'सुंदर होना = संवाद - विरोध - संतुलन - लययुक्त होना' सिद्धांत प्रस्तुत किया है। क्रोचे या मर्ढेकर के सिद्धांत स्वीकार हों न हों लेकिन ऐसा नहीं हुआ कि उनकी प्रणाली अनपहचानी लगी। दर्शन के अन्य क्षेत्रों में भी कुछ प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं। उन प्रणालियों का उपयोजन कर कोई निष्कर्ष निकालता है तो वे लोगों को अनपहचाने नहीं लगते। "अंतिम वास्तव चित्स्वरूपी है।" और .."अंतिम वास्तव जड़ है" -- ये दोनों सिद्धांत दर्शन की रूढ़ पद्धतियों का उपयोग कर निकाले गए सिद्धांत हैं। लेकिन ऐसा अगर कोई कहे कि "अंतिम यथार्थ के बारे में बोलने का मानवी बुद्धि को अधिकार ही नहीं है, अत: ऐसे संवाक्य कि अंतिम यथार्थ चित्स्वरूप है या वह जडरूप है, अर्थयुक्त संवाक्य ही नहीं है", तो जिस पाठक का पारंपरिक दर्शन से ही परिचय है, वह संभ्रम में पड़ जाता है। उसी तरह "सौंदर्य अभिव्यंजना है" अथवा "सौंदर्य लययुक्त रचना है" ऐसे संवाक्य रूढ़ प्रणाली के साँचे में बैठ जाते हैं। लेकिन "क्या सौंदर्य की परिभाषा संभव है?", "क्या सौंदर्य का एक-ही-एक तत्त्व होता है?" -- ऐसे प्रश्न अगर कोई पूछे तो चूँकि वे रूढ़ साँचे में बैठनेवाले नहीं हैं, पाठक संभ्रम में पड़ता है, मर्ढेकर का सिद्धांत रूढ़ चौखटे का सिद्धांत है। इसलिए वह न ठीक लगे तो भी उसका क्या करना है, इसे पाठक जानता है। लेकिन रूढ़ पद्धति को छोड़कर कोई प्रश्न उपस्थित किया जाए अथवा सिद्धांत प्रस्तुत किया जाए तो पाठक की समझ में नहीं आता कि उसका क्या किया जाए। रूढ़ पद्धति अनपहचानी होने के कारण पाठक संभ्रमित होता है, लेकिन उसे लगता है कि वह पद्धति ही संभ्रमवाली है। पाठकों से प्रार्थना है कि नई पद्धति से सहमकर उसे त्याज्य मानने का निष्कर्ष न निकाला जाए।

सौंदर्यशास्त्र में रूढ़ हुई दूसरी है प्रणाली अलग-अलग सौंदर्य सिद्धांतों का कालक्रम के अनुसार इतिहास लिखने की। इतिहासकार के पास अपना कोई खास सिद्धांत हो तो वह यह बतलाता है कि इतिहास के चरण उस सिद्धांत की दिशा में कैसे पड़ रहे थे और उनका वैसे पड़ना कैसे अपरिहार्य भी था। इस प्रकार का इतिहास सौंदर्य-अवधारणा के विकास का इतिहास सिद्ध होता है। बोसांके का "हिस्टरी ऑफ एस्थेटिक" इस पद्धति का उत्तम नमूना है।

आज-कल एक और पद्धति रूढ़ होती जा रही है; वह है विविध सौंदर्य सिद्धांतों

की जानकारी देते हुए उनपर लिखित विविध लेखों का संग्रह करने की। लेकिन यह सर्वदर्शन-संग्रह प्रणाली तात्त्विक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त तीनों रूढ़ प्रणालियों को जान-बूझकर टाला गया है। पहली पद्धति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूढ़ पद्धति है। उसको यहाँ टाला गया है, क्योंकि उसी के पीछे का गृहीतक मुझे स्वीकार्य नहीं है। वह गृहीतक यह है कि अगर अनेक चीजों को हम एक ही नाम देते आ रहे हों तो उन चीजों में समान सार्वत्रिक तत्त्व होना चाहिए. अगर अनेक जानवरों को "गाय" नाम दिया गया हो तो उनमें एक समान तत्त्व - गोत्व- होना चाहिए। यह तत्त्व खोज निकालना शास्त्र का कार्य है। विज्ञान में यह गृहीतक कुछ अंशों में फलप्रद हुआ है। इसलिए कला, वाङ्.मय इत्यादि के अध्ययन में भी वही गृहीतक लोगों को स्वीकार्य लगे तो उसमें आश्चर्य नहीं। अत: यह माना जाता है कि काव्यशास्त्र का कार्य समस्त काव्य में समान तत्त्व खोज निकालना है अथवा सौंदर्यशास्त्र का कार्य सभी सुंदर वस्तुओं का समान तत्त्व खोज निकालना है। लेकिन यह प्रश्न प्राय: नहीं पूछा जाता कि क्या समस्त काव्य में अथवा सुंदर वस्तुओं में समान एक तत्त्व वर्तमान रहता है? या हो सकता है सौंदर्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र और विज्ञान की तुलना की जाए तो यह प्रश्न कितना आवश्यक है, यह ध्यान में आएगा।

गत दो हजार वर्षों में विज्ञान ने अनुसंधान के कार्य में प्रचंड प्रगति की है। सौंदर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। "सौंदर्य याने क्या?". "उत्तम शोकान्त नाटक के वैशिष्ट्य क्या हैं?", ये प्रश्न दो हजार वर्ष पहले पूछे गए थे और उसी तरह वे आज भी पूछे जाते हैं। उनके सर्वमान्य उत्तर आज भी प्राप्त नहीं हुए हैं। ऐसा नहीं कि इस क्षेत्र में बुद्धिमान अध्येताओं की कमी थी। इसलिए प्रगति नहीं हुई। प्लेटो, अरस्तू, शंकुक, अभिनवगुप्त, आनंदवर्धन, कांट, हीगेल, क्रोचे, ड्युई, रिचर्डस, लैंगर इत्यादि सौंदर्यशास्त्रियों की गिनती प्रथम श्रेणी के बुद्धिमान लोगों में की जाएगी। ऐसा भी नहीं कि अध्ययन के लिए विषयों की उन्हें कमी थी, क्योंकि हजारों "सुंदर कलाकृतियाँ इन लोगों के सामने थीं। फिर सौंदर्य का अनुसंधान करने के कार्य में मनुष्य को असफलता क्यों मिली?

इसपर विचार करने पर एक अलग ही स्पष्टीकरण समझ में आता है. वह यह कि पारंपारिक सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन की दिशा ही गलत रही होगी। यह दिशाभ्रम इसलिए हुआ होगा कि विज्ञान की ओर शोध-प्रक्रिया के एक आदर्श के रूप में देखा गया। इस कारण से गलत अपेक्षाएँ पैदा हुई होंगी और अपरिहार्यत: अपेक्षा-भंग के फलस्वरूप निराशा पैदा हुई होगी। सौंदर्यशास्त्रीय क्षेत्र के आविष्कार विज्ञान के आविष्कारों की तरह न होने की शायद शक्यता है। प्राकृतिक सृष्टिनियम के सिद्धांतों एवं सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांतों की जाति ही अलग होगी। यह गृहीतक गलत होगा कि

समस्त गौओं में जिस तरह गोत्व होता है उस तरह समस्त सुंदर वस्तुओं में सौंदर्य नामक एक समान तत्त्व होना चाहिए। 'गाय', 'आम्ल', 'ग्रह' अवधारणाओं में और 'सौंदर्य' या 'काव्य' अवधारणाओं में मूलभूत भेद होगा। उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि सौंदर्य, कला, वाङ्.मय आदि अवधारणाओं के तार्किक वैशिष्ट्यों की चिकित्सा करने से पहले, "सौंदर्य क्या है?" "कला का तत्त्व किसमें होता है?" इत्यादि प्रश्न हल करने का प्रयत्न फलप्रद नहीं होगा।

"सौंदर्य अभिव्यंजना है।", "सौंदर्य याने संवाद-विरोध संतुलन-लययुक्त रचना", "कला याने भावना की संरचना का प्रतीक", इत्यादि चुस्त और चमकदार परिभाषाएँ देकर हमें सौंदर्य एवं कला का सत्व प्राप्त हुआ है, ऐसा कहना एकसत्वतर्कभास (essentialistfallacy) है। प्रस्तुत पुस्तक में सौंदर्य एवं कला की इस तरह की इकहरी या एकस्तरीय परिभाषा देना जान-बूझकर टाला है। जिसने कांट एवं मूर के बाद के आधुनिक दार्शनिकों का मूल्य - अवधारणाओं के बारे में विवेचन पढ़ा है, उसके पास एकस्तरीय परिभाषा देने का आसान परंतु धोखा-धड़ी वाला रास्ता टालने के अलावा दूसरा रास्ता नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य यह दिखाना नहीं है कि पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र संपूर्णत: गलत है, इसमें शक नहीं कि पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रों ने महत्त्वपूर्ण काम किया है। लेकिन उनका यह दावा टिकनेवाला नहीं है कि यहाँ हमें सौंदर्य का सार्वभौमिक सत्त्व प्राप्त हुआ है इसका अर्थ यह हुआ कि पारंपरिक सौंदर्य सिद्धांत न होकर अर्ध-सत्य बतानेवाले सिद्धांत हैं। इन समस्त सिद्धांतों से व्यक्त होनेवाले अर्ध-सत्य एकत्र कर ही सौंदर्य का स्वरूप समझा जा सकता है। लेकिन उन्हें एकत्र करना उतना आसान काम नहीं है, क्योंकि उनमें से कुछ सिद्धांत एक दूसरे के पूरक अर्ध-सत्य बतानेवाले होते हैं। पर ध्यान में आएगा कि इसमें से रास्ता निकालना हो तो सौंदर्य की एक नई लेकिन अर्ध-सत्य बतानेवाली परिभाषा बनाकर काम नहीं चलेगा। उसके लिए प्रचलित सिद्धांतों की नई व्यवस्था लगानेवाला एक अवधारणात्मक मानचित्र तैयार करना होगा। ऐसा मानचित्र प्रस्तुत करना प्रस्तुत ग्रंथ का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

इस पुस्तक के पहले तीन अध्यायों में सौंदर्यवादी मूल्य अवधारणाओं, सौंदर्य संवाक्यों और उसके संबंध में होनेवाले वादों के तार्किक वैशिष्ट्य खोजने का प्रयास किया गया है। इन अध्यायों की कुल चर्चा का निष्कर्ष यह है कि सौंदर्य, कला इत्यादि अवधारणाएँ द्विध्रुवात्मक होती हैं। द्विध्रुवात्मकता के सिद्धांत की सहायता से सौंदर्य संबंधी प्रचलित सिद्धांतों की एक नई व्यवस्था लगाई जा सकती है अथवा एक नया सैद्धांतिक मानचित्र बनाया जा सकता है। किसी भी सौंदर्य सिद्धांत का आकलन एवं मूल्यांकन इस नक्शे के कारण सहजता से हो सकता है। सौंदर्य एवं कला अवधारणाओं के दो ध्रुवों में एक ध्रुव मानता है कि सौंदर्य संबंधी सभी व्यवहार और जीवन के अन्य

व्यवहार एक ही जाति के हैं और उनमें केवल संख्यात्मक अंतर रहता है। ये दो सैद्धांतिक भूमिकाएँ स्वतंत्र, परस्पर व्यावर्तक एवं परस्पर विरोधी हैं। दोनों की नींव हमारी प्रत्यक्ष समीक्षा में है। इन दो भूमिकाओं को "अलौकिकतावाद" एवं "लौकिकतावाद" नाम सुविधा के लिए दिए जा सकते हैं।

अलौकिकतावाद का परिपोष कांट एवं विश्वचैतन्यवादियो ने किया। चौथे एवं पाँचवें अध्यायों में कांट, हीगेल, बोसांके, क्रोचे और कालिंगवुंड के विचारों का परिचय एवं उनपर चर्चा की गई है। इन विचारकों की राय में सौंदर्यानुभव ज्ञानात्मक या व्यवहारात्मक अनुभवों की अपेक्षा मूलतः भिन्न है। सौंदर्यास्वाद में आस्वादक की भूमिका तटस्थ अवलोकन की होती है, उसे ज्ञानात्मकता अथवा क्रियात्मकता का स्पर्श नहीं हुआ होता। उसी तरह आस्वाद विषय का सत्ताशास्त्रीय स्वरूप एवं उसकी रचना में और लौकिक व्यवहार की चीजों का स्वरूप एवं उनकी रचना के बीच जमीन आसमान का फर्क रहता है।

इसके विपरीत, प्लेटो, अरस्तू, तोलस्तोय, रिचर्ड्स, ड्युई आदि मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी विचारकों की राय में सौंदर्यस्वाद की अपनी भूमिका तत्त्वतः अपने लौकिक जगत् की भूमिका की तरह ही होती है। कलाकृति का सत्ताशास्त्रीय स्वरूप लौकिक जगत् की वस्तुओं के स्वरूप की अपेक्षा अलग होने पर भी उनकी संरचना एक ही प्रकार की होती है, उसी सौंदर्यानुभव एवं अन्य अनुभव में प्राकारिक अंतर नहीं होता।

छठे अध्याय से समीक्षा के विभिन्न प्रश्नों के संदर्भ में लौकिकतावाद एवं अलौकिकतावाद में संघर्ष किस तरह होता है, इसका दिग्दर्शन किया गया है। उपरोल्लिखित अलग अलग प्रश्न प्रत्यक्ष समीक्षा में ही उपस्थित होते हैं। किसी भी कलाकृति के बारे में विचार करते हुए स्वाभाविकतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह निर्मित कैसे हुई। अलौकिकतावादियों को इस प्रश्न में रस नहीं होना, क्योंकि उनकी राय में कलाकृति का आशय उसमें देहीभूत होने के कारण आस्वाद के संदर्भ में कलाकृति का निर्माता कौन है और कला निर्मिति प्रक्रिया का स्वरूप क्या होता है जैसे प्रश्न अप्रासंगिक बनते हैं। लेकिन लौकिकतावादियों को दोनों प्रश्नों में विशेष आस्था होती है। इसका कारण यह है कि उनको लगता है कि अगर सृजन प्रक्रिया के नियम प्राप्त हुए और अगर वे विज्ञान की कक्षा में आनेवाले हों तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि कला का लौकिक जगत् की प्राकृतिक प्रक्रियाओं से संबंध है: छठे और सातवें अध्यायों में स्पेन्सर, शिलर, वालस, स्पिअरमन, फ्रायड एवं मार्क्स के सृजनसिद्धांतों की चर्चा की गई है। उसी तरह सृजन-प्रक्रिया से प्रत्यक्ष और संबद्ध कल्पनाशक्ति, चमकृतिशक्ति, प्रतिभा, उत्स्फूर्तता, आत्मनिष्ठा, प्रामाणिकता जैसी अवधारणाओं और जीवनीपरक समीक्षा पद्धति के बारे में विवेचन भी किया गया है।

कलाकृति के संबंध में विचार करने का दूसरा मार्ग है कलास्वाद का विश्लेषण। आठवें अध्याय में आस्वाद के दो महत्त्वपूर्ण अंगों, सुखात्मकता और भावनात्मकता, की चर्चा की गई है। सुख की अवधारणा बहुत व्यामिश्र है और मनोविज्ञान और दर्शन की सहायता से उसका विश्लेषण आवश्यक बन जाता है। कलास्वाद की भावनात्मकता का विचार करते समय भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध रससिद्धांत की चर्चा अटल है। इस संदर्भ में शंकुक और अभिनवगुप्त के साथ आधुनिक मराठी समीक्षक न. चिं. केलकर और वा. म. जोशी के मतों की चिकित्सा की गई है। यह प्रश्न भी चर्चित हुआ है कि कलास्वाद की भावनात्मकता एवं आनंदरूपता लौकिक है या अलौकिक। उसी तरह बुलो के मानसिक अंतर के सिद्धांत का भी विवेचन किया गया है।

कला-समीक्षा में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। अलौकिकतावादी कुछ भी कहे परंतु ये प्रश्न संबद्ध हैं। इनको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वे समीक्षा में मान्य भी करते हैं। पहला प्रश्न कला और नीति के संबंध का है। नीति का अर्थ जीवन-निष्ठा या जीवन-मूल्य लिया जाए तो यह प्रश्न समीक्षकों को विशेषत: वाङ्.मयीन समीक्षकों को कितना महत्त्वपूर्ण लगता है, यह ध्यान में आता है। इस प्रश्न की चर्चा प्लेटो, अरस्तू, तोलस्तोय, रिचर्ड्स, ड्यूई और मार्क्सवादी एवं आस्तित्वादी चिंतकों की सहायता से नौवें अध्याय में की गई है।

उपरोल्लिखित प्रश्नों में से दूसरा प्रश्न कला एवं सत्य के बीच के संबंध का है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्यक्ष समीक्षा में कलाकृति का मूल्य एवं उसकी यथार्थ दर्शन-क्षमता में निश्चित संबंध है। सत्य एवं ज्ञान की अवधारणाएँ भी बहुत व्यामिश्र हैं। यहाँ भी दर्शन की मदद लेनी पड़ती है। प्लेटो, रिचर्डस, मैक्डोनोल्ड, अरस्तू, लैंगर, क्रोचे इत्यादि विचारकों की मदद से कला में ज्ञानात्मकता एवं वैचारिकता के बारे में दसवें अध्याय में विवेचन किया गया है।

छह से दस अध्याओं के प्रश्नों की चर्चा के निष्कर्ष लौकिकतावाद की ओर उन्मुख हैं। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इन अध्यायों में मुख्यत: आशययुक्त कलाओं, विशेषत: वाङ्.मय - कला, को प्रधानता दी गई है। इसका अर्थ यह है कि कला की आशय - संपृक्ति जितनी अधिक उतना ही उसका लौकिकतावाद की ओर रुझान अधिक। अलौकिकतावादियों का असली गढ़ है - अर्थ - विमुक्त संगीत एवं केवल रचना पर बल देनेवाली चित्रकला। लेकिन आशय - संपृक्त कलाओं में भी अलौकिकतावाद को प्रस्थापित करने का दृढ़ प्रयास लौकिकतावादियों ने किया है। उनका विश्वास है कि लौकिक जीवन के समस्त आशय को स्वीकार कर उसका अलौकिक रूपतत्त्व की सहायता से रूपांतर किया जा सकता है। इसलिए इस बात की खोज नौवें अध्याय में की गई है कि क्या आशयसंपृक्त कलाकृतियों को निसर्गत: लगाया जा सके ऐसा कोई अलौकिक रूपतत्त्व अस्तित्व में है। इस संदर्भ में आशय

एवं अभिव्यक्ति के संबंध वाड्.मय प्रकार की अवधारणा, लयतत्त्व, औचित्य, आशय के संघटनतत्त्व की चर्चा की गई है और एम्पसन, ब्रूक्स, मर्ढेकर के सिद्धांतों का भी विचार किया गया है।

बारहवें अध्याय में पुस्तक के कुल विवेचन का संक्षेप में सर्वेक्षण किया गया है और यह दिखाया गया है कि अलग अलग प्रश्नों के संदर्भ में की गई चर्चा के निष्कर्ष द्विध्रुवात्मकता के सिद्धांत के कैसे पोषक हैं।

आरंभ में ही कहा गया है कि समीक्षा की अवधारणाओं का विश्लेषण कर एक अवधारणात्मक मानचित्र तैयार करना एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। इस काम को व्यवस्थित रूप में करना हो तो केवल "सौंदर्य" और "कला" अवधारणाओं पर ध्यान केंद्रित करके काम नहीं चलता। इस अवधारणात्मक मानचित्र में अनेक अवधारणाओं का अंतर्भाव करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, आनंद या सुख, तटस्थ अवलोकन, निरपेक्षता, सेंद्रिय समष्टि एवं बंध, रचना, अभिव्यंजना, प्रातिभज्ञान, भावना, कल्पना शक्ति, चमत्कृतिशक्ति, प्रतिभा, नवीनता, अनन्यसाधारणता, नवनिर्मिति, आत्मनिष्ठा, सच्चाई, जीवननिष्ठा, प्रेरणा-संतुलन, रूप, साध्य-साधन, आशय-अभिव्यक्ति, संभवनीयता, अपरिहार्यता, अश्लीलता, लय, शैली, वाड्मय-प्रकार, अनुकृति, रस, औचित्य, ध्वनि इत्यादि। इनमें से बहुत-सी अवधारणाओं का दार्शनिकों ने उपयोग किया है और उन्हें जो विशिष्ट दार्शनिक संदर्भ है, उसकी भी खोज करनी पड़ती है। इन अवधारणाओं के विकट एवं व्यामिश्र जाल का विश्लेषण करते करते सौंदर्य की अवधारणा स्पष्ट होती है। इस भान से प्रस्तुत पुस्तक की रचना विशिष्ट प्रकार से की गई है। विश्वास है कि विचारशील पाठक यह मान्य करेगा कि रचना बहुत उलझनपूर्ण होकर भी फलप्रद है।

मैं इस ग्रंथ में दो स्तरों पर कार्य कर रहा था। इन दो स्तरों पर मैंने दो परस्पर पोषक, लेकिन अलग अलग सिद्धांतों का समर्थन किया है। सौंदर्यवादी अवधारणाओं के तार्किक वैशिष्ट्यों का जिस स्तर पर अध्ययन होता है वह अधि-सौंदर्यशास्त्र (meta-aesthetics) का स्तर है। यहाँ मैंने द्विध्रुवात्मकता का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। सौंदर्यवादी अवधारणाओं के आशय की चर्चा दूसरे स्तर पर होती है। यहीं मैंने अपने अति निकट होनेवाली वाड्.मय-कला को केंद्रीय स्थान दिया है। इस संदर्भ में अधिकांशत: मैंने लौकिकतावाद का समर्थन किया है। बीसवीं शती के उत्तरार्ध में लौकिकतावाद का समर्थन करने का अर्थ है कांट द्वारा प्रतिपादित प्रचंड व्यूह से बाहर निकलने का प्रयास। जिन्हें इस व्यूह की कल्पना है उन्हें पता चलेगा कि मेरा काम कितना कठिन था। कांटवादी सौंदर्यशास्त्री स्वयं एक बडे व्यूह के साथ संघर्ष कर रहे थे। अत: कांट के साथ संघर्ष करते समय इस व्यूह का भी विचार मन में रखना पड़ता है. इस तरह हम वैश्विक सौंदर्य-विचार के असीम विश्व तक

आ पहुँचते हैं। लौकिकतावाद महाराष्ट्र के लिए नया तो नहीं है लेकिन जिस पृष्ठभूमि पर उसे यहाँ प्रस्तुत किया गया है वह पृष्ठभूमि महाराष्ट्र के लिए अधिकांशतः अपरिचित है। दर्शन में ऐसी घटनाएँ बार-बार देखने को मिलती हैं, वे ही सिद्धांत पुनः पुनः प्रस्तुत किए जाते हैं। लेकिन जब कभी इनमें से सनातन सिद्धांत पुनः-पुनः प्रस्तुत किए जाते हैं, तब उन में ताज़गी होती है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उस सिद्धांत को नए ढंग से प्रस्तुत करते समय नए आक्षेपों का खंडन करना पड़ता है और बदलते हुए बौद्धिक वातावरण का भान रखना पड़ता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में अनेक नए पुराने सौंदर्य सिद्धांतों का विचार किया गया है। उनमें से कुछ मराठी पाठकों के लिए पूर्णतः अपरिचित हैं और अन्य कुछ ऐसे भी है जिनके बारे में बहुत अधूरी जानकारी है। चूँकि ये सिद्धांत महत्त्वपूर्ण लगे, उनका व्यवस्थित और कभी विस्तृत परिचय करा देना और उनकी चर्चा एवं मूल्यांकन करना आवश्यक लगा। ऐसा करते समय सुलभीकरण का रास्ता जानबूझकर त्याग दिया गया है। मूल सिद्धांतों के पार्श्व में जो वैचारिक दृढ़ता है उसे यथासंभव सुरक्षित रखकर उनका परिचय यहाँ दिया गया है।

जिन्हें इन सिद्धांतों की जानकारी नहीं है उनकी ऐसी समझ बन सकती है कि मैंने केवल पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र को मराठी में ले आने का ही काम किया है। इसका एक अर्थ यह होता है कि अंग्रेजी में जो कुछ तैयार स्थिति में था उसे मराठी में लाने का याने परोसनेवाले का काम मैंने किया है। लेकिन जिन्होंने इन सिद्धांतों का अंग्रेजी में अध्ययन किया है और सौंदर्यशास्त्र पर अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ी हैं उनके ध्यान में यह आएगा कि ऐसा नहीं कि इन सिद्धांतों को समझना केवल भाषा के कारण कठिन बनता है। उनमें उपस्थित अवधारणाएँ एवं उनके मूल में विद्यमान सैद्धांतिक विचार कठिन होने के कारण ही सचमुच में सुलभता से आकलन नहीं हो पाते। इन सिद्धांतों के साथ अध्येता को झगड़ना ही पड़ता है। "पाश्चात्य सिद्धांतों को मराठी में लाना" इस कल्पना में यह बौद्धिक संघर्ष प्रायः अंतर्भूत नहीं होता। फिर किसी पाश्चात्य एवं संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांत को केवल मराठी में विस्तार से विशद करने मात्र से विशेष लाभ नहीं होता; यह भी दिखाना पड़ता है कि इन सिद्धांतों का प्रत्यक्ष समीक्षा के साथ क्या संबंध है। आधुनिक मराठी समीक्षा एवं गत दो सौ वर्षों की अंग्रेजी समीक्षा का संदर्भ ध्यान में रखकर विविध पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धांतों का अध्ययन किया जाए तो इस अध्ययन में जीवंतता आ सकती है। हमारे आज के कला विषयक बोध के दृष्टिकोण से सौंदर्य सिद्धांत का अध्ययन एवं मूल्यांकन नहीं किया जाए तो ये सिद्धांत अनुपयोगी सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए हर सिद्धांत का विचार उसके स्वाभाविक संदर्भ में -- याने 'समीक्षा-व्यापार के संदर्भ में करने का बोधपूर्वक प्रयास यहाँ किया गया है।

विविध सिद्धांतों के संकलन का मेरा उद्देश्य नहीं है। क्योंकि विविध सिद्धांतों के परस्पर संबंध समझ में नहीं आएँगे तो केवल संकलन से कोई लाभ नहीं होगा। उसके लिए अवधारणात्मक मानचित्र की आवश्यकता है। मुझे अभिप्रेत मानचित्र में कालानुक्रम को स्थान न होने के कारण मैंने सिद्धांतों की ऐतिहासिक दृष्टि से रचना नहीं की है।

अवधारणात्मक मानचित्र तैयार करने पर सौंदर्यशास्त्र एवं समीक्षा के विविध विकट प्रश्नों की ओर देखने की एक सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है। ऐसी दृष्टि प्राप्त होना प्रत्यक्ष समीक्षा व्यापार में भी बहुत उपयोगी होता है। उसके कारण कुछ प्रश्न निश्चित ही हल होते हैं और यह भी ध्यान में आता है कि अन्य प्रश्नों के हल के लिए क्या करना चाहिए। उसी तरह यह मालूम होता है कि कुछ प्रश्न व्याजप्रश्न होते हैं। इस मानचित्र के संदर्भ में विद्गिन्स्टाइन की निम्नलिखित उक्ति उद्बोधक सिद्ध होगी : The problems are solved, not by giving new information, but by arranging what we have always known. 'फिलोसोफिकल इन्वेस्टिगेशन' पृ. 47, ग्रंथ के अंत में अध्याय के अनुसार टिप्पणियाँ, चुनिंदा ग्रंथसूची, विषयसूची एवं परिभाषा- सूची भी दी गई है। मूल में संज्ञा अनेकार्थी हो तो संदर्भ के अनुसार उसके लिए अलग-अलग शब्द निश्चित किए गए हैं। मूल अवधारणाओं की विशद चर्चा मेरा उद्देश्य है; अत: प्रतिशब्दों के संबंध में कठोर भूमिका लेना मैंने जान-बूझकर टाला है।

प्रस्तुत ग्रंथ तैयार कैसे हुआ इसके बारे में संक्षेप में बताना आवश्यक है। 1968 में मैंने एस्थेटिक्स सोसायटी एवं मुंबई मराठी साहित्य संघ के तत्त्वावधान में इस विषय पर व्याख्यान दिए। एस्थेटिक्स सोसायटी के कार्यवाह प्रा. अशोक रानडे की एक शर्त हर व्याखाता को स्वीकार करनी पड़ती है। वह यह कि व्याख्यान संपूर्ण लिखा हुआ होना चाहिए। उसके बाद 1969 में रायटर्स सेंटर की ओर से पुणे में एवं 1970 में मराठवाड़ा विद्यापीठ तथा मराठवाड़ा साहित्य परिषद की तरफ से औरंगाबाद में इसी विषय पर व्याख्यान देने का सुयोग प्राप्त हुआ। मेरा सौभाग्य था कि इन तीनों स्थानों पर व्याख्यानों के लिए विभिन्न ज्ञानशाखाओं में कार्य करनेवाले विद्वान एवं मराठी के कुछ ज्येष्ठ एवं तरुण प्राध्यापक उपस्थित थे। व्याख्यान में और व्याख्यान के बाद श्रोताओं में से अनेकों ने बहुत मार्मिक प्रश्न उपस्थित किए और मुझे नए ढंग से विचार करने को प्रेरित किया। पिछले कुछ वर्षों से मैं मुंबई विश्वविद्यालय में एम. ए. के छात्रों को सौंदर्यशास्त्र विषय पढ़ाता आ रहा हूँ। कक्षा में होनेवाली चर्चाओं से भी मैं लाभान्वित हुआ। इन सभी चर्चाओं के संदर्भ में मैंने ग्रंथ का पुनर्लेखन किया।

व्याख्यानों के बाद एवं कक्षा की चर्चाओं में जिन्होंने भाग लिया उन सब के नाम

देने हों तो वह बड़ी लंबी सूची होगी। इन सबका मैं मन:पूर्वक आभारी हूँ. लेकिन तीन चार मित्रों का व्यक्तिश: निर्देश करना ही होगा। प्रा. मे. पु. रेगे, प्रा. श्री. पु. भागवत, प्रा. अशोक रानडे एवं श्री मिलिंद मालशे ने अनेक छोटे-बड़े प्रश्नों को लेकर मेरे साथ गहराई में जाकर चर्चा की। इन मित्रों के साथ हुई अनेक बैठकों में परिभाषा भी निश्चित की गई. परिभाषा के बारे में प्रा. दि. य. देशपांडे(अमरावती) से बहुत मदद हुई। ग्रंथ की अंतिम प्रति तैयार करते समय इन सबके साथ हुई चर्चा का एवं उनके सुझावों का मुझे बहुत उपयोग हुआ।

प्रा. भागवत के संबंध में कृतज्ञता अनुभव करने के और दो कारण हैं। उनके कार्य का व्याप बहुत बड़ा है। फिर भी मेरे ग्रंथ के लिए उन्होंने इतना समय दिया और उसके लिए इतना परिश्रम किया कि मुझे बहुत संकोच हो रहा है। इसमें भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मेरी वाङ्.मयीन भूमिका उनकी वाङ्.मयीन भूमिका से संपूर्णत: विरोधी होकर भी उन्होंने मेरी पुस्तक का बहुत आत्मीयतापूर्वक पालनपोषण किया। इसलिए नए लेखकों के लिए मौज प्रकाशन संस्था एक आशास्थान प्रतीत होता है। श्री. पु. भागवत का साहित्य संबंधी जो गहरा और सूक्ष्म बोध है, उसका एवं उनके सौजन्य का बार-बार उल्लेख होता ही रहता है। लेकिन उनकी जिद, कठोर अनुशीसनप्रियता, लेखकों को अनुशासित करने के कौशल का जो अनुभव मुझे मिला, उसका भी उल्लेख आवश्यक है।

पुस्तक के संदर्भों की जाँच करने में मुंबई विद्यापीठ के ग्रंथालय के श्री चंद्रकांत राजे ने मेरी बड़ी मदद की। पुस्तक की मुद्रणप्रति मौज प्रकाशन के श्री सुनील कर्णिक ने तैयार की. इस ग्रंथ की छपाई का काम कुछ उलझनपूर्ण रहा, फिर भी मौज प्रिंटिंग ब्युरो एवं मौज प्रकाशन-गृह प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों के सहयोग से ही उत्तम ढंग से वह पूर्ण हो सका। मैं इन सबका आभारी हूँ.

रा. भा. पाटणकर.

□□

अनुक्रमणिका

अध्याय 1
सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप

1.1

किसी भी विषय के व्यवस्थित एवं तर्कशुद्ध अध्ययन को हम 'शास्त्र' कहते हैं। तर्कशास्त्र, भाषाशास्त्र, नीतिशास्त्र, रसायनशास्त्र इत्यादि नामाभिधान यही बात मन पर अंकित करते हैं। लेकिन कुछ अधिक गहरे उतरने पर ध्यान में आएगा कि इन सभी शास्त्रों के उद्देश्य एवं प्रणालियाँ समान नहीं हैं। कुछ शास्त्र अनुभवजनित ज्ञान की खोज में लगे रहते है और उसे प्राप्त करने के लिए विशिष्ट पद्धतियों का उपयोग कर लेते हैं। इन शास्त्रों का एक स्वतंत्र विभाग बनता है। इस विभाग के शास्त्रों को "विज्ञान" कहा जा सकता है। इस विभाग के बाहर के शास्त्र उद्देश्य एवं प्रणाली दोनों दृष्टियों से अलग हैं। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि सौंदर्यशास्त्र को कहाँ तक विज्ञान माना जा सकता है? एक विशिष्ट विषय का व्यवस्थित एवं तर्कशुद्ध अध्ययन होने के कारण उसे 'शास्त्र' तो कहा जा सकता है लेकिन यह प्रश्न है कि उसे कहाँ तक विज्ञान कहा जा सकता है।

मराठी मे यह धारणा बल पकड़ती जा रही है कि सौंदर्यशास्त्र विज्ञान है। हमारे यहाँ सौंदर्यशास्त्र को लेकर जो रोब-दाब है वह यही दर्शाता है। बहुत से समीक्षकों का यह विश्वास है कि सौंदर्यशास्त्र की मान्यताएँ कितनी ही चमत्कारपूर्ण लगें, आखिर उन्हें सत्य के रूप में स्वीकारना ही होगा। जमीन हमें सपाट दिखती है फिर भी भूगोल-विज्ञान की यह बात कि पृथ्वी गोल है, हम स्वीकार कर ही लेते हैं। कुछ ऐसा ही सौंदर्यशास्त्र की स्थापनाओं के बारे में होता दिख रहा है।

सौंदर्यशास्त्र को विज्ञान मानने का अर्थ यह है:—

(अ) अन्य विज्ञानों का जैसा अध्ययन का खास अपना इलाका होता है वैसा सौंदर्यशास्त्र का भी खास अपना इलाका है। उदाहरण के लिए कलाकृति और प्राकृतिक सौंदर्य।

(आ) अन्य विज्ञानों में सत्य के अन्वेषण की जो प्रणाली स्वीकृत है, वही सौंदर्यशास्त्र में भी उपयोग में लाई जाती है।

(इ) इस प्रणाली का उपयोग करके सौंदर्यशास्त्र अपने अध्ययन क्षेत्र की वस्तुस्थिति के नियम खोज निकालता है और इस तरह वस्तुस्थिति के अपने अर्थ लगाता है। ये नियम निश्चय ही सृष्टि के नियमों की तरह होते हैं।

ऐसे भोले लोग बहुत विरल हैं जो यह मानते हैं कि सौंदर्यशास्त्र स्वतंत्र विज्ञान

है। लेकिन ऐसे लोग बहुत हैं जो यह मानते हैं कि सौंदर्यशास्त्र मनोविज्ञान का एक अंग है। मराठी में मनोविज्ञान की सहायता लेकर सौंदर्यशास्त्र पर लेखन होने लगा है, इसमें संदेह नहीं कि यह लेखन इस विश्वास के साथ हो रहा है कि बिना मनोविज्ञान की सहायता के सौंदर्यशास्त्र पर सही ढंग से विचार हो ही नहीं सकता। इस विश्वास के निर्माण होने के कारण सहज ही ढूँढ़े जा सकते हैं। सौंदर्यशास्त्र के संबंध में बोलते समय हम जो अवधारणाएँ उपयोग में लाते हैं, वे प्राय· सभी मन के व्यापार से संबद्ध हैं। उदाहरणार्थ आह्लाद, आनंद, भावना, प्रेरणा, कल्पनाशक्ति, एकचित्तता, आस्था इत्यादि। मानसव्यापार मनोविज्ञान का अपना खास इलाका होने के कारण हमें स्वाभाविक रूप में यह लगता है कि मनोविज्ञान को अवगत कर लेने पर सौंदर्य संबंधी प्रश्न झट से हल हो सकते हैं। कला की निर्मिति एवं आस्वाद की प्रक्रियाओं पर मनोवैज्ञानिकों ने जो लिखा है उससे उपर्युक्त विश्वास की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, स्पिअरमन ने अपने "द क्रिएटिव माइंड" नामक पुस्तक में मानसघटितों की नवनिर्मिति के नियम दिए हैं और दावा किया है कि कला के क्षेत्र में सृजन भी इन्हीं नियमों के अनुसार होता है। कुछ अंशों में फ्रायडवादियों ने भी ऐसा दावा किया है। कला-निर्मिति एवं कलास्वाद की प्रक्रियाओं को मनोवैज्ञानिक सिध्दांतों के चौखटे में बिठाने के फलस्वरूप स्वाभाविक रूप में यह धारणा होती है कि एक बार इस चौखट को जान लें, तो सौंदर्य के (उसके निर्माण के एवं आस्वाद के) मर्म को समझना मुश्किल नही है।

इस संबंध में मेरी भूमिका यह है कि सौंदर्यशास्त्र स्वतंत्र विज्ञान नहीं है, न वह मनोविज्ञान का अंग भी है। सौंदर्यशास्त्र किसी भी तरह का विज्ञान नहीं हो सकता। सौंदर्यशास्त्र के प्रश्न, प्रणालियॉं एवं सिध्दांत और विज्ञान के प्रश्न, प्रणालियाँ, सिध्दांत, इनमें मूलभूत अंतर है और उनको गड्डमड्ड करना विषय के अध्ययन की दृष्टि से अनिष्ट है। यह तब सुलझ जाएगा जब हम विज्ञान के स्वरूप एवं प्रणाली को समझ लेंगे।

1.2

विज्ञान के अनेक कार्य हैं ---- वस्तुस्थिति के घटकों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करना, उनके परस्पर संबंधों के सार्वत्रिक नियमों की खोज करना, ऐसे नियमों के आधार पर यह बताने में समर्थ होना कि अमुक घटना निश्चय ही अमुक समय घटेगी ही (prediction), इस ज्ञान से मनुष्य जीवन की सफलता के लिए उपयोगी तंत्रविद्या (technology) का निर्माण करना इत्यादि। लेकिन तात्त्विक दृष्टि से प्रमुख कार्य है सृष्टि में संगति का ज्ञान उपलब्ध करना, उसके रहस्य का भेद जानना, वस्तुस्थिति के छुटपुट घटकों के बीच परस्पर संबंधों के नियम को प्राप्त कर लेना महत्त्वपूर्ण है। ऐसे नियमों को प्राप्त करना ही सृष्टि के घटकों एवं घटनाओं का अर्थ लगाना है।

किसी भी घटना को समझने का मतलब यह जान लेना है कि वह किस सृष्टि-नियम के अनुसार घटित होती है। विज्ञान का कार्य यह मालूम होने पर नही खत्म होता कि क्या करने पर क्या हो सकता है। विज्ञान का लक्ष्य यह खोजने में है कि जो घटित होता है वह किस सृष्टि-नियम के अनुसार घटित होता है और कैसे घटित होता है। सृष्टि का रहस्य जानना विज्ञान का उद्देश्य होता है।

विज्ञान की अपनी परंपरा होती है। कोई भी वैज्ञानिक ऐसी परंपरा में ही कार्य करता है। पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों द्वारा अन्वेषित सृष्टि का ज्ञान उसे संचित के रूप में प्राप्त होता है और वह उसमें अपनी ओर से योगदान करता है। कोई ऐसी घटना उसके निरीक्षण में आती है कि जिसका अर्थ उपलब्ध ज्ञान के आधार से लगाना संभव नही होता। इस स्थिति में वैज्ञानिक समस्या पैदा होती है और उसके दबाव से विज्ञान की प्रगति होती जाती है। समस्या के हल के लिए नए सृष्टि-नियमों की खोज करनी पड़ती है, पुराने नियमों में परिवर्तन करने पड़ते हैं और कुछ समय तक पुराने अवधारणा व्यूह को बिलकुल ही दूर रखना पड़ता है. विज्ञान के क्षेत्र में उपयोग में लाई जाने-वाली प्रणाली को अभ्युपगमनिगामी hypotheticò–deductive प्रणाली कहा जाता है।

इस प्रणाली का निम्नलिखित रूप में विश्लेषण किया जा सकता है–

1. समस्या का पृथक्करण कर उसके घटकों को अलग अलग करना।
2 संबध्द सभी घटकों को एकत्रित करके किसी सामान्य गुणधर्म की सहायता से उनका वर्गीकरण करना।
3. इन घटकों में सुसूत्रता लाने के लिए, घटनाओं का अर्थ लगाने के लिए, अभ्युपगम hypothesis सुझाना।
4. अगर यह अभ्युपगम ठीक है तो क्या क्या घटित होना चाहिए, यह तार्किक नियमों की सहायता से निश्चित करना या उनका निगमन करना।
5. यह जो जो घटित होना चाहिए वह उस प्रकार ही क्यों घटित होता है, इसकी खोज करना और इस तरह अभ्युपगम को वस्तुस्थिति की कसौटी पर कसना।

एक या दो उदाहरणो से इस प्रणाली का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। समझिए कि घर जाने पर देखने में आता है कि ताला नहीं लगा हुआ है। आश्चर्य होता है– क्योंकि अपने घर में और कोई है नहीं अगर यह निश्चय हो कि हम ताला लगाने में भूले नहीं हैं तो यह आश्चर्य बढ़ जाता है। हम स्वाभाविक रूप में कल्पना कर लेते हैं कि चोर ने ताला तोड़ दिया होगा। इसकी जाँच–पड़ताल करने के लिए हम यह देखते हैं कि घर की मूल्यवान वस्तुएँ यथास्थान हैं कि नहीं। अगर वे वहाँ से गायब हों तो हम मानते हैं कि चोरी हुई। यह समस्या घर को ताला न लगने की वस्तुस्थिति से पैदा हुई। उसे हल करने के लिए हमने मन में यह अभ्युपगम ठीक कर लिया कि

चोर आया होगा और वस्तुस्थिति की कसौटी पर उस अभ्युपगम को कसकर देखा कि वह ठीक है अथवा नहीं। यह उदाहरण[1] एक घटना का हुआ। एक दूसरा उदाहरण किसी नियम का ले लेते हैं। सब का अनुभव है कि ऊँचे पहाड़ पर स्थित गाँव में आलू उबालने में तकलीफ होती है। वही आलू बंबई जैसे शहर में झट से उबलते हैं, फिर पहाड़ पर ऐसा क्यों होता है? खोज के लिए उपर्युक्त समस्या इस तरह पैदा होती है। इसके उत्तर में दो-तीन कल्पनाएँ मन में आ जाती हैं। उदाहरण के लिए दोनों स्थानों का जल एक जैसा नहीं होगा, दोनों स्थान एक जैसी ऊँचाई पर न होने से ऐसा होता होगा। मान लीजिए कि हमने इस दूसरी कल्पना का पीछा करना चाहा और प्रयोग के लिए अन्य घटक समान कर लिए। उपलब्ध ज्ञान के आधार पर हम इस समस्या को ऐसे हल कर सकते हैं। ऊँचाई और वातावरण के दबाव का अन्योन्य संबंध है। ऊँचाई जितनी अधिक दबाव उतना कम। उसी तरह वातावरण के दबाव का और उत्कलन बिंदु boiling point का परस्पर संबंध है। जितना दबाव कम उतना उत्कलन बिंदु कम। मतलब ऊँचाई जितनी अधिक उत्कलन बिंदु उतना कम। यानी ऊँचाई पर कम ऊष्णता पर ही पानी उबलने लगता है। लेकिन पानी उबलने पर भी आलू नहीं उबलते क्योंकि आलू उबलने के लिए उतनी उष्णता पूरी नहीं पड़ती। ऊँचाई पर आलू क्यों नहीं उबलते, इस घटना का अर्थ सृष्टि-नियमों की सहायता से लगता है। ये सृष्टि-नियम भी पहले अभ्युपगम ही थे और बाद में अवलोकन एवं प्रयोगों के आधार पर यह सिध्द हुआ कि ये सृष्टि-नियम हैं। अपने उदाहरणों की सत्यता को जाँचने का एक और भी रास्ता है। वह यह कि ऊँचाई पर प्रेशर कुकर में आलुओं को पकाया जाए। इस तरह आलू उबल जाएँगे क्योंकि कृत्रिम ढंग से कुकर में दबाव पैदा किया जाता है। तीसरा उदाहरण मानस व्यवहार के संबंध में है। आदमी के बीमार पड़ जाने पर हम मान कर चलते हैं कि उसके कारण शारीरिक हैं। लेकिन कभी कभी शरीर के स्वस्थ होने पर भी मनुष्य बीमार पड़ जाता है। फ्रायड ने अनुमान किया कि इसका कारण मानसिक होगा। लेकिन उन कारणों की रोगी को जानकारी न होने के कारण उसने यह भी अनुमान किया कि ये कारण जानकारी के क्षेत्र के परे-वाले मानसिक व्यापारों में हो सकते हैं। फ्रायड़ ने इन मानसिक व्यापारों का पूरा मानचित्र तैयार किया और अनेक रोगियों पर उपचार करते समय उसे अपनी कल्पनाओं की सत्यासत्यता का पता चल गया। परिणामत: हमारे लिखते, बोलते समय होनेवाली चमत्कारिक एवं अनाकलनीय गलतियों पर, स्वप्नों, दिवास्वप्नों, मनोविकृतियों, सांस्कृतिक जीवन-वैशिष्ट्यों, चमत्कारकृतिजन्य विनोद पर इन सिध्दांतों के कारण प्रकाश पड़ा। वस्तुस्थिति के अवलोकन के बाद फ्रायड़ के अभ्युपगम को भारीभरकम आधार मिला और वह अभ्युपगम मनोविज्ञान एवं वैद्यक शास्त्र में महत्त्वपूर्ण सिध्दांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

यहाँ तक हमने विज्ञान के कार्य एवं प्रणाली का संक्षेप में विचार किया। अब प्रश्न ये हैं कि इसमें और सौंदर्यशास्त्र के कार्य एवं प्रणाली में क्या कुछ समानता है? विज्ञान में जिस तरह अवलोकन, वर्गीकरण, अभ्युपगम और अभ्युपगम को वस्तुस्थिति पर जाँचना, ये सीढ़ियाँ होती हैं, क्या उस तरह सौंदर्यशास्त्र में होती हैं? क्या सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत वैज्ञानिक सिद्धांत की तरह प्रस्थापित हो सकता है?

कुछ विचार करने पर सौंदर्यशास्त्र और विज्ञान के साम्यभेद को लक्ष्य किया जा सकता है। ऊपर दिए हुए उदाहरणों से जो बात स्पष्ट होती है, वह यह कि वस्तुस्थिति का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें सिद्धांत की जरूरत नहीं होती। सिद्धांत की जरूरत पहचानी हुई वस्तुस्थिति का अर्थ लगाने के लिए होती है। उदाहरण के लिए, यह हम बिना किसी सिद्धांत के ही जानते हैं कि ऊँचाई पर आलू झट से नहीं उबलते। लेकिन यह जानने के लिए कि वे क्यों नहीं उबलते, सिद्धांत की जरूरत पड़ती है। मतलब यह है कि हम विज्ञान में मानते हैं कि उपपत्तिनिरपेक्ष (theory neutral) वस्तुस्थिति होती है और किसी भी अभ्युपगम के सिवा हम उसे पहचान सकते हैं। चूँकि हम ऐसा मानते हैं, इसलिए विज्ञान संभव है। यहाँ उपपत्ति--निरपेक्षता के मुद्दे का अधिक विवेचन आवश्यक है। इस मुद्दे से ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता कि वैज्ञानिक अवलोकन में सैद्धांतिक भाग बिलकुल ही नहीं होता। ऐसा कुछ भाग होना अनिवार्य है. उदाहरण के लिए सूरज के पूरब में उदित होने और पश्चिम में डूबने की स्थिति आँखों से दिखने पर भी आज के मानव की दृष्टि से वस्तुस्थिति यही है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है और वस्तुस्थिति के इस अवलोकन में सैद्धांतिक भाग है। यह भी निर्विवाद बात है कि वैज्ञानिक अवलोकन में उपपत्तिनिरपेक्षता होती है। इसका अर्थ यही कि जो सिद्ध करना है वह अवलोकन में पूर्वानुमानित नहीं होता। उस विशिष्ट सिद्धांत की सहायता के बिना ही अवलोकन एवं वर्गीकरण संभव होता है। उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति का दबाव सिद्धांत पर सतत होता है इसलिए विज्ञान संभव बनता है और उसमें प्रगति होती है।

इस विवेचन पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि ज्ञान की क्रिया केवल उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति का स्वरूप नोट करने की क्रिया नहीं होती। कोई भी ज्ञान संभव हो इसलिए मानव-निर्मित, अनुभवपूर्व अवधारणाओं का व्यूह उसके लिए नीव के रूप में आवश्यक होता है। इसलिए कांट ने अवकाश, काल एवं मनोजन्य कोटियों (catagories) के व्यूह को महत्त्व दिया। कांट के सिद्धांत का सार यह है कि इस अवधारणा - व्यूह में आई बातें ही मानवीय अनुभव का विषय हो सकती हैं। इसका अर्थ यह होता है कि अंततोगत्वा उपपत्तिनिरपेक्ष बातें अनुभव का विषय नहीं बन सकतीं। लेकिन थोड़ा सोचने पर यह भी ध्यान में आएगा कि उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति को नकारना कांट का उद्देश्य नहीं था, क्योंकि वह इसे स्वीकार करता है कि मनोजन्य

कोटियों के साथ मन द्वारा केवल ग्रहण की हुई संवेदनाओं की सामग्री भी ज्ञान - प्रक्रिया में आवश्यक होती है। मनोजन्य कोटियों के आधार पर हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि प्रत्येक घटना का कारण होता ही है। लेकिन केवल मनोजन्य कोटियों के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि 'ख' घटना का कारण 'क' है। उसके लिए हमें मन के बाहर से आनेवाले और मन द्वारा केवल ग्रहण किए हुए घटकों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान में मनोजन्य कोटि का व्यूह जैसे आवश्यक है वैसे ही उपपत्तिनिरपेक्ष घटक का होना भी जरूरी होता है। केवल पहले के आधार पर विशिष्ट सृष्टि-नियमों की समष्टि निर्मित करनी हो तो उपपत्तिनिरपेक्ष घटक की ओर मुड़ने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं है।

लेकिन इसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि मनोजन्य घटकों की जरूरत विशिष्ट सृष्टि-नियमों की खोज के लिए भी होती है। इस संबंध में टूल्मिन का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार विज्ञान के लिए आरंभ से ही किसी न किसी प्रकार की प्रकृति - व्यवस्था के आदर्श (ideals of natural order) आवश्यक होते हैं। ये सैध्दांतिक घटक हैं और प्राय: इन्हें अनुभवपूर्व माना जाता है। ऐसे सैध्दांतिक घटकों के अभाव में सृष्टिनियमों की खोज असंभव होती है।[2] ये प्रकृति - व्यवस्था के आदर्श अलग-अलग हो सकते है। अगर ये आदर्श पूर्णत: अलग होंगे तो उनके भिन्न चौखट में काम करनेवाले दो वैज्ञानिको को एक दूसरे की भाषा भी समझमें नहीं आएगी।[3] अलग-अलग आदर्श संभव हों तो इनमें से किसका चुनाव किया जाए, यह कैसे तय होता है? इनमें से जिनमें सैध्दांतिक निर्मिति की क्षमता अधिक होगी, उन्हें हम स्वीकारते हैं।[4] लेकिन किसी संकल्पना व्यूह की निर्मिति-क्षमता का अर्थ क्या होता है? उस व्यूह का स्वीकार करने पर वस्तुस्थिति का अर्थ अधिक अच्छी तरह और बिलकुल तफसील के साथ समझ में आना चाहिए।

उस व्यूह के कारण निर्मित होनेवाले नियम और उपनियम ऐसे होने चाहिए कि जिनके कारण वास्तव के अधिक से अधिक भाग पर प्रकाश पड़ सके।

यह निश्चित है कि टुल्मन को अभिप्रेत अवधारणा व्यूह कांट के अवधारणा व्यूह की भाँति केवल मनोजन्य नहीं है। अनुभवजनित तनाव के कारण उसमें अंतर पड़ता है इसलिए उसमें अनुभवजन्यता का हिस्सा अधिक रहता है। उसमें ग्रथित ज्ञान 'सब कुत्ते भौंकते हैं' जैसे ज्ञान की भाँति पूर्णत: अनुभवजन्य नहीं होता। लेकिन 'हर घटना का कारण होता ही है' जैसा वह पूर्णत: अनुभवपूर्व भी नहीं होता। कहा जा सकता है कि इन अवधारणाओं का स्वरूप सृष्टि से पूछे गये प्रश्नों की भाँति होता है। प्रश्न न पूछे जाएँ तो सृष्टि कुछ भी उत्तर नहीं देगी और ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। अत: प्रश्न पूछना ज्ञानार्जन की पहली सीढ़ी है। ऐसे प्रश्न लेकर सृष्टि के पास जाने के उपरान्त सृष्टि जो बताएगी उसे स्वीकारना होगा। हो सकता है कि कभी सृष्टि

हमें प्रश्न बदलने के लिए भी कहेगी। इसका अर्थ यह कि अपने प्रश्न यद्यपि कुछ अंशों में अनुभवपूर्व होंगे तो भी इन प्रश्नों के परे उपपत्तिनिरपेक्ष यथार्थ है, यह मानना ही पड़ेगा।[5]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि विज्ञान में उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति को केवल दर्ज करने की प्रक्रिया नहीं चलती। विज्ञान में भी मनोजन्य अवधारणा व्यूहों की बहुत आवश्यकता होती है। इसमें संदेह नहीं कि नए-नए अवधारणा—व्यूहों का सूझ जाना वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण ही संभव होता है। कलाकार की तरह वैज्ञानिक में भी प्रतिभा आवश्यक होती है। अर्थात् वैज्ञानिक की प्रतिभा से असंख्य अवधारणा—व्यूह निकल सकते हैं। परंतु उनमें से कुछको ही विज्ञान में स्थान प्राप्त होता है। क्योंकि आखिर वस्तुस्थिति की कसौटी हर व्यूह को लगानी पड़ती है और उसपर कुछ ही व्यूह खरे उतरते हैं। मतलब यह है कि विज्ञान के क्षेत्र में मनोजन्य घटकों के कितने भी बड़े महत्त्व के रहते हुए भी आखिर उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति के अंकुश को टाला नहीं जा सकता; क्योंकि जो वस्तुस्थिति है उसे सुलझाकर रखना ही विज्ञान का कार्य होता है। किसी भी अभ्युपगम एवं प्रकृति-व्यवस्था के आदर्श को स्थापित करने के लिए तत्त्वतः उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति का आधार आवश्यक होता है।

सौंदर्यशास्त्र के सिध्दांत क्या इसी तरह से स्थापित होते हैं? क्या वे अभ्युपगम या प्रकृति व्यवस्था के आदर्श की भाँति होते हैं? क्या हम उन्हें वस्तुस्थिति की कसौटी लगाते हैं? हमें लगेगा कि इनके उत्तर 'हाँ' के रूप में देने चाहिए। लेकिन विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसे उत्तर नहीं दिए जा सकते। विज्ञान का प्रारंभ वस्तुस्थिति के घटकों की पहचान से, उनके वर्गीकरण से होता है। इन घटकों के परस्पर संबंधों को खोजना आगे की सीढ़ी होती है। इस सीढ़ी पर अभ्युपगम और अवधारणा की जरूरत होती है। लेकिन प्राथमिक सीढ़ी के कार्य इन अवधारणा—व्यूहों पर निर्भर नहीं होते। सौंदर्यशास्त्र में ऐसा नहीं घटित होता दिखता। वहाँ तो बिलकुल पहली सीढ़ी पर ही प्राथमिक वर्गीकरण के लिए किसी सिध्दांत या अवधारणा की आवश्यकता महसूस होती है। फर्ज कीजिए, सौंदर्यशास्त्र को सौंदर्यात्मक वस्तुस्थिति (aesthetic fact) को एक ओर करना है। दुनिया की सारी चीजें इस वर्ग में नही आतीं, क्योंकि उनमें से कुछ निश्चित ही असुंदर (non beautiful)[6] होती हैं। फिर सुंदर वस्तुओं को असुंदर वस्तुओं से कैसे अलगाया जा सकता है? उसके लिए किसी-न-किसी निकष का उपयोग आवश्यक है। लेकिन यह निकष कौन—सा है? वह कैसे मिला? ऐसा तो नहीं कह सकते कि सुंदर चीजें सुंदर हैं इसलिए अलग कीं। क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि विशिष्ट चीजों को एक वर्ग में रखकर उनके बीच का समान गुण खोजने का उद्देश्य पहले ही सिद्ध हुआ था। अगर सौंदर्य का कोई तत्त्व वर्गीकरण के लिए हम उपयोग में लाएँ तो यह कहना पड़ेगा कि वह हमें पहले से मालूम था। ऐसा तो

नहीं कहा जा सकता कि जिसपर वर्गीकरण आधृत है वही तत्त्व वर्गीकरण से या अवलोकन से सिद्ध हुआ। इस प्राथमिक वर्गीकरण में ही कोई सिध्दांत अनुस्यूत होता है। यह स्वीकार करने के लिए थोड़ा समय लगता है क्योंकि प्राय: सिद्धांत अपने मन में अस्फुट एवं अर्धस्फुट रूप में रहता है।

1.3

यहाँ संवाक्यों का संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक वर्गीकरण करने पर सामने उपस्थित प्रश्नों पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। कांट ने यह वर्गीकरण इस प्रकार किया है। संवाक्य में उद्देश्य एवं विधेय के बीच संबंध स्थापित किया जाता है। जिन संवाक्यों में विधेय उद्देश्य का ही भाग होता है वे संवाक्य विश्लेषणात्मक होते हैं। क्योंकि इन संवाक्यों द्वारा बस, इतना ही कार्य होता है कि उद्देश्यपद का विभाजन किया जाए। इसके विपरीत कुछ संवाक्यों में विधेय उद्देश्य में अंतर्भूत नहीं होता। वह उद्देश्य को कुछ जोड़ता है। ऐसे संवाक्यों को संश्लेषणात्मक संवाक्य कहते हैं.[7] कांट ने विश्लेषणात्मक संवाक्य का उदाहरण दिया है, 'वस्तु के विस्तार होता है।' कारण यह है कि वस्तु की अवधारणा में ही उसके विस्तार होने की अवधारणा अंतर्निहित है। इसके विपरीत, यह संवाक्य कि 'वस्तु के वजन होता है।' संश्लेषणात्मक है। क्योंकि वजन होने की अवधारणा वस्तु की अवधारणा में अंतर्भूत नहीं है।[8] विश्लेषणात्मक संवाक्य अनुभव पर आधारित नहीं होते, वे केवल तार्किक नियम के अनुसार बनाए जा सकते हैं। इसके विपरीत, संश्लेषणात्मक संवाक्य अनुभव पर आधारित होते हैं। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि अनुभव पर आधारित संवाक्य संश्लेषणात्मक ही होते हैं।[9]

विज्ञान के संवाक्य अनुभवजन्य होते हैं। यह स्पष्ट है कि वे वस्तुस्थिति के अवलोकन पर अधिष्ठित होते हैं। केवल तार्किक नियमों पर आधारित नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि विज्ञान के संवाक्य संश्लेषणात्मक होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या सौंदर्यशास्त्र के संवाक्य संश्लेषणात्मक होते हैं? सौंदर्य-संवाक्यों के दो वर्ग होंगे– (1) सौंदर्यतत्त्व ग्रथित करनेवाले संवाक्य या सौंदर्य सिध्दांत बतानेवाले संवाक्य और (2) विशिष्ट सुंदर वस्तु के बारे में संवाक्य। इसमें संदेह नही कि दूसरे वर्ग के संवाक्य संश्लेषणात्मक होते हैं। प्रश्न है पहले वर्ग के संवाक्यों के संबंध में। यह संवाक्य देखिए..'काव्य याने रसात्मक वाक्य।' यह संवाक्य काव्य को परिभाषित करता है अत: विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। परिभाषा में उद्देश्य पर स्थित शब्द के अर्थ का केवल स्पष्टीकरण किया जाता है, इसलिए परिभाषा देनेवाला संवाक्य विश्लेषणात्मक ही होता है। अत: यह स्पष्ट है कि 'काव्य याने रसात्मक वाक्य'। यह संवाक्य विज्ञान के संवाक्य की भाँति संश्लेषणात्मक नहीं है।

यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं :–

(1) क्या सौंदर्य सिध्दांत को ग्रथित करनेवाले संवाक्य संश्लेषणात्मक होते ही नहीं?

(2) क्या विज्ञान में विश्लेषणात्मक संवाक्य होते ही नहीं? अगर इन दोनों प्रश्नों के उत्तर सकारात्मक मिल जाएँ तो सौंदर्यशास्त्र और विज्ञान के बीच भेद कम किया जा सकता है। इसलिए ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं।

मान लीजिए, हमने यह कहा कि 'रसात्मक वाक्य काव्य होता है।' यहाँ 'याने' शब्द का उपयोग हमने टाल दिया है। क्योंकि अब हम 'काव्य संज्ञा का अर्थ रसात्मक वाक्य', यह नहीं देते। हमें इतना ही कहना है कि काव्यत्व और रसात्मक वाक्यत्व ये दो गुण–विशेष सदैव साहचर्य से रहते हैं। चूँकि ये दोनों गुण–विशेष एक ही नहीं हैं और एक का अंतर्भाव दूसरे में नहीं हुआ है, ऊपर का संवाक्य संश्लेषणात्मक बन जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सौंदर्य सिध्दांत ग्रथित करनेवाले संवाक्य संश्लेषणात्मक हो सकते हैं। यह सही होने पर भी सौंदर्यशास्त्रीय संवाक्य वैज्ञानिक संवाक्यों की तरह नहीं होते। क्योंकि ये संवाक्य संश्लेषणात्मक होने पर भी वे केवल निकष बनानेवाले संवाक्य होते हैं। हमें यह पता चलता है कि काव्य की पहचान कैसे की जाए। लेकिन यह निकष मिला कैसे? यह नहीं कहा जा सकता कि अनेक काव्य पढ़कर यह मिला। क्योंकि "काव्य को काव्य के रूप में समझकर पढ़ा", इसका अर्थ वही हुआ कि हम पहले से ही पहचान रहे थे कि काव्य क्या है। उस पहचान के लिए ही हमने निकष का उपयोग किया। मतलब, यह कहना ठीक नहीं कि काव्य पढ़कर काव्य का निकष प्राप्त हुआ।

यहाँ एक पेंच पैदा होता है। यह सही है कि काव्य को पढ़कर काव्य का निकष नहीं मिला। उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह निकष एक भी कविता को बिना पढ़कर प्राप्त हुआ। काव्य का अनभव तो आवश्यक है ही, लेकिन काव्य के निकष के संबंध में संवाक्य को सामान्य अर्थ में अनुभवजन्य नहीं कहा जा सकता। ऐसा ही पेंच अन्यत्र भी उत्पन्न होता है। कुछ संश्लेषणात्मक संवाक्य ऐसे होते हैं कि वे न अनुभवपूर्व होते हैं और न सामान्य अर्थ में अनुभवजन्य भी। सामान्यत: अनुभवजन्य संवाक्यों के लिए अनुभव एवं अवलोकन का बहुत बड़ा संबल आवश्यक होता है। लेकिन ऊपर उल्लिखित संवाक्यों के बारे में ऐसा नहीं है। फर्ज कीजिए, हमने एक गुलाबी रंग का और एक लाल रंग का पट्ट देखा और हमें पता चला कि लाल रंग का पट्ट गुलाबी पट्ट से अधिक गाढ़ा है। इस एकमात्र उदाहरण के आधार से हम यह कह सकते हैं कि लाल पट्ट गुलाबी की अपेक्षा गाढ़ा होता है। यह सार्वत्रिक निष्कर्ष जिस पद्धति से निकाला गया उसको प्रातिभ विगमन (intuitive induction) नाम देते हैं।[10] उसे विगमन इसलिए कहा जाता है कि अनुभव पैर आधारित सामान्य के संबंध में यह ज्ञान है। लेकिन पहले ही उदाहरण में हमें सामान्य स्वरूप की झटिति प्रतीति

मिली इसलिए उसे प्रातिभ कहा जाएगा। अगर काव्य का निकष इस झटिति प्रतीति से मिल गया हो तो उसे सृष्टि विज्ञान के नियम के अनुसार अनुभवजन्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पहले ही उदाहरण में हमें जो प्राप्त हुआ उसका स्वरूप अभ्युपगम जैसा नहीं था। हमें तत्त्व का ही प्रातिभ ज्ञान प्राप्त हुआ।

(2) हमारा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या विज्ञान में विश्लेषणात्मक संवाक्य होते ही नहीं? अगर विज्ञान में परिभाषा देनेवाले संवाक्य होते हैं, तो विज्ञान में विश्लेषणात्मक संवाक्य भी होंगे ही, क्योंकि हमने ऊपर देखा है कि परिभाषा बताने–वाला संवाक्य विश्लेषणात्मक होता है। लेकिन विज्ञान के सिध्दांत परिभाषा स्वरूप नहीं होते। यही नहीं, पापर जैसे दार्शनिक की दृष्टि में विज्ञान में परिभाषा का उतना महत्त्व भी नहीं होता। उनका मत है कि विज्ञान की परिभाषाएँ बाएँ से दाएँ की ओर पढ़ने की अपेक्षा दाएँ से बाएँ पढ़नी चाहिए। बाएँ से दाएँ पढ़ने पर बाएँ की ओर वाली संज्ञा का महत्त्व अनावश्यक बढ़ जाता है। उस संज्ञा से किसी तत्त्व का निर्देश होता है और हमें लगता है कि परिभाषा में इस तत्त्व का स्वरूप विवेचित किया जा रहा है। लेकिन दाएँ से बाएँ पढ़ने पर हमें प्रतीत होता है कि हम जिसकी परिभाषा पढ़ रहे हैं वह संज्ञा केवल कालापव्यय टालने के लिए इस्तेमाल में लाया हुआ एक चिह्न मात्र है। उदाहरण के लिए यह परिभाषा देखें -- ग्रह याने क्ष, य, ज्ञ गुणधर्मों से युक्त पदार्थ। यह सब कहना समय व्यर्थ ही नष्ट करना होता है इसलिए हम एक छोटा चिह्न उपयोग में लाते हैं-- वह है 'ग्रह'। इसके विपरीत सौंदर्यशास्त्र में केंद्रीय अवधारणाओं की परिभाषाओं को बहुत महत्त्व मिलता है। परिभाषा के संबंध में पापर की मान्यता को कोई सौंदर्यशास्त्री स्वीकार नहीं करता। कहा जा सकता है कि विज्ञान का प्रारंभ परिभाषा से होता है। इसके विपरीत सौंदर्यशास्त्र की परिणति परिभाषा में होती है। सौंदर्यशास्त्र के किसी ग्रंथ के विवेचन का विश्लेषण करने पर ध्यान में आएगा कि यह सारा विवेचन मुख्य सिद्धांत को अधिक ठोस और स्पष्ट बनाने के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ कांट का किया हुआ सौंदर्यशास्त्र का विवेचन देखिए। कांट को दिखाना था कि सौंदर्यानुभव स्वतंत्र एवं स्वायत्त है। अर्थात् ज्ञानानुभव एवं नीतिव्यवहार की अपेक्षा सौंदर्यशास्त्र को अलग करके दिखाना आवश्यक बन जाता है।, क्योंकि उसने मानवीय व्यापार का जो कुल वर्गीकरण किया था उसके अनुसार सौंदर्यानुभव स्वायत्त एवं स्वतंत्र है, यह सिद्ध करने का मतलब यह बताना था कि वह ज्ञानानुभव और नीति व्यवहार से कैसे भिन्न है। यह भी दिखाना जरूरी था कि शारीरिक सुख–संवेदन की अपेक्षा सौंदर्य का आस्वाद भिन्न है। एक ओर सौंदर्यानुभव को शारीरिक सुख से अलग करना और दूसरी ओर ज्ञानानुभव एवं नैतिक व्यवहार से उसे अलग करना सौंदर्यानुभव की स्वायत्तता सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। अपने क्रिटिक ऑफ जजमेंट में कांट ने यही किया है। उसके विवेचन में विवेचित

चार आयाम (moments) एक ही केंद्रीय सिद्धांत के चार आयाम हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें केंद्रीय सिद्धांत की पुष्टि के लिए चार प्रकार के प्रमाण दिए हैं। इन आयामों का उद्देश्य प्रमाण देना है ही नहीं। इसलिए उनका सही कार्य एवं उद्देश्य मुख्य सिध्दांत को चार आयामों द्वारा स्पष्टता और निश्‍चितता देना है। विज्ञान के सिध्दांतों की पुस्तकों में इससे अलग बातें होती हैं। एक तो यह कि उनके सिध्दांत एक दूसरे को केवल स्पष्ट करनेवाले नहीं होते और दूसरी बात यह कि उनमें सिध्दांत की पुष्टि के लिए अनुभवजन्य प्रमाण दिए जाते हैं।

1.4

इसके अलावा विज्ञान और सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांतों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि विज्ञान में दो परस्पर विरोधी सिद्धांत बहुत समय तक समान रूप में स्वीकृत नहीं होते। एक की विजय होती है तो दूसरा अस्वीकृत होता है। दोनों में से कौन–सा सिध्दांत ग्राह्य माना जाए, यह निश्‍चित करने का मार्ग है, दोनों सिध्दांतों को परिस्थिति की कसौटी पर कसना। सिध्दांत कस लिए जा सकते हैं क्योंकि परिस्थिति उपपत्तिनिरपेक्ष होती है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान प्रगति के रास्ते पर है। सौंदर्यशास्त्र के इतिहास को कुछ तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो पता चलेगा कि प्रगति की अवधारणा यहाँ लागू नहीं होती। इस क्षेत्र में विविध सिद्धांतों में संघर्ष चलता हुआ दिखाई देता है। परंतु ऐसा नहीं दिखता कि कोई सिध्दांत पूर्णत: परास्त हो कर काल के उदर में समा गया हो। कोई सिध्दांत कुछ समय के लिए भले ही लुप्त हुआ–सा लगता हो परंतु वह फिर प्रकट हो कर मान्यता भी प्राप्त करता है। कला की सामग्री सतत बदलती रहती है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि कला में प्रगति होती है, यह एलियटने कहा है।[12] उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि सौंदर्य–विचार में परिवर्तन तो होते हैं, लेकिन प्रगति होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सौंदर्य–विचार में प्रगति होती है, ऐसा कुछ सौंदर्यशास्त्रियों ने अवश्य कहा है। उदाहरण के लिए बोसाँ के ग्रंथ "हिस्टरी ऑफ इस्थेटिक" की समूची इमारत इसी विश्वास पर खड़ी है। विश्वचैतन्यवादी (absolute idealist) सौंदर्यसिद्धांत, सौंदर्यविचार का चरमबिंदु या कलश है और प्लेटो से लेकर कांट तक के सभी सिद्धांत उसकी नींव और दीवारें हैं। जो औरों के लिए अर्धस्फुट था, उसे विश्वचैतन्यवादियों ने सुस्पष्ट रूप में देखा, यह बोसाँ के का मत है। अगर वस्तुस्थिति ऐसी होती तो विश्वचैतन्यवादियों के सिद्धांत के बाद और कोई सिध्दांत आगे न आता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, अन्य सिध्दांत सामने प्रस्तुत हुए। इतना ही नहीं, उनमें से कुछ मान्यता भी प्राप्त कर गए। ग. त्र्यं. देशपांडे के भारतीय साहित्य–शास्त्र को पढ़ते समय लगता है कि उनके मन में भी यह विचार रहा कि कला में प्रगति होती है। उनके विवेचन का कुल रुख यही है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का चरमबिंदु है रस, ध्वनि-सिद्धांत और

अन्य सिध्दांत उसके नीचे की सीढ़ियाँ हैं। लेकिन वह विचार जँचता नहीं है। रस, ध्वनि-सिध्दांत साहित्यशास्त्र का अंतिम सर्वमान्य सिध्दांत नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसके कारण वक्रोक्ति सिध्दांत सदा के लिए उखड़ गया हो। प्राचीन भारत में काव्यशास्त्र की परंपरा बाद में नष्ट न हुई होती तो और भी सिद्धांत सामने आकर मान्यता प्राप्त कर चुके होते।

1.5

हमने ऊपर देखा है कि दो वैज्ञानिक सिध्दांतों के बीच के विवाद को उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति का अवलोकन करके हल किया जा सकता है। हमने यह भी देखा कि सौंदर्यशास्त्र में उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति नहीं होती। फिर भी यह विचार हमारे मन में कहीं मजबूती से बैठा हुआ होता है कि सौंदर्यशास्त्र में उपपत्तिनिरपेक्ष ऐसा कुछ होता है और ऐसा लगता है कि इस विचार में आंशिक तथ्य होगा। चूँकि सौंदर्यशास्त्र में विवाद होते हैं, बौद्धिक युक्तिवाद होते हैं, प्रमाण दिए जाते हैं, हम यह कहते हैं कि एक पक्ष का विचार हमें ठीक लगता है और दूसरे पक्ष का गलत लगता है। हर समय प्रमाण के रूप में हम कलाकृति के उदाहरण भी पेश करते हैं इन सारी बातों से ऐसा सहज ही लगता है कि सौंदर्यशास्त्र और विज्ञान में कुछ मामलों में समानता होगी।

अगर सिध्दांतों की पुष्टि में कलाकृतियों के उदाहरण लिए जाते हों, तो हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि ये उदाहरण उपपत्तिनिरपेक्ष होंगे। लेकिन यह धारणा गलत है, क्योंकि वाद करनेवाले दो वैज्ञानिकों के बीच इस बारे में एकमत रहता है कि कौन-सी वस्तुस्थिति यह वाद समाप्त कर सकती है। इसलिए निर्णायक प्रयोग पर (crucial experiment) वे बहुत ही निर्भर होते हैं। लेकिन सौंदर्य सिध्दांत के वाद संबंध में इसी बात पर एकमत नहीं होता कि कौन-सी वस्तुस्थिति समुचित है। मान लीजिए यह सिध्दांत प्रस्तुत किया --- "तीव्र भावनाओं की व्यंजना जिनके द्वारा होती है वे शब्द काव्य हैं" इसपर विरोधक अलेक्झांडर पोप के "रेप ऑफ द लाक" का हवाला देकर पूछ सकते हैं --- यहाँ कहाँ तीव्र भावों की व्यंजना है? फिर भी यह काव्य है कि नहीं? अगर यह वाद वैज्ञानिक होता तो इस उदाहरण से हल हो सकता था। उदाहरणार्थ यह कहनेवाले को कि सारे हंस सफेद होते हैं, अगर ऑस्ट्रेलिया के कृष्णवर्णीय हंस दिखाए जाएँ तो वह अपनी राय बदल देता है। लेकिन काव्य के स्वरूप के संबंध में वाद ऐसे समाप्त नहीं होते। क्योंकि भाव-व्यंजना का सिध्दांत प्रस्तुत करनेवाला यह कह सकता है कि "रेप ऑफ द लाक" काव्य ही नहीं है। अत: उसका प्रमाण सही प्रमाण ही नहीं है।

यहाँ एक बात रेखांकित करनी है। जिस तरह सामने आनेवाला प्रमाण समीचीन है अथवा नहीं यह निश्चत करने की स्वतंत्रता सौंदर्य सिध्दांत प्रस्तुत करनेवालों को

होती है, उसी तरह प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कलाकृति का ठीक कौन-सा पहलू देखा जाए और समीचीन माना जाए, यह तय करने का स्वातंत्र्य भी उन्हें प्राप्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र के विविध सिध्दांतों को प्रस्तुत करनेवाले रसिक विद्वान अपने अपने सिध्दांत के समर्थन में कालिदास इत्यादि कवियों का प्रमाण के रूप में उपयोग करते हैं। शेक्सपियर के बारे में भी अंग्रेजी काव्यशास्त्र के इतिहास में यही घटित हुआ है। बिल्कुल भिन्न सिध्दांतों को प्रस्तुत करनेवाले विद्वान शेक्सपियर का समान रूप से उपयोग करते हैं। लेकिन दो समीक्षकों ने प्रमाण के रूप में शेक्सपियर के एक ही नाटक का उपयोग भले ही किया हो, ऐसा नहीं होता कि उस नाटक का एक ही पहलू दोनों को स्वीकृत है। सामने प्रस्तुत प्रमाण समुचित है अथवा नहीं, यह निश्चित करने की और उसका कौन-सा पहलू महत्त्वपूर्ण है, यह तय करने की स्वतंत्रता समीक्षकों एवं सौंदर्यमीमांसकों को होती है। ऐसी स्वतंत्रता वैज्ञानिकों को नहीं होती।

इसका अर्थ यह हुआ कि वैज्ञानिक की अवधारणाओं एवं सिध्दांतों का स्वरूप वस्तुस्थिति पर निर्भर रहता है। हर वैज्ञानिक सिध्दांत को उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति के अंकुश के नियंत्रण में आना ही पड़ता है। उलटे, सौंदर्यशास्त्र के सिध्दांतों पर उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति का अंकुश नियंत्रण नहीं करता।

1.6

विज्ञान में अभिप्रेत वस्तुस्थिति एक अर्थ में मानवनिरपेक्ष होती है, तो सौंदर्यशास्त्र की वस्तुस्थिति सर्वार्थ में मानवसापेक्ष ही होती है। सौंदर्यशास्त्र की अवधारणाएँ एवं अवधारणाव्यूह में दिखनेवाली वस्तुस्थिति मानव-निर्मित होती है। मानव के परिवर्तनशील जीवन के साथ वह भी परिवर्तित होती है, नए ढंग से घटित होती है, हम उन्हें रचते हैं। अब इस बात का जवाब दिया जा सकता है कि सौंदर्यशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में परिभाषा का इतना महत्त्व क्यों होता है। जब हम सौंदर्यविषयक एवं नीति संबंधी अवधारणाओं की परिभाषाएँ देते हैं तब उपपत्तिनिरपेक्ष वस्तुस्थिति का स्वरूप तटस्थ ढंग से विशद नहीं करते। हम उन अवधारणाओं की नई परिभाषाएँ रचते हैं और यह होते-होते हमारा जीवन भी नए ढंग से रचा जाता है। अर्थात् "हम" का मतलब व्यक्ति-विशेष नहीं। जिस सांस्कृतिक गुट में हम बढ़ते हैं वह गुट इन अवधारणाओं को गढ़ता है। सौंदर्य का आस्वाद समाज जीवन का अंग होता है। यहाँ पर सूचित करना है कि सौंदर्य, कला, आस्वाद ये अवधारणाएँ और उनके द्वारा निर्दिष्ट वस्तुएँ साथ-साथ अस्तित्व में आती हैं। वे तार्किक दृष्टि से परस्परावलंबी होती हैं। ऐसा नहीं होता कि वस्तुस्थिति पहले और अवधारणाएँ या सिध्दांत बाद में। ऐसा भी नहीं होता कि पहले उपपत्तिनिरपेक्ष सौंदर्यात्मक वस्तुस्थिति का अस्तित्व होता है और फिर हमें उसका ज्ञान होता है तथा उसके संबंध में हमें सिध्दांत सूझ जाते हैं। सौंदर्यात्मक परिस्थिति उपपत्तिनिरपेक्ष ही होती है। अर्थात् एक बार सौंदर्यादि अवधारणाओं के

निर्मित होने पर फिर वे किसी पर भी लागू हो सकती हैं। मानव जाति के जन्म होने के पहले याने सौंदर्यावादी अवधारणाओं का जन्म होने के पहले अस्तित्व में आई वस्तुओं पर भी वे लागू की जा सकती हैं। लेकिन वे अवधारणाएँ निर्मित होने के पहले वे वस्तुएँ न सुंदर थीं, न विरूप।

1.7

ऊपर के विवेचन से यह ध्यान में आएगा कि सौंदर्यशास्त्र विज्ञान नहीं होता और न उसके प्रश्न एक सरीखे होते हैं, न प्रणालियाँ। इतना होने पर भी कुछ लोगों का यह विश्वास- सा होता है कि मनोविज्ञान की 'सहायता' से सौंदर्यशास्त्र की समस्याएँ हल होंगी। अब जरा 'सहायता से' शब्द को स्पष्ट करने पर यह पता चलेगा कि इन लोगों का निश्चित दावा क्या है। जब हम यह कहते हैं कि फ्रायड के सिध्दांत की सहायता से वैद्यकशास्त्र बहुत से प्रश्न हल करता है, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि फ्रायड के मनोजन्य रोगों की चिकित्सा करने की प्रणाली और मानसोपचार की प्रणाली को आज के वैद्यकशास्त्र ने स्वीकार किया है। एक शास्त्र के सिध्दांत दूसरे शास्त्र में भी फल देते हैं. यह इसका अच्छा उदाहरण है।

कभी-कभी दो चीजों में विशिष्ट मामलों में साधर्म्य होता है। इसलिए एक ही वजह से दूसरे पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए कलाकृति के स्वरूप और जीवंत देह के स्वरूप में कुछ अंशों में साधर्म्य होता है। अत: जीवंत देह की अंतर्गत रचना से हमें कलाकृति की अंतर्गत रचना के संबंध के नई कल्पनाएँ सूझ सकती हैं। यहाँ हम कह सकते हैं कि जीवशास्त्र की सहायता से सौंदर्यशास्त्र के प्रश्न हल किए गए। लेकिन सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र के अधिकतर प्रश्नों के समांतर लेकिन कुछ अलग प्रश्न जब हम विज्ञान की सहायता से हल करते हैं तब इन दो प्रश्नों को उलझाने से हमारी यह धारणा बनती है कि हम विज्ञान की सहायता से सौदर्यशास्त्र के प्रश्न हल कर रहे हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित प्रश्नोत्तरों को देखिए :–

'क्ष' सुंदर स्त्री है।"

1. "क्यों?" उसे सुंदर क्यों कहा जाए? किन निकषों के आधार से वह सुंदर कही जाती है?

"उसकी कांति मुलायम है इसलिए" यहाँ यह बताया गया है कि किस गुण के कारण उसे सुंदर कहा जा रहा है। सुंदर स्त्री की कांति मुलायम होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी कांति का होना स्त्री-सौंदर्य का निकष है।

2. "क्यों?" उसकी कांति मुलायम क्यों हुई?

"वह लक्स टाइलेट साबुन का इस्तेमाल करती है इसलिए।"

इस उत्तर में एक कार्यकारण संबंध सुझाया गया है।

पहले और दूसरे प्रश्नोत्तरों को उलझाना ठीक नहीं होगा, क्योंकि वे अलग-अलग

श्रेणी के प्रश्नोत्तर हैं। पहला उत्तर निकष की भाषा में दिया गया है। तो दूसरा कार्यकारण संबंध की भाषा में दिया गया है। ये दोनों भाषाएँ अलग-अलग हैं। एक भाषा में पूछे गये प्रश्न को दूसरी भाषा में उत्तर देना ठीक नहीं होगा। लेकिन बहुत बार हम इन्हें उलझा देते हैं। "इसलिए", "कारण", ये द्व्यर्थी शब्द इस उलझन के लिए जिम्मेदार हैं। जब किसी मनोवैज्ञानिक या शरीरशास्त्रीय सिद्धांत को सौदर्यशास्त्रीय सिद्धांत के आधार के रूप में मान लिया जाता है, तब यह प्रश्न पूछना चाहिए कि ऐसा कोई उलझाव तो नहीं हो रहा है?

ऐसा गड़बड़ (या उलझाव) कैसे पैदा होता है, यह दिखाने के लिए मैं श्री प्रभाकर पाध्ये का बहुचर्चित लेख "सौंदर्य-भावना याने क्या?" (सौंदर्य भाव क्या है?) उदाहरण के रूप में लेना चाहूँगा। मुझे लगता है कि इस लेख के द्वारा श्री पाध्ये को निम्नांकित बातें सिद्ध करनी हैं :-

(1) रस या सौंदर्य-भावना – ये अनुभव अन्य अनुभवों से अलग भले ही लगें और कुछ बातों में वे हों, तो भी ऐसा नही कि अन्य अनुभवों से उनका कुछ भी संबंध नहीं होता।

(2) जीवन के सभी अनुभवों और क्रियाओं के मूल में जो आस्था (interest) होती है वही आस्था कलानुभव के मूल में भी होती है।

(3) अनुभव के दो अंग होते है – साधनात्मक और स्वरसात्मक। जब अनुभव के स्वरसात्मक अंग पर बल दिया जाता है तब रसानुभव मिलता है। ऐसा नही कि रसानुभव में साधनात्मकता बिलकुल ही नही होती, लेकिन वह उसके लिए कम-से-कम क्षीण हुई होती है।

(4) रस, आस्था की परिणत अवस्था है। इस सबके मूल में जो आस्था होती है उसकी इन विशिष्ट उद्देश्यों से, इच्छा आकांक्षाओं से अगर हम, अस्थायी रूप में क्यों न हो, मुक्तता कर सके तो उस आस्था का रूपांतर रस में होता है"।[13]

(5) यह अवस्था भावसदृश भले ही हो, भावावस्था नही होती। "आस्था के कारण चैतन्यशक्ति का स्तर बदल जाता है। आस्था के कारण अपना आचरण सक्रिय रहता है और आस्था के कारण हमारे अनुभव को सुखमय प्रतीति का अस्तर लग जाता है। --- लेकिन चैतन्यशक्ति की जागृति अत्यधिक हो जाए तो हमारा आचरण असंतुलित होता है और सुखमय प्रतीति का अस्तर भी सिकुड़ता है। इस दृष्टि से आस्था भावनासदृश्य ही कही जा सकती है। लेकिन आस्था सभी (भावनाविहीन माने गए अनुभवों के भी) अनुभवों के मूल में होती है। कला के अनुभव में आस्था का रूपांतरण रस में होने पर उसका भावना के साथ होनेवाला रिश्ता अधिक दूरस्थ होता है। रस की प्रक्रिया

में आस्था अपनी ही चेतना में निमग्न होने लग जाए तो चैतन्य का स्फुरण सहज ही में बढ़ेगा, लेकिन भावना के स्फुरण की अपेक्षा वह अलग ढंग से प्रतीत होगा"।[14]

(6) इस विवेचन के बाद पाध्ये ने प्रश्न उपस्थित किया है कि करुण नाटक से आनंद कैसे होता है। शोककरण से दु:ख हल्का हो जाता है। नाटककार द्वारा हमारे चिंतन को गति दिए जाने पर हम नाटक की (और कुल जीवन की) समस्याओं का विचार करने लगते हैं। शोककरण की तरह इस चिंतन से दु:ख की मात्रा कम होती है, आनंद की संभावना बनती है। ऐसा कुल उनका विवेचन है। इस सारे विवेचन को वैज्ञानिक नींव देने के लिए उन्होंने रेटिक्युलर फार्मेशन (Reticular formation) और उसके कार्य की चर्चा की है। वे कहते हैं, मस्तिष्क के कांडों के भाग में असंख्य पेशियों का और मुख्यत: उनके धागों का जाल फैला हुआ होने के कारण उसे रेटिक्युलर फार्मेशन (जालीदार रचना) नाम दिया गया है। रेटिक्युलर फार्मेशन और ऊपर के मस्तिष्क (cortex) का परस्पर गाढ़ा संबंध होता है।[15] .....इन दोनों के बीच विद्युदूर्मियों की (electrical impulses) अप्रतिहत आवा-जाही शुरू होती है। एक पेशी की विद्युदूर्मि के संपर्क स्थान पर पहुँचने से वहाँ रासायनिक क्रिया घटित होकर एक पेशी की ऊर्मि का संक्रमण दूसरी पेशी में होता है। इस संक्रमण में कुछ क्षणों का विलंब होता है। स्वाभाविक रूप में हाइपोथलैमस के मार्ग में ऐसा विलंब करनेवाले संपर्क स्थान दो ही होने के कारण और रेफा के मार्ग में वे असंख्य होने के कारण हाइपोथलैमस मार्ग से जानेवाला संदेश मस्तिष्क को पहले प्राप्त होता है और तुलना में रेफा के मार्ग से जानेवाला संदेश कुछ अवधि के बाद पहुँचता है। इस कालविक्षेप (time discripency) का बहुत बड़ा अर्थ है। अभिज्ञा (cognition) के कार्य में मस्तिष्क को इसका बहुत उपयोग होता है।[16] रेटिक्युलर फार्मेशन के कारण संवेदनासंदेश का जो उद्दीपन होता है उसके फलस्वरूप अभिज्ञा के कार्य को चेतनशक्ति का संचय प्राप्त होता है। (किसी कार्य में रुचि उत्पन्न होना या रस लेना, इस भाषा-प्रयोग में जो अर्थ अभिप्रेत है, उसी अर्थ में आस्था शब्द का प्रयोग मैं कर रहा हूँ।)[17] ..... चेतकों द्वारा निर्मित विद्युदूर्मियाँ एक पेशी से दूसरी पेशी में संक्रमित होती हैं, यह मैंने ऊपर बताया है। अब बहुत बार ऐसा होता है कि एक पेशी से दूसरी पेशी में, दूसरी पेशी से तीसरी में, तीसरी से चौथी में संक्रमित हुई ऊर्मि चौथी से पाँचवीं में ....., न जाकर पहली में आती है और ऊर्मि की यात्रा वर्तुलाकार बन जाती है। इस वजह से किसी विशिष्ट पेशी का संक्रमण क्रियाप्रवण पेशी में न होकर वह ऊर्मि

अपने आप में ही घुमड़ती रहती है। अनुभव के लिए अनुभव या स्वरसात्मक अनुभव जिसे मैं कहता हूँ उसके लिए यह शरीरशास्त्रीय आधार है।"[18]

मेरी समझ में श्री पाध्ये के लेख में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सौंदर्यशास्त्र एवं साहित्य चर्चा का प्रासंगिक भाग है रस एवं भावना के साथ सदैव जोड़े जानेवाले संबंध को वहाँ से हटाकर आस्था के साथ जोड़ना। क्योंकि ऐसा करने से काव्यानुभव अन्य स्वरसात्मक (लेकिन सब समय भावनात्मक न होनेवाले) अनुभवों की तरह होता है, यह बात मनपर अंकित होती है। 'होना होना', 'रसमय लगना', 'रस लेना' इत्यादि वाक् प्रयोगों का उपयोग अनेक अनुभवों के एवं क्रियाओं के संदर्भ में हम करते हैं। श्री। पाध्ये ने दिखाया है कि इस संदर्भ में कुछ बातों में निश्चित साम्य होता है और यह मुद्दा सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। अब प्रश्न यह है कि उनके द्वारा प्रस्तुत इस मुद्दे का और लेख में दी गई शरीरशास्त्रीय जानकारी का संबंध क्या है? ऊपर प्रश्नोत्तर की जो जोड़ी दी गई है उसमें से दूसरे प्रश्नोत्तर की और श्री पाध्ये कृत शरीरशास्त्रीय विवेचन की जाति एक ही है। स्वरसात्मकता को रसानुभव का निकष मानने पर जो वैज्ञानिक प्रश्न उत्पन्न होता है, उसे श्री पाध्ये का यह विवेचन उत्तर - स्वरूप है। वह प्रश्न है कि क्या स्वरसात्मक अनुभव शरीरशास्त्र की दृष्टि से संभव है? अगर संभव है तो वह कैसे उत्पन्न होता है? लेकिन ऐसा नही है कि यह शरीरशास्त्रीय जानकारी रसिक के लिए या सौंदर्यशास्त्र के लिए आवश्यक है; क्योंकि अनुभव की स्वरसात्मकता अनुभव की चीज है। पीला शब्द का अर्थ जानने के लिए शरीरशास्त्र तथा पदार्थ-विज्ञान को जानने की जरूरत नहीं है, उसी तरह स्वरसात्मक अनुभव क्या है, इसे समझने के लिए रेफा की जानकारी आवश्यक नहीं है। क्योंकि विद्युदूर्मि की चक्राकार गति अथवा उसकी रेफा के मार्ग से होनेवाली यात्रा को हम वाङ्.मयीन अनुभव का निकष तो नहीं मानते। जिस अनुभवविशेष को हम निकष के रूप में उपयोग में लाते हैं वह तो सामान्य मनुष्य के भी परिचय का होता है। अतएव, श्री पाध्ये ने रेफा इत्यादि के बारे में जो जानकारी दी है उसका महत्त्व सौंदर्यशास्त्र के लिए न होकर मनोविज्ञान के लिए है।

अगर यह भान न रहा कि सौंदर्यशास्त्र के प्रश्न अवधारणाओं तथा निकषों के होते हैं, तो वैज्ञानिक प्रश्नों से उनकी उलझन होती है। इसका एक और उदाहरण पेश है। रिचर्ड्स की राय में कविता अनुभव रूप होने के कारण वह रसिक के मन मे होती है। लेकिन कुछ अन्य व्यक्तियों की राय में (उदाहरणार्थ ऑज्बर्न) कविता मन के बाहर होती है और आस्वाद के समय विशिष्ट प्रकार के ज्ञान के विषय के रूप में वह हमें भावित होती है। रिचर्ड्स और ऑज्बर्न के बीच का वाद उस विवाद का ही आधुनिक अवतार है कि रस रसिकगत होता है, या काव्यगत। फर्ज कीजिए, किसी मनोवैज्ञानिक ने सौ पाठकों को एक कविता पढ़ने को दी और अपनी प्रतिक्रियाओं की टिप्पणी रखने

के लिए कहा, उनके शरीर में घटित परिवर्तनों के आधुनिक यंत्रों के आधार से आलेख भी तैयार किए और इस प्रमाण के बल पर रिचर्ड्स् का अभिमत ठीक बताया। असल में देखा जाए तो इस प्रमाण से विवाद हल नहीं होता। क्योंकि यह विवाद वैज्ञानिक नहीं है। प्रश्न यह नहीं है कि कविता पढ़ते समय किसी भावना का अनुभव हम करते हैं कि नहीं। ऐसा प्रश्न होता तो रिचर्ड्स् का काम आसान था। क्योंकि यह सत्य है कि कविता को पढ़ते समय बहुसंख्यक पाठकों को भावानुभव आते रहते हैं। प्रश्न यह है कि यह भावानुभव काव्य के संदर्भ में प्रासंगिक है कि नहीं। जब हम कविता की बात करते हैं तब क्या हम अपने को मिलनेवाले अनुभव के बारे में बोलते हैं? कविता की परिभाषा में क्या अपने भावानुभव को स्थान होता है? तो प्रश्न है अवधारणाओं के संबंध में, उनकी सीमाओं के संबंध में, उनकी प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता के बारे में और यह प्रश्न वैज्ञानिक प्रणाली से हल नहीं होगा। अगर कोई वैज्ञानिक ढंग से हल करने का प्रयत्न करे भी तो ऊपर उल्लिखित गड़बड पैदा होगा।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि सौंदर्यशास्त्र विज्ञान नहीं है। उसके कार्य एवं प्रणाली के संबंध में अप्रत्यक्षता के कुछ मुद्दे ऊपर सुझाए गए है। उन्हें अब अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है।

1.8

सौंदर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है। इसलिए उसका विवेचन करते समय प्रस्तुत ग्रंथ में दर्शन में प्रयुक्त प्रणालियों का उपयोग हम कर रहे हैं। लेकिन यह नही कि सभी दार्शनिक एक ही प्रणाली का अवलंब कर एक ही तरह का कार्य करते हैं। मूल्यों के क्षेत्र में, विशेषत: नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में दार्शनिक लेखन उपलब्ध है, उसको देखने पर ध्यान में आएगा कि दार्शनिक दो प्रकार के प्रश्नों के उत्तर खोज रहे हैं। नैतिक मूल्यों के संबंध में वे प्रश्न ये हैं :—

(1) कौन-सी चीजें अच्छी एवं शिव हैं? और

(2) 'शिव' अथवा 'अच्छाई' की अवधारणाएँ किस प्रकार की हैं? उनकी तार्किक विशेषताएँ कौन-सी हैं? पिछले तीस-चालीस वर्षों में दूसरे प्रकार के प्रश्नों की ओर दार्शनिकों ने विशेष ध्यान दिया है, ऐसा दिखता है।[16] सौंदर्यशास्त्र में भी ऐसे ही दो प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं : (1) कौन सी वस्तुएँ सुंदर हैं? किन गुणों के कारण वे सुंदर मानी जाती हैं? सौंदर्य के निकष कौन-से हैं? (2) सौंदर्य अवधारणा के तार्किक वैशिष्ट्य कौन से हैं? सौंदर्य संवाक्य का स्वरूप क्या है?

दूसरे प्रकार के प्रश्न यद्यपि विशुद्ध तार्किक स्वरूप को लेकर बनते दिखते हैं तो भी वे निस्संदेह महत्त्वपूर्ण हैं। सौंदर्य, कला, काव्य इत्यादि के मूल तक जाने की प्रतिज्ञा से कार्यरत होने के पहले, ये प्रश्न हल करना अधिक समीचीन होगा कि इन अवधारणाओं का क्या एक ही मूलबीज होता है और क्या वह एक ही स्थान पर

होता है, इसके लिए हम आधुनिक (मतलब मूर के बादवाले और विशेषत: तार्किक अनुभववादियों के बादवाले) दार्शनिकों की सहायता लेनेवाले हैं और उनकी प्रणालियों का अवलंबन करनेवाले हैं। इन प्रणालियों का अवलंबन सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन के लिए किया जाए तो सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप इस प्रकार होगा :– सौंदर्य-संवाक्य कलाकृति एवं अन्य सुंदर वस्तुओं के बारे में होते हैं। सौंदर्यशास्त्र के संवाक्य-सौंदर्य संवाक्यों के संबंध में होते हैं। भाषा-व्यवहार के इन दो स्तरों को 'language' और 'meta - language' नाम दिए जाते हैं और यह भेद ध्यान में रखकर 'ethics' और 'meta – ethics, philosophy' और 'meta – philosophy' नाम भी प्रचार में आए है। इस पद्धति के अनुसार सौंदर्यशास्त्र को 'meta – criticism' नाम दिया जा सकता है। "फुलराणी" कविता सुंदर है। यह संवाक्य समीक्षा के स्तर का है। इस संवाक्य की जाति क्या है, क्या वह वर्णनपरक है, क्या वह सही अथवा गलत सिद्ध हो सकता है, "सुंदर" शब्द से किसी गुणधर्म का निर्देश होता है। अगर होता है तो वह गुण किस जाति का है, क्या वह व्याख्येय है, क्या उसके निकष दिए जा सकते हैं इत्यादि प्रश्न सौंदर्यशास्त्रीय हैं। क्योंकि वे सब समीक्षात्मक संवाक्यों के एवं उसमें प्रयुक्त अवधारणाओं के तार्किक स्वरूप से संबद्ध प्रश्न हैं। समीक्षा-व्यवहार में प्रयुक्त अवधारणाओं का तार्किक विश्लेषण करना सौंदर्यशास्त्र का प्रमुख कार्य है।

यह स्पष्ट है कि जिस भाषा में समीक्षा-व्यापार चलता है उस भाषा की ओर इन अवधारणाओं के विश्लेषण के लिए सौंदर्यशास्त्र को उन्मुख होना होगा, इस भाषा के सहारे हम इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं एवं अनेक परस्पर संबंधों का परिचय पा सकते हैं। हमारा उद्देश्य अवधारणाओं का विश्लेषण है। उसके लिए भाषा विश्लेषण का हथियार हमें प्रयुक्त करना होगा। भाषा के सूक्ष्म भेदों के पीछे बहुत बार अवधारणाओं के सूक्ष्म भेद छिपे हुए होते हैं। इसलिए इस हथियार का उपयोग आवश्यक होता है। लेकिन यह भी ध्यान रखना होगा कि हमारी भूमिका भाषाशास्त्रज्ञ की नहीं है।[20]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि हमें अपने विवेचन में आधुनिक दार्शनिकों की सहायता लेनी पड़ेगी और वह स्पष्ट भी है। यह दिखता है कि बहुत-से आधुनिक दार्शनिकों को सिर्फ अवधारणाओं के तार्किक वैशिष्ट्यों के विश्लेषण में ही रस आता है। लेकिन हमें इस विश्लेषण पर ही ध्यान केंद्रित कर संतोष नहीं करना होगा। अवधारणाओं के आशय और प्रत्यक्ष में प्रयुक्त सौंदर्य के निकषों की चिकित्सा भी हमें करनी है। और इस संबंध में हमें पारंपारिक दार्शनिकों की सहायता लेनी पड़ेगी। आधुनिक दार्शनिकों की सहायता से सौंदर्य आदि अवधारणाओं के रूपात्मक (formal) वैशिष्ट्यों की खोज करके पारंपारिक दार्शनिकों की मदद से आशयात्मक (substantial) प्रश्न हल करने का प्रयास हम करेंगे। इस तरह बिना नए पुरानों के

समन्वय के आधुनिक सौंदर्यशास्त्र को खड़ा नहीं किया जा सकता।

इन अवधारणाओं के विश्लेषण से क्या प्राप्त होगा? सौंदर्यशास्त्र न विज्ञान है, न तंत्रविज्ञान। इसलिए सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन से कलाकृति की निर्मिति करने का तंत्र या तकनीक समझ में आएगा ऐसा तो नहीं है। उसी तरह अरसिक मनुष्य को रसिक बनाने का काम भी सौंदर्यशास्त्र का नहीं है। सौंदर्यशास्त्र समीक्षा-व्यापार में प्रयुक्त अवधारणाओं, परिभाषिक शब्दों, मूल्य-संवाक्यों, सौंदर्यवादी अवधारणाओं के निकषों का शास्त्र है। सौंदर्यशास्त्र ये अवधारणाएँ अथवा निकष उत्पन्न नहीं करता। उन्हें तार्किक स्पष्टता अवश्य देता है। समीक्षक के रूप में हम कलास्वरूप के संबंध में कुछ अनुभव संबद्ध प्रतिक्रियाएँ जाने-अनजाने व्यक्त करते रहते हैं। सामनेवाला चित्र सुंदर है, अभी पढ़ा हुआ नाटक प्रभावपूर्ण है, कल देखा हुआ शिल्प अश्लील है, "दि आउटसाइर" पढ़ने से मानवीय जीवन पर नया प्रकाश पड़ता है, "क्राइम एंड पनिशमेंट" पढ़ने से मानव की हत्या करनेवाले के सूक्ष्म मनोव्यापारों का ज्ञान होता है और इसलिए ये उपन्यास श्रेष्ठ हैं-। इत्यादि अभिमत हम प्रकट करते रहते हैं। इस हर अभिमत के पीछे अवधारणाओं का तथा निकषों का सैद्धांतिक व्यूह खड़ा हुआ होता है। लेकिन इसका भान हमें नहीं होता। कम-से-कम उसका स्वरूप स्पष्टत: हमारा देखा हुआ नहीं होता। जिन अवधारणा-व्यूहों के कारण हमारे समीक्षाव्यापार सिद्ध होते हैं, उनका संपूर्ण नक्शा सामने खड़ा करना सौंदर्यशास्त्र का कार्य है।

सौंदर्यसंबंधी समझ पैदा करना सौंदर्यशास्त्र का कार्य नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो, अरस्तू, कांट, हीगेल ने नई सौंदर्य विषयक समझ या नया भान पैदा किया है। समाज जीवन में जो समझ या भान अस्फुट रूप में था उसे स्पष्टता देने का कार्य उन्होंने किया। सौंदर्यशास्त्र का काम माता का न होकर दाई का होता है। मानवीय मूल्यों की अवधारणाओं को हम सब गढ़ते या रचते हैं। सौंदर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र उन अवधारणाओं को स्पष्टता देकर हमें आत्मरूप के दर्शन ही कराते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि कलाकृति और सुंदर वस्तुओं के बारे में संपूर्ण उदासीनता दिखाकर भी अवधारणाओं के विश्लेषण का कार्य ठीक ढंग से किया जा सकेगा। सौंदर्यशास्त्र एवं नीतिशास्त्र की अवधारणाएँ हैं ही ऐसी कि उनके प्रत्यक्ष उपयोजन के बिना - मतलब समीक्षा व्यवहार और नीति व्यवहार में प्रत्यक्ष हिस्सेदारी किए बगैर -- उनका तार्किक विश्लेषण करना संभव नहीं होता। केवल रसिकता के कारण सौंदर्यशास्त्र में पहुँच नहीं पैदा होती। उसी तरह रसिकता के अभाव में भी उसमें पहुँच संभव नहीं है। असल में सौंदर्यशास्त्र को हमेशा दो स्तरों पर व्यवहार करना पड़ता है। – एक समीक्षा का स्तर है और दूसरा है दार्शनिक का।

यहाँ एक और मुद्दे का जिक्र आवश्यक है। हम अपने विवेचन में समीक्षा की अवधारणाओं को विशेष महत्त्व देनेवाले हैं। फिलहाल जो समीक्षा अस्तित्व में है उसकी

व्याप्ति देखने पर एक बात ध्यान में आती है। समीक्षा प्राय: कलाकृतियों की होती है। कला - समीक्षा जितने विपुल रूप में उपलब्ध है, उतनी प्रकृति - सौंदर्य की समीक्षा उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारे विवेचन में कला - समीक्षा को ही अधिक महत्त्व मिलेगा। उदाहरण के लिए "क" स्त्री सुंदर है", "ब" का बच्चा लुभावना है", "यह दृश्य सुंदर है" इत्यादि। इन संवाक्यों की अवधारणाओं का अपने विवेचन में हम अवश्य विचार करनेवाले हैं। लेकिन ऊपर उल्लिखित कारणों के लिए कला समीक्षा की अवधारणाओं को हमें अधिक महत्त्व देना होगा। इसका एक अन्य कारण है। प्रकृति के सौंदर्य को देखने के लिए सौंदर्य-दृष्टि की जरूरत होती है और यह सौंदर्य-दृष्टि आज के मानव की सौंदर्य-दृष्टि प्राय: कलासौंदर्य में ही उत्पन्न हुई है। कलाविश्व में बनी बनाई चेतना लेकर ही प्राय: हम प्रकृति-सौंदर्य की ओर मुड़ते हैं और इसलिए सौंदर्यशास्त्र में कला का इतना महत्त्व है।[21]

अध्याय 2
सौंदर्य संवाक्य का स्वरूप : एक

2.1

पिछले अध्याय में हमने सौंदर्यशास्त्र के प्रमुख उद्‌देश्य इस प्रकार देखे:

(1) समीक्षा में प्रयुक्त होनेवाली अवधारणाओं एवं संवाक्यों के तार्किक वैशिष्ट्यों को अन्वेषित कर उनका एक मानचित्र बना देना और

(2) समीक्षा में अस्पष्ट एवं अधूरे स्पष्ट सौंदर्यसंबंधी बोधों को तार्किक स्पष्टता प्राप्त करा देना। सौंदर्यशास्त्र के उद्‌देश्यों के संबंध में यह मत नया नहीं है। उदाहरण के लिए, ऐसा दिखता है कि कांट ने सौंदर्यशास्त्रीय संवाक्यों के वैशिष्ट्यों की बहुत मूलभूत चर्चा की है। इस बात की भी पुष्टि होती है कि पारंपारिक सौंदर्यशास्त्रवेत्ताओं को दूसरे उद्‌देश्य का भान था। उन्होंने भी समीक्षा के अधूरे-अस्पष्ट बोधों को स्पष्टता देने का प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में आज्बर्न एवं कैरिट के उदाहरण दिए जा सकते हैं।[1]

आज्बर्न ने अपने "एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिजम" पुस्तक के दूसरे अध्याय में अपने उद्‌देश्य एवं प्रणाली को स्पष्ट किया है। वह यह मानता है।--

(1) सौंदर्यशास्त्र दर्शन की शाखा है। जब हम सौंदर्य के संबंध मे बात करते हैं तब उस बात का अर्थ क्या है, इसकी जाँच-पड़ताल करना सौंदर्यशास्त्र का प्रमुख कार्य है।

(2) कलाकृति के बारे में बात करते या लिखते समय सामान्य मनुष्य, खासकर कलासमीक्षक जिस भाषा, अभिधान, अवधारणा एवं निकष का उपयोग करता है उनकी ओर ध्यान देना सौंदर्यशास्त्र का आवश्यक काम है।

(3) लेकिन समीक्षकों को इन अवधारणाओं एवं निकषों का स्पष्ट भान न होने के कारण समीक्षा-व्यापार में गड़बड़ी पैदा होती है।

(4) इन अवधारणाओं एवं निकषों को स्पष्टता देना, उनमें से कौन-सा निकष सर्वांगपूर्ण है, यह जाँचना, उसका स्वरूप स्पष्ट करना, सौंदर्यशास्त्र का प्रमुख कार्य है। समीक्षा-व्यापार को अपने स्वरूप का भान करा देना, उसमें परिष्कृति और निश्चितता लाना सौंदर्यशास्त्र का उद्‌देश्य है।[2] कलाकृति में विशिष्ट प्रकार का रचनातत्त्व होता है यह उसने प्रतिपादित किया है। लेकिन जिस अर्थ में प्राकृतिक विज्ञान (natural sciences) का आविष्कार

नया होता है उस अर्थ में आज्बर्न का यह आविष्कार नया नहीं है। असल में उस अर्थ से यह आविष्कार है ही नहीं। कलाकारों, समीक्षकों एवं रसिकों के मन में रचनातत्त्व के बोध को स्पष्टता मिलती गई और बेल, फ्राइ, आज्बर्न ने उसे युयुत्सु वृत्ति से प्रस्थापित किया। वह इस तरह प्रस्थापित हो सका क्योंकि कलाकारों में-- खासकर दृश्य कलाओं के कलाकारों में -- यह बोध बहुत दृढ़ हो गया था। जो कला से संबंधित बोध लोकमानस में अस्पष्ट रूप में था उसी को आज्बर्न ने स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। दूसरी बात कैरिट के बारे में। उसने तो अपने अभिव्यंजनावाद (Expressionism) के स्त्रोत किस प्रकार पुराचीन सौंदर्य--विचार में वर्तमान थे, यह स्पष्टतापूर्वक दिखाया है।[3] संस्कृत काव्यशास्त्र में आनंदवर्धन ने भी ध्वनिसिध्दांत के संदर्भ में यही कहा है कि वह पुराचीन परंपरा से चलता आया है।[4] ऐसा लिखते समय परंपरा से चिपके रहने की भारतीयों की प्रकृति उसके मन में थी ही, लेकिन उसका दावा यह भी था कि लोकमानस में जिस तत्त्व का अस्पष्ट भान था उसी तत्त्व को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है और सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप देखते हुए उसका यह कहना ठीक ही था।

2.2

ऐसा नहीं कि सौंदर्यशास्त्र में आविष्कार नहीं होते। ये आविष्कार या तो आशय संबंधी होते हैं या आकार संबंधी। आकार संबंधी आविष्कार का अर्थ है प्रस्तुत अवधारणाओं का नया मानचित्र बनना, उनके परस्पर संबंधों के बारे में तथा उनके तार्किक वैशिष्ट्यों के बारे म नया भान उत्पन्न होना। आशय संबंधी आविष्कार से मतलब है नए सौंदर्य सिध्दांतों का प्राप्त होना। यहाँ हम आशय संबंधी आविष्कारों की चर्चा कर रहे है। ये आविष्कार इस सबंध में होते है कि अवधारणाओं की सीमा कहाँ ठीक करना उचित होगा। रसिक मन में व्यामिश्र अवधारणा व्यूह होता है। इन आविष्कारों के कारण यह स्पष्ट होता है कि उसमें से किस अंग पर जोर देना है। दूसरे शब्दों में यह बात यों कही जा सकती है। सुंदर वस्तु एवं कलाकृति का स्वरूप व्यामिश्र होता है। विशिष्ट काल में विशिष्ट अंग पर बल देकर कलाकृति का निर्माण होता है एवं आस्वाद लिया जाता है। उस कालखंड में कला के उसी विशिष्ट अंग को कला के पर्याय के रूप में स्वीकार किया जाता है। कला के जिस अंग या पहलू पर पहले कभी बल नहीं दिया गया था उसका महत्त्व ज्ञात होना और उस पर बल देना ही एक अर्थ में नया आविष्कार करना है। लेकिन इस आविष्कार का रूप यह नहीं होता कि कोई ऐसी बात खोज ली गई हो कि जो पहले पूर्णत: अज्ञात थी। जो बात अस्पष्ट रूप में समझी गई थी, जिसे प्रमुख स्थान नहीं दिया गया था, उसे स्पष्टता

देना एवं नया महत्त्व देना ही इस आविष्कार का प्रमुख कार्य होता है। कला के बोध में क्रांति का अर्थ होता है सनातन का पुनर्दर्शन। इसका अर्थ यह नहीं कि कला के इतिहास में नया कुछ घटित ही नहीं होता। सनातन तत्त्व ही नए रूप में दिखाई देने लगते हैं। यह नवीनता भी कम महत्त्व की नहीं होती।

2.3

हमने यह देखा कि सुविधा के लिए अवधारणाओं के दो अंग या पहलू अलग किए जा सकते हैं–

(1) अवधारणाओं का तार्किक वैशिष्ट्य,

(2) अवधारणाओं का आशय। सौंदर्य अवधारणा को ही उदाहरणस्वरूप ले लें। यह अवधारणा किस जाति की है, सावयव है या निरवयव, सौंदर्य नामक गुण अस्तित्व में होता है या नहीं, अगर होता है तो क्या वह गोचर है --- इत्यादि प्रश्न पहले अंग के होते हैं। सौंदर्य का निकष क्या है, अनेक निकष हों तो उनमें सबमें उचित निकष कौन-सा, इत्यादि प्रश्न दूसरे अंग के होते हैं। अवधारणाएँ संवाक्यों में अवतरित होती हैं। संवाक्य-विचार में भी उपरिनिर्दिष्ट दो पहलू दिखाए जा सकते हैं। सौंदर्य--संवाक्य की क्या जाति है, सौंदर्य- संवाक्य का खंडन या मंडन किया जा सकता है या नहीं, उसके लिए प्रयुक्त प्रमाणों का और सौंदर्य-संवाक्य का क्या संबंध है --इत्यादि प्रश्न पहले अंग या पहलू के होंगे। इन दो अंगों में केवल सुविधा के लिए एवं विशिष्ट सीमा तक ही अंतर किया जा सकता है। उनके बीच के संबंध अटूट होते हैं। उनमें किसी भी एक अंग का विचार संतोषजनक ढंग से करना हो तो दूसरे अंग का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है।

2.4

प्रथम पहलू के एक प्रश्न को लेकर मैं विवेचन का प्रारंभ करूँगा। इस प्रश्न को चुनने का कारण यह है कि अगर इस प्रश्न को हम हल नहीं कर सकें तो सौंदर्यशास्त्र की इमारत खडी नहीं हो पाएगी। सौंदर्यशास्त्र ही नहीं, कुल समीक्षा-व्यापार भी असंभव होगा।

संवाक्य के संबंध में विचार करते समय हम उसकी जाति निश्चित करते हैं। हम यह पता लगाते हैं कि वह संवाक्य किसी विशिष्ट वर्ग की सभी वस्तुओं से संबंधित है या उनमें से कुछ या किसी एक वस्तु के बारे में है। सब मनुष्य मर्त्य होते हैं। यह संवाक्य इस वर्ग के सभी व्यक्तियों के बारे में है। इसके विपरीत, "साक्रेटिस मर्त्य है", यह संवाक्य विशिष्ट व्यक्ति से संबध्द है। विज्ञान से संबध्द संवाक्य प्राय: विशिष्ट वर्ग से संबंधित होते हैं। विशिष्ट व्यक्ति से संबंधित नहीं होते। (उदाहरणार्थ, सब आम्ल लिट्मस पेपर का रंग बदलते हैं।) नीतिसंबध्द संवाक्य भी मुख्यत: वर्ग से संबंधित होता है। (उदाहरण के लिए "हत्या करना पाप है।") इसका अर्थ यह नहीं

कि वैज्ञानिक संवाक्य या नीतिसंबंध्द संवाक्य एक व्यक्ति से संबंधित होते ही नहीं। ये संवाक्य विशिष्ट वस्तुओं से संबंधित भी होते हैं। (उदाहरणार्थ "इस बोतल के आम्ल के कारण इस लिट्मस का रंग बदल गया।", "मैकबेथ ने डंकन की हत्या की, यह पाप दुष्कृत्य हुआ)" ध्यान में रखने की बात यही है कि वैज्ञानिक संवाक्य या नीति संबंधी संवाक्य वर्ग से संबंधित हो सकते हैं। विज्ञान या नीति के क्षेत्र में इस बात का महत्त्व होता है कि ये संवाक्य प्राय: वर्ग से संबंधित होते हैं या हो सकते हैं। वैज्ञानिक घटनाओं का अर्थ लगाने का प्रयास करता है, मतलब यही है कि वह उन घटनाओं का सार्वभौम सृष्टिनियमों से जो संबंध होता है उसको स्पष्ट करता है। विशिष्ट घटनाओं का अर्थ लगानेवाले वैज्ञानिक-संवाक्य सृष्टि--नियमों से संबंधित सामान्य संवाक्यों पर निर्भर होते हैं। अब यह स्पष्ट होगा कि नीति -- संवाक्यों के संबंध मे भी यही बात सही है। इसे देखा जाए तो यह बात अधिक स्पष्ट होगी। उदाहरणार्थ "मैकबेथ ने डंकन की हत्या की यह पाप, दुष्कृत्य है"। क्यों? इसलिए कि सभी हत्याएँ पापी दुष्कृत्य होती हैं। इससे आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि विज्ञान और नीति विचार का रुख अपने-अपने क्षेत्र के सामान्य और समग्र नियमों की खोज का ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि विज्ञान एवं नीतिव्यवहार में समग्र एवं सार्वभौम संवाक्य संभव होते हैं। यही नही, ऐसे संवाक्य बहुत अनिवार्य होते हैं। लेकिन सौंदर्य-संवाक्यों का एक वैशिष्ट्य यह कहा जाता है कि वह व्यक्ति संबंधी ही होता है। विशिष्ट वर्ग की सभी वस्तुओं के संबंध में लागू हो सकेगा, ऐसा साधारण सौंदर्य-संवाक्य संभव ही नहीं होता। "अजंता के सभी चित्र सुंदर हैं।" लेकिन इस संवाक्य में "सभी" शब्द विज्ञान के "सभी के समकक्ष नहीं होता। "सभी अम्ल लिट्मस पेपर का रंग बदलते है," यह संवाक्य अम्ल वर्ग और लिट्मस का रंग बदलने की उसकी क्षमता में नित्य संबंध दिखाता है। मान लें कि सभी अम्लों में "अ", "आ", "इ", ये गुण हैं। "अ", "आ", "इ" इस गुणसमुच्चय में और लिटमस के पेपर का रंग बदलने के गुणविशेष में जो नित्य संबंध होता है वही संबंध उपर्युक्त संवाक्य द्वारा व्यक्त होता है। लेकिन "अजंता" में होना और "सुंदर होना" इन दोनों का नित्य संबंध नही होता। इसलिए जब हम कहते हैं, "अजंता के सभी चित्र सुंदर हैं", तब हमारा यह आशय कतई नहीं होता कि "ये चित्र अजंता में हैं इसलिए सुंदर है।" "घर नंबर बारह के सभी सदस्य नौकरी करते हैं""अजंता के सभी चित्र सुंदर हैं", दोनों एक ही जाति के संवाक्य हैं।

किसी वर्ग से संबंधित सौंदर्य-संवाक्य कब संभव बनेगा? उस वर्ग की सभी वस्तुओं में "अ", "आ", "इ", गुण हैं, ऐसा हम मान लें। अगर यह सिध्द किया जा सकेगा कि "अ", "आ", "इ" गुणों में और सौंदर्य में नित्य संबंध है, तो "अ", "आ", इ

गुणों से युक्त वस्तुओं के संपूर्ण वर्ग के संबंध में सौंदर्य-संवाक्य बन सकता है। और तब यह भी कहा जा सकेगा कि कोई वस्तु उस वर्ग में आती है इसलिए सुंदर है।

लेकिन प्रख्यात सौंदर्यशास्त्रियों ने इस बात को नकारा है कि इस प्रकार का सौंदर्य-संवाक्य बन सकता है, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सौंदर्यशास्त्री है कांट, उसने अपने "क्रिटिक आफ जजमेंट" ग्रंथ के (Analytic of the Beautiful, moment)[2] शीर्षक में इसकी चर्चा की है। उसका आशय संक्षेप में इस प्रकार है। कांट का कहना है, The beautiful is that which apart from concepts is represented as the object of a universal delight."[5]

(बिना अवधारणाओं की सहायता के सौंदर्य सार्वभौम आनंद का विषय बनता है।) किसी वस्तु के संबंध में किया हुआ सौंदर्य-संवाक्य यह बताता है कि वह वस्तु विशिष्ट प्रकार का संतोष देती है, इस संतोष का वैशिष्ट्य यह है कि वह सार्वभौम होता है। ऐसा अन्य प्रकार के संतोष के बारे में दावे के साथ कहा जा सकता है, ऐसा नहीं। उदाहरणार्थ, मधुर पदार्थ से एक को संतोष मिलेगा, लेकिन ऐसा नहीं कि दूसरे को भी वह मिलेगा ही। जब हम किसी वस्तु को सुंदर कहते हैं तब हमारा दावा यह होता है कि वह वस्तु सार्वभौम संतोष का विषय है। एक के संबंध में जो सही है वह सब के संबंध में सही है, ऐसा दावा केवल सौंदर्य-संवाक्य के संबंध में ही हम करते हैं, ऐसा नहीं। ज्ञान-संवाक्य एवं नीति-संवाक्य की भी सर्वमान्यता होती है। लेकिन इन दोनों में और सौंदर्य-संवाक्य में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि उनमें अवधारणाओं का उपयोग किया हुआ होता है जबकि सौंदर्य-संवाक्य में केवल अवधारणाएँ नही होतीं। उदाहरणार्थ, 'अ', 'ब' का कारण (cause) है।" इस संवाक्य को (अगर वह सही है) सर्व-स्वीकृति होती है। इसमें "कारण" अवधारणा का सभी मनुष्य उपयोग करते हैं अत: यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त संवाक्य को सार्वभौम मान्यता मिली है, "हर घटना का कारण होता ही है", संवाक्य को सर्व-सम्मति रहती ही है। अगर इस प्रकार के सार्वभौम संवाक्य गृहीत रूप में नहीं स्वीकृत किए जाएँगे तो अपने आसपास का जगत् और उसका ज्ञान संभव ही नहीं होगा। यह जगत्, काल, अवकाश, कार्यकारण भाव इत्यादि अवधारणाओं के द्वारा बनाई हुई समष्टि ही है। सृष्टि की नींव के रूप में स्थित इन अवधारणाओं के कारण ज्ञानात्मक संवाक्यों की सर्वस्वीकृति संभव बनती है। नीति-संवाक्यों की सर्व-स्वीकृति उस क्षेत्र की मूलभूत अवधारणाओं के कारण संभव बनती है। लेकिन सौंदर्य-संवाक्यों की सर्व-स्वीकृति किसी भी अवधारणा के उपयोग के बिना ही संभव होती है। "ये गुलाब के फूल सुंदर हैं", यह संवाक्य सौंदर्य-संवाक्य है, लेकिन "सब गुलाब के फूल सुंदर होते हैं", यह संवाक्य सौंदर्य-संवाक्य नहीं होता,[6] यह कांट का प्रतिपादन है। इसका कारण यह है कि दूसरे संवाक्य में "गुलाब" वर्ग का सौंदर्य से नित्यसंबंध[*] माना गया है। मतलब यह है कि सभी गुलाबों के पास जो

गुणवैशिष्ट्य हैं (और जिनके कारण "गुलाब" वर्ग की सीमाएँ अंकित होती हैं) उनमें और सौंदर्य में नित्य संबंध माना गया है। और कांट मानता है कि ऐसा संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। लेकिन ऐसा संबंध गुलाब वर्ग और "गुलाबी रंग का होना" में होता है। हम कह सकते हैं, "सामनेवाला फूल गुलाब है, इसलिए वह गुलाबी है", लेकिन "सामनेवाला फूल गुलाब है, इसलिए सुंदर है", ऐसा हम नही कह सकते। "गुलाब" अवधारणा और "गुलाबीपन" में नित्य संबंध प्रस्थापित किया जा सकता है। उस प्रकार यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि "गुलाब" और सौंदर्य में कुछ रिश्ता है। सामने का गुलाब, गुलाब है इसलिए वह सुंदर नही बनता। जब किसी वस्तु को हम सुंदर कहते हैं तब यह विचार समीचीन नहीं होता कि वह किस वर्ग में गिनी जाती है। सौंदर्य-संवाक्य यह जानकर किया जाता है वह वस्तु एक विशिष्ट वस्तु (particular) है। (फिर यह प्रश्न उठ सकता है कि हमने "गुलाब का फूल" जैसी अवधारणा-निर्देशक संज्ञा का प्रयोग ही क्यों किया। सहज सुविधा के लिए.-उसके स्थान पर हम यह भी कह सकते थे कि "वह कुछ सुंदर है।")

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सौंदर्य के निश्चित निकष नहीं होते। फर्ज़ करें, अगर कोई वस्तु किसी विशिष्ट वर्ग में समाविष्ट है इसलिए वह सुंदर है तो फिर उस वर्ग के जो व्यवच्छेदक गुणविशेष हैं, उन्हीं को सौंदर्य का निकष माना जा सकता था। लेकिन कांट की राय में सौंदर्य-संवाक्य में कोई भी अवधारणा या कोई भी वर्गीकरण अभिप्रेत नहीं होता। इसलिए सौंदर्य का निकष संभव नहीं। इस संदर्भ में यह सही है कि कांट भी इस अवधारणा का उपयोग करता है कि "ज्ञान शक्ति का किसी भी नियम के बिना हुआ संगम।" [7] लेकिन जिस अर्थ में कार्यकारण भाव एक निश्चित अवधारण। है, उस अर्थ में उपर्युक्त अवधारणा निश्चित अवधारण्ग नहीं है। ज्ञान के क्षेत्र में अनेकता में से एकता को निर्माण कैसे किया जाना चाहिए, इसके संबंध में निश्चित नियम होते हैं। लेकिन ऐसे निश्चित नियमों की अनुपस्थिति में "अनेकता में एकता", यह निश्चित अवधारणा नहीं बन सकती, क्योंकि अनेकता में से एकता निर्मित करने के अनंत मार्ग हो सकते हैं। सौंदर्य के क्षेत्र में अनेकता में से एकता निर्मित करने के लिए विशिष्ट नियम होते तो वे सुंदर वस्तुओं की बनावट के नियम सिद्ध होते। (मर्ढेकरजी का यही दावा है कि ऐसे निश्चित नियम होते हैं।) इस प्रकार के निश्चित नियमों का न होन। ही सौंदर्यानुभव का एक व्यवच्छेदक लक्षण है।

इसमें संदेह नहीं कि कांट का यह अभिप्राय कि सुंदर वस्तु विशिष्ट नियमों के अनुसार बनी नहीं होती तथा सौंदर्य के निकष नहीं होते, व्यक्ति- वैशिष्ट्य को अत्यधिक महत्त्व देनेवाले समीक्षको को बहुत अच्छा लगेगा। ऐसे समीक्षकों की राय में ऐसा नहीं है कि एक व्यक्ति को जो सुंदर लगेगा वह दूसरे को लगेगा ही, कौन क्या पसंद

करेगा, इसके नियम नहीं होते। लेकिन कांट इस भूमिका को भी पसंद नहीं करता। वह यह मानता है कि सौंदर्यानुभव के नियम नहीं होते। यह सही होते हुए भी उसके कारण उसकी सार्वजनीनता बाधित नहीं होती। उसका कहना है कि कुछ चीजें ऐसी होती हैं कि उनका अस्तित्व विशिष्ट तत्त्वों या नियमों के आधार से सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन इस रास्ते से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि विशिष्ट वस्तु सुंदर है। अगर कोई हमसे यह कहें कि "क" वस्तु सुंदर है क्योंकि "उसमें अमुक गुण हैं," तो हम उससे कहेंगे कि- मुझे स्वयं "क" को देखना होगा। तब तक मैं आपकी बात को नहीं स्वीकार कर सकता। सामान्यतः हम इस तरह की भूमिका संवेदनासुख के संबंध में ग्रहण करते हैं, वहाँ भी हमें तत्त्व, नियम वगैरह का आधार लेना अनुचित ही लगता है। इस बात में संवेदनासुख के संबंध में संवाक्य और सौंदर्य-संवाक्य में साम्य है। लेकिन उनमें एक बड़ा अंतर भी है। संवेदनासुख के संबंध में सर्वमान्यता या सार्वजनीनता का हमारा दावा नहीं होता। लेकिन जब हम किसी वस्तु को देखते हैं और हमें यह बोध होता है कि वह सुंदर है तब हमारा यह भी दावा होता है कि अपने सौंदर्य-संवाक्य को सर्वमान्यता होनी ही चाहिए।[8]

2.5

कांट की बात को स्वीकार करने पर बहुत बड़ी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। पहली आपत्ति यह है कि फिर सौंदर्यशास्त्र का सारा प्रयास ही व्यर्थ सिद्ध होगा। सौंदर्यशास्त्री अब तक यह मानते आए हैं कि सौंदर्य के सार्वभौम नियमों और निकषों की खोज सौंदर्यशास्त्र का कार्य है। अगर ऐसे नियम एवं निकष नहीं होंगे तो सौंदर्यशास्त्र के लिए कोई काम नहीं रहेगा। लेकिन इतना भर कहने से बात खत्म नहीं होती। जिस कारण से सौंदर्यशास्त्र व्यर्थ बनता है, उसी कारण से समीक्षा-व्यवहार एवं काव्यशास्त्र भी व्यर्थ सिद्ध होगा। क्योंकि समीक्षा-व्यापार एवं काव्यशास्त्र इसी धारणा पर खड़े हैं कि सार्वत्रिक अवधारणाएँ एवं निकष होते हैं। अपने हर सौंदर्य-संवाक्य का समर्थन करने के लिए हमें सर्वव्यापी नियमों का सदैव आधार लेना पड़ता है। अवधारणाओं का उपयोग न करने का निश्चय कर लेंगे तो कलाकृति का वर्णन भी अशक्य होगा। जो यह मानते हैं कि हर सुंदर वस्तु ऐसी विशिष्ट वस्तु है कि जिसका वर्गीकरण हो ही नहीं सकता, वे कांट की बात स्वीकार कर सकते हैं और सौंदर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र इत्यादि को अनन्यसाधारणत्व की वेदी पर बलि देने के लिए भी तैयार हो सकते हैं। सौंदर्यशात्र एवं काव्यशास्त्र इत्यादि की उपयुक्तता के बारे में स्टुअर्ट हैंपशीयर और पासमोर ने जो मुद्दे उपस्थित किए हैं उनसे ऐसा नहीं लगता है कांट की राय कुछ आधुनिक विचारक भी स्वीकार करते हैं।

सुंदर वस्तु का आस्वाद लेना हो तो अवधारणा एवं निकष का त्याग कर यह मानना चाहिए कि उस वस्तु का वर्गीकरण हो ही नहीं सकता। इसका अर्थ यह होता कि

हर सुंदर वस्तु अनन्यसाधारण (unique) है। कांट इत्यादि का रुख यही है। हमने यह देखा कि सुंदर वस्तु की अनन्यसाधारणता (इस अर्थ में) को स्वीकार किया जाए तो सौंदर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र इत्यादि का हमें त्याग करना पड़ेगा। प्रश्न यह है कि क्या इतनी बड़ी कीमत देना आवश्यक है? सचमुच ही अवधारणा और निकष की तथा सौंदर्यस्वाद की इतनी शत्रुता है? उसपर यह कहा जा सकता है कि जो आशंका सौंदर्यशास्त्र की जड़ पर आघात करती है वही आशंका नीतिव्यवहार एवं ज्ञानव्यवहार की जड़ों पर भी आघात करती है। अगर इन तीनों क्षेत्रों में यह आशंका उपस्थित होती है, तो मात्र सौंदर्यशास्त्र को लेकर इस आशंका को अवांछित महत्त्व देना ठीक नहीं होगा। फिर यह भी दिखाया जा सकता है कि इस आशंका का मर्म खोजकर उसका निराकरण भी संभव है।

2.6

कांट नीति-नियमों की सार्वत्रिकता स्वीकार करता है। नैतिक आचरण विशिष्ट सार्वभौम नियमों के आधार से किया हुआ आचरण होता है। नैतिक नियमों के अनुसार वैयक्तिक आचरण को निश्चित करना हो तो हमें वे नियम अपनी विशिष्ट परिस्थिति में अपनी समस्याओं पर लागू करने की स्थिति बनानी चाहिए। लेकिन क्या ऐसे सर्वव्यापी नीति-नियम होते है? कुछ विचारकों के अनुसार हर मनुष्य की नैतिक समस्या अलग-अलग होती है। चूँकि सब व्यक्तियों की नैतिक समस्याएँ समान नहीं होतीं, उनको हल करने के सार्वत्रिक मार्ग भी नहीं होते। सार्वजनीन नैतिक नियमों का अपनी वैयक्तिक समस्याओं को हल करने की दृष्टि से कुछ उपयोग नहीं होगा। किसी के जीवन का नैतिक मूल्यमापन करते समय भी सार्वजनीन नीति-नियमों का उपयोग नहीं होता, क्योंकि हर नैतिक समस्या एवं उसका हल अन्यन्य साधारण होता है। अस्तित्ववादी विचारकों की भूमिका ऐसी ही है। इसका विचार होना आवश्यक है। इसलिए सार्त्र के "एग्ज़िस्टेन्शालिज्म ऐण्ड ह्यूमनिज्म" नामक पुस्तक के आधार से अस्तित्ववाद के हमारे लिए प्रासंगिक मुद्दों का हम थोड़े में परिचय प्राप्त करेंगे।

सभी अस्तित्ववादियों में एक बात समान रूप में पाई जाती है। वह यही है कि मानवीय अस्तित्व (existence), सत्त्व (essence) के पहले होता है। मतलब यह है कि मानवीय अस्तित्व सत्त्व पर निर्भर नहीं होता बल्कि सत्त्व ही अस्तित्व के आधार से उत्पन्न होता है। सार्त्र ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए मानव द्वारा निर्मित वस्तुओं के साथ मानव की तुलना की है। फर्ज कीजिए कि हमें चाकू तैयार करना है। उसको बनाने से पहले ही हमारे मन में चाकू का स्वरूप, उसका प्रयोजन, आदि अवधारणाएँ विद्यमान रहती हैं। अर्थात् चाकू की अवधारणा प्रथम और उसकी निर्मिति बाद में, यह क्रम है। मतलब यह हुआ कि विशिष्ट चाकू का अस्तित्व, चाकू की अवधारणा पर आधारित होता है। मनुष्य के संबंध में चिंतन करते समय भी हम बहुत बार ऐसी

ही विचारप्रणाली का अवलंब करते हैं। हम ऐसा मानते हैं कि ईश्वर एक कारीगर है और उसने विशिष्ट अवधारणाओं के अनुसार विश्व की, विशेषत: मानव की निर्मिति की है। अगर हम निरीश्वरवादी हैं तो इस विचार-प्रणाली का हमें त्याग करना पड़ता है। जिसके मन में मानव की अवधारणा निर्मित होनेवाली है वह ईश्वर ही अगर न हो तो वह अवधारणा भी नही होगी और उस अवधारणा का मानवीय अस्तित्व के लिए कोई आधार भी नही रहेगा। अगर मानव की अवधारणा न होगी तो विशिष्ट मानवों का जीवन उस सार्वभौम अवधारणा की अभिव्यंजना है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अपना जीवन कैसे संगठित करना है, इसे तय करने के लिए मनुष्य स्वतंत्र है, उसपर किसी भी अवधारणा का बंधन नहीं होता और उसे किसी भी तत्व का निर्देशन प्राप्त नहीं होता। हर व्यक्ति स्वतंत्र ढंग से अपना जीवन संगठित करता है और उस जीवन की, उसके द्वारा किए गए चुनाव की पूरी जिम्मेदारी उसपर होती है। ईश्वर नहीं है तो उसके द्वारा निर्मित चिरंतन मूल्य भी नही है। मतलब मनुष्य को किसी भी प्रकार का मार्गदर्शन ही नहीं है। वह सर्वथा अकेला और अनाथ है। इस मुद्दे को प्रस्तुत करते हुए मार्क्स ने कलाकार का उदाहरण दिया है। जिस तरह चित्र कैसा हो या कैसा न हो, इसके संबंध में पहले से निश्चित एवं सार्वभौम नियम नहीं होता, उसी तरह जीवन कैसे संगठित किया जाए। इसके संबंध में भी नियम नहीं होते। कला और नीति के संदर्भ में हम अपनी मुक्त सर्जनशीलता पर ही निर्भर होते है।[10] सार्त्र का कहना सही हो तो उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सौंदर्य की भाँति नीति के भी सर्वव्यापी नियम नही होते।

2.7

विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसा ही प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है। एक वस्तु की तरह अनेक वस्तुएँ होती हैं, एक घटना की तरह अनेक घटनाएँ होती हैं, विज्ञान में वह गृहीतक-सा होता है। और इसीलिए उनके बारे में सार्वत्रिक नियमों का अन्वेषण संभव बनता है। लेकिन कोई वैज्ञानिक यह सिद्ध कर सकता है कि हर वस्तु एवं घटना अनन्यसाधारण होती है। मान लीजिए एक ही जाति के आम के दो पेड़ हैं। बिलकुल एक जैसे हैं, ऐसा हम मानकर चलते हैं। लेकिन उन दो पेड़ों के इतिहास अलग हैं, उनके दुनिया के अन्य वस्तुओं के साथ जो संबंध है वे भी अलग है। उदाहरणार्थ माली पहले पेड़ के पास आठ बजे तो दूसरे के पास आठ बजकर दस मिनट पर जाता है। वैसे ही एक पेड़ दूसरे की बाईं ओर है। केवल अवकाश एवं काल की पृथकता होगी तो भी यह कहा जा सकता है कि उनके तत्त्व अलग हैं। इसमें यह बात स्वीकृत है कि हमें ऐसा भी मानना होगा कि किसी भी वस्तु का तत्त्व उस वस्तु का समूचा इतिहास एवं उसके अन्य वस्तुओं के साथ बने संबंध, काल एवं अवकाश के परिणामों में उसका स्थान, इत्यादि बातों पर निर्भर है। अगर वस्तु के तत्त्व का जाल इतना

विस्तृत फैलाया जाए तो हर वस्तु को अनन्यसाधारण कहा जाएगा। अन्य शब्दों में यही बात इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है। किसी वस्तु के (व्यवच्छेदक) लक्षण में हम कितने गुणविशेषणों को स्थान देते हैं, इसपर उसका अनन्यसाधारणत्व निर्भर होता है। अगर किसी वस्तु के सभी गुणों एवं अन्यों के साथ उसके सभी संबंधों को हमने उस वस्तु के व्यवच्छेदक लक्षण मान लिया तो वह वस्तु अनन्यसाधारण होगी। अगर हर वस्तु एवं घटना अनन्यसाधारण हो तो वस्तु एवं घटना के बारे में सार्वत्रिक नियम कैसे संभव हैं? इसका अर्थ यह हुआ कि विशिष्ट वस्तु के अनन्यसाधारणत्व के सिद्धांत के कारण सौंदर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र असंभव होगा और उसी प्रकार विज्ञान भी असंभव होगा। अत: इस अनन्यसाधारणत्व की अधिक छानबीन आवश्यक है।

2.8

यह स्पष्ट है कि यह सिद्धांत अनुभव पर अधिष्ठित नही है क्योंकि अनुभव पर अधिष्ठित सिद्धांत का प्रमुख वैशिष्ट्य यह होता है कि उसे सिद्ध करने के लिए, कम से कम उसका खंडन करने के लिए अनुभवजन्य प्रमाण की जरूरत होती है, वैसा प्रमाण मिलता भी है। लेकिन विशिष्ट चीज के अनन्यसाधारणत्व के पक्ष में या विपक्ष में कोई अनुभवजन्य प्रमाण नहीं दिया जा सकता। कोई भी ऐसा प्रमाण वहाँ उचित नहीं जँचता। क्योंकि ऐसा प्रमाण स्वीकार किया जाए अथवा न किया जाए, मूल सिद्धांत के लिए कोई बाधा नहीं है। ऊपर हमने आम के दो पेड़ों का उदाहरण लिया था। ये पेड़ एक जैसे हैं कि नहीं, यह प्रश्न उन पेड़ों की तुलना कर हल नही हो सकता, क्योंकि दुनिया की अन्य वस्तुओं के साथ उनका जो संबंध है, उसको ध्यान में लेने पर भिन्नता स्पष्ट होती है। लेकिन इतना करने की भी जरूरत नहीं है। क्योंकि हू-ब-हू समान वृक्ष मिल ही नही सकते। दो वृक्षों में थोड़ा-सा तो अंतर होगा ही। याने कि एक की बारह शाखाएँ हैं और दूसरे की ग्यारह, एक पंद्रह फीट ऊँचा हैं, दूसरा चौदह। उस पेड़ के व्यवच्छेदक लक्षणों में शाखाओं की संख्या, ऊँचाई आदि को शामिल किया जाए तो वे वृक्ष भिन्न सिद्ध होंगे। प्रश्न अवलोकन का न होकर यह है कि जिसका अवलोकन किया गया है उसको व्यवच्छेदक लक्षणों में स्थान देना है अथवा नहीं। वस्तु के सत्त्व की सीमा कहाँ निश्चित की जाए यही सही प्रश्न है।

चूँकि विशिष्ट वस्तु के अनन्यसाधारणत्व का सिद्धांत अनुभवाधिष्ठित नहीं है, उसे अतिभौतिकीय (metaphysical) माना जा सकता है। अतिभौतिकीय सिद्धांत दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के अतिभौतिकीय सिद्धांत अपने व्यवहार की भाषा को एवं उसकी अवधारणाओं को बाधित करते हैं। अगर इन सिद्धांतों को हम स्वीकार करते हैं तो यह मानना होगा कि व्यवहार की भाषा अधूरी, गड़बड़ी पैदा करनेवाली एवं अंतिम अर्थ में असत्य है। इसी भूमिका से प्लेटो ने इहलौकिक सभी चीजों को दोयम सत्ताशास्त्रीय (ontological status) स्थान दिया। एफ़. एच. ब्रैडली ने अपने

"ऐपीअरंस ऐंड रियालिटी" नामक ग्रंथ में दिखाया है कि हम दैनंदिन व्यवहार में एवं विज्ञान में कार्यकारण भाव इत्यादि जो अवधारणाएँ प्रयुक्त करते हैं, उनके कारण बुद्धि गड़बड़झाले में फँस जाती है और सत्य-ज्ञान से हम वंचित रह जाते हैं। अत: उनके द्वारा दिखनेवाला विश्व परमार्थ में सत्य नहीं है। ब्रैडली की भूमिका प्लेटो जैसी ही है।

ऐसा नहीं है कि अतिभौतिकीय सिद्धांत सदैव व्यावहारिक भाषा के विरोध में ही खड़े रहते हैं। जो अवधारणाएँ हमारी व्यवहार की भाषा में होती हैं और जिनके कारण हमारे जीवन को विशिष्ट आकार प्राप्त होता है, उनके तार्किक विश्लेषण को भी अतिभौतिकीय (metaphysics) नाम बहुत बार दिया जाता है। इस तरह के अतिभौतिकीय को वर्णनात्मक अतिभौतिकी (descriptive metaphysics) कहा जाता है। कांट का "क्रिटिक आफ प्योर रीज़न" एवं स्ट्रासन का "इंडिविज्युअल्स", ये ग्रंथ इस प्रकार के अतिभौतिकीय वर्ग में परिगणित होते हैं। प्लेटो, ब्रैडली के अतिभौतिकी को पुनर्रचनात्मक अतिभौतिकी (revisionary metaphysics) कहा जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णनात्मक अतिभौतिकीय भूमिका स्वीकार की गई है। हम उन अवधारणाओं का विश्लेषण करना चाहते हैं जिनपर समीक्षक के नाते हमारा दैनंदिन जीवन निर्भर है। चूँकि समीक्षा के संदर्भ में ही सौंदर्य का दर्शन, कलाओं का आस्वाद इत्यादि का लाभ हमें होता है, अत: ऐसा कोई सिद्धांत स्वीकार करना आत्मघात कर लेना है जिससे समीक्षा-व्यवहार ही पूर्णत: बाधित होता हो।

अब हमें यह देखना होगा कि हमारी भूमिका से विशिष्ट वस्तुओं के अनन्यसाधारणत्व की अवधारणा की छानबीन करने के लिए समीक्षा में इस अवधारणा को कोई आधार मिलता है या नहीं। क्या समीक्षा में हम इस अवधारणा का प्रयोग करते हैं? अगर प्रयोग करते हैं तो कांट के अर्थ में या दूसरे किसी अर्थ में? अगर कांट के अर्थ में इस अवधारणा का उपयोग करें तो जिस नींव पर समीक्षा एवं साहित्यशास्त्रादि शास्त्र खड़े हैं उस अवधारणा-व्यूह पर क्या परिणाम होगा? इस प्रश्न का हल निकलने पर ही अनन्यसाधारणत्व की समस्या का उत्तर मिल सकता है।

यह सही है कि अनन्यसाधारणत्व की अवधारणा हम समीक्षा में प्रयुक्त करते हैं, उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि कालिदास का "शाकुंतल" एवं शेक्सपिअर का "हैमलेट" अनन्यसाधारण नाट्यकृतियाँ हैं। ऐसा कहते समय हमारे मन में इतना ही होता है कि जिन गुणों के कारण नाट्यकृतियाँ अच्छी, सरस एवं महान साबित होती हैं, वे गुण इन नाट्यकृतियों में प्रचुर रूप में प्राप्त होते हैं। "अनन्यसाधारण" शब्द के समानार्थक शब्द देखने से यही निष्कर्ष निकलता है। उदाहरणार्थ, "नेपोलियन अद्वितीय

वीरपुरुष हैं", "बापू नाडकर्णी का खेल अप्रतिम हुआ", "विगत महायुद्ध में ब्रिटिश जनता ने अतुलनीय धैर्य दिखाया", "हुए बहुत, होंगे भी बहुत, लेकिन इसके समान, यही", "गांधीजी ने जो त्याग किया उसकी इतिहास में कोई समकक्षता नहीं।" इससे यह ध्यान में आएगा कि समीक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी मूल्यांकन के लिए हम अनन्यसाधारणत्व की अवधारणाएँ प्रयुक्त करते हैं। लेकिन उसके साथ यह भी सही है कि कांट एवं सार्त्र के अभिप्रेत अर्थ में यह अवधारणा प्रयुक्त नहीं होती। इन दोनों के अभिप्रेत अर्थ में इस अवधारणा का किसी वस्तु के संदर्भ में प्रयोग करना हो तो किसी भी अवधारणा के आधार से उस वस्तु का वर्गीकरण नही हो सकता। कोई अवधारणा उस वस्तु को अपने में पूर्णत: समाविष्ट नहीं कर सकती। किसी भी सार्वभौम नियम के आधार पर उस वस्तु का अर्थ लगाया नहीं जा सकता या उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उल्टे, जब हम अपने अर्थ में इस अवधारणा को प्रयुक्त करते हैं, तब हम इनमें से एक भी बात नहीं कहना चाहते। हमारे मन में बस इतनी ही बात होती है कि जिन गुणों से नाट्यकृति, वीरपुरुष, खेल इत्यादि चीजें सरस या महान सिद्ध होती हैं, उन गुणों का अस्तित्व विशिष्ट नाट्यकृति में, वीरपुरुष में बहुत बड़े अनुपात में होता है। लेकिन हम यह नहीं कहना चाहते कि यह समुच्चय क्षीण रूप में ही क्यों न हो, अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। आज जो अतुलनीय प्रतीत हो रहा है वह कल औरों के साथ तुलना करते समय केवल समतुल्य हो सकता है या कदाचित् सामान्य भी। समान गुणों की उपस्थिति के फलस्वरूप दो या अधिक कलाकृतियों की तुलना की जा सकती है और उनमें सरसता-नीरसता भी तय की जा सकती है। समीक्षा का प्रमुख कार्य है कलाकृतियों का विश्लेषण करना, उनका मूल्यमापन करना, उनमें सरस-नीरस तय करना। यह सब करते समय समीक्षक को अनेक कलाकृतियों में समान गुण खोजने पड़ते हैं और ऐसे समान गुण प्राप्त भी होते हैं। ऐसे समान गुण प्राप्त होते हैं, इसलिए समीक्षा-व्यवहार संभव बनता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ये गुण सभी कलाकृतियों में समान रूप में पाए जाते हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं कि एक ही एक गुणसमुदाय उपस्थित होता है। लेकिन यह निश्चित कहा जा सकता है कि एक कलाकृति कुछ गुणों के बारे में अन्य कुछ कलाकृतियों की तरह होती है। और इस समानता का समीक्षा-व्यापार में बहुत महत्व होता है। जब हम कहते हैं कि "क" उपन्यास के पात्र "ख" उपन्यास के पात्रों से अधिक जीवंत हैं। तब दोनों उपन्यासों में जीवंत पात्र-निर्माण का प्रयत्न दोनों लेखकों ने किया है, इतना तो मान लेते हैं। हम यह भी जानते हैं कि इन समान गुणों एवं कलाकृति के मूल्यों का संबंध है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि "क" उपन्यास "ख" से अधिक अच्छा है। यह स्पष्ट है कि इस समान गुण को हम मूल्य-निकष (value criterion) के रूप में प्रयुक्त करते हैं। हमारा यह आग्रह नहीं होता कि जीवंत पात्रों का होना

हर उपन्यास में आवश्यक है। लेकिन बहुत सारे उपन्यासों में यह गुण कम-ज्यादा अनुपात में होने के कारण उनकी तुलना हो सकती है। उनमें तारतम्य भी निश्चित किया जा सकता है। जब हम किसी उपन्यास को अनन्यसाधारण कहते हैं तब हम यह नहीं कहना चाहते कि उसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता या उसमें अन्य कलाकृतियों में समान गुण नहीं होते। हम बस, इतना ही कहना चाहते हैं कि इसमें और अन्य कलाकृतियों में समान गुण हैं और इन्हीं गुणों के संबंध में यह कलाकृति अन्यों से अधिक अच्छी है। वह एक अर्थ में तुलनीय है और इसलिए दूसरे अर्थ में अतुलनीय है।

हम जब सामान्य अर्थ में "अनन्यसाधारण" कहते हैं तब उस शब्द को कुछ थोड़ी-सी कलाकृतियों के लिए सुरक्षित रखना चाहते हैं। हर रचना अनन्यसाधारण है, यह तो हम नहीं कहना चाहते। ऐसा हम कहेंगे तो "अनन्यसाधारण" शब्द निरर्थक होगा। समीक्षा-व्यवहार में उसका उपयोग ही नहीं किया जा सकेगा। इसे स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण लेते हैं - मनुष्य के बारे में बोलते समय हम शब्दों का सार्थक उपयोग करते हैं- "स्वार्थी" और निःस्वार्थी"। लेकिन मान लीजिए कि अगर कोई यह कहे कि हर व्यक्ति केवल मनुष्य है इसलिए स्वार्थी है, तो स्वार्थी और निःस्वार्थी के बीच का महत्त्वपूर्ण अंतर ही समाप्त होगा, दोनों शब्द दैनंदिन व्यवहार में अनुपयुक्त होंगे। वही स्थिति "अनन्यसाधारण" शब्द की होगी। हर कलाकृति को हम "अनन्यसाधारण" कहेंगे तो, "हैम्लेट", "ताजमहल" इत्यादि कुछ सीमित कलाकृतियों के लिए अनन्यसाधारण शब्द हम सुरक्षित नहीं रख सकेंगे और मूल्यांकन के लिए वह शब्द उपयोगी नहीं सिद्ध होगा। ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि समीक्षा में इस शब्द का स्थान निश्चित ही है। लेकिन इस शब्द का उपयोग करना है तो कांट के अभिप्रेत अर्थ में उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

समीक्षक जिस अर्थ में "अनन्यसाधारण" शब्द का प्रयोग करता है, उस अर्थ में इस शब्द का उपयोग करके कलाकृति के उच्च मूल्य से संबंधित कुछ जानकारी हमें निश्चित ही प्राप्त होती है। लेकिन कांट और सार्त्र के अर्थ में इस शब्द का उपयोग करने पर कलाकृति के संबंध में निश्चित कुछ भी ज्ञात नहीं होता। हर रचना में "अनन्यसाधारणत्व" का गुण देखने में यही आपत्ति अनिवार्यतया उत्पन्न होती है।

अगर कलाकृति को, मात्र इसलिए कि वह कलाकृति है, हम "अनन्यसाधारण" कहने लग जाएँ तो किसी भी कविता को पढ़ने पर तुरंत या न पढ़ने पर भी या अन्य कविता के संस्कार ध्यान में लेते हुए भी यह कहा जा सकता है कि इस कविता की भाँति दूसरी कविता अस्तित्त्व में है ही नहीं। लेकिन हम ऐसा नहीं कहते, नहीं कह सकते।

समीक्षक मुख्यत: दो बातें करता है :

(अ) कलाकृति का विश्लेषण और

(आ) उसका मूल्यांकन।

यह बात मतभेद की नहीं है कि मूल्यांकन के लिए निकष चाहिए। निकषों का वैशिष्ट्य यह है कि वे अनेक कलाकृतियों के संदर्भ में उपयोग में लाए जा सकते हैं। अलग-अलग कलाकृतियों में अगर साम्य नहीं होगा तो वे कांट के अर्थ में अनन्यसाधारण होंगी और निकष नहीं निर्मित हो सकेंगे। वस्तुस्थिति यह है कि निकष बनते हैं। अनेक कलाकृतियों पर लागू करके हम उनका मूल्यांकन करते हैं। उनमें क्रम निश्चित करते हैं। और अगर यही सत्य है तो कांट के सिद्धांत को त्यागना होगा।

इसपर कोई आक्षेप कर सकता है कि निकषों के बिना मूल्यांकन असंभव होगा, लेकिन विश्लेषण के लिए निकषों की आवश्यकता क्या है? उसका उत्तर यह है कि कलाकृति के विश्लेषण के अनेक प्रकार हो सकते हैं। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब प्रकार समीक्षा के लिए उचित ही होंगे। जिसका मूल्यांकन से कोई संबंध नहीं ऐसा विश्लेषण समीक्षा गें अंतर्भूत नहीं हो सकता। कलाकृति का विश्लेषण उसके प्रत्येक आयाम एवं बारीकियों का विश्लेषण नहीं होता। जिस बात पर कलाकृति का मूल्य निर्भर है, ऐसी बात का विश्लेषण नही होता। जिस बात पर कलाकृति का मूल्य निर्भर है, ऐसी बात का विश्लेषण ही कला समीक्षा में अभिप्रेत होता है। कलाकृति का कलाकृति के रूप में भान होना ही एक मूल्यांकित वस्तु का भान होना है। और हमने यह देखा कि निकषों के अभाव में मूल्यांकन असंभव है। मतलब यह है कि कलाकृति का कलाकृति के रूप में भान होना ही निकषों के अस्तित्व पर निर्भर है। इसका अर्थ यही हुआ कि निकषों के अभाव में मूल्यांकन ही नहीं, कलाकृति का विश्लेषण भी असंभव होता है और इसीलिए कांट के "अनन्यसाधारणत्व" के सिद्धांत को स्वीकार करना गलत है। इसीलिए कांट के इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सौंदर्य के क्षेत्र में अवधारणाएँ एवं नियम नही होते।

2.9

इसका अर्थ यह नहीं कि कांट के विचार में कुछ तथ्य नहीं है। बहुत से अतिरेकपूर्ण सिद्धांत भले ही स्वीकार्य न हों, वे इसलिए विचारणीय बन जाते हैं कि वे कुछ नई दृष्टि दे जाते हैं। अगर कोई अतिरेकपूर्ण सिद्धांत लोगो को जँचने लग जाए तो यह समझने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उक्त सिद्धांत को वस्तुस्थिति में, व्यावहारिक जीवन में, हमारी वस्तुस्थितिविषयक समझ में कुछ आधार है। कांट और सार्त्र के अतिरेकपूर्ण सिद्धांत का भी ऐसा ही आधार है। यह आधार न केवल कलाविश्व में या नीतिविश्व में है बल्कि स्थिति ऐसी है कि कुल मानवीय जीवन में ही इस सिद्धांत को कुछ मात्रा में समर्थन मिलेगा।

कलाविश्व के संबंध में ही बात करनी हो तो यह दिखाया जा सकता है कि

अनन्यसाधारणत्व का न सही पर इस विश्व में अनोखेपन या नवीनता की अवधारणा का विशेष महत्त्व है। नैतिक दृष्टि से अच्छे दो कार्यों में समानता अथवा अनुकृति भी नैतिक मूल्य की दृष्टि से गर्हणीय नहीं मानी जाती। जो गांधीजी ने भारत में किया वही मार्टिन ल्यूथर किंग ने अमेरिका में किया तो उसका नैतिक मूल्य या महत्त्व कम नहीं होता। किंग ने गांधीजी का अनुकरण किया इसलिए उन्हें नैतिक दृष्टि से दोयम स्थान नहीं प्राप्त होगा। लेकिन ऐसा अनुकरण कला के क्षेत्र में निश्चय ही दोयम दर्जे का माना जाएगा। इसीलिए वाङ्.मयचौर्य गर्हणीय माना जाता है, लेकिन नैतिक-चौर्य जैसी कोई अवधारणा अस्तित्व में नहीं है।

लेकिन नैतिक परिस्थिति हु-ब-हू समान नहीं होती इसलिए नैतिक क्षेत्र में भी हू-ब-हू अनुकरण संभव नहीं होता और ऐसा अनुकरण कोई करे भी तो वह हास्योत्पादक होता है। मतलब यही हुआ कि अनोखेपन की अवधारणा का नीतिविश्व में भी स्थान है। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों ही क्षेत्रों में उनका समान महत्त्व है। क्योंकि कलाकृति का अनोखापन, उसकी नवीनता के कारण कलाकृति के मूल्य में निश्चय ही बढ़ोतरी होती है। नीति के क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। अनोखापन नीतिविश्व की वस्तुस्थिति का एक भाग है, कलाविश्व में अनोखेपन को कुछ अंशो में मूल्य का आधार है।

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यही है कि कला के क्षेत्र में अनोखेपन या नवीनता की अवधारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह सर्वगामी है, सभी कलाओं के संबंध में वह संगत है। अनन्यसाधारण की अवधारणा कुछ चुनिंदा कलाकृतियों के लिए ही सुरक्षित रखनी पड़ेगी। ये दोनों अवधारणाएँ कांट की अवधारणा से अलग हैं। जब कहा जाता है कि कोई कलाकृति अनोखी है तब इसका अर्थ यह नहीं होता किं उसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता तथा उसमें एवं अन्य कलाकृतियों में कुछ भी साम्य नहीं है। वह कुछ रूपों में अन्यों की तरह है। इसीलिए तो उसका अनोखापन विशेष लक्षित किया जा सकता है। चूँकि अलग-अलग कृतियों में साम्य और साथ साथ भेद भी है। सार्वभौम निकष लगाए जा सकते हैं। इसलिए साँचे की तरह निकषों को प्रयुक्त करना गलत साबित होता है। कलाकृति का संपूर्ण मूल्य केवल उसके अनोखेपन में देखना जितना गलत है उतना ही उसका समग्र मूल्य उसमें एवं अन्य कलाकृतियों में विद्यमान साम्य में खोजना भी गलत है।

मानवेतर सृष्टि की चीजों में भी अनोखापन होता है। लेकिन इस अनोखेपन का महत्त्व हम नहीं मानते। मनुष्य में और मनुष्य द्वारा विनिर्मित वस्तुओं के बारे में विचार करते समय हम व्यक्तितत्त्व और अनोखेपन को अवश्य महत्त्व देते हैं। मनुष्य की अवधारणा में ही व्यक्तितत्त्व की अवधारणा समाविष्ट है। इसीलिए मनुष्येतर प्राणी एवं चेतन-अचेतन सृष्टि के संबंध में जिस सहजता से हम सर्वव्यापी नियम बता सकते

हैं उस सहजता से मानव के संबंध में नियम नहीं बताए जा सकते।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य के बारे में कुछ नियम ही नहीं बताए जा सकते। मानव-जीवन अगर नियमरहित होता तो उसका ज्ञान ही हमें न हो पाता। हर मनुष्य एक स्वतंत्र द्वीप बना होता। लेकिन ऐसा नहीं है। मनुष्यों के व्यवहार को हम जान सकते हैं, क्योंकि उसमें एक किस्म की नियमबद्धता होती है। मनुष्य-मनुष्य में जिस प्रकार की भिन्नता होती है वैसा साम्य भी होता है। इस साम्य के कारण ही नियमबद्धता यांत्रिक नहीं होती, यह हमने ऊपर देखा है। कलाकृति के संबंध में विचार करते समय भी इन साम्य-भेदों का सदैव भान रखना पड़ता है।

आस्वाद- प्रकिया का विचार करें तो उसमें भी वैयक्तिकता बड़े अनुपात में पाई जाती है। लेकिन यहाँ भी भेदों के साथ साम्य का विचार आवश्यक बन जाता है। आस्वादकों की वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ भिन्न हों तो भी उन प्रतिक्रियाओं की जाति एवं उन प्रतिक्रियाओं के घटकों में से किस को संगत माना जाए इसका ज्ञान, ये बातें समान हो सकती हैं। किसी नाटक को देखते समय कुछ दर्शकों में सौम्य भावना जागृत होगी तो कुछ लोगों को अनुभव होगा कि उनका समूचा भावविश्व ही उद्वेलित हुआ है। यह सही है कि ये दोनों प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। लेकिन नाट्यकृतियों के मूल्यांकन का एवं आस्वादकों में होनेवाली भावना-जागृति का संबंध है, ऐसा अगर इन दर्शकों को लगता होगा तो यह ध्यान में आएगा कि उनकी प्रतिक्रियाओं की जाति एवं मूल्य के संदर्भ में क्या संगत है इसका ज्ञान, ये दोनों बातें समान हैं। और यह जाति और यह ज्ञान एक ही होने के कारण वे एक दूसरे की बात को समझ सकेंगे। लेकिन सब मनुष्यों की प्रतिक्रियाओं की जाति एवं उसमें मूल्य-दृष्टि से क्या संगत है इसका ज्ञान, क्या ये दोनों बातें एक ही होती हैं? यहाँ भी ध्यान में आएगा कि यहाँ विविधता है। लेकिन यह विविधता व्यक्ति और व्यक्ति के बीच की न होकर प्रतिक्रियाओं की जाति एवं उसमें सन्निहित नानाविध बोधों के प्रकारों मे है। इस स्तर पर विविधता होती है, इसका एक कारण यह है कि कलाकृति एवं उसका आस्वाद दोनों चीजें अनेकांगी एवं व्यामिश्र हैं। उनमें से किस पहलू पर बल देना है, इसके बारे में मतभिन्नता का होना स्वाभाविक है। यह तो संभव नहीं है कि सभी कलाकृतियों के पहलू समान होंगे। इसलिए मतभेद के लिए अधिक अवसर मिलता है। लेकिन यह नहीं भुलाया जा सकता कि भिन्नता के साथ साम्य भी होता है।

इसका अर्थ यह है कि कलाविश्व की अवधारणा साम्य एवं भेद दोनों को समाविष्ट करनेवाली होनी चाहिए। समीक्षा संभव हो तो सार्वभौम नियमों, निकषों एवं अवधारणाओं का होना आवश्यक है। लेकिन कलाकृतियों के अनोखेपन पर अन्याय नहीं होना चाहिए। इसलिए ये नियम एवं निकष लचीले भी होने चाहिए। समीक्षक अगर एक ही समय अनेक नियमों एवं निकषों का उपयोग करेगा तो उसके मानदंडों

में आवश्यक लचीलापन आएगा। किसी भी एक नियम की दृष्टि से विचार किया जाए तो ध्यान में आता है कि किसी भी वस्तु का व्यक्तित्व पूर्णत: उसमें नहीं समा जाता। चूँकि उस व्यक्तित्व के अनेक पहलू होते हैं। वह अन्य नियमों की परिधि में भी आ जाता है। इन अनेकविध नियमों का एक ही समय उपयोग किए जाने पर ही हम उस व्यक्तित्व को समग्रता में आकलित कर सकते हैं। इसके लिए दैनिक व्यवहार का एक उदाहरण ले लें। डॉक्टर को यह ज्ञात होता है कि सामनेवाला रोगी अन्य रोगियों की अपेक्षा कुछ बातों में और कुछ अनुपात में अलग हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि जो औषधि अन्यों के लिए लागू होगी वह उसके लिए भी चलेगी। औषध योजना निश्चित करते समय रुग्ण की शारीरिक स्थिति, उसपर हुए परिस्थिति के परिणाम, विशिष्ट औषधियों के संबंध में उसकी प्रतिक्रियाएँ, उसकी मानसिक स्थिति इत्यादि अनेक अंगों का विचार करना पड़ता है। इनमें से हर पहलू पर कोई न कोई नियम घटित होता ही है। रोगी का रोग अनेक कार्यकारण नियमों के अनुसार घटित बातों का परिपाक होता है और उसके ठीक होने की प्रक्रिया भी अनेक नियमों के अनुसार होनेवाली बातों का परिपाक होती है। हर रोगी एक अर्थ में अनोखा ही होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी भी नियम के अंतर्गत नहीं आता। बल्कि यह है कि एक ही समय अनेक नियमों के अंतर्गत आता है। व्यक्तित्व का अर्थ नियम-निरपेक्षता नहीं, व्यक्तित्व का अर्थ है कि एक ही समय अनेक नियम संगत प्रतीत हों।

कलाकृतियों के बारे में भी यही निष्कर्ष सही सिध्द होता है। कला कृतियों में साधर्म्य होता है इसीलिए सर्वव्यापी निकष संभव बनते हैं। लेकिन व्यक्ति-वैशिष्ट्य का आदर करना होता है। इसलिए बहुविध निकषों का इस्तेमाल करना पडता है। कलाकृति का अनेकांगी होना और समीक्षक का बहुआयामी नियमों एवं निकषों का उपयोग करना, ये बातें परस्पर निर्भर एवं पोषक होती हैं।

बहुआयामी नियमों का एक ही समय उपयोग करने की सर्वाधिक अच्छी पध्दति यह है कि उन नियमों को अमूर्त रूप में शब्दांकित न कर वे जिन कलाकृतियों में होते हैं उन कलाकृतियों का ही मूल्यांकन के लिए मानदण्ड के रूप में उपयोग किया जाए। चूँकि हर कलाकृति बहुआयामी होती है उसमें अनेकानेक नियमों का पाया जाना, अनेकानेक निकषों की दृष्टि से उसका मूल्यवान होना, स्वाभाविक है। अत: जब आर्नोल्ड जैसे परीक्षक कहते हैं कि कलाकृति के मूल्यांकन के लिए महान कलाकृतियों का उपयोग करना चाहिए, तब उसका मर्म भी यही है।[11] निकष का मुद्दा आर्नोल्ड के शब्दों में अगर रखा जाए तो कांट को भी उससे विरोध नहीं होगा। उसके कला विषयक लेखन से ऐसा ही लगता है।[12]

उपर्युक्त कुल चर्चा का निष्कर्ष यह निकलता है कि सौंदर्य-संवाक्य व्यक्तिविषयक

भी होता है और सार्वभौम भी। हमने ऊपर यह देखा कि सौंदर्य एवं कलाकृति की अच्छाई के निकष होते हैं। निकष सार्वजनीन होते हैं और इसीलिए निकष बतानेवाले संवाक्य सार्वजनीन सिध्द होते हैं। इन सार्वजनीन संवाक्यों की व्याप्ति कम अधिक होती है। उदाहरण के लिए, 'समूची कला जीवन की प्रतिकृति होती है' इस संवाक्य की व्याप्ति 'सब शोकात्म नाट्यकृतियाँ भावनाओं का विरेचन करती हैं' इस संवाक्य की अपेक्षा बड़ी है। लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि दोनों संवाक्य सार्वभौम हैं। दूसरी बात यह है कि जब हम किसी कलाकृति का मूल्यांकन करते हैं तब सार्वभौम संवाक्यों का हमारे लिए बहुत उपयोग होता है। या यों भी कह सकते हैं कि इस प्रकार के सार्वभौम संवाक्यों के अभाव में हम विश्लेषण या मूल्यांकन कर ही नहीं सकते। हर व्यक्तिसंबंधी संवाक्य के समर्थन के लिए सार्वभौम संवाक्यों का उपयोग करना पडता है। लेकिन हर बार व्यक्तिसंबंधी संवाक्यों का समर्थन या खंडन न भी किया जाए तो भी सार्वभौम संवाक्य गृहीतकों के रूप में (assumptions) हमारे मन में होते ही हैं। क्योंकि सार्वभौम संवाक्य व्यक्तिविषयक संवाक्यों की नींव होते हैं। व्यक्तिविषयक संवाक्यों में सार्वभौम संवाक्य अनुस्यूत होते हैं।

□□

अध्याय 3
सौंदर्य-संवाक्य का स्वरूप: दो

3.1

सौंदर्य-संवाक्य के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण समस्या की चर्चा इस अध्याय में करनी है। वह समस्या यह है कि सौंदर्य-संवाक्य किस जाति का संवाक्य है। हमने यह देखा है कि सभी संवाक्य एक ही जाति के नहीं होते। व्याकरण या तर्कशास्त्र के संवाक्यों की तरह दर्शन की दृष्टि से भी संवाक्यों के अलग-अलग प्रकार दिखाए जा सकते हैं। मूर के बाद नीतिशास्त्रीय एवं सौंदर्यशास्त्रीय लेखन में इस वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। वह ठीक भी है। क्योंकि संवाक्यों के वर्गीकरण का प्रश्न हल होने पर समीक्षा व्यापार पर नया प्रकाश पडनेवाला है। हम जब सौंदर्य-संवाक्य बनाते हैं तब क्या करते हैं? क्या कलाकृतियों के संबंध में विवाद सचमुच विवाद ही होते हैं? इत्यादि प्रश्नों को हल करने के संदर्भ में उपर्युक्त प्रश्नों की चर्चा बहुत ही उपयोगी हो सकती है।

इस संदर्भ में और एक प्रश्न की चर्चा जरूरी है। सौंदर्य-संवाक्य में "सुंदर" एवं "अच्छा" शब्द बहुत बार (सदैव नहीं) प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों का निश्चित कार्य क्या होता है? "सौंदर्य" एवं "अच्छाई " किस जाति की अवधारणाएँ हैं? इत्यादि प्रश्न सौदर्य-संवाक्य के संदर्भ में विचार करते समय ऊपस्थित होते हैं। उनकी भी चर्चा करेंगे।

मूल्य-संवाक्य एवं मूल्य-अवधारणा की बहुत गंभीर चर्चा नीतिशास्त्रियों ने की है, हमारी दृष्टि से वह बहुत मूल्यवान है। क्योंकि मूल्य-विषयक दर्शन की इन दो शाखाओं में सौंदर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र में कुछ मामलों में बहुत साम्य है। उनमें कुछ प्रश्न समान हैं। उदाहरणार्थ मूर ने शिव एवं अच्छाई के स्वरूप के संबंध में जो प्रश्न ऊपस्थित किए हैं वे सौंदर्य के स्वरूप के संबंध में भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए मूर का प्राकृतिकतावादी हेत्वाभास (naturalistic fallacy) का मुद्दा कैरिट ने अपने "इंट्रोडक्शन टु एस्थेटिक्स" पुस्तक में सौंदर्य के संबंध में बात करते समय प्रस्तुत किया है। स्टीवन्सन इत्यादि के नीति-संवाक्य के स्वरूप के संबंध में किए हुए विवेचन को कैरिट ने "एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका" विश्वकोश में प्रयुक्त किया है इसका कारण भी इन दो शास्त्रों के बीच का साम्य ही है। इन दो शास्त्रों में साम्य है इसका अर्थ यह नहीं कि ये शास्त्र एक ही हैं।

3.2

नीति-संवाक्य एवं सौंदर्य-संवाक्य का विचार हमें करना है अत: सुविधा के लिए हम "मूल्य-संवाक्य" शब्द का प्रयोग करेंगे। मूल्य-संवाक्य के बारे में दो अभिमत प्रचलित हैं। (1) मूल्य-संवाक्य ज्ञानात्मक होता है, उसके द्वारा एक विशिष्ट किस्म का ज्ञान शब्दांकित होता है। (2) मूल्य-संवाक्य ज्ञानात्मक नहीं होता, उसका काम ज्ञान निबद्ध करना न होकर बिलकुल अलग किस्म का होता है। इन दो अभिमतों का समर्थन करनेवालों को ज्ञानात्मकतावादी (cognitivists) एवं ज्ञानात्मकताविरोधी नाम सुविधा के लिए दिए गए हैं। पहले अभिमत के समर्थकों में दो पंथ हैं, उसी तरह दूसरे अभिमत के समर्थकों में भी अलग-अलग पंथ हैं। इनमें से पहले मत के पंथों का हम पहले विचार करेंगे। क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिए उनमें से एक अभिमत बहुत निकट का है।

3.3

मान लीजिए, किसी ने कहा कि "स्त्री सुंदर है।" उस पर अगर हमने पूछा कि "याने वह निश्चित कैसी है?" तो प्राय: वह कहेगा, "वह गोरी है, तन्वंगी है, उसकी आँखें बडी हैं, बाल लंबे हैं.., नाक सरल है, आवाज मधुर है" इत्यादि। उसपर अगर हम पूछेंगे, "यह सब तो ठीक है, लेकिन इनसे वह सुंदर है, यह कैसे निश्चित हो सकता है?" इसपर वह प्राय: कहेगा कि "स्त्री सुंदर है इसका अर्थ ही यह है कि वह गोरी, तन्वंगी है.-- इत्यादि"। उसके मन में "सुंदर होना = गोरी होना" इत्यादि समीकरण होता है। यह समीकरण स्वीकार कर लिया जाए तो निश्चित हो जाता है कि सौंदर्य-संवाक्य वस्तुस्थिति के बारे में जानकारी देनेवाला है। अवलोकन से वह सही अथवा गलत साबित हो सकता है। उदाहरणार्थ हम ऐसा कह सकते हैं कि "मैंने "क" को देखा है। अगर यह सही हो तो तय होगा कि "क" सुंदर नहीं है।" इससे प्रकट होता है कि मनुष्य के मन में प्राय:"सुंदर होने" के बारे में ऊपर दिया हुआ समीकरण जैसा कुछ होता है। यह नहीं कि उपर्युक्त समीकरण सब को स्वीकार्य हो ही। सामान्य मनुष्य की राय में "स्त्री का सुंदर होना" किन्हीं वस्तुनिष्ठ गुणों एवं मानसिक प्रतिक्रियाओं के समीकृत होना होता है, और वह मानता है कि 'क' सुंदर है' यह संवाक्य वस्तुस्थिति के बारे में जानकारी देनेवाला संवाक्य है। उपर्युक्त उदाहरण में 'सुंदर होने' का जिन गुणों से एवं मानसिक प्रतिक्रियाओं से समीकरणात्मक नाता स्वीकार किया गया है वे गुण एवं प्रतिक्रियाएँ प्राकृतिक सृष्टि के घटक हैं। वे गुण एवं प्रतिक्रियाएँ ऐंद्रीय अवलोकन के एवं अंतर्निरीक्षण के (introspection) विषय हैं। इसलिए इन समीकरणों में अनुस्यूत सिध्दांतों को प्राकृतिकतावादी सिध्दांत कहा जाता है।

प्राकृतिकतावादी सिध्दांत सामान्य व्यक्ति के मन में प्राय: अस्पष्ट एवं अर्धस्पष्ट

रूप में होते हैं। सौंदर्यशास्त्रज्ञ उन्हें अधिक स्पष्ट एवं विकसित रूप में हमारे सामने प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ रिचर्डस का प्रेरणा संतुलन का सिध्दांत ही देखें। रिचर्ड्स् की राय में "सुंदर होना" याने ऐसी मनोवस्था का कारण बनना कि जिसमें अधिकतम एवं अनेक प्रकार की प्रेरणाओं का संतुलन हुआ होता है एवं अधिकतम प्रेरणाओं को संतुष्टि मिली हुई होती है। इस सिध्दांत के अनुसार "क सुंदर है" संवाक्य वस्तुस्थिति के बारे में जानकारी देनेवाला संवाक्य सिध्द होता है, इसकी सत्यासत्यता, निश्चित करने का रास्ता है। 'क' के कारण लोगों में उपर्युक्त मनोवस्था उत्पन्न हुई अथवा नहीं, यह देखना। दूसरा उदाहरण मर्ढेकर के सौंदर्य सिद्धांत का ले सकते हैं। मर्ढेकर की राय में सुंदर होना याने "संवाद-विरोध-सन्तुलन-युक्त होना" इस सिध्दांत के अनुसार 'क' सुंदर है यह संवाक्य वस्तुथिति के संबंध में जानकारी देनेवाला संवाक्य है। रिचर्ड्स का सिद्धांत एवं मर्ढेकर का सिद्धांत दोनों "प्राकृतिकतावादी" सिध्दांत हैं। एक में व्यामिश्र मनोवस्था का निर्देश है एवं दूसरे में एक व्यामिश्र वस्तुगत गुण का निर्देश है। मनोवस्था और यह वस्तुगत गुण दोनों प्राकृतिक सृष्टि के ही घटक हैं।

3.4

प्राकृतिकतावादी सिध्दांत में सौंदर्य एवं विशिष्ट प्राकृतिक गुण के बीच समीकरण गृहीत होता है। ये सिध्दांत की परिभाषा देते हैं।, कम-से-कम उनका यह दावा तो होता ही है। मूर इसी बात का विरोध करता है। उसके अनुसार मूल्य अवधारणा का न विश्लेषण किया जाता है न उसकी परिभाषा ही दी जा सकती है। किसी भी मूल्य-अवधारणा की परिभाषा देने के पहले एक प्राथमिक प्रश्न को हल करना आवश्यक होता है। वह प्रश्न है "जिन अवधारणाओं की परिभाषा की जा सकती है, क्या उनमें प्रस्तुत अवधारणा को समाविष्ट किया जा सकता है?" ऐसा [illegible] ता है कि मूल्य अवधारणाओं के बारे में विचार करनेवाले अधिकतम दार्शनिकों [illegible] प्राथमिक प्रश्न हल ही नहीं किया था और इसीलिए मूल्य-अवधारणा के विचार में एक किस्म का अनाड़ीपन या हड़बड़ी उत्पन्न हुई है। यह देखना जरूरी है कि मूर ऐसा क्यों कहते हैं।[1]

शिव या अच्छाई के संबंध में मूर का विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत कि[illegible] सकता है। शिव या अच्छाई (good) की परिभाषा नहीं की जा सकती। क्योंकि शिव-अवधारणा उनमें से है ही नहीं कि जिनकी परिभाषा की जा सकती हो। शिव क्या है? प्रश्न पूछे जाने पर हमारे सामने प्रश्न के रुझान के बारे में अनेक पर्याय खड़े होते हैं, उनमें से एक पर्याय यह है कि "शिव" शब्द की हम परिभाषा चाहते हैं। शब्दिक परिभाषा के दो प्रकार होते हैं। कभी हम कहते हैं कि जब "मैं घोड़ा शब्द का उच्चारण करूँगा तब सब यही समझें कि "क" के अर्थ में प्रयुक्त कर रहा हूँ। इसे स्वच्छंदी परिभाषा (arbitrary stipulative verbal definition) कहते हैं, क्यों कि एक विशिष्ट व्यक्ति

विशिष्ट संदर्भ के लिए उस शब्द का अर्थ निश्चित करता है। दूसरे प्रकार की परिभाषा वह होती है, जिसमें यह बताया जाता है कि एक विशिष्ट भाषा में उस शब्द का क्या अर्थ है। इस प्रकार की परिभाषा को रूढ़ (verbal definition proper अथवा conventional definition) कहा जाता है। परिभाषा का तीसरा प्रकार है विशिष्ट शब्द से जो अवधारणा निर्दिष्ट की जाती है, उसका विश्लेषण करना। उदाहरणार्थ "घोड़ा" शब्द को ही लें। इस शब्द की स्वच्छंद एवं रूढ़ परिभाषाएँ बताई जा सकती हैं। लेकिन मूर इन परिभाषाओं को महत्त्व नहीं देता। तीसरे प्रकार की परिभाषा अर्थात् "घोड़ा" शब्द से जो अवधारणा निर्दिष्ट होती है, उसका विश्लेषण करना। यह विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है, घोड़े का मतलब ऐसे प्राणी से है कि जिस के चार पैर, एक पूँछ------- और जिसमें इन सभी अवयवों की एक विशिष्ट प्रकार की रचना हुई होती है। मूर की दृष्टि में यह विश्लेषणात्मक परिभाषा ही महत्त्वपूर्ण है।[3] मूर का कहना है कि शिव की ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकती। शिव अपरिभाषेय है। क्योंकि परिभाषा देने का अर्थ होता है, अवधारणा का विश्लेषण करना। सावयव या व्यामिश्र (complex) अवधारणाओं का ही विश्लेषण किया जा सकता है और इसीलिए शिव की परिभाषा भी नहीं दी जा सकती।[4] ऐसी अपरिभाषेय (indefinable) अवधारणाएँ बहुत हैं। उदाहरणार्थ "पीला" अवधारणा अपरिभाषेय हैं। मान लीजिए, यह कहा जाए कि अमुक प्रकार की प्रकाश की तरंगें आँखों पर टकराने पर जो दिखता है वह पीला रंग है। लेकिन यह तो पीले रंग की परिभाषा नहीं है। क्योंकि पीले रंग के बारे में विचार करना प्रकाश तरंगों के बारे में विचार करना नहीं होता। हम प्रकाश की तरंगें नहीं देखते, हम देखते हैं पीला रंग। पुरातन काल से मनुष्य को पीले रंग का भान था। प्रकाश-तरंगों का ज्ञान बाद में हुआ। मूर जो प्रकाश-तरंगों के बारे में बोलता है, वह अन्य शारीरिक प्रक्रियाओं के बारे में भी संगत होता है। अगर कोई कहे कि पीला रंग याने विशिष्ट चेतकों का मज्जा संस्था पर होनेवाला परिणाम तो उसे मूर के शब्दों में स्पष्ट बताना होगा कि मज्जा संस्था के संबंध में जानकारी हासिल होने के बहुत पहले मनुष्य को मालूम था कि पीला रंग क्या है।[5]

शिव अवधारणा पीले रंग की भाँति ही निरवयव होती है। इसलिए उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता और इसलिए वह अपरिभाषेय है। मूर यह नहीं कहता कि शिव वस्तुएँ (the good) अपरिभाषेय होती हैं। क्योंकि ऐसी वस्तुओं में शिव के साथ अन्य भी गुणविशेष होते हैं। मतलब वे व्यामिश्र होती हैं। शिव की भाँति केवल या निरवयव नहीं होतीं।[6] जो वस्तुएँ शिव हैं उनमें अन्य भी गुण होने के कारण इन सहयोगी गुणों को खोजना संभव होता है और नीतिशास्त्र का वह एक महत्त्वपूर्ण काम भी होता है।[7] लेकिन ये गुण सहयोगी गुण होते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये ही गुण

याने शिव सहयोगी गुणों की शिव के साथ एकरूपता कल्पित करना अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं को एक ही मानना बहुत बड़ी गलती है। इस बड़ी गलती को ही मूर ने प्राकृतिकतावादी हेत्वाभास (naturalistic fallacy) नाम दिया है।[8]

ऐसी बड़ी भूल हम अन्य क्षेत्रों में नहीं करते। उदाहरण के लिए हम कहते हैं, मुसंबी पीली है, लेकिन मुसंबी याने पीलापन कहने की गलती हम नहीं करते। मुसंबी और पीला रंग ये दोनों अवधारणाएँ भिन्न होने के कारण ही "मुसंबी पीली है", यह सार्थक और वस्तुस्थिति के बारे में जानकारी देनेवाला वाक्य हम कह सकते हैं। अगर मुसंबी और पीला रंग ये दोनों अवधारणाएँ एक होतीं तो यह वाक्य ऐसा होता "मुसंबी मुसंबी है" अथवा "पीला पीला है"। [9] यही बात शिव के बारे में भी है। अमुक अवधारणा शिव है ऐसा जब हम कहते हैं तब हमें मानना पड़ता है कि शिव और वह अवधारणा भिन्न है। ऐसा न माना जाए तो द्विरुक्ति दोष उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, "आनंद शिव है"। यह सार्थ एवं आनंद के बारे में जानकारी देनेवाला संवाक्य है। लेकिन आनंद एवं शिव ये अवधारणाएँ एक ही होंगी तो यह संवाक्य इस प्रकार होगा, "आनंद आनंद है" या "शिव शिव है।"

जो लोग शिव की किसी प्राकृतिक गुण के साथ एकरूपता कल्पित करते हैं उनमें इस संबंध में एकमत नहीं होता कि किस गुण के साथ एकरूपता है। हर व्यक्ति दावा करता है कि अपनी कल्पित एकरूपता ही सही है और अन्यों द्वारा कल्पित एकरूपता गलत है। इसे वह कैसे सिध्द करेगा? मान लीजिए, उनमें से एक ने कहा कि "शिव याने आनंद", और दूसरे ने कहा कि "शिव याने ईप्सित (object or desire)" पहले का कहना है कि दूसरे के द्वारा किया हुआ समीकरण गलत है। क्योंकि पहले ने शिव की परिभाषा ही आनंद के रूप में की है, और आनंद एवं ईप्सित ये दोनों अवधारणाएँ भिन्न हैं। लेकिन अगर उसने यह परिभाषा अपने लिए की हो तो वह संकेतजनक परिभाषा (stipulative definition) होगी और संकेतजनक परिभाषा से वाद को जीत नहीं सकते। क्योंकि ऐसा नहीं होता कि दूसरा व्यक्ति उस परिभाषा को स्वीकारे ही। दूसरा अपने लिए शिव याने ईप्सित जैसी दूसरी संकेतजनक (stipulative) परिभाषा कर सकेगा। समझ लीजिए, सभी मराठी भाषी लोग शिव की जो परिभाषा मान कर चलते हैं और जो शब्दकोश में दी हुई है, ऐसी परिभाषा पहले के मन में है। यह हुई रूढ परिभाषा। परिभाषा का यह अर्थ स्वीकार करने पर उपर्युक्त वाद हल हो सकता है। क्योंकि "शिव" का शब्दकोशीय अर्थ "आनंद" है या "ईप्सित", यह शब्दकोश को खोलकर देखने पर मालूम हो जाएगा। लेकिन दो नीतिवादियों के बीच का वाद केवल शाब्दिक नहीं होता और इसलिए शब्दकोश की सहायता से वह हल नहीं होता। हम ऐसा नहीं कहते कि मुझे (या हम सबको) अमुक चीज करनी होगी, क्योंकि शब्दकोश में "शिव" की इस तरह की परिभाषा की गई

है, ऐसा कहना हास्यास्पद ही होगा।

मान लीजिए, हमने यह कहा कि शिव के अर्थ के संबंध में वाद इस बात को लेकर हैं कि उस अवधारणा का कौन सा विश्लेषण ठीक है, लेकिन मूर की राय में यह पर्याय भी फालतू है। क्योंकि शिव का जो भी विश्लेषण लें, उस विश्लेषण में दिए गए गुणविशेषों से युक्त वस्तु क्या शिव है, यह प्रश्न पूछा जा सकता है और वह सार्थक भी होता है। इसका मतलब यह हुआ, ये गुणविशेष एवं शिव एक ही नहीं हैं। अगर वे एक होते तो यह प्रश्न निरर्थक सिध्द होता।[10]

एक और विकल्प है, वह यह कि शिव-अवधारणा को निरर्थक ही माना जाए लेकिन इस पर्याय को स्वीकार करना वस्तुस्थिति से संगत नहीं होगा, क्योंकि शिव-अवधारणा निस्संदेह सार्थ अवधारणा है। नीति-अवधारणा का संवाक्य बनाते समय हमारे सामने क्या होता है, इसका हम विचार करें तो शिव-अवधारणा का हमें स्पष्ट भान होगा। यह भी ध्यान में आएगा कि जो वस्तुएँ शिव हैं, उनसे शिवत्व अलग है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ध्यान में आएगा कि मूर की राय में शिव-अवधारणा निरवयव, अविश्लेष्य (unanalysable) इसलिए अव्याख्येय है। जब हम कहते हैं कि कोई अवधारणा (उदाहरणार्थ, आनंद) शिव है, तब वह संवाक्य संश्लेषणात्मक (synthetic) होता है। विश्लेषणात्मक (analytic) नहीं होता।[12] क्योंकि उस अवधारणा से शिवत्व अलग है। शिव की तरह अन्य अनेक अवधारणाएँ अव्याख्येय हैं। उदाहरणार्थ, सुख, पीलापन लेकिन शिव अवधारणा उनसे अलग है, क्योंकि शिव प्राकृतिक गुणविशेष नहीं है। उसका एहसास अलग प्रकार से होता है। इसे प्रातिभा ज्ञान(intuition) कहा जाता है।

इस संदर्भ में और एक मुद्दा ध्यान में रखना चाहिए। यद्यपि शिवत्व अप्राकृतिक है फिर भी वह प्राकृतिक गुणविशेषों के आश्रय से ही रहता है। दूसरी बात यह कि किसी शिव वस्तु का शिवत्व एवं शिवेतर गुणविशेष, इनके बीच एक निश्चित संबंध रहता है। "अ" नामक शिव वस्तु में "क" शिवेतर गुण होगा और अगर "ब" में "क" उसी रूप में होगा तो "ब" वस्तु "अ" जितनी ही शिव होगी।[13] मतलब एक अर्थ में "अ" और "ब" का शिवत्व "क", इस प्राकृतिक गुणविशेष पर निर्भर है। यह निर्भरता मन पर अंकित हो इसलिए "शिव" जिनके आश्रय से रहता है उन सहयोगी प्राकृतिक गुणों को उद्देश्य कर कुछ दार्शनिकों ने "शिवकारक गुण" (good making properties) का उपयोग किया है। इसमें संशय नहीं कि वह सार्थ है। लेकिन शिवकारक गुण का अर्थ क्या है? जिस अर्थ में बढ़ई कुर्सी का निर्माण करता है उस अर्थ में ये गुणविशेष शिवत्व का निर्माण नहीं करते। इस अभिधान का अर्थ इतना ही है कि शिवत्व के अस्तित्व के लिए इन शिवेतर गुणविशेषों का अस्तित्व आवश्यक होता

है। ये शिवकारक गुण और शिव, इनके बीच का संबंध भी प्रातिभ ज्ञान से प्रतीत होता है।

मूर की शिव के संबंध में जो भूमिका है वही सौंदर्य के संबंध में भी ली जा सकती है। कैरिट ने अपनी "इंट्रोडक्शन टु एस्थेटिक्स" पुस्तक में वही भूमिका ग्रहण की है। किसी भी सौंदर्य-सिध्दांत को सौंदर्य की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो मूर द्वारा निर्दिष्ट अड़चनें उत्पन्न होती हैं। समझिए हमने यह कहा कि "सौंदर्य याने भावना की सहज अभिव्यक्ति" यह परिभाषा है, याने यह संवाक्य विश्लेषणात्मक है, उसमें सौंदर्य-अवधारणा का केवल विवेचन है। "भावना की सहज अभिव्यक्ति", इस गुणविशेष को हम सुविधा के लिए "क" कहें। उपर्युक्त संवाक्य में इतना ही कहा गया है "सौंदर्य = "क" अब समझ लीजिए कि "गर्जा जयजयकार क्रांतिचा" कविता में "क" विशेष गुण है। इस कविता में "क" होने के कारण उसमें सौंदर्य है। यह कहना द्विरुक्ति भी होगी और चमत्कारिक भी। क्योंकि "सौंदर्य = क" समीकरण अगर हम स्वीकार करते हैं तो इस संवाक्य का अर्थ होगा- इस कविता के बारे में उपरोक्त संवाक्य कहते हैं तब हमारे मनमें ऐसी द्विरुक्ति नहीं होती। अगर उपर्युक्त समीकरण सौंदर्य = क मान्य है तो "इस कविता में "क" होगा, लेकिन क्या उसमें सौंदर्य है?----- यह प्रश्न निरर्थक होगा। क्योंकि इस सवाल के पूछने का अर्थ निम्नलिखित प्रश्न पूछना होगा।"इस कविता में "क" है, लेकिन इसमें "क" है क्या? "---------लेकिन हम ऐसा मूर्खतापूर्ण प्रश्न पूछना नहीं चाहते, यह स्पष्ट है। समझ लीजिए, हमने कहा। "इस कविता में "क" है। लेकिन उसमें सौंदर्य नहीं है।" अगर उपर्युक्त समीकरण मान्य होता तो यह संवाक्य आत्मव्याघाती (self contradictory) सिध्द होगा; क्योंकि वह ऐसा होगा, "इस कविता में "क" है, लेकिन उसमें "क" नहीं। "इस समूची आपत्ति से छुटकारा प्राप्त करने का रास्ता यह स्वीकार करना है कि सौंदर्य की किसी भी परिभाषा को लेने पर ही अडचनें उपस्थित होती हैं।

हमने देखा कि सौंदर्य अप्राकृतिक, निरवयव गुणविशेष होने पर भी वह प्राकृतिक गुणविशेषों के आश्रय से ही रहता है। इस तरह आश्रय देनेवाला गुणसमुच्चय एवं सौंदर्य, इनमें एक अर्थ में आवश्यक रिश्ता होने के कारण हम मानते हैं कि जहाँ-जहाँ यह गुणसमुच्चय होता है वहाँ-वहाँ सौंदर्य भी होता है। इसलिए इस गुणसमुच्चय को सौंदर्य का निकष समझने में अड़चन नहीं है। सौंदर्यसिध्दांत बतानेवाले संवाक्य के स्वरूप पर इस विवेचन के कारण नया प्रकाश पड़ता है। सौंदर्य की परिभाषा नहीं हो सकती इसलिए यह संवाक्य परिभाषा स्वरूप नहीं होता। उसमें सौंदर्य-अवधारणा को स्पष्ट नहीं किया हुआ होता। उसमें सौंदर्य एवं विशिष्ट सौंदर्यकारक गुण, इनके बीच का आवश्यक संबंध बताया हुआ होता है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।" इस संवाक्य का अर्थ "काव्य याने रसात्मक वाक्य" न होकर "जहाँ रसात्मक वाक्य- यह "काव्यकारक"

गुण होता है, वहाँ काव्य होता है,"---- ऐसा है। सौंदर्यसिध्दांत सौंदर्य की परिभाषा न देकर सौंदर्य का निकष देता है। यही बात इससे स्पष्ट होती है। संक्षेप में सौंदर्य सिध्दांत बतानेवाला संवाक्य विश्लेषणात्मक न होकर संश्लेषणात्मक होता है और वह निकष बतानेवाला संवाक्य होता है।

मूर के विवेचन के बारे में एक प्रश्न पैदा होता है। अगर शिवत्व गुण पीलेपन की तरह प्रातिभ ज्ञान का विषय है तो उसे निकषों की जरूरत ही नहीं होनी चाहिए। पीलेपन की भाँति शिवत्व भी देखने पर तुरंत समझ में आना चाहिए। पीलेपन को समझने में निकष की जरूरत नहीं होनी चाहिए। उसी तरह शिवत्व की पहचान के लिए भी उसकी जरूरत नहीं होनी चाहिए। फिर शिवत्व के संबंध में ही निकष की भाषा क्यों जरूरी हो जाती है? इसका उत्तर यह है कि किसी पीली वस्तु को देखने पर "यह वस्तु पीली किस आधार पर? " ----- ऐसा प्रश्न हम नहीं पूछते। लेकिन कोई कहे कि "क" शिव है" तो हम पूछते हैं "क" शिव है तो किस आधार पर?" या "यह वस्तु किस आधार पर शिव सिध्द होती है?" -------- शिव के संबंध में यह प्रश्न बनता है, यह महत्त्वपूर्ण है। इस पर से प्रा. सी. डी. ब्रॉड ने निष्कर्षित किया कि शिवत्व एवं पीलापन दो गुण अलग जाति के हैं। पीलापन परम या स्वाश्रयी (ultimate) गुणों की जाति में समाविष्ट होता है। शिवत्व पराश्रयी या तन्निष्पन्न (derivative) गुणों की जाति में आता है। उपर्युक्त प्रश्न पराश्रयी गुणों के बारे में ही उत्पन्न होता है। परम या स्वाश्रयी गुणों के संबंध में नहीं।[14] मूर को ब्रॉड का यह मुद्दा मान्य था।[15] इससे दिखता यह है कि मूर को यह मान्य था कि शिवत्व गुण पीलेपन की तरह स्वाश्रयी न होकर पराश्रयी ही है। इसलिए पीलेपन के बारे में जो प्रश्न असंगत ठहर सकते हैं वे शिवत्व के संबंध में असंगत नहीं ठहरते।

और एक बारीकी को समझना जरूरी है। समझ लीजिए, हमने कहा, "अ" जो कर रहा है वह शिव है। उसपर कोई पूछ सकता है कि "अ" जो कर रहा है वह शिव कैसे? उत्तर यह कि "अ" जो कर रहा है वह ज्ञानसाधना है और ज्ञानसाधना शिव होती है। इसपर भी अगर कोई पूछे, "ज्ञानसाधना शिव कैसे?" तो उस पर उत्तर नहीं है। जिस तरह किसी वस्तु का पीलापन हम बिना प्रतिवाद के स्वीकार करते हैं, उसी तरह ज्ञानसाधना का शिवत्व भी स्वीकार करते हैं। अगर उसे कोई नहीं स्वीकार करता है तो उसका कोई उपाय नहीं है। ज्ञानसाधना शिव होती है, यह प्रयोगों के आधार पर या तर्कों से सिध्द नहीं किया जा सकता। इस संबंध में शिवत्व और पीलापन में साम्य है। ऐसा लग सकता है कि यह संवाक्य और उसके कुछ पहले प्रा. सी. डी ब्रॉड के विचार के संबंध में किया हुआ विवेचन, इन में अंतर है। लेकिन थोड़ा विचार करने पर ध्यान में आएगा कि ऐसा अंतर नहीं है। क्योंकि हम दो अलग-अलग बातों के बारे में बोल रहे थे। "अ" जो कर रहा है वह शिव है, कहते समय हम एक विशिष्ट

बात के बारे में बोल रहे थे। "ज्ञानसाधना शिव है", ऐसा कहते समय हमारे मन में एक अवधारणा या एक भौतिकता (universal) थी। अलग शब्दों में यह मुद्दा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। ज्ञानसाधना के शिवत्व के संबंध में बोलते समय हमारे मन में कुछ गुणविशेषों एवं शिवत्व के बीच में कुछ आवश्यक संबंध विद्यमान था। और यह संबंध प्रमाण एवं तर्क के आधार पर सिध्द नहीं किया जा सकता। वह प्रातिभ ज्ञान से ही समझ में आता है। आम का पीलापन जिस तरह हम स्वीकार करते हैं उसी तरह शिवत्व एवं ज्ञानसाधना के बीच का रिश्ता भी हम स्वीकार करते हैं। लेकिन "अ" जो बात कर रहा है वह विशिष्ट है, उसमें अनेक गुणविशेष हो सकते हैं। उसमें "ज्ञानसाधना" शब्द से निर्दिष्ट गुणविशेष है अथवा नहीं, इस सबंध में हमारे मन में भ्रम पैदा हो सकता है। इसलिए यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि "अ" जो काम कर रहा है वह शिव किस आधार पर?" ज्ञानसाधना के बारे में जो प्रश्न असंगत ठहरता है वह विशिष्ट अवधारणा के संदर्भ में संगत सिध्द हो सकता है। विशिष्ट अवधारणा का स्वरूप ही कुछ ऐसा होता है कि उसके बारे में मूल्य संवाक्य बनाते समय निकष की आवश्यकता प्रतीत होती है, उस तरह विशिष्ट चीजों के संदर्भ में सौंदर्य के लिए भी निकष आवश्यक होते हैं। कोई चीज सुंदर है, ऐसा कहने पर उसे सुंदर क्यों कहना चाहिए, इसके लिए कारण देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर आ जाती है। लेकिन सौंदर्य सिध्दांतों को इस तरह नहीं सिध्द किया जा सकता। गुणविशेष और सौंदर्य के बीच का रिश्ता प्रातिभ ज्ञान का विषय है। लेकिन विशिष्ट चीज इन गुणविशेषों के अस्तित्व के कारण सुंदर सिध्द होती है, इसका अर्थ होता है कि ये गुणविशेष सौंदर्य के निकष हैं। विशिष्ट वस्तुओं को सुंदर क्यों मानना चाहिए, यह सिध्द करने के लिए सौंदर्य निकष आवश्यक होते हैं।

उपर्युक्त मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण ले सकते हैं। "अ" ने कहा कि "गर्जा जयजयकार क्रांतिचा" कविता सुंदर है। इस पर "ब" पूछ सकता है कि यह कविता सुंदर किस आधार पर है? तो उत्तर में "अ" कह सकता है कि सुंदर इसलिए कि इसमें तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति है। तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति का होना और सौंदर्य में आवश्यक संबंध होता है और उसे प्रातिभ ज्ञान से जानना होता है। जिसकी आँखे हैं उसे यह प्रत्यक्ष दिखाई देगा कि गुलाब का फूल गुलाबी है, उसके लिए प्रमाण, तर्क इत्यादि की जरूरत नहीं है। उसी तरह जिसे सौंदर्य संबंधी ''तिभ ज्ञान है उसे प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभूत होगा कि तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति सुंदर होती है, इसलिए जिस तरह सामनेवाला गुलाब का फूल गुलाबी किस आधार पर है, यह प्रश्न असंगत ठहरता है, उसी तरह "तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति सुंदर किस आधार पर है", यह प्रश्न भी असंगत सिध्द होता होगा। लेकिन "गर्जा जयजयकार क्रांतिचा" कविता सुंदर क्यों, यह प्रश्न असंगत नहीं, क्योंकि प्रस्तुत

कविता में उल्लेखित गुण-तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति होना, है अथवा नहीं, यह विवाद का विषय हो सकता है। क्योंकि यह विशिष्ट कविता अनेक गुणों से बनी हुई है। लेकिन अन्य गुणों की भीड़ में से उल्लेखित गुण अगर हम स्पष्टतापूर्वक देख सकेंगे तो यह भी दिखाई देगा कि यह कविता सुंदर है। हमें अपने प्रातिभ ज्ञान से मालूम हो चुका है कि तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति एवं सौंदर्य में आवश्यक संबंध है इसलिए जहाँ जहाँ उपर्युक्त गुण है वहाँ वहाँ सौंदर्य है, ऐसा हम कह सकते हैं। "गर्जा जयजयकार" कविता को सुंदर सिध्द करने के लिए हमने "तीव्र भावना की सहज अभिव्यक्ति", इस गुण को निकष के रूप में प्रयुक्त किया। विशिष्ट वस्तुओं को सुंदर क्यों कहना चाहिए। इसे निश्चित करने के लिए निकषों की आवश्यकता होती है। लेकिन निकष के रूप में प्रयुक्त गुणों और सौंदर्य के संबंध का प्रातिभ ज्ञान हमें झटितिप्रत्यय से ही प्राप्त होता है।

यह सारा विवेचन मूर क्यों कर रहा है? यह नहीं कि केवल तार्किक विश्लेषण को विशुध्द रूप देने का परितोष ही वह चाहता था। नीतिशास्त्रियों को केवल परिभाषा के बल पर नैतिक प्रश्न हल करने की जो आदत-सी हो गई थी वह खरे-खरे विश्लेषण से कम होगी और वे नैतिक प्रश्नों की ओर अधिक सावधानी से देख सकेंगे, उनके विचारों की खामी कम होगी, ऐसी उसे आशा थी।[16] सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से ये परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस शास्त्र के अनेक प्रश्न परिभाषा के कारण पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए वाड्.मयीन सौंदर्य एवं अच्छाई की परिभाषा में अनेक बार आनंद की अवधारणा को स्थान दिया जाता है। इसलिए हमारी स्वाभाविक धारणा यह बनती है कि जो आनंददायी नहीं उसमें वाड्.मयीन सौंदर्य है ही नहीं। फिर हम यह मानकर चलते हैं कि हर अच्छी , सुंदर वाड्.मयोन कलाकृति आनंददायी होगी ही। फिर करुण वाड्मय से आनंद कैसे होता है, यह प्रश्न सताने लगता है। या "अजगर" उपन्यास से किस तरह का आनंद होता है, ऐसा कुछ चमत्कारिक-सा लगनेवाला प्रश्न हम पूछने लगते हैं। वाड्मयीन सौंदर्य की या अच्छाई की कोई भी परिभाषा लीजिए तो ऐसी अड़चनें उपस्थित होंगी ही। सौंदर्य की परिभाषा हो ही नहीं सकती, ऐसा मानने पर ये अड़चनें बहुत कम होने की शक्यता बन जाती है!

लेकिन परिभाषा से आनंद को हटाकर उसे वाड्मय की अच्छाई का निकष बनाने से क्या यह प्रश्न हल हो सकता है? यह स्पष्ट है कि अगर आनंद प्रदान करने की क्षमता को वाड्मयीन सौंदर्य एवं अच्छाई का एक मात्र निकष माना जाए तो यह प्रश्न हल नहीं होनेवाला। इसलिए यह मानना ही होगा कि वाड्मयीन अच्छाई के अनेक निकष होते हैं। इन अनेक निकषों में से एक, इतना ही स्थान आनंद को दिया जाए तो सामनेवाले बहुत से कष्टकर प्रश्न हल हो सकते हैं।[17] आनंद की अवधारणा का विश्लेषण करने से ये प्रश्न हल करना संभव होगा। यह विश्लेषण हम इस ग्रंथ में

बाद में करने वाले हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि जिनके आश्रय से वाड्मयीन सौंदर्य या अच्छाई रहती है वे अलग-अलग गुणसमुच्चय हैं। जहाँ इनमें से एकाध गुणसमुच्चय होगा वहाँ अच्छाई अथवा सौंदर्य होगा। लेकिन जहाँ-जहाँ यह अच्छाई एवं सौंदर्य होगा वहाँ-वहाँ एक ही एक गुणसमुच्चय होगा, ऐसा नहीं। विशिष्ट व्यामिश्र चीजों की अच्छाई एवं सौंदर्य की पहचान करने के लिए अनेक वैकल्पिक प्राकृतिक निकषों का होना स्वाभाविक है।

अगर सौंदर्य की कसौटियाँ अनेक होंगी तो चित्रकला के सौंदर्य की कसौटी वाड्मयीन सौंदर्य की कसौटी की अपेक्षा भिन्न होने की संभावना बहुत है। यह ध्यान में आने पर चित्रकला (शायद) में उचित जँचनेवाला मर्ढेकर-सिध्दांत वाड्मयीन मूल्य निश्चित करते समय भी प्रयुक्त करने की जिद हम नहीं करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि कलाओं के बीच बिलकुल ही साम्य नहीं है। साम्य अवश्य है, लेकिन भेद भी है। साम्य-भेद के ये मुद्दे ढंग से देखने चाहिए, सभी कलाओं में एकरूपता मानकर कला की सर्वव्यापी परिभाषा दी जाए तो सब कलाओं की समस्या हल हो जाएगी, यह मानना केवल बचकाना तर्क है। रसिकों में सौंदर्य की कल्पनाएँ अलग-अलग होती हैं। सौंदर्यशास्त्र का कार्य इन विभिन्न अस्पष्ट कल्पनाओं को स्पष्टता देता है। परिभाषा के गदा-प्रहार से सभी भेदों को चकनाचूर करना तथा वहाँ पर एकरूपता स्थापित करना केवल बालिश सौंदर्यशास्त्र का प्रयास होगा।

मूल्य-अवधारणा की परिभाषा करने पर उसका एक ही गुण समुच्चय के साथ अटूट रिश्ता जुड जाता है। लेकिन मूल्य-अवधारणा अपरिभाषेय है एवं उसके निकषों बहुविध होना संभव है, यह मानने पर अपने विचारों को एक प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त होती है, और नई समझदारी आती है भी। यह लाभ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सौदर्य का स्वरूप जानने की दिशा में रखा हुआ यह पहला कदम अनेक निकषों का सिध्दांत है।[18]

3.5

इस शती के पहले तीस-चालीस वर्षों में मूर का सिध्दांत बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया। लेकिन उसके विरोध मे जोरदार प्रतिक्रिया भी प्रारंभ हुई। मूर पर भाषा विश्लेषणवादियों (linguistic analyst) एवं तार्किक अनुभववादियों (logical positivist) ने जोरदार हमले किए। विट्‌गिन्स्टाइन भाषाविज्ञानवाद का प्रवर्तक है। उसकी राय में मूर को चाहिए था कि अपने सिध्दांत को प्रस्तुत करने से पहले वह भाषा के स्वरूप के संबंध में अधिक गहरे जाकर विचार करता। "अच्छा" और "सुंदर" शब्द किस शब्द के प्रकार में आते हैं; मूर ने यह गृहीत मान लिया कि अगर "लाल", "मीठा" इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट गुणों का संकेत होता है तो "अच्छा", "सुंदर"

विशेषणों द्वारा भी अच्छाई एवं सौंदर्य-गुणों का निर्देश होगा। लेकिन यह भाषाविषयक एक चकमा है। विट्गिन्स्टाइन का कहना है कि "सुंदर", "अच्छा" शब्द किस शब्द प्रकार में गिने जाते हैं, यह देखने के बजाय मूर को चाहिए था कि वह यह देखता कि ये शब्द किन जीवन-प्रकारों में प्रयुक्त होते हैं। इस उपयोग को खोजने की एक प्रणाली में यह देखना है कि ये शब्द हमने सीखे कैसे। "सुंदर", "अच्छा" शब्दों का जो पहला परिचय हमें होता है वह विस्मयादिवाचक शब्द के रूप में। हम देखते हैं कि किसी की प्रशंसा या स्तुति करने के प्रसंग में इन शब्दों का प्रयोग हम करते हैं। प्रशंसा करते समय लोग चेहरे पर विशिष्ट भाव लाते हैं। विशिष्ट ढंग से अभिनय करते हैं, आवाज में परिवर्तन भी करते हैं। आगे चलकर उनका स्थान "सुंदर" और "अच्छा" शब्द लेते हैं। मतलब इन शब्दों से हमारा जो प्रथम परिचय होता है वह प्रशंसोद्गार के रूप में होता है, गुणवाचक विशेषण के रूप में नहीं। प्रशंसाव्यंजना का यह आदिम कार्य इन शब्दों के उपयोग के एक अविच्छेद्य अंग के रूप में बाद में भी कायम रहता है। विट्गिन्स्टाइन की राय में महत्त्व शब्दों का न होकर वे शब्द जिस जीवन प्रकार के या भाषिक क्रीड़ा (language game) के भाग हैं, उनका है। अगर मूर के ध्यान में यह बात आती तो उसने अच्छाई एवं सौदर्य को गुण न माना होता।[19] विट्गिन्स्टाइन को यह बात खटक गई कि मूर शिव या सौंदर्य को गुण मान ले। अन्य कुछ विचारकों को मूर की अप्राकृतिकता की अवधारणा खटक गई। लेकिन उनकी समीक्षा का कटाक्ष नीतिशास्त्र के सभी ज्ञानात्मकतावादियो (cognitivists) पर था। उन्हें मूर का सिध्दांत गलत लग रहा था। उसी तरह मिल-बैंटम का उपयोगितावाद (utilitarianism) भी गलत लग रहा था। उनकी राय में ह्यूम जैसे अपवादों को छोड़कर पूर्ववर्ती विद्वानों के द्वारा किया गया मूल्य संवाक्य संबंधी विश्लेषण ही गलत था। ज्ञानात्मकतावादियों पर सर्वाधिक प्रखर हमला भावनार्थवादियों (emotivist) ने किया। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में भावनार्थवादियों की विचारधारा नीतिशास्त्र एवं सौदर्य शास्त्र के क्षेत्र में प्रमुख एवं बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो गई है। उन्होंने मूल्यसंवाक्य के स्वरूप पर एवं कार्य पर नया प्रकाश तो डाला ही, आगे चल कर इस क्षेत्र के वादों एवं उनकी सीमाओं के बारे में भी पूर्णत. नया विवेचन किया।

भावनार्थवादी मतप्रणाली तार्किक अनुभववाद की संतान होने के कारण [illegible] में इस प्रणाली का अध्ययन करना उचित होगा। तार्किक अनुभववादियों ने संवाक्यों की सार्थता या अर्थमुक्तता के संबंध में एक नया निकष प्रस्तुत किया। वह इस प्रकार: जिन संश्लेषणात्मक संवाक्यों की सत्यासत्यता अनुभव की कसौटी पर परखी जा सकती है वही संवाक्य सार्थ होते हैं! जो संश्लेषणात्मक संवाक्य अनुभव की कसौटी पर परखे नहीं जा सकते वे संवाक्य सार्थ नहीं हैं। झूठे संवाक्य अनुभव के निकष पर जांचे जा सकते हैं, इसलिए झूठ साबित होते हैं। उदाहरणार्थ, "सभी शेर भोंकते हैं।" "[illegible]

ग्रह पर नहरें हैं" यह संवाक्य सार्थ है क्योंकि उन्हें आज हम न भी देख पाएँ लेकिन तत्त्वत: (in principle) इन संवाक्यों का अनुभव मिलना असंभव नहीं है। लेकिन विश्वचैतन्य के संबंध में किसी भी संवाक्य का अनुभव प्राप्त करना तत्त्वत: भी संभव नहीं है। इसलिए ये संवाक्य सार्थ नहीं हैं। वे न सत्य होते हैं न असत्य, वे निरर्थक या अर्थविहीन होते हैं।[20]

अगर सार्थता का निकष स्वीकार कर लिया जाए तो अतिभौतिकीय संवाक्य भी निरर्थक सिध्द होते हैं। क्योंकि उनकी अनुभव द्वारा पड़ताल संभव नहीं। इसी कारण से मूल्यसंवाक्य भी प्राय: निरर्थक सिध्द होते हैं। यह सही है कि कुछ अनुपात में ये संवाक्य सार्थ होते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें से एक भाग अनुभव की कसौटी पर कसा जा सकता है। लेकिन उनमें जो अंश अनुभव की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता वह निरर्थक ही होता है। यह निरर्थक भाग भावनोद्‌गार जैसा होता है। भावनोद्‌गार सार्थ संवाक्यों की तरह सत्य या असत्य नहीं होता।[21]

उपयुक्ततावादियों ने नीति-संवाक्य का जो विश्लेषण दिया है वह एयर को स्वीकार्य नहीं है।[22] उसी कारण से "क शिव है"= "क" कुछ सब लोगों को अच्छा लगता है, मान्य है, यह समीकरण भी उसे पसंद नहीं। ऐसे सभी समीकरणों के विरुध्द एयर ने आक्षेप उठाये हैं। [23] अगर हम उपर्युक्त समीकरणों को त्याज्य मान लें तो नीतिसंवाक्य अनुभव की कसौटी पर नहीं कसे जा सकते, और यह तय होगा कि वे ज्ञानात्मक नही हैं। मूर की तरह एयर प्रातिभ ज्ञान को महत्त्व देना नहीं चाहता। क्योंकि प्रातिभ ज्ञान के लिए प्रमाण क्या है? दो व्यक्तियों के प्रातिभ ज्ञान को एक ही चीज शिव और अशिव लगे तो उनके बीच के वाद को हल कैसे किया जाएगा?[24] एयर यह तो मान्य करता है कि मूल्य अवधारणाएँ अविश्लेष्य एवं अपरिभाषेय होती हैं फिर भी वह यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि वे अप्राकृतिक हैं। उसका कहना है कि मूल्य अवधारणाएँ सार्थ अवधारणाएँ हैं ही नहीं। वे व्याजअवधारणाएँ (pseudo concepts) हैं। जब हम कहते हैं कि "तुमने चोरी की, यह बुरा है", तब "बुरा" शब्द से वस्तुस्थिति के बारे में कुछ भी कहा नहीं जाता। इस शब्द से प्रस्तुत कृति के संबंध में हमारी प्रतिकूल भावनाओं का निर्देश मात्र होता है; और भावनाभिव्यक्ति का कार्य चेहरे के भावों, स्वरों के उतार-चढ़ावों से भी किया जा सकता है।[25] मूल्यवाचक शब्द जिस तरह भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं, उसी तरह अन्यों में योग्य भावना-जागृति करते हैं और उन्हें विशिष्ट कार्य के लिए उद्युक्त भी करते हैं।[26] मूल्यवाचक शब्दों एवं मूल्य संवाक्यों का कार्य होता है भावनाओं की अभिव्यक्ति या भावनाजागृति करना और लोगों को सक्रिय करना।

इस विवेचन के बारे में एक गलतफहमी हो सकती है। हम वाक्यों के द्वारा भावनाभिव्यक्ति करते हैं। उसी तरह अपने भावानुभव के संबंध में या भावनात्मक

दृष्टि के संबंध में जानकारी देने के लिए भी हम वाक्य का उच्चारण करते हैं। ये दोनों बातें भिन्न हैं। लेकिन यह भ्रम संभव है कि दोनों बातें एक ही हैं। मान लीजिए, हमने समीकरण प्रस्तुत किया -- "घूस लेना बुरा है" = घूस लेने के पक्ष में मेरी स्वीकृति नहीं है, वह मुझे पसंद नहीं है। अगर यह समीकरण सही हो तो "घूस लेना बुरा है", यह नीतिसंवाक्य अनुभव की कसौटी पर कसा जा सकता है। क्योंकि यह संवाक्य मेरे भावनात्मक दृष्टिकोण के बारे में ही संवाक्य होगा। लेकिन "घूस लेना बुरा है" वाक्य अगर मेरी भावना-जागृति के लिए, या विशिष्ट कार्यों से रोकने के लिए प्रयुक्त किया जाए तो वह वाक्य सार्थ संवाक्य व्यक्त करनेवाला नहीं होगा। क्योंकि उसका उद्देश्य वस्तुस्थिति के बारे में (उदाहरणार्थ, मेरे भावनात्मक दृष्टिकोण के बारे में) जानकारी देना नहीं होता। इसलिए उसे अनुभव की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। भावनोद्गार, सलाह, आशा, उचित, योग्य या अयोग्य हो सकती है। लेकिन जिस अर्थ में सार्थ संवाक्य सत्य अथवा असत्य होता है, उस अर्थ में भावनोद्गार इत्यादि बातें सत्य या असत्य नहीं होतीं।

भाषा के विविध उपयोग होते हैं। कभी वस्तुस्थिति के संबंध में जानकारी देने के लिए भाषा का प्रयोग होता है, कभी भावनाभिव्यक्ति या भावजागृति करने के लिए, तो कभी-कभी क्रिया के भाग के रूप में या क्रिया के बदले उसे प्रयुक्त किया जा सकता है। मूल्यमापन के लिए किया हुआ भाषा का उपयोग ऊपर दिये हुए अन्य उपयोगों जैसा ही माना जाएगा। उसके कारण मूल्य संवाक्य के बारे में सत्यासत्य का प्रश्न उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है।

मूल्यवाचक शब्दों का प्राथमिक उपयोग भावनाभिव्यक्ति एवं भावनाजागृति करना भले ही हो लेकिन कुछ संदर्भों में केवल वस्तुस्थिति का वर्णन करने के लिए भी उनका उपयोग किया जाता है। लेकिन ध्यान में रखना है कि यह उन शब्दों का प्राथमिक उपयोग न होकर दोयम उपयोग है। स्टीवनसन ने इसके लिए निम्नांकित वाक्य दिया है: Infanticide was good in Sparta but not in Athens[28] इस स्थान पर बालहत्या के बारे में स्पार्टा एवं अथेन्स के लोगों की जो भावना थी उसकी जानकारी दी गई है। लेकिन यह वाक्य बोलनेवाले की भावनात्मक दृष्टि की अभिव्यक्ति उसमें नहीं होती, "good" के प्रारंभिक उपयोग के बारे में स्टीवन्सन लिखता है। This is good means I approve of this; do so as well"[29] इस से ध्यान में आएगा कि "Good" का प्रारंभिक उपयोग भावनाभिव्यक्ति एवं भावनाजागृति करना है। इस शब्द का दोयम उपयोग अन्यों के भावनात्मक दृष्टिकोण के बारे में जानकारी देना हो सकता है।

मूल्य व्यवहार में प्रस्तुत अपने भावनात्मक दृष्टिकोणों के विषय व्यक्ति न होकर वर्ग होते हैं। अमुक गुणविशेषों से संपृक्त होने के कारण निश्चित हुआ वर्ग भावनात्मक दृष्टिकोण का विषय होने के कारण वे गुण जिसमें हैं ऐसी विशिष्ट वस्तु भी हमारे

दृष्टिकोण का विषय बन सकती है।

मुझे व्यक्तिगत रूप में भावनार्थवाद की अपेक्षा मूर का प्रातिभ ज्ञानवाद अधिक जँचता है। यह सही है कि मूल्यवाचक शब्दों से अपनी रुचियाँ - अरुचियाँ एवं भावनात्मक दृष्टिकोण व्यक्त होते हैं। लेकिन इन शब्दों के उपयोग से केवल यही बात साध्य होती है, ऐसा नहीं, ये शब्द मूल्यों का निर्देश भी करते हैं। मूल्य—अवधारणाएँ व्याज अवधारणाएँ नहीं होतीं। यह कहा जा सकता है कि मूल्य व्यक्तिसापेक्ष नहीं होते; इसलिए उन्हें वस्तुगतता या सार्वभौमिकता प्राप्त होती है, लेकिन मानव-समाज सापेक्ष होने के कारण उनकी वस्तुगतता पदार्थविज्ञान के नियमों की तरह नहीं होती। इसलिए कहना पड़ता है कि इन मूल्यों को "एक विशिष्ट प्रकार की वस्तुगतता एवं सार्त भौमिकता प्राप्त है।" हर परिपक्व समाज में मूल्यों एवं ऊनके व्यक्तिनिरपेक्ष निकष निर्मित होते हैं। ऐसे समाज के लोग जब किसी का मूल्य निश्चित करते हैं तब उनके मन में ये व्यक्तिनिरपेक्ष निकष होते हैं। वे केवल रुचि-अभिरुचि या भावनात्मक दृष्टिकोणों के विषय सदैव बदलते रहते हैं और इन परिवर्तनों के पीछे कोई तत्त्व नहीं होता। वे क्षणिक सनकों पर भी निर्भर रहते हैं। मूल्यों के संबंध में इस प्रकार के सनकीपन को कोई स्थान नहीं होता। मूल्यों की जड़ें जीवन में बहुत नीचे तक गई हुई होती हैं और जीवन में बहुत बड़े परिवर्तन होने पर ही मूल्यों में परिवर्तन होते हैं। जो भी कोई नीति मूल्यों एवं कलामूल्यों के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करता है उसे दिखाई देगा कि भावनार्थवाद पर उठाये गए आक्षेपों में बहुत सत्यांश है।[30] मैं यह तो नहीं कहना चाहता कि मूर का सिध्दांत उसके मूल रूप में ही यथावत् स्वीकार किया जाए। मूर के विचार की कुल दिशा भावनार्थवादियों की अपेक्षा अधिक ठीक है, यही मुझे कहना है। मूर के विचार पर अन्य सिध्दांतों के उदाहरणार्थ, स्वभावत: वादग्रस्त अवधारणाओं के सिध्दांत एवं द्विध्रुवात्मकता के सिध्दांत के संस्कार करने होंगे। और ऐसे संस्कारित स्वरूप में मूर का विचार स्वीकार करने योग्य सिध्द होगा।

3.6

अब तक हमने तीन दृष्टिकोणों से मूल्यसंवाक्य के विश्लेषण के संबंध में चर्चा की। वे तीन दृष्टिकोण हैं।--- प्राकृतिकवाद, -(naturalism) प्रातिभ-ज्ञानवाद (intuitionism) एवं भावनार्थवाद (emotivism)। इसके बाद देखेंगे कि मूल्यसंवाक्यों के वादों के बारे में इन तीन तत्त्वप्रणालियों को क्या कहना है।

प्राकृतिकतावादी साँचे में वाद का स्वरूप निम्न प्रकार से होगा: समझ लीजिए, "अ" को रिचर्ड्स की प्रेरणा—संतुलन की मीमांसा स्वीकार्य है। उसने अगर कहा कि "क" सुंदर है, तो उसका अर्थ होगा "क" के कारण अधिकाधिक प्रेरणाओं का संतुलन [illegible] संतोष मान लीजिए कि "ब" को यह मूल्यांकन स्वीकार्य नहीं है। फिर इस वाद

को हल करने का एक ही रास्ता है--- यह देखना कि "क" के फलस्वरूप सचमुच अधिकतम प्रेरणाओं का संतुलन एवं संतोष होता है। याने यह वाद अवलोकन से हल हो सकता है।

दो प्रातिभ ज्ञानवादियों में वाद हो जाए तो कैसे हल होगा? मूर और सिज्विक में ऐसा विवाद हुआ था। इस संदर्भ में सिज्विक के सुखवाद (Hedonism) को काटने के लिए मूर ने जो बौध्दिक युक्तिवाद किया वह महत्त्वपूर्ण है। सिज्विक का दावा यह है कि सुख ही अंतिम शिव है। वह मुझे प्रातिभ ज्ञान से प्रतीत हुआ। मूर को सिध्द करना था कि उसे हुआ प्रातिभ ज्ञान सिज्विक के प्रातिभ ज्ञान से अधिक ठीक है। मूर आरंभ में ही स्वीकार करता है कि एक प्रातिभ ज्ञान दूसरे प्रातिभ ज्ञान की अपेक्षा अधिक ठीक है, यह सिध्द नहीं किया जा सकता। लेकिन बौध्दिक युक्तिवाद से दूसरे की बुध्दि को अपने विचार के पक्ष में सहमत किया जा सकता है।[31]

वैसे तो अनेक बातें सिध्द नहीं की जा सकतीं। उदाहरणार्थ यह नहीं सिध्द किया जा सकता कि सामने कुर्सी है। लेकिन दूसरे को समझाया जा सकता है कि सामने कुर्सी है और अपनी तर्कपरंपरा से अपने और दूसरे में मतैक्य हो सकता है। इतना भी हुआ तो बहुत है। अपने और दूसरे के बीच एक मुद्दे पर मतभेद है भी; तो दूसरे मुद्दे पर मतैक्य संभव है। मतैक्य के इस प्रस्थान बिंदु से प्रारंभ कर दिखाया जा सकता है कि अपना विचार इस प्रस्थानबिंदु से संगत है और प्रतिपक्ष का कहना इस प्रस्थान–बिंदु से संगति नही रखता।[32] मिल ने इस पध्दति को "अप्रत्यक्ष प्रमाण" (Indirect proof) नाम दिया है।[33] इस पध्दति का अवलंब कर मूर ने दर्शाया है कि सिज्विक की मान्यता गलत है। मूर कहता है कि सुख को अन्य सभी वस्तुओं से उदाहरणार्थ, सुख की प्रतीति से अलग कर यह देखो वह मूल्य युक्त है या नहीं। उसका दावा है कि ऐसा करने पर आपको जँच जाएगा कि सुख एकमेव शिव नहीं है।[34] यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह वाद एवं उसमें प्रयुक्त पध्दतियाँ पूर्णत: बौध्दिक हैं।

भावनार्थवादियों के मत से मूल्यसंवाक्य के बारे में सही अर्थ में वाद ही संभव नहीं है। समझिए कि एक व्यक्ति कहता है, "क" ने घूस ली, यह बुरा किया। अब 'क' ने पैसे क्यों लिए? अगर लिए हों तो क्या लेने का अधिकार उसे था? क्या उसका स्वरूप घूस का था? -- वाद उसके बारे में संभव है। वस्तुस्थिति के अवलोकन से यह वाद हल हो सकता है। क्योंकि वस्तुस्थिति के अवलोकन से यह वाद हल हो सकता है। क्योंकि वस्तुस्थिति क्या है, इसके बारे मे यह वाद है। लेकिन उपर्युक्त वाक्य भावनार्थ का भी अंग है। इस वाक्य का ऊद्देश्य बोलनेवाले की प्रतिकूल भावना का प्रकटीकरण करना और सुननेवाले के मन में ऐसी ही प्रतिकूल भावनाओं को उत्पन्न करना है। मूल्यसंवाक्य के मुख्य कार्य का स्वरूप ध्यान में आने पर उसका भावनार्थ वर्णनपरक अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह जँच जाता है। मूल्यसंवाक्य का

स्वरूप उसके भावनार्थ पर निर्भर करता है। और इस भावनार्थ के बारे में वाद संभव नहीं है। मतलब यह हुआ कि मूल्यसंवाक्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू के बारे में वाद असंभव है। अब समझिए कि यह सिध्द हुआ कि "क" ने घूस ली। उस पर अगर किसी ने कहा कि "घूस लेने में बुरा क्या है?" फिर उसे कैसे समझाया जाय कि घूस लेना बुरा है? यह स्पष्ट है कि उसके मन के संस्कार हमारे संस्कारों से अलग होने के कारण घूस के संबंध में हमारे मन में जो भावनाएँ जागृत हुईं उनसे अलग भावनाएँ उसके मनमें जागृत हुईं। यहाँ बौध्दिक वाद संभव नहीं क्योंकि यहाँ दो भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के बीच संघर्ष है। दूसरे का भावनात्मक दृष्टिकोण बदलना हो तो हमें उस पर नए संस्कार करने होंगे। मतलब कि यहाँ बौध्दिक युक्तिवाद (rational argument) का कोई उपयोग नहीं है। यहाँ चाहिए अलग प्रकार की उपाययोजना-- साम, दाम, दंड इनमें से कुछ।[35]

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल्यसंवाक्य के वर्णनपरक अर्थ के संबंध में ही वाद हो सकता है। वर्णनपरक अर्थ एवं भावनार्थ, दोनों का एक साथ विचार करने पर ध्यान में आता है कि मूल्यसंवाक्य के बारे में होने वाले विवाद एवं उनमें प्रयुक्त प्रणालियाँ संमिश्र होती हैं। उसमें बौद्धिक युक्तिवाद के साथ अन्य प्रणालियों का भी अवलंब किया जाता है। कुछ उदाहरणों से यह मुद्दा अधिक स्पष्ट होगा।

(अ) "एकच प्याला" कितना प्रभावी नाटक है! सिंधु का दुःख हृदय के टुकड़े करता है। मैं तो लगातार आँखें पोंछता रहा।

"आप यह कह रहे हैं, क्योंकि आप हमेशा कहते हैं कि अच्छे वाड्मय में रोना–धोना नहीं होना चाहिए और नहीं भी होता।"

(यहाँ पहले विचार की तार्किक असंगति पर उंगली रखी गई है। उसे अब या तो "एकच प्याला" के बारे में मान्यता को बदलना चाहिए अथवा अच्छे वाड्मय के स्वरूप के संबंध में मान्यता बदलनी चाहिए। कम-से-कम यह तो कहना ही पडेगा कि "एकच प्याला" के बारे में ही सही अपने मत को बदला क्यों गया।)

(आ) "अश्लील वाड्मय बुरा होता है, उसपर रोक लगानी चाहिए, क्योंकि ऊससे तरुण पीढ़ी स्त्रैण होगी।"

"आप जो कह रहे हैं वैसा परिणाम होने का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। उल्टे इस वाड्मय पर रोक लगाने से लेखन-स्वातंत्र्य पर आघात अवश्य होगा।"

यहा जिस प्रमाण पर निर्भर रह कर अश्लील वाड्मय के संबंध में स्थापना की गई है उस प्रमाण में कुछ अर्थ नहीं है। यह दिखाया गया है कि लेखन

स्वातंत्र्य के बारे में पहले वक्ता को बहुत आस्था है यह गृहीत मानकर अश्लील वाड्मय पर रोक लगाने से लेखन स्वातंत्र्य पर आघात होगा, यह भी दिखाया गया है। यह युक्तिवाद मूर ने भी किया होता।

इन दोनों उदाहरणों में बौध्दिक युक्तिवाद का अवलंब किया गया है। (अ) में तार्किक विसंगति दिखायी गई है, तो (आ) में प्रमाण का खोखलापन दिखाया है और अश्लील वाड्मयपर रोक लगाने की माँग एवं लेखन स्वातंत्र्यविषयक आस्था के बीच विरोध की बात भी कही गयी है। ये दोनों युक्तिवाद शास्त्रीय वाद में प्रयुक्त होते हैं।

(इ) "प्रा. मे. पु. रेगे ने प्रा. कुरूंदकर के "रूपवेध" पर बड़ी मुँहतोड़ टीका की है। ऐसे स्पष्टवक्ता समीक्षकों की आज आवश्यकता है।" "रेगे की टीका मुंबई-पुणे की लोगों की गुटबाजी का भाग है, ऐसा लगता है,"

(प्रा. रेगे की "रूपवेध" पर की गई समीक्षा ठीक है। अथवा नहीं, इस मूल मुद्दे को अलग हटा कर प्रांतीय अभिमान को आवाहन करने के अतिरिक्त इस उत्तर से कुछ भी नहीं सिध्द होता।)

(ई) "अश्लील वाड्मय की तरफदारी करनेवाले लोग बूर्ज्वा मनोवृत्ति के होते हैं"

यहाँ अश्लील वाड्मय के अच्छे बुरेपन के बारे में कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। जहाँ "बूर्ज्वा" गाली मानी जाती है वहाँ अश्लील वाड्मय का समर्थन करनेवालों के संबंध में नापसंदगी उपर्युक्त वाक्य में निर्दिष्ट होती है। और कुल बूर्ज्वा चीजों के बारे में गुस्सा एवं नफरत करनेवाले लोगों में अश्लील वाड्मय और उसकी हिमायत करनेवाले लोगों के संबंध में एक पिटी-पिटाई प्रतिक्रिया (stock response) उत्पन्न की गई है।

(उ) "रायगडाला जेव्हा जाग येते", यह उत्कृष्ट नाटक है। उसके तीन सौ से अधिक प्रयोग यूँ ही तो नहीं हुए!"

(सुननेवाले पर लोकमान्यता का दवाब पड़े, इसीलिए इस नाटक के कितने प्रयोग हुए हैं, यह कहा है।)

(ऊ) "एक शून्य बाजीराव" उत्तम नाटक है। सभी बड़े और मर्मज्ञ समीक्षकों ने उसकी बहुत प्रशंसा की है।"

(पहलेवाले उदाहरण में लोकप्रियता का दबाव उत्पन्न करना ऊद्देश्य था तो इस उदाहरण में मर्मज्ञ समीक्षकों की राय का दबाव लाना उद्देश्य है।

अंतिम चार उदाहरणों में जो युक्तिवाद प्रयुक्त है वह बौध्दिक नहीं है। लेकिन भावनार्थवादियों की राय में मूल्य-क्षेत्र के वाद का उद्देश्य भावनात्मक दृष्टिकोण को बदलने का होने के कारण इस प्रकार का युक्तिवाद इस वाद में किया जाता है।

मूल्यसंवाक्य में वस्तुस्थिति वर्णनात्मक अंश होने के कारण बुध्दि को जँचनेवाले मुद्दे उस अंश के संदर्भ में प्रयुक्त होते हैं। लेकिन मूल्य-संवाक्य में भावनात्मक अंश होने के कारण बौध्दिक युक्तियों का भी इस्तेमाल किया जाता है।[36]

अब समझ लें, किसी ने बुध्दि को उचित लगनेवाले मुद्दों का उपयोग कर ऐसा सिध्द किया कि अश्लील वाड्मय से किसी भी प्रकार के भयावह परिणाम नहीं होते। लेकिन अश्लील वाड्मय के संबंध में विरोध मूलतः भावनात्मक होने के कारण ये सभी मुद्दे, जँच जाएँ तो भी ये लोग अश्लील वाड्मय का विरोध करने से बाज नहीं आएँगे। क्योंकि आधारभूत संवाक्यों के (premises) से जिस तरह निष्कर्ष तार्किक नियमों से सिध्द होता है वैसा बौध्दिक मुद्दों से भावनात्मक दृष्टिकोण सिध्द नहीं होता।[37] भावनात्मक दृष्टिकोणों के बीच के संघर्ष को बौध्दिक उपायों से नहीं तय किया जा सकता। मूल्यसंबंधी वाद को हल करने का एक और मार्ग आर. एम. हेयर ने दिखाया है।[38] विशिष्ट क्षेत्र के दृष्टिकोण का अन्य क्षेत्रों के दृष्टिकोणों पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह दृष्टिकोण अन्य दृष्टिकोणों से कहाँ तक साधर्म्य रखता है, यह दिखाना। इस तरह कुल जीवनसंबंधी समग्र दृष्टिकोण तक हम आ जाते हैं। और इस समग्र दृष्टिकोण के संबंध में दोनों में सहमति हो तो उन्हें एक दूसरे की विशिष्ट क्षेत्र की मान्यताएँ मान्य होने की संभावना बहुत होती है। लेकिन अगर दो व्यक्तियों के जीवन दृष्टिकोण ही भिन्न हों तो क्या किया जा सकता है? यहाँ मानवीय बुध्दि कों अपनी हार स्वीकार करनी पड़ेगी। उपर्युक्त उदाहरणों में एक में अश्लीलता और लेखन-स्वातंत्र्य के बीच संगति बिठाने का प्रयास किया गया है। इसी वाद को आगे बढ़ाया जाए तो व्यक्तिस्वातंत्र्य, लोकतंत्र इत्यादि अवधारणाओं का उसमें उपयोग होगा, इसमें संदेह नहीं। और इस तरह कुल जीवन-निष्ठाओं का विचार करना आवश्यक होगा। लेकिन जो व्यक्ति अश्लील साहित्य पर रोक लगाने ही निकला है, उसे व्यक्तिस्वातंत्र्य, लोकतंत्र, इत्यादि के बारे में कुछ आस्था ही नहीं है, ऐसे व्यक्ति के साथ वाद संभव नहीं है, ऐसा ही हेयर कहेंगे।

3.7

मूल्यपरक शब्दों के कई बार दो अलग अर्थ होते हैं। एक भावनात्मक और दूसरा वर्णनात्मक। कभी ये दोनों अर्थ एक दूसरे के साथ अटूट रिश्ते से जुड़े हुए होते हैं। उदाहरण के लिए हम "भट" शब्द लें। जिसे "भट" कहना है, वह ब्राह्मण होना चाहिए। लेकिन इस शब्द को (मराठी में) भावनात्मक अर्थ भी है। भट याने केवल ब्राह्मण नहीं बल्कि ऐसा ब्राह्मण जिसे हीन समझा जाए, जो पुरोहिती करता है, भोजनगृह चलाता है, भोजन को अत्यधिक महत्त्व देता है वह है "भट", दूसरा उदाहरण हम लें। "लुभावना" जो छोटा, नाजुक, नादान, मन में वात्सल्य पैदा करनेवाला हो उसे ही "लुभावना" (मराठी में "गोजिरवाणा" कहते हैं। अनुवादक) कहा जाता है। कोई

भैंस को लुभावनी कहे तो हमें हँसी आ जाएगी। उसी तरह जो बहुत प्रचंड होता है, मन में भय और आदर पैदा करता है उसे "विराट" कहा जाता है। हिमालय को "विराट" कहते हैं, छछूंदर को विराट कहना गलत होगा। लुभावना और विराट शब्द का विशिष्ट मूल्यमापन से भी संबंध है और विशिष्ट गुणवैशिष्ट्यों से भी। नोवेलस्मिथ ने ऐसे शब्दों को औचित्यदर्शक शब्द (aptness words) कहा है।[39] ये शब्द केवल वर्णनपरक नहीं होते। उन्हें मानव की नित्य भावनापरक प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप मूल्यों का स्पर्श भी हुआ रहता है। जिस दुनिया में मनुष्य नहीं, उस दुनिया में खरगोश छोटा होगा लेकिन लुभावना नहीं होगा, हिमालय बड़ा होगा लेकिन विराट नहीं होगा।

कुछ मूल्यपरक शब्द ऐसे होते हैं कि जिन्हें नित्यसंबंध से जुड़ा हुआ विवक्षित वर्णनपरक अर्थ नहीं होता। यह नहीं कि ऐसे शब्द "वाह!" "अरे, अरे" जैसे भावनोद्गार—वाचक जैसे होते हैं। ये शब्द विशिष्ट वर्णनपरक अर्थ ध्वनित करते हैं। लेकिन इन शब्दों का वर्णनपरक अर्थ संदर्भ के अनुसार बदलता है। "अच्छा", "सुंदर", "मस्त", "टॉप", "भंकस", शब्द इसी वर्ग मे आते हैं। विशिष्ट संदर्भ में ये विशिष्ट वर्णनपरक अर्थ ध्वनित करते हैं, यह निश्चित है। इसीलिए "यह नाटक मुझे अच्छा लगता है" और "यह नाटक अच्छा है।" ये दो वाक्य समानार्थक नहीं सिद्ध होते। दूसरे वाक्य में यह अर्थ निहित है कि नाटक को "अच्छा" कहने के समर्थ कारण हैं, वह विशिष्ट निकषों पर खरा उतरता है। याने हमारे मन में कुछ निश्चित वर्णनपरक अर्थ का होना आवश्यक है। लेकिन यह कहने पर कि "यह नाटक मुझे अच्छा लगता है।" इस प्रकार का कुछ अर्थ अभिप्रेत है ऐसा सूचित होता ही है, ऐसा नहीं। बहुत बार तो वाद को समाप्त करने के लिए ही "मुझे 'क' अच्छा लगता है", कहा जाता है, 'अच्छा' शब्द से विविध संदर्भो में विविध वर्णनपरक अर्थ सूचित होते हैं। यह तो स्पष्ट है कि जिस कारण के लिए कोई 'बैंगन की सब्जी अच्छी है' कहेगा उसी कारण के लिए कविता को कोई अच्छी नहीं कहेगा। "अच्छा", "सुंदर", "मस्त" इत्यादि शब्द वर्णनपरक अर्थ की दृष्टि से संचारी शब्द कहे जाएँगे; क्योंकि वर्णनपरक अर्थ के संबंध में वे "भट", "लुभावना", "विराट" इत्यादि शब्दों की भाँति स्थिर नहीं होते।

अब "काव्य" शब्द लीजिए। इस शब्द में मूल्यसूचना है, यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा। "अमुक का लेखन केवल गद्य है, काव्य नहीं।" किसी लेखन को "काव्य" कहना ही उसका गौरव करना है। "काव्य" गौरव-सूचक अभिधान है[40] और उसका वर्णनपरक अर्थ भी है, कम-से-कम जितना काव्य शब्द में होता है उतना अर्थ तो अभिप्रेत है ही। लेकिन और भी कितने ही गुणवैशिष्ट्य हमें अभिप्रेत होते हैं। वे रीतिसंबंधी होंगे। "काव्य" के वर्णनपरक अर्थ की सीमाएँ स्पष्ट रेखांकित नहीं रहतीं। उन्हें रेखांकित करना पड़ता है। ये सीमाएँ बाँधने का कार्य परिभाषा द्वारा होता है। काव्य की परिभाषा करनेवाला हर कोई व्यक्ति किसी-न-किसी परंपरा का नेता या

अनुयायी होता है। अपने सिद्धांत के अनुसार ही वह "काव्य" के वर्णनपरक अर्थ की सीमाएँ निश्चित करता है। इसलिए रीति-सिद्धांत के अनुसार काव्य की एक परिभाषा की जाति है, अलंकार-सिद्धांत की दृष्टि से दूसरी, ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार तीसरी, रस-सिद्धांत के अनुसार चौथी, वक्रोक्ति की दृष्टि से पाँचवीं......ऐसी अनेक परिभाषाएँ तैयार होती हैं। हर परिभाषा अपने सिद्धांत के अनुसार काव्य की सीमाएँ निश्चित करती है। स्टीवन्सन के अनुसार ये सारी परिभाषाएँ अनुनयपरक परिभाषाएँ (persuasive definitions) होती हैं। उनका उद्देश लोगों की भावनात्मक दृष्टि को नई दिशा देना होता है। मूल्यपरक शब्द को जो मूल्यात्मक याने भावनात्मक अर्थ होता है वह स्थिर होता है और वर्णनात्मक अर्थ बदलता रहता है। हर अनुनयपरक परिभाषा इस स्थिर मूल्यात्मक अर्थ को अपने वर्णनपरक अर्थ के समकक्ष करने का प्रयास करती है।[41]

लोग अपनी अनुभवपरक परिभाषा को स्वीकार करें, इसलिए कुछ युक्तियों का सहारा लिया जाता है। उनमें एक है "सही" शब्द का उपयोग। काव्य की अनेक परिभाषाएँ प्रचलित हैं, लेकिन वे काव्य का मर्म स्पष्ट नहीं करतीं, वे काव्य के उपरी गुणविशेषों पर बल देती हैं, हमारी परिभाषा काव्य का मर्म बताती है---- अनुनयपरक परिभाषा देनेवालों का यह अभिप्राय होता है। इसलिए कहा जाता है---"सही काव्य वह है जिसमें उत्तम रसपरिपाक होता है" या "सही काव्य वह है जिसमें शब्द पहले आते हैं और अर्थ बाद में" इत्यादि। स्टीवन्सन की राय में यहाँ "सही" का अर्थ है, "स्वीकार्य।"[42]

अनुनयपरक परिभाषा का समर्थन बहुत चतुराई से किया जाता है। मान लें कि हमें "काव्य याने भावना का सहज उद्गार" परिभाषा का समर्थन करना है। फिर हम दिखाने लगते हैं कि जिसे लोग काव्य कहते हैं उस समूचे लेखन में भावना का सहज उद्गार है और "भावना" और "सहज उद्गार" शब्दों की थोड़ी बहुत खींचतान करने पर यह संभव बन जाता है। लेकिन अगर किसी स्थान पर यह नहीं संभव बना तो? अनुनयपरक परिभाषा देनेवाला ऐसे समय यह भूमिका ग्रहण करता है कि, "जिस स्थान पर भावना का सहजोद्गार नहीं है, वहाँ काव्य ही नहीं है।" ऐसा करने पर विरोधक के प्रमाण का बल ही खत्म होता है, कम-से-कम ऐसा आभास तो हो ही जाता है। बचाव का यह दाँव ऐसा होता है कि उसके कारण लगता है कि प्रस्तुत परिभाषा अबाधित (irrefutable) है।

अनुनयपरक परिभाषा पक्षधर होने पर भी काव्य का स्वरूप समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। भावनार्थवादियों की दृष्टि में काव्य की परिभाषा देना याने उस अभिधान के इर्दगिर्द उपस्थित गौरव के वलय को उसके कुल वर्णनपरक अर्थ में से अपने इच्छित अर्थांश के समकक्ष करना है। यह अंश हम कैसे चुनते हैं? गौरव

का यह वलय किसी भी भाग के साथ क्यों नहीं चिपकाया जाता? भावनार्थवादियों की दृष्टि से यहाँ सब रुचि-अरुचि पर निर्भर रहता है। लेकिन यह बात जँचती नहीं। परिभाषा की सीमा अगर रुचि-अरुचि पर निर्भर होगी तो वह परिभाषा काव्य के स्वरूप का आकलन कराने में सहायक नहीं होती। क्योंकि स्वच्छंदतापूर्वक परिभाषा करने के लिए हम स्वतंत्र होंगे, ऐसा नहीं होता। काव्य की हर परिभाषा, अगर वह सर्वथा असंबध्द न हो तो काव्य के स्वरूप पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालती ही है। काव्य की सीमाएँ रेखांकित नहीं होतीं, उन्हें रेखांकित करना पड़ता है, यह सही है। लेकिन चाहे जिस तरह उन्हें रेखांकित नहीं किया जा सकता। उन्हें वस्तुस्थिति का, काव्य के संदर्भ में मानवीय वस्तुस्थिति का आधार चाहिए। इसी कारण से पहले प्रकरण में प्रातिभ विज्ञान का मुद्दा प्रस्तुत किया था।

इसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि काव्य की अगर एक ही सर्वस्वीकृत परिभाषा होती तो यह सब ठीक होता। लेकिन काव्य की अनेक परिभाषाएँ होती हैं और उनमें से कुछ परस्पर काटनेवाली भी हो सकती हैं। फिर इस सबसे काव्य स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं यह कैसे स्वीकार किया जाए। काव्य की अनेक परिभाषाएँ होने पर अगर उनमें से एक सही और अन्य गलत सिध्द हों तो प्रश्न हल हो सकता है लेकिन हम अगर एक पंथ के अंधे अनुनायी नहीं होंगे तो सहज समझ सकते हैं कि प्रश्न हल करने का यह रास्ता नहीं है। दूसरा रास्ता है-----सिध्दांतों की श्रेणियाँ कल्पित कर हमें जो सिध्दांत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लगता है, उसे सबसे ऊपर की सीढ़ी पर बिठा दिया जाए और अन्य सिध्दांतों को नीचे की सीढ़ियों पर या यह दिखाना कि अन्य सभी सिध्दांतों की परिणति अपने चुने हुए सिध्दांत में कैसे होती है। रससिध्दांत एवं ध्वनिसिध्दांत मानने वाले कुछ संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इस रास्ते को चुना है; लेकिन यह रास्ता भी उचित नहीं; क्योंकि इस पर वाद हो सकता है कि किसी परंपरा की परिणत एवं सर्वाधिक परिपक्व स्थिति कौन-सी है।

3.8

उपर्युक्त प्रश्न विज्ञान की अवधारणाओं के संदर्भ में उपस्थित नहीं होते। "अम्ल" शब्द से निश्चित गुणों से युक्त द्रव्य का बोध होता है एवं अम्ल वर्ग की सीमा निश्चित है और वैज्ञानिकों में उसके संबंध में एकमत भी है। इसलिए "अम्ल" संज्ञा की सर्वसम्मत परिभाषा की जा सकती है। लेकिन काव्यादि संज्ञाओं के बारे में यह बात नहीं है। काव्य की सर्वसम्मत परिभाषा नही दी जा सकती। किसी भी एक परिभाषा द्वारा निर्दिष्ट मर्यादाओं में सब काव्य नहीं समेटा जा सकता। अत: विद्वानों को इधर लगने लगा कि काव्य, कला इत्यादि अवधारणाओं का एक अलग वर्ग तैयार करना आवश्यक है। इन अवधारणाओं का स्वरूप जानने हेतु नए तर्किक हथियारों की जरूरत महसूस होने लगती है। इस दृष्टि से विट्गिन्स्टाइन की कुलसाम्य (family resemblance)

की अवधारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है।[43] जब हम कहते हैं कि विशिष्ट वस्तुएँ एक ही वर्ग में अंतर्भूत होती हैं, तब हम यह मानते हैं कि उन सभी वस्तुओं में समान एक विवक्षित गुणसमुच्चय होता है। यह गुणसमुच्चय उस वर्ग की वस्तुओं का सत्त्व (essence) माना जाता है। परिभाषा का कार्य इस सत्त्व को शब्दांकित करना होता है। सभी अम्लों में कुछ गुणविशेष होते हैं कि जिनके कारण वे अम्ल बनते हैं। इसलिए इन गुणविशेषों की सहायता से अम्ल की परिभाषा की जा सकती है।[44] प्राय: यह परिभाषा महाजाति (genus) एवं व्यवच्छेदक लक्षण (differentia) की सहायता से की जा सकती है। लेकिन व्यवहार में अनेक अवधारणाओं के संबंध में यह प्रणाली प्रयुक्त नहीं की जा सकती। विट्गिन्स्टाइन ने इस संदर्भ में खेल का उदाहरण दिया है। सभी खेलों में जरूरी नहीं कि कोई एकाध समान गुण हो ही। "अ" और"ब" खेलों में किसी एक बाबत में, "ब" और "क" में किसी दूसरी बाबत में, "क", "ड", "अ" में किसी तीसरी बाबत में......... साम्य परिलक्षित होता है। "खेल" अवधारणा से निर्दिष्ट क्षेत्र साम्य एवं भेद से व्याप्त है। इसलिए यह गलतफहमी न रहे कि सब खेलों में कुछ समान तत्त्व होगा। विट्गिस्टाइन का कहना है कि जिस-जिस को खेल कहा जाता है, उस सबमें साम्यभेद कैसे हैं, यही देखना चाहिए। चार भाई-बहनों में भी ऐसे ही साम्यभेद होते हैं। यही बात काव्यादि अवधारणाओं के बारे में सही है। काव्य का एक सत्त्व होता है और वह सभी काव्यों में होगा ही, यह दुराग्रह व्यर्थ है। विविध काव्यों में कुलसाम्य होता है। उसी तरह वाङ्मय, संगीत, चित्रकला इत्यादि में भी कुलसाम्य होता है, इसलिए सभी कलाओं पर सीधे लागू की जा सकनेवाली समान गुणविशेषों की भाषा में कला की परिभाषा देना सिर्फ कठिन ही नहीं, लगभग असंभव है।[45]

यहाँ एक आक्षेप लिया जा सकता है। कुलसाम्य से एकत्र आई वस्तुओं में केवल सीमित साम्यभेद का ही नाता होगा तो दुनिया की सभी वस्तुएँ एक ही कुल की सिध्द की जा सकती हैं। ऐसा हुआ तो यह अवधारणा निरुपयोगी सिध्द होगी। इस आक्षेप को उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। कुलसाम्य की अवधारणा में मूलादर्श (exemplar या paradigm) का बहुत महत्त्व रहता है। कुल अवधारणा के इस्तेमाल का मतलब यह देखना है कि एकाध विशिष्ट समान तत्त्व वर्तमान है, इसलिए वह वस्तु उस कुल में समाविष्ट होनी चाहिए ऐसा हम नही कहते। बल्कि कुल के मूलादर्श के साथ उसका साम्यभेदात्मक रिश्ता देखकर हम यह तय कर लेते हैं। इस तरह के एकाध कुल के मूलादर्श का भान हमें किस प्रकार होता है, यह प्रश्न इसी प्रश्न के समान है कि हमें साधारण का भान कैसे होता है। ये दोनों प्रश्न हमारी चर्चा के संदर्भ में यहाँ समीचीन नहीं हैं। हमें साधारण और कुलसाम्य के बीच के भेद का विचार करना है। उपरोल्लेखित मूलादर्श में अंतर्गत विविधता होती है, उसमें अनेक गुणविशेष

होते हैं, उसके अनेक अंग होते हैं। इन विविध अंगों एवं गुणविशेषों की सहायता से हम उस अवधारणा की परिधि अलग-अलग दिशाओं में बढ़ा सकते हैं। जब दो वस्तुओं के बीच का साम्य बिलकुल मामूली होगा तब हम अपनी अवधारणा की परिधि को बढ़ाने से इन्कार करते हैं। ऐसा नहीं कि मन चाहे वहाँ तक हम इस कक्षा को बढ़ाते जा सकते हैं। कभी कुछ नैसर्गिक परिस्थिति ही ऐसी होती है कि एकाध अवधारणा की परिधि को एक विशिष्ट सीमा के आगे बढ़ा ही नहीं सकते। एक उदाहरण से इस मुद्दे को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। शेक्सपिअर के साहित्य को "काव्य" अवधारणा का मूलादर्श हम मान लें। शेक्सपिअर के साहित्य में भावनोत्कटता, बुध्दि की चपलता, मनुष्य का मन एवं विश्वरचना में मानव का स्थान इत्यादि के बारे में गहरी जानकारी, औचित्यपूर्ण बिंबविधान, शब्द एवं वृत्त की योजना, उसकी मधुरिमा, भाषा का ऐश्वर्य .... इत्यादि विविध गुणविशेष दिखाई देते हैं। शेली के साहित्य को "काव्य" कहना चाहिए क्योंकि उसमें भावोत्कटता है। पोप में वह उत्कटता नहीं है। लेकिन बुध्दि की चपलता तथा औचित्यपूर्ण वृत्तों एवं शब्दों की योजना है। हार्डी में भावनोत्कटता, मनुष्य के मन एवं विश्वरचना में मानव के स्थान के संबंध में गहरी जानकारी है, ब्राउनिंग में इन दो गुणों के साथ बुध्दिनिष्ठा भी है। लेकिन उसमें भाषा की मधुरिमा नहीं है, उलटे स्विनबर्ग में उपर्युक्त बहुत-से गुण नहीं हैं लेकिन भाषा और वृत्तरचना की मधुरिमा है। उपरोल्लेखित सभी "कवियों" के साहित्य को "काव्य" कहा जाता है। और फिर भी इन सबमें समान गुण नहीं दिखाए जा सकते। लेकिन इन सब में कुलसाम्य अवश्य है। इसलिए, इन सब को "काव्य" कहा जा सकता है। लेकिन यह परिधि कितनी बढ़ाई जा सकती है ? र. कृ. जोशी ने 'सत्यकथा' (मराठी की एक श्रेष्ठ साहित्यिक मासिक पत्रिका) में जो प्रयोग किए हैं (उदाहरणार्थ 1965, 68, 69, 70, 72, के वार्षिक दीपावली अंक देखें) उनको "काव्य" या "साहित्य" नहीं कहा जा सकता। (र. कृ. जोशी ने अक्षरों की विशिष्ट योजनाओं को काव्य के रूप में प्रस्तुत किया था -- अनुवादक) इस संबंध में कुछ केवल प्रयोगधर्मी लोगों को छोड़ दें तो दो मत नहीं होंगे। काव्य में प्रयोगशीलता होनी चाहिए, यह कहना अलग और केवल नया प्रयोग है, इसलिए किसी चीज को "काव्य" कहना अलग बात है। लेकिन हमारे समझदार लेखक, पाठक और संपादक इन बातों में गड़बड़ करते हैं। "काव्य" अवधारणा की प्राकृतिक सीमा ही कुछ ऐसी है कि उसमें र. कृ. जोशी के प्रयोग सम्मिलित हो ही नहीं सकते। उसपर कोई यह कह सकता है कि यह सीमा "प्राकृतिक" न होकर "रूढ़िनिर्मित है। अत: रूढ़ि बदल गई तो सीमा भी चाहे जिस प्रकार बदली जा सकती है। उसपर उत्तर यह है कि यह केवल रूढ़ि का सवाल नहीं है। मानवीय स्वभाव और व्यवहार इनके संबंध में एक अतिभौतिकीय संवाक्य बनाना हो तो कहा जा सकता है कि मनुष्य का स्वभाव एवं व्यवहार ऐसा ही है कि उसके

अनुसार भाषाविहीन काव्य हो ही नहीं सकता। "काव्य" मानवनिर्मित परिस्थिति का भाग है। अत: मनुष्य-स्वभाव जब तक मूलत: नहीं बदलता तब तक "भाषाविहीन काव्य" आत्मघाती अवधारणा सिध्द होगी।[46]

तो क्या फिर यह समझा जाए कि विट्गिन्स्टाइन के पहलेवाले लोगों ने काव्य की जो परिभाषाएँ दीं, वे सब गलत थीं? ऐसा समझने की आवश्यकता नहीं है। "काव्य" शब्द के उच्चारण पर हमारे सामने विविध गुणविशेषों का जो व्यामिश्र जाल फैल जाता है, उसके विवक्षित भाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का कार्य हर पारंपरिक परिभाषा करती रहती है। लेकिन फिर भी जिस भाग पर बल देने की जरूरत है उस पर वह देने का कार्य वह परिभाषा करती ही है। किसी भी कालखंड में कुछ गुणविशेषों की इतनी उपेक्षा होती है कि उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही पैदा होती है और ऐसे समय उस प्रकार की संकुचित व्याप्तिवाली परिभाषा की जरूरत उत्पन्न होती है।[47]

इसपर एक टिप्पणी की आवश्यकता है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार (उदाहरण के लिए, मॉरिस वाईट्) काव्य एवं कला की परिभाषा देना काव्य एवं कला के उपेक्षित विशिष्ट अंग का महत्त्व प्रतिपादित करना होता है। उदाहरण के लिए क्लाइव बेल एवं रोजर फ्राय ने रूपतत्त्व या रचनातत्त्व (principle of form) का समर्थन किया; क्योंकि आशयतत्त्व को प्राधान्य दिए जाने के कारण रचनातत्त्व उपेक्षित हो गया था। लेकिन इन्होंने केवल उपेक्षित को न्याय प्राप्त करा देने की दृष्टि से ही रचनातत्त्व का समर्थन नहीं किया था। उन्हें कला उसी रूप में प्रतिभासित हुई थी। यह खेल -अवधारणा के विशिष्ट अंग का समर्थन न होकर अवधारणा-शोध था कला के स्वरूप के संबंध में उन्हें नया प्रातिभ ज्ञान प्राप्त हुआ था। यहाँ केवल भावनात्मक दृष्टिकोण या केवल रुचि-अरुचि का उल्लेख करना पर्याप्त नहीं था। क्योंकि यहाँ महत्त्व है कलास्वरूपविषयक एक विशिष्ट एहसास का। बेल एवं फ्राय को जो उत्कट रूप में प्रतीत हुआ वही उन्होंने "अर्थपूर्ण रचना" (significant form) के रूप में प्रस्तुत किया। इसका अर्थ यह कि कला की हर परिभाषा कला के स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है। समर्थन की तरह दिग्दर्शन की यह अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। यह दिग्दर्शन संपूर्ण स्वरूप का नहीं होता, यह सही है। लेकिन इसलिए वह दिग्दर्शन ही नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं। हर परिभाषा "कला" अवधारणा के एक अंग का दर्शन कराती है लेकिन ऐसा तो नहीं है कि इस तरह की परिभाषा का समर्थन करनेवालों को कला के स्वरूप के अन्यान्य अंगों का भान नहीं होता। लेकिन उन्हें ऐसा लगता है कि अन्य अंग गौण हैं, केवल साधनरूप हैं, और एकाध अंग नहीं ही होना चाहिए या उसे निकाल देना चाहिए, इस प्रकार की नकारात्मक भूमिका भी कभी-कभी वे लेते हैं। चित्रकला के आशय को लेकर बेल एवं फ्राय की भूमिका नकारात्मक ही है।

3.9

कला की अवधारणा के विविध अंग होते हैं। अलग-अलग परिभाषाएँ इन विविध अंगों के दर्शन कराती हैं। और हर परिभाषा कहती है कि उसके लिए अभिप्रेत अंग ही कला का अंतिम पूर्णदर्शन है। इन विविध अंगों में एवं उनके दर्शन करानेवाली परिभाषाओं में सदैव संघर्ष चलता रहता है। यह अंतर्गत संघर्ष इन अवधारणाओं के स्वरूप का एक वैशिष्ट्य है। गैली ने इनका वर्णन "स्वभावत: "वादग्रस्त अवधारणाएँ" (essentially contested concepts) किया है। गैली का सिध्दांत बहुत महत्त्वपूर्ण है अत: उसका संक्षेप में परिचय कर लेना उचित होगा।[48]

विट्गेस्टाइन के कुलसाम्य सिध्दांत और गैली के स्वभावत: वादग्रस्त अवधारणा के सिध्दांत में कुछ मामलों में साम्य अवश्य है। लेकिन उनमें महत्त्वपूर्ण भेद भी हैं। कुलसाम्य का सिध्दांत मूल्यअवधारणातक सीमित नहीं है। गैली का सिध्दांत केवल मूल्यअवधारणा तक सीमित है। दूसरी बात यह है कि यह जरूरी नहीं कि कुलसाम्य का सिध्दांत जिन अवधारणाओं पर चस्पा होता है वे वादग्रस्त ही होनी चाहिए। लेकिन गैली के सिध्दांत में वाद का महत्त्व है। मूल्यअवधारणाओं के बारे में ही सदैव वाद संभव होते हैं। इसलिए गैली के सिध्दांत को इतना महत्त्व दिया गया है। लेकिन ऐतिहासिकता का प्रश्न कुलसाम्य के सिध्दांत में बिलकुल महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐतिहासिकता के बारे में गैली का संक्षेप में मंतव्य यह है कि मूल्यअवधारणा मानव समाज के जीवन का एक अविभाज्य अंग होती है। समाजजीवन के प्रवाह में वह निमित होती है और उसके साथ बदलती भी रहती है। इस इतिहास के किसी कालखंड में उसके एक अंग पर बल दिया जाता है तो दूसरे कालखंड में किसी दूसरे अंग पर। उदाहरणार्थ, किसी कालखंड में कलाकृति एवं रसिक के बीच के संबंध को महत्त्व प्राप्त होता है तो किसी अन्य कालखंड में कलाकृति एवं रसिक के बीच के संबंध को महत्त्व प्राप्त होता है तो किसी अन्य कालखंड में कलाकार के प्रश्नों को महत्त्व मिलता है। किस को महत्त्व दिया जाए, यह कुल समाज जीवन की स्थिति पर निर्भर रहता है। अगले उदाहरण से गैली के मुद्दे की पड़ताल प्राप्त हो सकती है। योरप में 18 वीं सदी तक कला जीवन पुष्टि के लिए ही स्वीकृत थी, 18 वीं, विशेषत: 19 वीं सदी के उपरांत कला कला के लिए है, यह बात निर्विवाद सत्य के रूप में स्वीकार की जाने लगी। जिस समय समाज में स्थिरता, समृध्दि, सुव्यवस्था रहती है, उस समय मनुष्य की विविध प्रेरणाओं को स्वायत्तता प्राप्त होती है। योरप में औद्योगिक क्रांति के बाद इस तरह की समृध्दि का शुभारंभ हुआ और इसी समय कला की स्वायत्तता का समर्थन भी होना शुरू हो गया। इस तरह कला की अवधारणा को सामाजिक इतिहास का चौखटा गैली ने दिया है।

कोई अवधारणा वाद-ग्रस्त है, यह कैसे तय किया जाए? उसके लिए गैली ने सात

निकष दिए हैं :--

1. वह अवधारणा मूल्यात्मक होनी चाहिए। उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु मूल्ययुक्त होनी चाहिए।
2. इन निर्दिष्ट वस्तुओं में अंतर्गत विविधता होने के कारण उसका वर्णन अलग-अलग ढंग से देना संभव होना चाहिए। एक वर्णन में एक अंग को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होगा तो दूसरे वर्णन में किसी दूसरे अंग को महत्त्व मिलेगा।
3. उसके संपूर्ण मूल्य का विचार करते समय इस विविधता को दर्ज करना चाहिए। विविध अंगों के कारण उसके मूल्य में कैसे योगदान होता रहा है, इसका भान होना चाहिए।
4. इन अवधारणाओं की सीमाएँ सदा के लिए रेखांकित की हुई नहीं होनी चाहिए। वे खुली अवधारणाएँ (open concepts) होनी चाहिए। उनमें अब तक बहुत परिवर्तन हो गए और आगे भी होते रहेंगे।
5. इस अंतर्गत विविधता के कारण उनके स्वरूप के बारे में अलग-अलग सिध्दांत होंगे, यह स्पष्ट है। इनमें से हरेक सिध्दांत को प्रस्तुत करते हुए इस बात का एहसास होना आवश्यक है कि उसपर अन्य सिध्दांतों का आक्रमण होनेवाला है और यह भी कि अन्य सिध्दांतों पर आक्रमण कर ही प्रस्तुत सिद्धांत का बचाव करना होगा।
6. यह अवधारणा किसी मूलादर्श के आधार पर बनाई जानी चाहिए। उसी तरह इस मूलादर्श का महत्त्व एवं श्रेष्ठता सर्वस्वीकृत होनी चाहिए।
7. यह विश्वासपूर्वक दावा करना संभव होना चाहिए कि इन अंतर्गत विवादों के कारण मूलादर्श के आधार पर उपयोजित वस्तु की गुणवत्ता टिकी रह गई है या बढ रही है।

गैली ने दिखाया है कि कला-अवधारणा स्वभावत: वादग्रस्त है।

1. कला मूल्यात्मक अवधारणा है।
2. उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं में अंतर्गत विविधता है। अलग-अलग समयों में उसका वर्णन अलग-अलग तरह से किया गया है। कभी कलाकृति के अंतर्गत स्वरूप पर बल दिया गया, कभी रसिकों की प्रतिक्रियाओं पर तो कभी कलाकारों पर इत्यादि। इसका कारण यह अंतर्गत विविधता ही है।
3. उसके संपूर्ण मूल्य का विचार करते समय इन विविध बातों का भान रखना पड़ता है।
4. इन अवधारणाओं की सीमाएँ काल के प्रवाह में बदलती गई हैं और आगे भी वे कैसे बदलती जाएँगी इनके बारे में आज कुछ कहना कठिन है।

5. उसके स्वरूप के बारे में अलग-अलग सिध्दांत पैदा हुए हैं, यह भी दिखाई देता है कि हर सिध्दांत को प्रस्तुत करते समय अन्य सिध्दांतों पर आक्रमण और अन्य सिद्धांतों के आक्रमण से अपने सिध्दांतों का बचाव, दोनों क्रियाएँ होती रही हैं।
6. यह कहना कठिन है कि यहाँ मूलादर्श क्या प्रयुक्त हुए हैं; क्योंकि कला के क्षेत्र में अनेक परंपराएँ होती हैं। फिर भी किसी विशिष्ट संदर्भ में कौन-सी परंपराएँ या कलाकृति मूलादर्श के रूप में प्रयुक्त हुई हैं, यह तय करना कठिन नहीं होता।
7. इस अवधारणा को लेकर सतत चलनेवाले वादों के फलस्वरूप उसे इस्तेमाल करनेवालों के कार्य को प्रोत्साहन मिला है। इसके कारण उदाहृत चीजों की गुणवत्ता न केवल टिकी रह सकी, बल्कि बढती भी गई है।

मूल्यों के बारे में होनेवाले वादों के संबंध में प्रातिभज्ञानवादी एवं भावनार्थवादी विचाराकों के मत हमने देखे हैं। हमें देखना है कि गैली को इसके संबंध में क्या कहना है। गैली ने भावनार्थवादियों के सिध्दांत को पूर्णत: अलग तो नहीं रखा। लेकिन उनका विवेचन अधूरा है, यह उसने दिखाया है। उसकी राय में मूल्यविषयक वाद केवल दूसरों के भावनात्मक दृष्टिकोण बदलने के लिए प्रयुक्त दाँवपेंच नहीं होते। इस वाद में मुद्दों एवं युक्तियों का निश्चय ही महत्त्व रहता है। क्योंकि इन वादों का उद्देश्य दूसरे को अपनी राय में निहित सत्य को मनवाना होता है। इसके कारण यह स्पष्ट हो जात है कि प्रमाण तर्क और किसी की राय को बदलने के बीच का संबंध तार्किक है। औ यद्यपि किसी को हमारी राय ठीक नहीं भी लगी हो, तो भी इतना तो उसे लगता ही है कि अपने विचार या मुद्दे विचारणीय हैं। इस वाद में भावना की तरह बुद्धि को भी आवाहित किया जाता है। भावनार्थवादियों की दृष्टि में मूल्यसंवाक्य में बौद्धिक मुद्दों एवं प्रमाणों का उपयोग उतना ही सीमित होता है जितना वस्तुस्थिति वर्णन का भाग होता है। शेष भाग में केवल भावनात्मक दृष्टिकोणों का संघर्ष ही रहता है। भावनार्थवादियों का स्पष्ट मत होता है कि भावनात्मक दृष्टिकोण और बौद्धिक युक्तिवाद के बीच के संबंध तार्किक (Logical) नहीं होते, वे केवल मानसिक (Psychological) होते हैं। गैली की राय में मूल्य संबंधी दृष्टिकोण केवल भावनात्मक नहीं होता। मूल्यात्मक दृष्टिकोण और बौद्धिक युक्तिवाद के बीच का संबंध तार्किक ही होता है।[49]

भावनार्थवादियों ने वस्तुस्थिनि एवं मूल्यों के बीच कोटिभेद (category difference) कल्पित किया था। उसके कारण वस्तुस्थिति के वर्णन एवं मूल्यमापन के बीच का संबंध तार्किक नहीं होता, यह उन्होंने प्रतिपादित किया था। वस्तुस्थिति एवं मूल्य के बीच का फासला कम करने के प्रयास फिलिपा फूट इत्यादि विचारकों

ने किए हैं। इसके संबंध में भी गैली के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। गैली ने मूल्यनिर्लिप्त वस्तुस्थिति (observenda) एवं मूल्यांकित वस्तुस्थिति (facts) ऐसा वर्गीकरण किया है। मूल्यों के संबंध में होनेवाले वादों में अपने सामने मूल्यनिर्लिप्त वस्तुस्थिति न होकर, मूल्यांकित वस्तुस्थिति होती है, यह गैली का मत है। मूल्यनिर्लिप्त वस्तुस्थिति केवल वैज्ञानिक की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण होती है। सामान्यों को जो दिखती है वह मूल्यांकित वस्तुस्थिति। मूल्यांकन का व्यवहार सामान्य व्यक्ति के दैनिक जीवन का ही एक भाग होता है। मूल्यांकित वस्तुस्थिति और मूल्यांकन के बीच कोटि-भेद न होने के कारण प्रमाण एवं विशिष्ट मूल्यमापन के बीच तार्किक संबंध हो सकता है।

मूल्य अवधारणा के संबंध में होनेवाले विवादों में क्या विवेकशीलता (rationality) होती है? इस संबंध में गैली की मान्यताएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। विवेकशील वाद के बारे में हमारी एक धारणा यह होती है कि यह वाद निश्चित रूप से तय किया जा सकता है एवं जिसके संबंध में निकाले गए निष्कर्षों के बारे में सार्वजनिक एकवाक्यता भी होती है उसी वाद में विवेकशीलता होती है। इसी को सही अर्थ में वाद कहते हैं। अर्थात् यह गृहीत मान लिया जाता है कि जहाँ सार्वजनिक एकवाक्यता निर्मित होने की संभावना नहीं है ऐसे विवादों में विवेकशीलता नहीं होती। गैली की राय है कि सार्वत्रिक एकवाक्यता का निकष सभी वादों को लगाया नहीं जाना चाहिए। यह निकष केवल वैज्ञानिक वाद के संबंध में उचित है। अन्य क्षेत्रों में वह लागू नहीं हो सकता और फिर भी इन क्षेत्रों के विवादों को सही अर्थ में वाद माना जाता है। क्योंकि उनमें भी विवेकशीलता होती है।

गैली के सिद्धांत के बारे में दो-तीन मुद्दे प्रस्तुत करने हैं। 'कलादि अवधारणाओं को "स्वभावत: वादग्रस्त" मानकर गैली ने क्या उपलब्ध किया? यह भान बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कला वादग्रस्त अवधारणा है। क्योंकि इस भान के होने पर कला के क्षेत्र में वादों के बीच का अन्यथा आग्रह कम होगा और वाद अधिक लाभदायी हो सकेंगे।

अपनी बात कितनी ही ठीक लग रही हो, दूसरे की राय में कुछ अंशों में सत्य हो सकता है, यह बात मान्य करने पर वाद का दर्जा ऊँचा हो जाता है। जनतंत्रवाद की सफलता का मर्म गैली के सिद्धांत में समाविष्ट है। बौद्धिक क्षेत्र के जनतंत्रवाद में श्रद्धा होने के कारण ही संभवत: गैली ने स्वभावत: वादग्रस्त अवधारणा को प्रस्तुत किया होगा।

गैली ने इसका विवेचन नहीं किया कि मनुष्य के मूल्यविषयक मत में परिवर्तन कैसे घटित होता है और उसके पीछे कुछ सूत्र है या नहीं। मुझे लगता है कि उसके पीछे सूत्र है। कला के क्षेत्र में जो विवाद होते हैं उनका विचार करने पर एक बात ध्यान में आती है कि कला की अवधारणा अनेकांगी या बहुआयामी होने के कारण

और उसके विविध अंगांगों से सतत संघर्ष के कारण बार-बार उसका संतुलन बिगड़ता रहता है और उसका प्रयत्न भी संतुलन को बनाए रखने का होता है। जब किसी विशिष्ट आयाम पर बल देनेवाली कलाकृति पैदा होती है तब अन्य आयामों की ओर उपेक्षा की उसकी प्रवृत्ति होती है। अत: किसी विशिष्ट अंग का व्यवस्थित परिपोष होने पर भी कुल अवधारणा में एक तरह की संकीर्णता उत्पन्न होती है। यह संकीर्णता आखिर ऐसे बिंदु पर पहुँच जाती है कि वहाँ यह समीकरण बनता है कि समग्र कलामूल्य = उस विशिष्ट आयाम का मूल्य। लेकिन ऐसा समीकरण मान्य करने में एक बहुत बड़ी अड़चन पैदा होती है। विशिष्ट अंग का अलग विचार करने पर ऐसा नहीं लगता कि उसमें समग्र कलामूल्य समाविष्ट हुआ है। उलटे, अन्य अंगों की उपेक्षा करने के फलस्वरूप कला का मूल्य घट गया है। फिर उन उपेक्षित आयामों को महत्त्व मिलने लगता है। संकुचन प्रक्रिया जितनी प्राकृतिक होती है उतनी ही उसकी प्रसारण प्रक्रिया भी प्राकृतिक ही होती है। संकुचन-प्रसरण का स्पंदन सतत जारी रहता है। इस स्पंदन के कारण अपने कलामूल्य संबंधी विचार बदलते रहते हैं।

लेकिन कला की अवधारणा का अंतर्गत स्पंदन ही परिवर्तन का एकमात्र कारण नहीं है। कला के बाह्य परिवेश का भी प्रभाव इस स्पंदन क्रिया पर होता रहता है। समाज की ऐहिक समृद्धता का कला एवं कलासंबंधी भान पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन अन्य कारणों को भुला देना उचित नहीं होगा।

3.10

गैली के महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर यहाँ संक्षेप में चर्चा आवश्यक है। गैली के अनुसार "स्वभावत: वादग्रस्त" अवधारणा का एक निकष यह है कि वह बँधी हुई नही होती, उसकी सीमाएँ कायम रूप से रेखांकित नही की जा सकतीं। यह कहाँ तक सही है? कला के बारे में विचार करते समय हमारे ध्यान में यह आता है कि कला के स्वरूप में एवं कलाविषयक मान्यताओं में अनेक परिवर्तन हुए हैं। लेकिन इस परिवर्तन का एक वैशिष्ट्य यह है कि वही सिद्धांत सतह पर भिन्न-भिन्न दिखनेवाले रूपों में, बार-बार अपने सामने आते हैं। उदाहरणार्थ कला यथार्थ की प्रतिकृति है, इस प्रतिकृति का काम यथार्थ के चिरंतन सत्य को दिखाना होता है। अरस्तू का यह सिद्धांत अठारहवीं शती में डॉ. जान्सन एवं बीसवीं सदी में ल्यूकाक्स के लेखन में बार-बार अवतीर्ण हुआ दिखाई पड़ता है। यह पुनरावृत्ति महत्त्वपूर्ण है। इससे यह ध्यान में आता है कि कला की अवधारणा जितनी लगती है, उतनी खुली भी नहीं है। कला के अंग वे ही हैं। कला की प्रेरणाएँ चिरंतन होती हैं। लेकिन उनमें से कौन-सी प्रेरणाएँ कब बलवती होंगी, यह कलांतर्गत या कलाबाह्य परिस्थिति पर निर्भर होता है और यह परिस्थिति सतत बदलती रहती है। अत: कला का स्वरूप भी सतत बदलता हुआ दिखता है

और इसीलिए लगता है कि कला की अवधारणा खुली है। लेकिन अधिक गहराई में जा कर देखने पर प्रेरणाओं की पुनरावृत्ति होती दिखती है।

पुराचीन काल से आज तक सौंदर्यसंबंधी एवं कलास्वरूप संबंधी जो महत्त्वपूर्ण सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें बारीकी से देखने पर यह प्रतीत होता है कि उनमें पुनरावृत्ति के साथ और भी एक बात का अस्तित्त्व होता है। वह बात है, इन सिद्धांतों में वर्तमान एक विशिष्ट प्रकार की एकसूत्रता। ये सिद्धांत एक-दूसरे से भिन्न होने पर भी उनमें विशिष्ट रिश्ता होता है। उनका स्वभावत: दो गुटो में विभाजन होता है। उनमें से दो परस्पर विरोधी अवधारणाव्यूह खड़े होते हैं। एक अवधारणाव्यूह इस तत्त्व पर आधारित है कि सौंदर्य या कलामूल्य स्वायत्त है। तो दूसरा इस तत्त्व पर आधारित है कि सौंदर्य एवं कला लौकिक जीवन का पोषण करती है। इन दो ध्रुवों को अलौकिकतावाद या स्वायत्ततावाद और लौकिकतावाद नाम दिए जा सकते हैं। अलौकिकतावाद प्राय: रूप (form) के तत्त्व का समर्थन करता है। इसके विपरीत लौकिकतावाद आशय पर बल देता दिखता है। जिसमें लौकिक जीवन का उसके बौद्धिक एवं व्यवहारात्मक व्यापारों का, सुखदुख एवं भावना का संबंध नहीं आता, ऐसे अर्थरहित संगीत में अलौकिकतावाद की विजय दिखती है। उल्टे, वाङ्मयकला लौकिकतावादियों का अपना खास गढ़ है। लेकिन ऐसा सरल विभाजन होता तो सौंदर्यशास्त्र का कार्य बहुत आसान होता। ऐसा कहा जा सकता था कि दो प्रकार की इन कलाओं के दो अलग-अलग सौंदर्यशास्त्र होते हैं; एक रूपवादी और दूसरा आशयवादी। लेकिन बहुत-सी कलाओं में ये दोनों ध्रुव निदान बीज रूप में उपस्थित दिखते हैं। उन्हें जीवनोन्मुख भी रहना पड़ता है और लौकिक जीवन से अलग, रूप तत्त्व को भी स्वीकारना पड़ता है। इस तरह कलाओं में अंतर्गत तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होते हैं। अर्थरहित संगीत एवं वाङ्मय कला का उल्लेख स्वायत्ततावाद और लौकिकतावाद के विशुद्ध उदाहरणों के रूप में प्राप्त किया गया है। लेकिन ये कलाएँ भी असल में द्विध्रुवात्मकता (bi-polarity) के सिद्धांत का अपवाद नहीं हैं। संगीत अर्थरहित होने पर भी उसका इसपर शारीरिक या भावनात्मक परिणाम होता है। हम उनकी ओर जीवन के प्रतीक एवं अभिव्यक्ति के रूप में देख सकते हैं और कभी न कभी उनका विचार करना पड़ता है। ऐसा होने पर संगीत में लौकिकतावाद का प्रवेश होने लगता है। वाङ्मय में लौकिक जीवन का चित्रण एवं अभिव्यक्ति होती है। अत: वह अलौकिकतावादियों को एक चुनौती है। अलौकिकतावादियों ने इस चुनौती का स्वीकार किया है। लौकिक जीवन को आत्मसात् कर एक अलौकिक रूपतत्त्व के अनुसार उसकी पुनर्रचना करने की उनकी प्रतिज्ञा होती है। इससे यह दिखता है कि द्विध्रुवात्मकता के तत्त्व में कोई कला अपवाद नहीं बनती।

यह द्विध्रुवात्मकता मानवीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी दिखती है। मनुष्य के जीवन

में ऐसे अनेक अंग उत्पन्न हुए हैं कि जो मूल जीवन-स्त्रोत से अलग हो सकते हैं। (उदाहरणार्थ - दर्शन, क्रीड़ा, विज्ञान, इंद्रियसुख) और उनमें से कुछ को स्वायत्त मूल्य प्राप्त हो सकता है। फिर भी यह नहीं है कि उनका संबंध जीवन के मूल स्त्रोत से पूर्णत: विच्छिन्न हुआ है। अत: उनमें एक ओर स्वायत्त होने की कोशिश चलती रहती है तो दूसरी ओर मूल जीवन स्त्रोत की ओर जाने की भी कोशिश चलती रहती है।

हम इस द्विध्रुवात्मकता के सिद्धांत के सहारे कुछ महत्त्वपूर्ण सौंदर्य-सिद्धांतों से परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। आगे दो अध्यायों में स्वायत्ततावाद की एक महत्त्वपूर्ण सौंदर्य-शास्त्रीय परंपरा के आधार का हम विस्तार से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। उसके बाद 6 से 10 अध्याय में इस व्यूह पर लौकिकतावादियों ने किस प्रकार आक्रमण किए और उनमें वे कहाँ तक सफल हो सके, यह भी देखने का प्रयास करेंगे। ग्यारहवें अध्याय में रूपतत्त्व का विचार करते समय स्वायत्ततावादियों के प्रत्याक्रमण के स्वरूप को भी देखेंगे। कलाविषयक विचार सामान्यत: निम्नांकित संदर्भ में हुआ है और आज भी हो रहा है। (अ) कला की निर्मिति, (आ) कला का आस्वाद, (इ) कला मूल्यों एवं अन्य मूल्यों के बीच संबंध, (ई) कलाकृति की रचना। इसी संदर्भ में हम उपर्युक्त संघर्ष का स्वरूप देखने का प्रयास करेंगे।[50]

□□

अध्याय 4

अभिव्यंजना वाद : एक : कांट

4.1

पिछले अध्याय में हमने दो निष्कर्ष निकाले (1) सौंदर्य, कला इत्यादि मूल्य-अवधारणाएँ अनेकांगी होती हैं। चूँकि इन के अंगांगों में सतत संघर्ष वर्तमान रहता है, इन अवधारणाओं की अंतर्गत व्यवस्था नानाविध तनावों से बनी हुई होती है। इस कारण से सौंदर्य एवं कला के बारे में अनेक सिद्धांतों का बना रहना स्वाभाविक होता है। (2) इसपर भी अधिक गहराई में जाने पर यह ध्यान में आता है कि इनमें एक तत्त्व के सहारे एक व्यवस्था पैदा की जा सकती है। वह तत्त्व है सौंदर्य, कला इत्यादि अवधारणाओं की द्विध्रुवात्मकता। इन अवधारणाओं के दो ध्रुवों के इर्द-गिर्द सभी सौंदर्य-कलासंबंधी सिद्धांत एकत्र हुए दिखते हैं। कला संसार को स्वायत्त मानने वाले सिद्धांत एक वर्ग में आ जाते हैं तो कला को जीवनपोषक, अतएव मूल्ययुक्त माननेवाले सिद्धांत दूसरे वर्ग में। कला की अवधारणा के बारे में अपने निष्कर्ष अब जरा अधिक गहराई में जाकर देखना जरूरी है। लेकिन अब अपनी विवेचन-पद्धति भी बदलनी होगी। अब तक जिन बातों को केवल पृष्ठभूमि में रखा उन्हें अधिक निकट लाकर उनका विश्लेषण करते हुए सौंदर्य, कला इत्यादि अवधारणाओं की आंतरिक व्यवस्था के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करनी होगी। याने सौंदर्य एवं कला के स्वरूप संबंध में प्रचलित विविध सिद्धांतों का अधिक विवेचन करना होगा। इस विश्लेषण के परिणामस्वरूप कलाकृति का (अथवा सुंदर वस्तु का) आंतरिक स्वरूप भी अधिक स्पष्ट होगा। कलाकृति का स्वरूप, उसके संबंध में सिद्धांत और उन सिद्धांतों का तार्किक विश्लेषण, ये तीनों चीजें परस्परावलंबी हैं। जब उनमें से एक के बारे में हम बोलते हैं। तब अन्य दो के बारे में भी अपनी मान्यताएँ स्पष्ट करते रहते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि कला-अवधारणा अनेक-आयामी है, तब हम यह स्वीकार करते हैं कि कलाकृति के विविध अंग होते हैं और उनका वर्णन एवं मूल्यांकन विविध सिद्धांतों के अनुसार किया जा सकता है।

सौदर्य-सिद्धांत के बारे में हमारी भूमिका विश्लेषक की होने के कारण किसी सिद्धांत को हम एक बार भी अवहेलित नहीं कर सकते। इसका एक ही अपवाद है। सौंदर्य-सिद्धांत के कारण समीक्षा की भाषा में अनुस्यूत अवधारणाओं को स्पष्टता प्राप्त होती है और हम उनके मर्म-स्थानों एवं सीमाओं को जान सकते हैं। इसका अर्थ यह

हुआ कि सौंदर्य-सिद्धांत की जड़ें समीक्षा की भूमि में रोपी हुई होती हैं। ऐसा सिद्धांत जिसकी जड़ें समीक्षा में नहीं जमी हैं, ऊपरी होता है। उससे हमारा कोई संबंध नहीं है। क्योंकि ऐसा सिद्धांत न सुंदर वस्तुओं के स्वरूप पर प्रकाश डालता है, न हमारी सौंदर्यविषयक धारणाओं को स्पष्टता दे पाता है।

उपर्युक्त पैरे में समीक्षा की भाषा एवं सौंदर्य-सिद्धांत के बीच के परस्पर संबंध के बारे में जो कुछ कहा गया है उसपर एक आक्षेप किया जा सकता है। प्रत्यक्ष समीक्षा में "सौंदर्य", "सुंदर" ये शब्द बहुत विरल रूप में दिखाई पड़ते हैं। लेकिन सौंदर्य-सिद्धांतों में उनका बहुत ही प्रचलन है। अगर समीक्षा और सौंदर्य-सिद्धांत के बीच के संबंध उपरिनिर्दिष्ट होंगे तो "सौंदर्य" इत्यादि अभिधानों को सौंदर्यसिद्धांत में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान देने की आवश्यकता नहीं है। विट्गिन्स्टाईन कहते हैं,

"Beautiful is an odd word to talk about because it's hardly ever used".

विट्गिन्स्टाइन के इस कथन का अर्थ स्पष्ट है। "सौंदर्य" अभिधान को अगर हम केंद्रीय स्थान दें, तो हमारा विवेचन अनचाहे रास्तों पर भटकता जाएगा और इस विवेचन के कारण कलाकृति के संबंध में चल रहे मानवीय व्यवहार पर प्रकाश नहीं पड़ेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष समीक्षा में "सौंदर्य" अभिधान का केंद्रीय स्थान नहीं होता। अगर ऐसा है तो फिर इस अभिधान को इतना महत्त्व क्यों प्राप्त हुआ? उसे इतना महत्त्व क्यो दें? इन प्रश्नों के अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। उनमें से एक उत्तर यह है : "सौंदर्य" को केंद्रीय स्थान देने पर विवेचक का काम आसान हो जाता है, क्योंकि तब उसे समीक्षा के अन्य अभिधानों का विश्लेषण करने की जरूरत नहीं होती। लेकिन यह उत्तर ठीक नहीं जँचता। मेरा उत्तर कुछ अलग है। वह इस प्रकार है: "सौंदर्य" शब्द के प्रयोग से (अथवा उसका विवेचन करने में) यह एहसास सतत रहता है कि हम मूल्यांकन के स्तर पर विचरत रहते हैं। विशिष्ट समय पर विशिष्ट संदर्भ में हम किस स्तर पर बात कर रहे हैं, इसका स्पष्ट एहसास हमें होना आवश्यक है और प्राय: वह एहसास हमें होता भी है। लेकिन यह एहसास क्षीण होने पर वैचारिक गड़बड़ झाला पैदा होता है। मूल्य-अवधारणा के बारे में कभी-कभी ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न होने की संभावना रहती है। हम एक ही बात का अनेकानेक स्तरों पर विचार कर सकते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दे रहे हैं : फर्ज कीजिए "अ" पुरुष और "ब" स्त्री एक वस्त्र के दोनों ओर खड़े हैं और यह वस्त्र दूर हटाने पर उन दोनों ने एक दूसरे के गले में मालाएँ पहनाईं। इस घटना का वर्णन ऐसे किया जा सकता है कि "अ" एवं "ब" का विवाह हुआ। विशिष्ट रीतिरिवाजवाले समाज में ही ऐसा वर्णन सार्थ होगा। विवाहमालाएँ पहनाना, अग्नि के चारों ओर घूमना, उसमें लाई डालना, मंत्र उच्चरित करना इत्यादि को ही हम विवाह होना कहते हैं। अर्थात् समाजजीवन का विशिष्ट संदर्भ होगा तभी उपर्युक्त कृति को "विवाह संपन्न हुआ" कहा जा सकता

है। भाषा के उपयोग को जो अर्थ प्राप्त होता है वह इसलिए कि समाज-जीवन के विशिष्ट संदर्भ में उसका विशिष्ट कार्य होता है। इसीलिए शब्द एवं वाक्य के अर्थ को जानने का मतलब है समाजजीवन के विशिष्ट संदर्भ में होनेवाले उसके उपयोग को जानना। इस संदर्भ को विट्गिन्स्टाइन की तरह हम जीवन का रूप (Form of Life) नाम दे सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में "अ" ने "ब" को माला पहनाई", इसका अर्थ होता है, "अ" का "ब" के साथ विवाह हुआ।" हर समय हमें यह कहने की जरूरत नहीं कि "विवाह हुआ।" इतना कहना काफी है कि "अ" ने ब" को माला पहनाई।" उसी तरह समीक्षा की बात है। प्रत्यक्ष समीक्षा में हम बहुत बार मूल्यांकन के शब्द (उदाहरणार्थ, "सुंदर", "अच्छा") प्रयोग में लाते हैं ऐसा नहीं, फिर भी समीक्षा के संदर्भ में हम जो बोलते हैं उसे मूल्यांकन के अर्थ की झालर होती है। इस झालर को हमें कदापि भूलना नहीं चाहिए। विवाह वेदी पर खड़े होकर माला पहनाने का मतलब केवल माला पहनाना ही नहीं होता। लेकिन विवाह करना याने माला पहनाना इत्यादि कृतियों के अलावा और एकाध कृति करना भी नहीं होता। उसी तरह "पुस्तक ऊबाऊ है।" कहने का अर्थ इतना ही नहीं होता कि, "उसे पढ़ते समय मैं ऊब गया और सब ऊब गए, बाद में भी सब ऊब जायेंगे।" इसमें यह भी अभिप्रेत अर्थ है –"पुस्तक खराब है, फालतू है।" अब मान लीजिए कि ऊबाऊपन ही वाङ्मयीन दृष्टि से फालतू होने का एकमात्र निकष है। हम जब कहते हैं कि "पुस्तक फालतू है" तब यही कहना चाहते हैं कि, "पुस्तक ऊबाऊ है।" और फिर भी ये दो वाक्य सभी संदर्भो में समानार्थक नहीं होते। इसका कारण यह है कि "पुस्तक ऊबाऊ है" वाक्य दो संदर्भो में प्रयुक्त किया जा सकता है। एक तो वह पूर्णत: अपनी या औरों की प्रतिक्रिया व्यक्त करनेवाला वाक्य, इस अर्थ में सार्थक होता है। लेकिन संदर्भ के बदलने पर मूल्यांकनपरक वाक्य का अर्थ भी उसको प्राप्त होता है। समीक्षात्मक वाक्यों को वर्णनपरक एवं मूल्यांकनपरक दोनों संदर्भों में काम करना होता है। मतलब यह है कि समीक्षा में ऊपर से वर्णनात्मक लगनेवाले वाक्यों को मूल्यात्मकता की झालर लगी होती है। ऐसी झालर होती है, यह मन पर अंकित करने का एक रास्ता यह है कि मूल्यपरक शब्दों को समीक्षा-संवाक्यों में प्रमुखता दी जाए और वर्णनात्मक अंश को प्रमाण का स्थान दिया जाए। (यह पुस्तक खराब है क्योंकि वह ऊबाऊ है, "अर्थात् यह गृहीत है कि ऊबाऊ पुस्तकें खराब होती हैं।") मूल्यात्मकता के इस मुद्दे को मन में अच्छी तरह अंकित करने के लिए यह मान्यता फैल गई होगी कि सौंदर्यशास्त्र सौंदर्यमूल्य के स्वरूप विषयक शास्त्र है। "सुंदर" शब्द को समीक्षा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान न होने पर भी सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन में या सौंदर्य-सिद्धांतों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होना अपरिहार्य है; क्योंकि सौंदर्य-संवाक्यों या समीक्षा-संवाक्यों की मूल्यात्मकता का अंश मन पर अंकित करने का वह एक मार्ग है। सौंदर्य-सिद्धांत सौंदर्य के बारे में होते हैं, इसका एक अर्थ यह

है कि समीक्षा के वाक्यों का मूल्यांकन के संदर्भ में जो कार्य होता है उसके संबंध में ये सिद्धांत होते हैं। सौंदर्य संबंधी बोलने का अर्थ है मूल्यांकन के संदर्भ के बारे में बोलना एवं इस संदर्भ के अन्य संदर्भों के साथ जो संबंध विद्यमान हैं उनके बारे में बोलना। हम "सुंदर" शब्द को कितना महत्त्व देते हैं या बिलकुल ही महत्त्व नहीं देते, ये प्रश्न उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते।

लेकिन इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि केवल "सौंदर्य" और "कला" के बारे में लिखना, ये अभिधान कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे प्रयुक्त होते हैं, इसका विश्लेषण करना मात्र सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन नहीं होता। सौंदर्यशास्त्र को इससे अन्य अभिधानों का भी विश्लेषण करना आवश्यक होता है।

4.2

इसमें और आगामी अध्याय में हमें एक महत्त्वपूर्ण सौंदर्य-सिद्धांत का परिचय प्राप्त कर लेना है। यह सिद्धांत अभिव्यंजनावाद (expressionism) कहलाता है। इस सिद्धांत की चर्चा का प्रयोजन पिछले अध्याय के अंत में सूचित किया था। कला अवधारणा के दो ध्रुवों में पहला ध्रुव है– स्वायत्ततावाद। कलामूल्य स्वायत्त है, यह अभिमत निश्चियात्मक ढंग से और व्यवस्थित रूप में अभिव्यंजनावादियों ने प्रस्तुत किया है। स्वायत्ततावाद में अनूस्यूत उपसिद्धांत कौन-से हैं, यह भी दर्शाया है। लेकिन अन्य अनेक कारणों से भी इस सिद्धांत का महत्त्व है। पहला कारण यह है कि इस सिद्धांत की अनेक अवधारणाएँ हम जाने-अनजाने प्रयोग में लाते हैं। हम उनके इतने अभ्यस्त हैं कि उनकी सच्चाई के बारे में हमारे मन में शंका ही नहीं उत्पन्न होती, न यह लगता कि उन्हें सिद्ध करने की आवश्यकता है। इधर की बहुत सारी मराठी समीक्षा और गत सौ वर्षों की बहुत-सी अंग्रेजी समीक्षा पर इस सिद्धांत की सघन छाया पड़ी है। (आर्नल्ड जैसे कुछ अपवाद अवश्य हैं। लेकिन अन्य अनेक समीक्षकों के संबंध में उपर्युक्त बात कही जा सकती है।) दूसरी बात यह है कि इस सिद्धांत की जड़ें कला संबंधी एक विशिष्ट दृष्टि में थीं, लेकिन उसका एक सिरा अतिभौतिकीय सिद्धांतसे जोड़ दिया गया। यह अतिभौतिकीय पकड़ ऐसी कुछ जबरदस्त थी कि उसके फलस्वरूप इस सौंदर्य-सिद्धांत की जड़ें जमीन से पूरी तरह से उखड़ गईं। पता चलेगा कि अतिभौतिकीय सौंदर्य-सिद्धांत की स्थिति क्या हो जाती है। तीसरी बात यह है कि इस सिद्धांत में जो आंतरिक परिवर्तन हुए हैं उनके अध्ययन से सौंदर्य-सिद्धांत जिन आंतरिक नियमों के अनुसार बदलते रहते हैं, उनकी भी हमें जानकारी प्राप्त होगी।

इस सिद्धांत के विवेचन के पहले एक बात कहनी होगी। नए नाटक में जो अभिव्यंजनावादी परंपरा है उसका स्वरूप बताना मेरा उद्देश्य नहीं है। वह नाट्य-संसार का एक भाग है। जिस अभिव्यंजनावाद से मेरा अभिप्राय है, उस दृष्टि से अभिव्यंजना

समस्त कलाकृतियों एवं सुंदर वस्तुओं की आत्मा होती है।

अभिव्यंजनावाद विश्वचैतन्यवादियों एवं केवल चिद्वादियों (absolute idealist) का अधिकृत सिद्धांत है। यद्यपि बेनेदेत्तो क्रोचे का नाम मुख्यत: इस सिद्धांत से जुड़ गया है फिर भी यह सिद्धांत क्रोचे का निर्माण किया हुआ सिद्धांत नहीं है। कालक्रम से क्रोचे का समकालीन अंग्रेज दार्शनिक बोसाँकि, समीक्षक ए. सी. ब्रैड्ली, उसके कुछ बाद आनेवाले कैरिट और कालिंगवुड और आज लेखन करनेवालों में से येल्विन राडर -इनकी दृष्टिभी अभिव्यंजनवादी है। बोसाँकि-क्रोचे के भी पूर्व हीगेल की दृष्टि यही थी। असल में इस परंपरा का उद्गम कांट में मिलता है। सत्यम् शिवम् सुंदरम् त्रयी माननेवाले लेखक भी इसी परंपरा में आते हैं। यह परंपरा इतनी प्रभावी है कि विश्वचैतन्यवादी अतिभौतिकीय सिद्धांत न माननेवाले विचारकों पर भी उसका बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है। सैम्युअल अलेग्जांडर सांतायना, लैंगर इत्यादि नाम उदाहरण के लिए लिए जा सकते हैं।

4.3

हम इस परंपरा के जनक कांट के सौंदर्य-सिद्धांत के विवेचन से प्रारंभ करेंगे। अपनी तात्त्विक विचार-श्रृंखला की एक कड़ी को निहारने की दृष्टि से कांट सौंदर्यतत्त्व की ओर उन्मुख हुआ। अपने "क्रिटिक ऑफ प्युअर रीजन" ग्रंथ में उसने दिखाया कि काल, अवकाश एवं कार्यकारण-भावादि अनुभवपूर्व (a priory) कोटियाँ (categories) एवं ऐंद्रीय घटकों की सामग्री (sensory manifold) के सहयोग से इंद्रिय-गोचर सृष्टि (phenomenal world) निर्मित होती है और ऐसी कोटियों से निकाले गए नियमों से वह पूर्णत: नियमित हो जाती है। उसी तरह अपने "क्रिटिक आफ प्रैक्टिकल रीज़न" ग्रंथ में उसने मानव के नैतिक जीवन का अधिष्ठान बनी मूलभूत अवधारणाओं की थाह ली। मानवीय जीवन प्राकृतिक एवं नैतिक दो स्तरों पर चलता रहता है; क्योंकि इच्छा शक्ति ने नैतिक तत्त्व के अनुसार आचरण करना तय भी किया हो तो भी प्रत्यक्ष कृति प्राकृत दुनिया में ही घटित होती है और प्राकृतिक दुनिया के नियमों से वह मर्यादित भी होती है। मानवीय इच्छा शक्ति का स्वातंत्र्य नैतिक आचरण की नींव है; लेकिन इस स्वातंत्र्य से निर्मित होनेवाली क्रिया सृष्टिनियमों से बँधी हुई होती है। इस कारण से इन दो संसारों का समन्वय आवश्यक है। इसलिए कांट को एक अलग अवधारणा की नींव पर खड़ा तीसरा संसार कल्पित करना पड़ा। यह विश्व-सौंदर्यानुभव का है और उसकी नींव के लिए कांट ने प्रयोजन (purpose) अवधारणा का उपयोग किया। केवल बुद्धि एवं आकलन शक्ति (understanding) के साथ उसने तीसरी एक *मन:शक्ति (faculty) को स्थान दिया। उसका नाम निर्णय शक्ति* (judgement)। इस शक्ति का कार्य है अनेकता में एकता स्थापित करना या विशिष्ट को सामान्य की परिधि में लाना। एकता-स्थापना के लिए जब निश्चित नियम उपलब्ध

रहते हैं तब उस निर्णय का स्वरूप निबद्ध (determinate) रहता है। और जब अनेकता उपलब्ध होती है और उसको अपनी कक्षा में लानेवाले नियम की खोज करनी होती है तब उसका स्वरूप मुक्त (reflective) होता है।[2] सौंदर्यानुभव की खोज करते समय कांट को यह दूसरा स्वरूप महत्त्वपूर्ण लगा। "हर घटना का कारण (cause) होता ही है" इत्यादि सार्वभौम नियम हमें अपनी अवधारणा शक्ति के द्वारा प्राप्त होते हैं। लेकिन "अ" "ब" का कारण है" जैसा विशिष्ट नियम अपने अनुभव से ही प्राप्त होता है। ऐसे अनुभवजन्य नियमों की समष्टि उत्पन्न करने का प्रयास मानव-बुद्धि करती रहती है। यहाँ विशिष्ट अनुभवजन्य सृष्टिनियम उपलब्ध होते हैं। लेकिन उन सबको समाविष्ट करनेवाला नियम दिया हुआ नहीं होता। उसे खोजना पड़ता है। इसलिए यहाँ मुक्त निर्णय (reflective judgement) को महत्त्व मिलता है। इस शोध -प्रक्रिया में क्या निर्णय-शक्ति को अवलंब देनेवाला कोई तत्त्व है, यह प्रश्न कांट के सामने है। उसकी राय में ऐसा तत्त्व है। मानवीय बुद्धि यह गृहीत मानकर चलती है कि सृष्टि-रचना में प्रयोजनपूर्णता है, सृष्टि की रचना ही मानो ऐसे हुई है जिसके कारण सृष्टि की समष्टि की खोज करनेवाली मानवीय बुद्धि को यश प्राप्त हो। अर्थात् मनुष्य को यह कहने का अधिकार नही है कि सृष्टि की रचना ही इस प्रयोजन से की गई है कि मानवीय बुद्धि का कार्य सुगम हो जाए।

सृष्टि की प्रयोजनपूर्णता का यह तत्त्व मानव को केवल अपनी शोधप्रक्रिया का नियमन करने के लिए ही उपयोग में लाना है। सृष्टि की प्रयोजनपूर्णता (purposiveness) की अवधारणा कार्यकारण-भाव (causality) की अवधारणा की भाँति वस्तुगत (objective) नहीं है। कार्यकारणभाव की अवधारणा प्राकृतिक सृष्टि की बुनावट-बनावट का ही एक मूलभूत नियम है। प्रयोजनपूर्णता की अवधारणा विषयगत नही है। मनुष्य अपने दिशा-निर्देशन के लिए ही उसे उपयोग में लाता है। इसलिए उसे केवल विषयीगत मानना होगा। यह अवधारणा अनुभवपूर्ण होने के कारण उसे विषयीगत अनुभवपूर्ण (subjective a priory) अवधारणा मानना होगा। प्रयोजनपूर्णता की अवधारणा के आधार से कांट को सौंदर्यानुभव में समाविष्ट सुख का भी अनुसंधान करना संभव हो गया। प्रकृति में प्रयोजनपूर्णता की प्रतीति आने पर एक अलग किस्म की सुखसंवेदना से मन भर जाता है। सौंदर्यानुभव में अभिप्रेत आनंद, यही सुखसंवेदना है। क्या इस सुखसंवेदना के कुछ सार्वभौम नियम हैं? इसकी कांट को खोज करनी थी। यह सब काम उसने "क्रिटिक ऑफ जजमेंट" ग्रंथ में किया। इस ग्रंथ का पहला भाग "क्रिटिक ऑफ एस्थेटिकल जजमेंट" सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

4.4

अपने सौंदर्यसिद्धांत के चार अंग कांट ने निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किये हैं।[3]

Taste is the faculty of estimating an object or a mode of representation by means of a delight or aversion apart from any interest. The object of such a delight is called beautiful.[4]

[(अभिरुचि मन:शक्ति के कारण वस्तु का या अनुभवविषय का आह्लाद या घृणा के अनुषंग से मूल्यांकन किया जा सकता है।) या उसका अनुभव लिया जा सकता है।) यह आह्लाद (उस विषय के अस्तित्व की) अपेक्षा पर आधारित नहीं होता। इस प्रकार (अस्तित्व) निरपेक्ष आह्लाद का विषय सुंदर समझा जाता है।)]

सौंदर्यानुभव का निरालापन सिद्ध करना कांट का प्रमुख उद्देश्य है। कांट यहाँ विवेचित कर रहा है कि सौंदर्यानुभव ज्ञानानुभव से कैसे भिन्न है। सौंदर्य-संवाक्य में विधेय पद पर आह्लाद या परितोष होता है। "क" सुंदर है" का अर्थ "क" विशिष्ट प्रकार का परितोष देता है" इतना ही होता है। ज्ञानात्मक संवाक्य में (cognitive judgement) वस्तुरूप का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ "क" लाल है" -- कहते समय लाली गुणविशेष 'क' में है यह हम कहना चाहते हैं; लेकिन सौंदर्य गुणविशेष नहीं है, "क सुंदर है" कहते समय वस्तुरूप जानने का प्रयत्न हम नहीं करते; "क्ष विशिष्ट प्रकार का परितोष देता है," इतना ही हम कहना चाहते हैं। कांट का मंतव्य एवं मूर का मंतव्य - दोनों की तुलना करने पर कांट के सिद्धांत का मर्म समझा जा सकता है। मूर के अनुसार मूल्यसंवाक्य ज्ञानात्मक होता है; क्योंकि मूल्य एक (अप्राकृतिक) गुणविशेष है। कांट के अनुसार सौंदर्यसंवाक्य ज्ञानात्मक नहीं होता। क्योंकि सौंदर्य गुणविशेष नहीं होता। दूसरी बात यह है कि मूर मानता है कि जिस संसार में मन नहीं है उस संसार में भी सुंदर वस्तु ही होगी, कांट को यह मान्यता स्वीकृत नहीं होगी, क्योंकि "सुंदर वस्तु" विशिष्ट परितोष का विषय होनेवाली वस्तु", ऐसा जहाँ माना जाएगा वहाँ मन के न होने से परितोष भी नहीं होगा; और इसलिए ऐसे संसार में सुंदर वस्तुएँ, जिन्हें हम सुंदर मानते हैं, नहीं होंगी।

कांट को विशिष्ट प्रकार का परितोष (या आह्लाद) अभिप्रेत है यह परितोष हित-विमुक्त (disinterested) होना चाहिए। इस संदर्भ में (interest) संज्ञा की कांट ने जो स्पष्टता की है वह महत्त्वपूर्ण है। Interest याने किसी वस्तु के प्रत्यक्ष अस्तित्व में रस होना। कुछ वस्तुओं से प्राप्त आनंद उन वस्तुओं के अस्तित्व के अभाव में हमें प्राप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए भोजन का आनंद तभी हो सकता है जब वह अस्तित्व में होगा। शिव के चिंतन से मिलनेवाला परितोष भी कांट के अर्थ में अस्तित्व-निरपेक्ष नहीं होता। यह सही है कि किसी नीतिमान व्यक्ति को देखकर या नैतिक दृष्टि से कोई अच्छा काम देखकर हमें परितोष होता है। लेकिन उसके लिए वह मनुष्य या वह काम प्रत्यक्ष अस्तित्व में होना चाहिए। और इसलिए यह परितोष अस्तित्व-निरपेक्ष परितोष नहीं सिद्ध होता। किसी वस्तु के केवल दर्शन से जो आनंद मिलता है वह सौंदर्यानंद है। फिर भले ही वस्तु जिसे हम देख रहे हैं, प्रत्यक्ष में न भी हो, केवल

आभास हुआ हो। सौंदर्य का आनंद सुंदर वस्तु के प्रत्यक्ष अस्तित्व पर निर्भर नहीं होता। Interest का मतलब है किसी वस्तु के प्रत्यक्ष अस्तित्व में रस होना, इसलिए सौंदर्यानंद को disinterested या अस्तित्व-निरपेक्ष कहा जा सकता है। Disinterested शब्द को सामान्यत: अस्तित्व-निरपेक्ष अर्थ नहीं दिया जाता। लेकिन कांट के विवेचन को देखने के बाद लगता है कि इस संदर्भ में वही अर्थ योग्य है।

कांट का अस्तित्वनिरपेक्षता का सिध्दांत कोलरिज के 'अविश्वासभाव का स्वेच्छा से किया हुआ अवरोध (Willing suspension of disbelief)[5] सिध्दांत' से अलग है। कोलरिज का सिध्दांत संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। जब हम कोई वाङ्मयकृति पढ़ते हैं तब उसके पात्र (विशेषत: भूत-प्रेत इत्यादि पात्र) प्रत्यक्ष अस्तित्व में नहीं होते, यह हमें मालूम होता है। फिर भी घडीभर के लिए हम उन्हें सच्चा मानते हैं और उनके सुख-दुख में रमते हैं। कांट के कथन के अनुसार सौंदर्यानुभव में अनुभवविषय बनी वस्तु अस्तित्व में है या नहीं, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सामने दिखने वाली वस्तु भ्रम है, ऐसा हमें नहीं लगता। (वेलेक व वॉरेन के वाङ्मयीन fictionality के सिध्दांत[6] को शायद यहाँ बाधा पहुँच सकती है।) या वह ऐसा भी नहीं लगता कि वह प्रत्यक्ष अस्तित्व में है। कांट के अनुसार अस्तित्व संबंधी ये प्रश्न सौंदर्यानुभव के संदर्भ में अप्रासंगिक हैं।

साधारणतया निरपेक्षता का अर्थ लिया जाता है कि वैयक्तिक अपेक्षाओं का अभाव। बिहार या राजस्थान के अकाल पीड़ितों की सहायता करने में आनंद है। वह निरपेक्ष आनंद का उदाहरण कहा जा सकता है। क्योंकि उनकी मदद करने से हमें कुछ भी पाना नहीं होता। लेकिन कांट के निरपेक्षता संबंधी नियम अधिक कड़े हैं। उपर्युक्त आनंद शिव-अवधारणा पर आधारित होने के कारण उसे निरपेक्ष आनंद नहीं माना जा सकता।

4.5

(2) The beautiful is that which apart from concepts, is represented as the object of a universal delight.[7]

(सुंदर वस्तु सार्वभौम आह्लाद का विषय होती है। परंतु यह सार्वभौमिकता अवधारणाओं पर आधारित नही होती।)

सौंदर्यानुभव में अभिप्रेत आनंद सार्वभौम होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि दैनिक जीवन की रोचक (agreeable) वस्तुएँ सबको आनंद देंगी ही, रोचक चीजों से मिलनेवाले आनंद पर व्यक्तिगतता की सीमाएँ होती हैं। वैयक्तिक रुचि-अरुचि अलग होती है। किसी को आम पसंद होगा तो किसी को नहीं होगा। लेकिन सौंदर्यानंद की स्थिति ऐसी नहीं होती। जो वस्तु सुंदर है इसलिए एक को आह्लाददायी लगती है, वह अन्यों के लिए भी आह्लाददायी होती ही है। इस संबंध में सौंदर्यसंवाक्य

ज्ञानात्मक संवाक्य जैसा होता है। ज्ञानात्मक संवाक्य भी सार्वभौमिक होता है। "आम पीला है", यह ज्ञानात्मक संवाक्य एक के द्वारा बताए जाने पर भी सब उसे स्वीकार करते हैं। ज्ञानात्मक संवाक्य की सार्वभौमिकता अवधारणाओं के सहारे ही पैदा होती है। '"अ" "ब" का कारण है', इसी संवाक्य की सार्वभौमिकता कार्यकारण भाव (causality) अवधारणा की सार्वभौमिकता के कारण पैदा हुई है। सौंदर्यसंवाक्य की सार्वभौमिकता अवधारणा पर आधारित नहीं होती।

सौंदर्यानुभव की अन्य अनुभवों के साथ तुलना करने पर उसका निरालापन अधिक स्पष्ट होगा। ज्ञानानुभव सार्वभौम होता है। लेकिन उसमें आनंद का सवाल पैदा नहीं होता। "'अ' 'ब' का कारण है" यह मालूम होने पर क्या आनंद होता है? यह प्रश्न ही चमत्कारिक-सा लगता है। यह सही है कि नीति-नियमों के पालन से आनंद होता है और वह सार्वभौम होता है। लेकिन फिर भी वह सौंदर्यानंद की अपेक्षा अलग है। एक बात यह है कि शिव के कारण उत्पन्न होनेवाले आनंद की सार्वजनीनता अवधारणाओं पर आधारित होती है। फिर यह आनंद अस्तित्वनिरेपेक्ष नहीं होता। इस सार्वजनीनता के मुद्दे के आधार से सौंदर्यानंद एवं रोचकता के कारण होनेवाले आनंद के बीच का अंतर स्पष्ट होता है। रोचक चीज या सुखद संवेदना के कारण उत्पन्न होनेवाला आनंद सार्वभौम नहीं होता। संक्षेप में सौंदर्यानंद अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से भिन्न अनुभव है; क्योंकि वह सार्वजनीन आनंद का अनुभव है और उसकी सार्वजनीनता सार्वभौमिकता अवधारणा पर अधिष्ठित नहीं होती।

कांट सौंदर्य-संवाक्य की सार्वभौमिकता और अवधारणा-निरपेक्षता हमारे मन पर अंकित करना चाहता है। अगर कोई वस्तु सुंदर हो तो वह सभी को सुंदर लगनी चाहिए। बहुत बार हम कहते हैं कि "वह वस्तु मुझे सुंदर लग रही है" लेकिन "वह वस्तु सुंदर है" और "वह वस्तु मुझे सुंदर लग रही है"-- इन दो कथनों में अंतर है, क्योंकि यह अंतर इसलिए पैदा हुआ है कि "होना" और "लगना" दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। "लगने" को अवधारणा में व्यक्तिसापेक्षता अभिप्रेत है, "होने" की अवधारणा में वह नहीं। "गेंदे के फूल पीले हैं" संवाक्य व्यक्तिसापेक्ष नहीं है। लेकिन "मुझे आज सभी चीजें पीली लग रही हैं क्योंकि मुझे पीलिया हुआ है" संवाक्य व्यक्तिसापेक्ष है। सौंदर्य-संवाक्य व्यक्तिसापेक्ष होता है या नहीं? कांट की मान्यता है कि वह व्यक्तिसापेक्ष नहीं होता। व्यक्तिसापेक्ष संवाक्य बनाना होता है तो कहना होगा कि "वह वस्तु मुझे रोचक लग रही है।" यह संवाक्य कि "वह वस्तु मुझे सुंदर लग रही है" चमत्कारिक है। यह संवाक्य कि "वह वस्तु मुझे सुंदर लग रही है", व्यक्ति कब बनाएगा? तभी जब उसे अपनी खास व्यक्तिविशेषता औरों के मन पर अंकित करनी हो। अन्य समय पर वह ऐसा संवाक्य नहीं बनाएगा। कांट की राय में ये दोनों संवाक्य कि "सामनेवाला फूल लाल है" और "सामनेवाला फूल सुंदर है" व्यक्तिनिरपेक्ष एवं सार्वभौमिक हैं। उनमें अंतर

नहीं है कि पहला संवाक्य ज्ञानात्मक है और दूसरा ज्ञानात्मक नहीं है। लेकिन सार्वजनीनता के बारे में दोनों समान ही हैं। और इसलिए हमारी यह धारणा बनती है कि सौंदर्य एक गुणविशेष है।

सौंदर्यसंवाक्य की सार्वभौमिकता अवधारणाओं के उपयोग के बिना ही संभव बनती है। चूँकि उनमें अवधारणाओं का उपयोग नही हुआ होता सौंदर्य संवाक्य व्यक्तिविषयक ही (singular) होता है। कांट का यही अभिमत है। उसके इस अभिमत की चर्चा हमने दूसरे अध्याय में की है।

जिस वस्तु को हम सुंदर कहते है वह इसलिए सुंदर नहीं ठहरती कि वह विशिष्ट वर्ग में परिगणित होती है। कोई वस्तु सुंदर है अथवा नहीं इस बात को निर्णित करने के लिए उस वस्तु को प्रत्यक्ष ही देखना पड़ता है। किसी भी वर्ग-अवधारणा के आधार से उस वस्तु को सुंदर नही कहा जा सकता। इसीलिए कांट का कहना है कि सौंदर्यसंवाक्य व्यक्तिविषयक ही होता है।

कांट के इस मुद्दे को अलग शब्दों में ऐसे रखा जा सकता है। कोई वस्तु सुंदर है, ऐसा हमें लगे तो हमारा दावा यह होता है कि अपना सौंदर्यसंवाक्य सभी को मान्य होना चाहिए। लेकिन उसे सुंदर क्यों कहा जाए, इसके कारण (reasons) हम नहीं दे सकते। ऐसे कारण हम कब दे सकते हैं? अगर वस्तु का सौंदर्य किसी नियम पर या अवधारणा पर आधारित हो, लेकिन कांट की राय में सौंदर्य किसी नियम या अवधारणा पर आधारित नहीं होता। इसलिए सौंदर्य - संवाक्य के समर्थन में कारण नहीं दिए जा सकते।

अगर सौंदर्य-संवाक्य की पुष्टि के लिए कारण नहीं दिए जा सकते, किन्ही सार्वभौम नियमों या निकषों का ऊपय।ग नहीं होता था किसी अवधारणा का उपयोग नही किया जा सकता तो सौंदर्यसंवाक्य की सार्वभौमिकता किसपर आधारित है? कांट की इस संबंध में मान्यताओं को समझने के लिए उसके "क्रिटिक ऑफ प्योअर रीजन" ग्रंथ के कुछ सिध्दांतों से परिचय आवश्यक है। इस ग्रंथ में कांट ने मानवीय ज्ञान के स्वरूप एवं उसकी सीमाओं की चर्चा की है। कांट की राय में मानवीय ज्ञान में दो घटक होते हैं:-

(1) इंद्रियों द्वारा दी गई संवेदनाएँ, (2) इन संवेदनाओं की व्यवस्था के लिए तथा उन्हे एकत्र करने के लिए लगनेवाली अनुभवपूर्वक सामग्री। इस सामग्री को अनुभवपूर्व कहने का कारण यही है कि वह अनुभवजन्य नहीं होती, वह अनुभव की नींव होती है, अनुभव या ज्ञान उसके बिना संभव नहीं होता। इस अनुभवपूर्व सामग्री के दो भाग कांट ने कल्पित किए हैं। काल एवं अवकाश का एक भाग कर उन्हें प्रातिभ ज्ञान के आकार (forms of intuition) नाम दिया है। पदार्थ (substance) कार्यकारणभाव (causality) इत्यादि अवधारणाओं का दूसरा गुट बनाकर उन्हे कोटी (categories)

नाम दिया है। अनुभवपूर्व एवं अनुभवजन्य दो घटकों का जब तक मिलन नहीं होता तब तक ज्ञान प्राप्त नहीं होता, कोटियों के सहारे से संवेदनाओं का संश्लेषण होने पर ही ज्ञान निष्पन्न होता है।

ज्ञानानुभव एवं सौंदर्यानुभव में एक मामले में साधर्म्य है। दोनों स्थानों पर संवेदनाओं को एकत्र किया जाता है। लेकिन ज्ञानानुभव में वह एकत्रीकरण उपर्युक्त कोटियों से तैयार किए नियमों की सहायता से होता है। सौंदर्यानुभव में यह संश्लेषण बिना नियमों तथा अवधारणाओं की सहायता के ही संपन्न होता है। संवेदनाओं की अनेकता में बिना विशिष्ट नियमों का उपयोग किए एकता स्थापित होने का अनुभव ही सौंदर्यानुभव है। कांट ने इसी मुद्दे को मन:शक्तियों के आधार से प्रस्तुत किया है। अनुभवपूर्व अवधारणाओं का उद्गम है अवधारणाशक्ति (understanding) और ऐंद्रिय घटकों का उद्गम संवेदनाशक्ति (sensibility)। इस संदर्भ में ही बोलना हो तो कल्पनाशक्ति के कारण संवेदनाएँ संचित की जाती हैं। इसलिए संवेदनाशक्ति के बदले हम कल्पनाशक्ति का निर्देश कर सकते हैं। अवधारणाशक्ति एवं संवेदनाशक्ति (या कल्पनाशक्ति) का अनुभवपूर्व नियमों की भाँति मेलन होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है और इसी ज्ञानशक्ति का ऐसे नियमों के अभाव में मेलन हो जाए तो सौंदर्यानुभव उत्पन्न होता है। सौंदर्यानुभव के समय की मन:स्थिति को कांट "ज्ञानशक्ति का मुक्त मेलन" (free play of cognitive faculties) कहता है। यह मेलन "मुक्त" इसलिए है कि अनुभव में अवधारणशक्ति के लिए आवश्यक एकता कल्पनाशक्ति द्वारा संचित संवेदनाओं की सामग्री में उत्स्फूर्त, निश्चित नियमों से बंधे हुए मेलन का झटितिप्रत्यय प्राप्त होता है। वह हमें संवेदना की तरह अवधारणाओं की सहायता के बिना ही प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। ज्ञान सार्वभौम होता है, क्योंकि ज्ञान प्रक्रिया में मानवों में, एक ही तरह के नियमों के द्वारा संवेदनाओं की व्यवस्था होती है। कांट का दावा यह है कि संवेदनाओं की नियम-रहित बुनावट होने पर भी उसकी चेतना सभी मानवों में समान रूप में ही होनी चाहिए।[8]

कांट के इस विवेचन से कुछ अड़चने पैदा होती हैं। हम उसका विचार करेंगे। कांट विविध ज्ञानशक्तियों का निर्देश करता है। क्या वह सचमुच कहना चाहता है कि ऐसी ज्ञानशक्तियाँ होती हैं? इसके लिए क्या प्रमाण है कि सचमुच ऐसी शक्तियाँ होती हैं? असल में ज्ञानशास्त्रीय (epistemological) विवेचन की सुविधा के लिए कल्पना करनी होती है कि ज्ञानशक्तियाँ होती हैं। ज्ञान का तार्किक विश्लेषण करने पर यह ध्यान में आता है कि उसमें अनुभवजन्य घटक की नींव है। "हेमलाक पीना मृत्यु का कारण होता है" यह अनुभवजन्य संवाक्य "हर घटना का कारण होता है", इस अनुभवपूर्व अवधारणा पर आधारित संवाक्य के बिना संभव नहीं है। संवेदनाओं की व्यवस्था कैसे की जाए तथा उनकी बुनावट किन नियमों के आधार से की जाए

कि जिसके फलस्वरूप ज्ञान प्राप्त होगा, यह हमें इन मूलभूत संवाक्यों से समझ में आता है। इन दो प्रकार के संवाक्यों के अथवा वस्तुस्थिति के ज्ञान के दो घटकों के दो अलग-अलग उत्स कल्पित किए जा सकते हैं। संवेदना एवं उन्हें एकत्र गुंफित करने वाले नियम दोनों बातें महत्त्वपूर्ण हैं। उनके बारे में बोलते समय सुविधा के लिए ज्ञानशक्तियों की भाषा का उपयोग चल सकता है। लेकिन ये शक्तियाँ स्वतंत्र अस्तित्ववान चीजें नहीं हैं। अगर ये अस्तित्व में होतीं तो दोनों का अलग-अलग विचार किया जा सकता था। उदाहरण के लिए शरीर में अवयव होते हैं एवं उनके विशिष्ट कार्य होते हैं। परंतु ऐसा नहीं कि इन कार्यों के बारे में बोलते समय केवल सुविधा के लिए ही हम अवयवों का निर्देश करते हैं। हृदय याने हृदय का कार्य ही नहीं, हृदय का अपना खास अलग अस्तित्व होता है। ज्ञानशक्ति के बारे में ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। संवेदना और उनको एकत्र करनेवाले नियम अगर नहीं होंगे तो "ज्ञान शक्तियाँ हैं और उनका मेलन होता है, "इस कथन का कोई मतलब नहीं रहता। हृदय अपना कार्य रोक भी दे तो भी एक अवयव के रूप में वह शरीर में रहता है। लेकिन नियमों के न रहते ज्ञानशक्तियो का मुक्त मेलन होता है, इस कथन का कोई अर्थ नही है।

दूसरी अड़चन यह है कि ज्ञानशक्तियों के मुक्त मेलन से जो अनुभव-सिध्द होता है, क्या उसे ज्ञानपूर्व (एवं ज्ञानपोषक) अनुभव माना जाए? यह सही है कि कांट ने अपने "प्रोलेगॉमिना टु एवरी फ्यूचर मैटाफिजिक्स" ग्रंथ के अठारहवें परिच्छेद में यह कहा है कि ऐसा ज्ञानपूर्व अनुभव भी संभव है कि जहाँ कोटियों का इस्तेमाल नहीं होता। लेकिन "क्रिटिक आव प्योअर रीजन" ग्रंथ में उसने ऐसा प्रतिपादित किया है कि यथार्थ का जो अनुभव प्राप्त होता है वह इन कोटियों के इस्तेमाल से ही। उसका सही अभिमत यही है कि कोटियाँ अनुभव की शक्यता-संभावना की नीवें हैं। "प्रोलेगामिना" पुस्तक तो ले-देकर उसने सामान्य पाठकों के लिए ही लिखी थी। अत: उसमें प्रकाशित अभिमत को "क्रिटिक ऑफ प्योअर रीजन" ग्रंथ में प्रकाशित मान्यताओ से अधिक महत्त्व देने का कोई कारण नहीं है। इससे यह स्पष्ट दिखता है कि सौंदर्यानुभव को ज्ञानपूर्व अनुभव नहीं माना जा सकता। दूसरी बात जो कांट सूचित करता है' वह यह है कि यह अनुभव ज्ञानानुभव का पोषक होता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। अगर वह ज्ञानानुभव का पोषक होता तो कलकारों एवं रसिकों को ज्ञानप्राप्ति कराना सुलभ हो गया होता। लेकिन ऐसा नहीं दिखता। सौंदर्यानुभव ज्ञानानुभव की किस्म का परंतु कुछ कम सुरेखित या कम स्पष्ट अनुभव नहीं होता। (किसी समय वुल्फ-बॉमगार्टन का यह विचार प्रचलित था कि सौंद्रर्य अस्पष्ट अवधारणा होती है लेकिन कांट को वह स्वीकार्य नहीं है।) असल में सौंदर्यानुभव अलग किस्म का अनुभव है। यहाँ ज्ञानविश्व एवं नीतिविश्व के नियम अथवा अवधारणाएँ प्रयुक्त नहीं होतीं।

इसका अर्थ यह नहीं कि इस अनुभव में किन्हीं अवधारणाओं का उपयोग नहीं होता। सौंदर्यानुभव में नियम अथवा अवधारणाएँ होती हैं, यह दूसरे अध्याय में हमने देखा है। उसका अधिक विवेचन आगे आ ही जाएगा।

4.6

(3) Beauty of the form of finality (purposiveness) in an object, so far as perceived in it apart from the representation of an end (purpose)[10]

[प्रयोजनरहित प्रयोजनपूर्णता (अथवा प्रयोजनपूर्णता का आकार) सौंदर्य है।]

प्रयोजनरहित प्रयोजनपूर्णता (purposiveness without purpose) यह कुछ चमत्कारिक-सी लगनेवाली अवधारणा कांट ने निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट की है–

किसी घटना की संगति देखने के लिए हम कार्यकारणभाव की अवधारणा का उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, सॉक्रेटिस की मृत्यु कैसे हुई? उसने हेमलाक को पी लिया, इस कारण से उसको मृत्यु हुई। हेमलाक पीना कारण है और मृत्यु कार्य। लेकिन मनुष्य की कृति की संगति लगाने के लिए एक और अवधारणा का उपयोग करना पड़ता है। वह अवधारणा है प्रयोजन। प्लेटो ने अकादमी की स्थापना क्यों की? उसे अपने दर्शन का प्रसार करना था। प्लेटो के प्रयोजन को जानने पर उसनै अकादमी की स्थापना क्यों की, यह ध्यान में आ जाता है। कालक्रम के अनुसार कारण (cause) कार्य (effect) के पहले आ जाता है। उलटे, जिसे साध्य करने का प्रयोजन मन में रखा वह कार्य के बाद आता है। सामान्यत: प्रयोजन की अवधारणा का उपयोग मानव की कृति की संगति लगाने के लिए किया जाता है। लेकिन कुछ दार्शनिकों की राय में प्रयोजन की अवधारणा को मानवेतर सृष्टि की संगति लगाने के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अरस्तू की राय ऐसी थी। उसने कारण के चार प्रकार कल्पित किए हैं : (1) उपादानकारण (material cause) (2) निमित्तकारण (efficient cause) (3) रूपकारण (formal cause) (4) प्रयोजनकारण (final formal cause)। मिट्टी के बर्तन के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। जिस कच्ची सामग्री से बर्तन बनाया जाता है, उसे उपादान कारण कहते हैं। बर्तन के बारे में मिट्टी उपादान कारण हुआ। मिट्टी से बर्तन तक जो स्थित्यंतर होते हैं, वे जिसके कारण होते हैं वह निमित्त कारण हैं। बर्तन के उदाहरण में कुम्हार एवं उसका कार्य निमित्तकारण होगा। कुम्हार के मन में बर्तन की अवधारणा के अभाव में बर्तन नहीं निर्मित होगा। इसीलिए बर्तन की अवधारणा बर्तन का रूपकारण है। इस संदर्भ में "रूप" का अर्थ होता है तत्त्व (essence)। कुम्हार की सारी कृतियाँ एक उद्देश्य से प्रेरित होती हैं। यह उद्देश्य है प्रयोजनकारण। सृष्टि की सजीव चीजों की भी ऐसी ही कारण-परंपरा दिखाई जा सकती है। बीज रोपने

पर वृक्ष उगते हैं, बढ़ते हैं। आम की गुठली से आम का ही वृक्ष उगता है। यह कैसे? हर जाति का विवक्षित सत्य होता है। वह उस जाति का, उसके वैशिष्ट्यों का रूपकारण कहा जा सकता है। इस जाति का हर व्यक्ति उस जाति के सत्त्व की अभिव्यंजना करने का प्रयास करता है। इसलिए अगर कोई यह पूछे कि आम का वृक्ष इस तरह क्यों बढ़ रहा है तो उसका उत्तर यह होगा कि उसे आम के सत्त्व की अभिव्यंजना करनी है, इसलिए वह ऐसे बढ़ रहा है। आम का वृक्ष आम का वृक्ष ही होता है। क्योंकि उसमें आम का सत्त्व रहता है और वह उस सत्त्व की अभिव्यंजना करता रहता है। ऐसे सत्त्व प्रकृति में होते हैं, और प्रकृति की हर वस्तु इन सत्त्वों की अभिव्यंजना करने का प्रयास करती रहती है। ये सत्त्व प्रकृति द्वारा निश्चित किए गए साध्य या प्रयोजन होते हैं। प्रकृति में वर्तमान प्रयोजनों के कारण ही प्राणिमात्र का जीवन विशिष्ट पद्धति से धारण होता रहता है। अपने दाँतों की रचना को ही लीजिए। आगेवाले दाँत तीक्ष्ण एवं पिछले सपाट क्यों? इसलिए कि आगेवाले दाँतों से खाद्य पदार्थों (उदा. फल) को तोड़ा जा सके और पिछले दाँतों से चर्वणा की जा सके। यह प्रकृति की योजना है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीवंत रहना आसान हो, इसलिए देह की प्रयोजनपूर्ण रचना हो गई है।

अब कांट का कथन यह है कि प्रयोजनपूर्ण रचना और प्रयोजन में अंतर किया जा सकता है। किसी वस्तु एवं कृति की रचना ही इस प्रकार होती है कि प्रयोजन का विचार मन में आ जाए। इसका अर्थ यह नहीं कि उस वस्तु या कृति का अस्तित्व निश्चित रूप में उस प्रयोजन पर निर्भर रहता है। लेकिन उस वस्तु का आकलन अगर हम सुगम ढंग से करना चाहते हैं तो प्रयोजन की अवधारणा का उपयोग निश्चय ही होता है। इस प्रकार प्रयोजन रहित प्रयोजनपूर्णता का बोध आनंदमय होता है।[12]

प्रयोजन-रहित प्रयोजनपूर्णता का उत्तम उदाहरण प्रकृति का सौंदर्य है। मान लीजिए कि हम एक फूल देख रहे हैं। उसके पंखुड़ियों की रचना ऐसी ही क्यों, यह प्रश्न पूछने पर अरस्तू उत्तर देगा कि उस वृक्ष का सत्त्व उसी पद्धति से अच्छे ढंग से व्यक्त होता है, इसलिए। अब क्षणभर के लिए कल्पना करें कि हमें वनस्पतिशास्त्र की जानकारी नहीं है। यह भी पता नहीं है कि वह फूल किस जात का है। ऐसी स्थिति में अगर हमें प्रतीत हुआ कि पँखुड़ियों में संगति है, तो मान लेना चाहिए कि सौंदर्यानुभव प्राप्त हुआ। क्योंकि इस एहसास में वह फूल विशिष्ट जाति का है और पँखुड़ियों का कार्य विशिष्ट प्रकार का है, इसमें अवधारणा का भाग ज़रा भी नहीं है। पँखुड़ियाँ अनेक हैं। इस अनेकता से एकता निर्मित करने के लिए ज्ञानक्षेत्र के किसी नियम एवं अवधारणा का कल्पना शक्ति ने उपयोग नहीं किया है। मतलब यह है कि अवधारणा की सहायता के बिना ही अनेकता में एकता प्रस्थापित हुई दिखती है। कांट के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि फूल के एहसास में दोनों ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन

हुआ है। जिस मन:शक्ति से अनेकता प्राप्त होती है वह संवेदनशक्ति (या कल्पनाशक्ति) और जिसके माध्यम से एकता का तत्त्व प्राप्त होता है वह अवधारणा शक्ति है। विशिष्ट नियमों के बिना इन शक्तियों का मेलन होता है तो कांट के अनुसार सौंदर्यानुभव प्राप्त होता है। अगर वनस्पतिशास्त्री ने यह बताया कि पँखुड़ियों की रचना ऐसी है कि उसके कारण पुंबीज और स्त्रीबीज एकत्र आने की प्रक्रिया सुलभ होती है, तो माना जा सकता है कि यहाँ ज्ञानशक्तियों का मेलन विशिष्ट अवधारणाओं की सहायता से हुआ। ऐसे समय हमें जो अनुभव प्राप्त होगा उसका स्वरूप ज्ञानात्मक होगा। एक ही वस्तु की रचना को दो ढंग से देखा जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से और सौंदर्यदृष्टि से। जब हम सौंदर्यदृष्टि से किसी वस्तु की ओर देखते हैं, तब वैज्ञानिक अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो जाती हैं। जो बात वैज्ञानिक अवधारणाओं की है, वही नैतिक अवधारणाओं की भी है। जिस वस्तु का सौंदर्य हम देखते हैं उसपर अन्य संदर्भों में ज्ञानक्षेत्र या नैतिक क्षेत्र की अवधारणाएँ लागू की जा सकती हैं। कांट इतना ही कहना चाहता है कि सौंदर्य के संदर्भ में अन्य अवधारणाएँ अप्रासंगिक हैं। सौंदर्यविश्व, ज्ञानविश्व और नैतिक विश्व से भिन्न है। या ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक ही विश्व के ये तीन स्वतंत्र एवं स्वायत्त अंग (aspects) हैं।[13]

कांट के विवेचन में रचनातत्त्व या रूपतत्त्व (Principle of form) को बहुत महत्त्व मिला है। उसकी राय में रंग, नाद, इत्यादि की रचना में सौंदर्य होता है, जिनकी रचना की जाती है उनमें सौंदर्य नहीं होता।[14] लेकिन इतना कहने भर से काम नहीं चलेगा; क्योंकि विश्व की हर वस्तु की कोई न कोई रचना होती ही है। अत: यह कहने की अपेक्षा कि "कांट रचनावादी है", यह कहना अधिक समीचीन होगा कि "कांट ने ऐसे रचनातत्त्व का समर्थन किया कि जो असुंदर वस्तु में प्राप्त नहीं होता।" केवल सुंदर वस्तु में ही दिखनेवाले इस रचनातत्त्व के बारे में वह केवल नकारात्मक भूमिका ग्रहण करता है। वह तत्त्व क्या नहीं है, यह तो वह बताता है। उसका मंतव्य है कि नैतिक क्षेत्र में एवं ज्ञान के क्षेत्र में जिन अवधारणाओं की सहायता से रचना निर्मित होती है वह अवधारणा सौंदर्य के क्षेत्र में प्रासंगिक नहीं ठहरती। उदाहरणार्थ उसकी राय में सुंदर वस्तुओं की अंतर्गत रचना प्रयोजनपूर्ण (purposive) एवं सेंद्रिय (organic) होती है। लेकिन किसी भी सेंद्रिय शरीर एवं प्रकृतिनिर्मित प्रयोजन की अवधारणा उसमें प्रयुक्त नहीं होती। सौंदर्य के विशिष्ट रचनातत्त्व के बारे में बोलते समय कांट 'नेति नेति' से आगे नहीं जाता।

कांट के इस विवेचन का रुख है कि सौंदर्य का विश्व स्वतंत्र एवं स्वायत्त है। सौंदर्यमूल्य की स्वायत्तता को दृढ़ता से प्रतिपादित करनेवाला कांट पहला दार्शनिक है। (कांट के सौंदर्यसिद्धांत का एक और आयाम है। उसका विचार हम बाद में करेंगे।)

4.7

The beautiful that which apart from a concept, is recognized as object of necessary delight."[15]

(किसी भी अवधारणा पर निर्भर न होते हुए भी सौंदर्य अपरिहार्य आनंद का विषय है।)

सौंदर्यानुभव की सार्वभौमिकता की चर्चा ऊपर आई है। सार्वभौमिकता के सिद्धात के पूरक अपरिहार्यता के सिद्धांत को कांट यहाँ उपस्थित कर रहा है। सौंदर्य के अवलोकन से होनेवाला आनंद हर व्यक्ति को होता ही है, ऐसा यह आनंद होता है। इतने पर भी उसमें किसी अवधारणा का स्थान नहीं होता। सौंदर्य-संवाक्य को अपरिहार्यता और ज्ञानात्मक एवं नीतिसंबंधी संवाक्यों की अपरिहार्यता के बीच भेद का भी यही कारण है। नियमों या अवधारणाओं के अभाव में अपरिहार्यता का दावा कैसे किया जा सकता है? इस पर कांट का कहना है कि सौंदर्य-संवाक्य ऐसे नियम का उदाहरण है कि जो नियमों में बाँधा नहीं जा सकता। अगर यह पूछा जाए कि यह नियम कौन-सा है तो अन्य नियमों की तरह उसे अमूर्त (abstract) रूप में प्रस्तुत करना असंभव होने के कारण जिस सुंदर वस्तु में उसका पालन किया जाता है उसी की ओर संकेत करना पड़ता है। अन्य क्षेत्रों के नियम अमूर्त रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसीलिए ज्ञानात्मक एवं नीतिविषयक अवधारणाओं की अपरिहार्यता निश्चित एवं अमूर्त रूप में शब्दांकित करने लायक नियमों की सर्वमान्यता पर आधारित होती है। सौंदर्य-संवाक्यों की अपरिहार्यता ऐसे नियमों की सर्वमान्यता पर आधारित होती है।[16] जो निश्चित, स्पष्ट, अमूर्त स्वरूप में प्रस्तुत नहीं किए जा सकते।

जिन तत्त्वों पर या नियमा पर ज्ञानात्मक संवाक्य निर्भर रहता है उन नियमों को वस्तुगतता (objectivity) प्राप्त हुई होती है। क्योंकि ये नियम यथार्थ की सहज बुनावट के ही नियम होते हैं, सौंदर्य-संवाक्य केवल ज्ञातृगत (Subjective) तत्त्व पर आधारित होता है। यह तत्त्व है, "निश्चित नियमों के बिना ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन।" यहाँ अवधारणाओं के न होने से इस मेलन का एहसास संवेदना के स्वरूप जैसा होता है। इस तत्त्व को कांट "सार्वजनीन संवेदनशक्ति" (common sense) नाम देता है। इस तरह की सार्वजनीन संवेदनशक्ति वर्तमान होती है इसीलिए सार्वजनीन या अपरिहार्य सौंदर्य-संवाक्य संभव होता है। सार्वजनीन संवेदनशक्ति विद्यमान होती है, यह सिद्ध करने के लिए कांट ने निम्नानुसार तर्क किया है। ज्ञानानुभव में दो ज्ञानशक्तियों का मेलन होता है। अगर ज्ञान को सार्वजनीनता प्राप्त होती है तो यह मान्य करना होगा कि ज्ञानशक्तियों के मेलन को सार्वजनीनता होती है। क्योंकि यह मेलन ज्ञान की एक आवश्यक ज्ञातृगत शर्त ही होती है। ज्ञानशक्तियों के ज्ञानद

मेलन में वे शक्तियाँ कितने अनुपात में होनी चाहिए, यह ज्ञानविषय पर निर्भर रहता है। लेकिन हम जान सकते हैं कि सामान्यत: वे किस अनुपात में होने पर एवं उनके परस्पर संबंध किस प्रकार के होने पर ज्ञान निष्पन्न होता है। यह एहसास या भान संवेदना-स्वरूप होता है। यह संवेदनास्वरूप भान सार्वजनीन होना चाहिए। संक्षेप में ज्ञान की सार्वजनीनता में ज्ञानशक्तियों के मेलन का सार्वजनीन भान अनुस्यूत होता है। और सौंदर्य-संवाक्य इसी भान पर आधारित होने के कारण उसे ज्ञानात्मक संवाक्य की सार्वजनीनता या अपरिहार्यता प्राप्त होती है।[17]

4.8

सौंदर्य-संवाक्य की सार्वजनीनता एवं अपरिहार्यता (necessity) सिद्ध करने के लिए कांट ने सौंदर्यानुभव को ज्ञानानुभव के निकट लाने का प्रयास किया। अत: उस पर टीका-टिप्पणी हुई कि उसका सिद्धांत बहुत बुद्धिनिष्ठ (intellectual)हुआ है। (उदाहरण के लिए, कैरट के "थिअरी ऑफ ब्यूटी" ग्रंथ में देखिए - कांट एवं कोलरिज प्रकरण)लेकिन चूँकि कांट को सौंदर्यानुभव की स्वायत्तता सिद्ध करनी थी, ज्ञानानुभव से सौंदर्यानुभव को अलग करना जरूरी हो गया था। उसने अंतर दिखाया है कि ज्ञानानुभव में अवधारणाओं का उपयोग होता है और सौंदर्यानुभव में अवधारणाओं का अभाव होता है। इसका सहज ही परिणाम यह है कि सौंदर्यानुभव में अवधारणाएँ अथवा नियम नहीं हैं तो निकष भी नहीं हैं। लेकिन कांट का यह अभिमत स्वीकार्य नहीं है। हमने दूसरे प्रकरण में देखा कि कलाकृतियों के संबंध में और अन्य सुंदर वस्तुओं के बारे में बोलते हुए हमें निकषों का उपयोग करना ही पड़ता है। कोई कलाकृति अच्छी या सुंदर है, ऐसा कहने पर वह अच्छी या सुंदर क्यों है, इसके कारण नहीं दिए जा सकते। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि हम मूल्यसंवाक्य की पुष्टि में कारण देते हैं। अगर कलाकृतियों के बारे में बुद्धि को ठीक लगनेवाले कारण देने हैं तो निकषों का अस्तित्व स्वीकार करना ही होता है।

अगर कांट का कहना यह होता कि सौंदर्यानुभव में ज्ञानात्मक अवधारणाओं का उपयोग नहीं होता तो एक सीमा तक उसका कहना सही है, यह मान्य किया जा सकता था। मान लें कि हम नक्काशी देख रहे हैं। यह तय है कि नक्काशी में कारण कार्य अगर अवधारणाओं का उपयोग नहीं होता। यह भी सही है कि कोई गायक राग का विस्तार करता है तब वह पदार्थ एवं गुणविशेष (substance an properties) या कार्यकारणभाव आदि अवधारणाओं का प्रयोग नहीं कर रहा होता। यह हुई अनुभवपूर्व अवधारणाओं की बात इसके अतिरिक्त हम अनुभवजन्य अवधारणाओं का ज्ञान भी व्यवहार में इस्तेमाल करते हैं। (उदाहरणार्थ मोर) लेकिन जिस कलाकृति में सृष्टि की किसी वस्तु की प्रतिकृति नहीं है, या जहाँ जीवन की चीजों के प्रतीक नहीं हैं, ऐसी कलाकृति में अनुभवजन्य अवधारणाएँ भी नहीं होंगी।

मान लीजिए कि चित्रकार मोर का चित्र बना रहा है। इस चित्र में मोर के लिए किन रंगों का प्रयोग किया जाए, यह मोर संबंधी अनुभवविषयक अवधारणा पर निर्भर रहेगा। लेकिन अगर मोर या सदृश किसी विशिष्ट वस्तु का चित्र नहीं बना रहा है तो किसी अनुभवजन्य अवधारणा का उस पर बंधन नहीं रहेगा। केवल रंग, रेखा आदि की संगति ही उसका साध्य होगा। इसका मतलब यह कि कुछ कलाप्रकारों में ज्ञानक्षेत्र की अनुभवपूर्व अथवा अनुभवजन्य अवधारणाएँ नहीं होतीं। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कलाकृति में किसी भी प्रकार की अवधारणा नहीं होती। जिन कलाकृतियों में जीवन की चीजों का चित्रण होता है, उनमें ज्ञानक्षेत्र की अवधारणाओं का इस्तेमाल होता है, यह स्पष्ट है। लेकिन जिन कलाकृतियों में ऐसा चित्रण नहीं होता उनमें भी अवधारणाएँ या नियम होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वे ज्ञानक्षेत्र की (या विज्ञान की) अवधारणाएँ नहीं होती। दूसरी बात यह है कि उन्हें प्राय: शब्दरूप नहीं दिया जाता। ऐसा नहीं कि उन्हें शब्दरूपों मे प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता। लेकिन ऐसा करने पर वे बहुत क्लिष्ट लगेंगी और उन्हें पूर्णत: व्यक्त करने में बहुत अधिक शाब्दिक विवेचन करना पड़ेगा। कलाकृतियों के स्वरूप का विश्लेषण करते समय और उनका मूल्यांकन करते समय विशिष्ट जगहों पर उँगली रख कर जब हम बोलने लगते हैं तब उन अवधारणाओं का अस्तित्व हमें प्रतीत होने लगता है। जब विदग्ध समीक्षक कहता है, "यह तान किस तरह सही जगह पर आई, वह मींड, यहाँ जरूरी नहीं थी इत्यादि" तब उन स्थानों का हमें एहसास होता है और यह भी ध्यान में आता है कि कलाकार कलाकृति की संरचना कैसे कर रहा है, उसके सामने कौन-से उद्देश्य हैं। यहाँ कलाकृतियों के प्रकारों (kinds) एवं कलाकारों की शैलियों का उल्लेख करना आवश्यक होता है। उसी तरह घराने एवं परंपरा का निर्देश करना भी आवश्यक होता है। हर कलाकृति सदैव किसी-न-किसी प्रकार की होती है, किसी-न-किसी शैली में या परंपरा में निर्मित होती है। व्यक्ति गाना सीखने लगता है तब उसे कहने की आवश्यकता नहीं होती कि "स्वरों की लययुक्त रचना करो।" अगर उसे ऐसा कहा जाए तो वह निश्चय ही गड़बड़ा जाएगा। उसे विशिष्ट राग सिखाया जाता है, उसमें वर्जित-अवर्जित बताया जाता है, उसका विस्तार कैसे करना चाहिए, यह भी बताया जाता है। साध्य क्या है, इसका एक बार पता लगने पर विशिष्ट जगह कैसे लेनी है इसका एहसास उसे होता ही है। यह सब प्रतीत होना ही उस राग की अवधारणा का आकलन होता है। राग की अवधारणा स्वभावत: वादग्रस्त अवधारणा है। क्योंकि हर घराने की रागविस्तार की पद्धति भिन्न होती है. हर समय का गाना (performance) अलग होने के कारण उस अवधारणा में लचीलापन रहता है एवं प्रयोगशीलता की गुजांइश होती है। फिर गायन की अवधारणा के अनेक आयाम रहते हैं। अत: अनेक निकषों का उपयोग करना पड़ता है। (उदाहरणार्थ, आवाज अच्छी

/ मधुर / भावपूर्ण होना, आवाज में फिरत होना, आवाज में कसावट होना, तैयारी अच्छी होना, बुद्धि-तेज होना, प्रयोग-शीलता होना इत्यादि)। सौंदर्यानुभव में प्रस्तुत अवधारणाएँ प्रत्यक्ष कला-परंपरा के साथ एकात्म होने के कारण उन्हें ज्ञानात्मक अवधारणाओं की भाँति संदर्भ से अलग कर संक्षेप में एवं ढंग से प्रस्तुत करना मुश्किल होता है। लेकिन इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि सौंदर्यानुभव में नियम, अवधारणाएँ, निकष ही नहीं होते।

हम सौंदर्य की अवधारणाओं के बारे में जो कह रहे हैं, वह शायद कांट को मान्य होगा। सौंदर्य-संवाक्य की अपरिहार्यता की चर्चा करते समय वह अवधारणाओं का अस्तित्व लगभग स्वीकार करता है, हमने ऊपर 4.7 में देखा। आगे चलकर कला संबंधी विचार करते समय भी वह इस बात का पुनरुच्चार करता है। लेकिन कांट की भूमिका और हमारी भूमिका में एक बात को लेकर फर्क है। कांट की राय में सौंदर्यानुभव में अनुस्यूत तत्त्व अनिर्वचनीय (incapable of formulation) होता है। वह निश्चित एवं अमूर्त रूप में (in abstract) प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। हम इस तत्त्व को अनिर्वचनीय नहीं मानते। हमारा कहना यही है कि यह तत्त्व निश्चित एवं अमूर्त रूप में प्रस्तुत करना हो तो खूब शाब्दिक विवेचन करना पड़ेगा और वह बहुत क्लिष्ट होगा। मूल्यमापनादि बातें करते समय जिसमें सौंदर्य का तत्त्व देहीभूत हुआ हो ऐसी कलाकृति का उपयोग करना आवश्यक है। यह हमने भी स्वीकार किया है। लेकिन उसके अलावा अमूर्त स्वरूप में शब्दांकित न हुए नियम होते ही नहीं ऐसा हम नहीं मानते।

4.9

कांट का सौंदर्य-सिद्धांत मुख्यत: रूपवादी (formalist) है। इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन कांट को सौंदर्य के संबंध में और भी कुछ कहना था। वह तत्त्व "रूपवाद" की सीमा में नहीं आ सकता था। उसने सौंदर्य की दो जातियाँ कल्पित की हैं (1) स्वायत्त सौंदर्य (free beauty) (2) परायत्त सौंदर्य (dependent beauty)। उपर्युक्त समस्त विवेचन स्वायत्त सौंदर्य के संदर्भ में आ जाता है। मेरी समझ में वह वहीं तक सीमित भी है।

कांट की राय में स्वायत्त एवं परायत्त सौंदर्य में महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि पहले में अवधारणाएँ नहीं होतीं तो दूसरी में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हम जिस वस्तु का सौंदर्य देख रहे हैं वह कैसी होनी चाहिए, इस बात की ओर ध्यान न देते हुए उससे अगर हमें अस्तित्व निरपेक्ष, सार्वभौमिक आनंद हुआ तो समझना चाहिए कि उस वस्तु में स्वायत्त सौंदर्य है। इसके विपरीत, परायत्त सौंदर्य में इस बात का एहसास महत्त्वपूर्ण होता है कि वह वस्तु कैसी होनी चाहिए और उसका परिपूर्ण स्वरूप क्या है।[18] फूल, अनेक जाति के पक्षी, बेलबूटी, नक्काशी, शब्दरहित संगीत ये सब

स्वायत्त सौंदर्य के नमूने हैं। परंतु घोड़ा अथवा तत्सम जानवर, देवालय, राजमहल, शस्त्रागार इत्यादि इमारतें --- इनका सौंदर्य परायत्त है। स्वयं मनुष्य का सौंदर्य परायत्त की कोटि में आता है। क्योंकि इन सबके बारे में विचार करते समय उनके पीछे के उद्देश्यों का (याने उनकी अवधारणाओं एवं तत्त्वों का) भान मन में रखना पड़ता है। इन उद्देश्यों के साथ उन वस्तुओं की परिपूर्णता (perfection) की अवधारणा भी मन में रहती है। कोई भी इमारत बनवाते समय वह कैसी दिखेगी इसी को सिर्फ महत्त्व देकर काम नहीं चलता। इसका भी महत्त्व होता है कि वह किस प्रकार की इमारत होती है। कोई भी फेरबदल सुझा सकते हैं। लेकिन वह इमारत अगर चर्च हो तो चर्च की अवधारणा मन में रखकर ही यह बदल करते हैं, अथवा नहीं, यह निश्चित करना पड़ता है।[19]

इस संदर्भ में कांट ने सौंदर्य के आदर्श के संबंध में (ideal of beauty) जो विवेचन किया है उसको भी ध्यान में लेना आवश्यक है। कांट का अभिप्राय पहले आया ही है कि स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, ऐसा तत्त्व सौंदर्य में नहीं होता। इसलिए सौंदर्य का निकष नहीं बताया जा सकता। परंतु उसका मानना है कि एक अलग जाति का अनुभवजन्य निकष हमें प्राप्त हो सकता है। कुछ वस्तुओं के सौंदर्य के बारे में सभी युगों के एवं सभी देशों के लोगों में एकमत दिखाई देता है। याने इन वस्तुओं के अवलोकन से इन सभी लोगों की ज्ञानशक्तियों में मुक्त मेलन घटित हुआ होता है। ऐसी वस्तुओं को नमूनों (models) का स्थान प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस नमूने के अनुकरण से अभिरुचि, पैदा होती है। अभिरुचि निसर्गदत्त शक्ति है। इसका अर्थ यह कि ऐसा नमूना प्रत्यक्ष मे नहीं होता जो सौंदर्य के तत्त्व का पूर्ण अभिव्यंजन करेगा। हर नमूने का मूल्यांकन आखिर में जिसके आधार पर करना है वह नमूना आदर्श के रूप में मन में ही रहता है। जिन्हें ऐंद्रिय जगत् में यथायोग्य देह नहीं प्राप्त होती ऐसी केवल बुद्धिजन्य अवधारणाओं में ही 'सौंदर्य का आदर्श नमूना' – यह अवधारणा परिगणित होती है। कांट ने अवधारणाओं के दो वर्ग कल्पित किये हैं : (1) अवधारणा शक्ति (understanding) से मिलनेवाली ज्ञानद अवधारणाएं, (2) केवल बुद्धि (reason) से प्राप्त एवं ज्ञानद न होनेवाली अवधारणाएँ। पहले वर्ग की अवधारणाएँ जगत् की संरचना के नियम हैं अतः उन्हें ऐंद्रिय जगत् में निश्चित स्थान होता है। लेकिन दूसरे वर्ग की अवधारणाओं को ऐंद्रिय जगत् में ऐसा स्थान नहीं होता। इन अवधारणाओं को कांट, ideas कहता है। जब ये अवधारणाएँ इंद्रियगोचर वस्तुओं में अभिव्यंजित होती हैं तब उनके आदर्श (ideal) उत्पन्न होते हैं। अर्थात् ये आदर्श, आदर्श के तौर पर ही रहते हैं क्योंकि किसी इंद्रियगोचर वस्तु में इनको यथायोग्य देह प्राप्त होना असंभव होता है। इन आदर्शों को ऐंद्रिय वस्तुओं में साकार करते रहने का हमारा सतत प्रयास चलता ही रहता

है।[20] अब फिर प्रश्न यह है कि सौंदर्य का आदर्श किस प्रकार के सौंदर्य में संभव है? स्वायत्त सौंदर्य के संदर्भ में ऐसा आदर्श असंभव है। क्योंकि यह आदर्श वहीं संभव है जहाँ केवल बुद्धिजन्य अवधारणाएँ होती हैं। स्वायत्त सौंदर्य में किसी प्रकार की अवधारणाएँ नहीं होतीं। स्वायत्त सौंदर्य की प्रयोजनपूर्णता प्रयोजनरहित होती है। अत: स्वायत्त सौंदर्य का आदर्श संभव नहीं होता। इसलिए फूल, सुंदर दृश्य आदि संदर्भों में आदर्श सौंदर्य की अवधारणा ही उचित नहीं है। सुंदर घर, सुंदर बगीचा आदि की रचना प्रयोजनों पर आधारित होने के कारण यह लग सकता है कि उनके बारे में आदर्श सौंदर्य संभव है। लेकिन कांट के मत में इन वस्तुओं के पीछे के प्रयोजनों एवं उनकी अवधारणाओं में मेल बैठेगा ही, ऐसा नहीं है। यह भी कहना पड़ता है कि इन प्रयोजनों की भी निश्चितता नहीं होती। सिर्फ मानव के प्रयोजनों को निश्चितता होती है, क्योंकि मानवीय प्रयोजनों का नियमन (नैतिक) बुद्धि से होता है। अत: केवल मनुष्य के संदर्भ में ही सौंदर्य का आदर्श एवं जाति तत्त्व की परिपूर्णता संभव है।[21]

यह आदर्श सौंदर्य कैसे पैदा होता है? मानवीय आत्मा के शिवतत्त्व का ऐंद्रिय प्रकटीकरण जहाँ दिखता है वहाँ इस आदर्श सौंदर्य का साक्षात्कार होता है। ऐसा प्रकटीकरण सिद्ध होने के लिए केवल बुद्धि की अवधारणाओं की ही नहीं, बल्कि प्रभावपूर्ण कल्पनाशक्ति की भी जरूरत होती है। इन दो चीजों के बिना शिवतत्त्व एवं उससे संबंधित प्रेम, पवित्रता, आत्मिक शक्ति, संतुलित वृत्ति इत्यादि गुणों की ऐंद्रिय अभिव्यंजना सिद्ध नहीं हो सकती।[22]

4.10

इसी संदर्भ में कांट के सिद्धांत का कि "सौंदर्य शिवतत्त्व का इंद्रियगोचर प्रतीक है (Beauty as the symbol of morality)" विचार करना आवश्यक होगा। अवधारणा और इंद्रियगोचर जगत् में आवश्यक संबंध है। अगर वह नहीं होता तो अवधारणाएँ वैध नहीं मानी जा सकतीं, वे व्याज अवधारणाएं एवं कोरी खोखली कल्पनाएँ सिद्ध होतीं। अवधारणाएँ एवं इंद्रियगोचर जगत् के बीच के संबंध अलग-अलग प्रकार के होते हैं। अवधारणा अगर अनुभवजन्य होगी तो उसके उदाहरण इंद्रियगोचर जगत् में दिखाई देंगे (उदाहरणार्थ, गोत्व -- सामनेवाली गाय)। अगर वह अवधारणा-शक्ति से प्राप्त एवं अनुभवपूर्व अवधारणा होगी तो उसका इंद्रियगोचर जगत् में उपयोजन (application) या अतिदेश (extension) के लिए कल्प (schema) की आवश्यकता होती है। और ऐसे कल्प होते हैं। लेकिन अगर वह केवल बुद्धि से प्राप्त हुई अवधारणा होगी तो उपरोल्लेखित दोनों तरह से उसका ऐंद्रिय जगत् से संबंध नहीं जुड़ता, क्योंकि उसका पूर्ण प्रकटीकरण जिसमें होगा ऐसी वस्तु ऐंद्रिय जगत् में होती ही नहीं। लेकिन ऐंद्रिय जगत् की वस्तुएँ ऐसी अवधारणाओं का सूचन अवश्य करती हैं। ऐसी सूचना करनेवाली बात को सूच्य अवधारणा का प्रतीक कहते

हैं। कोई भी प्रतीक केवल बुद्धि की अवधारणा की पूर्ण अभिव्यंजना नहीं कर सकता। लेकिन वह इस प्रकार की अवधारणा के स्वरूप का सूचन अवश्य करता है। प्रतीक एवं अवधारणा के बीच के कुछ साधर्म्य के कारण प्रतीक यह कार्य कर सकता है। इसलिए कांट प्रतीक (symbol) एवं चिह्न (mark) के बीच अंतर करता है। चिह्न एवं उसके द्वारा निर्दिष्ट अवधारणा के बीच किसी साधर्म्य की आवश्यकता नहीं होती।[23] अवधारणा एवं प्रतीक में जो साधर्म्य अभिप्रेत होता है, वह केवल उनकी रचना का साम्य होता है। इसलिए कांट ने दो उदाहरण दिए हैं। जहाँ राजा घटना के अनुसार राज्य करता है वहाँ राज्यपद्धति का प्रतीक जीवंत देह होती है, जहाँ राजा को मनमाना व्यवहार करने की सहूलियत होती है वहाँ राज्यपद्धति का प्रतीक निर्जीव यंत्र होता है। असल में यंत्र एवं उपर्युक्त दूसरे प्रकार की राज्यपद्धति में आशयात्मक समानता नहीं होती। उदाहरणार्थ, राज्य में राजा होता है, यंत्र में राजा नहीं होता, यंत्र चक्रों से बना हुआ होता है, राज्य चक्रों से बना हुआ नहीं होता। लेकिन इन दो चीजों की रचना एवं उनके घटकों के आपसी संबंधों के बीच साधर्म्य होता है इसलिए इन दोनों का एक ही तरह से विचार किया जा सकता है। दो चीजों में रचना का साधर्म्य हो और उनमें से एक चीज ऐंद्रिय एवं दूसरी मूर्त हो तो अमूर्त चीजों के बारे में विचार करते समय हम अनेक बार ऐंद्रिय चीजों का उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि दादाभाई नौरोजी ने स्वातंत्र्ययुद्ध का शंख फूँका। सौंदर्य शिव का प्रतीक है क्योंकि उनमें कुछ मामलों में ऐसा ही साधर्म्य है।[24] इसीलिए सुंदर वस्तुओं के बारे में बात करते समय हम शिव के संदर्भ में समीचीन विशेषणों का उपयोग करते है। हम चरागाहों को मुस्कुरानेवाले चरागाह कहते हैं, रंगों को सौम्य, निष्पाप कहते हैं, वृक्षों को या इमारतों को राजैश्वर्य एवं धीरादात्तता प्रदान करते हैं. इस तरह अभिरुचि के कारण हम संवेदनासुख की सीढ़ी से शिवत्व की सीढ़ी तक पहुँच सकते हैं।[25]

कांट ने "क्रिटिक ऑफ जजमेंट" ग्रंथ में सौंदर्य के साथ विराटता (the sublime) एवं कलास्वरूप का भी विचार किया है। हम यहाँ उसके कलास्वरूप संबंधी विचारों का संक्षेप मे परिचय प्राप्त करेंगे।

4.11

कला एवं प्रकृति में अंतर यह है कि कला मानवीय रचना (making) होती है, तो प्रकृति के सौंदर्य में मानवी रचना का हिस्सा नहीं होता। प्रकृति में घटनाएँ घटित होती हैं। कलाकृतियाँ रची जाती हैं मन में उत्पन्न अवधारणा के अनुसार। जहाँ सजगतापूर्वक रचनाएँ रची जाती हैं वहीं कला संभव बनती है। इसलिए केवल प्राकृतिक प्रेरणा से छत्ता निर्मित करनेवाली मधुमक्खियों की कृति को कला नहीं कहा जाएगा।[26] कला एवं हस्तोद्योग (handicraft) में भी अंतर है। कलाकृति का निर्मिति की क्रिया स्वभावतः आनंददायी होती है, उसका स्वरूप क्रीडा जैसा होता

है। उल्टे, हस्तोद्योग एक काम होता है, उसमें हम रस लेते हैं तो इसलिए कि उससे हमारी कोई इच्छा पूर्ण होती है। कलाकृति को निर्माण करते समय तकनीक का उपयोग एवं पसीना बहाना समाविष्ट है, क्योंकि यद्यपि कला की आत्मा तकनीक एवं शारीरिक श्रम से मुक्त होती है फिर भी तकनीक को आत्मसात किए बिना कला का शरीर निर्मित नहीं होता।[27] केवल विशिष्ट अवधारणा को मन में रख कर जो कृति की जाती है उसे यांत्रिक कला (mechanical art) कहा जाता है। लेकिन केवल आनंद देने के लिए अगर कुछ निर्मित किया जाता है तो उसे अनंदजनक कला कहना चाहिए। केवल संवेदना सुख ही साध्य हो तो रोचक कला का (agreeable art) निर्माण होगा। उदाहरणार्थ भोजन का आयोजन अधिक रोचक बने इसलिए स्वादपरक पदार्थ, गपशप, हास्यविनोद इत्यादि की योजना की जाती है। ललित कला (fine art) में सुख होता है, लेकिन वह केवल संवेदनसुख नहीं होता। ज्ञान शक्ति को प्रेरणा मिले ऐसा कुछ उसमें होता है।[28]

ललित कला अगर कला है और उसे मानव ने रचा है तो उसमें प्रयोजन होगा ही और कलाकृति की रचना सप्रयोजन होती है, इतना ही नहीं वह सोद्देश्य ही वैसे रची जाती है। सृष्टि की सभी सजीव वस्तुओं की सप्रयोजन रचना प्रकृति के प्रयोजनों पर ही निर्भर रहती है। मानव द्वारा निर्मित वस्तुओं की सप्रयोजन रचना मानव मन के प्रयोजन पर निर्भर होती है। कलाकार जान-बूझकर ही कुछ निश्चित निर्मित करता है। लेकिन कला को अगर सुंदर होना है तो उसकी रचना प्रयोजन रहित दिखनी चाहिए.[29] यह एक पेंच ही है : कला है तो प्रयोजन चाहिए और ललित कला है तो प्रयोजन नहीं चाहिए। अवधारणा तथा नियम के बिना कला असंभव लेकिन अगर अवधारणा और नियम का उपयोग हुआ तो ललित कला असंभव। इस पेंच को हल करने के हेतु कांट ने "प्रतिभा" अवधारणा का उपयोग किया है वह कहता है। "ललित कला प्रतिभाजन्य कला है।"[30] यह सही है कि ललित कला में नियमितता होती है। लेकिन उसका निर्माण करते समय कोई निश्चित संरचना का नियम मन के सामने होने की आवश्यकता नहीं है। प्रतिभासंपन्न मनुष्य की मन:शक्तियों में कुछ ऐसा समन्वय मौजूद रहता है कि उसमें से अपने आप ही कलाकृति की संरचना का नियम बनता रहता है। यहाँ कांट ने सूचित किया है कि ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन अभिप्रेत होने के कारण नियमितता रहती है, लेकिन निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता, प्रतिभा एक ऐसी प्राकृतिक शक्ति होती है कि जिसके कारण नियमरहित लेकिन नियमित निर्मिति संभव बनती है। प्रतिभा की अवधारणा में नवीनता (originality) का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। इस विवेचन से 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा' का स्मरण होता है। लेकिन केवल नवीनता से काम नहीं चलता; क्योंकि मूर्खता से भी अनोखी चीजें पैदा हो सकती हैं। नवीनता मूल्ययुक्त होनी चाहिए। इसलिए कांट का

कहना है कि प्रतिभावान व्यक्ति के द्वारा किए गए नवनिर्माण से अन्यों को आदर्श मिलना चाहिए।[31]

कला सौंदर्य का प्रतिभाजन्य नियम कलाकृति में ही देहीभूत रहता है। उसे कलाकृति से अलग कर फार्मूले की भाँति प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अगर उसे वैसे प्रस्तुत किया जा सकता तो उसे निश्चित अवधारणा का रूप मिलता। प्रतिभाजन्य नियम को देहीभूत करनेवाली कलाकृति का अनुकरण (imitation)करने से नूतननिर्मित करना संभव नहीं होता। लेकिन कलाकृति के निर्देशन में या उससे प्रेरणा ग्रहण कर नवनिर्माण कर सकते हैं। कला के क्षेत्र में अमूर्त नियम नहीं होते, यहाँ कलाकृति में देहीभूत नियम ही होते हैं। इसलिए कांट का मानना है कि कला की परंपरा को विशिष्ट कलाकृतियों के कारण ही सातत्य प्राप्त होता है।[32]

प्रतिभाजन्य रचना में नियमरहित नियमितता के कारण उसके निर्माणकर्ता के लिए भी उसके नियमों को बुध्दिगम्य भाषा में प्रस्तुत करना संभव नहीं होता। ऐसा होने के कारण कांट के विचार से विज्ञान एवं ललित कला में एक महत्त्वपूर्ण भेद पैदा होता है। विज्ञान की नियमबध्दता, उसकी अभिव्यंजना की पध्दति इत्यादि बातें सार्वजनिक ज्ञान के विषय होते हैं। एक के द्वारा किया हुआ प्रयोग दूसरा कोई भी कर सकता है। विशिष्ट पध्दति का इस्तेमाल कर अन्य लोग भी उसे सिध्द कर सकते हैं। नए आविष्कार करनेवाला वैज्ञानिक उस आविष्कार तक पहुँचने का एक राजमार्ग तैयार करता है। उस मार्ग से कोई भी जा सकता है। लेकिन कला की बात अलग है। "इलियड़" जैसा महाकाव्य पढ़कर हम महाकाव्य नहीं रच सकते। कलानिर्मिति सीखकर सिध्द होनेवाली बात ही नहीं है।[33] प्रतिभा ईश्वरीय देन है। प्रतिभासाधन अशक्य है परंतु कला-निर्मिति मे अपरिहार्य तकनीक अवश्य सीखी जा सकती है और अभ्यास से उसका प्रयोग भी हो सकता है। अत: इस तथ्य से इन्कार नहीं करना चाहिए कि कला निर्माण में अभ्यास का हिस्सा भी है।[34]

इस विवेचन के संबंध में तीन चीजें ध्यान में रखनी होंगी। यह वाद का सनातन विषय है कि कला निर्माणक्षमता किसपर निर्भर है-------अभ्यास पर या प्रकृति-कृपा पर। रेनेसाँ के बाद यह वाद योरप में जोर पर था। कांट ने अभ्यास और प्रकृति -- कृपा दोनों को महत्त्व दे कर मानो इस वाद पर परदा डाल दिया। दूसरी बात यह कि कलाकारों का गौरव करते हुए कांट ने वैज्ञानिकों पर बहुत बड़ा अन्याय किया है। कांट भूल गया कि विज्ञान में भी प्रतिभा आवश्यक है। प्रयोगशाला में दैनिक काम करने के लिए शायद केवल शारीरिक परिश्रम पर्याप्त हो सकते हैं। लेकिन विज्ञान में समय-समय पर जो क्रांति होती है वह इस शारीरिक परिश्रम से निश्चय ही नहीं, टुल्मिन ने जिन्हें प्रकृति-व्यवस्था के आदर्श [35] कहा है, उनकी सूझ के लिए प्रतिभा ही आवश्यक होती है। न्यूटन ने जो वस्तु सिध्द की वही उसकी पध्दति का इस्तेमाल

कर हम भी सिध्द कर सकते हैं। लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उससे कोई नई चीज सिध्द करने की क्षमता हम में पैदा होगी। न्यूटन को पढ कर आइन्स्टाइन पैदा नहीं होता। प्रतिभा कला-संसार तक सीमित नहीं है। समस्त मानवी जीवन का वह एक आवश्यक अंग है। जहाँ नवनिर्माण है, वहाँ प्रतिभा है।

तीसरे मुद्दे की अधिक विस्तृत चर्चा होनी चाहिए। मुझे लगता है कि कांट ने एक ओर प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा तथा दूसरी और अभ्यास एवं अनुकरण को रखकर जो विभाजन किया वह समीचीन नहीं है। सौंदर्य के निकषों का विचार करते हुए हमने देखा कि हर कलाकृति अन्य कलाकृतियों से कुछ भिन्न हो यह सबकी सही अपेक्षा रहती है। कला अवधारणा की अंतर्गत विविधता को ध्यान में रखने पर इस अपेक्षा की पूर्ति कैसे संभव है, यह समझ में आता है, इनमें कांट के कथन की भाँति तात्त्विक अंतर नहीं होता। जब कोई नया कलाकार किसी श्रेष्ठ कलाकार के निर्देशन में कुछ सीखता है तब वह ऐसा कुछ नहीं सीखता कि जिसका यांत्रिक ढंग से इस्तेमाल किया जा सके। उसके हाथ में जो आता है वह जीवंत तत्त्व ही होता है। या यह भी कहा जा सकता है कि सभी शिक्षण का मूलतत्त्व जीवंत ही होता है। हम कब कहते हैं कि कोई व्यक्ति नई चीज, नया तत्त्व, नया तकनीक सीख गया? जब वह उस नए तकनीक या तत्त्व को विभिन्न संदर्भो में इस्तेमाल करता है। गणित का शिक्षक किसी रीति को समझाते समय कुछ ऊदाहरणों को हल करता है। लेकिन विद्यार्थियों को अगर अन्य उदाहरणों को हल करने में सफलता नहीं मिली तो हम कहते हैं कि वे ऊस रीति को ढंग से समझ नहीं पाये। शिक्षक के द्वारा अनिर्दिष्टित संदर्भ में अगर कोई तत्त्व हम प्रयुक्त नहीं कर सके तो उसका अर्थ यह कि वह हम समझ नहीं पाए। सीखने की अवधारणा में ही सर्जनक्षमता और प्रयोगशीलता अंतर्भूत है। इसलिए सुव्यवस्थित शिक्षण प्राप्त मनुष्य आत्मसात की हुई परंपरा में योगदान कर सकता है। कलाकार नई कलाकृति निर्मित करता ही है, लेकिन साथ ही परंपरा एवं घराने के साथ ईमान भी रखता है। परंपरा के प्रति निष्ठावान रहने का मतलब यह नहीं कि निर्बुध्द नियम-पालन किया जाए; क्योंकि जिस परंपरा के प्रति निष्ठा रखनी है या जिस गुण का गंडा बाँधना है उन्हीं में बहुत कुछ अंतर्गत विविधता एवं निर्मितिक्षमता होती है। अत: यांत्रिक ढंग से इस्तमाल में लाया जा सके, ऐसा नियम उसमें से निकालना संभव नहीं है। अगर कोई ऐसा नियम निकाले तो उसकी हँसी होगी। सामान्य व्यवहार, बोलचाल, बरताव इत्यादि अनगिनत कृतियों में शिक्षा का बड़ा हिस्सा रहता है। लेकिन अंध अनुकरण एवं यांत्रिकता के पैदा होने पर वह हास्यास्पद हो जाता है। कला के या नीति के क्षेत्र में अथवा जहाँ मानवीय मन है, ऐसे हर व्यवहार में सीखने का मतलब साँचेबंद तकनीक को आत्मसात करना नहीं है। इस सीखने में सर्जनशीलता होती है। इसीलिए साधना या प्रतिभा को अलग नहीं किया जा सकता।[36]

प्रतिभा के संबंध में कांट आगे चलकर कहता है कि जीवंतता (soul) उसका प्रमुख घटक होता है। इस घटक के कारण मन का प्रचोदन होता है। इस घटक का प्रमुख कार्य होता है ऐसी प्रतिमाएँ निर्मित करना कि जिनके कारण अनेक विचार एवं कल्पनाएँ स्फुरित हों, अर्थात् ये विचार निश्चित अवधारणाओं जैसे नहीं होंगे। इन प्रतिमाओं या कल्पना-चित्रों को कांट (aesthetic ideas) कहता है।[37] विचार-कल्पनाओं को कोरमकोर अवधारणाओं की सीमाओं में नहीं बिठाया जा सकता प्रतिभा के कारण दूसरी सृष्टि निर्मित की जा सकती है।[38] इंद्रियगोचर न होनेवाली स्वर्ग, नरक, अनंत, विश्वोत्पत्ति इत्यादि केवल बुध्दिजन्य अवधारणाओं का संकेत किया जा सकता है, मृत्यु, प्रेम इत्यादि को सामान्य से अधिक स्पष्टता एवं ठोस रूप दिया जा सकता है।[39] इस विचारघन के कारण हम अवधारणाओं की सामान्य कक्षाओं को लाँघ सकते हैं। हमारी ज्ञानशक्ति का एक अलग अनोखा प्रचोदन प्रारंभ होता है।[40] अर्थात् इस प्रक्रिया में कल्पना असीम, उन्मुक्त नहीं होती। अवधारणा शक्ति के सहयोग से ही वह काम करती है। इसलिए ही उसमें नियमितता आती है। फिर इस असीम कल्पनावैभव को गोचर स्वरूप देने का प्रयत्न भी करना होता है। जिसे कांट "जीवंतता" कहता है, उसी का यह कार्य होता है।

कांट का सौंदर्यविचार दो स्तरीय है। लेकिन बहुत बार कांट ने स्वायत्त सौंदर्य के संबंध में जो लिखा है उसीको उसके सौंदर्य- विचार के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है। इसका एक कारण यह है कि कांट ऐसा विद्वान था कि जिसने पहली बार सौंदर्यानुभव के विश्व की स्वायत्तता का विचार इतने तार्किक ढंग से और जोरदार रूप में प्रस्तुत किया। कांट के परवर्ती समीक्षकों एवं सौंदर्यशास्त्रियों पर उसके सिध्दांतों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसीलिए कांट के स्वायत्त सौंदर्यविषयक विवेचन को स्वाभाविक रूप में इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। इस विवेचन के संदर्भ में कांट रचनावादी या रूपवादी भूमिका ग्रहण करता है। स्वायत्त सौंदर्य से संयुक्त वस्तु को वास्तव जगत् की वस्तुओं की भाँति सत्ताशास्त्रीय स्थान (ontological status) नही होता। इसलिए ऐसा स्थान प्राप्त करनेवाली वस्तुओं से हमारे जो लौकिक संबंध स्थपित होते हैं उन्हें यहाँ स्थान नहीं होता। फिर स्वायत्त सौंदर्य के अनुभव में अवधारणओं का स्थान नहीं होता। उसी तरह संवेदनासुख का भी स्थान नहीं होता। इसलिए सौंदर्यानुभव का लौकिक अनुभव से नाता नहीं हो सकता। यहाँ रसिक की भूमिका तटस्थ अवलोकन की ही होती है। स्वायत्त सौंदर्य का अनुभव नियम-रहित नियमितता का, प्रयोजन-रहित प्रयोजन पूर्णता का सुखमय झटितिप्रत्यय होता है। कांट ने स्वायत्त सौंदर्य के साथ परायत्त सौंदर्य का सिध्दांत भी प्रस्तुत किया है। इस सौंदर्य में अवधारणाओं का स्थान होता है। चूँकि यहाँ ज्ञानात्मक एवं नैतिक दोनों प्रकार की अवधारणाओं का प्रयोजन होता है, सौंदर्य का लौकिक जीवन से विच्छेद नहीं होता। आदर्श-सौंदर्य में मानव

के ह्यदय की नैतिकता एवं उससे संबंध्द गुणों का ऐंद्रिय प्रकटीकरण होता है। उसी तरह इस्थेटिक आइड़िया के बारे में बात करते हुए कांट ने विचाररस पर बल दिया है। उस से ऐसा लगता है कि परायत्त सौंदर्य मानवीय मन की अवधारणओं, विचारों, कल्पनाओं, वृत्तिप्रवृत्तियों, भावनाओं का ऐंद्रिय प्रकटीकरण है। जिन लौकिक अनुभवों का स्वायत्त सौंदर्य में निषेध होता है वे परायत्त सौंदर्य में प्रासंगिक बन जाते हैं। अभिव्यंजनावादियों की यही भूमिका होने के कारण कांट को अभिव्यंजना वाद का जनक कहा जा सकता है। कांट ने सौंदर्य के दो प्रकार दर्शाए हैं। लेकिन उसने यह नहीं कहा कि उनमें से कोई एक दूसरे से श्रेष्ठ है। परायत्त अभिव्यंजनात्मक सौंदर्य को स्वायत्त सौंदर्य की अपेक्षा ऊपर का दर्जा विश्वचैतन्यवादियों ने दिया। अगला प्रश्न यह है कि इन दो प्रकार के सौंदर्यो में साम्यभेद क्या है? क्या दोनों के संदर्भ में रसिक की भूमिका तटस्थ अवलोकन की ही होती है? स्वायत्त सौंदर्य में सत्य एवं शिव के प्रश्न उत्पन्न होने की शक्यता नहीं है। लेकिन परायत्त सौंदर्य में इन प्रश्नों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्या ये प्रश्न अप्रासंगिक माने जाएँ? कांट ने कहीं भी स्पष्टत: इस शंका का निराकरण नहीं किया। उसके लिए हमें बाद में आने वाले अभिव्यंजनावादियों की ओर मुड़ना होगा।

कांट के सिध्दांत का इतना विस्तार से विवेचन करने का कारण यह है कि कांट न केवल अभिव्यंजनावाद का जनक था-, अपितु दो सौ वर्ष में प्रचलित अनेक सौंदर्य-सिध्दांन्तों का जनकत्व भी उसे प्राप्त है। दर्शन के क्षेत्र में प्लेटो का महत्त्व विशद करते हुए एक दार्शनिक ने यह कहा है कि पिछले दो हजार वर्षों की पश्चिमी तत्त्वप्रणाली प्लेटो के दर्शन पर लिखी पादटिप्पणियाँ हैं। कांट के सौंदर्य सिध्दांतों के बारे में यही कहा जा सकता है। एक ओर उसने केवल रूपवाद को संजोया तो दूसरी ओर अभिव्यंजनावाद का भी निर्माण किया। इस तरह उसका प्रभाव बेल, फ्राय, आज्बर्न इत्यादि रूपवादियों पर भी दृष्टिगोचर होता है और उसके अभिव्यंजनावाद का प्रभाव हीगेल, बोरांके, बैड्ली, क्रोचे, कालिंगवुड, कैरिट, राडर, अलेग्जांडर आदि पर भी पड़ा। कला मूल्यों की स्वायत्तता के सिध्दांत को आज सर्वमान्यता प्राप्त हुई दिखती है। यह सिध्दांत भी कांट का ही है। मन:शक्तियों के मेलन का, संतुलन का सिध्दांत शेलिंग, कोलरिज, रिचर्ड्स में विभिन्न रूपों में देखने को मिलता है। किसी भी सौंदर्य-सिध्दोत को लीजिए उस पर कांट के विचारों की छाप है। अन्यथा वह कांट के विचारों का विरोध करने को कटिबध्द होगा। कांट के विचारों को ध्यान में लिए बगैर सौंदर्यशास्त्र पर लिखना असंभव है, इतना कांट के सौंदर्य-सिध्दांत का महत्त्व है।

□□

अध्याय 5

अभिव्यंजना वाद : दो : हीगेल से कॉलिंगवुड

5.1

पिछले अध्याय के अंत में हमने देखा कि कांट की सौंदर्य-मीमांसा से अनेक सौंदर्यसिध्दांत एवं वैचारिक परंपराएँ उदित हुई। उनमें से अभिव्यंजनावादी सौंदर्य-सिध्दांत का परिचय इस अध्याय में प्राप्त करना है। यद्यपि इसकी जड़ें कांट में हैं तथापि उसकी परिपुष्टि विश्वचैतन्यवादियों या केवलचिद्वादियों (absolute-idealists) ने की। उनकी अतिभौतिकीय भूमिका कांट की भूमिका से अलग थी। इस भेद की जानकारी आवश्यक है।

कांट सौंदर्यानुभव की ओर मुड़ा, क्योंकि उसे लग रहा था कि कार्यकारणादि अवधारणाओं से सिद्ध प्राकृतिक सृष्टि एवं मानवीय इच्छाशक्ति के स्वातंत्र्य पर आधारित नीति-जगत् इनके बीच की कड़ी इस अनुभव में मिलेगी। मनुष्य इस धारणा से व्यवहार करता है कि इंद्रियगोचर सृष्टि मनुष्य की बौद्धिक एवं नैतिक अवश्यकताओं की परिपूर्ति के लिए ही रची गई है। इसका कारण यह है कि उसकी बौद्धिक एवं नैतिक आकांक्षाएँ इंद्रियगोचर सृष्टि के द्वारा अंशत: क्यों न हों लेकिन पूर्ण होती हैं। अनुभवजन्य सृष्टिनियमों की समष्टि उत्पन्न करने की आकांक्षा मानवी बुद्धि को होती है। ऐसी समष्टि निर्मित करने की आकांक्षा में वैज्ञानिकों को कुछ अनुपात में सफलता प्राप्त हुई है। इसलिए हमारा विश्वास बनता है कि सृष्टि के मूल में वर्तमान परमतत्त्व हमारी बौद्धिक आकांक्षाओं को सफल करने के लिए अनुकूल है। प्रकृति की अनेक वस्तुओं को देखते समय भी हमें लगता है कि वे हमारी ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन बनाने के लिए ही मानो पैदा हुई हैं। लेकिन यह सब होने पर भी प्रकृति के मूल में वर्तमान परमतत्त्व के द्वारा सृष्टि की रचना इसी प्रयोजन से की है, यह कहने का हमें अधिकार नहीं है। मनुष्य के ज्ञान की कक्षा इंद्रियगोचर सृष्टि एवं वह सिद्ध करने के लिए आवश्यक अवधारणाओं तक ही सीमित है। उसके परे जाकर कुछ भी बोलने का अधिकार मनुष्य को नहीं है। यह निर्णय कि "परमतत्त्व ने मनुष्य की बुद्धि के लिए अनुकूल सृष्टि की रचना हेतुत: की है", सही अर्थ में ज्ञानात्मक निर्णय ही नहीं है क्योंकि वह इंद्रियगोचर सृष्टि की सीमा के बाहर की वस्तुओं के बारे में निर्णय है। सृष्टि में प्रयोजन होते हैं, यह हमें अपनी सुविधा के लिए ही स्वीकारना है, उसे वस्तुस्थिति का आधार नहीं है। इसलिए प्रयोजन की अवधारणा पर आधारित कांट का सौंदर्य ज्ञातृसापेक्ष (subjective) सिद्धांत है।

विश्वचैतन्यवादियों ने कांट के सिद्धांत को बुद्धिसम्मत प्रथम सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया। लेकिन अपनी अतिभौतिकीय तत्त्वप्रणाली के अनुकूल उस सिद्धांत में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किया। मानवीय ज्ञान की कक्षा के परे वर्तमान कोई मूलतत्त्व सृष्टि के मूल में है, इस कांट के अभिमत का उन्होंने त्याग किया। उन्होंने यह मत प्रस्तुत किया है कि समस्त विश्व एक ही चैतन्य की अभिव्यक्ति (अभिव्यंजना) है। यह विश्वचैतन्य अलग-अलग रूपों में समस्त चराचर सृष्टि में संचरित रहता है। उसका सर्वाधिक पूर्ण प्रकटीकरण आत्मरूप का भान रखनेवाले मानवीय मन में होता है। लेकिन जिसे हम जड़ सृष्टि कहते हैं उसमें भी वह चैतन्य तत्त्व वर्तमान होता है। जहाँ-जहाँ नियमितता (ralionality) है वहाँ-वहाँ इस चैतन्य की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। सृष्टि एक नियमित समष्टि है अत: अनुभवजन्य सृष्टिनियमों की एक नियमित समष्टि उत्पन्न करने की मानवीय आकांक्षा फलित होती है, इसमें संदेह नहीं। सृष्टि एक समष्टि है। वह केवल हमारी संतुष्टि के लिए मानने की बात न होकर समष्टि की अवधारणा को यथार्थ में आधार है। जिस वस्तु के अवलोकन से हमारी ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन घटित होता है, उस वस्तु में ही "अनेकता में एकता" का तत्त्व सन्निहित रहता है। हमारी सार्वजनीन परितृप्ति का विषय होना सृष्टि का स्वभाव है। जहाँ अनेकता में एकता है, विशेषत: सेंद्रिय एकता है, वहाँ परमचैतन्य का प्रकटीकरण दिखता है। आत्मरूप का भान जिस मानवीय मन में है उसमें परमतत्त्व का एक प्रकटीकरण देखने में आता तो सुंदर वस्तु में उसी परमतत्त्व का अलग प्रकटीकरण देखने में आता है। कांट की राय में सौंदर्यानुभव का परितोष सार्वभौम एवं अपरिहार्य होता है, लेकिन वह सार्वभौमता मानवीय मन पर आधारित होकर वस्तुस्थिति मे उसे कोई आधार नहीं होता। विश्वचैतन्यवादियों ने सौंदर्यानुभव के परितोष के लिए वास्तव सृष्टि में आधार ढूँढा। बोसांके की राय में जिसको सार्वभौमता (universality) या अपरिहार्यता (necessity) प्राप्त है, वह वस्तुगत (objective) ही है। कांट ने सौंदर्य को केवल ज्ञातृसापेक्ष (subjective) माना था। लेकिन विश्वचैतन्यवादियों ने प्रतिपादित किया कि सौंदर्य ज्ञातृसापेक्ष होने पर भी सौंदर्यानुभव के परिपोष की सार्वभौमता एवं अपरिहार्यता के कारण वह केवल ज्ञातृसापेक्ष नहीं रहता।

5.2

ऊपर दिखाया ही है कि मानव जीवन के अलग अलग क्षेत्र में विश्वचैतन्य की अलग-अलग अभिव्यंजना देखने को मिलती है। विज्ञान के क्षेत्र में वह सत्य के रूप में प्राप्त होती है। व्यवहार के क्षेत्र में शिवरूप में, संवेदना एवं भावना के क्षेत्र में सौंदर्य के रूप में प्रतीत होती है। इन बदलते स्वरूपों की भाँति हमारी मनोभूमिकाएँ भी बदलती हैं। कलास्वाद एवं सौंदर्यग्रहण में अपनी भूमिका क्रियाशीलता या जिज्ञासा की नहीं

होती। कोई वस्तु अपनी इच्छा का विषय होती है तो उसका मूल स्वातंत्र्य हम हड़प लेते हैं। और अपनी इच्छापूर्ति के लिए उसे इस्तेमाल करते हैं। अगर वह हमारे ज्ञान का विषय बनती है तो हम उसका व्यक्तितत्त्व नष्ट कर उसे किसी नियम के अंतर्गत लाते हैं। लेकिन कलास्वाद के अवसर पर हम कलावस्तु को न इच्छापूर्ति के लिए इस्तेमाल में लाते हैं, न उसका व्यक्तितत्त्व हड़प लेते हैं। कलावस्तु का हम तटस्थतापूर्वक अवलोकन करते हैं। कला नीति अथवा सत्य की दासी नहीं, उसका अपना खास महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। वह कार्य है अंतिम सत्त्व का सेंद्रिय रूप में दर्शन कराना।[4]

किसी घटना का अर्थ लगाना हो तो उसे किसी समग्र सृष्टि–नियम के अंतर्गत लाना पड़ता है। क्योंकि सृष्टि–नियमों के कारण ही सृष्टि की नियमितता की प्रतीति हमें होती है। लेकिन विशिष्ट घटना को नियमों के अंतर्गत लानेपर उसके व्यक्तितत्त्व का लोप हो जाता है। क्योंकि उस नियम के अंतर्गत आनेवाले अनेकों में से एक, इतना ही उसका स्वरूप रह जाता है। सामान्य नियमों के अंतर्गत जब तक उसे नहीं लाया जाता तब तक उसका अर्थ नहीं लगाया जाता और नियम के अंतर्गत लाना हो तो किसी घटना का वैशिष्ट्य खत्म हो जा सकता है। विज्ञान में यह सतत होता रहता है। लेकिन सौंदर्यानुभव में किसी वस्तु का वैशिष्ट्य न लुप्त होते हुए भी उसकी नियमितता के दर्शन हमें हो जाते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि कलाकृति में विशेष और सामान्य का एक अलग प्रकार से मेलन घटित होता है। कलाकृति की अंतर्गत रचना ही कुछ ऐसी होती है कि उसकी नियमितता का झटितिप्रत्यय प्राप्त होता है। जड़ता में चैतन्य आलोकित होता है। आत्मिक (spiritual) और जड़, यह भेद ही समाप्त होता है। इस मुद्दे का थोड़ा स्पष्टीकरण देना आवश्यक है। विश्वचैतन्यवादियों की राय मे "अनेकता में एकता" चैतन्य का सत्त्व है। यह सत्त्व वास्तव की हर बात में दिखाई पड़ता है। सामान्य एवं विशेष के संबंधों में यही तत्त्व वर्तमान होता है। सामान्य अर्थात् एकता का तत्त्व। विशेष अनेक होते हैं और परस्पर प्रार्वतक होते हैं, इसलिए विशेषत्व को अनेकत्व का तत्त्व कहा जा सकता है। अनेक घटनाओं को अपनी परिधि में लानेवाला नियम घटनाओं की विविधता में एकता उत्पन्न करता है। कोई प्रयोजनसहित कृति अनेक घटनाओं की बनी होती है और इस अनेकता में प्रयोजन के कारण एकता उत्पन्न हुई होती है। इस संबंध में अनेकता से एकता का तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अनेकता से एकता की ओर ध्यान जाना मन का उन्नयन होना है। लेकिन कुछ सामान्य तत्त्व ऐसे होते हैं जिनका स्वरूप विशिष्ट तत्त्वों पर निर्भर रहता है और सभी विशिष्ट तत्त्वों का विचार किए बिना उनके संबंध में विचार पूर्ण नहीं हो सकता। असल में विश्वचैतन्यवादियो की दृष्टि से सभी सामान्य तत्त्व ऐसे ही होते हैं। क्योंकि सामान्य तत्त्वों में अनुस्यूत विशिष्ट तत्त्वों

में यांत्रिक समानता नहीं होती, उनमें वैविध्य होता है और ऐसे विविध विशिष्ट तत्त्वों को एकत्र करनेवाला तत्त्व सामान्य तत्त्व कहलाता है। हम पोस्ट ऑफिस का उदाहरण लें -- पोस्ट में काम करनेवाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं। वे सभी एक ही काम करने लगेंगे तो काम ही नहीं चलेगा। ये व्यक्ति भले ही अलग-अलग काम करें लेकिन अंततोगत्वा काम करते रहते हैं पोस्ट का ही। पोस्ट ऑफिस एक "सामान्य" है। उसमें काम करने वाले व्यक्तियों को (या उसमें समाविष्ट अलग-अलग कार्यों को) विशेष कहा जाएगा। इन विशेषों में भिन्नता है, फिर भी ये सब पोस्ट का काम कर रहे हैं, अत: समानता भी है। प्रत्येक व्यक्ति का कार्य अन्य सभी व्यक्तियों के कार्यों पर निर्भर है और हर व्यक्ति के कार्य पर सभी के कार्य निर्भर हैं। पोस्ट ऑफिस है, अत: उस में काम करनेवाले लोग एवं उनके कार्य हैं और पोस्ट ऑफिस है। इस प्रकार के सामान्य को विशेषसंपृक्त या मूर्त सामान्य (concrete universal) नाम हीगेलवादियों ने दिया है। उनकी राय में सभी सामान्य मूर्त ही होते हैं। लेकिन हर सामान्य मूर्त ही होता है, यह उनका दावा ठीक नहीं है। यद्यपि कुछ "सामान्य" मूर्त अवश्य होते हैं। उदाहरण के लिए किसी कारणकार्य नियम को लीजिए। सायनाइड लेने पर मनुष्य मर जाता है। यह नियम अनेक घटनाओं पर लागू किया जा सकता है। इसलिए इसे सामान्य कहा जा सकता है। लेकिन ये घटनाएँ बिलकुल एक दूसरे की तरह हो सकती हैं। उनके भेद महत्त्वपूर्ण नहीं होने के कारण उनमें यांत्रिक समानता होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी विविधता के कारण सामान्य नियम अधिक समृद्ध हुआ है। इसलिए हर "सामान्य" मूर्त या विशेषसंपृक्त होता है, यह कहना बहुत टिकनेवाला नहीं है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि कुछ सामान्य विशेषसंपृक्त होते हैं। पोस्ट ऑफिस या राज्य (state) ऐसे "विशेषसंपृक्त सामान्य" के अच्छे उदाहरण हैं। कलाकृति भी विशेषसंपृक्त सामान्य का ही उत्तम उदाहरण होगा। कलाकृति के अलग--अलग भागों या अंगों की गिनती "विशेषों" में करनी होगी और समूची कलाकृति इन विशेषों को विशिष्ट प्रकार से एकत्र लाती है इसलिए उसे सामान्य कहा जा सकेगा। यह "सामान्य" उसके विशेषों पर निर्भर रहेगा और सभी विशेष सामान्य पर, हर विशेष अन्य सभी विशेषों पर निर्भर होंगा। पोस्ट ऑफिस एवं कलाकृति दोनों मूर्त सामान्य अवश्य हैं, लेकिन उनमें एक महत्त्वपूर्ण अंतर भी है। पोस्ट ऑफिस का संघटन-तत्त्व बुद्धि से जाना जा सकता है और उसे अमूर्त रूप में प्रस्तुत भी किया जा सकता है। लेकिन कलाकृति का संघटनातत्त्व उसके ऐंद्रिय घटकों में देहीभूत स्थिति में ही प्रतीत होता है। ऐंद्रिय घटक याने जड़ता या अनेकता। लेकिन कलाकृति को देखते समय ध्यान में आता है, कि यह जड़ता एवं अनेकता उत्स्फूर्तत: एकता एवं चैतन्य का तत्त्व स्वीकार रही है। अनेकता में एकता उत्पन्न करनेवाला यह संघटन-तत्त्व अमूर्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसका झटितिप्रत्यय ही

आना चाहिए। पोस्ट ऑफिस के बारे में बात करते समय उसका प्रयोजन एवं उसकी सिद्धता के लिए कौन-से साधन प्रयुक्त हो रहे हैं यह बताया जा सकता है। लेकिन कलाकृति में साध्य (या प्रयोजन) एवं साधन जैसा विभाजन किया ही नहीं जा सकता। यहाँ अनेकता एवं एकता, जड़ता एवं चैतन्य, साध्य एवं साधन एक दूसरे में पूर्णत: विलीन हुए होते हैं।[5]

हीगेल सौंदर्य की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : सौंदर्य याने नियमितता एवं चैतन्य की इंद्रियगोचर अभिव्यंजना।[6] सौंदर्यानुभव में अवधारणा की सहायता के बिना ही ऐंद्रियता एवं चैतन्य, अनेकता एवं एकता के मुक्त मेलन का झटितिप्रत्यय आता है, यही इसका अर्थ है।

विश्वचैतन्य सब तरफ है परंतु सभी स्थानों पर उसकी समान अभिव्यंजना नहीं होती। जड़ जगत् में उसकी सर्वाधिक कनिष्ठ अभिव्यंजना देखने को मिलती है। कला-सौंदर्य प्रकृति-सौंदर्य से अधिक ऊँचे दर्जे का होता है; क्योंकि जड़ जगत् के घटकों को लेकर मानव कलाकृति निर्मित करता है तो उसका दर्जा ऊँचा उठता है। क्योंकि कलाकृति के निर्माण के समय चैतन्य की अभिव्यंजना के लिए मनुष्य जड़ माध्यम को विशिष्ट रूप देता है। इसका अभिप्राय यह कि चैतन्य की अभिव्यंजना के लिए मनुष्य ने जो जान-बूझकर रचा है, उसमें चैतन्य तत्त्व अधिक अच्छी तरह से अभिव्यक्त होता है, और इसीलिए प्रकृति सौंदर्य से कलासौंदर्य का दर्जा अधिक ऊँचा होता है।[7]

चैतन्यमय आशय सभी स्थानों पर समान रूप मे समृद्ध नहीं होता और फिर वह सभी स्थानों पर ऐंद्रिय माध्यमों द्वारा समान रूप में अभिव्यंजित नहीं होता। जहाँ आशय बहुत समृद्ध नहीं होता और जहाँ वह ऐंद्रिय माध्यम के द्वारा केवल सूचित होता है वहाँ प्रतीकात्मक (symbolic) कला उत्पन्न होती है। जहाँ आशय अधिक समृद्ध होता है और उसके लिए पर्याप्त समान रूप में ऐंद्रिय अभिव्यक्ति प्राप्त होती है वहाँ अभिजातवादी (classical) कला का निर्माण होता है। और जहाँ आशय की समृद्धि ऐंद्रिय माध्यम पर मात करती है वहाँ स्वच्छंदतावादी कला निर्मित होती है। प्रतीकात्मक कला का उत्तम उदाहरण स्थापत्य कला में (architecture) और स्वच्छंदतावादी कला का उदाहरण चित्रकला, संगीत और विशेष कर काव्य में देखने को मिलता है। स्वच्छंदतावादी काव्य का स्वरूप देखते हुए बाँध तोड़कर विस्तार प्राप्त करनेवाली वर्षाकालीन नदी का स्मरण होता है। हीगेल ने आशय के अनुसार कलाओं का क्रम तय किया। यह क्रम आशय से अधिक रचनात्मक तत्त्व को प्रमुखता देनेवाले मर्ढेकर के क्रम से अलग या प्राय: विरोधी है।

प्लेटो ने कलाकृतियों को तृतीय श्रेणी का सत्ताशास्त्रीय स्थान दिया था और इंद्रियगोचर यथार्थ की चीजों को उससे अधिक ऊपर का दर्जा दिया था। उसपर हीगेल

का उत्तर यह होगा— चैतन्य तत्त्व की अभिव्यक्ति को अगर सत्ता के मूल्य का निकष माना जाए तो यथार्थ जगत् की वस्तुओं की अपेक्षा कलाकृतियों को ऊँचा दर्जा देना होगा। क्योंकि उनमें चैतन्य तत्त्व की अधिक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। अरस्तू के अनुकृति–सिद्धांत को हीगेल जैसे विश्वचैतन्यवादी बहुत महत्त्व नहीं देते हैं, लेकिन बुचर ने अनुकृति को (imitation) नया अर्थ दिया।[8] उसकी राय में अनुकृति का अर्थ यह नहीं कि वह यथार्थ वस्तु की यांत्रिक प्रतिकृति हो। अनुकृति वह रचना है जिसमें वस्तु का सत्त्व जिसके परिणामस्वरूप अधिक स्वच्छ प्रकाशित होगा। बुचर ने दिखाया कि अरस्तू को अनुकृति का यही अर्थ अभिप्रेत था। इसके लिए बोसाँके ने बूचर को धन्यवाद दिए और इस बात के लिए संतोष व्यक्त किया कि विश्वचैतन्यवादी सिद्धांत को अरस्तू जैसे अधिकारी व्यक्ति का समर्थन था।[9] सौंदर्य चैतन्यतत्त्व की इंद्रियगोचर अभिव्यंजना – यह सिद्धांत सौंदर्यशास्त्र में सर्वाधिक समृद्ध सिद्धांत है और महत्त्वपूर्ण सभी सिद्धांत उसमें समाए हुए हैं। यह विश्वचैतन्यवादियों का दावा है कि ग्रीककाल से सौंदर्यसंबंधी मानवीय प्रतीति इसी सिद्धांत की ओर उन्मुख होकर रास्ता तय कर रही है। लेकिन पूववर्तियों को जो धुंधले रूप में प्रतीत हो रहा था, हीगेल ने उसे तात्त्विक स्पष्टता दी।

यह सही है कि हीगेल ने कला को बहुत ऊँचा दर्जा दिया। लेकिन कलाप्रेमियों की निराशा इसलिए भी हुई कि अब हीगेल ने यह भी कहा कि विश्वचैतन्य की सर्वाधिक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति कला में उपलब्ध नही होती।[10] हीगेल की राय में विश्वचैतन्य की अंतिम अभिव्यक्ति तत्त्व-चिंतन में होती है। कला तत्त्वचिंतन के पहले की सीढ़ी है। तत्त्वचिंतन में मनुष्य रमने लग जाए तो वह कला का महत्त्व नहीं मानता। स्वच्छंदतावादी काव्य के बाद दर्शन का गद्य आना अनिवार्य है। आदमी वहाँ पहुँच जाए तो पीछे नहीं लौटता। हीगेल के बाद के विश्वचैतन्यवादियों ने सौंदर्य को सत्य एवं शिव के बराबरवाला दर्जा दिया। उसमें बोसाँके, ए. सी. ब्रैडली, बेनेदेत्रो क्रोचे इत्यादि महत्त्वपूर्ण लेखक आते हैं।

5.3

अभिव्यंजनावाद का अतिशय सुबोध एवं रसिक आधुनिक भाष्यकार बोसाँके है। उसके ग्रंथ की सहायता से हम अभिव्यंजनावाद के आधुनिक स्वरूप से परिचित होने का प्रयत्न करेंगे।

हीगेल का यह सिद्धांत कि संवेदना के जगत् में दिखनेवाला चैतन्य-रूप ही सौंदर्य है बोसाँके को मान्य है। लेकिन हीगेल द्वारा किया हुआ प्रकृतिसौंदर्य का अधिक्षेप बोसाँके स्वीकार नहीं करता। क्योंकि परमतत्त्व की अभिव्यंजना जिस प्रकार कला में होती है, वैसे प्रकृति–सौंदर्य में भी होती है। इंद्रियगोचर प्रकृति में उत्स्फूर्त नियमितता दृष्टिगोचर होती दिखती है। उसी तरह प्रकृति अनेक बार मानवीय भावनाओं को

प्रतिबिंबित करती दिखाई पड़ती है। अगर कभी-कभार प्रकृति अपनी ओर से मानवीय मन के भावों-विचारों को प्रतिबिंबित करती है, तो प्रकृति-सौंदर्य को निम्न कोटि का मानने का कोई कारण नहीं है। इस तरह हीगेल का कलास्वरूपशास्त्र या कला–मीमांसा (philosophy of art) का बोसाँकि के लेखन मे सौंदर्यशास्त्र बनता है।

बोसाँकि के सामने बहुत कठिन कार्य था। उसे हीगेल द्वारा प्रणीत सौंदर्य–सिद्धांत को तो प्रस्तुत करना ही था लेकिन उसके आगे चलकर अभिव्यंजनावाद के जनक कांट के सिद्धांत के महत्त्वपूर्ण मुद्दों को आत्मसात करना था। फिर कांट के स्वायत्त सौंदर्य एवं परायत्त सौंदर्य, दोनों प्रकारों को अपने सिद्धांत में समेटना था। ये दोनो बातें उसने अपने "थ्री लेक्चर्स आन एस्थेटिक्स" ग्रंथ में साध्य की। तीसरी बात यह भी थी कि उसे यह दिखाना था कि सौंदर्यबोध का इतिहास कुल सौंदर्य–वेत्ताओं द्वारा और कुल मानवजाति के द्वारा अभिव्यंजनावाद की दृष्टि से तय की हुई राह है। यह दिखाने के लिए उसने "हिस्टरी ऑफ एस्थेटिक्स" पुस्तक लिखी।

बोसाँकि की राय में सादा सौंदर्यानुभव सुखद अनुभूति (pleasant feeling) होती है। इस अनुभूति के तीन वैशिष्ट्य होते हैं : (अ) वह क्षणभंगुर न होकर स्थिर होती है, (आ) वह किसी वस्तु के स्वरूप से संबद्ध होती है, (इ) वह किसी व्यक्ति तक सीमित न होकर उसमें सार्वभौमता होती है। इन तीन वैशिष्ट्यों से ध्यान में आता है कि इस विशिष्ट प्रकार की अनुभूति का विषय होता हैं।[12] उत्तम स्वास्थ्य होने पर जो उल्लास प्रतीत होता है उससे भिन्न इस अनुभूति का स्वरूप होता हैं, क्योंकि उसका निश्चित विषय होता है। यह विषय वही वस्तु है जिसका हम चिंतन करते हैं। अनेक सुखानुभव लेते समय सुख एवं वह जिसके कारण उत्पन्न होता है वह वस्तु (उदाहरण--शक्कर) हम अलग कर सकते हैं। लेकिन सौंदर्यानुभव में ऐसा नही किया जा सकता। अपना सुख सुंदर वस्तु में ही केंद्रीभूत होने का यह अनुभव होता है। और इसीलिए यह सुख सार्वभौम अनुभव का विषय बनता है।[13]

इस सुखद अनुभव को ग्रहण करते समय हमारी भूमिका तटस्थ अवलोकन एवं चिंतन (contemplative) की होती है। नीति व्यवहार एवं विज्ञान मे अभिप्रेत मनोभूमिका से वह अलग होती है। इन दो व्यवहारों में अपने अनुभव–विषय के स्वरूप में हम परिवर्तन करते हैं। (इसके संबंध में हीगेल का स्पष्टीकरण ऊपर आ गया है।) कलास्वाद में हम अपने आस्वाद–विषय मे एसा परिवर्तन नही करते। कलाकार कलाकृति निर्मित करते समय अपने माध्यम को मनचाहा आकार देता है, यह सही है; लेकिन इन क्रियाओं का उद्देश्य अपना आस्वाद सुकर करना ही होता है। कलानिर्मिति की प्रक्रिया सही अर्थ में "देखने" की या "अवलोकन" की क्रिया ही है।[14]

सौंदर्यानुभव एक (एक पुष्प की भाँति) खिलाया हुआ, आकार दिया हुआ अनुभव है। सामान्य जीवन का प्रत्यक्ष दु:ख एवं काव्य में व्यक्त दुख के बीच तुलना करने

पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी. सामान्य जीवन का दुख केवल वेदना के रूप में प्रतीत होता है। लेकिन इस दु:ख में जो कुछ समाया हुआ है उसे खोजने का प्रयास किया जाए तो वह केवल वेदना—रूप नहीं रहता। वह अनुभव खिलने लगता है और उसे आंतरिक आकार प्राप्त होने लगता है। इस तरह खिला हुआ एवं आंतरिक रचना से संपृक्त अनुभव किसी व्यक्ति का वैयक्तिक अनुभव नहीं रहता। उसे सार्वभौमिकता प्राप्त होती है। हमारे ज्ञानात्मक अनुभव का प्रारंभ भी एक निराकार संवेदना से ही होता है। फिर अपनी अवधारणाओं के कारण उस अनुभव को आकार प्राप्त होने लगता है, उसमें अंतर्गत रचना का बोध होने लगता है। उसी में से आसपास की सृष्टि एवं उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। सौंदर्यानुभव भी मूलत: निराकार संवेदना से खिलाया हुआ अनुभव होता है और उसको भी वस्तुगतता प्राप्त होती है। बहुत बार हम अंतर करते हैं— यथार्थ एवं मानसिक। सामनेवाला पेपरवेट यथार्थ जगत् का एक भाग है और उसके संबंध में मेरा विचार मानसिक है, ऐसा सामान्यत: हम कहते हैं। विश्वचैतन्यवादी कहेंगे कि ऐसा स्थूल अंतर करना ठीक नहीं। अगर हमारे विचार बहक नहीं रहे हों, उसमें नियमितता हो, सार्वभौम विचारनियमों के अनुसार वे चलते हों; तो वे भी यथार्थ का ही भाग हैं। उनको भी वस्तुगतता है। जो-जो सार्वभौम (universal) और अनिवार्य (necessary) है वह वस्तुगत ही होता है। ज्ञानानुभव में सार्वभौमिकता और अनिवार्यता होने के कारण उसे जिस तरह वस्तुगतता होती है, वैसे ही सौंदर्यानुभव में भी होती है। दोनों अनुभवों की नींव निराकार संवेदना ही होती है। यह अनुभव आगे चलकर अलग-अलग होते हैं। क्योंकि मूल अनुभव को अलग ढंग से खिलाया- पुष्ट किया जाता है।[15] इस तरह खिलाए गए अनुभव को इंद्रियगोचर एवं ऐंद्रिय कल्पना-शक्ति को प्रतीत होनेवाला शरीर (embodiment) प्राप्त होता है।[16] इस शरीर को एक अनुभव के शरीर के रूप में ही केवल देखना होता है। यह प्रश्न अप्रस्तुत है कि उसे यथार्थ की सही-सच्ची वस्तु के रूप में स्थान है या वह केवल भासरूप है। हमारा संबंध है केवल वह शरीर कैसे दिख रहा है इसी बात से। कांट ने यह मुद्दा पहले ही प्रस्तुत किया था यह पाठकों को स्मरण होगा ही।

यहाँ बोसाँकि फॉर्म या रूप की अवधारणा का प्रथम इस्तेमाल करता है। वह कहता है कि सौंदर्यानुभव में सुखसंवेदना को शरीर के साथ ही फॉर्म प्राप्त होता है।[17] यहाँ "फॉर्म" अवधारणा की थोड़ी-सी चर्चा उचित होगी। फॉर्म का एक अर्थ है आकार या विधान। विभिन्न क्षेत्रों में द्रव्य (matter) एवं फॉर्म, यह अंतर किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि फॉर्म का द्रव्य से नियमित संबंध होता ही है, ऐसा नहीं। एक सीमा तक यह सही भी है। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि एक ही आकार के लेकिन अलग-अलग धातु के बर्तन होते हैं। फॉर्म का अर्थ आकार, विधान, जड़ाव का एक साँचा लिया जाए तो ऐसा निष्कर्ष निकलना अपरिहार्य है। परंतु

विश्वचैतन्यवादी कहेंगे कि ऐसा अर्थ लेना यानी यह मान्य करना है कि यथार्थ के स्वरूप का हमें आकलन नहीं हुआ है। फॉर्म यथार्थ का जीवन ही होता है। यहाँ विश्वचैतन्यवादियों के अंतर्गत संबंध (internal relation) के सिद्धांत का उल्लेख करना आवश्यक है। सभी संबंध अंतर्गत होते हैं, यह विश्वचैतन्यवादियों का दावा है। जब घटकों का स्वरूप एवं अस्तित्त्व, वे घटक किन अन्य घटकों के साथ एवं कैसे संबंधित हैं, इसपर निर्भर होता है तब उन संबंधों को अंतर्गत संबंध कहा जाता है। ऐसे संबंधों से जुड़े संबंधितों में से एक में भी परिवर्तन हो जाए तो अन्यों का स्वरूप भी बदल जाता है। संबंधों की इसी अंतर्गतता के कारण जिनमें व्यवस्था निर्मित हुई है ऐसे घटक एवं व्यवस्थापन का तत्त्व, इन दोनों को सही अर्थ में अलग नहीं किया जा सकता। समूची सृष्टि ही ऐसे अंतर्गत संबंधों की बँधी हुई एक समष्टि है। यह जिसने समझा है वह "फॉर्म याने आकार या विधान" कभी नहीं कहेगा। अनुभव को कला स्वरूप प्राप्त करा देना है, तो उसे (पुष्प की भाँति) खिलाना पड़ता है। अनुभव को किस प्रकार एवं कहाँ तक खिलाया जाए, इसकी कोई सीमा नहीं। लेकिन शर्त यही है कि उसमें से निर्मित विश्व से संतोष प्राप्त होना चाहिए।

यहाँ एक बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। न खिलाया हुआ अनुभव कलाकृति में अभिव्यंजित नहीं होता, केवल खिलाया हुआ अनुभव ही अभिव्यंजित होता है। इसका अर्थ यह कि जिस भावानुभव में हम डूबे हुए होते हैं, ऐसा अनुभव कला—निर्मिति के लिए अनुकूल नहीं होता। अनुभव को अगर खिलाना है तो उसे अपनी प्रतीति का विषय होना चाहिए। तभी उसमें अंतर्गत विविधता एवं रचनाएँ निर्मित होंगी और उन्हें हम समझ सकेंगे। न खिलाया हुआ अनुभव व्यक्तिगत होता है। लेकिन असल में आरंभिक अनुभव "व्यक्ति"गत भी सिद्ध नहीं होता। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि हर अनुभव किसी-न-किसी का अनुभव होता है। अनुभव का ज्ञानशास्त्रीय विश्लेषण करने पर दिखाई देगा कि उसमें ज्ञाता का निर्देश अनुस्यूत है।[20] लेकिन विश्वचैतन्यवादियों की राय में आरंभिक अनुभव में ज्ञाता एवं ज्ञेय अलग नहीं होते। इसलिए यह नहीं हुआ जा सकता कि यह अनुभव किसी ज्ञाता या व्यक्ति का अनुभव है। क्योंकि जिस व्यक्ति का यह अनुभव है ऐसा कहा जाए ऐसा "व्यक्ति" आरंभिक अनुभव में होता ही नहीं। लेकिन अनुभव खिलने लग जाए तो वह किसी-न-किसी व्यक्ति का अनुभव बन जाता है। लेकिन खिलाया हुआ अनुभव केवल व्यक्तिगत नहीं रहता, उसको सार्वभौमिकता भी प्राप्त होती है। (इसका कुछ सविस्तार विवेचन इसी अध्याय में बाद में आ जाएगा।)

सौंदर्य का अनुभव कल्पनाशक्ति के द्वारा खिलाया जाता है। लेकिन कल्पनाशक्ति कोई अलग मानसिक शक्ति नहीं होती। जब कल्पनाशक्ति अनुभव को खिलाती है तब असल में समूचा मन उसी काम में लगा हुआ होता है। कल्पनाशक्ति का कार्य

केवल कलानुभव तक सीमित नहीं होता। वैज्ञानिक के लिए भी यह 'शक्ति' उपयोगी होती है। वैज्ञानिक की कल्पनाशक्ति मुक्त नहीं होती। उसपर सत्यान्वेषण का बंधन रहता है। लेकिन जब कल्पनाशक्ति पर सत्यान्वेषण का बंधन नहीं होता तब वह अनुभव को अलग ढंग से, एक तरह से मुक्त रूप में खिलाती है। इस तरह की मुक्त कल्पनाशक्ति से निर्मित विश्व, विज्ञान को दिखनेवाले विश्व की प्रतिकृति नहीं होता या यथार्थ विश्व से वह हीन भी नहीं होता। एक ही मूल अनुभव से विज्ञान का विश्व एवं मुक्त कल्पनाशक्ति का विश्व, ऐसे दो समान विश्व उत्पन्न होते हैं।[21] उनके संबंध एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किए जा सकते हैं। मान लीजिए हम कुछ पुस्तकें रखना चाहते हैं, हम उन्हें विषयानुसार लगाते हैं। उन्हें रंगसंगति के तत्त्व के अनुसार भी लगाया जा सकता है। पहले तत्त्व के अनुसार भूगोल की दो पुस्तकें साथ-साथ होंगी, तो दूसरे तत्त्व के अनुसार दो नीली पुस्तकें साथ-साथ आएँगी। जिस प्रकार पुस्तकों का एक ही गुट भिन्न-भिन्न तत्त्वों के अनुसार लगाया जा सकता है, उसी प्रकार एक ही विश्व की वस्तुओं की दो प्रकार की रचनाएँ की जा सकती हैं -- ज्ञाननिष्ठ और सौंदर्यनिष्ठ। एक ही मूलभूत अनुभव से पूर्णत: भिन्न विश्व निर्मित किए जा सकते हैं।

मुक्त कल्पनाशक्ति की दृष्टि से जगत् की ओर देखने पर लगता है कि बाह्य जगत् के वस्तुरूपों में अपनी भावनाएँ देहीभूत हुई हैं। ऐसा नहीं कि यह समझने के लिए कि भावनाओं को देह कैसे प्राप्त होती है, किसी स्वतंत्र सिद्धांत की जरूरत हो। वस्तु की ओर देखने पर प्रतीत होनेवाले रंगादि गुणविशेष उसीमें हैं, ऐसा लगता है। उसी तरह सौंदर्यानुभव में भावनादि चीजें वस्तु के ही गुणविशेष हैं, ऐसा हमें प्रतीत होने लगता है।[22] इसका अर्थ यह कि भावनाएँ जब वस्तु के ही गुणविशेष हैं, ऐसा लगने लगता है तब ऐसा समझना चाहिए कि हम मुक्त कल्पनाशक्ति के दृष्टिकोण से दुनिया की ओर देख रहे हैं।

अनुभव और उसकी अभिव्यंजना में अंतर किया ही नही जा सकता। ऐसा क्रम नहीं होता कि पहले अनुभव हो और उसके बाद उसकी अभिव्यंजना हो। अभिव्यंजना--- कलाकृति का ऐंद्रिय स्वरूप --- जैसे-जैसे आकार ग्रहण करने लगता है वैसे-वैसे अनुभव भी आकार ग्रहण करने लगता है। इस तरह देहीभूत हुआ अनुभव अन्य किसी प्रकार से अभिव्यंजित नहीं होता।[23]

कल्पनाशक्ति जिस प्रकार कलाकार में होनी चाहिए वैसे ही वह रसिक में भी होनी चाहिए। निर्माता और रसिक में अन्य कुछ मामलों में अंतर होने पर भी एक बात में साम्य है। दोनों को ज्ञानव्यापार से मुक्त कल्पनाशक्ति का उपयोग करना पड़ता है। क्या यह निश्चयात्मक ढंग से कहा जा सकता है कि निर्माता और रसिक एकाध अनुभव को एक ही तरह से खिला सकते हैं? अनुभव किस तरह खिलाया

जा रहा है, इसके बारे में थोडा सा मार्गदर्शन अगर रसिक करे तो सब रसिक उस अनुभव को एक ही तरह से खिला सकेंगे, यह निश्चय ही कहा जा सकता है। क्योंकि इस खिलनेवाले अनुभव में सेंद्रिय एकता (organic unity) होती है। उसके घटकों में परस्पर संबंध अंतर्गत होते हैं। अनुभव खिलाने के कार्य में उन्हें कमोबेश सफलता प्राप्त होगी। कभी रसिक अपनी कल्पना के बल पर निर्माता से भी अधिक अच्छी कलाकृति का निर्माण कर सकेगा।

बोसाँके के उपरोल्लेखित विवेचन पर कांट का प्रभाव है, इसमें संदेह नहीं। विशेषत: कल्पनाशक्ति के कार्य का बोसाँके द्वारा किया हुआ विवेचन, सौंदर्यानभव में सुखसंवेदना को उसके द्वारा दिया गया स्थान, सौंदर्यास्वाद में अभिप्रेत विशिष्ट मनोभूमिका की उसके द्वारा की गयी चर्चा, ये बातें पल-पल कांट की याद दिलाती हैं। कांट ने स्वायत्त सौंदर्य एवं परायत्त सौंदर्य में अंतर किया था। इस मुद्दे की चर्चा कर बोसाँके ने यह दिखाया कि सौंदर्य के ये दो प्रकार एक ही तत्त्व की दो अभिव्यंजनाएँ हैं। वह यह भी कहता है कि कांट जिसे परायत्त सौंदर्य कहता है, वह स्वायत्त सौंदर्य से अधिक मूल्यवान होता है। अनेकता में एकता या विविधता में नियमितता अखिल विश्व का मूलतत्त्व होने के कारण मानव की भी वह अभिव्यंजना है। कांट जिसे स्वायत्त सौंदर्य कहता है बोसाँके उसे केवल चैतन्याभिव्यंजना या केवल आत्माभिव्यंजना (abstract or a priori expression) नाम देता है। इसे केवल आत्माभिव्यंजना इसलिए कहा जाता है कि इसमें अनुभवजन्य विविधता को जरा भी स्थान नही होता। चौकोन जैसी एक सीधी एवं सरल आकृति लीजिए। इसमें अनेकता में एकता का तत्त्व होने के कारण इस आकृति में चैतन्याभिव्यंजना है, यह कहा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि इस आकृति में हमारे लौकिक जीवन का कोई अंश नहीं है। मान लीजिए। हम जंगली भैंसे का चित्र देख रहे हैं। यह नहीं भूला जा सकता कि जंगली भैंसे का शिकार यथार्थ जीवन का एक भाग है। अत: केवल आत्माभिव्यंजना का तत्त्व यहाँ लागू नही हो सकता। आशयसंपृक्त (representational) कलाकृति को देखते समय लौकिक यथार्थ का संबंध नहीं छूट सकता। लेकिन यह कलाकृति है इसलिए अपनी दृष्टि केवल विज्ञान की है, ऐसा भी कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि विज्ञान का दृष्टिकोण एवं सौंदर्य का दृष्टिकोण दोनों एक ही नहीं होते। कोई वस्तु कलाकृति में इसलिए स्वीकार्य नहीं होती कि वह यथार्थ का एक भाग है। अनुभव को खिलाते समय कलावंत विज्ञान से सहायता अवश्य ले, लेकिन उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि कलाकृति की बनावट का तत्त्व वैज्ञानिक तत्त्व से भिन्न होता है।[24] आशयसंपृक्त कलाकृति में भी, सौंदर्य—व्यवहार में अभिप्रेत बनावट (रचना) का तत्त्व ही इस्तेमाल में लाना होता है। लेकिन यह भूलना नहीं चाहिए कि इस आशय की बनावट अन्य तत्त्वों के अनुसार भी होती है और इसलिए वास्तविक जगत् का अनुभव चाहिए।

समस्त यथार्थ जगत् सौंदर्य-दृष्टि का विषय हो सकता है। इसका अर्थ यह कि सौंदर्य–दृष्टि को अभिप्रेत रचनातत्त्व यथार्थ में कहीं भी प्राप्त हो सकता है। किसी को भी झट से प्रतीत होगा इतने खुले रूप में वह नहीं होता, यह सही है। लेकिन अधिक गहराई में जाने और खोजने पर वह मिलता है, यह भी सही है। बोसाँकि ने इस मुद्दे को (discobolos) पुतले के उदाहरण से समझाया है। यह पुतला आशयहीन रचना नहीं है। विशिष्ट कार्य में व्यस्त व्यक्ति का यह पुतला है। केवल रचना के रूप में यह पुतला संतोषप्रद होना ही चाहिए। लेकिन इतने–भर से काम नहीं चलेगा। इसमें समाविष्ट आशय में भी सौंदर्य के रचना–तत्त्व का अस्तित्व प्रकट होना चाहिए। बोसाँकि कहता है कि मानव शरीर का हमें जो ज्ञान है उसकी सहायता से ही इस पुतले की ओर देखना चाहिए। इस जीवनाशय को अलग करने पर हमें केवल एवं आशयरहित रचना दिखाई देगी, और इस रचना में "अनेकता में एकता" का तत्त्व होने के कारण उसका रूप अभिव्यंजना का ही होगा, इसमें संदेह नहीं। अब अगर यह 'केवल' रचना आशयसंपृक्त हो जाए तो 'केवल' रचना के कारण प्राप्त सौंदर्यानुभव अधिक संपन्न होगा। विज्ञान का जीवनाशय जितना अधिक, उतनी सौंदर्य संपन्नता भी अधिक; उसी तरह सौंदर्य में जीवनाशय जितना अधिक उतनी सौंदर्य की संपन्नता भी अधिक। क्योंकि "अनेकता में एकता" की ऐंद्रिय अभिव्यंजना, यह सौंदर्य तत्त्व जीवन एवं सृष्टि में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। सौंदर्य को जीवनाशय वर्जित नहीं है। विज्ञान की सहायता से समस्त जीवन को अपनी परिधि में लाकर मुक्त कल्पनाशक्ति के द्वारा उसका अलौकिक संघटन करने से सौंदर्य की गुणवत्ता वर्धित होती है।[25]

बोसाँकि बार-बार हमें कहता है कि कलाकृति में यथार्थ को यथार्थ के रूप में तथा अपने ज्ञान के विषय के रूप में महत्त्व नहीं है। कलाकार एवं वैज्ञानिक एक ही यथार्थ से प्रारंभ करते हैं। लेकिन उनकी खोज अलग-अलग तत्त्व के अनुसार चलती है। वैज्ञानिक यथार्थ को यथार्थ के रूप में खोजना नहीं चाहता, कलाकार को खोजना होता है यथार्थ का केवल इंद्रियगोचर रूप। सुंदर वस्तु इंद्रियगोचर या मानस-चक्षुओं को दिखनेवाली होनी चाहिए। यह सौंदर्यानुभव की शर्त है। इस इंद्रियगोचर रूप को सौंदर्यानुभव में बहुत महत्त्व होता है। बोसाँकि इसे "the fundamental doctrine of aesthetic semblance" कहता है।[26]

इंद्रियगोचर मुक्त नियमितता की खोज कलाकार एवं रसिक का कार्य है। कलाकार द्वारा विनिर्मित जगत् वैज्ञानिक जगत् से मूलतः भिन्न होता है। उसके पीछे की प्रेरणाएँ भिन्न होती हैं। उनमें से कोई भी एक प्रेरणा दूसरी का स्थान नहीं ले सकेगी।[27]

जैसा कि हमने ऊपर देखा है बोसाँकि को ऐसा सौंदर्य-तत्त्व चाहिए था जो कांट के स्वायत्त सौंदर्य एवं परायत्त सौंदर्य दोनों को एकत्र समेट सकेगा। अभिव्यंजना के

तत्त्व में दोनों प्रकार के सौंदर्य समाविष्ट होते हैं, ऐसा उसका मंतव्य है।

बोसाँकि द्वारा विवेचित कलाओं की भिन्नता का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। कलाएं भिन्न होती हैं, क्योंकि उनके माध्यम भिन्न होते हैं। और अनुभव को माध्यम में देहरूप लेना होता है। अतः अभिव्यंजना की प्रणालियाँ भी भिन्न होती हैं। अलग-अलग माध्यमों में कला-निर्माण करनेवाले कलाकार अलग-अलग रचनाएँ क्यों करते हैं? अथवा एक ही रचना अलग अलग पद्धति से क्यों निर्मित करते हैं? मिट्टी एवं लोहे से एक ही आकृति क्यों नहीं बनाई जा सकती? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि जो एक माध्यम से किया जा सकता है वह दूसरे माध्यम से नहीं। हर माध्यम के खास अपने गुणदोष हुआ करते हैं।[28] कलाकार अपने माध्यम से आवेष्टित होता है। वह जगत् की ओर देखता है अपने माध्यम के ही द्वारा।[29] हर कला का अपना खास माध्यम होता है और इस माध्यम के गुण वैशिष्ट्यों के निर्देशन में उसकी परंपरा का निर्माण होता है।[30]

अभिव्यंजनावाद की दृष्टि से मानसिक आशय एवं ऐंद्रिय माध्यम दोनो का समान ही महत्त्व होता है। क्रोचे ने इंद्रियगोचर माध्यम को कम महत्त्व देकर मानसिक पहलू को अधिक महत्त्व दिया। कलाकृति मानसिक वस्तु है, यह क्रोचे का अभिमत[31] प्रसिद्ध ही है। बोसाँकि की राय में ऐसा कहना एक बड़ी तात्त्विक गलती है। बिना देह के जिस तरह आत्मा नहीं होती, उसी तरह बिना माध्यम के आशय भी नहीं होता। अभिव्यंजना सदैव माध्यम की सीमा में ही होती रहती है। अनेक कलाकारों द्वारा उस माध्यम का अभिव्यंजना के लिए उपयोग किए जाने के कारण आशय एवं माध्यम में हार्दिक रिश्ता पैदा हुआ होता है। कोई भी कलाकार जब अपने माध्यम का प्रयोग करने लगता है तब उसे यह भान होता रहता है कि पूर्ववर्ती अभिव्यंजनाओं के कारण माध्यम में प्राप्त आ[illegible] माध्यम की नस-नस में लहलहा रहा है।[32] इसीलिए माध्यम एवं आशय की एकता न करना उसे सुलभ होता है।

यहाँ बोसाँकि एवं मर्ढेकर[33] के माध्यम विषयक विचार की तुलना आवश्यक है। मर्ढेकर ने कला के माध्यम (medium) एवं द्रव्य (material) में भेद किया है। उनकी राय में माध्यम का अर्थ यथार्थ का एक भाग या अंग है जिसका भान एक इंद्रिय के द्वारा होता है। दृष्टि को रंग, रेखा, आकार दिखते हैं अतः उन्हें एक माध्यम कहा जा सकता है। लेकिन ऐसा करने पर तैलरंग, जलरंग, रंगों की पेन्सिलें इत्यादि के बीच का भेद लुप्त हो जाता है। लेकिन यह भेद महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि तैलरंग का चित्र जलरंग के चित्र की भाँति नहीं दिखता। जो तैलरंग के माध्यम से साधा जा सकता है उसे जलरंग के माध्यम से नहीं साधा जा सकता। केवल दृक्संवेदना को माध्यम मान लिए जाने पर माध्यम की अंतर्गत विविधता पर अन्याय होता है। इस विविधता को अवहेलित कर माध्यम का विचार करना तत्त्वतः गलत है। कोई भी कलाकार दृक्संवेदना या श्रुतिसंवेदना के माध्यम में काम नहीं करता। वह

काम करता है, तैलरंगों, मानवीय आवाज, ऑर्गन के सुरों या वायोलिन के सुरों के माध्यम में वह दुनिया की ओर देखता है, तो इन विशिष्ट माध्यमों की ऐनक से। वाङ्मय में भी ये भेद ध्यान में रखने होंगे। जो अंग्रेजी में सध जाता है वह मराठी में नहीं। जो फ्रेंच में सहज साधा जा सकता है वह जर्मन में दुष्प्राप्य है। इसपर से यह निष्कर्ष निकलता है कि द्रव्य एवं माध्यम के बीच मर्ढेकर जैसा भेद करते हैं, ऐसा करना उचित नहीं। यह सही है कि हम कहते हैं कि रंग चित्रकार का माध्यम है, ध्वनि संगीतकार का और भाषा साहित्य का। लेकिन माध्यम का यह स्थूल अर्थ है। असल में कहना यह चाहिए कि शहनाई से निकलनेवाले स्वर बिस्मिल्ला खां का माध्यम है, अंग्रेजी भाषा शेक्सपियर का माध्यम है इत्यादि। वाङ्.मय का भी इंद्रियगोचर माध्यम होता है। वह है विशिष्ट भाषा। मर्ढेकर के अनुसार भावनार्थ को वाङ्.मय का माध्यम मान लिया जाए[34] तो भाषा की ओर भाषा के रूप में देखने को हम भूल जाते हैं और ऐसा होना वाङ्.मय के अध्ययन की दृष्टि से हितकर नहीं है। बोसँकि को कलाकार एवं समीक्षक की समस्याओं का मर्ढेकर से अधिक अच्छा भान था और उसका माध्यम विषयक विवेचन मर्ढेकर के विवेचन से अधिक गहन एवं सूक्ष्म था, यही निष्कर्ष निकलता है। असल में मर्ढेकर ने द्रव्य और माध्यम का यह भेद क्यों किया, यही समझ में नहीं आता; क्योकि यह भेद वे न करते तो भी उनके सौंदर्यसिद्धांत पर कुछ भी विपरीत परिणाम घटित न होता। ऐसा भी नही दिखता कि ऐसा भेद कर कांट, हीगेल इत्यादि सौंदर्यशास्त्रज्ञों ने जिस तरह सुंदर वस्तुओं के सत्ताशास्त्रीय स्थान का प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया, वैसा ही कुछ मर्ढेकर ने किया हो। ऐसा लगता है कि प्राकृतिक वस्तु (physical object) एवं संवेदना (sence data) के संबंध में रसेल जैसे दार्शनिक जो सिद्धांत प्रस्तुत कर रहे थे उनके प्रभाव से मर्ढेकर ने माध्यम एवं द्रव्य के बीच अंतर किया। यह कहा जा सकता है कि रसेल के सिद्धांत से सभी प्राकृतिक वस्तुओं से संबंधित संवाक्यों पर प्रकाश पड़ता है, लेकिन उसके कारण सुंदर वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अलग नहीं किया जा सकता। तथापि लगता है कि मर्ढेकर को उसका भान संभवत: नहीं था।

अगर अभिव्यंजना को सौंदर्य का एकमेव निकष माना जाए तो कलाकृतियों की श्रेणी निश्चित करना कैसे संभव होगा? क्योंकि किसी दोयम दर्जे के कवि का सामान्य-सा सानेट अभिव्यंजना के कारण सुंदर माना जाएगा और उसी कसौटी पर शेक्सपियर का "किंग लियर" भी सुंदर सिद्ध होगा। फिर "किंग लियर" नाट्यकृति सामान्य सानेट की तुलना में श्रेष्ठ रचना है, यह हम कैसे कह सकते हैं? (सुविधा के लिये यहाँ हम यह मान लें कि दोनों कलाकृतियों में अनुभव की अभिव्यक्ति बहुत ठीक और समुचित हुई है।) मतलब यह हुआ कि कलाकृतियों की श्रेणी निश्चित करते समय अभिव्यंजना के अलावा कोई और निकष प्रयोग में लाना पड़ेगा। क्रोचे

ने तो संख्यात्मक निकष ही (quantitative) प्रस्तावित किया है।[35] सामान्य मनुष्य के आत्माभिव्यंजन को हम काव्य नहीं कहते। क्रोचे की राय में दोनोंमें कोई अंतर नहीं है। अंतर है तो आत्मव्यंजना के संख्यात्मक छोटे—बडेपन का। लेकिन केवल सौंदर्य संबंधी ही बोलना हो तो यह अंतर महत्त्वपूर्ण नहीं है।[36] आत्माभिव्यंजना छोटी हो या बड़ी सभी अभिव्यंजनाएँ आत्माभिव्यंजना के रूप में समान योग्यता की ही होती हैं। बोसाँकि ने सौंदर्य के जो अलग-अलग प्रकार कल्पित किए हैं, उसके कारण शायद श्रेणी निर्धारण के लिए आवश्यक निकष प्राप्त हो सकता है। अभिव्यंजना कम या अधिक जटिल होती है। अधिक जटिल अभिव्यंजना सिद्ध करना अधिक मुश्किल होता है और उसमें प्राप्त सफलता भी अधिक बड़ी होती है। इस तत्त्व के अनुसार बोसाँकि ने सौंदर्य का वर्गीकरण किया है – सुगम सौंदर्य एवं जटिल सौंदर्य (easy and difficult beauty) । जो किसी की समझ में तुरंत आता है और आनंददायी लगता है, उसे बोसाँकि सुगम सौंदर्य कहता है। कोई आसान स्वरलहरी, गुलाब का फूल, तरुणाई से ताजा चेहरा सुगम सौंदर्य के उदाहरण माने जा सकते हैं।[37] जटिल सौंदर्य के तीन गुणविशेष होते हैं:

(1) जटिल रचना (intricacy): किसी ख्याल या सादी तान की तुलना करने पर जटिल रचना की कल्पना कर सकते हैं। कलास्वाद में निपुण न होनेवाला नया विद्यार्थी ख्याल की उलझनदार रचना देख कर घबड़ाता है। क्योंकि उसे उस रचना का आकलन ही नहीं होता। लेकिन ऐसी रचना के टुकड़ों का आस्वाद करना मुश्किल नहीं होता।

(2) भावना की तीव्रता (high tension of feeling) तीव्र भावना को सँभालना सभी से संभव नहीं होता। कई तीव्र भावना सामान्य व्यक्ति में भी सहकंप उत्पन्न करती है और उसके कारण ऐसा काव्य उसे फौरन भाता है। लेकिन इस तीव्र भावना का समूचा आशय सभी समझ सकते हैं, ऐसा नहीं। उस आशय को समझने के लिए जो कल्पनाशक्ति की देन चाहिए वह अनेको के पास नहीं होती। और इसीलिए भावना की तीव्रता अर्ध-शिक्षितों को अच्छी नहीं लगती।

(3) कल्पनाशक्ति का विस्तार (width) अनेक कलाकृतियों में, विशेषत: सुखात्मिका (comedy) में हम देखते हैं कि वह दुनिया, जिसे हम सदैव देखते हैं, उल्टी हो गई है। जो प्राय: नहीं होता वह सब इसमें घटित होता है। "मिड समर नाइट्स ड्रीम" में टिटानिया बॉटम से प्रेम करने लगती है। फालस्टाफ इंग्लैंड के सरन्यायाधीश का मजाक उड़ाता है। ये सारी उल्टी चीजें देखने के लिए लचीली कल्पनाशक्ति की आवश्यकता होती है। अगर वह नहीं है तो सुखात्मिका का आस्वाद हम नहीं ले सकते। फिर यह ऊलजलूल विश्व देखते हुए यथार्थ का हमारा भान खंडित नहीं होना चाहिए, और मूल्यों पर पकड़ भी ढीली नहीं होनी चाहिए। यह कसरत

हर किसी के लिए संभव नहीं होती। इसलिए सुखात्मिका का काव्यमिश्र अनुभव सब नहीं झेल सकते।[38] सुगम सौंदर्य का अनुभव अनभिज्ञ को भी त्वरित होता है। लेकिन जटिल सौंदर्य को समझने के लिए अभ्यास आवश्यक है। बोसाँकि का कुल अभिप्राय जटिल सौंदर्य को सुगम सौंदर्य से अधिक महत्त्व देने की ओर है।

बोसाँकि के सौंदर्य सिद्धांत का यह कुछ विस्तृत परिचय समाप्त करने के पूर्व दो—तीन मुद्दों का निर्देश करना आवश्यक है। (1) बोसाँकि सुखानुभूति का बार—बार उल्लेख करता है। क्या उसे सुखवादी (hedonist) कहा जा सकता है? सुखानुभूति को सौंदर्य का निकष माननेवाले दार्शनिक को सुखवादी माना जाता है। अतः प्रश्न यह है कि क्या बोसाँकि सुखानुभूति को सौंदर्य के निकष का स्थान देता है? सुखानुभूति को जो स्थान कांट ने दिया है, वही बोसाँकि ने भी दिया है। दोनों की राय में यह सुखानुभूति एक विशिष्ट मनोदशा के भाग एवं उस मनोदशा के परिणाम के रूप में प्रतीत होती है। कांट की राय में ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन ही विशिष्ट सुखानुभूति का भान है। बोसाँकि की राय में अनेकता में मुक्त एकता का भान होना ही प्रस्तुत सुखानुभूति है। दोनों की राय में अनेकता में मुक्त एकता का भान ही महत्त्वपूर्ण है। यह सही है कि इस भान को सुखानुभूति का छोर होती है। लेकिन यह मुद्दा गौण है। क्योंकि तार्किक दृष्टि से अनेकता में एकता का भान पहले और सुखानुभूति बाद में, ऐसा ही क्रम होता है। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि यह क्रम कलानुक्रम न होकर तार्किक क्रम है। अनेकता में एकता के बोध पर यह सुखानुभूति निर्भर होती है। इसलिए सुख को सौंदर्य का निकष नहीं माना जा सकता।[39]

(2) दूसरा मुद्दा बोसाँकि द्वारा प्रयुक्त "फीलिंग" शब्द के संबंध में है। प्रस्तुत संदर्भ में इस शब्द के तीन अर्थ हैं। उनका विश्लेषण आवश्यक है। (अ) अनेक बार यह शब्द "भावना" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। करुण नाट्यकृति के कारण हम जिस दुख का अनुभव करते हैं वह इस 'भावना' का उदाहरण होगा। साहित्यचर्चा में यह शब्द प्रायः इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। (आ) विश्वचैतन्यवादी दार्शनिक "फीलिंग" शब्द को एक विशिष्ट अनुभव प्रकार को उद्देश्य कर प्रयुक्त करते हैं। वे मानते हैं कि अनुभव दो जाति का होता है। हमें अपने चारों ओर की दुनिया में जो अनुभव मिलता है वह संबंधों (relations) से बँधा हुआ होता है। एक तो उस में ज्ञाता और ज्ञेय संबध होता है। फिर ज्ञेय का स्वरूप क्या है यह संबंध के कारण ही ज्ञात होता है। जब मैं कहता हूँ कि "सामनेवाला फूल सफेद है" तब मुझमें और उस फूल में ज्ञाता—ज्ञेय का संबंध वर्तमान रहता है। 'फिर फूल लाल है', संवाक्य पदार्थ (substance) एवं धर्म (property) के संबंध पर आधारित होता है। यह तो हुआ संबंधबद्ध अनुभव (relational experience)। इसके अलावा विश्वचैतन्यवादी मानते हैं कि और एक प्रकार का अनुभव मनुष्य को प्राप्त होता है। इस अनुभव का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें

संबंध नहीं होते। उसमें ज्ञाता-ज्ञेय-संबंध नहीं होता। उसी तरह ज्ञेय क्या है, यह समझने के लिए आवश्यक संबंध भी नहीं होते। संबंधबद्ध अनुभव के नीचे की सीढ़ी संबंध रहित अनुभव की (non-relational experience) है। ऐसा कहा जाता है कि योगी को समाधि के अवसर पर जो अनुभव मिलता है वह भी संबंधरहित होता है। लेकिन उपर्युक्त प्राथमिक संबंधरहित अनुभव में संबंध निर्मित किये हुए नहीं होते, योगी के अनुभव में सबंधों को लाँघा जाता है। जो अंतर सुखदुख का भान ही पैदा न हुए मूढ़ व्यक्ति में और सुखदुख के परे चले गए विरक्त व्यक्ति में होता है वही उपर्युक्त दो संबंधरहित अनुभवों में होता है। संबंधरहित अनुभव से सबंधबद्ध अनुभव निर्मित होता है। इस तरह के संबंधरहित अनुभव को कभी "फीलिंग" नाम दिया जाता है। सभी अनुभवों का मूल इस संबंधरहित अनुभव में होने के कारण ज्ञानानुभव की भाँति सौंदर्यानुभव भी उसी में से उत्पन्न होता है। लेकिन सौंदर्यानुभव में संबंध अवश्य होते हैं। एक तो यह है कि सौंदर्यानुभव का कुछ विषय होता है। उदाहरण के लिए हम ताजमहल देखते हैं। इस आस्वाद के विषय से हम कितने ही तल्लीन हुए हों और हम इन लौकिक बातों को भूल भी गए हों कि हमें दिल्ली वापस जाना है, लौटने की यात्रा का रिजर्वेशन करना है तो भी इस वस्तुस्थिति में परिवर्तन नहीं होता कि हम ताजमहल देख रहे हैं। फिर यह भी भान रहता है कि ताजमहल सफेद रंग का है। मतलब यह है कि सौंदर्यानुभव अन्य मामलों में ज्ञानात्मक अनुभव जैसा ही न हो, फिर भी वह ज्ञानानुभव जैसा संबंधबद्ध अनुभव ही होता है।[40] सौंदर्यानुभव में संबंध होते हैं, यह एक बार निश्चित हो जाए तो ध्यान में आता है कि वह समाधि का अनुभव नहीं है। सौंदर्यानुभव के संबंध ज्ञानानुभव के संबंधों जैसे नहीं होते। अतः हमारी प्रवृत्ति यह होती है कि ह॰ उसे संबंधरहित अनुभव ही मानें। लेकिन यह ध्यान में रखने पर कि ज्ञानसंबंधरहित होने का मतलब संबंधरहित होना नहीं, सौंदर्यानुभव को समाधि का अनुभव, ब्रह्मास्वाद—सहोदर आनंद इत्यादि नाम हम नहीं देंगे।

सौंदर्यानुभव संबंधरहित अनुभव नहीं होता, यह हमने ऊपर देखा ही है। सौंदर्यानुभव में प्रारंभ से अंत तक विश्लेषण और संश्लेषण चल रहा होता है। उसी तरह सुंदर वस्तु के अवयव पृथक् हो सकते हैं। अर्थात् संश्लेषण की प्रक्रिया भी चलती ही रहती हैं। रसिक और सुंदर वस्तु के बीच ज्ञाता-ज्ञेय संबंध जैसा संबंध प्रस्थापित होता है. लेकिन यह ज्ञानप्रक्रिया न होने के कारण उसे आस्वाद या चर्वणा कह सकते हैं। उसी तरह ऐसा भान भी होता है कि सुंदर वस्तु के विविध भाग सेंद्रिय संबंधों से एक दूसरे के साथ जुड़े हुए होते हैं। इस विश्लेषण-संश्लेषण-प्रक्रिया को मूल संबंधरहित अनुभव की अभिव्यंजना कह सकते हैं। अनुभव में संबंधबद्धता के बिना यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी का अनुभव है, क्योंकि वह जिसका अनुभव हो सकता है ऐसा ज्ञाता (या भोक्ता) संबंधरहित अनुभव में नहीं होता। लेकिन संबंध

प्रस्थापित होने पर वह अनुभव किसी एक ज्ञाता का विषय नहीं रहता। सिद्धांततः वह समस्त मानवीय ज्ञाताओं का विषय हो सकता हैं। चूँकि ये संबंध सार्वत्रिक हैं, संबंधबद्ध अनुभव भी सार्वजनीन होते हैं। एक अनुभव दूसरे को ज्ञात होता है। इसीलिए वह सार्वजनीन संबंधों से बद्ध अनुभव होता है। मूल अनुभव में इंद्रियसंवेद्यता का अंश होने के कारण संबंधबद्ध अभिव्यंजना करते समय इन इंद्रियसंवेद्य अंशों का विकास होना अटल है। इसी में से इंद्रियगोचर कलाकृति का निर्माण होता है। इस मूल अनुभव को भावनात्मकता का भी अंग होता है। अनुभव को विकसित करते समय ये अंग क्रोध, भय आदि भावनाओं के रूप में प्रकट होते हैं। हम भावानुभव के संबंध में बोलते हैं तब हमें ज्ञानविषय हुई भावनाएँ ही अभिप्रेत होती हैं। बोसाँकि को ये भावनाएँ तो अभिप्रेत हैं ही लेकिन उनके साथ फीलिंग या संबंधरहित अनुभव भी अभिप्रेत है। "फीलिंग" के उपर्युक्त दो अर्थ ध्यान में रखने पर सौंदर्यानुभव -- बिलकुल शोकात्म नाट्य का अनुभव भी - सुखरूप ही होता है, ऐसा विश्वचैतन्यवादी क्यों मानते हैं, यह ध्यान में आ जाता है। मूल संबंधरहित अनुभव से जो संबंधबद्ध अनुभव उत्पन्न होता है उसमें प्रतीति का विषय हुई भावनाएँ-संवेदना-प्रेरणाएँ इत्यादि होती हैं। चूँकि ये भावनाएँ अलग-अलग होती हैं, कलाकृति को देखते हुए हमें प्राप्त अनुभव इन भावनाओं से रँगा हुआ होता है। यहाँ विश्वचैतन्यवादी कहेंगे कि जिस मूल संबंधरहित अनुभव से ये समूची भावनादि बातें पैदा हुई हैं वह अनुभव ही अगर आनंदरूप होगा तो कलाकृति को देखते हुए मिलनेवाला अनुभव भी आनंदरूप ही होगा। ऐसा होने के कारण बोसाँकि अपने विवेचन में सुखानुभूति को अंत तक नहीं छोड़ता। रस एक या अनेक, इस प्रश्न को बोसाँकि को अभिप्रेत उत्तर लागू होगा, ऐसा लगता है। मूल अनुभव आनंदरूप होने के कारण और यह आनंदरूपता अंत तक टिकनेवाली होने के कारण रसानुभव को आनंदरूप ही कहा जाएगा। इस दृष्टि से यह तय होता है कि रस एक ही है और वह आनंदरूप है। लेकिन मूल में संबंधरहित अनुभव में संबंध उत्पन्न होने पर अलग-अलग भावनादि चीजें अनुभवविषय के रूप में प्रतीत होने लगती हैं। इन भावस्थितियों को हम करुण, हास्य, वीर इत्यादि नाम दे सकते हैं। चूँकि इन भावनाओं से रसानुभव में विशिष्ट अंतर पड़ता है, हम कह सकते हैं कि रस अनेक हैं।

(इ) फीलिंग शब्द का तीसरा भी अर्थ है। "थ्री लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक" ग्रंथ के 18 वें पृष्ठ पर बोसाँकि कहता है, "And it is the task of aesthetic perception ....to choose or create the object, the appearance, whose form and soul or life will satisfy feeling." इस अवतरण के "will satisfy feeling" शब्दों का निश्चित अर्थ क्या है? एक अर्थ यह कि जिस फीलिंग से खिला हुआ अनुभव निकला वह खाली होने तक एवं उसकी क्षमता की स्वाभाविक सीमाएँ छूने तक उस अनुभव

को खिलाया जाए तो उस फीलिंग का संतोष होता है, तृप्ति होती है। लेकिन "फीलिंग" का और भी एक अर्थ है। हम कहते हैं कि अमुक का 'फीलिंग ऑफ वर्ड्स' याने "शब्दों का ज्ञान" अच्छा है। इसका अर्थ यह कि वह शब्द की परख अच्छी तरह करता है, लिखते समय शब्दों का औचित्यपूर्ण उपयोग करता है। दूसरी तरह से उसे यों कहा जा सकता है कि उसे शब्दों के संबंध में "दृष्टि (पहचान)" है। उसमें अच्छा-बुरा वह जानता है। अनुभव को कितना और कैसे खिलाया जाए, यह कलाकार की फीलिंग पर निर्भर है। मतलब अनुभव को कैसे और कितना खिलने पर वह मन के अनुकूल होगा, यह वह जानता है। उसके पास वह "दृष्टि" होती है। यह कहा जा सकता है कि यह "फीलिंग " और कांट जिसे "कॉमन सेन्स" कहता है वह शक्ति एक ही है। इस फीलिंग के कारण नियमरहित नियमितता का, ज्ञानशक्तियों के मुक्त मेलन का, प्रयोजनरहित प्रयोजनपूर्णता का झटितिप्रत्यय आता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि बोसाँके कम-से-कम तीन अर्थों में "फीलिंग" शब्द का प्रयोग कर रहा था। वे तीन अर्थ हैं : (अ) विशिष्ट व्यक्तियो की भावस्थिति, (आ) संबंधरहित अनुभव, और (इ) किसी बंध में उपस्थित विभिन्न चीजें एक दूसरे को शोभा देती हैं या नहीं, यह समझने की दृष्टि। बोसाँके जब फीलिंग शब्द का प्रयोग करता है तब उसे चाहिए था कि वह किस अर्थ में उसका प्रयोग करता है, यह स्पष्ट करे। यह उसने नहीं किया। यह उसकी पुस्तक की एक बहुत बडी न्यूनता है। ये अर्थ अलग-अलग करने की जरूरत उसने महसूस नहीं की होगी। या उन भेदों का उसे स्पष्ट एहसास नहीं रहा होगा कि सौंदर्यानुभव के संदर्भ में इन तीन अर्थो के संबंध इस प्रकार दिखाए जा सकते हैं। सौंदर्यानुभव एक संबंधरहित अनुभव में से निर्मित होता है (अर्थ 'आ')। इस मूल अनुभव में संवेदनात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक, तीन अंग होते हैं। सौदर्यानुभव में क्रियात्मक अंग का लोप होता है। संवेदनात्मकता का एहसास तीव्र होता है लेकिन ज्ञानव्यवहार में सदैव प्राप्त होनेवाली ज्ञानद अवधारणाओं की सहायता से संवेदनाओं का संश्लेषण नहीं होता। भावनात्मक अंग का विकास होकर कारुण्यादि भावनाएँ जागृत होती हैं।(अर्थ "अ") उपरोल्लेखित इंद्रियसंवेद्य घटक में ये भावनाएँ देहीभूत होती हैं। इन भावनाओं एवं उनके इंद्रियसंवेद्य देह की कैसे और कितनी वृद्धि होने पर अनुभव संतोष एव तृप्ति प्राप्त करा देगा, यह हमें फीलिंग के कारण ही मालूम होता है। (अर्थ "इ")।

इसके बाद हम क्रोचे एवं कुछ अंशों में कालिंगवुड के सिद्धांत का परिचय करा लेंगे। क्रोचे और कालिंगवुड के सिद्धांतों में इतनी समानता है कि क्रोचे के परिचय से भी काम चल सकता है। लेकिन कहीं कहीं कालिंगवुड का विवेचन क्रोचे से भिन्न भी है, इसलिए कालिंगवुड के सिद्धांत का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

5.4

क्रोचे के लेखन के संबंध में एक शिकायत सदैव सुनने में आती है। वह यह कि ऐसा लगता है कि वह समझ में आ गया है। लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि वह निश्चय ही समझ में आ गया है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि क्रोचे एक ही समय दो सिद्धांत प्रस्तुत कर रहा था। एक ज्ञानशास्त्रीय एवं दूसरा कलास्वरूप के संबंध में और ये दोनों सिद्धांत एक ही हैं, ऐसा उसका विचार होने के कारण उसने उन सिद्धांतों को अलग-अलग नहीं प्रस्तुत किया। इन दो सिद्धांतों में कुछ मामलों में साम्य होने के कारण यह गलतफहमी कुछ लोगों में फैली हुई है कि वे सर्वथा समान हैं। उदाहरण के लिए मैं एक साम्य-स्थल का उल्लेख करता हूँ। कलास्वरूप के संबंध में लिखनेवाला क्रोचे स्वच्छंदवादी कला (romantic art) का पुरस्कर्ता था। यह सबको मालूम है कि स्वच्छंदवादी कला में व्यक्तित्त्व की अवधारणा का बहुत महत्त्व है। क्रोचे ने अपने ज्ञानशास्त्रीय विवेचन में यह सिद्धांत प्रस्तुत किया है कि प्रातिभज्ञान (intuition) के विषय विशेष व्यक्तितत्त्वपूर्ण होते हैं।[41] दोनों संदर्भों में व्यक्तितत्त्व की अवधारणा का अतिशय महत्त्व है। इससे यह सिध्द होता है कि क्रोचे के इन दोनों सिध्दांतों में कुछ मामलों में बहुत साम्य है। लेकिन यह इससे सिध्द नहीं होता कि ये दोनों सिध्दांत सभी अंगों में समान हैं।

क्रोचे द्वारा प्रयुक्त केंद्रीय अभिधानों के अर्थ अलग-अलग हैं, इसका ज्ञान पाठक को नहीं होगा तो बहुत गड़बड़ी पैदा होती है। कभी इन अनेकार्थी अभिधानों के कारण क्रोचे को भी उलझन में रहना पडा होगा। उनकी "एस्थेटिक" पुस्तक में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।

क्रोचे कुछ शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थो में करता था। यह दिखाने के लिए अभिव्यंजना (expression) शब्द का उदाहरण ले सकते हैं, अभिव्यंजना शब्द को क्रोचे ने अपने "एस्थेटिक" ग्रंथ में तीन अर्थो में प्रयुक्त किया है। परायत्त सौंदर्य की चर्चा करते हुए क्रोचे ने कहा है कि कीले, राजमहल इत्यादि मानवनिर्मित वस्तुएँ सुंदर हैं क्योंकि उनकी प्रयोजनपूर्ण रचना उनके प्रयोजनों की अभिव्यंजना करती है। यहाँ प्रयोजन एवं प्रयोजनपूर्ण रचना के बीच के संबंध का बोध अभिव्यंजना शब्द से होता हैं।[42] इस अभिधान को क्रोचे का दिया हुआ दूसरा अर्थ सामान्यत: हम उसे जो अर्थ देते हैं, उससे मिलता जुलता है। मन में जो रहता है उसके बाह्यीकरण को सामान्यत: अभिव्यंजना कहा जाता है। लगता है कि क्रोचे को यह अर्थ स्वीकृत है। क्रोचे ने "एस्थेटिक" में अभिव्यंजना को 'मानवीय भाषा' अर्थ भी दिया है और "भाषा" शब्द में कलाकार की सभी अभिव्यंजनाओं को अंतर्भूत किया है। उदाहरणार्थ गायक के स्वर, चित्रकार के रंग इत्यादि।[43] 'एस्थेटिक' का बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण भाग "अभिव्यंजना" शब्द के तीसरे अर्थ के विवरण में खर्च किया गया है। पुस्तक के इस

भाग में क्रोचे "अभिव्यंजना" शब्द को एक ज्ञानशास्त्रीय अर्थ में इस्तेमाल में लाता है। यह अर्थ-विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण हम उसकी अधिक तफसील में जाकर चर्चा करनेवाले हैं।[44]

क्रोचे ने अभिव्यंजना शब्द को जो ज्ञानशास्त्रीय अर्थ दिया है, उसका व्यवस्थित रूप में आकलन करने के हेतु उसकी कुल अतिभौतिक विचारप्रणाली की जानकारी हमें प्राप्त करनी चाहिए। उसकी राय में विश्व का अंतिम स्वरूप चैतन्यमय (spiritual) है। इस विश्वचैतन्य के चार पहलू या अंग (moments)इस प्रकार हैं: विशिष्ट का ज्ञान, सामान्य का ज्ञान, व्यवहार, नीतिव्यवहार, क्रमशः (intuitive, logical, economical, ethical अंग)। इनमें से पहले दो पहलुओं को ज्ञानात्मक (theoretical) पहलू कहते है और दूसरे दोनों को व्यवहारात्मक पहलू कहते हैं। अगर यह माना जाए कि मानव विश्वचैतन्य का केंद्रबिंदु है, तो उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

मानव जीवन के दो पहलू है– उसकी ज्ञानप्रक्रिया एवं उसका क्रिया व्यवहार, मानवी ज्ञान दो प्रकार का होता है– विशिष्ट का ज्ञान एवं सामान्य का ज्ञान। क्रियाव्यवहार भी दो प्रकार का होता है–अपने अभिलाषित की प्राप्ति के लिए की गई क्रियाएँ और अपनी इच्छाशक्ति की नैतिकता का नियमन करते किया हुआ नीतिव्यवहार। इन पहलुओं के पारस्परिक संबंध इस प्रकार होते हैं। हर जोड़ी में दूसरा पहलू पहले पहलू पर निर्भर रहता है।

लेकिन पहला दूसरे पर निर्भर नहीं रहता। उदाहरण के लिए सामान्य का स्पष्ट ज्ञान न रहते हुए भी विशेष का ज्ञान हो सकता है, लेकिन सामान्य का ज्ञान विशेष ज्ञान के बिना नहीं होता। इस संबंध को क्रोचे ने "दो स्तरों का संबंध (the relation of double degree)" नाम दिया है।

पहले ज्ञानात्मक पहलू को प्रातिभ ज्ञान[45] (intuitive knowledge) और दूसरे को तार्किक एवं अवधारणात्मक ज्ञान (logical knowledge) कहते हैं। पहला कल्पनाशक्ति के कारण उपलब्ध होता है तो दूसरा अवधारणाशक्ति (intellect) के कारण। पहले के विषय व्यक्तिपूर्ण विशिष्ट होते हैं, तो दूसरे के विषय सामान्य होते हैं। पहले से बिंब (images) उत्पन्न होते हैं तो दूसरे से अवधारणाएँ। यह नदी, यह तालाब, यह झरना, यह वर्षा, यह जल का प्याला ये सब प्रातिभ ज्ञान के विषय (intuitions) हैं। जल या जलत्व अवधारणा है।[46] प्रातिभ ज्ञान एवं अवधारणा ज्ञान में श्रेष्ठ क्या है? इसमें से एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकता, इसलिए श्रेष्ठ या कनिष्ठ का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

उपर्युक्त "दो स्तरों" के संबंधवाले तत्त्व से किसी की यह धारणा बन सकती है कि विशेष का ज्ञान बिना सामान्य ज्ञान के हो सकता है। लेकिन यह धारणा ठीक

नहीं। प्याले का जल "जल" ही है, यह पहचानने के लिए "जलत्व" का ज्ञान जरूरी है। क्रोचे के कथन का आशय यह है कि वैज्ञानिक को जल के भिन्न-भिन्न रूपों से अलग किए हुए जलत्व जैसा स्पष्ट (explicit) ज्ञान होता है, वैसा सामान्य का स्पष्ट ज्ञान विशिष्ट के प्रातिभ ज्ञान में आवश्यक नहीं होता। क्रोचे एक स्थान पर कहता है कि जिन्हें काल और अवकाश के आयाम नहीं हैं, ऐसे विशिष्टों का प्रातिभ ज्ञान हमें हो सकता है।[47] इस पर भाष्य करते हुए विल्डन कार कहते हैं कि यहाँ क्रोचे को अवकाश-कालातीत ज्ञान अभिप्रेत है।[48] लेकिन ऐसा कहना वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं होगा। किसी भी अनुभव को काल और अवकाश के परिमाण होते ही हैं। कम-से-कम काल का परिमाण तो होगा ही। मेरी समझ में क्रोचे इतना ही कहना चाहता है कि जिसमें अवकाश एवं काल को अलग किया हुआ स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, ऐसा विशेष ज्ञान संभव है।

इस मुद्दे को लेकर एक और स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। क्रोचे मान्य करता है कि शिक्षित व्यक्ति के विशिष्ट ज्ञान में सामान्य का ज्ञान अनुस्यूत रहता है। वह यह कहता है कि जो अवधारणाएँ विशिष्टों से एकरूप हुई अवधारणाओं को स्वतंत्रता या स्वायत्तता नहीं होती। इसके लिए क्रोचे ने एक उदाहरण दिया है। नाटक के पात्र के मुँह में जो तात्त्विक संवाक्य होते हैं, उन का कार्य तात्त्विक सत्य कथन करना न होकर ऊस पात्र के व्यक्तित्व को ऊभारना ही होता है।[49]

क्रोचे ने प्रातिभ ज्ञान एवं संवेदनाजन्य ज्ञान (sense perception) के बीच अंतर किया है। दोनों ज्ञान के विषय विशिष्ट वस्तुएँ (particulars) ही होती हैं। लेकिन संवेदनाजन्य ज्ञान का विषय वास्तविक जगत् में अस्तित्व में हैं, ऐसा हमारा दावा नही होता।[50] "सामनेवाली मेज शीशम की है", यह संवेदनाजन्य ज्ञान-संवाक्य दावा करता है कि सामने सचमुच मेज है। लेकिन प्रातिभ ज्ञान का विषय सचमुच अस्तित्व में है, ऐसा हमारा दावा नहीं होता। लेकिन ऐसा भी तो हम नहीं कहना चाहते कि वह वस्तु अस्तित्व में न होकर केवल आभासमय है। क्रोचे के कथन के अनुसार विषय के अस्तित्व का प्रश्न तो यहाँ अप्रस्तुत है। निरपेक्ष आनंद की अवधारणा का विवरण करते हुए कांट ने यही भूमिका ग्रहण की थी, इसका स्मरण यहाँ होता है।

क्रोचे ने प्रातिभ ज्ञान को और एक चीज से अलग किया है। इस चीज को क्रोचे संवेदना, भावना, ऊर्मि इत्यादि (sensation, feeling, emotion, impulse, content, matter) नाम देता है। इस संदर्भ में "फीलिंग" एवं "इमोशन" शब्द का अर्थ अनाकारित जड़ द्रव्य होता है। इन शब्दों का दूसरा भी एक अर्थ है और वह हमारे अधिक परिचय का है। क्रोध, भय इत्यादि को "भावना" नाम देते समय यह दूसरा अर्थ अभिप्रेत होता है। कांट की तरह एवं विश्वचैतन्यवादियों की तरह क्रोचे भी यह मानता है कि मानवीय ज्ञान में दो प्रकार के घटक होते हैं। (1) बाहर से प्राप्त घटक,

एवं (2) अनुभवपूर्व घटक। इन दो घटकों के योग से ज्ञान प्राप्त होता है। कांट की राय में हमें बाहर से संवेदनाओं की सामग्री (sensory manifold) प्राप्त होती है। क्रोचे की राय में ये संवेदनाएँ जड़ रूप में हमारी ओर नहीं आतीं। क्योंकि जो केवल जड़ है वह मानवीय अनुभव का विषय ही नहीं हो सकता।[51] संवेदनाओं की जो सामग्री ज्ञानप्रक्रिया के लिए हमें प्राप्त होती है, उसमें से हर घटक अनुभवपूर्व आकार की चौखट में ही अनुभव कराता है। प्रातिभ ज्ञान आकारित करनेवाली क्रिया है। कांट की राय में काल एवं अवकाश, इन अनुभवपूर्व आकारों द्वारा इस क्रिया की नींव डाली जाती है। क्रोचे की राय में इन आकारों के पहलेवाला एक अनुभवपूर्व आकार ध्यान में लेना जरूरी है। वह है विशेषत्व (character, individual, physiography)[52]

अनुभवविषय को विशिष्टता होनी चाहिए, यह प्रातिभ ज्ञान की शर्त होती है। लेकिन इस विशिष्ट का विशिष्टत्व किसमें है, यह तो प्रातिभ ज्ञान तय नहीं कर पाता। वस्तु और वस्तु के बीच के अंतर को समझना हो तो प्रातिभ ज्ञान को जड़ तत्त्व पर ही निर्भर रहना पड़ता है। लेकिन यह कहने का कारण ही नही है कि ऐसा जड़ तत्त्व सचमुच में होता है। ऐसा जड़ तत्त्व होता है, यह केवल ज्ञानशास्त्र की सुविधा के लिए ही मानना होता है। क्योंकि जो विशिष्टता की मुहर लेकर आता है, वही मानवीय ज्ञान का विषय हो सकता है। मतलब यह है कि जड़ तत्त्व का जड़ तत्त्व के रूप में ज्ञान होना तार्किक दृष्टि से असंभव है। जडतत्व को मानवीय ज्ञान की सीमा में लाने वाली प्रक्रिया को ही प्रातिभ ज्ञान या अभिव्यंजना नाम क्रोचे ने दिया है।[53] जड़ तत्त्व अनेकता-स्वरूप होता है। इस अनेकता का संश्लेषण करना एवं उसमें से उत्पन्न विशेष तत्त्व प्रकाश में लाना प्रातिभ ज्ञान का कार्य हैं।[54] ज्ञान—प्रक्रिया में आगे उपयोजित अवधारणाओं के अनुसार यह संश्लेषण नहीं होता। अत: क्रोचे उसे प्रातिभ ज्ञान के स्तर पर अनुभवपूर्ण आकार की सहायता से किया हुआ संश्लेषण (a priory aesthetic synthesis) नाम देता है।[55] यहाँ कांट के द्वारा लिखित ज्ञानशक्तियों के मुक्त मेलन का विवेचन स्मरण में आता है। सभी विश्वचैतन्यवादियों पर कांट का कितना गंभीर प्रभाव था, यह इससे प्रकट होता है।[56]

प्रस्तुत विवेचन में क्रोचे ने "अभिव्यंजना" और "प्रातिभ ज्ञान" शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त किए हैं। "अभिव्यंजना" शब्द का यह बिलकुल ही अपरिचित अर्थ है, इसमें संदेह नहीं। हम अभिव्यंजना शब्द को उद्‌गार या कुछ अर्थ प्रतिपादन करनेवाले प्रतीक के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। स्वयं क्रोचे ने इस शब्द को इसी अर्थ में "एस्थेटिक" ग्रंथ में प्रयुक्त किया है। लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रातिभ ज्ञान के संदर्भ में यह अर्थ उचित नहीं है। फिर क्रोचे ने प्रातिभ ज्ञान के अर्थ में अभिव्यंजना शब्द क्यों प्रयुक्त किया? इसके संबंध में मेरा खयाल इस प्रकार है — "अभिव्यंजना (cxpression) एवं संवेदना (impression) दोनों अभिधानों के जो अर्थ मध्ययुगीन दर्शन की परंपरा

में अभिप्रेत हैं वे ही क्रोचे को भी अभिप्रेत हैं। ज्ञान के जड़ एवं आत्मिक घटकों के नाम के रूप में "संवेदना (species impressae)" और "अभिव्यंजना (species expressae)" शब्द मध्ययुगीन दर्शन में प्रयुक्त होते थे। संवेदना की अभिव्यंजना (expression of impression) का अर्थ ऐसे बिंबों एवं कल्पनाओं का निर्माण करना जो ज्ञान के जड़ तत्त्व में से मानवीय ज्ञान के विषय बनेंगे। चूँकि अवधारणाओं को प्रातिभ ज्ञान में स्थान नहीं होता, क्रोचे ने बिंब के अर्थ में "अभिव्यंजना" शब्द का इस्तेमाल किया है। बिंबों का निर्माण करना प्रातिभ ज्ञान का कार्य है। "एस्थेटिक" में "भावना की अभिव्यंजना" के दो अर्थ हैं : (अ) जड़ द्रव्य को आकारित करना एवं उसमें से वैशिष्ट्यपूर्ण बिंब का निर्माण करना, और (आ) क्रोध, भय इत्यादि भावनाओं का बाह्यीकरण करना। वर्डस्वर्थ जैसे व्यक्ति जब "काव्य को भावना की उस्फूर्त अभिव्यंजना" कहते हैं तो उन्हें ऊपर के दो में से दूसरा अर्थ अभिप्रेत होता है, पहला नहीं—दार्शनिक क्रोचे को दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं। इसीलिए ऐसा लगता है कि क्रोचे एक ही समय दो अलग-अलग सिद्धांत प्रस्तुत कर रहा था। हमने ऊपर देखा है कि "फीलिंग" शब्द बोसाँकि ने भी तीन अर्थों में प्रयुक्त किया हैं। लेकिन इन तीन अर्थो के बीच संबंध हम दिखा सकेंगे ऐसा क्रोचे के बारे में संभव नहीं दिखता। इसमें से कालिंगवुड ने एक रास्ता खोजा है। उसकी चर्चा इसी प्रकरण में बाद में आनेवाली है।

यह हमने देखा है कि क्रोचे ने "प्रातिभ ज्ञान" एवं "अभिव्यंजना" शब्द समान अर्थमें प्रयुक्त किए हैं। "एस्थेटिक" के दूसरे प्रकरण में वह कहता है कि कलाकृति या सुंदर वस्तु याने प्रातिभ ज्ञान या अभिव्यंजना। उसका दावा यह है कि उसने प्रातिभ ज्ञान के बारे में जो भी कुछ कहा है वह सब कलाकृति पर लागू होता है. लेकिन इसको मान्य करने में एक धोखा है। इसके कारण जिन्हें सामान्यत: कलाकार समझा जाता है वे और सामान्य जन इनके बीच का अंतर ही खत्म होता है, क्योंकि प्रातिभ ज्ञान की क्रिया कलाकार की भाँति सामान्य व्यक्ति में भी चलती रहती है। लेकिन क्रोचे इस धोखे को स्वीकार करने को तैयार है। वह कहता है कि सामान्य व्यक्ति एवं कलाकार के बीच तत्त्वत: कोई फर्क नहीं है। जो फर्क है वह केवल संख्यात्मक है। जिस तरह एक किलो शक्कर और एक बोरा भर शक्कर के बारे में अंतर संख्यात्मक है न कि गुणात्मक, उसी तरह यहाँ भी सामान्य व्यक्ति को क्रोचे के ये विचार कितने ही पसंद आ गए हों,[57] उसे यह अवश्य लगेगा कि उसमें कुछ चमत्कारिकता है, क्योंकि यह हर किसी को स्वीकार करना पड़ेगा कि शेक्स्पीअर की भाँति हम भी कवि हैं। यह विषय कितना ही आनंददायी हो, सही नहीं है।

क्रोचे की राय में दर्शन एवं इतिहास से कला अलग है, क्योंकि व्यक्तितत्त्व की खोज कला का कार्य है तो सामान्य की खोज दर्शन का ध्येय है। इतिहास में वर्णित

घटनाएँ वास्तव जगत् में सचमुच ही घटित हो गई हैं, ऐसा इतिहासकारों का दावा होता है। कलाकार ऐसा दावा नहीं करता।[58] लेकिन कला, इतिहास एवं दर्शन को एक दूसरे से अलग न करने के कारण समीक्षाशास्त्र में सामान्य (universal type) एवं संभवनीयता (probability) अवधारणाओं को बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ। क्रोचे का कहना है कि एक तो इन अवधारणाओं को समीक्षाशास्त्र में स्थान नहीं देना चाहिए।[59] क्रोचे ने वाड्.मय विधा की अवधारणा पर भी हमला किया था। सुखात्म, शोकात्म, महाकाव्य, नाट्य इत्यादि वर्गीकरण गलत तात्त्विक नीव पर आधारित है, यह उसकी राय है।[60]

क्रोचे ने ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक प्रक्रियाओं को एक दूसरे से अलग किया और कला को ज्ञानात्मक प्रक्रिया में स्थान दिया।[61] इस विभाजन से दो महत्त्वपूर्ण मुद्दे उत्पन्न हुए हैं। (1) क्रोचे की राय में ज्ञानात्मक प्रक्रिया व्यवहारात्मक प्रक्रियाओं पर निर्भर नहीं होती। सामान्यत: हम म्यूज़ियम में दीवार पर टंगे चित्रों को अथवा आर्ट गैलरी में रखे पुतलों को कलाकृति कहते हैं। ऐसी कलाकृतियाँ बनानी हों तो ब्रश से कैनवास पर रंग लगाना पड़ता है, या छेनी से पत्थर को आकार देना पड़ता है। लेकिन क्रोचे की राय में ये क्रियाएँ व्यवहारात्मक प्रक्रियाओं में गिनी जाती हैं। मतलब यह है कि कलानिर्माण अगर ज्ञान--प्रक्रिया है और कैनवास पर रंग लगाना इत्यादि क्रियाएं व्यवहारात्मक प्रक्रियाएँ हैं, तो दोनों का एक दूसरे से वैसा संबंध भी नहीं होना चाहिए। यही दावा क्रोचे ने किया है। उसकी राय में सही कलाकृति मन में होती है। जिस बाह्य वस्तु को हम सामान्यत: कलाकृति कहते हैं, वह सही अर्थ में कलाकृति ही नहीं होती।[62]

अगर "अभिव्यंजना" का अर्थ उद्‌गार या बाह्यीकरण किया जाए तो क्रोचे की भूमिका बहुत ही चमत्कारिक लगती है। लेकिन अगर इस अभिधान का अर्थ हम ज्ञानशास्त्रीय लें तो यह भूमिका जँचने वाली लगती है, क्योंकि जानना याने कोई भी शारीरिक एवं व्यवहारात्मक कृति करना नही होता।

(2) क्रोचे की राय में कलाकृति के निर्माण के पहले कलाकृति के आशय एवं विषय का चुनाव करना असंभव होता है।[63] अगर आशय याने ज्ञानशास्त्रीय विवेचन का जड़ तत्त्व है तो क्रोचे का अभिप्राय ठीक है, क्योंकि चुनाव करने से पहले जिसका चुनाव करना है, उसके स्वरूप को तो समझना ही चाहिए। मतलब यह है कि जड़ तत्त्व ज्ञान की परिधि में आना चाहिए। लेकिन वह ज्ञान के क्षेत्र में आ जाए तो (ज्ञानशास्त्रीय अर्थ में) उसकी अभिव्यंजना हो गई हुई ही होती है। इसलिए अभिव्यंजना के पहले आशय का चुनाव असंभव होता है। लेकिन अगर "आशय" शब्द का अर्थ "अर्थ", "अभिप्राय", "विषय" लिया जाए तो आशय की अभिव्यंजना का पूर्ण चुनाव करना असंभव क्यों हो, यह समझ में नही आता।

क्रोचे की राय में एक आशय की एक ही अभिव्यंजना हो सकती है। इसपर से यह कहा जा सकता है कि कलाकृति का अनुवाद असंभव है। बहुत बार अनुवाद मूल कलाकृति की तरह नहीं होता, वह कुछ कम दर्जे का ही होता है। अगर मूल की तरह अनुवाद किया जाए तो उसमें विरूपता पैदा होती है। अगर वह सुंदर होगा तो मूल जैसा नही होता। इस तरह इस अनुवाद की ओर नई कलाकृति के रूप में ही देखना ठीक है।[64]

तकनीक के संबंध में क्रोचे के विचार ध्यान में लेने लायक हैं। एक बार यह स्वीकार किया जाए कि कलाकृति मानसिक वस्तु है, तो तकनीक का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि मानसिक कलानिर्माण इच्छाशक्ति की परिधि में नहीं आता, इसलिए उसका तकनीक संभव नहीं है। उसके बारे में साध्य एवं साधन की अवधारणाएँ लागू नहीं पड़तीं। परंतु यदि बाहर की वस्तुओं को (उदाहरणार्थ, पुतला) कलाकृति माना जाए तो वस्तुओं के निर्माण का तकनीक संभव बनता है। क्रोचे बारबार कहता है कि कलाकृति बाहर की वस्तु नहीं होती। इस वजह से तकनीक की समस्या का सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में महत्त्व नहीं।[65] "एस्थेटिक" के पंद्रहवें अध्याय में कला एवं नीति के बारे में क्रोचे की मान्यताएँ आती हैं। अगर कलाकृति मानसिक वस्तु होगी, तो कला पूर्णत: स्वायत्त है। यह कहा जा सकता है कि नीति से उसका किसी प्रकार का संबंध नही है। लेकिन कलानिर्माण बाह्य वस्तुओं का निर्माण हो तो फिर उसपर नीतिनियमों के बंधन पड़ जाते हैं।

क्रोचे की राय में प्रतिभा एवं अभिरुचि एक ही है। कलाकृति का आस्वाद लेना क्या होता है? कलाकार जो बाह्य वस्तु निर्मित करता है, उसकी मदद से रसिक को मूल मानसिक कलाकृति का पुन: निर्माण करना चाहिए। ऐसा किया जाए तभी उसे आस्वाद कहा जा सकता है। यह करते समय कलाकार की विशिष्ट दृष्टि से ही कलाकृति की ओर देखना आवश्यक है। यह करना कठिन हो तो भी असंभव नहीं क्योंकि प्रतिभा एवं अभिरुचि तत्त्वत: एक ही है। वे अलग हों तो कलाकृति का आस्वाद कैसे संभव है?[66]

क्रोचे पर लिखते समय कैरिट ने दो आक्षेप लिए हैं। ये आक्षेप महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि कैरिट स्वयं अभिव्यंजनावादी है। (1) प्रातिभ ज्ञान का हर विषय भावना की अभिव्यंजना होता है, यह क्रोचे की राय कैरिट को मान्य नहीं है। यह खेल, यह नदी इत्यादि चीजें प्रातिभ ज्ञान के विषय होते हैं। क्रोचे का कहना है कि इनमें भावना या जड़ तत्त्व आकारित रहता है। मतलब इन सभी चीजों में भावना आकारित या अभिव्यंजित होती है। और ये सभी चीजें भावनाओं की अभिव्यंजना हैं। अत: सुंदर भी ठहरती हैं। विशिष्टता, यह आकार सभी प्रातिभ ज्ञानों में समान होता है। भावना या जड़ तत्त्व के कारण "यह टेबुल" एवं "यह नदी", इनमें भेद होता है। कभी भावना

की अभिव्यंजना "टेबुल" रूप धारण करती है; अन्य अवसर पर वह निराशा के आंतरिक आक्रोश के रूप में अवतरित होती है। अगर भावना-भावनाओं में जाति-साम्य होगा तो टेबुल एवं आक्रोश की अभिव्यंजनाओं में जाति का फर्क क्यों होता है? क्रोचे इसका संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकता। (2) क्रोचे के सिद्धांत के कारण एक का प्रातिभ ज्ञान दूसरे को कैसे प्रतीत होता है, इसपर प्रकाश नहीं पडता, मान लीजिए, "क्ष" ने अपनी संवेदना की मानसिक अभिव्यंजना सिद्ध की और स्मृति की सहायता के रूप में या अपनी अभिव्यंजना दूसरों को ज्ञात हो, इसलिए बाह्य जगत् में एक इंद्रियसंवेद्य प्रतीक निर्मित किया। इस प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार हो सकता है : सं(वेदना) अभि(व्यंजना) –> (बाह्य) प्र(तीक)। अब कल्पना करें कि "क्ष$_1$" रसिक को "क्ष$_1$" का आस्वाद लेना है। उसके सामने सिर्फ "प्र" है। "अभि$_1$" की प्रक्रिया का स्वरूप इस प्रकार होगा: सं$_1$ (=प्र) अभि$_1$ है। यहाँ यह गृहीत मानकर चलना चाहिए कि प्र (= सं$_1$) के "क्ष" से एवं "अभि" से जो संबंध हैं, वही "क्ष$_1$" से एवं अभि$_1$ से भी हैं। अब प्रश्न यह है कि "क्ष" द्वारा निर्मित "प्र", यह "क्ष$_1$" का अनुभवविषय कैसे होगा? क्रोचे ने कहा ही है कि अपनी भावनाओं एवं संवेदनाओं की अभिव्यंजना ही अपने अनुभव का विषय होती है। मतलब यह है कि "प्र" के कारण "क्ष", एव "क्ष$_1$" दोनों में एक ही संवेदना या भावना निर्मित हुई तो उनकी अभिव्यंजनाएँ समान होंगी। लेकिन क्रोचे का सिद्धांत स्वीकार करने पर यह असंभव है, क्योंकि 'क्ष$_1$' को "प्र" का प्रातिभ ज्ञान हो इसलिए ही अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना सिद्ध करनी होगी! और 'क्ष$_1$' ने अपनी भावना की अभिव्यंजना की भी तो उसके कारण अभि$_1$ और प्र$_1$ निर्मित होंगे। लेकिन "प्र" और "प्र$_1$" एक ही हैं, यह कैसे कहा जाएगा? कैरिट के दो आक्षेपों में से पहला अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वह क्रोचे के सिद्धांत के सारभाग को छूता है। इस अड़चन से मुक्त होने के लिए कैरीट सुझाता है कि क्रोचे को चाहिए कि वह प्रातिभ ज्ञान एवं अभिव्यंजना की एकरूपता के सिद्धांत को छोड़ दे। यह मान्य करना होगा कि हर प्रातिभ ज्ञान का विषय अभिव्यंजना होगा ही, ऐसा नहीं।[67] कैरिट के इन आक्षेपों के कारण क्रोचे का सिद्धांत घेरे में पकड़ा गया है। लेकिन कालिंगवुड ने इस घेरे को अंशत: तोड़ा है, क्योंकि उसके विवेचन के कारण उपरोल्लेखित पहले आक्षेप का उत्तर मिल जाता है।

5.5

क्रोचे का सिद्धांत कालिंगवुड ने अपने "प्रिन्सिपल्स ऑफ आर्ट" ग्रंथ में कुछ भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया है।[68] उसका हम संक्षेप में विचार करेंगे। कालिंगवुड का कहना है कि "कला" शब्द अनेकार्थवाचक होने के कारण कलास्वरूपशास्त्र को अभिप्रेत अर्थ अन्य अर्थो से अलग करने की आवश्यकता है।[69] कला क्या है, यह समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि कला क्या नहीं है। कला हस्तव्यवसाय या कारीगरी (craft)

नहीं है जिसका तकनीक सीखा या सिखाया जा सकता है।[70] कला वास्तव की प्रतिकृति नहीं है।[71] अपने व्यवहार में उपर्युक्त विवक्षित भावनाओं की जागृति करने अथवा मनोरंजन करने का साधन नहीं है।[72] कला के दो व्यावर्तक लक्षण हैं : (1) अभिव्यंजना और (2) कल्पना।[73] अपने ग्रंथ के आठवें, नौवें एवं दसवें अध्याय में अभिव्यंजनासंबंधी सिद्धांत प्रस्तुत किया है। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि आठवें, नौवें, दसवें अध्यायों में कॉलिंगवुड का विवेचन पूर्णतः ज्ञानशास्त्रीय है। ग्यारहवें अध्याय में भाषासंबंधी अपने सिद्धांत को इस ज्ञानशास्त्रीय विवेचन के साथ जोड़ा है। मतलब यह कि क्रोचे की भाँति कॉलिंगवुड भी मुख्यतः एक ज्ञानशास्त्रीय प्रश्न के साथ संघर्ष कर रहा है। कला की एक ज्ञानशास्त्रीय प्रक्रिया के साथ संगति बिठाकर उसने अपना कलास्वरूप खड़ा किया है।

क्रोचे के ज्ञानशास्त्रीय विवेचन एवं कालिंगवुड के विवेचन में बहुत अधिक साम्य होने के कारण कालिंगवुड के सिध्दांत की चर्चा संक्षेप में की जा सकती है। कालिंगवुड की राय में "फीलिंग"[74] यह अनुभवप्रकार एवं विचार (thought) में निम्नलिखित अंतर है।(1) विचार में द्विध्रुवात्मकता (bi–polarity) होती है। विचार करने की प्रक्रिया सफल होती है या असफल, उसे सत्य प्राप्त होता है अथवा नहीं होता। यह द्विध्रुवात्मकता फीलिंग में नहीं होती, क्योंकि फीलिंग की अवस्था में चेतना की ओर से कोई भी प्रयत्न नहीं होता। (2) विचार सर्वमान्यता का दावा करता है, फीलिंग व्यक्ति–सापेक्ष ही होती है। आज तपमान 112° है। यह विचार जिस तरह एक व्यक्ति के लिए सच है वैसे सभी के लिए सच है, लेकिन "मुझे आज बहुत गर्मी महसूस हो रही है," यह फीलिंग के संबंध में संवाक्य व्यक्तिसापेक्ष है:- (3) किसी विचार का उसके विरोधी विचार से प्रतिवाद किया जा सकता है इस तरह का प्रतिवाद फीलिंग के संबंध में संभव नहीं होता। (4) फीलिंग क्षणिक होती है। फीलिंग का प्रवाह सतत बहता रहता है। विचार को स्थिरता प्राप्त हुई होती है।

इसके बाद कॉलिंगवुड ने दिखाया है कि फीलिंग के दो पहलू होते हैं। : संवेदना (sensation) एवं भावना (emotion)। भावना संवेदना पर निर्भर होती है, यह दिखाने के लिए कॉलिंगवुड उसके बारे में "इमोशनल चार्ज" शब्द का प्रयोग करता है। फीलिंग विचार पर निर्भर नहीं होती। फीलिंग विचार के पहले कि अनुभवावस्था है। अनुभव के इस स्तर के लिए "सायकिकल लेवल ऑफ एक्सपीरिअन्स" शब्द का प्रयोग कॉलिंगवुड ने किया है। प्राथमिक स्तर पर विचार का एक ही एक विषय फीलिंग ही होता है। समस्त अनुभवाधिष्ठित (empirical) विचार फीलिंग संबंधी ही होता है, क्योंकि उसका कार्य विभिन्न संवेदनाओं में संबंध स्थापित करना होता है। यहाँ एक अड़चन उत्पन्न होती है। अँगर संवेदनाएँ क्षणिक हों तो उनमें संबंध कैसे स्थापित किये जा सकते हैं? स्थिर चीजों में ही संबंध निर्मित हो सकते हैं। अतः यह प्रश्न

हल करना आवश्यक है कि संवेदनाओं को स्थिर कैसे किया जाए। कॉलिंगवुड की राय में कल्पनाप्रक्रिया के कारण संवेदनाओं में स्थिरता पैदा होती है। फीलिंग की प्रक्रिया करीबन् जड़ (passive) कही जा सकती है। विचार–प्रक्रिया में उत्स्फूर्तता एवं स्वातंत्र्य होता है। कल्पना–प्रक्रिया फीलिंग से अधिक एवं विचार से कम स्वतंत्र होती है।[75]

संवेदनाओं के स्थिरीकरण का कार्य "ध्यान देना" (attention) क्रिया के कारण शुरू होता है। विचार प्रक्रिया संवेदनाओं में संबंध स्थापित करती है, यह तो हम देख ही चुके हैं। लेकिन किसी संवेदना का अन्य संवेदनाओ के साथ संबंध प्रस्थापित करने के पूर्व उस संवेदना का स्वरूप ठीक तरह से पहचानना होता है। यही जानना "ध्यान देना" है।[76] फीलिंग के प्रवाह पर "ध्यान देने" का प्रकाश डाल देने पर प्रवाह के एक भाग को 'उभार' मिलता है। अन्य भाग उस अनुपात में अस्पष्ट रहता है। इस उभार मिले हुए भाग का वैशिष्ट्य स्पष्टत: हमें प्रतीत होने लगता है। उसके गुण एवं तीव्रता में परिवर्तन नहीं होता। अनुभव के कुल स्वरूप में ही ध्यान देने पर बोध के स्तर का अनुभव प्रारंभ होता है। इस अनुभव में ज्ञाता और ज्ञेय अलग हुए होते हैं और हर अनुभव के समय ज्ञाता को अनुभवविषय का जिस तरह बोध होता है वैसे अपना भी होता है।[77] उसी तरह इस स्तर की फीलिंग मानवांकित (domesticated) हुई होती है।[78] मानवांकित हुई फीलिंग का जीवन हम बढ़ा सकते हैं।[79] बुध्दि की अन्य प्रक्रियाएँ (उदाहरण के लिए वह फीलिंग आभासात्मक है या वास्तविक, यह निश्चित करना इत्यादि) उसपर अब हो सकती हैं। बोधपूर्व फीलिंग के बीच का स्तर महत्त्वपूर्ण है। इस स्तर पर ध्यान देने की क्रिया के फलस्वरूप फीलिंग का वैशिष्टय ध्यान में आता है, वह मानवांकित होती है। उपर्युक्त बौध्दिक प्रक्रियाएँ उसपर घटित नहीं होतीं, परंतु उनके लिए वे तैयार रहत. हैं। इस स्तर पर जो अनुभव होता है उसे कल्पनात्मक स्तर का अनुभव कहा जा सकता है।[80] सभी विचारों में सत्यासत्यता की द्विध्रुवात्मकता नहीं होती। लेकिन कल्पना के स्तर पर वह होती है। एक अर्थ में सत्यासत्यता का विवेक यहाँ होता है। अपनी फीलिंग अपनी है, ऐसा अपने से स्वीकार करने के कारण सही बोध पैदा होता है, उसे अस्वीकार करने से झूठा बोध पैदा होता है, कभी हम किसी एक फिलिंग की और ध्यान देना शुरू कर देते हैं, लेकिन उसमें कुछ भयावह प्रतीत होने लगता है तो हम हड़बड़ी में दूसरी ओर ध्यान देने लगते हैं। इस प्रकार को कॉलिंगवुड ने बोध का भ्रष्टीकरण (corruption of consciousness) नाम दिया है।[81] बोध का उदय होने पर फीलिंग का जिसमें रूपांतर होता है उसे कॉलिंगवुड कल्पना (idea) नाम देता है।[82]

फीलिंग में संवेदना और भावना दो घटक हैं, यह कॉलिंगवुड ने बताया ही है। अब तो उसका कहना है कि बिना अभिव्यंजना के भावना हो ही नहीं सकती। हर भावना के अनुरूप अभिव्यंजना होनी ही चाहिए।[83] अनुभव के हर स्तर पर उसके

अनुरूप भावना और उस भावना के अनुरूप अभिव्यंजना होती है। बोध का उदय होने के पहले केवल फीलिंग के स्तर पर जो भावनाव्यंजन होता है वह सिर्फ शारीरिक होने पर उस पर अपना नियंत्रण नहीं होता। उदाहरणार्थ, उस स्तर पर भय की व्यंजना याने चेहरा सफेद हो जाना, यह केवल शारीरिक अभिव्यंजना है और वह हमारे द्वारा नियंत्रित नहीं होती। बोध के उदय होने पर विभिन्न किस्म की भावनाएँ निर्मित होती हैं, उनकी किस्म अलग होती है। द्वेष, प्रेम, गुस्सा, लज्जा इत्यादि भावनाएँ इस जाति में समाविष्ट होती हैं।[84] कॉलिंगवुड उन्हें "बोध के स्तर की भावनाएँ (emotions of consciouness) नाम देता है।[85] इन भावनाओं की भी उचित अभिव्यंजना होती है। इसमें और केवल फीलिंग के स्तर की अभिव्यंजना में अंतर यह कि पहली अभिव्यंजना संयत (controlled) होती है, तो दूसरी अपने आप निर्मित होती है।[86] लज्जा से लाल होना निम्न स्तर की अभिव्यंजना का उदाहरण है। भाषा ऊपर के स्तर की अभिव्यंजना का उदाहरण है। यहाँ "भाषा" शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। कल्पना के स्तर पर भावना की समुचित अभिव्यंजना होगी, ऐसी किसी भी शारीरिक क्रिया को कॉलिंगवुड भाषा कहता है।[87] छोटा बच्चा भूख के कारण रोता है। उसको अपना भान न होगा तो यह रोना निम्नस्तरीतय अभिव्यंजना माना जाएगा। लेकिन बच्चा जरा बड़ा होने पर भूख लगी है, यह दिखाने के लिए जान—बूझकर रोता है या चिल्लाता है। चिल्लाने की क्रिया एक ही है लेकिन सीढ़ी बदलने पर उसका अर्थ बदलता है। इस ऊपरवाली सीढ़ी पर रोने चिल्लाने को भाषा कहा जाएगा। यद्यपि बौध्दिक भाषा की तुलना मे यह भाषा कम उलझनपूर्ण, कम व्यामिश्र है फिर भी निम्नस्तरीय अभिव्यंजना की अपेक्षा बहुत व्यामिश्र होती है। इस स्तर पर मुख्यत: आवाज का उपयोग किया जाता है। इस का अर्थ यह नहीं कि स्वरयंत्र के अलावा अन्य कोई इंद्रिय इस अभिव्यंजना में भाग नहीं लेता। हम बोलते समय हावभाव करते हैं, चेहरे की स्नायुओं में हलचल करते हैं। ये सारी प्रक्रियाएँ भाषा में ही गिनी जाती हैं। असल में हमारा समूचा शरीर ही अभिव्यंजना करता रहता है।[88]

कल्पनाशक्ति का अपना कार्य पूरा होने पर आगे बुध्दि का (intellect) कार्य प्रारंभ होता है। कल्पनार्शक्ति द्वारा विनिर्मित कल्पनाएँ एक दूसरे से एकरूप स्थिति में अनुभव होती हैं। उनको अलग करके उनके अलग-अलग संबंध प्रस्थापित करना बुध्दि का काम है। इस स्तर पर पहुँचे अनुभव की अपनी खास भाषा होती है, जिसका व्याकरण एवं तर्कशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण किया जाए। (ऐसी भाषा, इस स्तर पर अभिव्यंजना है।) इस विषय की चर्चा करते हुए कॉलिंगवुड ने रिचर्ड्स की जो आलोचना की वह उसके सिध्दांत को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। रिचर्ड्स ने भाषा के दो अलग-अलग उपयोग माने हैं : (1) बौध्दिक (referential) और (2) भावनात्मक (emotional)। कॉलिंगवुड की राय में उसका यह विभाजन गलत है। भाषा जब तक

भाषा है तब तक वह पूर्णत: केवल बौध्दिक नहीं होती, उसकी भावनात्मकता अलग नहीं की जा सकती। सही विभाजन इस प्रकार दिखाना होगा: भावनात्मक भाषा केवल भावनात्मक होती है। उस समय का उसका रूप एवं भावनात्मक भाषा जब बौध्दिक व्यवहार की सहायता करती है, उस समय का उसका स्वरूप, दोनों में अंतर है।[89] इसका स्पष्टीकरण देते समय कॉलिंगवुड कहता है कि बौध्दिक व्यवहार को भी उसके लिए उचित भावना का किनारा होता ही है। और इस भावना की अभिव्यंजना से ही बौध्दिक व्यवहार की अभिव्यंजना होती है।[90]

कॉलिंगवुड की राय में कल्पना के स्तर पर भावनाओं की अभिव्यंजना कला है। इस स्तर पर और भी अनेक स्तर है। इन ऊपर के स्तरों वाले अनुभवों में कल्पनाशक्ति द्वारा किया हुआ कार्य अनुस्यूत होने के कारण इन ऊपरवाले स्तरों की अभिव्यंजना को भी कला कहना होगा। वहाँ क्रोचे का अभिमत ध्यान में आता है कि हर शास्त्रीय ग्रंथ एक कलाकृति होता है। ऊपर-ऊपर से यद्यपि यह लगता है कि कला याने कल्पना (art as imagination) और कला याने अभिव्यंजना (art as language) ये दो सिध्दांत कॉलिंगवुड ने प्रस्तुत किए हैं। फिर भी वे एक ही सिध्दांत के दो पहलू हैं। कला कल्पना के स्तर पर भावना की अभिव्यंजना है।

कैरिट ने क्रोचे पर दो आक्षेप किए हैं : क्रोचे हर प्रातिभ ज्ञान को भावना की अभिव्यंजना मानता है, लेकिन यह उचित नहीं लगता। हमने यह देखा कि क्रोचे "भावना" शब्द प्रातिभ ज्ञान में आकारित होनेवाले जड द्रव्य को उद्‌देश्य कर प्रयुक्त करता है। लेकिन क्रोध, भय इत्यादि के लिए भी "भावना1" एवं "भावना 2" अभिधानों का प्रयोग करें तो कहा जा सकता है कि क्रोचे की राय में प्रत्येक प्रातिभ ज्ञान "भावना1" की अभिव्यंजना होती है। इसके विपरीत कैरीट प्रातिभ ज्ञान "भावना 2" की अभिव्यंजना मानता है। इसलिए क्रोचे का संवाक्य (प्रातिभ ज्ञान भावना1 की अभिव्यंजना है, कैरीट के आक्षेप से खंडित नहीं होता। अगर क्रोचे यह कहता कि, "प्रातिभ ज्ञान भावना 2 को अभिव्यंजना है तो कैरीट का आक्षेप समुचित माना जा सकता था। लेकिन उल्टे कला के संदर्भ में भावना 1 से भावना 2 का ही अधिक महत्त्व है और ऐसा नही है कि भावना1 नाम की चीज सचमुच में होती है, यह विश्वचैतन्यवादियों का ज्ञानशास्त्रीय गृहीत अभिप्राय औरों को मान्य करना ही चाहिए, ऐसा नही है। कॉलिंगवुड ने [illegible] है कि कला भावना 2 की अभिव्यंजना है। यह अभिव्यंजना और यह प्रातिभ ज्ञान (या कल्पना) इनमें उसने एकरूपता नहीं स्वीकार की। उसका अभिप्राय है संवेदना-भावना-अभिव्यंजना = कला। इसलिए कॉलिंगवुड का विवेचन क्रोचे के विवेचन से कलास्वरूप मीमांसा के लिए अधिक निकट का है और यह संभवना भी अधिक है कि लोगों को वह अधिक ठीक लगे।

कॉलिंगवुड के सिध्दांत की परिधि बोसाँकि के सिध्दांत की अपेक्षा छोटी है। क्योंकि

कॉलिंगवुड को जो अभिव्यंजना अभिप्रेत है वह मानव द्वारा निर्मित है। मानवीय भावनाओं का देहस्वरूप प्रकृति में भी उपलब्ध होता है, यह बोसाँके का अभिप्राय स्वीकार किया जाए तो प्रकृति–सौंदर्य सौंदर्यशास्त्र की परिधि में आ सकता है। लेकिन कॉलिंगवुड की बताई सीमा को मान्य करने पर सौंदर्यशास्त्र कलास्वरूप शास्त्र ठहरता है। इसपर से पता चलेगा कि हीगेल और कौलिंगवुड में कितना साम्य है। बहुत–से हीगेलवादी दार्शनिक "सौंदर्यशास्त्र" अभिधान से विचलित होते हैं। मानव सभी प्राणियों में श्रेष्ठ होने के अपने विश्वास के कारण वे प्रकृति के सौंदर्य की कुछ अवमानना ही करते हैं। उन्हें "कलास्वरूप–शास्त्र" अथवा "कला–मीमांसा" अभिधान अधिक उचित लगते हैं। मराठी में प्रा. दि. के. बेडेकर "एस्थेटिक्स" के लिए "कलास्वरूपशास्त्र" शब्द का प्रयोग करते हैं। लेकिन इस भूमिका को स्वीकार किया जाए तो यह प्रश्न हल नहीं होता कि प्रकृति–सौंदर्य का क्या किया जाए। इसलिए बोसाँके का सौंदर्यसिद्धांत अधिक समावेशक एवं अधिक जँचने लायक लगता है। लेकिन बोसाँके एवं अन्य विश्वचैतन्यवादियों में तत्त्वत: अंतर नहीं है। क्योंकि उन सबकी राय में प्रकृति-सौंदर्य एवं कला का अस्तित्व मानवीय मन के अस्तित्व पर निर्भर है। [91] कला एवं प्रकृति-सौंदर्य में यह एक कड़ी है। उन दोनों का अस्तित्व मानव–सापेक्ष ही है।

अब तक के विवेचन का संक्षेप में सर्वेक्षण करके फिर उन सिद्धांतों पर किए गए आक्षेपों का विचार करेंगे। कांट एवं विश्वचैतन्यवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत सौंदर्य–सिद्धांत के घटकतत्त्व संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

(1) सौंदर्य–मूल्य (या कला–मूल्य) स्वायत्त होता है। यह मूल्य अन्य मूल्यों पर निर्भर नहीं होता। उदाहरणार्थ, वह सत्य, शिव या संवेदनासुख पर निर्भर नहीं होता। (अ) कलाकृति (या सुंदर वस्तु) व्यवहार में उपयोग में आनेवाली वस्तु नहीं होती। इसका अर्थ यही नहीं कि वह निरुपयोगी होनी चाहिए। अर्थ इतना ही है कि उसके व्यावहारिक उपयोग एवं सौंदर्य–मूल्य में परस्पर संबंध नहीं होता। (आ) कलाकृति मनोरंजन के लिए नहीं होती। मतलब यह है कि उसकी वजह से मनोरंजन हो या न हो, इस बात का एवं उसके सौंदर्य-मूल्य का संबंध नहीं होता। (इ) उसका कार्य कुछ व्यावहारिक, धार्मिक, राजनैतिक इत्यादि इच्छाएँ साध्य करना नहीं होता। (उदाहरण के लिए देवी-देवताओं को प्रसन्न करना, लोगों के मन जीत लेना, उनमें विशिष्ट भावात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना, उनको नीतितत्त्व सिखाना इत्यादि कार्य कला द्वारा सम्पन्न हो, यह अपेक्षा ठीक नहीं।)

(2) कला (अथवा सौंदर्य) का अपना विशिष्ट कार्य होता है। वह है विश्वचैतन्य की इंद्रियगोचर माध्यम में अभिव्यंजना करना। चूँकि मानवीय मन विश्वचैतन्य की परम अभिव्यंजना है, मानवीय 'भावनादि को इंद्रियागोचर देह प्रदान करा देना ही सौंदर्य-सृजन (एवं कला–सृजन) है।

(अ) यह इंद्रियागोचर देह यथार्थ वस्तु नहीं होती, वास्तविक वस्तु का इंद्रियागोचर भाग ही सौंदर्यास्वाद में प्रस्तुत होता है। सुंदर वस्तुएँ सचमुच में अस्तित्व में हैं अथवा नहीं, इस संबंध में हमें कर्तव्य नही होता, वे कैसे दिखती हैं, इसका महत्त्व होता है। (आ) यह इंद्रियगोचर देह अर्थ की अभिव्यक्ति करती है, अत: उसे प्रतीक कहा जा सकता है। लेकिन भय से चेहरा सफेद पड़ जाने में भय की मानसिक भावना और सफेद पड़े चेहरे में जो संबंध होता है वैसा केवल शारीरिक संबंध अर्थ एवं प्रतीक में नहीं होता। उसी तरह बीजगणित में विशिष्ट अर्थ व्यक्त करने के लिए जो चिह्न जान-बूझकर प्रयुक्त किए जाते हैं, या परंपरा से रूढ़ नियमों के अनुसार प्रयुक्त किए जाते हैं वे प्रतीक कलाकृति नहीं होते। दूसरे को अर्थ समझाने के लिए प्रयुक्त प्रतीक भी यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। जिसमें उत्स्फूर्त रूप में अर्थ का देहीकरण होता है, ऐसा ही प्रतीक यहाँ अभिप्रेत है। (इ) कला-प्रतीक मानसिक अनुभव की देह है। अत: उस अनुभव को देह से अलग नहीं किया जा सकता। कलाकृति कलाकार के मन का अनुभव रसिक के मन में संक्रांत करने का साधन नहीं होता। कलाकृति की भावनाएँ आदि कलाकृति में ही होती हैं। एक ही आशय के दो प्रतीक नहीं हो सकते। प्रतीक में परिवर्तन होने पर आशय में परिवर्तन होता है और आशय में परिवर्तन होने पर प्रतीक में भी परिवर्तन होता है। दोनों का सेंद्रिय संबंध होता है। इसीलिए कलाकृति का रूपांतर या अनुवाद संभव नहीं बनता।

(3) कलाप्रतीक में जो अनुभव देहीभूत होता है वह अनेक घटकों का बना सेंद्रिय संबंध होता है। इन घटकों को एकत्र लाने के लिए तत्त्व प्रयुक्त होता है वह अन्य क्षेत्रों में संश्लेषण के लिए उपयोग मे लाए गए तत्त्वों से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, ज्ञानक्षेत्र में प्रयुक्त कार्यकारण आदि संश्लेषण के नियम यहाँ लागू नहीं होते। उसी तरह सादे व्यवहार एवं नीतिव्यवहार में प्रयुक्त तत्त्व भी यहाँ उपयोग में नहीं लाए जाते। (उदाहरणार्थ, साध्य एवं साधन के बीच का संबंध) सौंदर्य के क्षेत्र में घटकों की किसी भी तरह से रचना करने का स्वातंत्र्य कल्पनाशक्ति को होता है। यह सही है कि वह अनेकता में एकता उत्पन्न करती है। लेकिन आत्माभिव्यंजना के अलावा वह अन्य किसी तत्त्व का उपयोग नहीं करती। आत्माभिव्यंजना विश्व के चैतन्य की अभिव्यंजना होती है। विश्वचैतन्य का अंतिम तत्त्व "अनेकता में एकता" है। यह तत्त्व सौंदर्य के क्षेत्र में जैसे दिखता है वैसा वह ज्ञान एवं नीति के क्षेत्रों में भी दिखता है। इन दो क्षेत्रों में वह निश्चित अवधारणाओं के रूप में अवतरित होता है। सौंदर्य के क्षेत्र में वह बिना निश्चित अवधारणाओं के, प्राप्त होता है। इसीलिए प्रयोजन-रहित प्रयोजनपूर्णता या नियम-रहित नियमितता का तत्त्व सौंदर्य का तत्त्व माना जाता है। सौंदर्य के क्षेत्र में अवधारणओं का अभाव होने के कारण सौंदर्य का तत्त्व स्पष्ट करते समय विश्वचैतन्यवादी सदैव नकारात्मक भाषा का अवलंब करता है। वह क्या

है यह बताने के स्थान पर वह क्या नहीं है, यह बताना वे पसंद करते हैं। नकारात्मक भाषा टालनी हो तो "विभावित संगति"(felt harmony) का सिध्दांत प्रस्तुत करते हैं। सौंदर्यानुभव विभावित संगति का आनंदरूप अनुभव होता है। "विभावित संगति" निश्चित अवधारणा न होने के कारण सौंदर्य का निकष संभव नहीं होता। हर सुंदर वस्तु अनन्यसाधारण होती है। सौंदर्य का तत्त्व ज्ञानव्यवहार एवं नीतिव्यवहार में प्रयुक्त तत्त्वों से मूलतः भिन्न होने के कारण कलाकृति के संदर्भ में सत्यासत्यता या शिव-अशिव के प्रश्न उत्पन्न नहीं होते। क्रोचे तथा कॉलिंगवुड का मत है कि कलानिर्मिति एवं आस्वाद में बोध का भाग रहता है। लेकिन जिसे वैज्ञानिक या तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान कहा जा सकता है, ऐसा बोध यह नहीं होता। फिर दैनंदिन संवेदनात्मक ज्ञान एवं ऐतिहासिक ज्ञान में ज्ञेय के प्रत्यक्ष अस्तित्व के संबंध में जो दावा किया जाता है, वह भी कलास्वाद में नहीं किया जाता। इसलिए कला—व्यवहार में अभिप्रेत बोध सामान्य अर्थ में ज्ञानरूप नहीं कहा जा सकता। इस विवेचन में एक बात स्पष्ट हो जाती है, वह यह है कि कला—विश्व अलग ही विश्व है। उसे हम अलौकिक विश्व कह सकते हैं। लेकिन "अलौकिक" शब्द के साथ मूल्यांकन की छटा होने के कारण कलाविश्व, ज्ञानविश्व एवं नीतिविश्व से केवल अलग ही न होकर अधिक महत्त्वपूर्ण है, ऐसी गलत फहमी होने की संभावना है। लेकिन ऐसा वहाँ कुछ अभिप्रेत नही है। अगर ज्ञानव्यवहार एवं नीतिव्यवहार को लौकिक माना जाए तो कलाव्यवहार लौकिक नहीं, केवल इसी अर्थ में उसे अलौकिक व्यवहार कहा जा सकता है और इसी अर्थ में कलाकार, कलाकृति एवं रसिक अलौकिक हैं।

(4) हर मानवीय व्यवहार की अपनी उचित भूमिका रहती है। कलास्वाद की भूमिका तटस्थ अवलोकन की होती है। ज्ञाता के एवं नैतिक कर्ता (moral agent) की भूमिका से आस्वादक की भूमिका मूलतः भिन्न रहती है। सौंदर्यानुभव के संदर्भ में हम अनुभवविषय के प्रत्यक्ष अस्तित्व के बारे में उदासीन होते हैं। इसलिए सौंदर्यास्वाद "देखना", "सुनना" जैसे ज्ञानात्मक अनुभवों की तरह अनुभव है और फिर भी वह भिन्न है। क्रिया—व्यवहार में जिस तरह आनंद प्राप्त होता है वैसा सौंदर्यानुभव में भी होता है, लेकिन इस आनंद की जाति अलग होती है। सौंदर्यानुभव का अस्तित्व—निरपेक्ष आनंद सार्वजनीन एवं एक अर्थ में व्रतस्थ आनंद होता है।

इस सौंदर्य सिद्धांत पर लिए गए प्रमुख आक्षेपों का अब हम विचार करेंगे। ये आक्षेप दो प्रकार के हैं। इसका कारण यह है कि यह सिद्धांत दो अलग-अलग तरह से प्रस्तुत किया गया है और संजोया गया है। (1) एक अतिभौतिकीय सिद्धांत के रूप में अभिव्यंजनावाद का विचार किया जा सकता है। हीगेल, बोसाँकि, क्रोचे, कॉलिंगवुड ने विश्वचैतन्यवादी भूमिका ग्रहण कर अभिव्यंजनावाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। (2) इसके विपरीत, किसी भी अतिभौतिकीय सिद्धांत के स्पर्श के बिना

भी इस सिद्धांत का विचार हो सकता है। उदाहरणार्थ, कैरिट के अभिव्यंजनावाद को अतिभौतिकी का स्पर्श नहीं हुआ। पहले हम प्रथम दृष्टिकोण पर किए गए आक्षेपों का विचार करें। उसके लिए क्रोचे के विवेचन को उदाहरण के रूप में लें। हमने ऊपर देखा है कि क्रोचे ने सौंदर्यानुभव का ज्ञानशास्त्र की एक प्रक्रिया के साथ गठबंधन किया है। इस प्रकार गठबंधन करना सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से लाभदायी है या नहीं, यह अब हमें देखना है। क्रोचे ने समीकरण बताया है "कला = अभिव्यंजना = विशेष का प्रातिभज्ञान।" ज्ञानप्रक्रिया के जड़ घटक को वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्तित्व के अनुभवपूर्व चौखट में लाना अभिव्यंजना सिद्ध करना है। कल्पना करें कि अपने सामने की दीवार पर स्याही का एक आड़ा तिरछा दाग है। अगर हमें उसकी प्रतीति हुई है तो उसकी अभिव्यंजना हुई ही है। याने उसे व्यंकित्त्व है। अब वह दाग दीवार पर सचमुच है कि नहीं या हमें सचमुच केवल आभास हो रहा है, इत्यादि प्रश्न न पूछने की शर्त का पालन भी हमने किया, चूँकि हम उसके अस्तित्व के बारे मे ही उदासीन हैं। अन्य वस्तुओं के बारे में उत्पन्न होनेवाले ज्ञानविषयक एवं नीतिविषयक अथवा व्यावहारिक प्रश्न स्वाभाविकत: हम नहीं पूछेंगे। यहाँ हम किसी भी अवधारणा का स्पष्ट एवं अलग विचार नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में विशेष के प्रातिभ ज्ञान के लिए क्रोचे की बताई हुई कसौटियों को हमने दाग को देखने की अपनी प्रक्रिया पर कसा और सब कसौटियों पर दाग को हमारा देखना खरा उतरा। प्रश्न अब यह है कि क्या हम जिस दाग को देख रहे हैं, उसे कलाकृति या सुंदर वस्तु मानेंगे? क्रोचे के सिद्धांत के अनुसार इस दाग को सुंदर वस्तु अथवा कलाकृति मानना ही पड़ेगा। ऊपर की शर्तों का हमने अगर पालन किया तो हम जो-जो देखेंगे उसे सुंदर कहना पड़ेगा। मतलब यह है कि हमारा अनुभव है कि हर दृश्य, आवाज, गंध सुंदर नहीं होती। मतलब यह है कि क्रोचे के सिद्धांत को स्वीकार करने पर अपना अनुभव झूठा मानना पड़ेगा। लेकिन अपना अनुभव झूठा नहीं है। यही बात हीगेल के सिद्धांत के संबंध में भी सही है। उसकी राय में इंद्रियगोचर विश्वचैतन्य की अभिव्यंजना के संबंध में भी सही है। उसकी राय में इंद्रियगोचर विश्वचैतन्य की अभिव्यंजना सौंदर्य है। जो जो इंद्रियगोचर है वह सब विश्वचैतन्य की अभिव्यंजना ही कहनी होगी, क्योंकि अस्तित्व में आई हर वस्तु का मूल आधार विश्वचैतन्य में समाया हुआ नहीं है। अगर सृष्टि हमें सुंदर नहीं दिख रही है तो दोष अपना है। बोसाँके ने स्पष्ट कहा है कि मानववेतर विश्व में विद्रूप की अवधारणा को स्थान ही नहीं है।[92] सभी अतिभौतिक सौंदर्यसिद्धांतों की अंतिम परिणति यही है। सेंट टामस ऐक्वायनस ने सौंदर्य के जो निकष दिए हैं। उनमे सत्त्व का प्रकाश (efflugence of form) निकष ही प्रमुख है।[93] यह निकष भी अतिभौतिकीय ही है। उसे स्वीकारने पर बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। अस्तित्व में आई हर वस्तु में उसका सत्त्व (form) झिलमिलता रहेगा ही। अन्यथा वह वस्तु उस विशिष्ट प्रकार की वस्तु

नहीं बनी होती। इसका मतलब हर वस्तु कमोबेश रूप में सुंदर होगी ही, विश्व में सर्वत्र सौंदर्य है। उसे देखने की दृष्टि आवश्यक है। अब जिनके पास ऐसी दृष्टि है उनका ठीक है। लेकिन जिनके पास ऐसी दृष्टि नहीं है, ऐसे सामान्य लोगों का क्या होगा? हमें अगर कुछ चीजें सुंदर और कुछ विरूप दिखती हैं, और कुछ के बारे में हम सुंदरता-विरूपता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं करते। किसी भी अतिभौतिकीय सिध्दांत को स्वीकारने में खतरा निहित रहता है। अगर उसे स्वीकार किया जाए तो अपना सामान्य जीवन उलजलूल है, यह मान्य करना पड़ता है। जिस सिध्दांत को स्वीकारने पर सुंदर, विरूप, असुंदर जैसा भेद ही नष्ट हो जाता है, वह सौंदर्य का सही सिध्दांत नहीं है।

(2) यह स्पष्ट है कि सौंदर्यसिद्धांत को अतिभौतिकीय सिद्धांत के साथ जोड़ देने पर यह आपत्ति हुई है लेकिन सभी अभिव्यंजनावादियों ने ऐसा गठबंधन नहीं किया है। उदाहरण के लिए कैरिट का विवेचन बिलकुल ही अतिभौतिकीय नहीं है। उसके अभिव्यंजनावाद का चेहरा वर्ड्स्वर्थ के अभिव्यंजनावाद जैसा है। सौंदर्य याने भावना की सहज अभिव्यंजना, अभिव्यंजना के लिए अभिव्यंजना। उसके सिद्धांत का यह स्वरूप है। ऐसे सिद्धांत के संबंध में इस प्रकार की शंकाएँ उपस्थित होती हैं। (अ) कला अगर भावना का सहजोद्‌गार है तो जहाँ-जहाँ भावना का सहजोद्‌गार होगा वहाँ कला उपस्थित होगी। अन्य कोई गुणविशेष न होने पर भी ऐसे सहजोद्‌गार को कला माना जाएगा। लेकिन बहुत बार हम एकांत में अपने दुख को शब्द रूप देते हैं और फिर भी हर बार हम जो बोलते हैं या लिखते हैं, वह कला नहीं होती। ऐसा नहीं कि हम अपने अनुभव को ढंग से खिलाते नहीं, यह भी नहीं कि अपनी अभिव्यंजना ठीक नहीं होती। फिर ऐसा सहजोद्‌गार कला का पद क्यों नहीं प्राप्त करता? हम जो अनुभव व्यक्त करते हैं उसमें गहराई नहीं होगी, अनोखापन नहीं होगा, तीव्रता या आवेग नहीं होगा, या वह आवेग झूठा होगा तो अपनी अभिव्यंजना कला नहीं होगी। शायद ऐसा भी होगा कि हम जो भाषा प्रयुक्त करते हैं, वह चमकदार नहीं होगी। इसलिए भी अपनी अभिव्यंजना कला नहीं होगी। मतलब यह है कि भावना का हर सहजोद्‌गार कला का एकमात्र निकष नहीं है। कभी किसी कवित्व को हम इसलिए भी कविता कहते हैं कि वह भावना का सहज उद्‌गार है। लेकिन ऐसे समय यह प्रश्न पूछना होगा कि क्या उस कविता में दूसरा कुछ नहीं है? अगर हम सूक्ष्म अवलोकन करेंगे तो पाएँगे कि उस कविता में अन्य भी गुणविशेष हैं। और अगर वे नहीं होते तो वह कविता "कविता" न होती। मूर ने सही कहा है कि किसी गुणविशेष का मूल्य निश्चित करना हो तो उसे अलग करके उसके बारे में विचार करना चाहिए। अनेक चीजें उनके नित्य संदर्भ से अलग की जाएँ तो ध्यान में आता है कि वे अधिक मूल्यवान नहीं होतीं। यह ध्यान में आ सकता है कि भावना के सहजोद्‌गार को अगर अन्य

गुणविशेषों का साथ प्राप्त होता है तभी वह काव्य ठहरता है, अन्यथा नहीं। हम गलती यह करते हैं कि अगर कोई गुणसमष्टि हमें मूल्यवान लगती है, तो हम ऐसा मानते हैं कि उसका सारा मूल्य उसमें से किसी एक गुणविशेष पर निर्भर है, हम यह प्रश्न नहीं उठाते कि उस समष्टि के बाहर उसका मूल्य क्या है। भावना के सहजोद्गार के संबंध में यही हुआ है।

(आ) जहाँ-जहाँ कला है क्या वहाँ भावनाभिव्यंजना होनी ही चाहिए? कभी कल्पना-चमत्कृति से भी काव्य का निर्माण हो सकता है। उदाहरणार्थ, डन ने एक कविता में कहा है कि कीड़े को मत मारिए, क्योंकि उसने मेरा और मेरी प्रियतमा का खून चूसा है और इसलिए उसका शरीर हम दोनों के मिलन का स्थान हो गया है।[95] या एक शायर ने कहा है कि मैंने कल स्वप्न में अपनी प्रियतमा के चित्र का चुंबन किया है। लेकिन वह इतनी नाजुक है कि आज सुबह उसके ओठ स्याह पड़ गए थे। इन दोनों में भावना का सहजोद्गार तो नहीं है, लेकिन फिर भी काव्य है। कभी शब्दों का चमकदार उपयोग एवं उनका ऐश्वर्य देखकर भी हम किसी कृति को काव्य कहते हैं। कभी शब्दों की रचना ही हमारी नजर में छा जाती है। जो काव्य के बारे में सही है, वह अन्य कलाओं के बारे में भी सही है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भावनाभिव्यंजना एवं जीवनचित्रण पर चित्रकला में अनावश्यक बल दिया गया था। इसलिए रंगों का ऐश्वर्य दिखानेवाले इंप्रेशनिज़्म का जन्म हुआ। फिर रचना पर बल देनेवाली परंपराएँ भी निर्मित हुईं। अर्थ के आतंक को टालने के लिए "अर्थ अनावश्यक" कहनेवाले क्लाइव बेल, रोजर फ्राय जैसे लोग सामने आए। रचना-तत्त्व एवं अभिव्यंजना-तत्त्व के बीच आज भी विवाद जारी है। अभिव्यंजनावादियों का यह मत कि किसी अर्थरहित रचना में भी भावनात्मक आशय होता है, सही है। लेकिन यह तो दुराग्रह हुआ। साड़ी का डिज़ाईन, रंगावली, नक्काशी, स्वरों की बुनावट में क्या अर्थ होता ही है? ठाठ से चलना, अनुपातयुक्त शरीर गठन, चंपाकली जैसी नाक से क्या अर्थ निकलता है? इसपर अभिव्यजनावादी यह कह सकते हैं कि मानवीय देह अभिव्यंजनाक्षम होती है और उसमें से भावना अथवा व्यक्तित्व के विविध पहलू अभिव्यंजित होते हैं। कुछ मामलों में उनकी बात सही भी लगती है। "शांत मुद्रा", "तीक्ष्ण आँखें", "स्नेहपूर्ण स्मित", "आवाज की मृदुता" "चेहरे की दयनीयता", "भावुक आँखें" इत्यादि वर्णन यही सिद्ध करते हैं। मानवेतर सृष्टि को भी ऐसे वर्णन लागू होते हैं। "हँसनेवाले फूल", "पागल करनेवाली उन्नत हवा", इ। उदाहरण इसी कोटि के हैं। लेकिन हर बार सृष्टि की वस्तुओं पर हम मानवीय भावना का आरोप नहीं करते। तथापि उसकी इंद्रियसंवेद्य घटकों में "विभावित संगति" के अनुभव के कारण हम सृष्टि को सुंदर कहते हैं। कांट ने स्वायत्त एवं परायत्त सौंदर्य में जो भेद किया है उसमें यह प्रतीति स्पष्टत: दिखती है। यह सही है कि बोसाँके ने इन दो जाति

के सौंदर्यों को एक तत्त्व के तहत लाने का प्रयत्न किया। लेकिन आत्माभिव्यंजना का तत्त्व स्वायत्त सौंदर्य पर लागू करते हुए उसे विश्वचैतन्यवाद का आधार लेना पड़ा। "अनेकता में एकता" को विश्वचैतन्य का अंतिम तत्त्व मानने पर ही अर्थरहित रचना अभिव्यंजनारूप मानी जा सकती है। अगर इस अतिभौतिकीय सिद्धांत को हम मान्य न करें तो अनेकता में एकता परमतत्त्व की अभिव्यंजना है या आत्माभिव्यंजना है, यह सिध्दांत हम को ठीक नहीं लगेगा। इस कारण स्वायत्त सौंदर्य एवं परायत्त सौंदर्य तत्त्वत: एक ही है, यह हमें उचित नहीं लगेगा। सौंदर्य की अनेक जातियाँ होती हैं। यह एक बार मान्य कर लिया जाए तो स्वायत्त सौंदर्य में अभिव्यंजना नहीं होती, यह भी मान्य होगा।

ऊपर का दिया हुआ पहला आक्षेप विश्वचैतन्यवादी अतिभौतिकों के खिलाफ था और दूसरा भावनाभिव्यंजना के खिलाफ था। यह मानने पर भी कि ये आक्षेप समुचित हैं, विश्वचैतन्यवाद के मुख्य गढ़ को धक्का नहीं लगेगा। यह मुख्य गढ़ है सौंदर्यानुभव की अलौकिकता का सिद्धांत। इस सिद्धांत को प्रस्तुत कर कांट एवं विश्वचैतन्यवादियों ने कुल सौंदर्यविचार को एक नया मोड़ दिया।

सौंदर्यानुभव की अलौकिकता का विश्वचैतन्यवादियों का सिद्धांत पिछले दो सौ वर्षों का एक प्रभावपूर्ण एवं सुसूत्र सिध्दांत है। इस काल के, अनेक सौंदर्यसिध्दांतों पर उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम दिखता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस सिद्धांत को सर्वमान्यता प्राप्त है। उसका विरोध करनेवाले लौकिकतावादी सिध्दांत भी अनेक हैं। उनके अनुसार सौंदर्यानुभव एवं लौकिक अनुभव के बीच का अंतर कोटि का नहीं, संख्यात्मक होता है।

केवल कालक्रम के अनुसार देखने पर अलौकिकतावाद की अपेक्षा लौकिकतावाद पहले का सिध्दांत है। प्लेटो से लेकर अठारहवीं-शती तक के विचारक लौकिकतावाद के सैध्दांतिक चौखटे में ही सौंदर्य-विचार प्रस्तुत कर रहे थे। इसका मतलब यह नहीं कि अलौकिकतावाद के बीज भी उस समय नहीं थे। बीजरूप में प्लेटो के समय वे निश्चित रूम में विद्यमान थे। अपने आदर्श राज्य से कवियों को बीजरूप में प्लेटो ने देश—निकाला देना चाहा, तो लौकिकता की दृष्टि से ही। लेकिन प्लेटो को, एहसास था कि वह कवियों को लाइलाज होकर बहिष्कृत कर रहा है। उसका मन दो ओर खींचता जा रहा था। उसमें एक पहलू लौकिकतावादी था तो दूसरा बीजरूप में अलौकिकतावादी था। इससे ऐसा लगता है कि लौकिकतावाद बनाम अलौकिकतावाद का संघर्ष पुरातन काल से चला आया है।

सौंदर्य-विचार का इतिहास लौकिकतावाद और अलौकिकतावाद के बीच चलने—वाले संघर्ष का इतिहास है। यह संघर्ष सर्वव्यापी होने के कारण सौंदर्यविचार के हर क्षेत्र में उसका पता चलता है। सौंदर्यसंबंधी विचार मुख्यत: निम्नलिखित संदर्भ में होता

है :

(अ) सौंदर्य का निर्माण,

(आ) सौंदर्य का आस्वाद,

(इ) सत्य एवं नीति से सौंदर्य के संबंध और

(ई) सुंदर वस्तु की रचना।

इसके बाद के अध्यायों में अलौकिकतावाद पर लौकिकतावादियों द्वारा किए गए आक्रमणों का हम ब्योरेवार परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं। हम यह भी देखने जा रहे हैं कि इन आक्रमणों को निरस्त करने के लिए अलौकिकतावादियों ने कौन–से तर्क दिए। इन दो ध्रुवों के बीच संघर्ष देखते समय हमें निम्नलिखित बातें सजगतापूर्वक करनी होंगी :

(अ) सौंदर्य क्षेत्र के वाद किस प्रकार किए जाते हैं, उनमें कौन–से युक्ति-व्यूह इस्तेमाल किए जाते हैं, इसकी जानकारी हमने तीसरे अध्याय में प्राप्त की। उस जानकारी के आधार से हर संघर्ष का हमें विश्लेषण करना है। और

(आ) हम प्रत्यक्ष समीक्षा में किन अवधारणाओं का इस्तेमाल करते हैं, इसका भान रखकर हर सिद्धांत की छानबीन हमें करनी है। उससे दो लाभ होंगे। एक तो यह समझ में आएगा कि अपने स्वयं के उत्स्फूर्त सौंदर्य-विचार का कुल सौंदर्य-विचार के नक्शे पर स्थान क्या है, और यह बोध जितना स्पष्ट होगा उतना अन्य सौंदर्य-सिध्दांतों का हमारा मूल्यमापन ठीक होगा।

□□

अध्याय 6

उत्पत्ति सिध्दांत : एक

6.1

विश्वचैतन्यवादियों की सौंदर्य-मीमांसा की हमने विशेष गहराई में जाकर चर्चा की, केवल इसलिए नहीं कि वह परिणाम एवं विस्तार की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस सविस्तार चर्चा का एक और महत्त्वपूर्ण कारण है। हमने तीसरे प्रकरण में यह देखा कि सौंदर्य एवं कला अवधारणाएँ स्वभावत: वादग्रस्त हैं और उनमें विविध आंतरिक तनाव हैं। लेकिन इनमें दो तनाव तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कला एवं सौंदर्य अवधारणाओं के ये दो ध्रुव कहे जा सकते हैं। उनमें विश्वचैतन्यवादी सौंदर्य सिध्दांत सामर्थ्यवान ध्रुव है। कांट के बादवाला कला-बोध इस ध्रुव की दिशा में गतिमान है। कला का अपना स्वायत्त मूल्य है, कला जगत् ज्ञानात्मक एवं नैतिक जगत् से अलग है, कलानुभव अलौकिक अनुभव है, कलावस्तु एवं अन्य व्यवहार में उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में कोटिभेद (category difference) है, कलास्वाद के समय हमारी भूमिका तटस्थ अवलोकन की रहती है; इत्यादि सिध्दांत इसी की साक्ष्य देते हैं। लेकिन इसके विरोधी तनाव भी कुछ कम प्रभावपूर्ण नहीं हैं। उनमें से एक अन्य अवधारणा-व्यूह उत्पन्न हुआ है। इस व्यूह में रहकर विचार करनेवाले की राय में सौंदर्यानुभव एवं लौकिक अनुभव में जाति का अंतर नहीं है। लौकिक जीवन के नैतिक, व्यावहारिक एवं ज्ञानविषयक प्रश्न सौंदर्यानुभव में भी संगत ठहरते हैं। कलावस्तु दैनंदिन लौकिक व्यवहार की वस्तु न भी हो, तो भी हमपर होनेवाले उसके परिणाम लौकिक ही होते हैं। आस्वाद के समय हमारी भूमिका तटस्थ अवलोकन की नहीं होती। यहाँ तटस्थ हो भी तो विश्वचैतन्यवादियों को अभिप्रेत ताटस्थ्य नहीं होता। कालक्रम के अनुसार लौकिकवाद अलौकिकवाद के पहले आ जाता है। प्लेटो-अरस्तू से अठारहवीं शती तक लौकिकतावाद का राज्य अबाधित चल रहा था। अलौकिकतावाद केवल बीजरूप में अस्तित्व में था। लेकिन कांट में इस बीज को खादपानी मिला और उसका बड़ा वृक्ष हो गया। बादवाली सैध्दांतिक समीक्षा उसी की छाया में बढ़ गई। आज सैद्धांतिक समीक्षा लिखनेवालों का प्रस्थानबिंदु प्राय: अलौकिकतावाद ही होता है। इसीलिए कालक्रम से अलौकिकतावाद प्रथम न होने पर भी हमने उसकी पहले चर्चा की। आज अलौकिकतावाद का प्रचंड प्रभाव होने पर भी ऐसा नहीं है कि लौकिकतावाद परास्त हुआ हो। क्योंकि उसकी जड़ें भी हमारे सौंदर्यात्मक बोध में बहुत गहरे गई

हुई हैं और आज भी उसे सशक्त रूप में प्रस्तुत करनेवाले विचारक हैं। इस तरह कला एवं सौंदर्य की अवधारणाओं के बीच का आंतरिक संघर्ष तीव्र हो रहा है। यह संघर्ष अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूपों में देखने को मिलता है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि कला के क्षेत्र में विविध अवधारणाओं के बारे में परस्पर विरोधी एवं एक दूसरे को खंडित करनेवाले अभिमत सुनने को मिलते हैं; क्योंकि यह संघर्ष दो परस्पर-विरोधी समग्र भूमिकाओं के बीच का संघर्ष है। इसलिए इनमें से किसी भी प्रश्न को मिलनेवाले उत्तरों को उनके लिए अनुकूल चौखट में रखकर ही अध्ययन करना होगा। उदाहरणार्थ, कलाकृति का स्वरूप क्या है? क्या अनुभव को व्यक्त करने अथवा अनुभवों को दूसरों तक संप्रेषित करने का कलाकृति एक साधन है या साध्य है? रस कविगत हैं, रसिकगत है या काव्यगत है? कलाकृति के संबंध में बात करते समय साध्य एवं साधन अवधारणाएँ उपयोग में लाई जाएँ या नहीं? कलास्वाद करते समय हम सादे लौकिक जीवन जीनेवाले लोग होते हैं या अलौकिक सामाजिक होते हैं? कवि सामान्य जनों की भाँति लौकिक व्यक्ति होता है या अलौकिक? अगर वह अलौकिक होता है तो उसकी अलौकिकता का स्वरूप क्या होता है? रसानुभव सामान्य भावानुभव की जाति का अनुभव होता है या कुछ अलौकिक? कलानुभव "देखना", "सुनना", "जानना", "समझना"— इन ज्ञानात्मक अनुभवों की तरह होता है या "गद्‌गद् होना", "भय लगना", "करुणार्द्र होना" जैसे अनुभवो की किस्म का होता है? श्लील-अश्लीलता कला-जगत् के वाद हैं अथवा नीति द्वारा आरोपित वाद हैं? कला के माध्यम से जीवनदर्शन संभव होता है? -- ये और ऐसे अन्य प्रश्नों के जो विविध उत्तर प्राप्त होते हैं। उन उत्तरों का ध्रुवीकरण कैसे होता है, यह देखने के लिए इनमें से कुछ प्रश्नों का अधिक गहरे जाकर विचार करना है।

6.2

विश्वचैतन्यवादियों की राय में सौंदर्य परम चैतन्य एवं मानवीय आत्मा ऐंद्रिय माध्यम में हुआ देहीकरण है। कभी ये देहें प्रकृति मे प्राप्त होती हैं; तो कभी जान-बूझकर बनानी पड़ती हैं। बालकवि जब कहते हैं :

"आनंदी आनंद गडे!
इकडे - तिकडे चोहिकडे,
वरती - खाली मोद भरे,"
(आनंद ही आनंद अलि,
यहाँ वहाँ सब ओर,
ऊपर नीचे आनंद भरा,")

या

"भिंत खचली, कलथून खांब गेला,
जुनी पडकी उद्ध्वस्त धर्मशाला,
तिच्या कौलारीं बसुनि पारवा तो
खिन्न नीरस एकांतगीत गातो."

(भित्ती धँसी, औंधा हुआ वह स्तंभ,
पुरानी, टूटी उद्ध्वस्त धर्मशाला,
उसकी खपरैल पर बैठ परेवा वह
खिन्न, नीरस एकांतगीत गाता है।)

तो निश्चय है उन्हें सौंदर्यानुभव प्राप्त हुआ था। मानव की आत्मिक स्थितियों का देहीकरण सृष्टि में उन्हें दिखा था। जिस अर्थ में बालकवि की ये कविताएँ मानवनिर्मित हैं उस अर्थ में सृष्टि का आनंद और परेवे का गीत मानव-निर्मित नहीं है। फिर भी वे एक अर्थ में मानव-सापेक्ष हैं, क्योंकि रसिक मन की अनुपस्थिति में सृष्टि केवल जड़ सृष्टि रही होती, उसमें आनंदादि भावनाओं का समावेश न हुआ होता, परेवे की गुटरगूँ एकांत संगीत न ठहरता। इसलिए प्रकृति-सौंदर्य यद्यपि कलाकृति की तरह मानव-निर्मित नहीं है तो भी वह मानव-सापेक्ष होता ही है। कलाकृति दो अर्थों में मानव-सापेक्ष होती है। एक तो प्रकृति सौंदर्य की भाँति वह रसिक-सापेक्ष होती है और दूसरी बात यह है कि वह कलाकार द्वारा निर्मित होती है। वह एक मानवीय क्रिया की परिणति होती है।

कलाकृति के मानवनिर्मित होने की स्थिति की ओर दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। (1) अगर कलाकृति में अनुभव देहीभूत होता होगा तो कलाकृति के जन्म लेने पर ही उस देहीभूत अनुभव की आँवल काटी जाती है और उसे स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त होता है। मनुष्य काला या गोरा है, यह निश्चित करने के लिए जिस तरह माँ-बाप की जानकारी आवश्यक नहीं होती उस तरह कलाकृति के आकलन एवं उसके मूल्यांकन के लिए कलाकार की जरूरत नहीं होती। जो अनुभव परिपुष्ट किया गया है, जिसे सार्वभौमिकता प्राप्त हुई है, जिसका साधारणीकरण हुआ है, उसके लौकिक जनक से हमें क्या लेना-देना है? संस्कृत साहित्यशास्त्र में कवि के व्यक्तित्व के बारे में बहुत उत्सुकता नहीं दिखाई जाती। इसका भी यही कारण संभव जान पड़ता है। हमारा वास्ता है कलाकृति के साथ, कलाकृति के जनक से नहीं। उसी तरह यह भी जानने की जरूरत नहीं है कि वह किन प्रक्रियाओं से पैदा हुई। (2) दूसरा दृष्टिकोण यह है कि कलाकृति एक मनुष्य के जीवन का अविभाज्य भाग होता है। उसका सही अर्थ कलाकार के संदर्भ में ही लागू होता है। उसका सही मूल्यांकन भी उसी संदर्भ में हो

सकता है। और इसीलिए कवि के चरित्र के बारे में जानने की उत्सुकता रसिकों में होती है। और उनका विश्वास होता है कि इस औत्सुक्य में निठल्ली उत्सुकता से अधिक कुछ होता है। वे मानते हैं कि कविता में कवि के मानस का प्रतिबिंब अंकित रहता है। अत: कविता के बारे में बोलते समय जाने-अनजाने वे ऐसे विशेषण इस्तेमाल करते रहते हैं कि जो कविता की भाँति कविता के जन्मदाता पर भी लागू हों। यह सही है कि "धड़धड़ाते हृदय की लेखिकाएँ" वर्णन विशिष्ट लेखिकाओं के बारे में किया गया है, लेकिन उसकी पुष्टि के लिए उपयोजित प्रमाण अगर इन लेखिकाओं का कथा साहित्य है तो यह भी कहा जा सकता है कि यह कथन विशिष्ट वाङ्मय कृतियों के बारे में ही है। "स्मृतिचित्रें" पढ़ते समय हम कहते हैं कि उसमें एक प्रसन्न एवं सुसंस्कृत व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। यह वर्णन 'स्मृतिचित्रें' की लक्ष्मीबाई का है या लौकिक लक्ष्मीबाई का? "नकली" एवं "असली" (authentic) विशेषण जब काव्य में ग्रथित अनुभव के बारे में इस्तेमाल में लाए जाते हैं तब क्या हम कवि के लौकिक व्यक्तित्व के बारे में ही बोलते रहते हैं? कभी कवि अपने काव्य का संदर्भ एवं अर्थ बताता रहता है। ऐसे समय उसकी बात को हम विशेष महत्त्व देते हैं या नहीं? माधव ज्युलियन की कविता "प्रेम होईना तुझ्याने" किसी प्रेयसी को उद्देश्य कर लिखी हुई नहीं है, बल्कि उसका विषय 'फर्ग्युसन कॉलेज' है। माधवराव ने (अथवा उनके मित्रों ने) यह स्पष्ट किया तो उस कविता का नया (और सही) अर्थ प्राप्त हुआ। हम ऐसा मानते हैं या नहीं? कवि को कविता कैसे सूझी, यह जानने की उत्सुकता बहुतों को होती है। उसके वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्तित्व की जानकारी भी अनेक रसिक चाहते हैं, क्योंकि उनका दावा होता है कि इसके आधार पर कविता के अनेक वैशिष्ट्य ज्ञात होंगे। कवि जिन अनुभवों की अभिव्यक्ति करता है वे अनुभव सामान्यों को आनेवाले अनुभवों से अलग (उदाहरणार्थ, अधिक तीव्र) होते हैं, और यह भी माना जाता है कि कवि का कुल जीवन भी सामान्यों के जीवन से अलग होता है। इसलिए लोगों की यह स्वाभाविक धारणा बनती है कि कवि के व्यक्तिगत जीवन और उसके काव्य में कुछ कार्यकारण-संबंध होगा। इसी में से चरित्रात्मक समीक्षा पद्धति (biographical criticism) का उद्भव होता है। इस प्रणाली की आवश्यकता एक विशिष्ट कालखंड की कलाकृतियों के बारे में विचार करते समय विशिष्ट रूप से प्रतीत होती है। यह काल है स्वच्छंदतावादी काव्य का काल। इस काल के कवि अनेक बार अपने खुद के अनुभवों के बारे में बोलते प्रतीत होते है। स्वाभाविक रूप में उनके व्यक्तिजीवन के बारे में जानने की इच्छा पाठक करते हैं। कभी वे अपने संबंध में नहीं, तो दुनिया के बारे में बोलते हैं। लेकिन वे हमें जो दुनिया दिखाते हैं वह उनके व्यक्तित्व से रंगी होने कारण कवि के बारे में जानकारी प्राप्त किए बिना उस दुनिया में हम प्रवेश नहीं कर सकते, ऐसा लगने लगता है। जिस काल में कवि के व्यक्तित्व की ओर विशेष

ध्यान नहीं जाता उस काल में काव्य में क्या अपेक्षित है, इसपर सब कवियों में एकमत होता है और उस समय कवि के व्यक्तित्व की ओर विशेष ध्यान नहीं जाता। किन्हीं कालखंडों में हर वाङ्.मय प्रकार से क्या अपेक्षित है, इस संबंध में निश्चित सर्व स्वीकृत नियम अथवा रूढ़ियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए महाकाव्य लिखना हो तो विषय अमुक होना चाहिए, चरित्र अमुक होने चाहिए, भाषा विशिष्ट प्रकार की होनी चाहिए इत्यादि रूढ़ियों के बारे में कवियों एवं समीक्षकों में सहमति होती है। ऐसी सहमति हो तो सामान्य रूढ़ियों के आधार पर कलाकृतियों का मूल्यांकन सुगम होता है। लेकिन ऐसी सहमति हर समय होती है, ऐसा तो नहीं होता। यह भी कभी अस्वीकृत किया जाता है कि ऐसे वाङ्मय प्रकार होते हैं और उनकी अपनी निश्चित रूढ़ियाँ या नियम होते हैं। अगर इसपर एकमत नहीं है कि काव्य को क्या सिद्ध करना है तो अमुक काव्य सफल हुआ है या नहीं, यह कैसे निश्चित किया जा सकता है? ऐसे समय सफलता का एक निकष संभव है। वह यह कि कवि जो भी कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है उसको उसने व्यवस्थित ढंग से व्यक्त किया है अथवा नहीं, इसी के साथ कवि की अभिव्यंजना सहज है अथवा कृत्रिम, कवि अपने अनुभव के साथ ईनामदार है अथवा नहीं। उसका अनुभव सच्चा है, असली है, या झूठा, ये प्रश्न भी पूछे जाते हैं। और ऐसे प्रश्नों को हल करना हो, तो कविके व्यक्तिगत जीवन की खोज आवश्यक है, ऐसा लोगों को लगने लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ध्यान में आएगा कि बहुत-से लोग कविता और कवि के बीच आवश्यक संबंध मान लेते हैं, और वे यह मानते हैं कि कवि के जीवन को समझे बगैर सही अर्थ में कविता समझी नहीं जाएगी और मूल्यांकन नहीं किया जा सकेगा। सामान्य पाठकों के इन विश्वासों को समीक्षकों के सिद्धांतों में स्पष्ट रूप प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए श्री. के. क्षीरसागर "स्वप्नभूमि" की प्रस्तावना में लिखते हैं : आधुनिक कविकुलगुरु केशवसुत ने कवियों के संबंध में यद्यपि यह कहा है कि यह प्रश्न न पूछा जाए कि, कवि "होता कसा आननी? (कवि का मुख कैसा था?)" फिर भी इसमें संदेह नहीं कि कवि के चरित्र के संबंध में कौतूहल आधुनिक रसिकता का एक स्पृहणीय वैशिष्ट्य है। पश्चिमी देशों में तो यह कौतूहल चरम सीमा को पहुँचा हुआ दिखाई देगा। व्यक्तिगत रूप में मैं पश्चिमी वाङ्मय की ओर आकर्षित हुआ, तो कवियों के चरित्रों के संबंध में अद्‌भुत खजाना वहाँ देखकर ही। समाज में विचरने-वाला कवि और काव्य की स्वप्नभूमि में विचरनेवाला कवि दोनों में संगति या असंगति सहृदय भाव से रेखांकित करनेवाले पाश्चात्य कवि चित्रकार श्रेष्ठ दर्जे के समीक्षक ही थे। उल्टे, हर फुटकर कविता को केवल एक स्वतंत्र सिलाई का काम मानकर उसके टांके गिननेवाली नई भूमिका समीक्षा-वाङ्मय के समृद्ध बगीचे को वीरान बनानेवाली है। केशवसुत, तिलक, तांबे, गड़करी, रेंदालकर में से हर किसी के

वैयक्तिक चरित्र की जितनी चीजें मालूम होंगी, उतना उनकी कविता के पाठ का आनंद बढ़ता जाएगा।"[2]

विशिष्ट कलाकृति एवं उसके लौकिक निर्माता के बीच के संबंधों की ओर समीक्षकों ने ध्यान दिया है, उसी तरह कुल कला का निर्माण कैसे होता है, इसकी ओर भी ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ श्री प्रभाकर पाध्ये अपनी पुस्तक "कलेची क्षितिजे" के तीसरे अध्याय में लिखते हैं:

"और यही कला-निर्माण का मर्म है। जीवन के विविध दृश्यों के इंद्रियजन्य अनुभव के कारण हृदय में अनेक भाव सतत उत्पन्न होते रहते हैं। इन हृदयस्थ भावों में रँगने, उन्हीं में उत्कट एवं निरपेक्ष आनंद भोगने में मनुष्य प्राणी को बड़ा सुख होता है। लेकिन उसे आसपास की दुनिया के साथ व्यवहार करना होता है। उसके लिए उसे कार्य करना पड़ता है और इसलिए अपने हृदय के भावों को वह प्रत्यक्ष व्यावहारिक क्रिया से अभिव्यक्ति देता है। उल्टे, कलाकार के हृदयस्थ भाव इतने तीव्र, इतने उत्कट होते हैं और कलात्मकता उन्हें इतना अभिभूत किए रहती है कि सामान्य व्यावहारिक क्रियाओं से उनका पूरा निरसन तो नहीं ही होता बल्कि अपनी भावनाओं का ऐसा निरसन करनेवाले व्यवहार के प्रति उनका विरोध रहता है। उसे अपने अंत:करण के भावों में, विश्व के नानाविध दृश्यों से उसके अंतरंग में जो एक अनुभूति उत्पन्न होती है उसमें, उत्कटता एवं निरपेक्षता से रंग जाने में उसे आनंद होता है। भावनाओं की उत्कटता कम हो तो कुल जीवन उसे नीरस, नि:सत्त्व लगने लगता है। इसलिए इन हृदयस्थ भावों की मात्र सुरक्षा करने की ही नहीं बल्कि उन्हें अधिक उत्कट बनाने अर्थात् भावनाओं की क्रिया-प्रवणता का अवरोध करने की कोशिश वह करने लगता है। उसके इस भावानंद में ही कलानिर्मिति का मूल है। सामान्य मनुष्य व्यावहारिक क्रिया में जिन भावों का विलय करता है उन आंतरिक भावों को उत्कटता तक ले जा कर कलाकार उनका विलय कलाकृति में करता है। इन आंतरिक क्रिया-प्रवण भावों का रूपांतर कलात्मक भावना में --- सौंदर्यभावना में होता है। अत: कलाकृति ही उन भावनाओं की स्वाभाविक क्रिया सिद्ध होती है। कलाकार एवं अन्य व्यक्तियों की मनोवृत्ति में यह मूलभूत अंतर है।"[3]

कुल वाङ्मय की उत्पत्ति के संबंध में प्रा. कृ. पां. कुलकर्णी के विचार देखिए:—

"आदिम प्रेमिकों के परस्पर अनुराधन के आद्य साधन के रूप में अगर भाषा उपयोग में आती है तो चिरंतन प्रेमिकों के चिरंतन अनुराधन के चिरंतन साधन के रूप में भाषा का विलास या वाङ्मय क्यों न प्रयुक्त हो? वाङ्मय भाषा का विलास है। उसमें भी चिरंतन स्वरूप ललित वाङ्मय की भाषा का आत्यंतिक विलास है। अत: यह आत्यंतिक विलास भी आदिम मानवों की उन्माद-अवस्था में अपने आप उत्पन्न हुआ होगा। आदि काव्य आद्य प्रेमिकों के अनुराधन में ही उत्पन्न हुआ होगा।"[4]

समीक्षकों की भाषा एवं हममें से अनेकों की सहजस्फूर्त प्रतिक्रिया को देखते हुए कला की निर्मिति के संबंध में यह या वह उत्पत्ति सिद्धांत माननेवाले बहुत लोग हैं, यह ध्यान में आएगा। मतलब यह है कि ये सिद्धांत बिना जड़ के नहीं हैं। उनकी जड़ें समीक्षा व्यापार में गहरे रोपी गई हैं। दूसरी बात यह कि मानव द्वारा निर्मित बातों के संबंध में - विशेषत: मूल्यवान बातों के बारे में -- वे कैसे उत्पन्न हुईं, इसके संबंध में कौतूहल प्राकृतिक ही है। तीसरी बात यह कि कलानिर्मिति एक घटना (event) है और अन्य घटनाओं की भाँति कार्यकारण भावों की अवधारणा के आधार से उसका अर्थ लगाना चाहिए, यह आग्रह गलत नहीं माना जा सकता। उन्नीसवीं सदी में जीवशास्त्र एवं उत्क्रांतिवाद के प्रभाव से हर वस्तु की उत्पत्ति कैसे हुई उसका मूल कहाँ है, यह खोजने के प्रयास वैज्ञानिक एवं अन्य चिंतक करने लगे। इस सबका परिपाक काव्य की ओर कवि-व्यक्तित्व के आधार से देखने की प्रवृत्ति बढ़ने में हुआ। इसलिए उन्नीसवीं सदी में चरित्रात्मक समीक्षा-पद्धति का बहुत उपयोग होने लगा। बीसवीं सदी के पहले तीन दशकों में यह पद्धति नई महत्त्वपूर्ण प्रणाली के रूप में स्वीकृत हुई। आज भी अनेक समीक्षक इस प्रणाली को स्वीकार करते हैं। विशिष्ट कलाकृतियों की जड़ें कवि के लौकिक जीवन में खोजने का प्रयास समीक्षकों ने किया, उसी तरह समाज-जीवन में भी खोजने का प्रयास किया। उसी तरह कुल कलाओं की निर्मिति किसमें है, यह खोज भी की गई है। इसलिए हम अब कलासंबंधी कुछ उत्पत्ति- सिद्धांतों (genetic theory) का परिचय प्राप्त कर लेंगे। लेकिन उसके पहले दो महत्त्वपूर्ण मुद्दों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

6.3

कलाकृति की निर्मिति अगर घटना होगी तो या तो वह घटित हुई होगी, अथवा गढ़ी गई होगी। कलाकृति की निर्मिति के संदर्भ में घटित होना (रच जाना) और "गढ़ना" (रचना) दोनों अवधारणाएँ संगत हैं। अगर गढ़ने की अवधारणा का प्रयोग करना हो तो कलाकार को अपना प्रयोजन बताना संभव होना चाहिए और उसे कारण (reasons) देना संभव होना चाहिए कि ऐसा क्यों किया, वैसा क्यों किया। उदाहरणार्थ, कलाकार को यह कहना संभव होना चाहिए --" पाठकों में देशभक्ति की भावना उत्पन्न करना मेरा साध्य था अत: जान-बूझकर मैंने "ज्वाला", "तांडव", "प्रलय", इत्यादि शब्दों की साधन के रूप में योजना की", अथवा "इस दुष्प्रवृत्त पात्र का विनाश मैंने जान-बूझकर दिखाया, क्योंकि वैसा न दिखाना नैतिक दृष्टि से गलत सिद्ध होता।" अथवा 'क्ष' चरित्र 'य' पात्र के समकक्ष प्रभावपूर्ण करने का कारण यह है कि दोनों को समबल न दिखाया होता, तो कथा का संतुलन बिगड़ गया होता" इत्यादि। कभी कलाकार यह कह सकता है। लेकिन कभी वह अपना उद्देश्य स्पष्ट नहीं कर सकता, न कारण दे सकता है। कभी-कभी खुदने जो लिखा है उसका वह अर्थ भी नहीं बता

सकता।[5] ऐसे समय "घटित" होने की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। फिर यहाँ कार्यकारणभाव (causality) अवधारणा संगत ठहरती है। बहुत बार उद्देश्य, कारण (reasons) एवं कार्यकारण भाव (causality) तीनों अवधारणाएँ एक ही कलाकृति के संदर्भ में प्रयुक्त करने की स्थिति पैदा होती है। ऐसे समय इन अवधारणाओं के बीच का अंतर ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

(2) "घटित होने" की अवधारणा प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं एवं घटनाओं के बारे में उपयोग में लाई जानेवाली अवधारणा है। कलानिर्मिति की प्रक्रिया में घटित होने का अंश जितना अधिक उतना उसमें प्राकृतिक अंश अधिक और प्राकृतिकता का भाग जितना अधिक उतना लौकिकता का भाग अधिक। कलानिर्मिति को एक प्राकृतिक प्रक्रिया मानना और उस प्रक्रिया के नियमों की खोज करना कलानिर्मिति को विज्ञान के क्षेत्र में रखना है। ऐसा होने पर कलानिर्मिति भी अन्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं की तरह एक लौकिक प्रक्रिया सिद्ध होती है। "घटित होने" के स्थान पर गढ़ने की अवधारणा का उपयोग करने पर आलौकिकता सिद्ध होती है, ऐसा नहीं है। लेकिन घटित होने की अवधारणा के उपयोग से लौकिकता निश्चय ही सिद्ध होती है।

कला की लौकिकता एक और उत्पत्ति सिद्धांत में अनुस्यूत है। वह सिद्धांत है "कला कलाकार के जीवन का प्रतिबिंब या अभिव्यंजना है।" विश्वचैतन्यवादियों ने जीवनाशय का स्वीकार तो किया, परंतु उसकी रचना अलौकिक तत्त्व के अनुसार करने की प्रतिज्ञा की। यह प्रतिज्ञा जहाँ नहीं की होगी या उसका पालन नही किया होगा वहाँ आशय लौकिक ही रहता है। यह आशय है कलाकार के लौकिक व्यक्तित्व या जीवन का प्रतिबिंब। "अलौकिक" शब्द "अनन्यसाधारण जैसा द्व्यर्थी है। उसके कारण कलाकार का व्यक्तिमत्व एवं जीवन अलौकिक नहीं है, यह मुद्दा जरा कठिनाई से ही जँचता है। यह सही है कि कवि औरों से बहुत अधिक संवेदनक्षम एवं मनस्वी होता है, उसने औरों से अधिक सहा हुआ होता है, सामान्यों को जो स्वप्न समझ में नहीं आएँगे, ऐसे स्वप्न हृदय से लगाकर वह उस धुन में जीवन व्यतीत करता है और इस सब के कारण वह अद्वितीय ठहरता है। फिर भी वह अलौकिक नहीं सिध्द होता। उसका जीवन औरों के जीवन से पूर्णत: अलग किस्म का होता तो वह अलौकिक सिध्द होता। अपना लौकिक जीवन व्यावहारिक, नैतिक एवं ज्ञानात्मक होता है। उसमें पेट के लिए एवं इंद्रियसुख के लिए प्रयत्न करनेवाले और किसी एक नैतिक ध्येय के लिए सब प्रकार के सुख का त्याग करनेवाले दोनों समाविष्ट हैं। इस सारे व्यवहार को ज्ञानात्मकता का आधार आवश्यक होता है। इस लौकिकता के चौखटे में रहनेवालों में संख्यात्मक अंतर अवश्य होता है। एक हेडक्लर्क होने के लिए प्रयासशील होता है तो दूसरा प्रधानमंत्री बनने के लिए। एक झोंपड़ी में रहता है तो दूसरा महल में, एक भिखारी को दस पैसे देता है तो दूसरा समस्त धन दलितों के उध्दार के लिए

समर्पित करता है। एक नल क्यों चूता है, इसकी खोज-बीन करता है तो दूसरा गुरुत्वाकर्षण के नियमों की खोज करता है। यह सही है कि ये फर्क महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन वे संख्यात्मक हैं, जाति के नहीं। चार व्यक्ति ब्रिज खेलने बैठे हों तो उनमें से एक पत्ते खराब होने पर भी अपने कौशल से जीत लेता है। वह अद्वितीय बन जाता है। लेकिन वह जब तक ब्रिज ही खेलता है तब तक उसमें और अन्य तीनों में जाति का अंतर नहीं होता। अगर वह रमी खेलने लगे तो यह अंतर जाति का अंतर होगा। ब्रिज और रमी भिन्न खेल हैं, क्योंकि उनके मूलभूत नियम भिन्न हैं। कवि को जब अलौकिक व्यक्ति कहा जाता है तब उसमें और अन्य व्यक्तियों में जाति का अंतर है, यह सूचित करने का प्राय: उद्देश नहीं रहता। उपरोक्त उदाहरण में बताए असामान्य ब्रिज खेलनेवाले की तरह ही वह होता है। व्यक्ति के रूप में वह कितना भी अद्वितीय हो, वह और उसका जीवन सही अर्थ में लौकिक ही ठहरता है। उसके कारण काव्यपाठ का आनंद प्रत्यक्ष लौकिक जीवन में लोकविलक्षण व्यक्ति मिल जाने का ही आनंद होता है। अपना दैनिक जीवन बहुत समृध्द नहीं होता, वह खास लकीर पर चलता रहता है या उखड़ापुखड़ा रहता है। उसमें लोकविलक्षण मनचले, प्रबुध्द, ध्येयोन्मुख, संवेदनक्षम व्यक्ति शायद ही कहीं मिलते हैं। कला के कारण यह कमी पूर्ण होती है। लेकिन कला में जिस जीवन का हमें अनुभव प्राप्त होता है वह जीवन हमारे व्यावहारिक जीवन से कितना भी तीव्र, मनस्वी, समृध्द हो तो भी आखिर लौकिक जीवन ही होता है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। लौकिकतावादियों की राय में अनुभव की परिधि बढ़ाना ही कला का कार्य होता है। कला हमें अधिक समृध्द जीवन प्राप्त करा देती है। उसकी ओर नई दृष्टि से देखने को सिखाती है, यह सही है, लेकिन यह भी सही है कि यह समृध्दि एवं यह नई दृष्टि अपने लौकिक जीवन की परिधि में ही बैठनेवाली होती है।

इस संदर्भ में वर्डस्वर्थ का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। 'लिरिकल बॅलेड्स' की प्रख्यात प्रस्तावना में वह कहता है कि कवि मनुष्य ही होता है और काव्य द्वारा वह अन्य लोगों से बात करता है। वह अन्यों से संवेदनाक्षम, कामल एवं उत्साही होता है। उसे मानव मन का अधिक ज्ञान होता है, उसकी आत्मा की परिधि अधिक विस्तृत होती है। "अपनी इच्छाओं, भावनाओं एवं चैतन्य में वह तल्लीन होता है और वह बहुत चाहता है कि कवियों और सामान्य लोगों में अंतर होता है। सामान्य मनुष्य में भावना -जागृति होती है तो भावोद्दीपक बातों का पहले अस्तित्व में होना जरूरी होता है। कवि को ऐसे प्रत्यक्ष उद्दीपकों की जरूरत नहीं होती और वह इन सब की अधिक अच्छी अभिव्यंजना कर सकता है। लेकिन कवि के विचारों एवं भावनाओं और सामान्य मनुष्यों के विचारों एवं भावनाओं में जाति का अंतर नहीं होता।[6] इसका अर्थ यह नहीं कि कवि सदैव पुन:प्रतीति का आनंद देता है। कभी वह नवप्रतीति का भी आनंद देता

है। लेकिन ये दोनों प्रतीतियाँ लौकिक स्तर की ही होती हैं। काव्य के क्षेत्र के बाहर भी इस प्रकार के अनुभव प्राप्त हो सकते हैं। इससे यह अनायास ही ध्यान में आएगा कि यह मानना कि काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है, यह स्वीकार करना है कि कला-विश्व लौकिक विश्व से मूलतः भिन्न नहीं होता, इन दो विश्वों में अंतर संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं। उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि कलाविषयक उत्पत्ति सिध्दांत कुल लौकिकता के ध्रुव की ओर झुकनेवाले सिध्दांत हैं। इस सिध्दांत का वजन इस प्रकार हो सकता है कि अलौकिकतावादियों के गढ पर लौकिकतावादियों के द्वारा दागी गई वह पहली तोप हो।

इनमें से कार्यकारण स्वरूप के उत्पत्ति सिध्दान्तों का हम प्रथम विचार करेंगे। किसी घटना के घटित होने पर हम पूछते हैं कि यह घटना कैसे घटित हुई। इस घटना के घटित होने के पहले जो परिस्थिति थी उसका हम विश्लेषण करते हैं। और यह खोजते हैं कि उसमें से कौन से घटक की उपस्थिति के अभाव मे यह घटना घटित नही होती। अन्य घटकों को वैसे ही रखकर एक समय एक ही घटक बदलेगे तो किस घटक की उपस्थिति पर उस घटना का अस्तित्व में आना निर्भर है, यह समझ में आ जाता है। अर्थात् इस घटक को अन्य घटकों की सहायता आवश्यक है ही। लेकिन ये अन्य घटक अगर आसपास की परिस्थिति के नित्य घटक होंगे तो हम उन्हें उस घटना के घटित होने का कारण मान नहीं सकते। शेष घटको में से जो घटक उपस्थित रहने पर घटना निश्चित घटित होती है लेकिन जिसकी अनुपस्थिति में वह निश्चित रूप से नहीं घटित होती, वह घटक मुख्य कारण-घटक माना जाता है।

हम यहाँ दो प्रकार के कार्यकारण स्वरूप सिध्दांत पर चर्चा करनेवाले हैं। पहले हम उन सिध्दांतों पर विचार करेंगे जो कुल कलाओं के निर्माण संबंधी हैं। और उसके बाद विशिष्ट कलाकृति कैसे निर्मित होती है, इस संबंध में प्रस्तुत सिध्दांतों पर विचार करेंगे। इस चर्चा के अंत में "प्रतिभा", "कल्पना-शक्ति", "चमत्कृतिशक्ति", "स्फूर्ति" इत्यादि अवधारणाओं का विश्लेषण करना उचित होगा। क्योंकि इन अवधारणाओ एवं उत्पत्ति-सिध्दांतों का अतिशय निकट का रिश्ता है, यह माना जाता है। हमने यह देखा कि उत्पत्ति-सिध्दांतों के लौकिकतावाद से निकट के संबंध हैं। इसके विपरीत, अलौकिकता वाद को उत्पत्ति-सिध्दांत में रस नहीं होता। तथापि विश्वचैतन्यवादियों ने विरोधी पक्ष की कुछ अवधारणओं को उठाकर और उन्हें नया अर्थ देकर उन्हे आत्मसात् भी किया। उनमें कल्पनाशक्ति इत्यादि अवधारणाएँ आती हैं। हम इसकी भी चर्चा करेंगें कि उन्हें आत्मसात् करने में उन्हें कितना यश प्राप्त हुआ।

6.4

कला विषयक उत्पत्ति सिध्दांत अगर स्वीकार्य बनाना हो तो कारण और कार्य के बीच गृहीत संबंध नित्य होना चाहिए। अनेक सिध्दांतों में यह नित्यता नहीं होती

इसलिए वे स्वीकार्य नहीं होते। उदाहरण के लिए संगीत की उत्पत्ति के बारे में डार्विन के सिध्दांत को देखें। उसकी राय में पक्षियों का कलरव संगीत का आदिम रूप है। कलरव की उत्पत्ति के समझने पर संगीत की उत्पत्ति समझमें आ ही जाती है। संयोग-ऋतु में (mating season) मादा का प्रणयानुराधन करते समय नर पक्षी अलग-अलग आवाज करता है, यही कलरव का (इसलिए संगीत का भी उद्गमस्थान है।[7] संयोग-ऋतु में पक्षियों में जो बदल होते हैं वे ही उनके कलरव के कारण बनते हैं। मतलब यह है कि कारण की अनुपस्थिति में कार्य निर्मित नहीं होना चाहिए। और कारण के उपस्थित रहने पर कार्य निर्मित होना ही चाहिए। अगर पंछी संयोग-ऋतु के अतिरिक्त कलरव करते हों तो डार्विन का सिध्दांत सही नहीं माना जा सकता। डार्विन के इस सिध्दांत को काटने के लिए हर्बर्ट स्पेन्सर ने बहुत प्रमाण दिए हैं। इस पर से सिध्द होता है कि संयोग-ऋतु और पक्षियों के कलरव में कार्यकारण संबंध नहीं होता। स्पेन्सर ने यह सिध्द किया है कि पक्षी जिस तरह संयोग-ऋतु में कलरव करते हैं उसी तरह अन्य कालों में भी वे कलरव करते हैं। यह सही है कि प्रणयानुराधन के समय वे कलरव करते हैं। उसका कारण यह है कि दोनों बातें एक ही कारण के फल हैं। शरीर को सुस्थिति में रखने के लिए जो शक्ति आवश्यक होती है उसमें संयोग-ऋतु में वृध्दि होती है और इस अतिरिक्त शक्ति में से कुछ भाग जातिसंवर्धन के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। इसी समय में इस अतिरिक्त शक्ति की अभिव्यंजना को नई-नई दिशाएँ प्राप्त होती हैं। कुल क्रियाशीलता बढ़ती है, स्वरयंत्र की क्रियाशीलता इसी काल में और इसी कारण से बढ़ती है, प्रियाराधन और कूजन में कैसे संबंध प्रस्थापित होता है, यह इससे समझ में आता है। उसी तरह अन्य समय में--उदाहरणार्थ, जिस समय खानापीना भरपूर होता है और वातावरण अनुकूल होता है, ऐसे समय पक्षी कूजन क्यों करते हैं, यह भी समझ में आता है।[8] स्पेन्सर की राय है कि पूरा प्रमाण भी अगर डार्विन की तरफ रहता तो भी संगीत और संयोग-ऋतु में कार्यकारण सिध्द न होता क्योंकि पक्षी एवं मानव जाति में उत्क्रांतिवाद की दृष्टि से निकट का नाता नहीं है। उल्टे, बंदर और मनुष्य में बहुत निकट का रिश्ता है। और बंदरों पर डार्विन का सिध्दांत लागू नहीं होता।[9] अनुभवजन्य प्रमाण एवं कुल उत्क्रांतिवाद के निष्कर्ष डार्विन के पक्ष में न होने के कारण उसका सिध्दांत स्वीकारा नहीं जा सकता।[10]

6.5

स्वयं स्पेन्सर ने संगीत के उद्भव के संबंध में कार्यकारण संबंध का दूसरा सिध्दांत प्रस्तुत किया है। मनुष्य को और अन्य प्राणियों को भावनात्मक अनुभव प्राप्त होते हैं उनके कारण उनके स्नायुओं का संचलन होने लगता है। उदाहरणार्थ, संतोष के कारण चेहरे के स्नायु आकुंचित होते हैं और स्मित उत्पन्न होता है।[11] भावना चेतकों

का काम करती है और स्नायुओं का संचलन अपने आप पैदा करती है। इन चेतकों के कारण जिस प्रकार शरीर के अन्य स्नायुओं में संचलन घटित होता है उसी तरह स्वर-यंत्र के स्नायुओं में भी घटित होता है और इस तरह अलग-अलग स्वरों की उत्पत्ति होती है।[12] भावना किस जाति की है, कितनी तीव्र है, इसपर स्वरों के गुणविशेष (उदाहरणार्थ, ध्वनि-वैशिष्ट्य) (timbre) ध्वनि की उच्चनीचता (pitch), और उसकी स्वरघनता (volume) निर्भर रहती है।[13] यह सब शरीरशास्त्र के नियम के अनुसार अपने आप घटित होता है।[14] ऐसे नियम होते हैं इसीलिए किसी स्वर से हम उसकी चेतक भावना समझ सकते हैं। और इसीलिए हमारे मन में सहानुकंप से तत्सम भावना उत्पन्न होती हैं।[15] काव्य और संगीत ऊपर बताई हुई प्रतिक्रिया के ही परिणाम हैं। स्पेन्सर कहता है कि जिसे हम संगीत के वैशिष्ट्य कहते हैं वह तीव्र और नियमित हुई भावव्यंजक भाषाके ही वैशिष्ट्य हैं।[16] इस सिध्दांत की पुष्टि के लिए स्पेन्सर ने समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उसी तरह मोत्सार्ट इत्यादि संगीतकार बहुत संवेदनक्षम और कोमल मन के व्यक्ति थे इसीलिए वे उत्तम संगीत उत्पन्न कर सके, इस बात की ओर भी उसने ध्यान आकर्षित किया है।[17] एक संगीत कृति में उत्साह है, दूसरी में दुख है, तीसरी में प्रेम है -- यह सब हम कहते हैं, वह क्यों? लगता है कि संगीत की एक अलग भाषा है। लेकिन शब्दों का अर्थ जिस तरह सिखाना पड़ता है उसी तरह संगीत का अर्थ सिखाना नहीं पड़ता। उसे हम अपने आप समझ लेते हैं। इसका कारण यह है कि शरीरशास्त्र के नियमों के अनुसार विशिष्ट भावना और स्वरों का उद्‌भव एवं रचना में एक प्राकृतिक संबंध प्रस्थापित रहता है।[18] नृतत्त्वशास्त्र के अनुसार संगीत का विशिष्ट कार्य होता है। भाषा के माध्यम में जिस प्रकार बौ[illegible]क व्यवहार चलते हैं उस तरह भावनात्मक व्यवहार भी चालू रहते हैं। बोलते समय स्वरों के जो आरोह-अवरोह जारी रहते हैं, उनके द्वारा वह भावनात्मक कार्य सिध्द होता है।[19] भाषा के इस भावनात्मक अंग की श्रीवृध्दि करना संगीत का कार्य होता है।[20] जिस देश में संगीत की परंपरा है उस देश की भाषा भी भावना संवाहन की दृष्टि से प्रभावी हुई दिखाई देती है। भाषा के भावना संवाहक अंग को मानववंश के कल्याण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य रहता है। मानवसमूह में सहानुभूति की भावना को बढ़ाने का कार्य यही अंग करता है और सब जानते हैं कि समाज जीवन में सहानुभूति को कित[illegible] महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[21]

स्पेन्सर के सिध्दांत पर निम्नांकित आक्षेप किए जा सकते हैं। अगर संगीत की निर्मिति भावना से उद्‌भूत है तो बिना भावोत्पत्ति के गायक गा ही नहीं सकेगा। लेकिन बहुत बार महीफिलें महीनों पहले निश्चित की जाती हैं। अत: ऐसे पूर्वनिश्चित महफिल के समय गायक में आवश्यक भावनोत्पत्ति होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अगर मूड़ न हो तो गायन ठीक नहीं होता, यह बात सही है लेकिन इस "मूड़" का अर्थ

भावनात्मक मनोवस्था नहीं है। मूड़ न लगने का अर्थ ध्यान न लगना। गाने का मन न होना इतना ही। किसी भी भावनात्मक मनोदशा का अभाव वहाँ अभिप्रेत नहीं होता। श्री प्रभाकर पाध्ये जिसको आस्था कहते हैं उस आस्था का अभाव याने मूड़ का न होना, (2) स्वरों की रचना को इस सिध्दांत में कुछ भी महत्त्व नहीं दिया गया है। अनेक रचनावादी संगीत-शास्त्रियों की राय में संगीत में भावनाभिव्यंजना इत्यादि कुछ नहीं होता। संगीत का भावना के साथ स्वभावत: कुछ संबंध नहीं होता। विशिष्ट रागों का विशिष्ट समय के साथ अथवा विशिष्ट भावनाओं के साथ जो संबंध जुड़ता है वह केवल सतत साहचर्य के कारण। उसके कारण रचनाप्रधान संगीत की दृष्टि से गाने के माध्यम से होनेवाली भावना-अभिव्यंजना आगंतुक घटक है। गाने की गुणवत्ता पर उसका कुछ भी परिणाम नहीं होता। संगीत आशयहीन स्वरों की रचना होती है। रचना तत्त्व भावअभिव्यंजना के तत्त्व से भिन्न एवं स्वतंत्र माना जाना चाहिए। कांट द्वारा किया हुआ स्वायत्त सौंदर्य एवं परायत्त सौंदर्य भेद महत्त्वपूर्ण है। स्पेन्सरके सिध्दांत के कारण शायद परायत्त सोंदर्य पर प्रकाश पड़ेगा, लेकिन स्वायत्त सौंदर्य उस सिद्धांत की कक्षा में नही आ सकता।

(3) अनेकों की राय में संगीत का अनुभव देखना, सुनना, जानना जैसे ज्ञानात्मक अनुभवों की तरह होता है। स्पेन्सर की राय में वह भावानाभिव्यंजन एवं भावना जागृति का अनुभव है। भावना-जागृति या भावाभिव्यंजन होता है अथवा नहीं, यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि गाने की गुणवत्ता की दृष्टि से भावना--जागृति का कुछ महत्त्व है कि नहीं। स्पेन्सर भावना-जागृति को जो महत्त्व देता है वह अनेकों की राय में अनावश्यक है।

(4) जब हम एक गाना दूसरे गाने से अधिक अच्छा कहते है तब हम निश्चित किस के बारे में बोलते हैं। लेकिन बहुत बार गाने में सरस-नीरस निश्चित करते समय भावना का विचार भी हमारे मन में नहीं होता। आवाज का माधुर्य, गायक की तैयारी, रचना का कौशल इत्यादि निकष हम अनेक बार इस्तेमाल में लाते हैं। लेकिन ये निकष स्पेन्सर के सिद्धांत के ढाँचे में नहीं बैठते।

(5) स्पेन्सर के सिद्धांत को हम सही भी मानें तो भी भावनोद्‌गार 'संगीत' के स्तर पर कब पहुँच जाता है, इसका निकष प्राप्त नहीं होता। ऐसा निकष होना आवश्यक है, क्योंकि हर भावनाभिव्यंजना संगीत नहीं होती।

उपर्युक्त आक्षेपों में से पहला आरोप यह दिखाता है कि स्पेन्सर का सिद्धांत कार्यकारण सिध्दांत के रूप में स्वीकार्य नहीं है। पाँचवें आक्षेप के अनुसार स्पेन्सर का सिध्दांत अधूरा सिद्ध हो जाता है। क्योंकि भावना-जागृति संगीतोत्पत्ति में एक घटक है। बस इतना ही उससे सिद्ध हो सकता है। यही एक मात्र संगीतोत्पत्ति का संपूर्ण कारण घटक है, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरा, तीसरा और चौथा आक्षेप अन्य

जाति के हैं। दूसरे आक्षेप का रुख यही है कि संगीत की विभिन्न जातियाँ होती हैं और उसके कारण संगीत के मूलतत्त्व भिन्न-भिन्न होते हैं। इसका भान स्पष्टतः स्पेन्सर को नहीं था। मतलब कला अवधारणा का उसका ज्ञान अधूरा था। उसका विवेचन ठुमरी, भावगीत, नाट्यगीत (अथवा जिसमें अर्थ का महत्त्व है, ऐसे किसी भी संगीत प्रकार) पर लागू पड़ सकता है लेकिन खयाल संगीत (या किसी भी प्रकार के शास्त्रीय संगीत) पर लागू नहीं होगा। तीसरा और चौथा, ये दो आक्षेप कला के संबंध में स्पेन्सर से भिन्न या उसके विरोध में अवधारणात्मक निर्णय जिन्होंने स्वीकारा है, (या जिनका अवधारणात्मक ज्ञान स्पेन्सर के ज्ञान से भिन्न है), ऐसे संगीतशास्त्रियों और रसिक श्रोताओं के अभिमत प्रस्तुत करते हैं। रचना तत्त्व को जो संगीत का सत्त्व मानते हैं उनकी दृष्टि में दूसरा आक्षेप महत्त्वपूर्ण ठहरता है।

स्पेन्सर के सिद्धांत के बारे में एक और बात ध्यान में रखना जरूरी है। संगीत को जीवशास्त्रीय प्रयोजन है, ऐसा स्पेन्सर का दावा हो तो भी उसने यह कहीं भी नहीं सुझाया है कि संगीतकार को इस प्रयोजन का भान होता है और वह उसी के लिए संगीत का निर्माण करता है। संगीतकार अभिव्यंजना के लिए अभिव्यंजना करता है और उसमें से अपने आप और उसके अनजाने में जीवशास्त्रीय उद्देश्य सिद्ध होता है, इतना ही उसका मंतव्य है। इस मुद्दे का महत्त्व ध्यान में लेने के लिए स्पेन्सर के सिद्धांत की उन्नीसवीं शती के पहले प्रस्तुत हुए योरोपीय सौंदर्य-सिध्दांतों के साथ तुलना आवश्यक है। होरेस से लेकर कांट तक के सौंदर्यशास्त्री और वाड्.मयीन भाष्यकार यही आग्रहपूर्वक कहते आए हैं कि नैतिक शिक्षा और आनंद प्राप्त करा देना कला का कार्य है। लेकिन कांट के बाद सौंदर्य-सिध्दांतों में आत्माभिव्यंजना और आनंद के अलावा अन्य उद्देश्य पिछड़ गए या वे अपने आप अप्रत्यक्षतः सिद्ध होते हैं, ऐसा सौम्य स्वरूप उन्होंने धारण किया। उन्नीसवीं और बीसवीं शती के सिद्धांतों में यह अंतर उत्कट रूप में प्रतिभासित होता है। इस काल में अनेक लोग कला की स्वायत्तता के सिद्धांत की ओर मानो ऐसे आकर्षित हुए हैं जैसे सम्मोहित-से हो गए हों।[22] स्पेन्सर के उर्वरित-शक्ति-सिद्धांत में भी यही बात प्रमुखतः दिखती है। इस सिद्धांत की चर्चा हम आगे करेंगे।

6.6

कला का, उत्पत्ति विषयक एक और सिद्धांत अब हमें विचार मे लेना है। इस सिद्धांत के अनुसार कला क्रीड़ा-प्रेरणा से निर्मित होती है। प्राणिमात्र की प्राथमिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति होने पर जो शारीरिक एवं मानसिक शक्ति बच जाती है, उसकी अभिव्यंजना क्रीड़ा में होती है। यहाँ क्रिया' का एक व्यापक अर्थ अभिप्रेत है। अनिवार्य प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए जो काम करना पड़ता है, उसको छोड़कर जो-जो क्रिया प्राणिमात्र स्वेच्छा से करता है उसे क्रीडपा

समझा जा सकता है। स्वच्छंद रूप में की हुई कोई भी क्रिया क्रीड़ा है -- फिर वह कूदना, नाचना, दौड़ना, गाना इत्यादि किसी भी प्रकार की हो, उसका जीवन व्यापार के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं होना चाहिए। यहाँ प्रत्यक्ष संबंध पर कटाक्ष है। अप्रत्यक्ष संबंध चल सकता है। भिन्न शब्दों में यही बात कहनी हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि क्रीड़ा करते समय यह भान प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए कि हम कुछ जीवनोपयोगी काम कर रहे हैं। स्पेन्सर ने क्रीड़ाओं के संबंध में इतनी ही अपेक्षा व्यक्त की है।[23] प्रत्यक्ष जीवनोपयोगी न होनेवाली कोई भी क्रिया क्रीड़ा में शामिल हो सकती है। बिल्ली जब चूहे को पकड़ती है तब वह उसकी क्रिया क्रीड़ा नहीं होती, क्योंकि वह क्रिया खाद्य पदार्थ की प्राप्ति के लिए चल रही होती है। लेकिन बिल्ली का पिल्ला जब गेंद को पकड़ता है तब वह क्रीड़ा होगी। क्योकि गेंद खाने की चीज नहीं है। गेंद पकड़ना क्रीड़ा है लेकिन अप्रत्यक्षत: वह जीवनोपयोगी होती है। क्योंकि उसी से शिकार की शिक्षा पिल्ले को प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अनिवार्य प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो शक्ति शेष बचती है, उसका व्यय प्रत्यक्षत: जीवनोपयोगी न होनेवाली क्रिया में होता है तब क्रीड़ा निर्मित होती है। जो क्रिया मूलत: केवल साधन रूप होती है उसका जीवनपोषण के साथ प्रत्यक्ष संबंध छूट जाने पर वही क्रिया साध्य के रूप में, स्वरसरंजनात्मक वृत्ति से की जाती हैं तो क्रीड़ा निर्मित होती है। वह अप्रत्यक्ष: जीवनोपयोगी हो भी तो भी उसके स्वभाव में उससे अंतर नही आता। इस क्रीड़ा की प्रेरणा अभिव्यंजना की परिणत अवस्था ही कला-व्यापार है।

इस सिध्दांत का उद्‌गम कांट में मिलता है। कांट ने क्रीड़ा और कला-व्यापार एक ओर और श्रम दूसरी ओर, ऐसा भेद किया है।[24] श्रम स्वभावत: साधन रूप होते हैं। हम किसी के लिए श्रम करते हैं। 'श्रम के लिए श्रम' कल्पना चमत्कारिक है। परंतु क्रीड़ा क्रीड़ा के लिए ही होती है। उसी तरह कलानिर्मिति एवं कलास्वाद भी स्वान्त:सुखाय ही होते हैं। श्रम लादे हुए होते हैं। विशिष्ट ईप्सित साध्य करने की आकांक्षा अगर हममें नहीं होती तो हमने श्रम नहीं किया होता और श्रम के बिना अगर ईप्सित साध्य होते तो हम श्रम करेंगे ही नहीं। इसीलिए तो श्रम कम करानेवाले यंत्रों का हम उपयोग करते रहते हैं। लेकिन जो क्रिया हम पसंद करते हैं और इसलिए हम करते हैं उसके संबंध में हमारा दृष्टिकोण ऐसा नहीं होता। जिसे तैरना पसंद है वह केवल तैरने के आनंद के लिए तैरता है। लेकिन जो व्यक्ति तैरने से अस्थमा ठीक होता है, इस तरह की डॉक्टर की सलाह पर तैरता है उसका तैरना साधनरूप होता है। इस तैरने में और श्रम में फर्क नहीं रहता। कला साध्यरूप क्रिया की तरह स्वान्त:सुखाय की गई क्रिया की तरह याने अन्ततोगत्वा क्रीड़ा की तरह होती है।

शिलरने[25] *"लेटर्स ऑन दि एस्थेटिक एज्युकेशन ऑफ मैन"* (1975) ग्रंथ में इसी

अवधारणा का विवेचन किया है। उनकी राय में व्यवहार की समस्याएँ हल हो जाने के उपरांत जो शक्ति शेष बची रहती है, उसे उर्वरित शक्ति (surplus energy) की क्रीड़ा और कला, ये दो अभिव्यक्तियाँ हैं। लेकिन शिलर केवल इतना कहकर नहीं रुकता कि कला किसमें से उत्पन्न होती है, कला का स्वरूप भी विशद करता है। वह कहता है कि मुक्त स्वाधीनता और नियमितता, इन दो तत्त्वों का एकीकरण कला में हुआ रहता है. उन्मुक्तता और बंधन, जीवन के जड़ और सचेतन घटकों का एकीकरण कला में होता है। अत: कला के निर्माण एवं आस्वाद में मानवी व्यक्तित्व के सभी पहलू हिस्सा लेते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिलर के सिद्धांत के दोनों घटकों पर कांट के विचार का कितना गहरा प्रभाव था।

क्रीड़ा प्रेरणा के सिध्दांत को नई शाखाएँ फूट जाने का प्रमाण लैंग और ग्रूस के लेखन में मिलता है। कोन्रैड लैंग की राय में दैनंदिन जीवन में मानव की सभी प्रेरणाएँ एवं शक्ति को व्यक्त होने के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता। उनमें से कुछ अधूरी रहती हैं और उनकी वृद्धि कुंठित होती है। यथार्थ जगत् हमारी इच्छा-आकांक्षाओं पर कितनी कठोर मर्यादाएँ रख देता है, यह हमारे नित्य परिचय की वस्तु है। इस शुष्क और कठोर यथार्थ की गिरफ्त से बाहर आने का एक रास्ता है – क्रीड़ा और कला का आहार्य भ्रम। छोटे बच्चे 'पाठशाला का खेल' "शाला-शाला" खेलते हैं। एक बच्चा अध्यापक बनता है और अन्य बच्चे विद्यार्थी। यह खेल-खेल की पाठशाला होती है। बड़े जो करते हैं वही करने की छोटे बच्चों की इच्छा होती है। इसलिए पाठशाला खेलकर अपनी इच्छा पूरी कर लेते हैं। कला में भी ऐसा ही भ्रम-विश्व तैयार किया जाता है। फर्क इतना ही है कि कला में यह सब अधिक सचेतन ढंग से किया जाता है।

कार्ल ग्रूस ने लैंग के सिध्दांत में कुछ और जोड़ दिया। उसकी राय में क्रीड़ा और कला में आहार्य भ्रम रहता है। यह तो सच है। परंतु कला के भ्रम से जो आनंद प्राप्त होता है वह कुछ अलग ही किस्म का होता है। क्योंकि इस आनंद में अपने को अपनी शक्ति की प्रतीति आने के कारण होनेवाले आनंद का हिस्सा बहुत बड़ा होता है। जिस माध्यम में कलाकृति का निर्माण करना होता है उस माध्यम को हम किसी भी प्रकार से अनुशासित कर सकते हैं। इस स्व-सामर्थ्य के भान से हमें विशेष आनंद प्राप्त होता है। हम माध्यम के, परिस्थिति के गुलाम न होकर स्वामी हैं, हमें पूरी स्वतंत्रता है, हम माध्यम में किसी भी प्रकार का प्रयोग कर सकते है, उसके लिए माध्यम को चाहे जिस प्रकार से मोड़ दे सकते हैं, यह भान कलानिर्मिति में विशेष उत्कटता से होता है।

उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि क्रीड़ा-प्रेरणा का सिद्धांत अनेक आयामी सिद्धांत है और उनमें से एक ही आयाम हमारे संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। ये आयाम

इस प्रकार के हैं :– (1) व्यावहारिक आवश्यकताएँ पूर्ण होने पर जो शक्ति बचती है उसमें से क्रीड़ाएँ और कलाएँ निर्मित होती हैं (स्पेन्सर और शिलर)। (2) कला और क्रीड़ा व्यावहारिक जरूरतों की पूर्ति के लिए किये गये श्रमों की अपेक्षा भिन्न क्रियाएँ हैं (स्पेन्सर और लैंग)। (3) कला और क्रीड़ा में उन्मुक्त स्वातंत्र्य और नियमितता का संयोग होता है (कांट एवं शिलर)।(4) इन दोनों में आहार्य भ्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है (लैंग एवं ग्रूस) (5) (उनसे हम यथार्थ जगत् में असफल हुई इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। अन्यथा इस्तेमाल में न आई हुई शक्तियों का इस्तेमाल करने का अवसर प्राप्त होता है (लैंग)। विशेषत: अपने स्वामित्व की इच्छा की तृप्ति होती है (ग्रुस)। इन पाँच आयामों में से केवल पहला आयाम हमारे मंतव्य के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। इसलिए सिर्फ इसी घटक की चर्चा यहाँ समीचीन होगी। अन्य घटकों की चर्चा अन्य सिध्दांतों के अनुषंग से होगी। इस चर्चा के पहले एक बात का उल्लेख आवश्यक है। प्रस्तुत सिध्दांत क्रीड़ा-प्रवृत्ति सिध्दांत (Play theory) नाम से जाना जाता है, लेकिन असल में इसे उर्वरित शक्ति-सिध्दांत (Surplus energy theory) कहना ठीक होगा।

इस सिध्दांत पर प्रमुख आक्षेप यह है कि कलाकार का वैयक्तिक जीवन देखा जाए तो इस सिध्दांत के विरोध में ही बहुत प्रमाण मिलते हैं। कोई भी कलाकार यह नहीं मान्य करेगा कि दैनिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति के बाद बची शक्ति का व्यय कलानिर्मिति में होता है। क्योंकि वह कलानिर्मिति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। कलाकृति के निर्माण के समय वह न केवल भूख-प्यास को भूल जाता है बल्कि बहुत बार भूखा भी रहता है। अत: कलाकार का वैयक्तिक जीवन इस सिध्दांत के पक्ष में साक्ष्य नहीं देता। इस पर कहा जा सकता है कि आक्षेपक को सिध्दांत का मर्म ही समझ में नहीं आया। मूल सिध्दांत मुख्यत: कुल कलाव्यवहार कैसे निर्मित होता है, इसके संबंध में है, कोई कलाकार अपनी कलाकृति कैसे निर्मित करता है, इसके बारे में नहीं। मानव समाज परिपक्व और सम्पन्न नहीं हो तो उसके जीवन मे कलाव्यवहार को स्थान नहीं होता। जहाँ कंदमूल खाकर गुजारा करना पड़ता है वहाँ कलाजीवन कैसे पुष्पित होगा? महाराष्ट्र का इतिहास इसी संबंध में एक अलग ढंग से साक्ष्य देता है। मराठी राज्य स्थापित होने के बाद उत्तर पेशवाई तक महाराष्ट्र में कलाओं के भरपूर विकास अथवा किसी कला की जोरदार परंपरा निर्मित होने का उदाहरण नहीं मिलता। अकबर के जमाने में तानसेन था। उस प्रकार कोई तानसेन मराठी राज्य में नहीं हुआ। अजंता जैसी चित्रकला या मुगल साम्राज्य की जैसी वास्तुकला मराठी राज्य में नहीं दिखती। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि मराठी राज्य को कभी स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकी। मराठी आदमी सदैव अन्य प्रदेशोंपर आक्रमण करने में उलझा हुआ था। इसलिए उर्वरित शक्ति का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। उल्टे, सम्पन्नता

एवं स्थैर्य का होना ही उर्वरित शक्ति का संचय होना है।

इसपर आक्षेप यह लिया जा सकता है कि मराठी राज्य में भक्ति-काव्य, पोवाड़े, लावनी, तमाशा, कीर्तन, प्रवचन का विकास हुआ या नहीं? गुफा में रहकर शिकार खेलनेवाले मानव-समूह ने गुफाओं की भित्तियों पर खींचे जानवरों के चित्र क्या कलाकृतियाँ नहीं हैं? इसपर प्रति आक्षेप यह लिया जा सकता है कि सही अर्थ में ये कलाकृतियाँ ही नहीं हैं। गुफाओं की दीवारों पर बनाए चित्र कलाकृति के रूप में बताए नहीं गए, वे तो कर्मकांड या जादू की प्रक्रिया का भाग थे। नीलगाय का शिकार मिल जाए इसलिए उसका चित्र बनाना अथवा युध्द में विजय प्राप्त हो इसलिए विशिष्ट प्रकार का नृत्य करना कलाकृति का निर्माण करना नहीं होता। 'पोवाड़े', कीर्तन, लावनी इत्यादि को भी कलाकृति नहीं कहा जा सकता, क्योकि वे विशिष्ट भावना को उत्तेजित करने के लिए (उदाहरणार्थ राष्ट्रभक्ति, शौर्य इत्यादि) उपयोजित साधन हैं (कला का अर्थ बताते समय कॉलिंगवुड ने भावना जागृत करनेवाली कला का उल्लेख किया था, उसका यहाँ स्मरण होता है।) कलास्वाद में जो तटस्थता, निरपेक्षता इत्यादि बातें अभिप्रेत होती हैं, उनका पोवाड़े, लावनी, कीर्तन, रामलीला आदि में पूर्णतया अभाव होता है। इसलिए पोवाड़े आदि को कला मानना गलत होगा। अगर यह सही है तो समृध्दि और स्थिरता के बिना कलानिर्मिति नही होती, इस सिध्दांत को बल मिलता है। जीवनभर दारिद्र्य में रहकर कला की निर्मिति करनेवाला कलाकार उस समाज में पैदा नहीं होता। जिस समाज में कुल कलाव्यवहार को स्वायत्तता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है उसी समाज में ही ऐसा ध्येयवादी कलाकार पैदा हो सकता है और कलाव्यवहार को प्रतिष्ठा प्राप्त होना समाज को कितनी सुस्थिरता और समृध्दि प्राप्त है, इसपर निर्भर करता है। एक बार कलाव्यवहार को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तो बाद में अगर समाज की अवनति भी होती जाए तो भी वह प्रतिष्ठा नष्ट नहीं होती। इसलिए किसी समाज की अवनति-कालीन अवस्था में भी ध्येयनिष्ठ कलाकार पैदा हो सकता है।

श्री प्रभाकर पाध्ये का "कलेची क्षितिजें" में प्रस्तुत किया हुआ सिध्दांत स्पेन्सर के उर्वरित-शक्ति- सिध्दांत के निकट आनेवाला सिध्दांत है। उनका अभिप्राय यह है कि क्रिया को अवरुध्द कर भावना में स्वरसरंजनात्मक वृत्ति से आनंद लेने में कला निर्मिति का मूल है। स्पेन्सर की राय में प्रारंभिक जरूरतें समाप्त करने के बाद जो शक्ति बच जाती है उसकी अभिव्यंजा कला में होती है। पाध्ये स्पेन्सर की भाँति 'उर्वरित' या बची शक्ति पर निर्भर नहीं रहते, कलाव्यापार के लिए आवश्यक शक्ति क्रिया का अवरोध कर कैसे पैदा होती है, यही वे बताते हैं, लेकिन दोनों की राय में कलाव्यापार साध्यरूप होता है, स्वरसरंजनात्मक वृत्ति के कारण कलाव्यापार संभव बनता है। मर्ढेकर ने 'कलेची क्षितिजे' की प्रस्तावना में पाध्ये जें के विचार का बहुत

मज़ाक उड़ाया है, और कोई कवि और उसकी विशिष्ट कविता इतना ही संदर्भ गृहीत मान लें तो मर्ढेकर के कहने में कुछ अर्थ है, इसमें संदेह नहीं। लेकिन यही सिध्दांत कुल समाज के स्तर पर ले जाकर देखें तो वह अधिक ठीक लगेगा। लेकिन उसके लिए स्पेन्सर का सिध्दांत गृहीत मानना पड़ता है। समाज की उर्वरित शक्ति क्रीड़ा और कला के रूप में व्यंजित न होती तो जानबूझकर क्रियावरोध कर भावना में स्वरसरंजनात्मक वृत्ति से रंग जाने की बात किसी को सूझती, ऐसा नहीं लगता।

इस विषय पर अधिक गहराई में जाने की जरूरत नहीं। लेकिन पोवाड़े वगैरा के उपर्युक्त वाद के एक वैशिष्ट्य के बारे में थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक लगता है। यह वाद आखिर अवधारणा के स्तर पर किया गया है। आरंभ में वह वैयक्तिक स्तर पर था, ऐसा कहा जा सकता है। असली प्रश्न है कि क्या समृध्दि और कलानिर्मिति के बीच कोई संबंध है? अनुभवजन्य प्रमाणों के आधार पर वह हल हो सकता है। लेकिन "सही" कला कौन-सी, यह प्रश्न वैज्ञानिक नहीं है। यह अवधारणात्मक निर्णय एवं अवधारणात्मक बोध का प्रश्न है। कला किस को कहें, इस संबंध में अवधारणात्मक निर्णय अथवा अवधारणात्मक बोध एक प्रकार का हो तो दूसरे प्रकार के बोध से उत्पन्न होनेवाले प्रश्न, प्रश्न ही नहीं लगते, और उस ओर से दिए गए प्रमाण, प्रमाण नहीं लगते। कांट या विश्वचैतन्यवादी दार्शनिकों की तरह कला को स्वायत्त मान लिया जाए तो गुफाओं में रहनेवाले मनुष्यों के द्वारा खींचे गए चित्र या सैनिकों के सामने गाए गए पोवाड़े 'कलाकृति' नहीं हो सकते। और फिर इन चित्रों एवं पोवाड़ों का प्रमाण उचित प्रमाण सिध्द नहीं होता। मतलब अनुभवजन्य प्रमाण से हल होनेवाला वाद यहाँ समाप्त होता है और उसका स्थान अवधारणा - संघर्ष से ग्रहण किया जाता है।

फिर भी एक प्रश्न बचता ही है। वह यह है कि गुफाओं में रहनेवाले मानव समूह ने किसी भी कारण से चित्र बनाए हों, लेकिन उन कारणों में रस न रहनेवाले रसिक को वे चित्र आज क्यों पसंद आते हैं? उसपर एक उत्तर यह सूझता है कि आज जिसे बहुत से लोग कला की सही चेतना कहते हैं, उसके बीज पुरातन चित्रकारों में भी होंगे। इसीलिए "अन्य" कारणों से बनाए चित्रों में भी "सही" कलाकृति के बीज दिखते हैं। इसीलिए उसे अभिप्रेत कारणों के अप्रस्तुत होने पर भी आज के अलग और "प्रगल्भ" काल के निकषों के अनुसार वे चित्र अच्छी कलाकृति सिध्द होते हैं।

इससे कला अवधारणा स्वभावत: वादग्रस्त है और वह द्विध्रुवात्मक है, इस सिध्दांत की पुष्टि होती है। कलाविषयक कोई भी सिध्दांत चश्मे की भाँति लगता है। जैसा चश्मा लगाएँगे वैसा आपको दिखने लगता है। स्पेन्सर जैसों का चश्मा रखने पर *निरुद्देश्य कला-निर्मिति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जीवन-शास्त्रीय उद्देश्य* दिखता है, उल्टे कांट का चश्मा पहनने पर उद्देश्यपूर्ण निर्मिति में भी उद्देश्य निरपेक्षता कैसे देखी

जाए यह समझ में आता है।

यहाँ एक और मुद्दे का उल्लेख आवश्यक है। विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यशास्त्री कलाकृति को देहीभूत भावना मानते हैं, उन्हें इस बात से कर्तव्य नहीं होता कि कलाकृतियों का निर्माण कैसे होता है। ऐसे में क्रीड़ा-प्रेरणा के सिध्दांत का उद्गम कांट में मिलता है। यह कैसे कहा जा सकता है? क्रीड़ा प्रेरणा के सिध्दांत के दो अर्थ दिए जा सकते हैं। एक तो यह कि यह माना जा सकता है कि कला की उत्पत्ति कैसे होती है, यह बतानेवाला यह सिध्दांत है, लेकिन इस सिध्दांत की ओर कलास्वरूप के वर्णन के रूप में भी देखा जा सकता है। कांट जब कला और क्रीड़ा के बीच साधर्म्य दिखाता है तब उसे कला की निर्मिति के संबंध में शायद कोई सिध्दांत नहीं प्रस्तुत करना था। प्राय: कलानिर्मिति क्रीड़ा की तरह स्वांत: सुखाय की हुई निष्प्रयोजन क्रीड़ा है। इतना ही उसे कहना है। मतलब यह है कि कांट का प्रस्तुत सिध्दांत यद्यपि ऊपर से उत्पत्तिसिध्दांत जैसा दिखाई पडा तो भी वह सच्चे अर्थ में उत्पत्ति सिध्दांत नहीं है। कला-व्यापार के एक प्रमुख वैशिष्ट्य के संबंध में सिध्दांत, इतना ही उसका वर्णन करना होगा। कला के संबंध में प्रस्तुत अनेक उत्पत्ति-सिध्दांतों के बारे में यही कहा जा सकता है। ऊपर-ऊपर लगता है कि वे उत्पत्ति-सिध्दांत हैं। लेकिन असल में वे कलास्वरूप विषयक सिध्दांत होते हैं। ऐसे कुछ सिध्दांतों का हमें बाद में विचार करना है।

6.7

अब हम एक समाजशास्त्रीय सिध्दांत का संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेंगे। यह सिध्दांत है मार्क्सवाद। मार्क्सवाद पर थोड़े में लिखना कठिन है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मार्क्सवाद विश्व विष· क एक संपूर्ण और समग्र दर्शन है। मानवीय ज्ञान एवं जीवन का एक भी क्षेत्र नही जिसे मार्क्सवाद ने स्पर्श न किया हो। भौतिक से लेकर समाजशास्त्र, कलास्वरूपशास्त्र इत्यादि तक सभी क्षेत्रों में मार्क्सवाद ने कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण कहा है। इसकी तुलना में अन्य दर्शन की परंपराएँ संकुचित क्षेत्र में काम करती दिखती हैं। मार्क्सवादी एवं अन्य दर्शन-परंपराओं में और एक महत्त्वपूर्ण भेद है। मानवीय अनुभव का केवल तार्किक विश्लेषण कर विशिष्ट दर्शन -परंपराएँ उत्पन्न होती हैं। लेकिन मार्क्सवादियों की राय में मार्क्सवाद केवल तार्किक विश्लेषण पर खड़ा नहीं हैं। वे कहते हैं कि अपने दर्शन को वैज्ञानिक नींव है। यह दावा स्वीकार करने में एक अड़चन है। विश्व के अंतिम तत्त्व के संबंध में ज्ञान देने की आकांक्षा रखनेवाला कोई भी दर्शन असल में अतिभौतिकी ठहरता है, वह अनुभवाधिष्ठित विज्ञान नहीं है, क्योंकि कोई भी विज्ञान् समूचे विश्व के अंतिम तत्त्व के बारे में कुछ भी नहीं बोलता। ऐसा बोलना विज्ञान के पक्ष में नहीं आता। मार्क्सवादियों की राय में गतिशील जड़तत्त्व (matter in motion) विश्व का अंतिम तत्त्व है।

इस जड़तत्त्व की गतिशीलता विरोधविकासवादी (dialectical) है और उसके नियम बताये जा सकते हैं।[26] मार्क्सवादी विश्व के अंतिम तत्त्व के बारे में बोलते हैं, फिर भी इस सब की नींव वैज्ञानिक मानते हैं। इससे यह दिखता है कि मार्क्सवादी लोग अपने दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान मानते हैं। उनके सामाजिक परिवर्तन का विवरण पढ़ते समय मार्क्सवाद एक विज्ञान है, यह निष्ठा बहुत तीव्र दिखती है, समाजवादी ध्येय से प्रेरित अनेक विचार-परंपराएँ हैं, लेकिन अन्यों का समाजवाद स्वप्नमय (utopian) है, सिर्फ अपना समाजवाद वैज्ञानिक नींव पर खड़ा है, ऐसा उनका दावा है। पुरातन साम्यवादी समाज में आगे जानेवाले समृध्दि के समाजवाद तक मानव समाज की जो यात्रा हुई है उसका मार्क्सवादी विवेचन पढ़ने के बाद ऐसा लगने लगता है कि डार्विन के उत्क्रांति सिध्दांत जैसा ही सिध्दांत मार्क्सवादी प्रस्तुत कर रहे हैं, लेकिन डार्विन के सिध्दान्त में और मार्क्सवादी सिध्दांत में दो मामलों में भेद है। पहला मुद्दा यह कि डार्विन का सिद्धांत बताता है कि प्राणी जीवन की अलग-अलग जाति-उपजातियाँ कैसे उत्पन्न हुई। मार्क्सवाद ने अपना सारा ध्यान मानव जाति की उत्क्रांति पर केंद्रित किया है। फिर मार्क्सवादी उत्क्रांति की एक निश्चित दिशा है। पूँजीवाद के बाद समाजवाद और समाजवाद के बाद साम्यवाद आएगा ही, ऐसा विश्वास मार्क्सवादी व्यक्त करते हैं। बदलती परिस्थिति का सामना करने की ताकत जिस जाति में सबसे अधिक होगी वही जाति इस जीवनसंग्राम में टिक सकेगी, इतना ही डार्विन का सिद्धांत कहता है। इससे अधिक उत्क्रांति की निश्चित दिशा है, ऐसा कोई दावा डार्विनवाद नहीं करता। दूसरा मुद्दा ऐसा है कि जो अधिक उत्क्रांत है वह मूल्य-दृष्टि से अधिक अच्छा होता है, ऐसा डार्विन का सिद्धांत नहीं कहता। इसके विपरीत मार्क्सवादी मानते हैं कि पूँजीवाद से समाजवाद अच्छा है और साम्यवाद उससे अधिक अच्छा।[27] मतलब समाज की उत्क्रांति न केवल विशिष्ट दिशा में हो रही है बल्कि वह शिवत्व की दिशा में हो रही है। यह केवल उत्क्रांति नहीं है, प्रगति भी है। मार्क्सवाद का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। "मूल्याभिमुख उत्क्रांतिवाद का दर्शन।"

मार्क्सवाद केवल यह मानने में चरितार्थ होनेवाला दर्शन नही कि जीवन केवल समझा जाए बल्कि जीवन में परिवर्तन लाने वाला वह दर्शन है।[28] समाजजीवन में परिवर्तन घटित करना है तो राजसत्ता को हथियाना पड़ता है। उस तरह पहले रूस में और दूसरे महायुद्ध के बाद अन्य अनेक देशों में मार्क्सवादियों ने शासन को कब्जे में कर लिया। इन सभी देशों में समान परिस्थिति नहीं थी। इसलिए समाजवाद प्रस्थापित करने के उनके मार्ग में और कल्पनाओं में भेद उत्पन्न हुए। प्रत्यक्ष अनुभव भी नई-नई बातें सिखाता है। इस सबका एक परिणाम होता है, वह है मूल तात्त्विक सिध्दांत में परिवर्तन होता। लेनिन ने मार्क्सवाद में जो योगदान दिया वह मूल दर्शन में किए

गए परिवर्तन जैसा था। इसके सिवा और एक दो बातों का उल्लेख आवश्यक है। पहली बात यह कि मार्क्सवाद में अनेकानेक पंथ हैं। एक समय ऐसा था जब कि रूस नेतृत्व में दुनिया के सभी मार्क्सवादी एकजूट होकर रहते थे लेकिन आज उनमें इतने पंथ हुए हें कि सही मार्क्सवादी कौन यह निश्चित बताना मुश्किल हो गया है। मार्क्सवाद यह एक स्वभावत: वादग्रस्त अवधारणा बन गई है। यह सही है कि हमें मार्क्सवादी सौंदर्यविचार से सरोकार है, लेकिन इस विषय में भी सभी मार्क्सवादियों में एकमत नहीं है। साहित्य एवं कला के आद्य प्रयोजन को लेकर प्लेखानेव और लेनिन, ये दो ज्येष्ठ मार्क्सवादी विचारक क्या कहते हैं, इनकी तुलना करने पर मुद्दा स्पष्ट होगा। प्लेखानेव की राय में कलाकृति हमारी चिंतनशीलता (contemplative faculty) को आवाहन करती है, विवेकबुद्धि को नहीं। कलाकृति जिसका दिग्दर्शन करती है वह मानवजाति के हित का हो तो भी वह हितकारी है, इसका भान कलास्वाद में जरूरी नहीं। जहाँ केवल मानवीय हित के विचार को प्राधान्य होगा वहाँ कलास्वाद संभव नहीं। इस विचार से होनेवाला आनंद और कलानंद में भेद करना होगा। सच्चा कलाकार हमारी विज्ञानशीलता का आवाहन करता है, प्रचारक कलाकार हमारी विवेकबुद्धि का आवाहन कर मानवीय हित का विचार हमारे सामने प्रस्तुत करता है।[29] अपने (Party Organization and Party Literature) नामक प्रसिद्ध निबंध में लेनिन ने बिलकुल इसके विरोधी भूमिका ग्रहण की है। उसकी राय में क्रांति के लिए उभारे गए प्रचंड यंत्र का लेखक एक भाग है। जो क्रांति करने के लिए मजदूर तैयार हुए हैं उनमें लेखक को हिस्सा लेना ही होगा।[30]

इसके अलावा एक और मुद्दे का उल्लेख करना चाहिए। मार्क्सवादी पक्ष राजनैतिक आखाड़े में उतरा हुआ पक्ष है और उसे सदैव बदलती परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, इसलिए इसमें आश्चर्य नही कि वह परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग राजनैतिक और सांस्कृतिक गुटों से अस्थायी तौर पर मित्रता के संबंध जोड़े। ऐसी मित्रता होने पर वह इन गुटों का एक विशिष्ट मूल्यांकन करता है। लेकिन इस मूल्यांकन में स्थिरता होती है, ऐसा नही। फ्रेंच कम्युनिस्ट पक्ष और अतियथार्थवादी (Surrealist) कलाकार के बीच की मित्रता के बारे में बोलते समय सार्त्र ने यही मुद्दा उठाया है। उसकी राय में अतियथार्थवादियों की कुल जीवनविषयक नकारात्मक भूमिका कम्युनिस्टों को विशिष्ट परिस्थिति में ही स्वीकार्य होगी। समर्थ पूँजीवादी देश में काम करनेवाले कम्युनिस्टों की भूमिका नकारवादी होती है। इसलिए उन्हें अतियथार्थवादी निकट के लगते हैं। लेकिन स्थिति बदलने पर कम्युनिस्टों के हाथ में शासन आने पर और उनके सामाजिक पुनर्रचना का कार्य शुरू करने पर यह मित्रता खत्म होगी।[31]

दूसरा उदाहरण मार्क्सवादियों ने मनोविश्लेषण के संबंध में जो अलग-अलग

भूमिकाएँ ग्रहण कीं, उनका दिया जा सकता है। एक समय प्रस्थापित समाजव्यवस्था के विरुद्ध बगावत करनेवालों को फ्रायड़ के सिद्धांत निकट के लगे हों तो आश्चर्य नहीं। अपने यहाँ के नवमतवादी लोक मार्क्स और फ्रायड के नाम समान आदरभावना से लेते थे, यह मराठी पाठकों को विदित है। ट्राट्स्की जैसे मार्क्सवादियों की फ्रायड़ ने जो विवेचन किया है उसका कॉड्वेलने भी उपयोग किया है। [33] लेकिन जब फ्रायड़वादी विचारक समग्र जीवन के बारे में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने लगे तब उनमें और मार्क्सवादियों में कुछ वैमनस्य उत्पन्न हुआ और मार्क्सवादी फ्रायडवादियों का निषेध करने लगे।[34]

तीसरा उदाहरण पूँजीवादी समाज रचना का विरोध करनेवाले लेकिन कम्युनिस्टों की राजनीति में प्रत्यक्ष न उतरे लेखकों के संबंध में मार्क्सवादियों की भूमिकाओं का लिया जा सकता है। ऐसे लेखकों के बारे में कॉडवेल की भूमिका बड़े कटु समीक्षक की है।[35] उल्टे ल्यूकाक्स की भूमिका बहुत ही उदार है।[36]

उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि आज मार्क्सवाद के बारे में कुछ भी निश्चित लिखना बहुत कठिन है। क्योंकि मार्क्सवाद का अध्ययन (1) एक अतिभौतिकीय सिद्धांत के रूप में, (2) वैज्ञानिक बैठक पर आधारित लेकिन मूल्योन्मुख उत्क्रांतिवादी सिद्धांत के रूप में, और (3) सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक इत्यादि परिवर्तन करने के साधन के रूप में, तीन प्रकारों से किया जा सकता है। चूँकि ये तीनों स्तर एक दूसरे में गुँथे हुए हैं मार्क्सवाद का चित्र बहुत ही उलझनपूर्ण बना है और राजनैतिक दाँवपेंच के रूप में मार्क्सवादियों ने समय-समय पर जो भूमिकाएँ अदा कीं, उनसे उलझन अधिक बढ़ ही गई है।

उपर्युक्त तीन स्तरों में दूसरा और तीसरा महत्त्वपूर्ण होने पर भी इस अध्याय के विवेचन के संदर्भ में दूसरा स्तर ही समीचीन है। क्योंकि मार्क्सवाद पर एक सामाजिक उत्पत्ति सिद्धांत के रूप में ही हमें विचार करना है। कला को सामाजिक यथार्थ का सही-सही चित्र देना चाहिए और कलाकारों को नई समाज-रचना के निर्माण में हाथ बँटाना चाहिए, मार्क्सवाद के इन दो सिद्धांतों का विचार हम अलग संदर्भ में करेंगे।

कुल समाज-जीवन का विचार करते समय विशेषत: उसके परिवर्तनों का विचार करते समय उसके मूल नींव के अंगों को अलग करना जरूरी होता है। मार्क्सवादियों की राय में समूची इमारत आर्थिक संबंधों या उत्पादन संबंधों की नींव पर खड़ी होती है। इस आर्थिक नींव में निम्नलिखित बातों का समावेश होता हैं। (1) उत्पादन की प्रणालियाँ (modes of production), (2) उन प्रणालियों के अनुकूल उत्पादन संबंध या आर्थिक संबंध (relations of productions or property relations), उत्पादन के साधनों और प्रणालियों में सतत परिवर्तन होते रहते हैं। लेकिन चूंकि आर्थिक संबंध उतने ही वेग से नहीं बदलते इन दोनों में एक तरह का तनाव उत्पन्न

होता है। (3) उत्पादन-प्रणाली और उत्पादन-संबंधों के बीच संघर्ष। वर्ग-संघर्ष के रूप में यह प्रकट होता है। हर समाज में दो मूलभूत वर्ग होते हैं। वे विशिष्ट उत्पादन-संबंधों में एक दूसरे से बँधे हुए होते हैं। उनमें से एक वर्ग का उत्पादन-साधनों पर स्वामित्व होता है और दूसरे वर्ग के लोग उन साधनों में अपने परिश्रम का योग देकर पूँजी (wealth) कमाते हैं। इस व्यवहार में जो लाभ प्राप्त होता है वह सब उस वर्ग की जेब में जाता है जिसका उत्पादन साधनों पर स्वामित्व रहता है और जो वर्ग अपने श्रम से संपत्ति का निर्माण करता है, उसका आर्थिक शोषण होता है। साम्यवादी समाज को छोड़ दें तो हर अवस्था में समाज में उत्पादन के साधनों से संबद्ध दो वर्ग होते हैं। उनमें सतत संघर्ष चलता रहता है। (4) इन वर्ग संघर्षों के एक विशिष्ट सीमा तक पहुँचने पर क्रांति होती है। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी समाज में उत्पादन साधनों पर पूँजीवादियों का प्रभुत्व होता है। और मजदूरों द्वारा अपने श्रम से उत्पन्न की हुई संपत्ति पूँजिवादियों की जेब में जाती है। पूँजीवाद का जैसे-जैसे विकास होता है वैसे-वैसे पूँजीवादियो की संख्या कम होती है और दरिद्र मजदूर वर्ग बढ़ता जाता है। सतत बढ़ती जानेवाली इस जनता की दरिद्रता के कारण समाज को बारबार आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है। इस तरह कुल अर्थ व्यवस्था ढह जाती है। फिर ऐसा समय आता है कि शोषित मजदूर वर्ग क्रांति करता है और उत्पादन के साधनों का प्रभुत्व अपने पास लेता है। (5) उसके बाद कुछ समय तक मजदूर स्वामी हो जाते हैं और बाद में जिस में वर्ग रहित ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित होती है।[37]

किसी भी समाज का उसके सामाजिक, राजनैतिक. तात्त्विक, धार्मिक, इत्यादि आचार-विचारों और उस समाज की संस्थाओं का विचार करते समय हमें पहले उस समाज की नींव में स्थित आर्थिक संबंधों पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए, क्योंकि समूची समाज-व्यवस्था इन संबंधों पर आधारित होती है। उदाहरणार्थ, पुरुष-प्रधान परिवार-संस्था को ही लें। यह संस्था मानव जाति के आरंभ से अस्तित्व में नही थी। जब वैयक्तिक संपत्ति का निर्माण हुआ तब किसी की व्यक्तिगत संपत्ति उसके पीछे उसी के पुत्रपौत्रों को प्राप्त करा देने की व्यवस्था का निर्माण आवश्यक हो गया और पुरुष-प्रधान परिवार व्यवस्था में अपने आप यह प्रश्न हल हो गया।[38] राज्यसंस्था का उद्भव भी निजी संपत्ति के कारण ही हुआ है। जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं, उस वर्ग के आर्थिक हितसंबंधों की सुरक्षा करने के लिए ही राज्यसंस्था उत्पन्न हुई। आर्थिक संबंधों पर केवल सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ निर्भर होती हैं, ऐसा नहीं। समाज की बौद्धिक और मानसिक प्रक्रिया और उसमें से विनिर्मित विचारों की परंपराएँ भी इसी नींव पर आधृत होती हैं। इसे समझने के लिए दो एक उदाहरण लेंगे। मध्ययुग में समाज-रचना के संबंध में (और कुल विश्व-रचना के

संबंध में) एक विचार बहुत प्रबल था। वह यह कि समाज अनेक स्तरों का बना हुआ होता है। बिलकुल ऊपरवाला और बिलकुल नीचेवाला स्तर छोड़ भी दें तो हर स्तर के साथ उससे अधिक महत्त्व का और उससे कम महत्त्व का स्तर होता है। यह रचना केवल इहलोक में ही नहीं है, स्वर्ग में भी है। जन्म लेनेवाला हर व्यक्ति किसी-न-किसी स्तर में जन्म लेता है और वह स्तर उसकी कर्मभूमि होता है। उस स्तर से ऊपर उठने का प्रयास किसी भी व्यक्ति को नहीं करना चाहिए।[39] मार्क्सवादी विचारक शेक्स्पीअर को व्यक्तित्व की अवधारणा पर आधारित पूँजीवादी संस्कृति का उद्‌गाता मानते हैं।[40] यह सही हो तो भी उसके नाटकों में मध्ययुगीन विचारों का भी समावेश मिलता है। मैक्बेथ के द्वारा डंकन की हत्या करके राज्य प्राप्त करना प्रकृतिसिध्द समाजरचना पर ही अक्रमण था, अतएव मैक्बेथ का विद्रोह खत्म करने के लिए स्वयं प्रकृति को शिवशक्ति की तरफ से युध्द में उतरना पड़ा। शेक्स्पीअर के नाटकों में बीच-बीच में परिलक्षित होनेवाली यह विचारधारा एक विशिष्ट अर्थव्यवस्था का वैचारिक प्रतिबिंब है। सामंतवाद को दृढ़मूल करने का कार्य इस वैचारिक परंपरा ने किया। उल्टे, प्रचंड व्यक्तित्व वाले शेक्स्पीअर के नायक व्यक्तिकेंद्रित पूँजीवादी समाज के प्रतिनिधि सिध्द होते हैं। सोलहवीं शती के उपरांत प्रोटेस्टंट पथ की जो विजय हुई उसका मूल कारण पूँजीवादी विजय है। क्रांतिकारी पूँजीवादी वर्ग ने सामंतवाद के विरोध में जो संघर्ष किया उसमें प्यूरिटन कवि मिल्टन स्वयं उतरा था, यह महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा विनिर्मित 'पैरेडाइज लास्ट' का शैतान भी नए युग के प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण सिध्द होता है। लेकिन शेक्स्पीअर की भाँति मिल्टन में भी मध्ययुगीन और पूँजीवादी विचारों का मिश्रण दिखाई पड़ता है। जिस समाज में आर्थिक मामलों में वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बल दिया गया उस समाज में धार्मिक, राजनैतिक और बौध्दिक मामलों में भी वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बल दिया जाना स्वाभाविक था। रोमांटिक कवियों ने एवं लेखकों ने स्वातंत्र्य, समता, बंधुता, तीन तत्त्वों का जो स्वीकार किया वह पूँजीवादी समाज-रचना की ही बौध्दिक अभिव्यक्ति थी। इंग्लैंड के पूँजीवाद के विकास और राजनैतिक प्रजातंत्र के विकास में कार्यकारण संबंध है।[41] इस विवेचन से यह दिखता है कि किसी समाज के कुल जीवन का मूल आधार उस समाज की अर्थव्यवस्था होती है। वाङ्मयादि कलाओं का आधार भी वही है, यह क्रमप्राप्त है। किसी विशिष्ट काल की कला के वैशिष्ट्य देखने हों तो उस कालखंड की अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करना आवश्यक होता है। विशिष्ट अर्थरचना में विशिष्ट प्रकार के कला प्रकार ही उदित होते हैं। उदाहरणार्थ, उपन्यास वाङ्मय प्रकार का जन्म पूँजीवाद के उदय से संबध्द है। यह वाङ्मय प्रकार उससे पहले उदित होना असंभव था। जो बात कला-प्रकारों के बारे में सही है वह विशिष्ट कलाकृति के बारे में भी सही है। किसी भी कलाकृति को विशिष्ट मनुष्य ही जन्म

देता है। वह मनुष्य अनिवार्यतया किसी विशिष्ट आर्थिक वर्ग का सदस्य होता है। उस वर्ग के हितसंबंधों में उसके वैयक्तिक हितसंबंध गुँथे हुए होते हैं। स्वाभाविक रूप में उस वर्ग की जीवननिष्ठाएँ उसकी भी जीवननिष्ठाएँ बनती हैं और इन्हीं जीवननिष्ठाओं का प्रतिबिंब उसकी कलाकृति में पड़ा हुआ होता है। अत: किसी भी कला-प्रकार का अथवा कलाकृति का मर्म समझना हो तो उसके मूल में निहित अर्थव्यवस्था की ओर ध्यान देना चाहिए, यह स्पष्ट है। परंतु मार्क्सवाद के आद्य प्रवर्तक इसे अछूता छोड़ देते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र इतना सहज और एकस्तरीय नहीं है। यह सही है कि विशिष्ट अर्थव्यवस्था के परिणामस्वरूप विशिष्ट संस्थाएँ एवं आचारव्यवहार पैदा होते हैं। लेकिन अर्थव्यवस्था पर वे घटित होते हैं। असल में आर्थिक नींव और उसपर खड़ी इमारत का एक-दूसरे पर परिणाम होता रहता है। इसलिए किसी भी समाजरचना का चित्र उलझनदार बनता है, क्योंकि इन सब बातों का स्रोत आर्थिक व्यवस्था है। फिर भी राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक इत्यादि बातों का भी समाजरचना पर किसी-न-किसी रूप में स्वतंत्र प्रभाव पड़ता ही रहता है।[42] इससे यह ध्यान में आएगा कि मार्क्सवादी विचारधारा मूलत: आर्थिकवाद (economism) से संकुचित नहीं बनी थी। लेकिन उसके बाद विशेषत: स्टालिन युग में मार्क्सवादी विचार बहुत ही संकुचित हुआ था। यथार्थ बहुत व्यामिश्र है। इस तथ्य को मानो इस काल के मार्क्सवादी भूल गए थे। सार्त्र ने अपनी पुस्तक "द प्राब्लेम आफ मेथड़" में इसी दोष पर उंगली रखी है।[43] स्वयं मार्क्स का विचार उसके अनुयायियों की भाँति संकुचित न होने पर भी वह यह तो मानता ही है कि समाजजीवन की मूलभूत नींव आर्थिक होती है।

यह मान्य करना पड़ेगा कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को समझने की दृष्टि से मार्क्सवादी विचारधारा महत्त्वपूर्ण है। परंतु यह मान्य करना कठिन है कि मार्क्सवाद के कारण मानव-जीवन की समूची व्यामिश्रता का स्पष्टीकरण होता है। यह सही है कि मानव जीवन की अनेक घटनाओं की नींव आर्थिक व्यवस्था में होती है। लेकिन सभी वस्तुओं की नींव अर्थव्यवस्था में होती है, यह सही नहीं है। भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण उसमें पशुधन को महत्त्व प्राप्त होना स्वाभाविक है। लेकिन प्रश्न पैदा होता है कि गाय जितना महत्त्व भैंस को क्यों नहीं मिला। मतलब यह है कि मार्क्सवादी स्पष्टीकरण ठीक है तो भी वह पर्याप्त नही है। हर चीज के आर्थिक पहलू महत्त्वपूर्ण होते हैं। कोई भी घटना अनेक प्रक्रियाओं का परिपाक होती है। वह अनेक नियमों के अंतर्गत आती है। इसलिए अनेक नियमों के अनुसार उसका स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। ये अनेकविध नियम इस्तेमाल में लाए जाएँ तभी उस घटना का संपूर्ण स्वरूप और उसमें निहित विविध पहलुओं के एक दूसरे के साथ संबंधों पर प्रकाश पड़ता है। इतिहास, मार्क्सवादी कहते हैं, उस तरह घटित हो भी

सकता है। परंतु वह व्यक्ति- व्यक्तियों के जीवन और सामाजिक गुटों के जीवन के द्वारा घटित होता है। और उसे जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह इसीलिए कि व्यक्ति जीवन और समाज जीवन के द्वारा इतिहास का प्रवाह संस्कारित होता है।

इस बात का कलास्वरूपशास्त्र में विशेष महत्त्व है। क्योंकि कलाकृति का निर्माण व्यक्तियों के द्वारा होता है। उन व्यक्तियों का व्यक्तित्व आर्थिक संबंधों से जिस तरह रचा जाता है उसी तरह वह प्रेम, दुनिया से हुई उपेक्षा, मानसिक ग्रंथि इत्यादि अनेक बातों के कारण भी रचा जाता है। मतलब यह है कि किसी व्यक्तित्व को समझना हो तो केवल इतना-भर समझने से काम नहीं चलेगा कि वह किस वर्ग में जन्मा और बढ़ा। उसके आसपास की समूची परिस्थिति की जानकारी प्राप्त करना अत्यावश्यक है और उसी के साथ उस व्यक्ति के द्वारा की हुई जीवनमात्र के चुनाव की अनिवार्यता भी ध्यान में लेना जरूरी है। यह चुनाव अनेक नियमों का परिपाक होता है और निदान कभी- कभी वह बोधपूर्वक विचारोपरांत किया गया होता है। उसके पीछे अनेक कारण (causes and reasons) हो सकते हैं। मान लीजिए कोई सुखी, शिक्षित मध्यमवर्गीय युवक मार्क्सवादी हो गया तो यह कहना गलत होगा कि केवल आर्थिक परिस्थिति के कारण उसने यह चुनाव किया। मार्क्सवादी कहते हैं कि धीरे- धीरे मध्यवर्ग का विलीनीकरण निर्धन मजदूरवर्ग में होगा। लेकिन फिर भी आर्थिक परिस्थिति के कारण मध्यमवर्गीय मनुष्य मार्क्सवादी कैसे होगा, यह इससे समझ में नही आता। वह दुर्बल दैववादी या प्रतिक्रांतिवादी भी हो सकेगा और मार्क्सवादी भी क्योंकि हो सकता है कि उसमें विद्रोह की प्रबल प्रवृत्ति थी। उसके माँ- बाप आवश्यकता से अधिक कठोर और अनुशासनप्रिय होने के कारण उसमें विद्रोह के बीज बोए गए हों या ऐन यौवन में अपने वैयक्तिक जीवन की तीव्र असफलता उसे चुभ गई हो। प्रेमभंग के कारण, घर में सौतेली माँ की उपस्थिति से या अन्य कारणो से उसने सामाजिक विद्रोह का बीड़ा उठाया हो -- यह भी संभावना है। परंतु वह चुनाव बोधपूर्वक, बौध्दिक परिवर्तन के परिणाम स्वरूप भी किया गया हो। यह असंभव नहीं। कितने ही मेधावी युवक बौध्दिक कारणों से (reasons) मार्क्सवाद की ओर मुड़े हुए हम देखते हैं।[44]

कलाकृति के बारे में विचार करते समय इन सभी पहलुओं पर गौर करना पड़ता है। मर्ढेकर का उदाहरण लें— उनकी "शिशिरागम" से "काही कविता" अलग क्यों? इन कविताओं में ज़हरीली उदासीनता क्यों है? शिशिरागम की मधुमधुरता के स्थान पर "काही कविता" की भाषा में खुरदरापन क्यों आया? इस परिवर्तन के पीछे आर्थिक परिस्थिति का कारण कहीं-न-कहीं होना संभव है। लेकिन व्यक्तिजीवन एवं व्यावसायिक जीवन की विफलता, कुसुमाग्रज द्वारा अभिव्यक्त आशावाद के संबंध में हुआ मोहभंग, बंबई जैसे नगर का अ-मानवीय जीवन, तुकाराम जैसे कवि का परिणाम

इत्यादि अनेक कारणों का परिपाक है। मर्ढेकर की कविता "काही कविता" की कुछ कविताएँ। हमने यह देखा है कि मार्क्स स्वयं यह अनुभव करता था कि आर्थिक के अलावा अन्य कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन बादवाले मार्क्सवादियों ने यह गणित सरल बनाया। उन्होंने आर्थिक कारणों को एकमात्र कारण के रूप में महत्त्व दिया और व्यक्तिजीवन की परिस्थिति को पूर्णत: उपेक्षित किया। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सभी मार्क्सवादियों में दिखनेवाली मानवीय व्यक्तित्व के बारे में उदासीनता।[45]

6.8

उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि समाजशास्त्रीय कारण-परंपरा महत्त्वपूर्ण होगी तो भी कलाकृति का वह एक मात्र उद्‌भव-कारण नहीं बन सकती। कलाकृति के अनेक पहलू और वैशिष्ट्य होते हैं और हर वैशिष्ट्य के लिए अलग-अलग परंपरा अथवा नियम खोजना आवश्यक है।

कलाकृतियों का एक वैशिष्ट्य है उसमें उत्पन्न नवीनता। नवीनता अलग-अलग प्रकार की होती है। कभी कलाकार प्रतिसृष्टि विनिर्मित करता है। इस नूतन सृष्टि के व्यक्ति यथार्थ मनुष्यों की अपेक्षा अधिक बड़े, घटनाएँ अधिक अनोखी एवं वैविध्यपूर्ण होती हैं और दुनिया की कुल रचना ही अधिक सही होती है।[46] यह नवनिर्मिति एक तरह की हुई। लेकिन अनेक बार लेखक यथार्थ दुनिया का ही चित्रण करके उनकी ओर देखने की नई दृष्टि देता है, प्रचलित सामाजिक प्रश्नों के नये उत्तर सुझाता है। सामाजिक प्रश्नों के संबंध मे नए विचार करने के लिए इब्सेन, शॉ जैसे लेखक नई दृष्टि प्रदान करते हैं। यह नवीनता कैसे उत्पन्न होती है, नई दृष्टि कैसे प्राप्त होती है, जो रवि को भी नहीं दिखता, वह कवि कैसे देख सकता है, इत्यादि प्रश्नों की ओर हम अब उन्मुख होंगे। नवनिर्मिति के बारे में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। (1) नयी कल्पनाएँ कैसे सूझती हैं? और (2) वे सचमुच नई और महत्त्वपूर्ण हैं? इनमें से पहले प्रश्न का विचार यहाँ प्रस्तुत है।

नई कल्पनाएँ, नए उत्तर, नए दृष्टिकोण कैसे सूझते हैं, इस पर मनोवैज्ञानिकों ने बहुत अनुसंधान किया है। उसमें से कुछ अनुसंधानो का संकलन ग्रेहम वैलिस ने अपने "दि आर्ट ऑफ थॉट" पुस्तक में किया है। वैलेस का विश्वास है कि नवनिर्मिति की प्रक्रिया सृष्टि की अन्य प्रक्रियाओं की भाँति नियमबध्द होती है। ये नियम प्राप्त किए जा सकते हैं, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका उपयोग किया जा सकता है। स्फूर्ति की संकल्पना के उपयोग से नवनिर्मिति का प्रश्न हल नहीं होता, उल्टे उसके चारों ओर एक गूढ वलय उत्पन्न होता है। परंतु इसी प्रश्न की ओर वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो यह प्रश्न हल हो सकता है। इसलिए ग्रेहम वैलेस का दृष्टिकोण निश्चित ही स्वागतार्ह है।

वैलेस ने नवनिर्मिति की चार अवस्थाएँ कल्पित की हैं।[47] वे इस प्रकार:- 1. पूर्व तैयारी (preparation). इस अवस्था में निम्नोलिखित बातों का अंतर्भाव होता है। हमारे सामने जो समस्या है उसका स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए। उस समस्या को हल करने के लिए लगनेवाले बौध्दिक हथियार, उनका इस्तेमाल करने के लिए लगनेवाला अनुशासन, अभ्यास, कुशलता इत्यादि का अपने पास होना आवश्यक है। समस्या को हल करने के लिए सचेत रूप में एकाग्र होकर प्रयत्न करना आवश्यक है।

2. मन में प्रश्न के घुलने की प्रक्रिया (incubation)। इस अवस्था में बोधपूर्वक प्रश्न को टालना होता है। मन दूसरी ओर लगाने से बोधपूर्वक प्रयत्न टाले जा सकते हैं। इसका अर्थ इस अवस्था में अपना प्रश्न हल करने की दृष्टि से अपनी कोई प्रगति नहीं होती है, ऐसा नहीं। जिनका हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, ऐसे प्रयत्न मन के निचले स्तर पर चालू ही रहते हैं। इतना ही है कि वे चेतना के मार्गदर्शन में नहीं चलते।

3. अचानक प्रश्न का उत्तर मिलना, नई दृष्टि प्राप्त होना। इसे वैलेस ने illumination नाम दिया है। अपने प्रश्न को उत्तर मिल रहा है, नई कल्पना सूझ रही है, इसका धुंधला बोध हमें होने लगता है और ठीक उसी वक्त बोधपूर्वक प्रयत्न करने पर यह अर्धस्फुट कल्पना हम पकड़ सकते हैं। इस अवस्था में जो-जो सूझता है वह अचानक, अनायास, बिना बोधपूर्वक प्रयत्न किए सूझा है, ऐसा लगता है। इस अवस्था को "स्फूर्ति" नाम दिया जा सकता है। स्फूर्ति अचानक आती है। उसपर अपना प्रभुत्व नहीं चलता, इसका कारण इस अवस्था में हमें जो प्राप्त होता है उसपर अपना अधिकार नहीं चलता, वह अपने ही मन की चेतना के परे चलनेवाली प्रक्रिया का फल है।

4. तीसरी अवस्था में जो नई कल्पना सूझती है उसमें अपनी समस्या सचमुच हल होती है या नहीं, यह चौथी अवस्थामें जाँचा जाता है। इस अवस्था को Verification नाम दिया गया है। विज्ञान का कोई प्रश्न हम हल कर रहे होते हैं तो तीसरी अवस्था में हमें कोई उत्तर अचानक प्राप्त होते हैं। विज्ञान में इसका महत्त्व नहीं कि यह उत्तर कैसे सूझा। महत्त्व इस बात का है कि इस उत्तर से प्रश्न सचमुच हल हुआ या नहीं और यह तय करने के लिए अनुभव या प्रयोग का निकष लगाना पड़ता है। कवि को जो नई कल्पनाएँ सूझती हैं उन्हें विज्ञान के निकष नहीं लगाने होते। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि मन में स्फुरित हर कल्पना समान मूल्य की होती है। स्फुरित अनंत कल्पनाओं में से कुछ कल्पनाएँ ही कवि चुनते हैं और बाकी त्याग देते हैं। यह चुनाव करते समय कवि कोई निकष इस्तेमाल करता है। उसके चुनाव के पीछे कुछ अनुशासन होता है। जिसके पास ऐसा अनुशासन नहीं ऐसे कवि के काव्य में कल्पनाओं की राशि पड़ी हुई होती है। लेकिन सब बेतरतीब-सा होता है। ऐसी कविताएँ सुंदर या अच्छी नहीं बनतीं।

वैलेस के विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि नवनिर्मिति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा चेतना की कक्षा के बाहर ही रहता है। इस मंजिल पर होनेवाली निर्मिति की चेतना हमें नहीं होती और उसका नियंत्रण भी नहीं किया जा सकता। तीसरी मंजिल में हमें जो प्रतीत होता है वह है नवनिर्मित कल्पना। लेकिन कुल निर्मिति प्रक्रिया के बारे में हम कुछ भी नहीं कह सकते। मनोवैज्ञानिकों की राय में सृष्टि की अन्य प्रक्रियाओं की तरह नवनिर्मिति की प्रक्रिया भी नियमबध्द ही होती है। वह वैसी ही होनी चाहिए। ऐसा सभी वैज्ञानिकों का विश्वास होना स्वाभाविक है। नवनिर्मित कल्पनाओं का विशिष्ट पध्दति से सूराग लगाया जाए तो नवनिर्मिति-प्रक्रिया कैसे और किन नियमों के अनुसार घटित होती होंगी, यह बताया जा सकता है।

इस तरह नवनिर्मिति के नियम खोजने के प्रयत्न अनेकों ने किए हैं। उनमें से साहचर्य के नियम (Laws of association) सभी के परिचय के हैं। बहुत पहले अरस्तू ने साहचर्य नियम बताए थे-- स्थान-साहचर्य, काल साहचर्य, साम्य, विरोध और कार्यकारणभावादि संबंध।[48] वे आज भी स्वीकारणीय लगते है। शंकर का विचार सूझने पर अपने आप नंदी का विचार यदि सूझता है तो साहचर्य नियमों के कारण ही। किसी को लग सकता है कि इन नियमों पर निर्भर रहकर मन को मुक्त कर देने पर बहुत सारी नई कल्पनाएँ सूझेगी या नए बिंब मानस-चक्षुओं के सामने उभरने लगेंगे। लेकिन असल में देखा जाए तो साहचर्यनियमों के कारण पुन:प्रतीति होती है, उनके कारण नई प्रतीति कैसे आएगी ? जिन वस्तुओं में मूलत: साहचर्य है उनमें से एक के विचार से दूसरा विचार अपने आप सूझता जाता है। मतलब यह कि यहाँ नवनिर्मिति के स्थान पर पुनर्निमिति ही घटित होती है। यहाँ कल्पनाशक्ति की अपेक्षा स्मरणशक्ति की अवधारणा ही अधिक ठीक है। फिर भी एक सीमित अर्थ में इन नियमों के अनुसार निर्मित बंधों में नाविन्य देखा जा सकता है। हमारी विचार प्रक्रिया तार्किक नियमों एवं ज्ञानद अवधारणाओं से नियंत्रित रहती है। लेकिन उसे स्वैर छोड़ने पर ऐसे घटक जो अन्यथा एकत्र नहीं आते वे इस साहचर्य के कारण एकत्र आ सकते हैं और इस तरह पुन:- प्रतीति ही नई प्रतीति लगने लगती है। बहुत बार कुछ बातों का साहचर्य हमें चेतना पूर्व स्तर पर प्रतीत हुआ रहता है, लेकिन चेतन मन के स्तर पर हम उसकी दखल नहीं लेते। इसलिए चेतनापूर्व स्तर पर साहचर्यनियमों से बना बंध जब चेतन मन के स्तर पर आता है तब पुन:प्रतीति नवप्रतीति लगने लगती है।

परंतु नवर्निमिति के नियम भी हमें प्राप्त हो चुके है, ऐसा दावा कुछ मनोवैज्ञानिकों ने किया है। प्रसिध्द मनोवैज्ञानिक स्पीअरमन उन्हीं में से एक हैं। उसके नवनिर्मिति सिध्दांत का हम अब विचार करेंगे। स्पीअरमन की भूमिका इस प्रकार है-- मनुष्य नई कल्पना, नई वस्तु इत्यादि का निर्माण करता है, यह वस्तुस्थिति सबको मान्य है। लेकिन यह कहने से कि मनुष्य में नवर्निमिति-क्षमता होती है, परिस्थिति पर कुछ प्रकाश

नहीं पड़ता। पहले देखी हुई चीजों को एकत्र लाना नवनिर्मिति नहीं है, क्योंकि नए की प्रतीति पुराने की पुन:प्रतीति नहीं होती। इसलिए साहचर्यनियमों से नवनिर्मिति का रहस्य नही खुल सकता। उसके लिए दूसरे नियमों की खोज आवश्यक है। ऐसे नियम स्पीअरमन ने अपनी "द क्रिएटिव माइंड" पुस्तक में दिऐ हैं। इन नियमों का "ज्ञान गुणात्मक नियम (qualitative principles of knowing)" और "ज्ञान के संख्यात्मक नियम (quantitative principles of knowing)" इस प्रकार दो गुट कल्पित किए हैं। इनमें से पहले गुट के नियम नवनिर्मिति की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें से पहला नियम यह है कि मनुष्य में अपने संवेदनात्मक, भावनात्मक, क्रियात्मक अनुभव का भान रखने की प्रवृत्ति रहती है।[49] यह नियम नवनिर्मिति की दृष्टि से सबसे कम महत्त्वपूर्ण है। दूसरा नियम यह कि दो अथवा अधिक संवेदनाएं या कल्पनाएं मन के सामने हों तो उन्हें हमारा मन विविध बंधों से बंधे हुए रूप में देख सकता है।[50] यह नियम पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण हो तो भी इस में नवप्रतीति की अपेक्षा पुन:प्रतीति का भाग बड़ा है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरा नियम यह है कि अगर कोई वस्तु या कोई संबंध मन के सामने हो तो इस संबंध में उस वस्तु से निबद्ध नई वस्तु का निर्माण मन कर सकता है।[51] नवनिर्मिति की दृष्टि से यह नियम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके स्पष्टीकरण के लिए एक आसान -सा उदाहरण ले लें— मान लीजिए, एक त्रिकोण दिया हुआ है और संबंध दिया गया है — "उलटापन" इन दोनों के संयोग से उलटा त्रिकोण तैयार किया जा सकता है।

△		▽
मूल त्रिकोण	उलटापन:→ दिया हुआ संबंध	नवनिर्मित त्रिकोण

समझिए गोरा रंग दिया हुआ है और विरोध संबंध दिया हुआ है। इससे काले रंग की कल्पना हम कर सकते हैं। स्पीअरमन की राय में यह तीसरा नियम नवनिर्मिति की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व का नियम है।[52]

कला की नवनिर्मिति में ये तीन नियम हैं, यह सिद्ध करने के लिए स्पीअरमन ने विविध कलाओं के उदाहरण दिए हैं। उनमें से वाड्मय के कुछ उदाहरण हम देखेंगे। "द मर्चट आफ वेनिस" में लोरेंझो जेसिका से कहता है: "How sweet the moonlight sleeps upon this hand" इसमें मनुष्य और सोने की स्थिति के बीच का संबंध चंद्रप्रकाश के साथ जुड़ा हुआ होने के कारण नदी के किनारे सोए चंद्रप्रकाश की कल्पना सूझ गई। शांत सोने की स्थिति में जो-जो अभिप्रेत है, वह सब चंद्रप्रकाश पर लागू किए जाने के कारण चंद्रप्रकाश अनोखा-सा भासित होता है।[53] लेखक नए चरित्र कैसे निर्मित करता है वह इसी नियम के कारण स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ, डिकन्स का मिस्टर पिकविक् लीजिए। दुनिया में बहुत से अच्छे और भोले लोग मिलते

हैं। इन्हीं गुणों से आधिक्य का संबंध जोड़ने पर मिस्टर पिकविक निर्मित होता है। पात्रों की तरह घटनाओं का निर्माण भी इन्हीं नियमों के कारण संभव बनता है। उदाहरणार्थ, "एलिस इन वंडर लैंड" में एक प्रसंग हैं कि एक विशिष्ट केक का टुकड़ा खाने पर एलिस ऊँची और बड़ी होने लगती है। टेलीस्कोप के बारे में जो नियम है वही एलिस को लगाने पर एलिस के लंबी और बड़ी होने की कल्पना सूझी होगी, यह ध्यान में आता है।[54]

निर्मिति के संबंध में उपर्युक्त विवेचन ठीक है, यह मानकर हम चलें। अब दो प्रश्न उपस्थित होते हैं– (1) जो निर्मित हुआ है वह क्या सचमुच नया है? (2) जो नवनिर्मित हुआ है उसका सौंदर्य की दृष्टि से कोई महत्त्व है? इसमें से पहला प्रश्न हल करना कुछ कठिन नहीं है। अगर नवर्निमिति तकनीकी क्षेत्र की हो तो पेटंट की सूची रखनेवाले ऑफिस में पूछताछ की जा सकती है, क्योंकि हमने जो वस्तु निर्मित की है वह सचमुच उसके पहले अज्ञात थी, इस बात की पुष्टि वही ऑफिस कर सकता है।[55] कला के क्षेत्र में भी जन्म मृत्यु की सूची रखनेवाले बहुत-से समीक्षक होते हैं। अत: निर्मित वस्तु नई है कि नहीं, यह तय करना बहुत कठिन नही है।

लेकिन दूसरा प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण और जटिल है। सूझी हुई हर नई कल्पना सौंदर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, सौंदर्यवृद्धि करनेवाली होगी, ऐसा नहीं। उदाहरणार्थ, लोरेंझो ने "नदी के किनारे पर चंद्रप्रकाश सोया है। ऐसा कहने के बजाय "चंद्रप्रकाश किनारे के गले पर बैठकर गला दबाता जा रहा है", ऐसा कुछ कहा होता तो भी वह कल्पना नई होती। लेकिन हमने उसे काव्यपोषक कल्पना न कहा होता। प्रस्तुत संदर्भ में कम-से-कम ऐसी कल्पना अनौचित्यपूर्ण होती, अत: काव्यदोष का उदाहरण सिद्ध होती। उनकी कविता में अथवा किसी नई कविता में वह काव्यपोषक भी मानी जाती। इसका अर्थ यह कि नवनिर्मिति एवं कलानिर्मिति में अंतर है। कलानिर्मिति नवनिर्मिति होने के कारण नवनिर्मिति के नियम उसे लगाना स्वाभाविक ही है। लेकिन उससे काम नहीं चलता। नवनिर्मित वस्तु कलात्मक है अथवा नही, यह निश्चित करने के लिए औचित्यादि अलग नियमों की आवश्यकता है, ये नियम अथवा निकष निर्मिति के नियमों में से नहीं मिलते यह सही है। सृष्टिनियमों की खोज और निकषों का उपयोग, ये दो स्वतंत्र प्रक्रियाएँ हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि कलानिर्मिति नियमरहित होती है। यहाँ इतना ही अभिप्रेत है कि निर्मिति के नियम और कला के निकष दो अलग-अलग बातें हैं। परंतु निकष-विचार और निर्मिति-नियम विचार अलग हैं और सिर्फ पहला ही विचार सौंदर्यशास्त्र में प्रस्तुत है, इसका भान न रहने के कारण कभी सौंदर्यशास्त्रज्ञ अपने सिद्धांत में निर्मितिप्रक्रिया को अनावश्यक महत्त्व देते हैं और जिसका सचमुच में महत्त्व है, उस निकष-विचार को जाते-जाते कह देते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण सैम्युअल अलेग्जांडर के सौंदर्यविचार में प्राप्त होता है।

6.9

अपनी पुस्तक "ब्यूटी ऐंड अदर फार्म्स ऑफ वैल्यू" में सैम्युअल अलेग्जांडर ने निम्न प्रकार से विवेचन किया है। सभी प्राणीमात्र में रचना प्रेरणा (impulse of construction) होती है। उसी प्रेरणा का एक समृद्ध रूप कला- व्यवहार है। अलेग्जांडर ने रचना प्रेरणा की अभिव्यंजना की तीन सीढ़ियाँ कल्पित की हैं–(1) पक्षी उसी प्रेरणा से घोंसले बनाते हैं लेकिन उन्हें इस बात की चेतना नहीं होती कि घोंसला क्यों बाँधा जाता है। विशिष्ट ऋतु में घोंसला बाँधने की क्रिया पक्षियों के द्वारा घटित होती है —— बस इतना ही। (2) मनुष्य घर बाँधता है इसी प्रेरणा से मनुष्य में और पक्षी में अंतर यह होता है, कि घर किसलिए बनाता है, इसका स्पष्ट बोध मनुष्य को होता है, पक्षियों को नहीं होता। (3) पहली दोनों अभिव्यक्तियों में निर्मित वस्तु की उपयुक्तता का बहुत महत्त्व होता है। लेकिन तीसरी सीढ़ी पर निर्मिति में उपयुक्तता का बहुत महत्त्व होता है। लेकिन तीसरी सीढ़ी पर निर्मिति में उपयुक्तता का विचार नहीं होता। विनिर्मित वस्तु उपयुक्त है अथवा नहीं, इसका महत्त्व न होकर वह दिखती कैसी है, इसका सारा महत्त्व होता है। इस अभिव्यक्ति में देखनेवाली की दृष्टि केवल चिंतन की (contemplative) होती है। इस स्तर पर रचना-प्रेरणा के आते ही उसकी अभिव्यंजना कलास्वरूप धारण करती है। अलेग्जांडर ने सौंदर्य की परिभाषा निम्न प्रकार से की है। सौंदर्य चिंतन की सीढ़ी पर पहुँची हुई रचना प्रेरणा की अभिव्यंजना है।[56]

अब प्रश्न यह है कि रचना-प्रेरणा केवल चिंतन की सीढ़ी पर जाती कैसे है? इस पर अलेग्जांडर का कहना है कि जब कलाकार का मन ऐंद्रिय माध्यम में अवतरित होता है, उसके साथ एकरूप होता है तभी तटस्थ अवलोकन या चिंतनशीलता संभव बनती है।[57] पुतला बनाना याने पत्थर में अपनी जान उँडेलना। उस तरह जान उंडेल दी हो तो पत्थर सादा पत्थर नहीं रहता और उसका नित्य व्यवहार के लिए उपयोग भी नहीं किया जा सकता। उस पत्थर का केवल चिंतन ही हो सकता है।

रचनाप्रेरणा की पहली दो सीढ़ियों और तीसरी सीढ़ी में तुलना करने पर पता चलता है कि उन में गुणात्मक अंतर है। रचना की ये दो अलग जातियाँ हैं। तीसरी सीढ़ी पर चढ़ी हुई रचना दो महत्त्वपूर्ण बातों में पहली दो सीढ़ियों पर अवस्थित रचना से अलग है: (1) वह केवल चिंतन के लिए होती है, और (2) उसमें मानवीय मन और माध्यम एकरूप रहते हैं। ये दोनों गुण विशेष रचनाप्रेरणा से निकले हुए नहीं होते। वे सौंदर्य के निकष हैं और स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग में लाए गए हैं। उनका रचना प्रेरणा से कोई संबंध नहीं है। उसे भी ये निकष लगाये जा सकते हैं। विश्वचैतन्यवादियों ने उन्हें वैसे लगाया भी है। फिर रचनाप्रेरणा की पहली और दूसरी सीढ़ियों पर अवस्थित अभिव्यंजनाओं पर भी उपर्युक्त निकष लगाए जा सकते हैं। और इसीलिए किसी नाजुक फूल, किसी पंछी के सुंदर घोंसले या किसी राजमहल को हम

सुंदर कहते हैं। कलाकृति "सुंदर कलाकृति" सिद्ध होती है। वह मन और माध्यम के एकत्रीकरण के कारण और चिंतनशीलता के कारण। वह रचनाप्रेरणा से निर्मित हुई है अथवा नहीं, यह प्रश्न अप्रस्तुत है। हो सकता है कि वह इस प्रेरणा से निर्मित हुई हो, लेकिन इसलिए वह सुंदर नहीं ठहरती। उसके लिए हमें अलग निकष उपयोग में लाने होंगे। मतलब सौंदर्य के निकष रचनाप्रेरणा की अवधारणा से नहीं प्राप्त होते। सुंदर वस्तुओं के बारे में विचार करते समय ये निकष महत्त्वपूर्ण हैं। रचनाप्रेरणा के सिद्धांत की अपने को कोई जानकारी होना अनिवार्य नहीं है। मतलब यह है कि निकष महत्त्वपूर्ण हैं, उत्पत्ति- सिद्धांत महत्त्वपूर्ण नहीं है, और इन दोनों में कोई संबंध न होने के कारण उत्पत्ति-सिध्दांत को पूर्णत: अलग किया जा सकता है। अलेग्जांडर के द्वारा प्रयुक्त निकष और विश्वचैतन्यावादियों का निकष एक ही है। और अलेग्जांडर का अपना उत्पत्तिसिद्धांत सौंदर्य के बारे में विचार करते समय अप्रस्तुत ठहरता है। अलेग्जांडर को विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यसिद्धांत ही प्रस्तुत करना था। लेकिन उसे प्रस्तुत करते समय उसकी ऐसी धारणा बनी थी कि मैं एक उत्पत्ति-सिद्धांत ही प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ऊपर हमने कलाविषयक कुछ उत्पत्ति-सिद्धातों का विचार किया, उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:

1) सुंदर वस्तुओं की निर्मिति एक प्राकृतिक घटना है, अत: उसकी निर्मिति के नियम मिल सकते हैं।

2) लेकिन बहुत सारे सिद्धांत उत्पत्ति-सिद्धांत के रूप में अधूरे सिद्ध होते हैं।

3) अर्थात सभी उत्पत्ति-सिद्धांत अधूरे होंगे ऐसा नहीं। कुछ सिद्धांत सही और पूर्णत: लागू पड़नेवाले सिद्धांत के रूप में स्वीकार्य हो सकते है।

4) लेकिन ये सिद्धांत भी सौंदर्य के निकष के रूप में उपयोग में नहीं लाए जा सकते।

उनमें से सौंदर्य-सिद्धांत निकाले नहीं जा सकते। असल मे उत्पत्ति-सिद्धांतों का अनुसंधान और निकषों की खोज ये दोनों बातें एक नहीं हैं।

□□

अध्याय 7

उत्पत्ति सिद्धांत : दो

7.1

पिछले अध्याय में हमने "रच जाना (घटित होना)" और 'रचना' में (गढ़ना) में अंतर किया। कलाकृति रची जाती है या रच जाती है? जब कहा जाता है कि कलाकृति रची जाती है (या कलाकार कलाकृति को रचता है) तो यह सिद्ध होता है कि कलानिर्माण विशिष्ट उद्देश्य आँखों के सामने रखकर एवं विवक्षित तत्त्व मन में रखकर बोधपूर्वक की गई क्रिया है। लेकिन जब हम कहते हैं कि कलाकृति रच जाती है तब कलाकार केवल निमित्त भर बन जाता है और कलाकृति का निर्मातृत्व उसके पास नहीं रहता। निर्मिति उसके द्वारा होती है, उसके मन में होती है, लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह बोधपूर्वक की गई है। भूतग्रस्त मनुष्य जो कुछ बोलता है या करता है उसका निर्मातृत्व उसका नहीं होता। हम कहते हैं कि एक अनोखी शक्ति का उसमें संचार होता है और उसके मुँह से वह शक्ति बोलने लगती है। उस आदमी का महत्त्व इतना ही कि वह अमानवीय शक्ति उसमें कुछ समय तक निवास करती है। कलाकार का भी ऐसा ही है। वह किसी शक्ति से आवेष्टित होता है और उसके द्वारा निर्मिति हो जाती है। अत: उसके स्वरूप की एवं उस निर्मिति के कारण होनेवाले परिणामों की उसे चेतना ही नही होती। प्लेटो ने अपने "अपालाजी" संवाद में काव्यनिर्मिति का श्रेय बोध या चेतना के परे होनेवाली एवं कवि को बार-बार आवेष्टित करनेवाली अमानवीय शक्ति को दिया है, यह हमने देखा[1] अन्य अनेक विचारकों ने भी ऐसा ही अभिप्राय दिया है। लेकिन फिर भी कवि होना है तो उपलब्ध समस्त काव्य का परिशीलन करना आवश्यक है, ऐसा भी समीक्षक बताते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने कहा है कि काव्यनिर्मिति के लिए प्रतिभा जैसी अलौकिक शक्ति के साथ निपुणता और अभ्यास भी आवश्यक है।[2] पाश्चात्य परंपरा में समीक्षक सिडनी, बेन जॉन्सन[3] इत्यादि विचारकों ने भी ऐसा ही अभिप्राय व्यक्त किया है। अभ्यास का महत्त्व मान्य करने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि कला-निर्मिति में कुछ अंश "रचना" पड़ता है। स्फूर्ति एवं आवेष्टित होने के लिए अभ्यास आवश्यक नहीं होता, क्योंकि ये चीजें प्रयाससाध्य नहीं ही होतीं। जो प्रयाससाध्य है उसको सिद्ध करने के लिए ही अभ्यास महत्त्वपूर्ण ठहरता है। इस अभ्यास से हम विशिष्ट तकनीक सीख सकते हैं। विशिष्ट कौशल आत्मसात् कर सकते हैं और वह

सब बोधपूर्वक करना पड़ता है। यह तकनीक और कौशल बोधपूर्वक उपयोग में लाना होता है और इसीलिए इस संदर्भ में बोधपूर्वक "रचना" की अवधारणा प्रासंगिक ठहरती है। स्फूर्ति और अभ्यास दोनों को महत्त्व देने का मतलब यह मान्य करना है कि कला निर्मिति के बारे में "रचना" और "रच जाना" दोनों अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अब हम कलासंबंधी जिस उत्पत्ति-सिद्धांत का विचार करनेवाले हैं, उस सिद्धांत के प्रवर्तक का वैशिष्ट्य यह है कि उसे "रचना" और "रच जाना" दोनों का महत्त्व मान्य था। उसने वैसा स्पष्टत: कहा भी है। यह सिद्धांत है फ्रायड़ का मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत।

इस सिद्धांत के कुछ वैशिष्ट्य ये हैं: निर्मिति-प्रक्रिया में जो गूढ़ता होती है, यह जो भाव रहता है कि एक अनोखी शक्ति से परिचालित होकर हमारे हाथ से कुछ रच जाता है, उसका स्पष्ट बोध रखकर यह सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। आवेष्टित होने की अवधारणा की अवहेलना न करते हुए, यह सब कैसे घटित होता है, इसकी खोज करने का प्रयास फ्रायड़ ने किया है। लेकिन ये आवेष्टित करनेवाली शक्तियाँ बाहर न हो कर अपने ही मन में होती है, ऐसा उसका मत है। उनका स्वरूप एवं कार्य करने की पद्धति हमारे सुसंस्कृत एवं बुद्धिनिष्ठ मन के स्वरूप की अपेक्षा अलग प्रकार की होने के कारण उसकी स्पष्ट चेतना हमें नही होती। लेकिन वे (शक्तियाँ) हममें वर्तमान होने पर भी अपनी नहीं हैं। अनेक क्षेत्रों में उपलब्ध होनेवाले प्रमाणों को देखने पर ध्यान में आएगा कि पुराचीन काल से चली आ रही मानव मन की एवं उसकी कार्यपद्धति की अवधारणा अधूरी है और इसलिए उपर्युक्त प्रमाणों की सहायता से हमें अपनी मन विषयक अवधारणा बदलनी होगी। यह सही है कि बहुत बार मनुष्य का मन बोधपूर्वक काम करता है। लेकिन यह भी सही है कि बहुत बार उसकी क्रियाएँ बोध के परे अवचेतन में चलती हैं। अवचेतन या अबोध मन (unconscious) की अवधारणा को स्वीकार करने पर अवचेतन की प्रक्रियाओं का रहस्य सुलझ जाता है। फ्रायड़ के अवचेतन मन के सिद्धांत से कुल मानव-व्यवहार की एक नई संगति उभरकर सामने आती है इसलिए यह मनोविज्ञान का समग्र सिद्धांत है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत के कारण जिस तरह ग्रहों का परिभ्रमण, समुद्र का ज्वार-भाटा, वृक्ष से फलों का नीचे आ गिरना इत्यादि अनेक बातों की संगति लग जाती है, उसी तरह फ्रायड़ के सिद्धांत से मनुष्य के स्वप्न, दिवास्वप्न, उसके हाथ से घटित होनेवाली सामान्य लेकिन प्रभावकारी गलतियाँ, चमत्कृतिजन्य विनोद (wit) कला-सृजन, संस्कृति के कुछ वैशिष्ट्य, मनुष्य की मनोजन्य बीमारियाँ इत्यादि विविध बातों की संगति लग सकती है। लेकिन फ्रायड़ के सिद्धातों की सीमाओं का भान भी आवश्यक है। यह सही है कि मनुष्य की अनेक कृतियों के कारण उसके अवचेतन मन में होते हैं। लेकिन उसकी हर कृति का कारण अवचेतन मन में ही होता है, यह मानना गलत होगा। मनुष्य की कतिपय कृतियों के कारण उसके जागृत

(चेतन) मन में ही होते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति नियमों का पालन करनेवाला प्राणी है। वह दुनिया की ठीक जानकारी रखता है। क्या करने पर क्या परिणाम निकलेगा, यह भी उसको ज्ञात रहता है। अपनी अनेक इच्छाओं की उसे स्पष्ट कल्पना रहती है और उनकी पूर्ति के लिए क्या करना चाहिए, इसका भी ज्ञान रहता है और इसलिए किसी व्यक्ति ने अपनी किसी कृति का कारण या प्रयोजन बताया तो हम उसकी कृति के स्पष्टीकरण के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। समझिए किसी से हमने पूछा कि तुम हाथ क्यों धो रहे हो? अगर उसने कहा कि भोजन के पूर्व हाथ धोने का रिवाज है अथवा मेरे हाथ गंदे हो गए हैं और भोजन के लिए हाथों का स्वच्छ होना आवश्यक है तो उसका वह स्पष्टीकरण हम मान्य करते हैं। अन्य लोग भी सामान्यत: ऐसा ही करते हैं इसलिए इस स्पष्टीकरण से हमारा समाधान होता है। लेकिन अगर कोई मनुष्य समय-असमय हाथ धोने लगा तो उसका व्यवहार अनोखा लगेगा और उसका स्पष्टीकरण प्राप्त करने के लिए फ्रायड़ के सिद्धांत की मदद लेनी होगी। लेकिन सामान्य लोगों के व्यवहार के लिए फ्रायड़ का सिद्धांत लगाना भूल होगी। मनुष्य जब कुछ अनोखे ढंग से व्यवहार करने लगता है तब उसे अपनी कृति के निश्चित एवं स्वीकार्य कारण देना संभव नहीं होता। उसी समय अवचेतन मन का उल्लेख ठीक रहेगा। अन्य समय वह ठीक नहीं लगेगा। कला-सृजन को फ्रायड़ का सिद्धांत लागू करने का कारण यह है कि इस सृजन प्रक्रिया में बहुत सारी ऐसी बातें होती हैं, जिनका हमें सहज में अर्थ नहीं ज्ञात होता। ऐसा क्यों लिखा, इसका समुचित स्पष्टीकरण बहुत बार कवि नहीं दे पाते। यहाँ फ्रायड़ का सिद्धांत प्रासंगिक ठहरता है। लेकिन कभी कवि समुचित कारण दे सकता है और वे जँचने लायक भी होते हैं। ऐसे समय फ्रायड़ का सिद्धांत लागू करना गलत होगा।

अन्य उत्पत्ति सिद्धांत कला-सृजन की सामान्य प्रक्रिया बताते हैं। लेकिन कलाकृति ऐसे ही क्यों रच गई, उसमें सही घटक इसी प्रकार से क्यों आए, इसके बारे में वे चुप्पी साध लेते हैं। उदाहरणार्थ, चंद्रप्रकाश देखकर लारेंजो को शांत सोए मनुष्य की ही याद क्यों आई इसके बारे में स्पीअरमन कुछ नहीं कहता। वह केवल तब सृजन की सामान्य प्रक्रिया ही बताता है। फ्रायड़ के सिद्धांत के कारण नव सृजन के सामान्य नियम तो ज्ञात होते ही हैं लेकिन दावा यह भी किया जाता है कि एक विशिष्ट कलाकृति के निश्चित वैशिष्ट्यों पर भी प्रकाश डाला जा सकता है।

फ्रायड़ के सिद्धांत में कार्यकारण भाव की अवधारणा का बहुत महत्त्व होता है। उसी तरह यह भी अवधारणा नींव के रूप में स्वीकार की गई है कि मानव मन का कार्य उसकी विविध शक्तियों के संयोग-संघर्ष के कारण अथवा एक ही शक्ति की विविध अभिव्यंजनाओं के संयोग-संघर्ष के कारण उत्पन्न होता है। मतलब यह है कि प्राकृतिक दुनिया का विचार करते समय न्यूटन ने जो मूलभूत अवधारणाओं का साँचा

तैयार किया वही अपने मानसिक व्यापारों के सिद्धांतों के लिए फ्रायड़ ने इस्तेमाल किया है। इन वैशिष्ट्यों के कारण फ्रायड़ के सिद्धांत को विशेष वैज्ञानिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

7.2

फ्रायड़ ने मन का जो चित्र प्रस्तुत किया उसे दो प्रकार से देखा जा सकता है। मानसिक प्रक्रिया बोधपूर्ण है या अबोधपूर्ण, इसपर ध्यान देना, यह देखने का पहला प्रकार है। इस दृष्टि से देखने पर मानसिक प्रक्रियाओं के तीन वर्ग हो जाते हैं-

1) संबोध या चेतन (conscious),

2) बोधपूर्व या चेतनपूर्व (pre-conscious),

3) अबोध या अवचेतन (uncnscious)।

'संबोध' प्रक्रियाएँ सभी के परिचय की होती हैं। शेष सभी प्रक्रियाएँ "अबोध" कही जा सकती हैं, ऐसा लग सकता है। लेकिन उनमें से कुछ का बोध हमें विशेष प्रयास किए बिना ही होता है। उदाहरणार्थ, बोलते समय कभी कभी हम चमत्कारिक गलतियाँ करते हैं। हमें पता ही नहीं चलता कि ऐसी गलतियाँ हमसे कैसे हो जाती है। लेकिन ये यों ही नहीं होतीं। हमारे मन में कुछ विशिष्ट अर्धस्फुट उद्देश्य होते हैं अत: वे गलतियाँ हमसे होती हैं। यह सही है कि ये उद्देश्य-पूर्ण नहीं होतीं। लेकिन उनकी व्यंजना हमारे बोलने मे आकस्मिक रूप से झलक जाती है और बोलते समय हम गलतियाँ करते हैं। हमारे मन के उन अर्धस्फुट उद्देश्यों का अगर किसी ने भान हम को करा दिया तो हमें उस उद्देश्य का भान हो जाता है और हम मान्य करते हैं कि ऐसा उद्देश्य हमारे मन में था। यह उद्देश्य बोधपूर्व कहा जायगा। लेकिन बहुत बार बहुत प्रयत्न करने पर भी हमें अपने मन के उद्देश्यों, इच्छाओं का भान नहीं होता। उन्हें अबोध कहा जाएगा। "अबोध" शब्द फ्रायड़ ने मानसिक प्रक्रियाओं को उद्देश्य कर प्रयुक्त किया है। उसके अलावा मन के एक विशिष्ट स्तर को उद्देश्य करके भी उसे उपयोग में लाया गया है। उसके अनुसार "अबोध मन" (अवचेतन मन) शब्द-प्रयोग रूढ़ हो गया है।[4]

मन के शक्तिकेंद्रों की दृष्टि से देखने पर मन का एक अलग चित्र उपस्थित रहता है। ये शक्तिकेंद्र तीन हैं और फ्रायड़ ने उन्हें नाम दिए हैं:

(1) अहं (Ego) (2) अत्यहं (Super - ego) और (3) तत् (Id)। उसमें से अहं की अवधारणा का आकलन मुश्किल नहीं है। हम क्या हैं और कैसे हैं इसका भान हमें रहता है। इस भान का विषय है अहं। हम जो कुछ करते हैं वह कोई देख रहा है, उसका मूल्यमापन कर रहा है, अपनी न्यूनताओं के लिए कोई दोष दे रहा है, ऐसा हमें सतत लगता रहता है। इस शक्ति को हम सद्सद्विवेकबुद्धि कहते हैं। उसी को फ्रायड़ ने *'अत्यहं'* नाम दिया है। *यह शक्ति हममें बचपन से नहीं होती।*

बिलकुल बचपन में हम केवल इच्छा-तृप्ति के पीछे लगे हुए होते हैं। बाद में हमारी प्रेरणाओं को माँ-बाप नियंत्रित करते हैं। आगे चलकर हमारे मन का ही एक भाग इस नियंत्रण का काम करने लगता है। वह भाग ही सद्सद्विवेक बुद्धि या अत्यहं।[5]

इसके अलावा हममें और एक शक्तिकेंद्र होता है। उसे 'तत्' नाम दिया गया है। बोध की दृष्टि से वह अनाकलनीय भाग है। हमारी प्राकृतिक प्रेरणाएँ यहाँ सतत खदबदाती रहती हैं। इन प्रेरणाओं की परितृप्ति कर सुख प्राप्त करना ही इस भाग की समझ में आता है। तार्किकता, काल एवं नैतिकता का उसे भान भी नहीं होता।[6]

इन दो वर्गीकरणों में एक के लिए एक ऐसा संबंध नहीं हैं, उपरोल्लेखित तीसरी शक्ति का कार्यक्षेत्र अबोध मन (अचेतन मन) होता है और अहं का घर प्राय: बोध या चेतना होता है। लेकिन यह भूला नहीं जाना चाहिए कि अहं और अत्यहं की नींव कहीं अबोध मन में है।[7] इसके अलावा दो और अवधारणाओं की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। उसमें पहली "सेन्सार"। सेन्सार अलग शक्तिस्थान है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। लेकिन बोध या चेतना की नापसंद कल्पनाएँ दूर ढकेलने की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। इस प्रक्रिया का एक नाम "सेन्सार" है।

दूसरी अवधारणा रतिशक्ति (libido) की है। बिलकुल व्यापक अर्थ में हमारी यौन प्रेरणाओं की शक्ति को यह नाम दिया गया है। उसका वर्णन करते समय "यौन" के स्थान पर "प्रेम" शब्द का उपयोग करना अधिक समीचीन होगा।[8]

अहं की नींव यद्यपि अवचेतन या अबोध मन में होती है फिर भी उसका कार्यक्षेत्र अधिकांश रूप में बोध ही है। वस्तुस्थिति का स्पष्ट बोध होना, तर्कशुद्धता, शिव-अशिव का विवेक, काल की अवधारणा इत्यादि चीजें अहं के वैशिष्ट्य होते हैं। अहं को कुछ भी करना हो तो बाहर की परिस्थिति, तत् एवं अत्यहं के दबाव का सतत ध्यान रखना पड़ता है। फ्रायड़ के कहने के अनुसार बहुत छोटे बच्चों में भी यौनशक्ति की उपस्थिति होती है। यह सर्वगामी यौनशक्ति जीवन के अलग-अलग कालखंडों में अलग-अलग स्थानों पर केंद्रित होती है। बचपन से यह शक्ति अपना स्थान तीन बार बदलती है। जिस स्थान में यह शक्ति होती है वह स्थान यौन दृष्टि से संवेदनक्षम होता है। आरंभ में इस शक्ति का स्थान होता है मुँह, इसके बाद गुदेंद्रिय और जननेंद्रिय आखिरी स्थान होता है।[9] उम्र की पाँच वर्ष की अवस्था में ही यह यौन-शक्ति की यात्रा पूर्ण होती है और पाँचवें वर्ष में बच्चों की शक्ति जननेंद्रिय में केंद्रित हुई रहती है। फिर किशोरावस्था में इसी यात्रा की संक्षेप में पुनरावृत्ति होती है। यह शक्ति कहाँ स्थिर हो गई है, इसपर मनुष्य का व्यक्तित्व निर्भर रहता है। इसे मानसिक ग्रंथि की विशेषत: ईड़िपस कॉम्प्लेक्स की कुछ जानकारी लेना आवश्यक है।[10] बिलकुल छोटे बच्चों में भी यौन-इच्छाएँ निश्चित होती हैं। लेकिन उनका स्वरूप प्रौढ़ व्यक्तियों की

यौनावस्था से अलग होता है। छोटा बच्चा दुनिया की ओर ऐसे देखता है कि वह दुनिया का सम्राट है, अपने सुख के बीच आए किसी व्यवधान को वह पसंद नहीं करता। बच्चे के प्रेम का विषय होती है उसकी माता। इसलिए माता के प्रेम में हिस्सा माँगनेवाले पिता को वह शत्रु मानता है। वही बात भाई-बहनों के संबंध में भी है। अपने शत्रुओं को नष्ट करने की इच्छा छोटे बच्चे में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पिता को मारकर माता के प्रेम का आस्वाद अकेले लेने की कल्पना पर सोफोक्लिस का "ईड़िपस रेक्स" नाटक खड़ा है। यह फ्रायड़ की राय है। उस नाटक में दिखाया है कि ईड़िपस अनजाने अपने पिता को मार डालता है और माता से ब्याह करता है। फ्रायड़ का कहना है कि बराबर यही दो इच्छाएँ हर छोटे बच्चे में रहती हैं। लेकिन चूँकि बच्चे पर संस्कार होते हैं, उसकी स्वैर इच्छाओं पर बंधन रहते हैं। जल्दी ही छोटा बच्चा इस इच्छाद्वय को दबा देता है। उस इच्छा की भयावहता का इतना प्रभाव अंकित होता है कि उसके लिए वह स्मरण भी अवांछित होता है कि ऐसी इच्छाएँ उसमें पैदा हुई थीं। अबोध मन की दुनिया में ठेल दी गई महत्त्वपूर्ण चीज है, यह ईड़िपस का इच्छाद्वय। इस इच्छाद्वय के कारण निर्मित परिस्थिति से छोटा बच्चा कैसे रास्ता निकालता है, इसपर उसका आगामी जीवन निर्भर रहता है।

7.3

मन की इच्छाओं और वस्तुस्थिति के बोध के द्वंद्व से अहं को मार्ग निकालना होता है। इच्छातृप्ति का सही मार्ग है वस्तुस्थिति में आवश्यक परिवर्तन कराकर अपना वांछित कार्य सिद्ध करा लेना। लेकिन बहुत बार परिस्थिति इतनी प्रतिकूल होती है कि अपना वांछित प्राप्त होना कठिन होता है। ऐसे समय हम काल्पनिक दुनिया का निर्माण करते हैं और उसमें अपनी इच्छा तृप्त करा लेते हैं। अपना दिवास्वप्न भी उसी का उदाहरण है। अपने "द रिलेशन ऑफ द पो[illegible]ट टु डे - ड्रीमिंग" शीर्षक लेख में[11] फ्रायड़ ने दिवास्वप्न और वाड्.मय के बीच की समानता पर विशेष बल दिया है। अतः इस लेख का दिवास्वप्न संबंधी विवेचन महत्त्वपूर्ण है। वह अपने विवेचन का प्रारंभ छोटे बच्चों के खेलों से करता है। यहाँ छोटे बच्चे 'स्कूल का खेल' खेलते हैं। एक बच्चा शिक्षक बनता है और अन्य बच्चे उसके विद्यार्थी बनते हैं। वस्तुस्थिति की बातों का स्वरूप कल्पना से कुछ समय तक बदलना यहाँ महत्त्वपूर्ण होता है। यह सही है कि बच्चे खेल और वस्तुस्थिति के बीच गड़बड़ नहीं करते। लेकिन बड़े लोग जिस गंभीरतापूर्वक यथार्थ जीवन जीते हैं उसी गंभी[illegible]ता से बच्चे ये खेल खेलते हैं। उसमें उनकी भावनाएँ सम्मिलित होती हैं। जिन प्रेरणाओं का यथार्थ में परितोष नहीं होता उनका परितोष खेल में होता है। लेकिन बच्चा बड़ा बनने पर ऐसे खेल नहीं खेलता। प्रौढ़ों के लिए प्रेरणा परितृप्ति का एक अन्य रास्ता उपलब्ध होता है। वह है दिवास्वप्न के निर्माण का। क्रीड़ा और दिवास्वप्न में महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि बच्चों को खेल

के लिए प्रत्यक्ष वस्तुएँ चाहिए। इन प्रत्यक्ष वस्तुओं का कल्पना से रूपांतर कर उनका खेल में उपयोग कर लिया जाता है। लेकिन दिवास्वप्न में प्रत्यक्ष वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। बच्चों के खेल में तो चूल्हा- बरतन लगते ही हैं, लेकिन दिवास्वप्न के घटक पूर्णत: काल्पनिक होते हैं। खेल और दिवास्वप्न में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि बच्चों को खेलने में शर्म नहीं लगती, उल्टे प्रौढ़ों को दिवास्वप्न में निमग्न होने में शर्म महसूस होती है। जिन प्रेरणाओं की परितृप्ति के लिए दिवास्वप्न का निर्माण करना होता है, वे औरों से छिपाकर रखने लायक होती हैं। ऐसी इच्छाएँ मुख्यत: दो होती हैं: (1) दुनिया पर बड़प्पन प्राप्त करने की इच्छा और (2) वासना-प्रेरणा की परितृप्ति की इच्छा। बहुत बार इन दो इच्छाओं की तृप्ति एक ही दिवास्वप्न के कारण होती है। समझिए कोई व्यक्ति अपने दिवास्वप्न में बड़ा नेता बन गया है। वह बड़ा बन गया है अत: उसकी प्रेयसी का प्रेम उसे प्राप्त होगा ही, यह तो स्वाभाविक है। मनुष्य बताता है कि मैं कितना बड़ा हूँ। लेकिन बड़े होने की महत्त्वाकांक्षा के बारे में वह सामान्यत: नहीं बोलता। उसी तरह अपनी यौन-इच्छाओं के बारे में भी वह प्राय: नहीं बोलता। दिवास्वप्न में इन दोनों इच्छाओं की परितृप्ति होती है अत: स्वाभाविकत: मनुष्य अपने दिवास्वप्न औरों से छिपाकर रखता है। दिवास्वप्न में वर्तमान, भूत एवं भविष्य तीनों की घटनाओं का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ समझिए, बचपन में ही माँ-बाप के मर जाने से एक अनाथ युवक दफ्तर में नौकरी की खोज में आया है। उसकी मुलाकात के लिए अभी कुछ समय होने के कारण वह दिवास्वप्न में रँग जाता है। उसमें उसे नौकरी मिलती है, अपने कर्तृत्व के बल पर वह ऑफिस में तरक्की पाता है, आखिर उस दफ्तर के मालिक उसे पार्टनर बनाते हैं और इच्छा व्यक्त करते हैं कि वह उनकी लड़की के साथ विवाह करे। यह सब उसके दिवास्वप्न में ही घटित होता है। इस दिवास्वप्न का जन्म वर्तमान काल में हुआ है लेकिन यह भी ध्यान में आता है कि उसके माँ-बाप के होते हुए उसे जो सुख प्राप्त हुए थे, अतीत के उन सुखों की स्मृति भी इस दिवास्वप्न में है। ऐसे सुख भविष्य में मिलेंगे, ऐसी आशा भी उसमें है। इस तरह वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों काल के घटकों का इस दिवास्वप्न में उपयोग कर लिया गया है। दिवास्वप्न में बहुत समय तक खो जाना मानसिक बीमारी का आरंभ है। क्योंकि ऐसा करने से वास्तविकता के साथ संबंध टूट जाता है। लेकिन दिवास्वप्न में मग्न होनेवाला व्यक्ति मानसिक बीमारी की पकड़ में आ ही जाता है, ऐसी बात नहीं। परिस्थिति पर मात करने में आदमी को सफलता नहीं मिलती तब वह दिवास्वप्न का निर्माण करता है। लेकिन दिवास्वप्नों का समुचित उपयोग करने पर परिस्थिति को मात देने की शक्यता उत्पन्न होती है। दिवास्वप्न के आधार से कल्पनारम्य कथा, उपन्यास, काव्य लिखना भी दिवास्वप्न का अच्छा उपयोग हैं। केवल मनोरंजन के लिए लिखा हुआ वाङ्मयीन दृष्टि से कमजोर

लेखन फ्रायड को अभिप्रेत है, यह उसने स्पष्ट कहा है। ऐसे साहित्य में नायक को प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। उसे विश्वास होता है कि कितने ही संकट आ जाएँ, अंतिम जय होने ही वाली है। यह नायक हर एक का अहं ही है। वह एक विजय के बाद दूसरी विजय प्राप्त करता है, कथा के स्त्री पात्रों के आधार और प्रेम का विषय बनता है। उसकी विजय अपनी ही विजय होती है। उसे प्राप्त प्रेम अपना ही प्रेम होता है। कथा के अन्य पात्रों का विभाजन सज्जन और दुर्जन दो वर्गों में हुआ होता है। जो नायक की (मतलब हमारे) तरफ के होते हैं वे सब सज्जन और जो विरुद्ध होंगे वे सब दुर्जन, ऐसा आसान समीकरण होता है। लेखक के जीवन में घटित किसी वास्तव प्रसंग से उपन्यास की शुरुआत होती है और अन्य दिवास्वप्नों की तरह वह उसके भूत और भविष्य काल में संचार करती है।

दिवास्वप्न का निर्माण कोई भी कर सकता है, लेकिन उपन्यास हर कोई नहीं रच सकता। दिवास्वप्न निर्माता के इर्दगिर्द रचा जाता है अत: उसका सही स्थान उस व्यक्ति के भावजीवन में ही होता है। इसलिए एक का दिवास्वप्न दूसरे को मनोरंजक लगेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कोई मनुष्य अगर अपने शेख महंमदी दिवास्वप्न दूसरों को बताने लग जाए तो उन्हें उससे ऊब पैदा होना स्वाभाविक ही है। असल में एक का दिवास्वप्न दूसरे की पूर्णत: समझ में आएगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन दिवास्वप्न जैसा उपन्यास सबकी समझ में आता है और सब का मनोरंजन कर सकता है। इसका एक कारण यह कि जिन्हें कलात्मक गुणविशेष कहा जाएगा ऐसे गुणविशेष उपन्यासकार अपने दिवास्वप्न में समाविष्ट करता है। उपन्यास की लेखन-शैली, कथावस्तु का रचना-कौशल इत्यादि गुणविशेषों का इस संदर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। अर्थात् उपन्यास के पठन से जो संतोष प्राप्त होता है वह सर्वथा उन गुणों के कारण प्राप्त होता है, ऐसा नहीं। भाषाशैली, निवेदन-कौशल इत्यादि के कारण प्राप्त होनेवाला सुख एक प्रकार से आगे चलकर प्राप्त होनेवाली प्रेरणा परितृप्ति की केवल बिसात होती है। यह परितृप्ति प्राप्त होती है वह मुख्यत: हमारे मन के तनाव कम होने के कारण ही।[12]

इससे एक बात स्पष्ट होती है कि उपन्यास दिवास्वप्न जैसा होता है। फिर भी वह केवल दिवास्वप्न है, इसलिए उपन्यास नहीं होता। उसमें अच्छी शैली, रचना-कौशल इत्यादि कलागुणों का होना आवश्यक होता है। दूसरी बात यह है कि उपन्यासकार को अपने दिवास्वप्न का साधारणीकरण करना होता है। समझ लीजिए कि उपन्यासकार की महत्त्वाकांक्षा अपने ऑफिस में प्रमुख होना है। वह रैशनिंग ऑफिस में काम कर रहा है और "क्ष" और "य" व्यक्ति उसके मार्ग में अड़चनें पैदा कर रहे हैं। इस महत्त्वाकांक्षा का एक विशिष्ट संदर्भ है और यह सब एक विशिष्ट रैशनिंग ऑफिस में विशिष्ट समय घटित हो रहा है तो स्थलकाल का संदर्भ भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। अगर

इस दिवास्वप्न का उपन्यास बनाना है और अगर वह औरों को मनोरंजक लगना चाहिए तो इस विशिष्टता पर बल कम करना होगा। वह रैशनिंग ऑफिस एवं अन्य कार्यक्षेत्रों (उदाहरणार्थ, अन्य ऑफिस एवं स्कूल, कॉलेज आदि स्थान) के बीच की समानता पर अधिक बल देना होगा। उसी तरह "क्ष" और "य" के वैशिष्ट्य कम कर उनमें एवं अन्यों में विद्यमान समानता को अधिक उभारना चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों में समानता होती है तथा मनुष्यों और मनुष्यों में समानता होती हैं। इसीलिए ऐसा साधारणीकरण हो पाता है। (अर्थात् साधारणीकरण की भी सीमाएँ होती हैं, यह भूलना नहीं चाहिए) साधारणीकरण हो सकता है इसलिए उपन्यास सभी को रोचक लग सकता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया दिवास्वप्न की प्रक्रिया से भिन्न है। पहली प्रक्रिया दूसरी से नहीं निकलती या वह दूसरी का अविभाज्य घटक भी नहीं होती। फ्रायड़ द्वारा उल्लेखित उपन्यास के घटक शैली, रचना-कौशल इत्यादि दिवास्वप्न के घटक नहीं होते। इसका अर्थ यह कि दिवास्वप्न की प्रक्रिया को समझना उपन्यास के पूर्ण स्वरूप को समझना, उसके अपने खास वैशिष्ट्यों एवं अच्छे बुरे के निकष समझना नही होता। दिवास्वप्न घटित होते हैं, रच जाते हैं ऐसा कहा जा सकता है, लेकिन उसमें से उपन्यास का निर्माण करना कुछ घटित करना गढ़ना या रचना होगा।

अब तक का विवेचन वाङ्.मयीन गुणवत्ता की दृष्टि से दूसरे दर्जे के लेखन तक सीमित था। क्योंकि स्वप्नरंजक वाङ्.मय महत्त्वपूर्ण वाङ्.मय नहीं होता। अच्छे और श्रेष्ठ साहित्य से स्वप्नरंजन का-सा सस्ता आनंद नहीं मिलता। श्रेष्ठ वाङ्.मय प्राय: मन को एक अर्थ में कष्ट ही देता है। हार्डी के "टेस" या "ज्यूड़ दि ऑबस्क्यूर" उपन्यास मन को दुख देते हैं, ऑथल्लो के कारण मन उब्देलित होता है, "लियर" की वजह से दुनिया की सदाशयता पर अविश्वास होने लगता है, "काफ्का" का "ट्रायल" अनाम भय से ग्रस्त कर देता है। जो अवस्था पाठक की होती है, वही अवस्था कुछ अंशों में ही सही, लेखक की भी होती है, यह मानकर चलें। इसका अर्थ यह कि ऐसे साहित्य के लेखक और पाठक स्वप्नरंजन में मशगूल रहनेवाले नही होते। वे दु:खी होते हैं और ऐसे दुख से ही महान रचनाएँ पैदा होती हैं।

7.4

इस प्रकार की कलाकृतियों का अन्वयार्थ लगाने के लिए हमे फ्रायड़ के स्वप्नविश्लेषण की ओर मुड़ना चाहिए क्योंकि स्वप्नों एवं महान कलाकृतियों में आशय, आशय की रचना, उनका बिंब-विधान, प्रेरणाएँ, उनमें से निर्मित होनेवाली मनोवस्था इत्यादि के बारे में बहुत साम्य है।

प्रारंभ में ही फ्रायड़ के प्रकट स्वप्नों (manifest dreams) और इन स्वप्नों के नीचे ढँके सुप्त विचारों (latent dream thoughts) में किए हुए अंतर को समझ लेना आवश्यक है। यह कहते हुए कि मैंने ऐसा सपना देखा, जिसका निर्देश हम करते

हैं उसे प्रकट स्वप्न कहा जाता है। लेकिन स्वप्न का सही अर्थ झट से समझ में नही आता। यह प्रच्छन्न अर्थ खोज निकालना पड़ता है। जिसने स्वप्न देखा है, वह उसे पूर्णत: बता नहीं सकता, क्योंकि वह अर्थ अधिकतर बोध की कक्षा के बाहर होता है। यह अर्थ मुक्त कल्पना साहचर्य की सहायता से खोजना पड़ता है। यह प्रच्छन्न अर्थ और प्रकट स्वप्न के बीच के संबंध उलझे हुए होते हैं। किसी रूपकात्मक कथा (parable) की भाँति स्वप्न का अर्थ इकहरा नहीं होता। स्वप्न का अर्थ लगाना हो तो उसके घटकों का प्रथम विश्लेषण करना पड़ता है, हर घटक का क्या अर्थ है यह देखना पड़ता है और फिर ये घटक एकत्र कर उसमें से कौन-सा अर्थ निष्पन्न होता है, यह भी देखना पड़ता है। एकाध अर्थ-कण अनेक बिंबों का आश्रय लेता है तो कभी अलग-अलग अर्थ-कण एक ही बिंब के पीछे छिपे रहते हैं। यह अर्थ स्पष्टत: क्यों नहीं प्रतीत होता? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए लिखे हुए अर्थ का स्वरूप जाँचना होता है और यह भी मालूम होना चाहिए कि स्वप्न का कार्य क्या होता है। हम स्वप्न तब देखते है जब सोए हुए होते हैं और उसका कार्य होता है ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना कि हमारी नींद बाधारहित चलती रहे। नीद की दृष्टि से यही उचित होता है कि स्वप्न का सही अर्थ स्पष्टत: हम न समझें। अगर वह अर्थ अपने सही अर्थ में प्रकट हो जाए तो हम एकदम जाग जाएँगे, क्योंकि उसमें भयावह और लाज पैदा करनेवाला भी कुछ होता है, हमारे मन की कोई अतृप्त इच्छा उसके पीछे प्रेरक होती है। जागृति में ऐसी इच्छा को पूर्ण करना असंभव होता है। क्योंकि ऐसी कोई इच्छा हमारे मन में रहे, इसकी भी हमें शर्म महसूस होती है। उस इच्छा को हम झटककर निकाल देते हैं। ऐसा बरतते हैं कि जैसे वह इच्छा हमारे मन को कभी छुई नहीं थी। ऐसी इच्छा कभी पैदा हुई भी तो हमने उसे विस्मृति के गढ़े में कभी का गाड़ दिया होता है। ऐसी दबाई हुई इच्छा स्वप्न मे अपना संतोष कर लेती है, लेकिन वह अपने सही रूप में अवतीर्ण नहीं हो सकती। उसे अपना स्वरूप बदलकर ही मन के सामने आना पड़ता है। ऐसा न करने पर अपने मन का संसार उसे मन में प्रवेश ही नहीं देता। मान लीजिए, उसे प्रवेश मिल भी गया तो हमारा अहं सजग होगा और हम जाग जाएँगे। नींद में अहं का पहरा कुछ ढीला होता है, यह सही है। लेकिन वह पहरा पूर्णत: उठाया नही जाता। वह अंशत: कायम रहता ही है। इसलिए हमारे स्वप्न में कही अस्पष्टता, धुंधलापन आता है और कहीं बीच की कड़ियाँ तिरोहित हुई दिखती हैं, स्वप्न के पार्श्व की ये प्रेरक इच्छाएँ किसी भी सुसंस्कृत व्यक्ति में शर्मिंदगी पैदा करनेवाली होती हैं। उसमें अबाध यौन एवं ध्वसंक इच्छाएँ मुख्यत: होती हैं। उसी के साथ पराकाष्ठा की अंहकेंद्रितता, निकट के व्यक्तियों के बारे में द्वेष, वे मर जाएँ ऐसी इच्छाएँ भी होती हैं। इच्छा का कायाकल्प दो चीजों पर निर्भर होता है– (1) इच्छा कितनी शर्मनाक एवं भयावह है और (2) हमारे अंदर के पहरेदार का

अधिकार कितना कठोर है। छोटे बच्चों के स्वप्नों में इच्छाओं का कायाकल्प होने की जरूरत कम होती है। उसी तरह अपनी शारीरिक अवश्यकताओं से उत्पन्न होनेवाले स्वप्न में भी कायाकल्प नहीं होता। उदाहरणार्थ, रात को प्यास लगने पर हम स्वप्न देखते हैं कि हम पानी पी रहे हैं। ऐसे स्वप्न से हमारी नींद कुछ और समय के लिए अबाधित चलती रहती है। यहाँ हमारी इच्छा में लज्जास्पद या भयावह कुछ नहीं होता। अत: उसका बिलकुल कायाकल्प नहीं होता।

स्वप्न में इच्छाओं का कायाकल्प निम्न प्रकार से होता है:

(1) प्रतीकों का उपयोग (symbolism)– इनके सुप्त अर्थ बिंबों के आधार से स्वप्न में अवतरित होते हैं। कुछ बिंबों एवं विशिष्ट अर्थों का नित्य साहचर्य होने के कारण ये बिंब भाषा की तरह प्रतीक रूप बनते हैं। ये प्रतीक करीबन् समान होने के कारण जिसे स्वप्न आता है, उसकी मदद के बिना भी उनका अर्थ आंशिक रूप में समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, राजा-रानी याने माँ-बाप, छोटे प्राणी याने भाई-बहन, जल याने जन्म, यात्रा याने मृत्यु, कपड़े याने नग्नता. स्त्रीपुरुष - लिंग की कल्पनाएँ अनेक प्रतीकों से सूचित होती है। तीन का अंक, लाठी, छाता, वृक्ष, पिस्तोल, खंजीर, हवाई जहाज, ये सब पुरुष लिंग हैं। और गढ़ा, गुफा, भरनी, संदूक, जहाज, टेबुल, अलमारी, पुस्तक, घर स्त्रीलिंग; मिठाई, खोया, तालयुक्त क्रिया संभोगसुख के प्रतीक हैं। फ्रायड़ ने दिखाया है कि स्वप्नों की तरह परिकथा, लोकवाङ्.मय आदि में भी ऐसे प्रतीकों के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

(2) संक्षेप-प्रक्रिया (condensation)[13] अर्थ-कणों में से कुछ कण ही प्रत्यक्ष स्वप्न में आते हैं और अन्यों का लोप होता है। जिन कणों में किसी बाबत में साम्य है ऐसे अलग-अलग कण एकात्म हो जाते हैं। इसके कारण जो बिंब बनता है उस पर भी संक्षेप-प्रक्रिया का परिणाम दिखता है। स्वप्न में दिखे व्यक्ति में दो-तीन अलग-अलग व्यक्तियों का मिश्रण दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, एक का स्वरूप, दूसरे की पोशाक, तीसरे का व्यवसाय एक ही व्यक्ति में एकत्रित दिखता है। तीनों में कुछ समान गुण होने के कारण यह संयोग घटित दिखता है। इस प्रक्रिया के कारण दिखने वाले बिंबों में कुछ अस्पष्टता पैदा होती है। ऐसे बिंबों की निर्मिति को संमिश्र निर्मिति (complex formation) नाम है! फ्रायड़ ने दिखाया है कि ये दो प्रक्रियाएँ स्वप्नों के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी दिख पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, बोलने की गलतियों का स्पष्टीकरण इस प्रक्रिया से दिया जा सकता है। [14] चमत्कृतिजन्य विनोद में भी यह प्रक्रिया दिखती है।[15] स्वप्न इस प्रक्रिया के कारण घटित होते हैं। अत: उनके विविध अर्थ होते हैं। हर स्वप्न के अर्थ के विविध स्तर हुआ करते हैं। मतलब उस स्वप्न के पार्श्व में विभिन्न प्रेरणाएँ होती हैं। इसे अनेकार्थ नियतता (over–determination) कहते हैं।

(3) स्वप्न का विश्लेषण करने पर उसके पीछे अनेक अर्थ-कण दिखने लगते हैं। ये कण अलग-अलग केंद्रों के इर्दगिर्द जमा होते हैं। इनमें से एकाध केंद्र भावनात्मक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन इन अर्थकणों का रूपांतर जब स्वप्न में होता है तब इस केंद्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता ही है, ऐसा नहीं। प्राय: उसे बहुत कम महत्त्व का स्थान प्राप्त हुआ दिखाई देता है। उसके स्थान पर दूसरे किसी केंद्र की ओर वह स्थान चला जाता है और सही महत्त्व का केंद्र पिछड जाता है। इस प्रक्रिया को स्थानांतरण (displacement) नाम है।[16] यह समझना कठिन नहीं है कि महत्त्वपूर्ण केंद्र का स्थानांतरण क्यों हो जाता है। अगर सही महत्त्वपूर्ण केंद्र को स्वप्न में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है तो स्वप्न का सही अर्थ झट से समझ में आ जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसमें कुछ शर्मनाक या भयावह मौजूद रहता है।

उपर्युक्त दूसरी या तीसरी प्रक्रियाएँ महत्त्व की होती हैं। अपने "इंटरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स" ग्रंथ में फ्रायड़ कहता है, Dream displacement and dream condensation are two craftsmen to whom we may chiefly ascribe the structure of the dream.[17]

(4) स्वप्न हमेशा चित्रों की भाषा में होता है। सुप्त अर्थ-कणों को चित्र रूप धारण करना पड़ता है। "इसलिए", "कारण", "परंतु" इन केवल बुद्धिगम्य संबंधोंको चित्ररूप में उपस्थित करना कठिन होता है। स्वप्न के भाग एक दूसरों से जिस पद्धति से जोड़े जाते हैं, उसपर से ये बुद्धिगम्य संबंध पहचानने होते हैं। उसी तरह, परस्पर विरोधी बातों के लिए बहुत बार एक ही बिंब का प्रयोग किया जाता है। संदर्भ से ही उस बिंब का अर्थ जानना होता है।

हमें जो स्वप्न स्मरण होते हैं उनमें उपरिनिर्दिष्ट प्रक्रियाओं के साथ और एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया होती है। उसे फ्रायड़ दोयम व्यवस्थापन (secondary elaboration) नाम देता है।[18] पहले उल्लेखित प्रक्रियाओं से बनाया स्वप्न अधिक व्यवस्थित और ठीक-ठाक बनाने का प्रयत्न यह प्रक्रिया करती है। विनिर्मित बिंबों में संगति उत्पन्न करने के प्रयत्न में स्वप्न के पार्श्व में जो मूल अर्थ होता है, उससे भिन्न अर्थ प्राय: उत्पन्न होता है। इसलिए मनोविश्लेषक समन्वित स्वप्न का विभाजन कर उसके घटकों को अलग करता है और मुक्त कल्पना साहचर्य के रास्ते से उसका अर्थ (या अलग-अलग अर्थ) लगाता है।

स्वप्न में हम अपनी या समूची मानवजाति की बाल्यावस्था में चले जाते हैं।[19] स्वप्न में जो प्रतीक प्रयुक्त होते हैं उनमें ऐसा दिखता है कि मानवजाति की बाल्यावस्था का कुछ भाग हर व्यक्ति में होता है और वह स्वप्न में प्रकट होता है। हमें अपनी बाल्यावस्था (पहले पाँच वर्षों की) की घटनाएँ प्राय: नहीं स्मरण होतीं। इसका अर्थ

यह नहीं कि हम यह काल पूर्णत: भूल जाते हैं। कुछ चीजें हमें स्पष्ट स्मरण होती हैं, लेकिन प्राय: वे महत्त्व की नहीं होतीं। स्थानांतरण की प्रक्रिया के कारण महत्त्वपूर्ण घटनाएँ एवं स्मृतियाँ पीछे छूटकर उनका स्थान कम महत्त्व की चीजों ले लेती हैं। विस्मृति में छिपे हुए ये घटक होते हैं-- बाल मानस में वास करनेवाली यौन एवं हिंस्त्र इच्छाएँ। छोटा बच्चा विलक्षण रूप में आत्मकेंद्रित होता है और उसको अपने सुख के अलावा दूसरा कुछ भी वांछित नहीं होता। अपने रास्ते में आनेवाले व्यक्तियों को नष्ट करने की इच्छा उसके मन में उत्पन्न होती है। इस हिंस्त्र इच्छा का विषय होते हैं माँ-बाप, भाई बहन, अन्य आप्तजन, उसमें भी समलिंगी व्यक्तियों के बारे में यह इच्छा विशेष तीव्र होती है। लड़का पिता का और लड़की माँ का द्वेष करती है। लड़का बाप का द्वेष इसलिए करता है कि समाज बाप के द्वारा लड़के की नंगी स्वयंकेंद्रितता पर बंधन डालता है। फिर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लड़के के प्रेम का विषय उसकी माँ होती है। अत: उसमें हिस्सेदार बननेवाले पिता का वह द्वेष करे, यह स्वाभाविक ही है। छोटा बच्चा निष्पाप होता है यह धारणा गलत होती है। फ्रायड़ की मान्यता है कि संस्कृति के स्पर्श से वंचित बालक का मन विकृतियों का घर होता है।[20] स्वप्न में हम अपनी बाल्यावस्था में जाते हैं। इसका एक अर्थ यह कि बचपन में हमारे मन में वास करनेवाली और बाद में विस्मृति में दबाई गई इच्छाएँ हममें पुन: जागृत होती हैं। ये बचपन की इच्छाएँ और उस काल की मानसिक प्रक्रियाएँ अपने बोध के परे होती हैं। क्योंकि सुसंस्कृत मनुष्य के दैनंदिन जीवन में इन इच्छाओं एवं प्रक्रियाओं को जरा भी स्थान नहीं होता। हमारे मन के बोध के परे का यह भाग ही अवचेतन या अबोध मन है। अवचेतन याने तत्काल के लिए भूली चीजें नहीं। अवचेतन याने विस्मृति में कायम दबाई हुई, इच्छाएँ और प्रक्रियाएँ[21] स्वप्न और स्वप्न के नीचे प्रच्छन्न अर्थकणों में अंतर ऊपर बताया गया है। ये सारे अर्थकण अवचेतन का हिस्सा नहीं होते, क्योंकि बहुत बार ये अर्थकण अपने जागते मन के विचारों की तरह या अनुभवों की तरह होते हैं और उनमें से कुछ स्वप्न के कुछ पहले हमारे अनुभव किए हुए होते हैं। उन्हें स्वप्न के पहले अनुभव की हुई चीजों का अवशिष्ट भाग नाम दिया गया है। यह भाग और अवचेतन का किसी इच्छा का संयोग होकर स्वप्न निर्मित होता है।

फ्रायड़ का स्वप्न संबंधी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह था कि हर स्वप्न में इच्छापूर्ति (wish fulfilment) होती है। कुछ स्वप्न इच्छापूर्ति के अतएव सुखद होते हैं। यह सब स्वीकार करेंगे। उदाहरणार्थ छोटे बच्चों के स्वप्न या रात को प्यास लगने पर जल पीने का स्वप्न-लेकिन सुसंस्कृत, प्रौढ़ मनुष्य को भयावह, दु:खदायी, चिंताग्रस्त स्वप्नों के आने की संभावना ही अधिक। स्वप्नों और उसके नीचे दबे विचारों में फ्रायड़ ने अंतर किया है। इन विचारों में स्वप्न के पहले अनुभव की घटनाओं का शेष भाग

रहता है और जागने में अपने अनुभव में दुख, चिंता, निराशा, गुस्सा इत्यादि भावों से रँगे अनेक विचार या बातें होती हैं। स्वप्न-निर्मिति में इन विचारों का थोड़ा-बहुत कायाकल्प हुआ तो भी ऐसा नहीं होता कि मूल भावनाओं का अंश बिलकुल तिरोहित हो जाता है। ये स्वप्न भी इच्छापूर्ति के होते हैं। यह फ्रायड़ की राय कैसे मान्य होगी? यह पहले कहा गया है कि फ्रायड़ की राय है कि हमारे मन में अलग-अलग शक्तियाँ एवं शक्तिकेंद्र होते हैं। इन शक्तियों को अलग - अलग चीजों के कारण संतोष प्राप्त होता है। लेकिन उनमें से एक को जिससे सुख, प्राप्त होता है उससे दूसरी को सुख होगा ही, ऐसा नहीं। इन शक्तियों के एक दूसरे के साथ संबंधों को ध्यान में लेने पर ऐसा न होने की शक्यता ही अधिक है। अवचेतन मन में दबाई और इसके कारण कायाकल्प कर आनेवाली इच्छाओं का सर्वसामान्य स्वप्नों में समाधान होता है। लेकिन भयावह स्वप्न में ये इच्छाएँ नंगे रूप में प्रकट होती हैं और इस कारण से हम नींद से जाग जाते हैं। इसका मतलब यह कि ऐसे समय स्वप्न को अपने कार्य में असफलता प्राप्त होती है। यद्यपि यह सही है तो भी स्वप्न का कार्य इच्छापूर्ति होता है, इस कथन को बाधा नही पहुँचती, इच्छाएँ अगर शर्मनाक हों तो सेन्सार का कठिन पहरा उन्हें बोध की देहलीज तक भी आने नहीं देता। नींद में यह पहरा ढीला हो जाता है। अत: ये इच्छाएँ बोध की देहलीज को पार कर सकती हैं। लेकिन नींद में भी पहरे का संपूर्ण अभाव कभी नहीं होता। इसलिए निष्कासित की हुई इच्छा अगर पहरेदार को मिल जाती है तो वह उसे सजा देता है। इसलिए मन के उस हिस्से को (याने जिनमें वह इच्छा होती है।) दुख होता है। लेकिन पहरेदार को याने मन के दूसरे भाग को — उससे सुख मिलता है। इस तरह समूचे मन को या उसमें से एक अंश को इच्छा तृप्ति का संतोष स्वप्न के कारण प्राप्त होता है। स्वप्न में पहले दिन के अनुभव का शेष भाग होने के कारण और बहुत बार वह भाग यातना देनेवाला होने के परिणामस्वरूप स्वप्न में दुख या चिंता का स्पर्श रहता है और इसलिए स्वप्न के कारण इच्छापूर्ति होती है, यह हमें ठीक नही लगता। लेकिन कभी इस शेष भाग में वर्तमान किसी इच्छा की परितृप्ति स्वप्न में होती है और उसके कारण आनंद प्राप्त होता है। लेकिन फ्रायड़ को इस तरह ऊपर-ऊपर की इच्छा की तृप्ति अभिप्रेत नहीं है। बिलकुल गहरे में, बचपन के नद में अतृप्त रही इच्छा जब तक जग नहीं जाती तब तक स्वप्न नहीं आएगा, ऐसी फ्रायड़ की मान्यता थी।[22]

अब हमें देखना है कि उपर्युक्त जानकारी के संदर्भ में कलानुभव पर कुछ प्रकाश पड़ता है अथवा नहीं। कलानुभव की ओर दो दृष्टियों से देखा जा सकता है— या तो कलाकृतियों का अनुभव लेने की दृष्टि से अथवा उनको निर्मित करनेवाले की दृष्टि से। लेकिन फ्रायड़ के सिद्धांत के संदर्भ में उन दो दृष्टिकोणों में अंतर करने की आवश्यकता नहीं है। जो प्रक्रिया आस्वादकों में चलती है वही कलाकारों में भी चलती

है, इस संदर्भ को लेकर यह माना जा सकता है। (ऐसा नहीं कि ऐसा मानना सदैव उचित होगा। एकाध चालाक लेखक पाठकों में चलनेवाली प्रक्रिया को ध्यान में लेकर अपने भावविश्व में कुछ भी न घटित होते हुए भी भावाकुलता का स्वांग भर सकता है। लक्स टॉयलेट साबुन का विज्ञापन करनेवाला मनुष्य स्वयं लक्स इस्तेमाल करता ही है, ऐसा नहीं। लेकिन बहुत बार लेखकों एवं पाठकों में सहानुकंप की संभावना अधिक रहती है।)

फ्रायड्वादियों की राय में कलानंद (और विशेषत: वाड्मयीन आनंद) इच्छा-पूर्ति का आनंद ही होता है। स्वप्नरंजक उपन्यासों में जो इच्छाएँ तृप्त होती हैं वे हम अन्यों से चुराकर भले ही रखें उन्हें हम अपने पास स्वीकार कर लिए होते हैं। महान वाड्मय में जो इच्छाएँ पूर्ण होती हैं उनकी स्थिति ऐसी नहीं होती। उन्हें हम बोध के क्षेत्र से बाहर कर देते हैं, क्योंकि उनमें शर्म या भय लगने लायक कुछ होता है। यह सही है कि वे वाड्.मय में होती हैं परंतु उन्हें उसके लिए कायाकल्प करना पड़ता है। वाड्.मय में इन इच्छाओं की भले ही तृप्ति हो जाती हो, उनका असली स्वरूप हमारी समझ में नहीं आता और इसलिए इच्छा तृप्ति होने की बात भी स्पष्ट रूप में प्रतीत नही होती। महान वाड्मय सामाजिक, बौद्धिक एवं राजनैतिक प्रश्नों के इर्द-गिर्द केंद्रित होने पर भी स्वप्न की तरह उसमें भावनात्मक अर्थों की भीतरी पर्तें भी हौती हैं। इस तरह के वाड्मय के बीज अपनी मूलभूत प्रेरणाएँ, पारिवारिक तनाव, दो पीढ़ियों के बीच का संघर्ष इत्यादि भाव-जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में ही प्राप्त होते हैं। ऐसा साहित्य हमारे मन के अहं, अत्यहं और मन की तीसरी शक्ति तत्, इन तीन मन:शक्तियों के बीच का संघर्ष दिखाता है। उसी तरह सुखेच्छा का तत्त्व या सुखतत्त्व (pleasure principle) एवं यथार्थ - तत्त्व (reality principle) के बीच के संघर्ष के दर्शन भी इस साहित्य द्वारा होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में यह संघर्ष और उसके शक्तियों के स्वरूप का जितना बोध हमें होता है, उससे अधिक स्पष्टतापूर्वक यह संघर्ष हमारे सामने प्रस्तुत होता है। इच्छाओं की परितृप्ति होने की प्रतीति अनजाने हो जाती है लेकिन इच्छाओं के असली स्वरूप की जानकारी न होने के कारण इच्छा-तृप्ति का स्पष्ट ज्ञान हमें नहीं होता। एक ओर इच्छा-तृप्ति होती है; दूसरी ओर इच्छा-तृप्ति के रास्ते में वर्तमान अनंत विपत्तियों का यथार्थ चित्रण भी होता है। इस तरह सुखतत्त्व के साथ वास्तवतत्त्व का पालन होता है। स्वप्नरंजक उपन्यासों में आपत्तियों का चित्रण प्रभावपूर्ण न होने के कारण इच्छातृप्ति करीबन् अनायास होती हुई दिखती है और इच्छा-तृप्ति के लिए छोटी-बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है, इसका एहसास नहीं होता। इसके विपरीत, श्रेष्ठ वाड्मय में अपने मन में गहरे में अंकुरित इच्छाओं की परितृप्ति होती है। लेकिन उसके लिए जबरदस्त कीमत भी चुकानी पड़ती है। मतलब एक ओर तत् की परितृप्ति होती है, लेकिन उसके लिए जबरदस्त

कीमत वसूल होने के कारण अत्यहं का भी परितोष होता है। इन परस्पर विरोधी शक्तियों का तनाव झेलने की आदत अहं को होती है। और इस तरह वाङ्मयीन अनुभव अहं के लिए भी उपकारक सिद्ध होता है।

ऊपर कहा ही है कि हमारे मन की शक्तियों का संघर्ष प्रत्यक्ष जीवन की अपेक्षा वाङ्मय में अधिक व्यवस्थित, अधिक पूर्णत: दिखाया जाता है। वाङ्मय के कुछ गुण-विशेषों के कारण यह शक्य होता है। वाङ्मय कृति की रचना सुव्यवस्थित होती है और उसकी विशिष्ट शैली होती है। इस रचनातत्त्व के स्वीकार करने से हम मानो अपने अत्यहं को बताते हैं कि अनुभव की सभी बातों पर हमारा नियंत्रण रहता है। विशेषत: हमने अपनी विध्वंसक शक्तियों को नियंत्रित किया है। ऐसा करने से हमारे मन के अत्यहं का तनाव बहुत कम होता है और चिंताओं का बोझ हलका हो जाता है। इसलिए हमारे मन का संघर्ष ठीक तरह से देखने को हम तैयार रहते हैं। इसका और एक कारण यह है कि वाङ्मय को पढ़ते समय हम अपने ही भावनात्मक प्रश्नों को इस तरह देख सकते हैं कि वे प्रश्न दूसरों के -- अर्थात् वाङ्.मय कृति के पात्रों के -- हों। पात्रों एवं घटनाओं का साधारणीकरण होने के कारण और हममें और पात्रों में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में साधर्म्य होने के कारण असल में हम उनके द्वारा अपने ही प्रश्न सुलझाते रहते हैं। लेकिन चेतना या बोध के स्तर पर हम ऐसा भी कह सकते हैं कि ये प्रश्न केवल पात्रों के ही हैं, उनका हमसे कोई संबंध नहीं। स्वप्न की भाषा जिस तरह बिंबों की होती है, उस तरह उपन्यासों, कहानियों की भाषा भी बिंबों की ही होती है। उनके शब्दों का कार्य हमारे सामने दृश्यों, प्रसंगों, व्यक्तियों को ही खड़ा करना होता है। ये बिंब हमारी सुप्त प्रेरणाओं का आवाहन करते हैं। लेकिन उनसे प्रतीत होनेवाले अर्थ का स्पष्ट, अवधारणात्मक बोध हमें नहीं होता। ऐसा स्पष्ट बोध न हो, यही योजना की जाती है। ऐसा बोध जिस तरह स्वप्न का भंग करता है, उस तरह वाङ्.मयास्वाद को भी भंग कर देता है। बोध की दृष्टि से हम वाङ्मय के अनुभव की ओर तटस्थतापूर्वक देखनेवाले दर्शक होते हैं। लेकिन दूसरे एक स्तर पर हम वह अनुभव स्वयं ले रहे होते हैं, वाङ्मय का जीवन स्वयं जीते हैं। वाङ्मय कृति के पात्र लेखक एवं पाठक के व्यक्तित्त्व के ही विभिन्न भाग या पहलू होते है। दोस्तोवस्की के "इडियट" में मिश्किन और रोगाजिन, स्टीवन्सन के डॉ. जेकिल और मि. हाइड, सरवेंटीज के डान क्विक्जट और सैंको पान्जा, एक ही व्यक्तित्व के दो भाग हैं। उनमें से एक से हमारा नाता बोध के स्तर पर होता है और दूसरे का अवचेतन के स्तर पर। उपन्यास, नाटक में हमारे भावनात्मक प्रश्न जब प्रस्तुत किए जाते हैं तब स्थानांतर की प्रक्रिया का उपयोग होता है। इसके लिए हैम्लेट का उदाहरण लिया जा सकता है। हैम्लेट में ईडिपस ग्रंथि का प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है यह सब जानते है। हैम्लेट जिन शब्दों में अपनी माँ की निर्भर्त्सना करता है, उसी से उसका अपनी

माँ से प्रेम किस प्रकार का था, इसकी कल्पना आ जाती है। वह गट्रुड़ का केवल लड़का ही नहीं है, माँ ने क्लाड़िअस से विवाह किया इसलिए उसे जो गुस्सा आता है वह प्रेमी का गुस्सा है। माँ के प्रेम में हिस्सा माँगनेवाले पिता के प्रति द्वेष भी हैम्लेट के मन में है। लेकिन यह द्वेष सीधे व्यक्त नहीं होता। इसका कारण उसके पिता के बिंब का विभाजन होकर उसमें से तीन व्यक्तिचित्र निर्मित हुए हैं– (1) पिता की मृतात्मा, (2) क्लाड़िअस और (3) पलोनिअस। पिता के प्रति उसका द्वेष क्लाड़िअस की ओर उन्मुख हुआ है। घृणा एवं तुच्छता पलोनिअस की ओर उन्मुख है, और उन सबके परिमार्जन के रूप में यानी पिताजी की मृतात्मा के प्रति प्रेम और आदर तथा अनुकंपा द्विगुणित हुई है। हैम्लेट को पिताजी के प्रति प्रेम निश्चित कैसा लग रहा था? बोध के स्तर पर प्रेमादर और अनुकंपा और अवचेतन के स्तर पर द्वेष, नफ़रत और तुच्छता -- ये परस्पर विरोधपूर्ण भावनाएँ उसके मन में थीं। लेखक-पाठको की स्थिति भी ठीक यही होती है। उपन्यास के चरित्रों एवं घटनाओं के संबंध में उनकी प्रतिक्रियाएँ विविध स्तरों पर होती रहती हैं।[23]

शोकात्मिका के नायक से तादाम्य स्थापित कर हम अपनी विद्रोही प्रेरणाओं का परितोष प्राप्त कर लेते हैं और उसके लिए मिलनेवाली सज़ा एवं दुख को एक सीमा तक हम स्वीकार कर लेते हैं अपने दैनंदिन जीवन में न इतने विद्रोही होते और न इतने दुखी। इसलिए वाङ्मय पढ़ते समय अपने रोजमर्रा के अनुभव की अपेक्षा अधिक संपन्न एवं समग्र परितोष देनेवाला अनुभव हमें प्राप्त होता है। यह अनुभव पहले लेखक को और बाद में आस्वादक को प्राप्त होता है। इस सिद्धांत के अनुसार मिल्टन के "पैराडाइज़ लॉस्ट" का विश्लेषण करने पर काव्य संबंधी कुछ प्रश्नों का हल मिलता है। मिल्टन ने कहा है कि देवताओं ने मानव से जिस रीति से व्यवहार किया है वह कैसे योग्य है, यह दिखाने के लिए "पैरेडाइज़ लॉस्ट" लिखा गया। बोध या चेतन स्तर पर मिल्टन देवताओं की तरफ है, लेकिन एक अलग स्तर पर वह शैतान एवं स्खलनशील मनुष्य की तरफ है, ऐसा लगता है। शैतान की व्यक्तिरेखा इतनी तेजस्वी होने का कारण वही है। यह व्यक्तिरेखा इतनी तेजस्वी है कि यह मत प्रचलित था कि शैतान ही "पैराडाइज़ लॉस्ट" का नायक है, कवि के मन की विद्रोही प्रवृत्ति का प्रतीक है। शैतान छोटे बच्चे की दृष्टि से पिता एवं ईश्वर में बहुत साम्य रहता है। शैतान का ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह दो पीढ़ियों के बीच के सनातन संघर्ष का प्रतीक ही है। ज्ञानवृक्ष का फल खाने से मानव का स्खलन होता है, स्त्री के एवं शैतान के प्रोत्साहन से वह फल खाने के लिए प्रवृत्त होता है। मानव की यह ज्ञानपिपासा है। बाल्यकाल में बच्चे के मन में उत्पन्न होनेवाली यौन-विषयों के बारे में जिज्ञासा। इसी जिज्ञासा का आगे चलकर ज्ञानोपासना में रूपांतर होता है। शैतान और आदम के रूप में मिल्टन के मन की एक प्रवृत्ति को -- विद्रोही प्रवृत्ति को पूरी परितृप्ति

मिली और दोनों को मिली सजा की तीव्रता कम न करने के कारण उसके अत्यहं को भी परितोष प्राप्त हुआ। श्रेष्ठ वाङ्मय के कारण मनुष्य की सभी प्रेरणाओं को परितोष मिलता है और उसके व्यक्तित्त्व को एक नई एकता प्राप्त होती है, उसकी प्रेरणाओं का संतुलन होता है।[24]

फ्रायड़वादियों की राय में स्वप्नों की संरचना जिस तरह हमारी अवचेतन की शक्ति एवं प्रक्रिया पर निर्भर होती है उसी तरह वाड्.मयीन रचना की संरचना भी इन्हीं शक्तियों एवं प्रक्रियाओं पर निर्भर रहती है। क्या इसका अर्थ यह लें कि स्वप्नों की भाँति कलाकृति भी रच जाती है या घटित हो जाती है और बोधपूर्वक रची नहीं जाती? कला-निर्माण में चेतना का कुछ स्थान है या नहीं? फ्रायड़ या फ्रायड़वादियों का ऐसा विचार नही है। वे यह मानते हैं कि अचेतन की प्रक्रियाओं के कारण जो घटित होता है उस पर कलाकार चिकित्सक दृष्टि से हाथ फेरता है, उसमें बदल करता है, उसमें से कुछ भाग निकाल देता है और किसी भाग को उभार देता है। ये प्रक्रियाएँ अवचेतन की नहीं हैं। दिवास्वप्न एवं वाड्.मय के अंतर के संबंध में चर्चा करते हुए फ्रायड़ ने दो मुद्दे प्रस्तुत किए थे– (1) वाड्.मय में साधारणीकरण अभिप्रेत रहता है और (2) वाड्.मयीन कृति में वाड्.मय मूल्य (उदाहरणार्थ विशिष्ट शैली) आवश्यक हैं। ये दोनों मुद्दे चेतना के कार्य का महत्त्व ही दिखाते हैं। सादे स्वप्न में भी दोयम व्यवस्थापन (secondary elaboration) की प्रक्रिया के कारण व्यवस्था उत्पन्न होती है। यह प्रक्रिया भी अवचेतन की प्रक्रिया नहीं है। जो स्वप्न में भी आवश्यक है, होता है। उसका कलाकृति में भी आवश्यक होना नैसर्गिक ही है।[25]

कलाकार को पात्र, घटनाएँ, बिंब, प्रतीक प्राप्त हो सकते हैं। शाब्दिक विदग्ध उक्तियाँ भी एक अर्थ में प्राप्त हो सकती हैं। लेकिन वह जिस कलाकृति का निर्माण करता है उसमें उन्हें विशिष्ट स्थान देना है या नहीं, यह वह बोधपूर्वक निश्चित करता है। अब यह तो सही है कि कलाकृति के अनेक पहलू होते हैं और वे सब कलाकार के स्पष्ट बोध का सदैव विषय होंगे ही ऐसा नहीं है। इसलिए उनसे अगर पूछा जाए कि "तुमने ऐसा क्यों लिखा?" तो उस पर क्या उत्तर दिया जाए, यह झट से उसके ध्यान में आएगा ही, यह नही कहा जा सकता, क्योंकि बहुत बार किस प्रकार का उत्तर अपेक्षित है, यही उसकी समझ में नहीं आएगा। मान लीजिए यह समझ में आए भी तो भी वह निश्चित भाषा में उत्तर दे सकेगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः कलाकार ने कलाकृति को बोधपूर्वक निर्मित किया है, ऐसा कहना एक अर्थ में ठीक नहीं होगा। लेकिन यहाँ बोध न होने का अर्थ अवधारणात्मक बोध न होना, इतना ही है, फ्रायड़ जिस अर्थ में अवचेतन शब्द का प्रयोग करता है उस अर्थ में यहाँ अवचेतन या अबोध अभिप्रेत नहीं है।

इसका अर्थ यह कि कलाकृति के बारे में बोलते समय रच जाना और रचा जाना

दोनों अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण एवं संगत ठहरती हैं। कलाकार अपनी अवचेतना के घटकों एवं प्रक्रिया से कुछ सीमा तक बँधा हुआ होता है, यह सही है। लेकिन उतने या उससे अधिक अनुपात में वह अपनी कला-परंपराओं से बँधा हुआ होता है। अपने आंतरिक तनाव कम करना उसको जितना महत्त्वपूर्ण लगता है उतना ही कला-परंपरा में उत्पन्न हुए प्रश्न हल करना उसको महत्त्वपूर्ण लगता है।[26] फ्रायड़ से स्फूर्ति लेकर उत्पन्न अतियथार्थवाद की कलापरंपरा के प्रति स्वयं फ्रायड़ आदर नहीं रखता था। यह बात उस संदर्भ में उल्लेखनीय होगी। उसका मत था कि अतियथार्थवादी कलाकार रचने की क्रिया को पर्याप्त महत्त्व नहीं देते।

यहाँ दो बातें कहनी होंगी। (1) फ्रायड़वादी लेखक यह दावा नहीं करते कि मनोविश्लेषण से कलाकृति के निकष प्राप्त हो सकते हैं। उनकी दृष्टि में निकष खोजना और उसका उपयोग कर कलाकृति का मूल्य तय करना समीक्षक का काम है, मनोविश्लेषक का नहीं।[27] इस मुद्दे की अधिक चर्चा बाद में आएगी।

(2) वाङ्.मय पढ़ने से हमें संतोष कैसे प्राप्त होता है, इस संबंध में फ्रायड़ के सिद्धांत को जो स्वीकार करते हैं वे सीधे विश्वचैतन्यवादियों के विरोधी गुट में शामिल होंगे। क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार वाङ्.मय निर्मिति की प्रक्रिया और वाङ्.मयानुभव के घटक, दोनों लौकिक स्तर की चीजें हैं। आंतरिक तनाव कम होकर प्रेरणाओं का जो संतुलन होता है, वह लौकिक स्तर पर होता है। फिर, जिन इच्छाओं की तृप्ति स्वप्न एवं वाङ्.मय के द्वारा होती है वे लौकिक ही होती हैं। फ्रायड़वादियों की कलामीमांसा विश्वचैतन्यवादियों और कलारचनावादियों को एक मामले में निकट की लगना स्वाभाविक है। इन दोनों परंपराओं में कलाकृति की रचना अ-तार्किक मानी जाती है। फ्रायड़ की राय में स्वप्न की रचना अ-तार्किक होती है। परंतु इस साम्य के साथ एक महत्त्वपूर्ण भेद भी ध्यान में रखना आवश्यक है। फ्रायड़ की राय में स्वप्न की रचना के पार्श्व में लौकिक प्रेरणाएँ होती हैं। इसीलिए स्वप्नों की रचना अ-तार्किक होने पर भी वह अ-व्यवहारात्मक न होने पर अलौकिक सिद्ध नहीं होती। जिस अनुपात में कलाकृति स्वप्न जैसी होती है, उस अनुपात में उसकी रचना व्यवहारात्मक, इसलिए लौकिक ठहरती है।

7.5

स्वप्न सभी देखते हैं लेकिन सब लोग कलाकार नहीं होते। इसलिए स्वप्नमीमांसा से कला-सृजन पर ठीक प्रकाश नहीं पड़ता -- कलाकार के वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर अधिक निश्चित जानकारी प्राप्त होने की संभावना है। अपनी पुस्तक "लिओनार्दो द विंचि"[28] में फ्रायड़ ने एक अद्वितीय कलाकार के भावजीवन एवं व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है, इस संदर्भ में उसका महत्त्व है। लिओनार्दो के कुछ वैशिष्ट्य विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। जिस काल में दुनिया में आगे बढ़ने के

लिए लोग प्रयासशील थे उस काल में वह स्पर्धा और वादों से दूर रहा। वैराग्य और लंपटता के बीच संघर्ष उस समय अति तीव्र हुआ था। लिओनार्दो स्त्री-प्रेम से दूर रहा, लेकिन अपनी कलाकृति में स्त्री-सौंदर्य के उत्तम आदर्श उसने निर्मित किए। उसकी जिज्ञासा इतनी बड़ी थी कि कला का क्षेत्र छोड़कर उसके पूर्णत: विज्ञान की ओर मुड़ जाने की संभावना अधिक थी। उसने अपनी समूची चिच्छक्ति यौन-व्यवहार से निकालकर ज्ञानसाधना की ओर मोड़ी थी।[29] फ्रायड़ की राय में छोटे बच्चे की जिज्ञासा उम्र के तीसरे साल से उनमें दिखनेवाले यौन-कुतूहल में उत्पन्न होती है। इस बाल-जिज्ञासा पर नीति और धर्म का दबाव आता है। माँ-बाप की ओर से उसका विरोध होता है। ऐसी परिस्थिति में तीन विकल्प उत्पन्न होते हैं– (1) जिज्ञासा ही दबाई जाती है। (2) यह दबाई हुई जिज्ञासा अचेतन से उछाल लेकर आती है और मनुष्य पर अपना शासन जमाती है। वह उसे सतत विचार करने को विवश करती है। इसे फ्रायड़ (compulsive reasoning) कहते हैं। इस प्रकार की जिज्ञासा का वैशिष्ट्य यह है कि उसका कभी परितोष नहीं होता। (3) मूल में यौन कुतूहल से उत्पन्न जिज्ञासा का कुछ लोगों में उन्नयन (sublimation) होता है। वह ज्ञानसाधनादि जन-सम्मत चीजों की ओर मुड़ती है। यहाँ भी यौनतृप्ति दबाई जाती है। लेकिन उपरिनिर्दिष्ट दिशा में जानेवाली चिच्छक्ति का उन्नयन होने के फलस्वरूप मनुष्य यद्यपि जिज्ञासा की गिरफ्त से नहीं बचता फिर भी उसमें से मानसिक रोग उत्पन्न नहीं होता। फ्रायड़ की राय में उपर्युक्त तीसरे विकल्प का आदर्श नमूना लिओनार्दो में देखने को मिलता है।[30]

अनेकों को लिओनार्दो का व्यक्तिचित्र अगर एक पहेली लगा हो तो आश्चर्य नहीं। यह पहेली हल करने का प्रयास फ्रायड़ ने किया है। उसके लिए लिओनार्दो का देखा हुआ एक महत्त्वपूर्ण स्वप्न विश्लेषित करने का प्रयत्न फ्रायड़ ने किया है। वह स्वप्न लिओनार्दो के शब्दों में कहा गया है: "मैं गिद्धों में रुचि रखूँ, यह मेरी किस्मत में ही बदा था, क्योंकि जब मै पालने में था तब की एक स्मृति मेरे मन में है। एक जिद्ध मेरे पास आया, उसी ने अपनी पूँछ से मेरा मुख खोला और पूँछ से मेरे मुख पर बार-बार प्रहार किये।[31]" यद्यपि लिओनार्दो इसे स्मृति कहता है फिर भी वह सत्य घटना की स्मृति नहीं होगी। यह एक तरह का भास ही था।[32] गिद्ध की पूँछ पुरुष लिंग का प्रतीक कहा जा सकता है।[33] और ऐसा करने पर लगा होगा कि लिओनार्दो को समलिंगी व्यक्तियों के प्रति आकर्षण था। यह प्रवृत्ति लिओनार्दो में थी इसके अन्य भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। लेकिन पूँछ मुँह के पास आने की घटना से स्तन मुँह में आने का अर्थ भी किया जा सकता है।[34] पूँछ गिद्ध की ही क्यों? मिस्रमें गिद्ध मातृत्व का प्रतीक माना जाता है। ऐसी कल्पना प्रचलित थी कि गिद्ध जात में सिर्फ मादाएँ होती हैं, नर नहीं होते। गिद्ध में नर की सहायता के बिना प्रजोत्पत्ति होती है, ऐसी धारणा

प्रचलित थी। प्राचीन मिस्र की रीतिरस्मों एवं कल्पना-विचारों के संबंध में ग्रीक और रोमन विचारकों में बहुत कुतूहल था। लिओनार्दो को इन विचारकों के लेखन से प्राचीन इजिप्त में गिद्धों के बारे में प्रचलित कल्पनाओं की जानकारी मिली होगी। लिओनार्दो का जीवन देखा जाए तो इन कल्पनाओं का महत्त्व ध्यान में आता है। लिओनार्दो अवैध लड़का था। पहले चार-पाँच वर्षों तक उसकी माता ने उसको पाला था। स्वाभाविक था कि उसे अपने बाप के अस्तित्त्व का बोध ही न हो। अत: उसके बाल-मानस को लगा होगा कि अकेली माँ के कारण ही अपना जन्म हुआ है। केवल माँ द्वारा जन्मा हुआ दूसरा महापुरुष है ईसामसीह। दोनों में एक महत्त्वपूर्ण बात में साम्य का होना लिओनार्दो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। उसके बचपन की यह पृष्ठभूमि ध्यान में लेने पर ऐसा लगता है कि जन्म का रहस्य लिओनार्दो के कुतूहल का पहला विषय हुआ होगा। अगर गिद्ध मातृत्व का प्रतीक है तो गिद्ध की पूँछ को पुरुष-लिंग का प्रतीक कैसे माना जाए? बच्चों की समझ होती है कि स्त्री के पुरुषलिंग में होगा। मिस्र Mut नामक गिद्ध के मुँहवाली स्त्री देवी का पुरुष-लिंग दिखाया जाता था, इसका भी कारण यही होगा। अपने जन्म का रहस्य खोजनेवाले लिओनार्दो के बाल-मन की ऐसी समझ होना स्वाभाविक है कि अपनी माँ में स्त्री और पुरुष के गुणों का मिश्रण हुआ है। माँ से अत्यधिक प्रेम करनेवाले व्यक्ति बहुत बार समलिंग - संभोग करनेवाले बन जाते हैं। क्योंकि उनका विश्वास होता है कि माँ के अतिरिक्त किसी स्त्री से प्यार करना माँ के साथ प्रतारणा करना है। हमने ऊपर देखा है कि लिओनार्दो का देखा हुआ, गिद्ध विषयक स्वप्न इसकी समलिंग- संभोग की प्रवृत्ति का प्रमाण कहा जा सकता है और इस प्रवृत्ति का मूल कारण माँ के प्रति उत्कट प्रेम है। मतलब यह है कि माँ के प्रति आत्यंतिक प्रेम लिओनार्दो के स्वप्न के अर्थ का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। गिद्ध विषयक इस आभास में स्तनपान की भाँति माँ के चुंबनों की झड़ी की भी अप्रत्यक्ष सूचना प्राप्त होती है।[35] स्वप्न में मुँह का उल्लेख सूचित करता है कि माँ ने उसके होंठों पर चुंबनों की झड़ी - सी लगा दी थी।

इस आभास के कारण लिओनार्दो के चित्र के एक निगूढ़ घटक पर प्रकाश पड़ता है। वह है मोनालिसा का बहुत चर्चित निगूढ़ स्मित। ऐसा ही निगूढ़ स्मित लिओनार्दो ने अपने चित्र में भी दिखाया है। फ्रायड़ की राय में, यह निगूढ स्मित मूलत: लिओनार्दो की जन्मदात्री माता के मुख पर शोभायमान रहा होगा। इस स्मित में दो अलग-अलग भावनाओं का संयोग हुआ दिखता है - उसमें असीम के मृदुभाव (unlimited tenderness) का आश्वासन है और एक तरह के खतरे की पूर्व सूचना भी (sinister threat) है।[36] उसकी जन्मदात्री माता कैरेरिना की विचित्र स्थिति ध्यान में ली जाए तो ऐसा स्मित उसके मुँह पर क्यों आया होगा, इसका अंदाज हो जाता है। वह एक परित्यक्ता थी। जिस प्रियतम ने उसे पास खींचा उसी ने आगे चलकर

उसका परित्याग किया। अपने को छोड़कर गए हुए प्रेमी का प्रेम वह अपने बच्चे के माध्यम से व्यक्त कर रही थी। इस तरह उसका स्मित परिपूर्त प्रेम का प्रतीक सिद्ध होता है। इस स्मित के कारण बालक लिओनार्दो को अतीव मानसिक एवं शारीरिक सुख हुआ होगा। परंतु यही स्मित लिओनार्दो के स्वाभाविक विकास के बीच व्यवधानस्वरूप हो गया। बड़ा होने पर किसी भी स्त्री से ऐसे स्मित की अपेक्षा करना उसकी दृष्टि से त्याज्य था। लेकिन प्रत्यक्ष में नहीं, परंतु चित्र में ऐसा स्मित वह निर्माण कर सकता था। अत: लिओनार्दो द्वारा चित्रांकित स्त्रियों के मुख पर यह स्मित बार-बार परिलक्षित होता है। मोनालिसा के चित्र के लिए मॉडेल के रूप में जो स्त्री सामने थी उसके चेहरे पर यह स्मित उसे अचानक देखने को मिला। बचपन में जो खो गया था, वह पुन: प्राप्त होने का आनंद उसकी वजह से होना स्वाभाविक था। इस समय उसने बच्चो और पुरुषों के चित्र अंकित किए (उदाहरणार्थ जान, बैकस) उनके एक वैशिष्ट्य पर इसके कारण नया प्रकाश पड़ता है। ये चित्र पुरुषों के हैं लेकिन कुछ अवयव स्त्रियों के से दिखाए गए हैं। लगता है उसमें स्त्री-पुरुष संयोग हुआ था, जो स्त्री है लेकिन जिसमें पुरुष के वैशिष्ट्य भी हैं, ऐसी स्मितमुखी माता उसके प्रेम का पहला विषय थी। उम्र के पाँचवें वर्ष में वह इस मातृसुख से वंचित हुआ। मोनालिसा का चित्र खीचते समय पुन: वह सुख उसे अचानक प्राप्त हुआ। इसी समय स्त्री - पुरुष - संयोग से युक्त स्त्री पुरुषों के चित्र बनाने की ओर उसका रुझान हो जाना स्वाभाविक है।[37] लिओनार्दो सामान्यत: पाँच वर्ष का था जब पिता उसे अपने घर ले गया, क्योंकि उसके वैध पुत्र नही था। इस घर में लिओनार्दो को नई मॉ मिली। वह थी उसके पिता की विवाहित धर्मपत्नी आल्बिएरा। इस नई स्थिति में उसके मन में पिताजी के प्रति स्पर्धा का भाव पैदा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। लेकिन इस स्पर्धा में यौन - संघर्ष का अंश बहुत नहीं था और उसमें समलिंगी - संभोग प्रवृत्ति के बढ़ने पर यह अंश बिलकुल ही नि:शेष होकर स्पर्धा का यह भाव अन्य चीजों तक सीमित रहा। पिताजी की तरह ही अपने पास पोशाक, नौकर आदि ऐश्वर्य हो, यह इच्छा उसमें बलवती हुई। पुरानी धार्मिक कल्पनाओं को ठुकराकर प्रकृति - नियमों की खोज में उसकी जो रुचि हुई उसमें भी पिता का अधिकार ठुकराने की आकांक्षा ही दिखाई पड़ती है। मूलत: यौन - जिज्ञासा से निर्मित हुए और आगे चलकर उन्नयन की प्रक्रिया के कारण यौन - पाश से मुक्त होना उसकी ज्ञानोपासना के लिए पिता - विषयक स्पर्धा उपकार ही सिद्ध हुई। इसी कारण वह बड़ा वैज्ञानिक बन सका। केवल देखने की इच्छा यौन - कौतूहल का ही एक रूप है। दुनिया की ओर कुतूहल से देखने और उसकी गूढ़ता को हल करने की इच्छा से लिओनार्दो विज्ञान की ओर मुड़ा। किसी तरह सृष्टि के मनोहारी रूप देखना, मन में संचित करना, वैसे रूपों का निर्माण करना इत्यादि इच्छाओं के कारण लिओनार्दो का चित्रकार और शिल्पकार पुष्ट हुआ। ऐन

जवानी में उसने कला के क्षेत्र में जोश के साथ कार्य किया। लेकिन यौन - वासना की ओर से पूर्ण उदासीन होने के कारण उसके हाथ से बाद में काम नहीं हो सका।[38] फिर लिओनार्दो के भाव-जीवन में प्रत्यागमन (regression) की प्रक्रिया घटित हुई। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उसका ध्यान कला के क्षेत्र से परावृत्त होकर विज्ञान की ओर लगा। किसी आवेष्टित मनुष्य की तरह उसने ज्ञानोपासना प्रारंभ की। अपनी पचीस वर्षों की अवस्था में वह ऐसी प्रत्यागमन की प्रक्रिया के कारण अतीत की ओर चली गई। इस समय उसके जीवन में मोड़ आया। कारण भी कुछ ऐसा ही था। मोनालिसा का चित्र बनाते समय जो स्त्री उसे मिली उसके मुख पर शोभायमान स्मित के कारण उसे बिलकुल बचपन में देखे माता के मुख पर विलसित स्मित की स्मृति हो आई और इस भावनात्मक परितोष के कारण वह फिर से नए उत्साह से चित्रकला की ओर उन्मुख हुआ।[39]

ऐसा लगता है कि फ्रायड़ को अपने विश्लेषण की सीमाओं का पूरा भान था। चूँकि यह समूचा विवेचन बहुत ही संकीर्ण जानकारी के आधार पर किया गया है अत: मनोविश्लेषणात्मक अद्‌भुतरम्य कथा (psycho-analytical romance) मात्र सिद्ध होने की संभावना है, यह फ्रायड़ को ज्ञात था, क्योंकि लिओनार्दो का एक स्वप्न और उसकी डायरी के कुछ उद्‌धरण -- इसी नींव पर यह इमारत खड़ी है; फ्रायड़ यह भी स्वीकार करता है कि कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती तो भी कुछ प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते। मनुष्य अपनी प्रेरणाओं को क्यों दबा देता है और कुछ व्यक्तियों में उन प्रेरणाओं का उन्नयन करने की शक्ति कैसे विनिर्मित होती है, यह केवल मनोविश्लेषण से समझ में नहीं आता। फ्रायड़ की राय में उसके लिए आखिर शरीरशास्त्र की सहायता ही लेनी पड़ती है।[40] उसका दावा इतना ही है कि अगर अधिक प्रमाण उपलब्ध होते तो मनोविश्लेषण के कारण एक बात निश्चित सिद्ध हो गई होती, वह यह कि लिओनार्दो का बचपन विशिष्ट परिस्थितियों में बीता इसलिए वह मोनालिसा और सैंट ऐन का वैशिष्ट्यपूर्ण स्मित रेखांकित कर सका। दूसरा कोई चित्रकार यह स्मित, ये चित्र रेखांकित न कर पाता।

7.6

इसके पहले सूचित कुछ प्रश्नों का हमें अब अधिक विस्तार से विचार करना है। क्या फ्रायड़ के विवेचन से कलाकृति की अच्छाई के निकष प्राप्त होते हैं? कम-से-कम कलाकृति का कलाकृति के रूप में यथोचित एवं संपूर्ण वर्णन मनोविश्लेषण की सहायता से किया जा सकता है, कलाकृति का मूल्यांकन करने की दृष्टि से नहीं लेकिन कलाकृति के आकलन की दृष्टि से इन सिद्धांतों का कुछ उपयोग है?

पहले प्रश्न का विचार करते समय एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। मार्क्स के विवेचन की तरह फ्रायड़ का विवेचन भी मूल्याभिमुख (value – oriented) है।

इन दोनों के विवेचन स्वप्नरंजक अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से निम्नस्तरीय हैं, ऐसा कुछ मुझे सूचित नहीं करना है। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि केवल वस्तुस्थिति का विश्लेषण करना दोनों का एकमेव उद्देश्य नहीं था। मार्क्स समाज की रचना नई नींव पर करना चाहता था और फ्रायड़ रोगियों को ठीक करना चाहता था। अच्छी - समाज व्यवस्था और अच्छा स्वास्थ्य दोनों मूल्यात्मक अवधारणाएँ हैं। रोगरहित मन भी मूल्यात्मक अवधारणा ही है। लिओनार्दो के विषय में किए गए विवेचन में उन्नयन की अवधारणा फ्रायड़ ने प्रयुक्त की है। वह भी मूल्यात्मक ही मानी जाएगी। फ्रायड़ की कुल विवेचना में ही मूल्यात्मक अवधारणाओं को स्थान दिया गया है। अत: उसके विवेचन को लेकर गलतफहमी होना सहज संभव है। लेकिन उसकी अवधारणाओं से मूल्यात्मकता निकाल देने पर और उन्हें पूर्णत: वर्णनात्मक करने पर ऐसी गलतफहमी टाली जा सकती है। किंतु ऐसा करने पर यह ध्यान में आएगा कि फ्रायड़ के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत से मूल्यनिकष प्राप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ, उन्नयन का अर्थ अगर यह लिया जाए कि यौन - शक्ति को उसके प्राकृतिक विषय से मोड़कर समाज के मान्यता-प्राप्त कार्य की ओर लगाना, तो शायद इस अवधारणा की मूल्यात्मकता कम होगी। लेकिन फिर उन्नयन करना याने कुछ अच्छा करना, यह अर्थ निष्पन्न नहीं होगा। "उन्नयन" शब्द केवल वैज्ञानिक अर्थ में लिया जाए तो "उन्नयन अच्छा होता है" यह स्वतंत्र मूल्यात्मक संवाक्य होगा। लेसर के अनुसार "जिसके कारण आंतरिक संघर्ष कम होकर व्यक्तित्व को संपन्न एकात्मकता प्राप्त होती है, वह वाङ्मय अच्छा"- इस प्रकार का निकष हम उपयोग में लाते हैं, यह सही है लेकिन एकात्मता प्रस्थापित होने की प्रक्रिया मे यह निकष उत्पन्न नहीं हुआ है। वह स्वतंत्र रूप में अस्तित्व में आया है। इसलिए लेसर को रिचर्ड्स के मूल्यनिकष की सहायता लेनी पड़ी है। इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि फ्रायड़ का सिद्धांत मूल्याभिमुख सिद्धांत है, ऐसा मानने पर ही उसका मूल्यमापन के कार्य में उपयोग हो सकेगा। लेकिन ऐसा मानना याने वह सिद्धांत अन्य वैज्ञानिक सिद्धांतों की तरह केवल ज्ञानद सिद्धांत नहीं है यह मान्य करना होगा।

केवल मनोविश्लेषण की संज्ञाओं का उपयोग कर क्या कलाकृति का समग्र वर्णन किया जा सकता है? फ्रायड़ के विवेचन का उद्देश्य कलाकृति का आशय कैसे उत्पन्न हुआ, यह बताना है। फ्रायड़ का दावा यह नहीं है कि कलाकृति के अन्य पहलुओं पर अपना विवेचन प्रकाश डालता है। उदाहरणार्थ, उपन्यास एवं दिवास्वप्न के अंतर को परिभाषित करते समय फ्रायड़ जिसे पूर्व (fore - pleasure) क्रीड़ासुख कहता है, वह कैसे प्राप्त होता है, इसके संबंध में कुछ भी नहीं कहता, क्योंकि जिसके कारण यह विवक्षित सुख प्राप्त होता है, वह उपन्यास का गुणविशेष दिवास्वप्न से संबंधित विवेचन की कक्षा के बाहर हो जाता है। फिर क्या आशय का भी समूचा वर्णन फ्रायड़ की अवधारणाओं की सहायता से किया जा सकता है? इस संदर्भ में "रच जाना"

एवं "रचना" के बीच जो भेद किया गया है, वह महत्वपूर्ण है। कलाकृति रच जाती है और रची भी जाती है। रच जाने का भाग जितना अधिक उतनी फ्रायड़ के सिद्धांत की उपयुक्तता अधिक। कलाकृति में रचने का भाग बिलकुल न होता तो फ्रायड़ का सिद्धांत पूर्णत: लागू होता। लेकिन स्वप्न जिस तरह घटित होते हैं (रच जाते हैं) उस तरह कलाकृति भी रच जाती है, ऐसा फ्रायड़ ने कहीं भी नहीं कहा है। कलाकार कलाकृति रचता है याने क्या करता है? विशिष्ट उद्देश्य सामने रखकर साधनों को नियोजित करता है। उद्देश्य विविध प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, पाठक को आशय निवेदित करना, उसपर विशिष्ट प्रभाव करना -- उसे हँसाना, रुलाना, अंतर्मुख करना -- उसे जीवन का अर्थ बताना, आह्लादकारी रचना का निर्माण करना आदि। करते हुए उसे अनेक पूर्वनिश्चित बातों एवं पथ्यों का पालन करना पड़ता है, माध्यम का विचार मस्तिष्क में रखना पड़ता है, अभिरुचि के बंधनों का पालन करना पड़ता है। वह जिस कालखंड में या सांस्कृतिक परंपरा में कार्य करता होगा उसमें मान्यता-प्राप्त मूल्यों को आँखों के सामने रखना पड़ता है। कलाकृति इन सबका परिपाक होती है। इसके कारण यद्यपि कलाकार को अवचेतन से बहुत कुछ प्राप्त हो गया हो तो भी वह स्वीकार करना है अथवा नहीं, उसे प्रस्तुत कैसे किया जाए, इत्यादि निर्णय उसे बोधपूर्वक ही लेने होते हैं। कलाकार अपने इर्दगिर्द की परिस्थिति एवं कलापरंपरा से बहुत कुछ सीखता है। जो परिश्रमपूर्वक प्राप्त किया हुआ होता है, वह आगे चलकर उसके खून में रच - पच जाता है और जब यह कुछ नया करता है तब रच - पच गए कौशल के कारण अनायास, अबोध-पूर्वक निर्मित हुआ-सा लगता है। लेकिन यह कौशल कभी अर्जित किया हुआ होता है। अत: उसके इस्तेमाल से जो निर्मित होता है उसमें रचने का भाग ही अधिक होता है। कहा जाता है कि केवल परिश्रम से मनुष्य अच्छा कवि नही बन सकता। यह कवि के बारे में ही सत्य है, ऐसा नहीं। केवल परिश्रम से मनुष्य अच्छा राजनैतिक नेता, अच्छा वक्ता, अच्छा दूकानदार, अच्छा पहलवान, इनमें से कुछ भी नहीं बन सकता। हर स्थान पर दैवायत्त और पौरुषायत्त दोनों घटक आवश्यक होते हैं। "अच्छा कवि जन्म लेता है" यह जितना सही है उतना ही यह भी सही है कि "अच्छा दूकानदार जन्म लेता है।" उसके साथ यह भी निश्चित है कि दोनों स्थानों पर निसर्गदत्त घटको के साथ परिश्रम भी आवश्यक होते हैं। इस परिश्रम में बोध वा चेतना का हिस्सा महत्वपूर्ण होता है। परिश्रमपूर्वक प्राप्त किया हुआ कौशल खून में रच - पच जाने से कलाकार को उसकी स्पष्ट प्रतीति न भी हो तो भी यह कौशल फ्रायड़ के अवचेतन का हिस्सा नहीं होता। कलाकृति का समग्र वर्णन करना हो तो उसमें घटित या रच गए और रचे गए दोनों भागों का वर्णन करना जरूरी हो जाता है। फ्रायड़ के सिद्धांत का उपयोग 'रच गए भाग' के वर्णन तक ही सीमित है।

अगला प्रश्न फ्रायड़वाद एवं चरित्रात्मक समीक्षा - प्रणाली के संबंध के बारे में है। वह यह कि कलाकृति के आशय को समझने के लिए कलाकार के आंतरिक जीवन की जानकारी जरूरी है अथवा नही। इसके संबंध में यह कहा जा सकता है कि कलाकार का अनुभव कितना भी व्यक्तिगत हो तो भी उसका कलाकृति में रूपांतर होने के लिए साधारणीकरण की आवश्यकता होती है। फ्रायड़ को भी यह मान्य है। और साधारणीकरण होने के उपरांत प्रतीकों का केवल कलाकार के व्यक्तिगत जीवन में क्या अर्थ है, यह समझने की क्या आवश्यकता है? अनुभव का साधारणीकरण याने समस्त मानव जाति में समान अनुभव का निर्माण नहीं। उस अनुभव की आत्यंतिक व्यक्तिगतता तिरोहित होकर लोगों की समझ में आ जाए ऐसा रूप वह धारण करे, इतना ही अपेक्षित है। बोड़ाइन जैसे फ्रायड़वादी समीक्षक चरित्रात्मक पद्धति का उपयोग करते हैं, यह सही है। लेकिन फ्रायड़वाद स्वीकार करनेवाले हर व्यक्ति को इस पद्धति का उपयोग करना ही चाहिए, ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ लेसर ने अपने "फिक्शन ऐंड दि अनकॉन्शस" पुस्तक में यह पद्धति टाल दी है। जितना साधारणीकरण अधिक, उतनी उस पद्धति की उपयोगिता कम।

एक उत्पत्ति - सिद्धांत के रूप में अब तक फ्रायड़ की उत्पत्ति की चर्चा हमने की। कलाकार एवं कलाकृति के बीच के संबंध का संदर्भ हमने मुख्यत: सामने रखा है। इस उत्पत्ति के कारण आस्वादप्रक्रिया पर भी नया प्रकाश पड़ता है, यह सूचित हुआ है। चूँकि कलाकार और आस्वादक में कुछ प्रक्रियाएँ समान घटित होती है, अत: यह उत्पत्ति दोनों के संदर्भ में उपयुक्त सिद्ध हो, तो आश्चर्य नही। एक और संदर्भ में वह उपयुक्त हो सकती है। वह संदर्भ है कलाकृति के पात्रों की मानसिक विशेषताएँ और उनकी कृतियाँ। वास्तविक मनुष्यों की तरह कलाकृतियों के पात्रों को भी बहुत बार अपने कृतित्व के पार्श्व में निहित उद्देश्यों की स्पष्ट कल्पना नही होती। वे कृतियाँ उनके द्वारा घटित होती हैं। लेकिन वे क्यों घटित हुईं, इसका स्पष्टीकरण वे पात्र नहीं दे पाते। ऐसे समय फ्रायड़ की उत्पत्ति उपयुक्त सिद्ध होती है। हैम्लेट ने अपने पिता के खून का बदला लेने में इतना विलंब क्यों लगाया, यह अतिशय विकट प्रश्न है। इस विलंब के कुछ कारण (reasons) बोध के स्तर के हैं। उदाहरणार्थ, अपने पिता जी की मृतात्मा से ही बात करने के तथ्य की वह पुष्टि करना चाहता था, सुयोग्य अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था, इत्यादि। लेकिन इन कारणो से वाचकों को संतोष नहीं होता। ऐसे समय डॉ. जॉनसन जैसे फ्रायड़वादी के द्वारा किया हुआ हैम्लेट का मनोविश्लेषण उपयुक्त सिद्ध होता है। हैम्लेट की क्रियाशून्यता का ईड़िपस ग्रंथि के साथ संबंध देखने पर उसपर एक नया प्रकाश पड़ता है।

7.7

अब हम मुख्यत: चरित्रात्मक समीक्षा - प्रणाली की चर्चा करेंगे। पिछले अध्याय

में हमने देखा कि कलाकृति के संबंध में बोलते समय हम जिस भाषा का उपयोग करते हैं उसमें इस समीक्षा - प्रणाली की जड़ें प्राप्त होती हैं। विशेषत: निम्नलिखित चार प्रकार की अवधारणाएँ एवं सिद्धांत प्रयुक्त करते समय हम चरित्रात्मक समीक्षा प्रणाली के बहुत निकट आते हैं– (क) कलाकृति के बारे में बोलते समय हम अनेक बार कलाकार की मन:शक्तियों के बारे में बोलते हैं। इसी संदर्भ में हम कल्पनाशक्ति (imagination), चमत्कृतिशक्ति (fancy), प्रतिभा, स्फूर्ति इत्यादि अवधारणाओं का उपयोग करते हैं। (ख) बहुत बार हम मानते हैं कि कलाकृति में कलाकार के व्यक्तित्व का प्रतिबिंब अनिवार्यतया पड़ता है। (ग) कलाकृति के आशय के बारे में बोलते समय हम जो शब्द-विशेष प्रयुक्त करते हैं, उन्हें लौकिक आशय के बारे में बोलते समय भी इस्तेमाल करते हैं। हम यह भी मानते हैं कि कलाकृति के माध्यम से यह आशय प्राप्त करा देनेवाला कलाकार भी लौकिक जीवन में मिलनेवाले अनेक व्यक्तियों की तरह ही लौकिक व्यवहार में उलझा हुआ एक मनुष्य है। ये विशेष हैं: 'समृद्ध', 'उथला', संवेदनक्षम', 'निराशावादी', 'सिनिकल', 'भावविह्वल', 'मानवतावादी', इत्यादि (घ) अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि कलाकार जो आशय व्यक्त करता है, वह उसके मन में पहले से होता है, वह जानता है कि आशय निश्चित क्या है। कलाकृति का आकलन न हो, अथवा वह अनेक अर्थ व्यंजक हो तो कलाकार से पूछना ही अच्छा होता है। वह जो अर्थ बताएगा उसे स्वीकारना पाठक को आवश्यक होता है। कलाकृति बोधपूर्वक रची जाती है। अत: रचने के पीछे का उद्देश्य जानना आवश्यक होता है।

हमने पहले देखा है कि इन मुद्दों के बारे में हम दो अलग भूमिकाएँ ले सकते हैं– (अ) अगर कला का मूल्य स्वायत्त है, कला का संसार अलौकिक है ऐसा हम मानते हों तो एक ही व्यक्ति के बारे में बोलते समय कलाकार और लौकिक मनुष्य, ऐसा भेद करेंगे। (उदाहरणार्थ, मुनि वाल्मीकि और कवि वाल्मीकि।) फिर हमारे विवेचन में लौकिक मनुष्य के रूप में कलाकार के जीवन का स्थान नहीं रहेगा। जिन प्रक्रियाओं का अध्ययन विज्ञान करता है उन लौकिक प्रक्रियाओं से भी हमें मतलब नहीं होगा। आगे चलकर हम ऐसा भी कहेंगे कि हम कलाकार के बारे में जो कुछ बोलते हैं वह असल में कलाकृति का वर्णन होता है। कलाकार के बारे में बोलते समय हमें कलाकृति के बाहर जाना नहीं होता। (आ) लेकिन हम ठीक इसके विरुद्ध भूमिका भी ले सकते हैं। ऐसी भूमिका लेने पर कला-विश्व और लौकिक-विश्व में अंतर नही रहता। फिर यह भी सीधे कहा जा सकता है कि कलाकार लौकिक मनुष्य है। अत: लौकिक व्यवहार की अवधारणाओं का इस्तेमाल करने में हमारा विरोध नहीं होगा।

अब उपरोल्लेखित चार मुद्दों का विचार करेंगे।

(क) कोलरिज का कल्पना-शक्ति (imagination or Esem plastic Power)

संबंधी सिद्धांत सुविख्यात है। कोलरिज़ की इस अवधारणा का विश्लेषण कर जो निष्कर्ष निकलेंगे वे तत्समान अन्य अवधारणाओं के बारे में भी सही मानने में हर्ज नहीं है। कोलरिज ने "बायोग्राफिया लिटरारिया" ग्रंथ के तेरहवें अध्याय में कल्पनाशक्ति का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया है वह संक्षेप में इस प्रकार का बताया जा सकता है।[41] कल्पनाशक्ति दो प्रकार की है: प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की। प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति समस्त इंद्रियजन्य ज्ञान में उपस्थित होती है। अनंत में जो अखंड सर्जन चल रहा है उसी की प्रतिकृति प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति में मिलती है। द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति की ही प्रतिध्वनि होती है। वह बुद्धिनिष्ठ इच्छाशक्ति के साथ प्राप्त होती है। फिर भी दोनों श्रेणियों की कल्पनाशक्तियाँ एक ही प्रकार का कार्य करती हैं। उनमें भेद है केवल अनुपात एवं कार्यप्रणाली का। द्वितीय श्रेणी की कल्पना - शक्ति अपने सामनेवाली सामग्री का विघटन करती है। परंतु यह सब पुनर्निर्मिति के लिए करती है। जहाँ पर प्रक्रिया सफल नहीं होती वहाँ वह जड़ की विविधता को अधिकाधिक सचेतन एवं समन्वित करने का प्रयास करती है। उल्टे, चमत्कृतिशक्ति (fancy) के पास केवल जड़ सामग्री होती है और उसके एकत्रीकरण की प्रक्रिया भी जड़ ही होती है। असल में देखा जाए तो चमत्कृतिशक्ति याने देशकाल - बंधनों से मुक्त हुई स्मरणशक्ति ही होती है। कल्पना - साहचर्य के द्वारा जिस तरह स्मरणशक्ति को सामग्री पहुँचाई जाती है उस तरह चमत्कृतिशक्ति को भी पहुँचाई जाती है।

इस विवेचन पर कांट का प्रभाव है।[42] और वह विश्वचैतन्यन्यवाद की ओर उन्मुख है। कांट ने 'कल्पनाशक्ति' संज्ञा अपने ज्ञानशास्त्रीय एवं सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन में तीन अलग-अलग अर्थों से इस्तेमाल की है: (1) ज्ञानप्रक्रिया में अनेक संवेदनाओं का संश्लेषण किया जाता है। एक ही समय एक ही संवेदना-घटक अपने सामने होता है। हम एक घटक से दूसरी ओर, दूसरी से तीसरी ओर जाते रहते हैं। लेकिन एक से दूसरे घटक की ओर जाते समय पहला हमारे मन से खिसक जाना ठीक नहीं है, अन्यथा संश्लेषण असंभव होगा। जो एक बार अनुभव का विषय हो जाता है, उसे पुन:प्रतीति के लिए एवं संश्लेषण के लिए तैयार रखने का काम कल्पनाशक्ति करती है। इस व्यवहार में नवनिर्मिति का अंश जरा भी नहीं होता। कल्पनाशक्ति का प्रस्तुत कार्य केवल पुन:- प्रतीति प्राप्त करा देने का होता है। ऐसा कार्य करनेवाली कल्पनाशक्ति को पुन:- प्रत्ययकारी कल्पनाशक्ति (reproductive imagination) नामाभिधान दिया गया है।[43] (2) अनुभवजन्य संवेदना और अनुभवपूर्ण श्रेणी के सहकार्य से ज्ञान निष्पन्न होता है। वह सहकार्य कैसे संभव बनता है? अनुभवजन्य अवधारणा एवं संवेदना के सहकार्य के संबंध में बड़ा प्रश्न नहीं उत्पन्न होता। लेकिन कार्यकारण भावादि श्रेणी अनुभवजन्य न होने के कारण उनका संवेदनाओं के साथ संबंध कैसे आता है, यह

प्रश्न उत्पन्न होता है। इसपर कांट का उत्तर यह है कि कल्प (schema) के द्वारा यह सहयोग संभव बनता है। इन कल्पों का वैशिष्ट्य यह है कि कुछ मामलों में वे अनुभवपूर्व श्रेणियों की तरह होते हैं और अन्य कुछ मामलों में संवेदनाओं जैसे होते हैं। काल-परिमाण के अनुसार श्रेणियों का रूपांतरण करने से कल्प प्राप्त होते हैं।[44] कल्प कल्पनाशक्ति से निर्मित होते हैं।[45] इसलिए इस कल्पनाशक्ति को निर्मितिशील (productive) कहा जा सकता है। प्रत्येक संवेदनाजन्य ज्ञान में श्रेणी और संवेदना का सहकार्य अभिप्रेत होता है। उसके लिए कल्प तैयार करनेवाली कल्पनाशक्ति के सहयोग की अपेक्षा रहती है। मतलब हर संवेदनाजन्य ज्ञान में कल्पना शक्ति का कार्य रहता ही है। कोलरिज की प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति में और कल्प तैयार करनेवाले कांट की सृजनशील कल्पनाशक्ति में बहुत साम्य है। यह बताने की आवश्यकता नही। कोलरिज ने प्रथम श्रेणी एवं द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति में विद्यमान साम्य पर बल दिया है। दोनों के कार्य की जाति वह एक मानता है। यह कार्य है संश्लेषण। इससे एक अर्थ यह निकलता है कि दोनों श्रेणियों की कल्पनाशक्तियाँ अवधारणा - शक्ति से प्राप्त नियमों के अनुसार संश्लेषण करती हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति जिस तरह कार्यकारण-भाव की सहायता से संवेदनाओं का संश्लेषण करती है, उस तरह द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति भी करती है। लेकिन फिर भी उनकी कार्यप्रणाली में अंतर है। प्राय: जो चीजें एक दूसरे के सन्निध होती हैं उन्हीं का संश्लेषण प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति करती है। लेकिन सान्निध्य के परे जाकर अलग-अलग स्थान के और काल के घटक एकत्र लाने का कार्य द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति करती है। इसका एक उदाहरण ले लें। लिओनार्दो पचास के आसपास था तब बड़े जोश के साथ चित्रकला की ओर उन्मुख हुआ और "मोनालिसा" इत्यादि चित्र उसने बनाए। उसके समकालीनों से यदि पूछा जाता कि इसका क्या कारण रहा होगा, तो उन्होंने प्राय: कहा होता कि मोनालिसा के चित्र के लिए उसे बहुत धन प्राप्त होनेवाला था, इसलिए। ऐसा नहीं कि यह कार्यकारण-भाव गलत है, लेकिन उतने भर से संतोष नहीं होता। इसलिए फ्रायड द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण अधिक जँचनेवाला है। फ्रायड सन्निध चीजों के परे गया और उसने दिखाया कि धन प्राप्ति की इच्छा सही कारण न होकर बचपन की इच्छा की परितृप्ति सही कारण है। सन्निध चीजों के संश्लेषण से जो कार्यकारण भाव बना उसे फ्रायड ने तोड़ा, उसका विघटन किया और नए तरीके से संश्लेषण कर घटनाओं का नया अर्थ लगाया। कहा जाता है कि प्रज्ञावान वैज्ञानिकों की तरह कलाकार भी घटनाओं के नए अर्थ लगाता है। वह यह कार्य कर सकता है क्योंकि घटनाओं में दिखाई देनेवाले सामान्य संबंधों का विघटन करके वह नया संश्लेषण कर सकता है। याने उसके पास द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति रहती है। कोलरिज की द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति का एक अर्थ

यह हुआ। लेकिन उसके मन में और भी एक अर्थ होना संभव है। हम अब उसकी चर्चा करेंगे। (3) अपने "क्रिटिक ऑफ जजमेंट)" ग्रंथ में कांट कल्पनाशक्ति संज्ञा का एक अलग ढंग से उपयोग करता है। ऊपर (2) में कहा गया है कि संवेदनाओं को एकत्र करने के लिए कल्पनाशक्ति कल्प तैयार करती है। कल्प तैयार करते समय उसे कोटियों का उपयोग करना पड़ता है याने संवेदनाओं के संश्लेषण के जो नियम सही अर्थ में अवधारणाशक्ति में उत्पन्न होते है और उसके अनुसार कल्पनाशक्ति अपने कल्प तैयार करती है। लेकिन सौदर्यानुभव में किसी श्रेणी के मार्गदर्शन के बगैर कल्पनाशक्ति संवेदनाओं का संश्लेषण करती है। कांट की, प्रस्तुत ग्रंथ में विवेचित कल्पनाशक्ति और कोलरिज की द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति, इन दोनों को एक ही माना जा सकता है। प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति से निर्मित विश्व (याने जिसमें हम ज्ञाता के रूप में विचरते हैं, वह विश्व) कलाकार की द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति को संतोषजनक लगेगा, ऐसा नही। द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति को संतोषजनक लगेगा, ऐसा नहीं। द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति को भी अनेकता में एकता का निर्माण करना होता है। परंतु ज्ञानव्यापार के नियमों का इस्तेमाल न करते हुए सब साध्य करना होता है। इस यथार्थ जगत् से ही एक नया जगत् निर्मित करना होता है और इसलिए प्रथम श्रेणी की कल्पनाशक्ति के विश्व का विघटन करना पड़ता है और एक नए प्रकार की एकता उत्पन्न करनी होती है। ज्ञान के संश्लेषण के नियम अनुभवपूर्ण होने के कारण सचेतन होते हैं। उसी तरह सौंदर्यानुभव की "नियमरहित नियमितता" भी सचेतन होती है। इसके विपरीत, संवेदनाएँ जड़ होती है। जिन संवेदना-घटकों का अनुभवपूर्व श्रेणियों के आधार से संश्लेषण हुआ है वे फुटकर संवेदना-घटकों से अधिक चैतन्यमय होते हैं। प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति का कार्य इस तरह के चैतन्यमय बंध तैयार करना ही होता है। लेकिन दोनों की कार्य प्रणालियों में अंतर है। कलाकार ऐसे बंध बोधपूर्वक तैयार करता है। इसलिए द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति बुद्धिनिष्ठ इच्छाशक्ति (conscious will) के साथ पाई जाती है। उपर्युक्त समीकरण अगर ठीक हो तो कहा जा सकता है कि कोलरिज का यहाँ तक का विवेचन कांट के स्वायत्त सौंदर्य के विवेचन जैसा ही है। लेकिन कोलरिज के मन में और भी एक सिद्धांत होने की संभावना है। कांट ने परायत्त सौंदर्य, सौंदर्य का आदर्श इत्यादि की जो चर्चा की है उससे स्पष्ट होता है कि कलाकार केवल ऐंद्रिय घटकों की संतोषजनक रचना ही करता है, सो नहीं। वह इस ऐंद्रिय रचना में अपनी भावनाओं का देहीकरण भी करता है। यह सिद्धांत है विश्वचैतन्यवादी अभिव्यंजना सिद्धांत।[46] ऐसा कह सकते हैं कि कोलरिज की द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति मानवीय भावनाओं को ऐंद्रियता में देह प्राप्त करा देती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह दिखता है कि द्वितीय श्रेणी की कल्पनाशक्ति के संबंध

में कोलरिज के मन में भी निम्नलिखित सिद्धांत होंगे: (1) सामान्य लोगों की यथार्थ की जो चेतना होती है उससे अधिक गहरी चेतना देनेवाली वह शक्ति है। (2) किसी भी अवधारणा की सहायता लिए बिना संवेदनाओं की आह्लाददायी ऐंद्रिय रचना विनिर्मिति करनेवाली वह शक्ति है। (3) उस शक्ति के योग से मानवी भावनाओं का जड़ जगत् में देहीकरण होता है। इनमें से निश्चित कौन-सा अर्थ उसके मन में था, यह कोलरिज ने स्पष्ट नहीं किया है।

इसके अलावा, संवेदनाओं के एकत्रीकरण की एक और भी रीति है। वह चमत्कृतिशक्ति की रीति। कोलरिज की चमत्कृतिशक्ति और कांट की पुन:प्रत्ययकारी कल्पनाशक्ति में बहुत साम्य है। चमत्कृतिशक्ति नव निर्मिति नहीं कर सकती। उसका एवं स्मरणशक्ति का कार्य एक ही होता है। जो पहले अनुभूत किया जा चुका है उसे पुन: मन के सामने लाना, यही वह कार्य है। उसमें एक तरह का एकत्रीकरण अभिप्रेत है। वह है साहचार्यादि यांत्रिक नियमों के अनुसार हुआ एकत्रीकरण। इन नियमों के उपयोग से हमें विविध कल्पनाएँ सूझती हैं। लेकिन उन्हें एकत्र कर कोई सचेत बंध उत्पन्न करने के लिए ये नियम उपयोगी नहीं होते। चमत्कृतिशक्ति और कल्पनाशक्ति के संदर्भ में "बायोग्राफिया लिटरारिया" ग्रंथ के चौथे अध्याय में कोलरिज लिखता है कि मिल्टन को कल्पनाशक्ति का बड़ा वरदान प्राप्त हुआ था तो कौली के पास केवल "चमत्कृतिशक्ति" थी। ये दोनों शक्तियाँ बिलकुल अलग थीं। इसीलिए उनका निर्देश करने के लिए दो अलग-अलग संज्ञाओं का प्रयोग करना चाहिए। पागलपन (mania) और सन्निपात (delirium) में जो अंतर है उतना ही बड़ा अंतर इन दो शक्तियों में है। काव्यशास्त्र के एवं कुल कलास्वरूपशास्त्र की दृष्टि से यह अंतर बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी संदर्भ में उसने आटवे की पंक्ति "Lutes, laurels, seas of milk, and ships of amber" और शेक्सपियर की पंक्ति "What! have his daughters brought him to this pass?" तुलना के लिए दी है। आटवे की उपर्युक्त पंक्ति में एक के बाद एक बिंब गूँथे गए हैं, शेक्स्पीअर की पंक्ति में बिंबों की ऐसी फिजूलखर्ची नहीं हैं, लेकिन जो भी कुछ है वह जीवंत बंध में बँध गया है। इन दो पंक्तियों में अलग-अलग रचनातत्त्व उपयोग में आए है। उनके बारे में बोलते समय कोलरिज ने सन्निपात और पागलपन के अंतर का उदाहरण दिया है और वह बहुत उद्‌बोधक है। सन्निपात से पीड़ित मनुष्य बहककर बकता रहता है। उसके बोलने में कोई अनुशासन नहीं होता। उल्टे पागल व्यक्ति के बोलने में गलत ही सही लेकिन धुंधली-सी संगति होती है। उदाहरणार्थ, पागलपन का एक प्रकार ऐसा होता है कि उससे अभिभूत मनुष्य अपने को अतिमानव मानता है। ऐसा व्यक्ति हमेशा प्रचंड चीजों के पीछे लगा रहता है। वह मनुष्य अतिमानव न होने के कारण यह ठीक है कि उसके अपने संबंध में और दुनिया के संबंध में विचार गलत होते हैं। लेकिन उनमें एक प्रकार

की संगति होती है। यथार्थ में ऐसी संगति नही होती। अत: सन्निपात याने स्थलकाल के बंधन तोड़कर भटकनेवाली स्मृति होती है। कोलरिज की राय में चमत्कृतिशक्ति का स्वरूप भी ऐसा ही होता है। कोलरिज मन:शक्तियों की भाषा बोलता है और कल्पनाशक्ति एवं चमत्कृतिशक्ति अलग मन:शक्तियाँ हैं, यह सिद्ध करने की उसकी प्रतिज्ञा है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट होता है। लेकिन इन मन:शक्तियों के संबंध में संज्ञाओं का एवं उनके पीछे की अवधारणाओं का अर्थ क्या है? मन:शक्तियाँ सचमुच अस्तित्व में हैं, यह कैसे सिद्ध किया जाए? उनके अस्तित्व के बारे में शंका इसलिए आती है क्योंकि वे अवलोकन का विषय नहीं होतीं। लेकिन इतने - भर से उनका अस्तित्व अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि अवलोकन में न आनेवाली अवधारणाओं का विज्ञान में उपयोग किया जाता है और उनके अस्तित्व के बारे में हम शंका नहीं उठाते. उदाहरणार्थ, इलेक्ट्रॉन (electron) एवं जीन (gene) फिर न देखनेवाली अनेक चीजों का अस्तित्व हमें मानकर चलना होगा। उदाहरणार्थ, मृतात्माएँ और ईथर, इनमें से कौन - सी अवधारणाएँ सार्थ एवं स्पष्टीकरणात्मक हैं, यह निश्चित करने का एक निकष है। कुछ अवधारणाओं के इस्तेमाल से ऐसे संवाक्य बनते हैं जिन्हें अवलोकन की कसौटी लगाई जा सकती है और अपने अनुभव - अवलोकन की संगति लगाई जा सकती है। अवधारणाओं को सार्थ एवं स्पष्टीकरणात्मक तय करने के लिए एक अन्य कसौटी भी बनाई गई है। जिन घटनाओं का स्पष्टीकरण देने के लिए कोई अवधारणा प्रयुक्त की गई हो उन घटनाओं के अलावा अन्य घटनाओं की संगति भी उस अवधारणा से लगनी चाहिए। लेकिन कुछ अवधारणाएँ ऐसी होती हैं कि जिनके कारण ऐसे संवाक्य नहीं बन पाते कि जिन्हें अवलोकन की कसौटी लगाई जा सके और जिन घटनाओं का स्पष्टीकरण देने के लिए वे इस्तेमाल की जाती हैं, उन घटनाओं के अलावा अन्य घटनाओं की संगति उनके कारण नहीं लग पाती।[48]

कल्पनाशक्ति और चमत्कृतिशक्ति इलेक्ट्रान जैसी हैं या ईथर जैसी? इस प्रश्न का उत्तर हमें तब मिलेगा जब हम देखेंगे कि ये अवधारणाएँ क्या कार्य करती हैं। कोलरिज ने वात और पागलपन से उनकी तुलना कर हमारे लिए भी सुविधा उत्पन्न की है। मिल्टन और कौली की कविताओं में घटकों के बंध कैसे होते हैं, इसका वर्णन करते समय उसने कल्पनाशक्ति और चमत्कृतिशक्ति अवधारणाओं का उपयोग किया है। कल्पनानिष्ठ (imaginative) काव्य का बंध जीवंत होता है, उसके घटक ऐंद्रिय संबंधों से एक दूसरे के साथ बंधे होते हैं। उल्टे, चमत्कृतिनिष्ठ (fanciful) काव्य का बंध कल्पनाओं के अनुशासनहीन भीड़ की तरह होता है। कोलरिज का यह मंतव्य है। इसका अर्थ यह कि कोलरिज प्रथमत: और मुख्यत: दो प्रकार के कवियों का वर्णन कर रहा है। कल्पनानिष्ठ एवं चमत्कृतिनिष्ठ कवियों को कैसे पहचाना जाए? पहले प्रकार का कवि कल्पनानिष्ठ बंध निर्मित करता है और दूसरे प्रकार का कवि

चमत्कृतिनिष्ठ बंध निर्मित करता है। याने यहाँ भी ये अवधारणाएँ वर्णनात्मक कार्य करती हैं, स्पष्टीकरणात्मक नहीं। दो कवियों की अलग-अलग प्रवृत्तियों एवं शक्ति का वर्णन इस संज्ञा के माध्यम से होता है। कोई व्यक्ति गुस्सैल है और दूसरा शांत है। जिस तरह दो प्रवृत्तियों के व्यक्तियोंके वर्णन हैं उसी तरह "कल्पनानिष्ठ" एवं "चमत्कृतिनिष्ठ" दो कवियों की प्रवृत्तियों के वर्णन हैं। उनमें ऐसा अंतर क्यों आया? उसका कुछ स्पष्टीकरण होना चाहिए। लेकिन एक में कल्पनाशक्ति है और दूसरे में चमत्कृतिशक्ति है। ऐसा कहने से स्पष्टीकरण नही होता, क्योंकि कल्पनाशक्ति होने का अर्थ ही कल्पनानिष्ठ काव्यबंध रचने की प्रवृत्ति या शक्ति होना है। जिन घटनाओं के स्पष्टीकरण के लिए कल्पनाशक्ति की अवधारणा का उपयोग करना है उनसे अन्य किन्हीं घटनाओं का स्पष्टीकरण उस अवधारणा का इस्तेमाल कर नहीं मिलता। इसलिए कल्पनाशक्ति विशिष्ट प्रकार के काव्यबंध का कारण नहीं, वह संज्ञा केवल वर्णनात्मक है, यह वर्णन मुख्यत: विशिष्ट काव्यबंधों का होता है और बाद में वह कवि की प्रवृत्ति का, शक्ति का वर्णन माना जा सकता है। यही बात चमत्कृति शक्ति के बारे में भी कही जा सकती है।

मन के बारे में विचार करते समय हम एक कल्पनाचित्र का इस्तेमाल करते हैं। वह कल्पनाचित्र इस प्रकार है: अपने व्यक्तित्व के दो दालान हैं। एक दालान बाहर का याने शारीरिक हलचल का और दूसरा दालान अंदर का याने मानस व्यवहारों का। हम ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक शारीरिक हालचाल का नियंत्रण अंदर के दालान में चलता रहता है। हम पत्थर उठाते हैं तो हम कहते है कि पहले पत्थर उठाने की इच्छा अंदर के दालान में उत्पन्न हुई और बाद में वह कार्य हमारे हाथ से घटित हुआ। अपना मन मानो एक केंद्रीय दफ्तर है। वहाँ पहले घटनाएँ निश्चित होती हैं। और फिर उसके अनुसार बाहर के दालान में वे घटनाऍं घटित होती हैं।[49] इसी कल्पनाचित्र को गिल्बर्ट राइल अपने "द कान्सेप्ट ऑफ माईंड"[50] ग्रंथ में "the dogma of the ghost in the machine" कहता है। उसकी राय में यह कल्पनाचित्र गलत है और उसमें से दर्शन के कुछ व्याजप्रश्न उत्पन्न होते हैं। मानसिक व्यापार के बारे में बोलते समय हम जब मन:शक्तियों की अवधारणाएँ इस्तेमाल में लाते हैं। तब असल में हम मनुष्य की स्थिर प्रवृत्तियों (dispositions) के बारे में बोलते हैं। जब हम किसी की बुद्धि के बारे में, उसकी प्रखरता एवं मंदता के बारे में बोलते हैं, तब अन्यों को नहीं दीखेगा ऐसी किसी निजी जगह में बैठकर कार्य करनेवाली उसके मन की अदृश्य शक्ति के बारे में हम नहीं बोलते। हम बोलते हैं मनुष्य की विविध कृतियों के बारे में और ऐसी कृतियों में दिखनेवाले उसके कौशल अथवा अकौशल के बारे में। यह कहना कि मनुष्य बुद्धिमान है, प्रकारांतर से यह कहना है कि उसकी कृतियाँ विशिष्ट जाति की, उच्च दर्जे के कौशल से की गई हैं। मनुष्य की बुद्धि और मन

कहाँ हैं, मन की चिच्छक्ति कहाँ है। ये प्रश्न पूछना कोटि-संभ्रम (category mistake) में फँस जाना है। मेज कोने में है, वैसे मन भी किसी विशिष्ट स्थान पर है, ऐसा कुछ समझना गलत है। सही प्रश्न यह है कि मनुष्य की कौन-सी क्रियाओं को मानसिक व्यवहार की अवधारणाएँ लगाई जा सकती हैं? ये क्रियाएँ तत्त्वतः सब को दिखने वाली होने के कारण और मानसिक व्यवहार की अवधारणाएँ इन क्रियाओं को एवं उनमें दिखनेवाली प्रवृत्तियों को लागू होती हैं इसलिए मनुष्य की बुद्धिमत्ता, उसकी मंदता, इत्यादि बातें वे क्रियाएँ जहाँ घटित होती हैं, वहीं विद्यमान होती हैं। हमने ऊपर देखा है कि कोलरिज कल्पनाशक्तियों एवं चमत्कृतिशक्तियों के बारे में बोलता है तब मुख्यतः अलग-अलग प्रकार के काव्यबंधों के बारे में ही बोलता है। अगर ऐसा है तो ये चिच्छक्तियाँ कहाँ हैं? इस प्रश्न का उत्तर यही देना होगा कि "ये काव्यमें ही होती हैं।" अब यह सही है कि चिच्छक्तियों की भाषा का इस्तेमाल कर हम बहुत बार कवि की स्थिर प्रवृत्तियों एवं शक्तियों के बारे में बोलते हैं। लेकिन फिर भी उसके कारण कवि के काव्य के परे जाकर उसकी व्यावहारिक व्यक्तित्व जाँचने की जरूरत नहीं है। किसी डॉक्टर के हाथ में यश है, या पाककौशल में निपुण नारी के हाथ में स्वाद है कहना और कवि को कल्पनाशक्ति का वरदान प्राप्त है मानना, इनमें तत्त्वतः अतर नहीं है।

अब मम्मट ने काव्य के उद्देश्यों के बारे में जो लिखा है वह जरा देखें। उसने "काव्य प्रकाश" के पहले उल्लास में लिखा है:

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुभ्दवे ॥3॥"

यहाँ दैवायत्त एवं प्रयत्न--ि[illegible], दो प्रकार की चीजों का निर्देश मम्मट ने किया है। अदृश्य में जो होता है वह जन्मजात गुणों के रूप में दिखाई देता है। जन्मजात गुण तो होने ही चाहिए। लेकिन उसका कह[illegible] है कि उसी के साथ लोक, शास्त्र एवं काव्य का भी अध्ययन करना जरूरी है। ये अलग-अलग बातें एकत्रित रूप में कार्य करती है। इसलिए सबको काव्य हेतु कहा जाता है। असल में वह काव्य का ही वर्णन है। कवि में शक्ति एवं प्रतिभा होती है याने उसके काव्य की गुणवत्ता उच्च कोटि की होती है, उसकी कविता में चिरनावीन्य होता है, यही कहना है। कवि को व्युत्पन्न होना चाहिए। लोकव्यवहार को देखा होना चाहि[illegible] उसका शास्त्र एवं काव्य का अध्ययन चाहिए, ऐसा कुछ कहना यही कहना है कि उसका लोकव्यवहार का चित्रण विश्वसनीय होना चाहिए, उसके काव्य में व्युत्पन्नता दिखनी चाहिए। उसमें अन्य काव्यों की अनुगूँज सुनाई देनी चाहिए। अब यह सही है कि उपर्युक्त सभी घटक एक ही जाति के नहीं हैं। शक्ति अवलोकनक्षम वस्तु नहीं होती, उल्टे, कवि ने अध्ययन किया है अथवा नही यह अवलोकनक्षम प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। परंतु दोनों

मामलों में काव्य के बाहर के प्रमाणों की ओर जाने की आवश्यकता नहीं। काव्य में उपरोल्लेखित प्रमाण मिल जाएँ, तो पर्याप्त है।

7.8

(ख) ऊपर हमने देखा कि कवि के संबंध में पहले—पहले जो कुछ कहा जाता है वह असल में काव्य का वर्णन होता है। इसके साथ साधारणीकरण का सिद्धांत और काव्यव्यापार की अलौकिकता के सिद्धांत को लें तो पता चलता है कि संस्कृत में चरित्रात्मक समीक्षा क्यों नहीं है। साधारणीकरण के कारण अनुभव की आत्यंतिक वैयक्तितता गल जाती है और यद्यपि यह अनुभव मूलतः एक मनुष्य के जीवन में उत्पन्न हुआ, फिर भी काव्यव्यापार अलौकिक होने के कारण उस व्यक्ति का लौकिक जीवन देखना अनुचित ठहरता है। प्रा. एस. के. डे जैसे पंडित को इस बात के लिए दुख होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि के व्यक्तित्व की ओर बिलकुल ही उदासीनता बरती गई लेकिन जिन अवधारणाओं की चौखट में संस्कृत काव्यविचार का चिंतन हुआ और उसका विश्लेषण हुआ, उसमें कवि के व्यक्तित्व का विचार अनावश्यक ही था।

कवि के व्यक्तित्व का विचार दो तरह से हो सकता है— (1) पिछले अध्याय में हमने देखा कि प्रा. श्री. के. क्षीरसागर की राय में कवि का व्यक्तित्व है कवि का व्यावहारिक व्यक्तित्व। इसीलिए वे चरित्रात्मक समीक्षा—पद्धति को विशेष महत्त्व देते हैं। (2) इसके विपरीत, प्रा. एस. के. डे ने स्पष्टतः कहा है कि उन्हें कवि का व्यावहारिक व्यक्तित्व अभिप्रेत नहीं है। कलाकृति में जो एकात्मता (unity) होती है वह कलाकार के एकात्म व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है और इसलिए केवल कलाकार के व्यक्तित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।[51] पहले हम एस. के. डे की भूमिका का विचार करें।

प्रा. एस. के. डे कलाकार के व्यक्तित्व की अवधारणा किसलिए चाहते हैं? हर कलाकृति अन्य कलाकृतियों की अपेक्षा अलग होती है, हर कलाकृति का अपना एक वैशिष्ट्य होता है। कलाकृति के बारे में विचार करते हुए यह मुद्दा सदैव ध्यान में रखना होगा। लेकिन संस्कृत साहित्यशास्त्र की रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि, रस इत्यादि अवधारणाओं से कलाकृति के वैशिष्ट्य पर प्रकाश नहीं पड़ता। प्रा. डे का दावा है कि कवि के व्यक्तित्व की अवधारणा से यह प्रकाश पड़ेगा। लेकिन कुछ विचार करने पर इस दावे की निरर्थकता ध्यान में आएगी। कवि के व्यावहारिक व्यक्तित्व से कुछ भी कर्तव्य नहीं है, यह तो प्रा. डे ने बताया ही है। अगर वह व्यक्तित्व निकाल दें तो क्या रह जाता है? काव्य में दिखनेवाला वैशिष्ट्य। कालिदास के काव्य माघभारवी के काव्यों से भिन्न हैं। उनमें उनका खास अपना वैशिष्ट्य है। यह वैशिष्ट्य ही प्रा. डे को अभिप्रेत कालिदास का आत्मिक (ideal) या काव्यगत व्यक्तित्व है।

अगर ऐसा है तो "कालिदास के काव्य वैशिष्ट्यपूर्ण हैं" इस संवाक्य में "कालिदास के (आत्मिक या काव्यगत) व्यक्तित्व के कारण वे वैशिष्ट्यपूर्ण हुए हैं", संवाक्य से क्या अधिक योगदान होता है? अगर प्रस्तुत काव्य के वैशिष्ट्यों के अलावा अलग प्रमाणों से कवि के व्यक्तित्त्व की अवधारणा सिद्ध होती हो तो उपर्युक्त में से दूसरा संवाक्य पहले संवाक्य का स्पष्टीकरण सिद्ध होता है। लेकिन ऐसा अलग प्रमाण है, यह प्रा. डे ने नहीं दिखाया। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि के व्यक्तित्त्व के बारे में बोलना याने दूसरे शब्दों में काव्य के वैशिष्ट्य के बारे में बोलना है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्यों के वैशिष्ट्यों को महत्त्व नहीं दिया गया, यह सही होगा भी। लेकिन यह कहना गलत है कि वह इसलिए घटित हुआ क्योंकि उसमें कवि के व्यक्तित्त्व का विचार नही हुआ। कवि व्यक्तित्त्व की अवधारणा काव्य वैशिष्ट्य की अवधारणा से अलग होती तो ही प्रा. डे की शिकायत सही सिद्ध होती। लेकिन वह अलग नहीं है, यह हमने देखा।

अब हम प्रा. क्षीरसागर की भूमिका का संक्षेप में विचार करेंगे। इसके अनुसार वाङ्.मय कृति कलाकार का व्यावहारिक जीवन प्रतिबिंबित करती है और उसी में उसका महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि वाङ्.मय के अनुभव केवल कलाकार के अपने व्यावहारिक जीवन से ही लिऐ जाते हैं। इसपर यह कहा जा सकता है कि कुछ वाङ्मय—कृतियों के बारे में यह सही हो तो भी समूचे वाङ्मय के बारे में यह सही नहीं है। कभी कलाकार अपने जीवन के अनुभवों का उपयोग करेगा तो अन्य अवसरों पर औरों के अनुभवों का उपयोग करेगा। अगर कलाकार के पास अन्यो के अनुभवों का उपयोग करने की सामर्थ्य न हो तो बड़ी अड़चन पैदा होगी। उदाहरणार्थ, किसी भी पुरुष को विधवा के दु:ख पर लेखन करना संभव नहीं होगा। फिर हरिभाऊ आपटे के उपन्यासों का क्या किया जाए, यह हमें समझ में नहीं आएगा। लेकिन अगर कलाकार के पास महानुभव—क्षमता हो, वह अगर दूसरों का जीवन बिलकुल निकट से देख सके तो उपर्युक्त अड़चन नहीं आएगी। मतलब कुछ वाङ्मय कृतियों का आशय कलाकार के व्यक्तिगत जीवन का न होकर उसने दुनिया में क्या देखा-भाला है, इसका होता है, यह मान्य करना होगा। कभी कलाकार के पास निर्मिति के पहले अनुभव न होना भी संभव है। कीट्स की "The Cricket and the Grasshopper" कविता निर्मितिपूर्व अनुभव का अभाव होते हुए भी रची गई है और वह श्रेष्ठ भले ही न हो; अच्छी कविता निश्चय ही मानी जाती है।[32]

ऊपर हमने स्वीकार किया है कि वाङ्मय का उद्भव यद्यपि कवि के अपने भावनात्मक जीवन में नहीं हुआ हो तो भी कुछ वाङ्मय कृतियों का उद्गम वहाँ होना संभव है। फिर उन कृतियो के लिए चरित्रात्मक प्रणाली का उपयोजन कहाँ तक समुचित है? इसपर उत्तर है कि कलाकार अपनी जीवन—सामग्री कला—सृजन के लिए भले

ही उपयोग में लाता हो, वह उसपर बहुत संस्कार करता है। मूल अनुभव जैसे का तैसा नहीं उपयोग में लाया जाता। अगर कलाकृति में संस्कारित अनुभव इस्तेमाल में लाया गया हो तो फिर मूल असंस्कारित अनुभव की खोज करने का व्यर्थ प्रयास क्यों?

अब एक और शक्यता का विचार करना है। मान लीजिए कि किसी कलाकार ने अपने मूल अनुभव का असंस्कारित रूप में ही कलाकृति में उपयोग किया तो इस संदर्भ में चरित्रात्मक समीक्षा–पद्धति समुचित सिद्ध होगी। फिर यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है। इस पद्धति का उपयोग कलाकृति के आशय का आकलन करने तक ही सीमित रहेगा। समूची कलाकृति का मूल्यांकन करने के लिए उसका कितना उपयोग होगा? मान लीजिए किसी का लेखन शैली के कारण कलात्मक कहा गया। अब उसका आशय कहाँ से प्राप्त हुआ, इसकी जानकारी से शैली पर क्या प्रकाश पडेगा? या समझिए कोई कविता उसकी भावनाओं की वैशिष्ट्यपूर्ण बुनावट के कारण सुंदर मानी जा रही हो तो ये घटक-भावनाएँ कहाँ से मिलीं, यह जानने से उस बुनावट के बारे में विशेष रूप में क्या पता चलेगा?

(ग) कुछ मूल्य–निकष ऐसे हैं कि उनके उपयोग के लिए चरित्रात्मक समीक्षा आवश्यक सिद्ध होने की शक्यता है। इस शक्यता का हम विचार करेंगे।

कलाकृति के आशय के बारे में बोलते समय बहुत बार जिन अवधारणाओं का उपयोग हम करते हैं, उन्हें कला के बाहर, जीवन के संबंध में भी हम उपयोग में लाते हैं। उदाहरणार्थ "परिपक्वता" (मराठी मे 'प्रगल्भता') संज्ञा को लीजिए। इस संज्ञा का केवल कलाक्षेत्र तक सीमित अर्थ हो सकता है। फर्ज कीजिए, हम किसी कलाकार की तकनीक के बारे में बात कर रहे हैं। उसकी एक कलाकृति अन्य कलाकृतियों की अपेक्षा तकनीक की दृष्टि से अधिक परिपक्व हो सकती है। उदाहरणार्थ, "अ मिड्समर नाइट्स ड्रीम" की अपेक्षा "ऐज यू लाइक इट" सुखात्मिका तकनीक की दृष्टि से अधिक परिपक्व है। लेकिन कलाकृति के आशय के बारे में बोलते समय हम परिपक्व शब्द का केवल उतना संकीर्ण अर्थ नही करते। बहुत बार अपने मन की, जीवन–दृष्टि की, जीवन–मूल्यों की परिपक्वता" अभिप्रेत रहती है। जिसने जीवन का खूब अनुभव लिया है, जीवन पर बहुत चिंतन किया है, जिसको भी जीवन दृष्टि में हर चीज को समुचित स्थान मिला है, ऐसे व्यक्ति को हम "परिपक्व" मनुष्य कहते हैं। वाड्मय के आशय के बारे में बोलते समय भी इसी अर्थ में हम "प्रगल्भ" शब्द का उपयोग करते हैं। अब प्रश्न यह है कि वाड्मयीन आशय के बारे में बोलते समय उसकी परिपक्वता निश्चित करने के लिए हम कौन–सा प्रमाण उपयोग में लाते हैं? जरा विचार करने पर ध्यान में आ जाएगा कि हमारे लिए केवल वाड्मयीन प्रमाण ही पर्याप्त प्रतीत होता है। जब हम कहते हैं कि उपन्यासकार तोलस्टोय की जीवन–

दृष्टि व्यापक एवं परिपक्व है तब उसके उपन्यासों का जीवन-दर्शन ही समुचित और पर्याप्त ठहरता है। प्रत्यक्ष जीवन में तोलस्टोय परिपक्व व्यक्तित्त्व का व्यक्ति था या नहीं, इस बात से हमें लेना-देना नहीं होता। समझिए, यह सिद्ध हुआ कि तोलस्टोय नामक ऐतिहासिक व्यक्ति सचमुच परिपक्व नहीं था तो भी हम यह कहेंगे कि उसके उपन्यासों में जीवन-दृष्टि परिपक्व है। मैथ्यू आर्नाल्ड के काव्य में दुख, अकेलापन, निराशा बहुत है, परंतु अपने व्यावहारिक जीवन में, कम-से-कम जवानी में वह वैसा नहीं था। जब उसकी पहली पुस्तक प्रकाशित हुई तब उसके निकट के लोगों को आश्चर्य का धक्का लगा, उसकी कविताओं में और व्यावहारिक जीवन में इतना अंतर था, लेकिन इस कारण उसके काव्य की निराशा न कम होती है न झूठी सिद्ध होती है। इसका अर्थ यह है व्यावहारिक जीवन की अवधारणाएँ काव्य के आशय के बारे में बोलते समय उपयोग में लाई गई तो भी उसके उपयोग के लिए आवश्यक प्रमाण काव्य का याने अंतर्गत ही होता है।

यहाँ एक अलग प्रश्न उपस्थित होता है। अगर आर्नाल्ड के जीवन में और उसकी कविता में इतना अंतर है तो क्या उसकी कविता में मन:पूर्वकता (sincerity) ईमानदारी (honesty) नहीं है? उसकी कविता का अनुभव क्या सच्चा (authentic) नहीं है? इसपर एक उत्तर है कि इन अवधारणाओं को केवल कलाक्षेत्र तक सीमित अर्थ दिया जा सकता है। इस तरह कला और व्यावहारिक जीवन का संबंध तोड़ा जा सकता है। इसके लिए एक उदाहरण लेंगे। "ईमानदारी" संज्ञा को प्राय: नैतिक अर्थ दिया जाता है। लेकिन समझ लीजिए किसी नाटककार ने बेफिक्री से कलात्मक दृष्टि से फालतू संवाद नाटक में डाल दिए तो हम कहेंगे कि उसमें ईमानदारी नहीं है। लेकिन यह 'ईमानदारी' न होना याने कला-मूल्यों के साथ प्रतारणा करना होगा, नैतिक मूल्यों से प्रतारणा नहीं। 'ईमानदारी' का यह अर्थ खालिस अथवा मुख्यत: नैतिक अर्थ नहीं कहा जा सकता।

लेकिन कलाकृति के बारे में बोलते हुए बहुत बार हम केवल नैतिक अर्थ में ईमानदारी शब्द का प्रयोग करते हैं। कलाकार अपने अनुभव के साथ प्रतारणा कर सकता है, सत्य से प्रतारणा कर सकता है। ऐसा करने पर हम कहते हैं कि उसके लेखन में ईमानदारी नहीं है। लेकिन किसी कलाकार ने ऐसा किया है, यह हम कैसे सिद्ध करते हैं? उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि हम कलाकृति के बाहर जाएँ। समझ लीजिए, किसी ने समाज का चित्रण किया है और समाज की हमें जो जानकारी है उसके अनुसार वह चित्र असत्य है, तो यहाँ हम कह सकते हैं कि कलाकार को समाज की स्थिति की जानकारी ही नहीं है या उसमें उतनी क्षमता भी नहीं है। लेकिन बहुत बार ऐसा घटित होता है कि कलाकृति के किसी भाग में समाज का चित्रण इतना वास्तविक होता है कि यह कहा नहीं जा सकता कि कलाकार को समाज की

जानकारी नहीं है अथवा उसमें उसको जानने की क्षमता नहीं है। लेकिन उसी कलाकृति के अन्य भाग में चित्रण असत्य होता है। यहाँ ऐसा कहा जा सकता है कि कलाकार सत्य के साथ प्रतारणा कर रहा है। डिकन्स के उपन्यासों में बहुत बार ऐसा होता है। उदाहरणार्थ उसने "डेविड़ कॉपरफील्ड" और "ऑलिवर ट्विस्ट" उपन्यासों में गरीब बच्चों के खराब हालातों का अच्छा वर्णन किया है। लेकिन इन उपन्यासों को उसने जो मोड़ दिया है वह विश्वसनीय नहीं लगता। ऐसे बच्चों के जीवन में क्या घटित होना संभवनीय है या अटल है यह डिकन्स निश्चय ही जानता था। लेकिन विशिष्ट स्वप्नरंजक या नैतिक उद्देश्य मन में रखकर उसने सत्य के साथ प्रतारणा की, इस कथन की सत्यता के लिए उसके उपन्यासों में ही प्रमाण प्राप्त होते हैं। उसके लिए लेखक के जीवन की ओर जाने की जरूरत नहीं है।

लेखक अपने अनुभव से ईमानदार रहा है या नहीं, यह निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है। क्योंकि इस अनुभव में एक भाग ऐसा होता है जो औरों के ज्ञान का विषय बनना संभव नहीं। उदाहरणार्थ, समझ लीजिए कि लेखक ने कहा कि कल मैंने एक स्वप्न देखा और वही स्वप्न मैं अपनी नई कविता में कह रहा हूँ. यहाँ लेखक जो कहेगा उसपर विश्वास करना पड़ेगा। लेकिन हर बार यह अड़चन आती ही है, ऐसा नही। लेखक, जब ऐसे अनुभवों के बारे में जो अन्यों को भी मिल सकते हैं, (उदाहरणार्थ, माधवराव पटवर्धन के "हे काय असें होई? साशंक धपापे ऊर" कविता का अनुभव)बताने लगता है, तो कभी-कभी उसपर अपने अनुभवों के साथ प्रतारणा करने का आरोप लगाया जा सकता है। यह आरोप हम किस बल पर कर सकते हैं? जीवन की विविध बातों के बारे में लोगों की प्रतिक्रियाएँ कैसी होती हैं, यह हमें मालूम होता है। यह सही है कि सबकी प्रतिक्रियाएँ समान नहीं होतीं। लेकिन प्रतिक्रियाओं के वर्ग हो सकते हैं और लेखक की प्रतिक्रिया इनमें से किसी एक वर्ग में फिट हो जाती है। अगर वह वैसी हो तो हम उसे संभवनीय प्रतिक्रिया कहते हैं। अब यह सही है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच फर्क होने के कारण एक वर्ग की सभी प्रतिक्रियाएँ समान नहीं होंगी। अगर ऐसा हो तो कलाकृति में नावीन्य नहीं पैदा होगा, लेकिन वह बिलकुल ही दुनियादारी से अलग हो तो विश्वसनीय नहीं होगी। हाँ, दुनियादारी से अलग किस्म की प्रतिक्रिया के कारण यह नहीं कि हर समय ईमानदारी का अभाव सिद्ध होगा। लेकिन ऐसे समय हमारी किमान अपेक्षा यह रहती है कि उस अनुभव में अंतर्गत संगति होनी चाहिए। लेखक का अनुभव सचमुच दुनिया से अलग न होगा तो लेखक द्वारा ली गई वह नकली मुद्रा होगी और ऐसी मुद्रा बहुत समय तक बनाए रखना मुश्किल होता है। वह ऐसा कुछ लिख जाता है कि जिसके कारण अंतर्गत संगति बिगड़ जाती है और ध्यान में आता है कि उसने अपने अनुभव से प्रतारणा की है। शैली या तकनीक की आतिशबाजी और विक्षिप्तता जहाँ होगी, वहाँ अंतर्गत संगति

के बिगड़ जाने की शक्यता बहुत होती है।

उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि यहाँ "ईमानदारी", "सच्चाई" इत्यादि नीति–क्षेत्र की अवधारणाओं का उपयोग हम कलाकृति के बारे में बोलते हुए कर रहे हैं। लेकिन साथ-साथ यह भी ध्यान में आएगा कि कवि की ईमानदारी या बेईमानी सिद्ध करने के लिए आवश्यक प्रमाण हमें कलाकृति में ही प्राप्त होता है उसके लिए कवि के व्यावहारिक जीवन की ओर जाने की जरूरत नहीं।

7.9

(घ) प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में हमने 'रच जाना' (घटित होना) और रचना (गढ़ना) में अंतर देखा। अगर काव्य 'रचा' हुआ होगा तो इस प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए कि वैसा क्यों रचा। यह उत्तर उससे मिलना चाहिए जिसने कविता को रचा। सामान्यत: यही अपेक्षा होती है। रचने की अवधारणा का उपयोग करने पर साध्य और साधन दोनों अवधारणाएँ सहज ही आ जाती है। कवि विशिष्ट आशय संप्रेषित करना चाहता है, विशिष्ट प्रभाव करना चाहता है, इसके लिए वह अलग-अलग साधनों का इस्तेमाल करना चाहता है। काव्य में क्या कहना है और यह कैसे कहा गया है, ऐसे प्रश्न हम पूछते है, इसका कारण यह है कि साध्य–साधन की अवधारणाएँ बिलकुल स्वाभाविक रूप में हम इस्तेमाल में लाते है। अगर ऊपर के प्रश्न पूछने हों तो कविता पढ़ने के बाद ये प्रश्न पूछने चाहिए कि कवि क्या साधना चाहता है और उसे साधने के लिए उसने किन साधनों का उपयोग किया हैं। हम ऐसे प्रश्न पूछते भी हैं। हम आगे चलकर ऐसा भी मानते हैं कि साध्य क्या है। इस संबंध में मत बनाते समय हमें कवि के मंतव्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। मान लीजिए कि हमें किसी कविता के दो अर्थ सूझ गए। उनमें से कौन–सा अर्थ सही है यह निश्चित करने के लिए हम कवि की राय पूछते हैं और उनका बताया हुआ अर्थ प्राय: सही मानकर स्वीकार भी करते है। इसका कारण यह है कि हम काव्य को निवेदन का ही एक प्रकार मानते हैं। पत्र, पत्रक, भाषण इत्यादि अन्य निवेदन संबंधी हमारे मन में संभ्रम पैदा होने पर हम इसी मार्ग का अवलंबन करते हैं। कविता के बारे में भी हम कवि के उद्देश्य के बारे मे पूछताछ करते है और यह पूछताछ कविता लिखनेवाले से ही करते हैं। यह पूछताछ करना कहाँ तक सही है? कवि के द्वारा बताया अर्थ क्या हमारे लिए बंधनकारी है?

इस विषय की चर्चा सी. एस. ल्युइस एवं इ. एम. डब्ल्यू टिलियार्ड के बीच 1935 के आसपास प्रारंभ हुए विवाद से हुई। इस वाद की कुछ जड़ें टी. एस. ईलियट के "ट्रेडिशन ऐंड दि इंडिविजूअल टैलेंट" लेख में दीखती हैं। लेकिन खुले रूप में संघर्ष ल्युइस और टिलियार्ड के "द पर्सनल हेरसी" में प्रारंभ हुआ। इसके बाद कुछ समय निकल जाने पर विम्सैट और बीअर्डस्ले के "दि इन्टेन्शनल फैलसी" नामक बहुचर्चित

लेख से इस वाद में पुन: रंगत आई। टिलियार्ड एवं ल्युईस के वाद में मुख्यत: दो मुद्दों की चर्चा हुई। काव्य में कवि के व्यक्तित्त्व का प्रतिबिंब पड़ता है या नहीं और अगर पड़ता हो तो क्या उस काव्य के मूल्य पर उसका कुछ परिणाम होता है ? टिलियार्ड का मत यह है कि हर कलाकृति पर कलाकार के विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप रहती है और उसके कारण काव्य का मूल्य बढ़ जाता है। ल्युइस का कहना यह है कि हम काव्य को पढ़ते समय कवि के व्यक्तित्व के चश्मे से दुनिया की ओर देखते हैं। उसमें जो दुनिया दिखती है वह महत्त्वपूर्ण है। चष्मे की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।[53] जिन लोगों को काव्य कैसे पढ़ना चाहिए, यह समझ में नहीं आता वे ही लोग कवि के व्यावहारिक जीवन के बारे में अनावश्यक पूछताछ करते हैं।[54] यहाँ एक बात ध्यान में रखनी होगी। वह यह कि यद्यपि ऐसा लग सकता है कि टिलियार्ड चरित्रात्मक (जीवनीपरक) समीक्षा–पद्धति का समर्थन कर रहा है, फिर भी वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। उसकी राय में हर काव्य में कवि का व्यक्तित्त्व प्रतिबिंबित होता है, लेकिन यह व्यक्तित्त्व कवि का व्यावहारिक व्यक्तित्त्व नहीं। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि हर काव्य व्यक्तित्त्वपूर्ण हो, ऐसी उसकी अपेक्षा है। उस पर यह कहा जा सकता है कि काव्य व्यक्तित्त्वपूर्ण या वैशिष्ट्यपूर्ण है इससे उसमें किसी का व्यक्तित्त्व प्रतिबिंबित हुआ है, ऐसा समझना गलत है।[55] ठीक इसी कारण से प्रा. एस. के. डे की संस्कृत साहित्यशास्त्र के संबंध में शिकायत ठीक नहीं है, यह हमने ऊपर देखा ही है।

विम्सैट और बीअर्डस्ले का कहना यह है कि काव्य–सृजन की प्रक्रिया उद्देश्यपूर्वक होती है, लेकिन इस उद्देश्य का प्रमाण काव्य में ही खोजना होगा।[56] उनका अभिप्राय संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि के व्यावहारिक जीवन एवं व्यक्तित्त्व से हमें कुछ भी कर्तव्य नहीं। गीतिकाव्य (lyric) में भी व्यावहारिक व्यक्तित्त्व की व्यंजना होती है, ऐसा समझने का कारण नहीं है। "Frailty thy name is woman?" उक्ति शेक्सपिअर की अपनी राय है, ऐसा हम नहीं मानते, हम मानते हैं कि वह हैम्लेट पात्र की राय है, उसी तरह " We mortals millions alone" उक्ति को आर्नोल्ड् नामक व्यावहारिक व्यक्ति की राय न मानकर काव्यगत कवि का मत मानना होगा। कविता के बाहर की चीजें अनावश्यक हैं। उदाहरणार्थ, कोई कवि देशभक्तिपरक कविता करते समय देशविरोधी कार्रवाइयाँ कर रहा था, अत– एव उसका काव्य फालतू है कहना गलत होगा। असल में ईमानदारी, सच्चाई इत्यादि अवधारणाएँ इस्तेमाल करनी ही हों तो यह सावधानी बरतनी होगी कि काव्यांतर्गत प्रमाणों के बाहर हम नहीं जाएँ। कवि का (एक व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में) उद्देश्य क्या था, यह जानने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि एक बार कविता लिखी गई तो फिर कवि का और कविता का संबंध खत्म हो जाता है। अगर उद्देश्य की अवधारणा

का उपयोग करना हो तो काव्य के बाहर का कोई प्रमाण स्वीकार नहीं करना चाहिए। अमुक शब्द लिखते समय मेरे मन में अमुक अर्थ था ऐसा कुछ कवि का मंतव्य हो, तो उसे विशेष महत्त्व देने की जरूरत नहीं है। क्योंकि कविता भाषा में होती है और लोकव्यवहार के एक अंग के रूप में भाषा सामाजिक (public) होती है। उसके इस्तेमाल के बारे में व्यक्तिनिरपेक्ष, सार्वजनिक नियम होते हैं। कवि ने कविता लिखी तो नाल-कटे बच्चे की तरह उसे स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त होता है। भाषा के लोकव्यवहार में वह एक स्वयंपूर्ण वस्तु के रूप में विचरती है। "कविता के अर्थ होता है" कहने की अपेक्षा केवल "कविता होती है" कहना अधिक युक्तियुक्त है। कविता निरर्थक नहीं होती। अर्थ उसका अवश्य होता है लेकिन वह अर्थ कविता में देहीभूत हुआ होता है। अच्छा, हम कवि से पूछें कि उसकी कविता का क्या अर्थ है, तो वह क्या बताएगा? वह कविता का विषय क्या है यह बताएगा अथवा उसका गद्य–तर्जुमा बताएगा। लेकिन कविता याने कविता का विषय नही, न उसका गद्य–तर्जुमा ही है।

कवि के उद्देश्य को लेकर होनेवाले वाद में समीक्षक दो भूमिकाएँ लेते हैं। पहली भूमिका यह कि उद्देश्य की अवधारणा केवल कारीगरी के क्षेत्र में ही प्रस्तुत है, कला के क्षेत्र में वह कतई उपयोगी नहीं। कांट के अनुसार अगर ललित कला, कला होगी तो उसकी उद्देश्यपूर्ण रचना उद्देश्यपूर्वक निर्मिति होती है, यह मानना होगा। अगर वह सुंदर होगी तो उसकी उद्देश्यपूर्ण रचना हेतुशून्य लगनी चाहिए। कला प्राकृतिक सौंदर्य की तरह उद्देश्यहीन होगी तभी वह सुंदर ठहरती है। इसका एक अर्थ यह कि कलाकार का उद्देश्य कलाकृति में ही देहीभूत होना चाहिए। साध्य एवं साधन, सामान्य एवं विशेष एकदूसरे में पूर्णत: विलीन होने चाहिए। कारीगरी में ऐसा नही होता, ऐसा केवल कलाकृति में ही होता ह और इसी में कलाकृति का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। यहाँ और एक मुद्दा उत्पन्न होता है। कलाकृति को ऐंद्रिय बंध माना जाए तो क्या (What) एवं कैसे (How) यह भेद नहीं किया जा सकता। अगर यह सही है तो काव्य में क्या कहा है यह मालूम करने के लिए काव्य को ही पढ़ना चाहिए। दूसरा कोई रास्ता उपलब्ध नहीं है।

दूसरी भूमिका यह है कि "क्या" एवं "कैसे", "साध्य" एवं "साधन" भेद काव्य के संदर्भ में निश्चित ही संगत हैं लेकिन ऐसा कहने पर चरित्रात्मक समीक्षा–प्रणाली का उपयोग अपरिहार्य ही है, ऐसा नहीं। क्योंकि उपर्युक्त भेद मान्य करने पर यह आग्रह रखा जा सकता है कि साध्य क्या है और उसके लिए कवि ने किन साधनों का उपयोग किया है, यह तय करने के लिए आवश्यक प्रमाण उसके काव्य में ही खोजने चाहिए।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यमीमांसा में चरित्रात्मक (जीवनीपरक) समीक्षा–पद्धति को स्थान नहीं है। उल्टे विश्वचैतन्यवादी मीमांसा की

चौखट त्यागने पर चरित्रात्मक समीक्षा–प्रणाली की अपरिहार्यता स्वीकार करनी ही होगी, ऐसा नहीं।

उपर्युक्त कुल विवेचन से जीवनीपरक समीक्षा–प्रणाली के बारे में ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि यह पद्धति समीक्षा–व्यापार के लिए जरूरी नहीं। समीक्षा का मूल उद्देश्य मूल्यमापन करना है और वह मूल्यांकन निकषों की सहायता से करना होता है। इसके लिए कलाकार के जीवन में झाँकने की आवश्यकता नहीं। मूल्यांकन के बाद कार्यकारण भाव पर आधारित कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उन्हें हल करने की ओर अनेक लोगों को रुझान होता है। जिन्हें इन प्रश्नों में रस हो वे उन्हें अवश्य हल करें। लेकिन वे कलाकृति के प्रश्न न होकर कलाकार के लौकिक जीवन के प्रश्न हैं, यह उन्हें नही भूलना चाहिए। इस पुस्तक के पहले अध्याय में जो दो प्रश्नोत्तर दिए हैं उनमें से दूसरे प्रश्नोत्तर की एवं चरित्रात्मक समीक्षा की जाति एक है, यह बल देकर कहना आवश्यक है। निम्न–लिखित प्रश्नोत्तरों की ओर देखने पर सहज ध्यान में आएगा–

(1) "यह काव्य घटिया है।"

"क्यों?" (यह किस निकष के आधार पर तय होता है?)

"उसमें बहुत भावुकता है"।

(2) "क्यों?" (यह भावुकता कैसे पैदा हुई?)

"इसी समय कवि के भाव जीवन में अनेक तूफान उठे थे। 'क्ष' नामक स्त्री इसी समय उसके जीवन में आई थी"

पहले प्रश्नोत्तर मे निकषों का उपयोग है, इसलिए वह समीक्षा में संगत है। इस प्रश्नोत्तर के साथ ही समीक्षा का कार्य समाप्त होता है। दूसरे प्रश्नोत्तर में कार्यकारणभाव को मुख्य स्थान है। उसमें उत्तर निकष के रूप में न होने के कारण वह समीक्षा के चौखटे के बाहर है। उसका केवल चरित्र में महत्त्व है, काव्य–समीक्षा में नही।

प्रस्तुत विवेचन में हमने "रच जाना" और "रचना" का भेद सतत सामने रखा था। कलाकृति घटित होती है और रची भी जाती है। जैसा कि छठे अध्याय में हमने देखा है कि कलाकृति में घटित होने का भाग जितना अधिक उतनी कलासृजन की प्रक्रिया लौकिक अधिक क्योंकि वह अनेक प्राकृतिक क्रियाओं में से एक प्रक्रिया हो जाती है। कला–निर्माण का रहस्य वैज्ञानिकों को अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। फिर भी वह कभी-न-कभी निःसंदेह प्राप्त होगा। लेकिन सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से यह खोज कब महत्त्वपूर्ण होगी? जब निर्मिति–प्रक्रिया को सौंदर्य-निकषों में स्थान मिलेगा। जब तक हम ऐसा नहीं कहते कि "अमुक वस्तु सुंदर कलाकृति है क्योंकि वह अमुक प्रक्रिया के फलस्वरूप बनी है।" तब तक निर्मिति प्रक्रिया और निकषों में एक तार्किक दरार

रहेगी ही। कलाकार को प्राकृतिक प्रक्रियाओं से बहुत कुछ प्राप्त होता है। लेकिन उसका क्या करना है, उसमें से कितना लेना है, कितना छोड़ना है, कितना बदलना है, सब घटकों की रचना कैसे करनी है, इसे वह अपने मन में स्पष्ट या अस्पष्ट स्वरूप में विद्यमान सौंदर्य–निकषों में आधार से ही तय करता है। याने कलाकृति के सौंदर्यमूल्य की दृष्टि से निर्मिति–प्रक्रिया की जानकारी हल्की सिद्ध होती है।

लेकिन इसके लिए एक अपवाद है। अगर (अ) कलाकार की शक्तियों और (आ) कलाकार के उद्देश्यों को कला के मूल्यांकन में स्थान दिया जाए (इ) लौकिक जीवन में मूल्यांकन के लिए जिन अवधारणाओं का उपयोग किया जाता है, उनका उपयोग कलाकृतियों के मूल्यांकन के लिए किया जाए अथवा (ई) कलाकार का व्यक्तित्त्व कलाकृति में प्रतिबिंबित होता है, ऐसा माना जाए तो निर्मिति–प्रक्रिया मूल्यांकन में संगत ठहरने की शक्यता है। लेकिन हमने यह देखा कि कल्पनाशक्ति, कवि का उद्देश्य, कलाकार की मन:पूर्वकता, सत्यता, उसका व्यक्तित्व इत्यादि अवधारणाओं का उपयोग करते समय भी काव्य के बाहर जाना आवश्यक होता है, ऐसा नहीं। मतलब ये अवधारणाएँ इस्तेमाल करने पर सर्जन् प्रक्रिया और सर्जक के संबंधों का विचार संगत सिद्ध होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

विश्वचैतन्यवादियों के सैद्धांतिक चौखट में सर्जन् प्रक्रिया एवं सर्जक से संबंधित विचार को स्थान नहीं है। यह हमने पहले ही देखा है। सर्जन् प्रक्रिया का विचार सौंदर्यमूल्यों के संदर्भ में संगत नही, ऐसा निष्कर्ष हमने निकाला। इससे क्या यह सिद्ध होता है कि संघर्ष की पहली बारी में अलौकिकतावादियों ने लौकिकतावादियों को मात दी है? यह निश्चित है कि लौकिकतावादियों का हमला अलौकिकतावादियों ने लौटा दिया। लेकिन लौकिकता दियों ने भी कुछ स्थान अपने हाथ में सुरक्षित रखे हैं। उदाहरणार्थ :– मन:पूर्वकता, सच्चाई इत्यादि अवधारणाओं का उपयोग करते समय काव्य–निर्माता के व्यावहारिक जीवन की ओर जाना पड़ता है, यह आग्रह यद्यपि उन्हें छोड़ना पड़ा फिर भी इन अवधारणाओं का इस्तेमाल करने के संबंध में अपना आग्रह उन्हें नहीं छोड़ना पड़ा। काव्यांतर्गत प्रमाणों के आधार पर इन अवधारणाओ का उपयोग करना शक्य है। कुछ अतिरेकी सौंदर्यशास्त्रियों का यह मत है कि ये सभी अवधारणाएँ असंगत हैं, फिर भी ये अवधारणाएँ उतनी सतही नहीं हैं। प्रत्यक्ष समीक्षा में उनका उपयोग होता है। महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि ये अवधारणाएँ लौकिकतावाद की ओर उन्मुख हैं। इसलिए अलौकिकतावादियों की पुख्ता दीवार में, छोटा–सा ही क्यों न हो, छेद पड़ गया है। यह मान्य करना होगा।

□□

अध्याय 8
सौंदर्यास्वाद विचार

8.1

कला का विचार कलाकार की तरफ से किया जाता है और आस्वाद की दृष्टि से भी। कला का मन पर पड़ने वाला प्रभाव, आस्वाद की विशिष्ट प्रक्रिया एवं उसमें अंतर्भूत विशिष्ट दृष्टिकोण (attitude) का अनेकों ने विचार किया है और उस पर सौंदर्य एवं कला के स्वरूप के संबंध में कुछ सिद्धांत भी खड़े किये हैं। कला की सृजन प्रक्रिया से आस्वाद प्रक्रिया अधिक व्यापक विषय है, क्यों कि सृजन केवल कलाकृति का ही हो सकता है लेकिन आस्वाद किसी भी सुंदर चीज का संभव होता है। कलाकृति की तरह प्रकृति की सुंदर वस्तुओं का आस्वाद लिया जा सकता है। इस प्रकरण में आस्वाद के सम्बन्ध में कुछ सिद्धांतों का विचार करना है।

पहले हम सौंदर्य सुखवाद (aesthetic hedonism) का विवेचन करेंगे। इसका वैशिष्ट्य यह है कि सामान्य व्यक्ति को भी यह सिद्धांत सहज ही सूझता है। यह पूछने पर कि फड़के के उपन्यास तुम क्यों पढ़ते हो? सैध्दांतिक समीक्षा के संस्कारों से संपन्न व्यक्ति शायद कहेगा, "उनको पढ़ने से मुझे आनंद मिलता है।" ऐसे संस्कारों से वंचित व्यक्ति "आनंद" "सुख" इ। शब्दों का प्रयोग न कर शायद इतना ही कहेगा कि "वे मुझे अच्छे लगते हैं। "अच्छे लगने" की अवधारणा सुखवाद के बहुत ही निकट है। सुखवाद के सिध्दांत का वैशिष्ट्य यह है कि इसका मोह सामान्य लोगों तक ही सीमित नहीं है, कांट और बोसाके जैसे दार्शनिकों ने, जो सुखवादी नहीं हैं, इस अवधारणा का उपयोग किया है। सौंदर्य-समीक्षकों की भाँति आलोचक भी इस मोह से अपने को बचा नहीं पाये। यह प्रश्न उठानेवाले आलोचक "विषादांत (शोकात्म) नाट्य से आनंद क्यों होता है?" मानो यह मानकर ही चलते हैं कि विषादान्त नाटक अगर कला का प्रकार है तो उससे आनंद मिलना ही चाहिए। मतलब यह है कि उनके प्रश्न में ही सुखवाद अन्तर्भूत है।[1]

8.2

अब हम इन प्रश्नों का विचार करेंगे: क्या सुख को सौंदर्य का निकष कहा जा सकता है? क्या सुख सौंदर्य का एकमात्र निकष निश्चित हो सकता है? अगर सुख सौंदर्य का निकष नहीं है तो कम-से-कम क्या वह सौंदर्यानुभूति का आवश्यक घटक हो सकता है?

अगर सुख सौंदर्य का एकमात्र निकष होगा तो जो-जो सुखद है वह सब सुंदर मानना पड़ेगा। इस पर आक्षेप यह है कि यह कहना उचित नही जान पड़ता। सुंदर वस्तु सुखद होगी लेकिन उसका सौंदर्य केवल उसकी सुखदता पर निर्भर है, सुंदर होने के लिए सुखदता के अलावा और कुछ गुणविशेष होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख सौंदर्य का एकमात्र निकष नहीं है। सौंदर्य के अनेक आवश्यक घटकों में से एक। इतना ही सुखदता के बारे में कहा जा सकता है। मान लीजिए कि हमने यह स्वीकार कर लिया है कि सुखद वस्तु केवल सुखद होने के कारण सुंदर नहीं हो सकती। लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु सुखद नहीं वह सुंदर हो ही नहीं सकती? हर सुखद वस्तु सुंदर न भी हो, तो भी क्या हर सुंदर वस्तु सुखद होती ही है?

बहुत सारे लोग इसको झट से स्वीकार नही करेंगे क्यो कि सुख सौंदर्य का सचमुच आवश्यक घटक है या नहीं, यह शंका उन के मन में सहज ही पैदा होगी। उनके ध्यान में यह आएगा कि कलाकृति के संदर्भ में सुखदता को हम विशेष महत्त्व नहीं देते। उदाहरण के लिए खानोलकर के 'अजगर' उपन्यास या जी. ए. कुलकर्णी की कथाओं को कोई सुखद नहीं कहेगा, हाँ, इसमें विवाद नही हो सकता कि ये रचनाएँ अच्छी कृतियाँ हैं। 'बालकवि' की 'फुलराणी' कविता सुखद है लेकिन इसलिए हम उसे मर्ढेकर के "पिपात मेले ओल्या उंदीर" से श्रेष्ठ कभी नहीं कहेंगे। अगर यह मत सही है तो यह मानना पड़ेगा कि सुखदता सौदर्य का आवश्यक घटक नही है।

उपर्युक्त तर्क अकाट्य लगें तो भी हमें संतोष नहीं होता। इसके दो कारण हें।

(1) उपर्युक्त विवेचन में "सुंदर", 'अच्छी रचना', "श्रेष्ठ रचना" ये अवधारणाएँ आयी हैं। इनमें कुछ साम्य है। 'फुलराणी' कविता सुंदर है और 'अजगर' श्रेष्ठ उपन्यास है। इन दो संवाक्यों की जाति, उनका कार्य इत्यादि निश्चित करते समय उनके साम्य पर बल देना जरूरी हो जाता है। लेकिन "सुंदर" "अच्छी", "श्रेष्ठ"- तीनों को समानार्थक मानने का कोई कारण नहीं है। तीसरे अध्याय में हमने शब्दों के दो वर्ग मान लिए थे: मूल्यात्मक और वर्णनात्मक। "सुंदर", "अच्छा", "श्रेष्ठ" शब्द पहले वर्ग में आते हैं, "हरा", "ऊँचा" दूसरे वर्ग में। इनके कार्य में अंतर है। पहले प्रकार के शब्द वस्तुस्थिति का केवल वर्णन नही करते, मूल्यांकन करते हैं। इसलिए उनके तार्किक वैशिष्ट्य "हरा", "ऊँचा" इ। शब्दों के तार्किक वैशिष्ट्यों से भिन्न हैं। तार्किक वैशिष्ट्य के संदर्भ में "सुंदर", "अच्छी", "श्रेष्ठ" तीनों एक ही जाति में आ जाते हे। क्यों कि ये तीनों शब्द वर्णनात्मक न हो कर मूल्यात्मक हैं। हाँ, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे शब्द तभी संदर्भ में एक सरीखे हैं। कुछ संदर्भों में हम उनके भेदों को भी महत्त्व देते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं "क उपन्यास अच्छा है। लेकिन श्रेष्ठ नहीं" तब ये भेद हमें महत्त्वपूर्ण लगते हैं। हम ने तीसरे अध्याय में देखा कि मूल्यात्मक शब्दों का प्राय: वर्णनात्मक अर्थ भी होता है। उदाहरणार्थ, 'सुकोमल' इस मूल्यात्मक शब्द में "छोटा नाजुक" यह

वर्णनात्मक अर्थ है लेकिन वे स्थिर नहीं होते, संदर्भों में दो शब्दों के वर्णनात्मक अर्थ समान हो सकते हैं। उदाहरणार्थ "आज भाजी सुंदर बनी है" और "आज भाजी अच्छी बनी हैं"- ये वाक्य समानार्थक न होकर "अच्छी" और "सुंदर" शब्दों का यहाँ एक ही वर्णनात्मक अर्थ है। (उदाहरणार्थ, भाजी चटपटी, मसालेदार बनी है) लेकिन कुछ संदर्भों में उनके अर्थ भिन्न होना स्वाभाविक है, "आज भाजी सुंदर बनी है लेकिन स्वास्थ्य के लिए वही अच्छी नही है।"-- इस वाक्य में "सुंदर" "अच्छी" शब्दों के वर्णनात्मक अर्थ भिन्न है। मान लीजिए, "सुंदर" शब्द का स्थिर वर्णनात्मक अर्थ है "सुखद होना", अब अच्छा और श्रेष्ठ शब्दों का "सुखद होना" यह वर्णनात्मक अर्थ न होना शक्य है। उपर्युक्त पॅराग्राफ में दिये उदाहरणों में तो सुखद होना और "अच्छा/श्रेष्ठ होना" में संबंध नहीं है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। इसलिए "अजगर" उपन्यास सुखद न भी हो, वाङ्मयीन दृष्टि से श्रेष्ठ है। लेकिन वह सुखद न होते हुए "सुंदर" हो सकता है क्या?" "अजगर", "पिंपात मेले ओल्या उंदीर" रचनाओं को हम प्रभावपूर्ण, अच्छी, श्रेष्ठ रचनाएँ कहते हैं लेकिन प्राय: सुंदर नही कहते। इस विवेचन से यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि सुखदता वाङ्मयीन श्रेष्ठत्व का आवश्यक घटक भले ही न हो सकता हो, लेकिन वह सौंदर्य का आवश्यक घटक निश्चय ही है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि "सुंदर" और कलात्मक दृष्टि से "अच्छी /श्रेष्ठ"शब्द प्रयोग समकक्ष होते ही हैं, ऐसा नही। कुछ कृतियाँ कला की दृष्टि से अच्छी हो सकती हैं लेकिन वे सुंदर होंगी ही, ऐसा नहीं। इसके विपरीत, कुछ चीजें सुंदर होंगी, लेकिन कलात्मक दृष्टि से वे "अच्छी" होंगी ही, ऐसा नही।

(2) सभी प्रसंगों मे नहीं लेकिन कुछ प्रसंगों में कोई चीज सुखद है केवल इसीलिए उसे सुंदर कहने की ओर हमारा रुझान होता है। (अ) प्रकृति की अनेक वस्तुएँ केवल सुखद होती हैं इसीलिए उन्हें सुंदर कहा जाता है। उदाहरण के लिए सुंदर उपवन, सुंदर चॉदनी। (आ) मनुष्य के द्वारा निर्मित अनेक वस्तुओं के बारे में भी हमारी यही भूमिका होती है। उदाहरण के लिए सुंदर सब्जी, भोजन की सुंदर व्यवस्था। (इ) कलाकृति के आशय को सुंदर कहते समय बहुत बार उसकी सुखदता मन में रहती है। 'फुलराणी' सुंदर है, कहते समय हमारा अभिप्राय निश्चित ही यही होता है कि उसका आशय सुखद है।[2]

चाँदनी, भाजी इत्यादि चीजों के कारण ऐंद्रिय सुख प्राप्त होता है और इस सुखदता के कारण ही हम उन्हें सुंदर कहते हैं। कलाकृति के आशय से मिलनेवाला सुख इंद्रियों को प्रत्यक्ष वस्तुओं से मिलता हो तो भी उसे ऐंद्रिय सुख के वर्ग में ही रखना पड़ता है। यह सुख प्रत्यक्ष वस्तुओं से नही मिलता क्योंकि कलाकृति में चित्रित वस्तुएँ हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं होतीं। फिर भी उनसे मिलनेवाला सुख ऐंद्रिय ही होता है, क्योंकि चित्रित वस्तुओं को हम मन:चक्षुओं से देख सकते हैं और इस संदर्भ में मन:चक्षु

और चर्मचक्षु में भेद करने की आवश्यकता नही होती।

यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि सौंदर्य सुखवादी लोग सुख को बहुत महत्त्व देते हों तो भी सभी सुखद वस्तुओं को सुंदर नही मानते। कुछ विशिष्ट प्रकार का सुख देने वाली वस्तुओं को ही वे सुंदर मानते हैं। इसलिए अन्य सुखद वस्तुओं से इन वस्तुओं को कैसे अलग किया जाए, इस प्रश्न की ओर अब हमें मुड़ना है। ऐंद्रिय सुख की अवधारणा का विश्लेषण करके हम देखेंगे कि सौंदर्य-सुख को अन्य ऐंद्रिय सुखों से अलग किया जा सकता है या नही।

8.3

ऐंद्रिय सुख के विषय प्राय: हमारी जीवनप्रेरणाओ की भी परितृप्ति करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर की राय में ऐंद्रिय सुख का प्रेरणापरितृप्ति के साथ रहने वाला प्रत्यक्ष संबंध छूट जाता है तब इस सुख के विषय सुंदर माने जाते हैं। मूल में संवेदना का अनुभव प्रेरणाओं की परितृप्ति मे प्राप्त अनुभव का भाग होता है। लेकिन हम जब संवेदना के अनुभव की ओर स्व-रसरंजनात्मक वृत्ति से देखने लगते है और प्रत्यक्ष प्रेरणा परितृप्ति का विचार पिछड़ जाता है तब हमारे अनुभव को सौदर्यानुभव का स्वरूप प्राप्न होता है।[3]

जो वस्तु सुखद है और केवल शारीरिक भूख का समाधान करती है उस वस्तु को हम प्राय: सुंदर नहीं कहते। शारीरिक भूख फिर वह पेट की हो या लैंगिक, जब तीव्र होती है तब सौंदर्य की आकांक्षा क्षीण होती है। हॉ, अगर यह भूख तीव्र न हो तो मनुष्य अधिक सतर्क रहता हे। और वह इच्छा ही नही होगी तो भी वह सतर्कता नहीं रहेगी। स्वाद लेते हुए खाया जाए तो भूख शांत होती ही है और कुछ अनुपात में बिना भूख के स्वाद में भोजन नही किया जा सकता। संभोग की इच्छा तीव्र होने पर कोई भी स्त्री चल सकती है, यह अपेक्षा नही होती कि वह सुंदर ही हो। लेकिन जब यह इच्छा बहुत तीव्र नहीं होती तब मनुष्य कुछ पारखी बनता है। हाँ, यह इच्छा बिलकुल ही न हो तो भी यह पारखीपन आना संभव नहीं।

हमने यह देखा है कि जब हम संवेदना में स्व-रसरंजनात्मक वृत्ति से रमते हैं तो उस समय होने वाला सुख सौंदर्य-सुख माना जाता है। एक और बात है। जो केवल ऐंद्रिय स्तर विद्यमान रहता है उस वस्तु की तुलना में जिस मे मनोनिर्मित घटक अधिक होते हैं, उसे सुंदर मानने की सुसंस्कृत व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। अर्थात् यह अपेक्षा रहती है कि ये मनोनिर्मित घटक केवल ऐंद्रियता का आवाहन करनेवाले न हों, केवल शारीरिक स्तर पर वांछित स्त्री को हम सुंदर कहेंगे ऐसा नहीं हैं। उसे हम "मस्त", "मादक", "गदराई" इत्यादि कहते हैं। कभी जब सौंदर्य में ऐंद्रिय और मानसिक चीजों का अनुभव हम एकसाथ करते हैं। तब "मादक सौंदर्य" शब्द का प्रयोग करते हैं। अगर "मादकता" सौंदर्य के अर्थ का घटक होती तो "सात्त्विक सौंदर्य"

शब्द प्रयोग आत्मव्याघाती सिद्ध होता। लेकिन ऐसा नहीं होता। मादकता और सौंदर्य में जो अंतर है वह यही कि एक का आवाहन केवल शारीरिक होता है तो दूसरे का अंशत: मानसिक होता है। सुसंस्कृत व्यक्ति स्त्री की ओर केवल शारीरिक दृष्टि से नहीं देखता। मूलत: शारीरिक इच्छा को मनोनिर्मित घटकों से वह नया रूप देता है। हाँ, इससे शारीरिकता पूर्णत: लुप्त तो नहीं होती। लेकिन धीरे-धीरे उसे गौणत्व प्राप्त होता है। इसी से मानवीय संबंधों में विविधता, वैचित्र्य एवं सुसंस्कृतता आ जाती है, सामान्य कामेच्छा से अनेक मानवीय व्यवहार स्फुरित होने लगते हैं।

अश्लील समझी जानेवाली कला में यह मनोनिर्मित विविधता काट दी जाती है और ध्यान शारीरिकता की ओर खींचा जाता है। अश्लील वाङ्मय और शृंगारपरक वाङ्मय में यह बड़ा भेद है। शृंगारिक वाङ्मय जीवन की एक प्रभावी प्रेरणा का विविध रूपों में अधिक से अधिक संपूर्ण दर्शन कराता है, तो अश्लील वाङ्मय इस विविधता को हटा कर उस प्रेरणा का शारीरिक स्वरूप ही दिखाता है। लेकिन लैंगिकता के नग्न प्रदर्शन से अश्लीलता नहीं पैदा होती। क्योंकि ऐसा नहीं लगता कि ऐसा प्रदर्शन शारीरिकता का आवाहन करेगा। इसके विपरीत केवल दैहिकता को उत्तेजित करने वाली लैंगिकता के दर्शन वाङ्मय में मिलते हैं। यहाँ तो मनोजन्य चीजों को भी दैहिक सुख के लिए इस्तेमाल किया जाता है। अश्लील और शृंगारिक दोनों वाङ्मयों में शारीरिक इच्छा का घटक का उद्‌गम कामेच्छा में ही होता है अतएव दोनों वाङ्मय उसके चारों और गूँथ दिये जाते हैं तो दूसरे में शारीर इच्छा को जीवन पट पर उपस्थित अनेक घटकों मे से एक घटक के रूप में दिखाया जाता है। अगर अश्लील वाङ्मय के समर्थन में कोई यह तर्क देगा कि दोनों वाङ्मय समकक्ष हैं तो वह उत्पत्ति तर्काभास (genetic fallacy) होगा। क्योंकि कामेच्छा एक होने पर भी उसके विविध रूप मूल्य की दृष्टि से एक नही होते।[4]

शारीरिक प्रेरणाओ को मनोव्यापारों के स्तर पर लाने पर विशिष्ट इंद्रियों का महत्त्व कम हो जाता है। सौंदर्य सुख में इंद्रियों का हिस्सा नहीं होता, ऐसा तो नहीं है। लेकिन विशिष्ट इंद्रियों का उसमें इतना महत्त्व भी नहीं होता कि उन्हीं की ओर ध्यान जाए। चित्र आँखों से देखा जाता है। संगीत कानों से सुना जाता है लेकिन हमारा ध्यान आँखों या कानों की ओर नहीं रहता। इसके विपरीत खाने का सुख या संभोग सुख प्राप्त करते समय विशिष्ट इंद्रियों के व्यापारों को महत्त्व प्राप्त होता है।[5]

आँखों और कानों को सौंदर्य विचार में बहुत महत्त्व मिला है। उन्हें सौंदर्य की खास इंद्रियाँ कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इन इंद्रियों द्वारा दुनिया का अनुभव आने पर भी इन इंद्रियों का और उनके अनुभव-विषय का प्रत्यक्ष निकट संपर्क नहीं होता। उनके व्यवहार में ही एक प्रकार का अंतर अभिप्रेत रहता है। दूसरी बात यह कि आँखों एवं कानों से कोई विशिष्ट प्रेरणा संलग्न नही होती। जिस प्रकार जीभ का

संबंध भूख से होता है, जननेंद्रिय का लैंगिक प्रेरणा से उसी प्रकार आँख और कान का विशिष्ट प्रेरणाओं से स्थिर संबंध नही होता। अनेक प्रेरणाओं के समाधान के लिए इन इंद्रियों का उपयोग किया जाता है। उनमें से कुछ प्रेरणाएँ दैहिक प्रेरणा की परितृप्ति के लिए नहीं होतीं। उसी तरह चित्र देखने के लिए आँखों का उपयोग करना केवल दैहिक प्रेरणाओं की परितृप्ति के लिए नहीं होता। यह परितृप्ति मिल भी जाती हो परंतु उसके अलावा आँखों का सुख कुछ होता ही है, यह निश्चित है। कुछ रंग देखकर भी सुख होता है वह किसी प्रेरणा के समाधान की वजह से नही, उन रंगों की संवेदना ही सुखद होती है। कुछ रंग हमें उल्लसित करते हैं। किन्हीं के कारण मन विषण्ण होता है। कुछ सुखद होते हैं तो कुछ आँखों को चुभने लगते हैं। आवाज के बारे में भी यही सही है। जब हम कहते हैं कि अमुक की आवाज मधुर है, तब हम यही कहना चाहते हैं कि वह सुखद है। नीला प्रकाश, पहाड़ पर से देखा हुआ सूर्योदय एवं सूर्यास्त, मुलायम मधुर आवाज, रजनीगंधा की महक इत्यादि सुखद संवेदनाओं को बहुत बार "सुंदर" कहा जाता है। ये संवेदनाएँ इंद्रिय-सुख के विषय ही होती हैं।

यहाँ "इंद्रिय-सुख" शब्द को थोड़ा स्पष्ट करना आवश्यक है। बहुत बार इस शब्द का प्रयोग दैहिक इच्छाओं की परितृप्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख के लिए किया जाता है। लेकिन उसका एक अन्य अर्थ भी है। वह है संवेदनाओं से प्राप्त होने वाला सुख। इन दो अर्थो मे संबंध है लेकिन फिर भी अंतर है। इनमें निश्चित संबंध है क्योंकि दैहिक इच्छाओं की परितृप्ति के साथ बहुत बार संवेदनाओं से प्राप्त सुख भी मिलता है। लेकिन ये दोनों सुख अलग हैं, क्योंकि कभी केवल संवेदना से मिलनेवाला सुख प्राप्त होता है, लेकिन उसके साथ दैहिक इच्छाओं की परितृप्ति से मिलनेवाला सुख मिलता ही है, सो बात नहीं। उस समय कोई दैहिक इच्छा जागृत नहीं होती या तृप्त नहीं होती। मलाईदार आइस्क्रीम खाते समय हमें संवेदना-सुख मिलता है और दैहिक इच्छा की परितृप्ति भी होती है। लेकिन नीले प्रकाश के कारण केवल संवेदना-सुख ही मिलता है। कोई दैहिक इच्छा परितृप्त होने का वहाँ सवाल ही नहीं उत्पन्न होता। सुख अवधारणा का विश्लेषण करते समय प्लेटो ने केवल संवेदनाओंसे प्राप्त होनेवाले सुखको इच्छा परितृप्ति से मिलनेवाले सुख से अलग किया है। उसकी राय में इच्छा परितृप्ति के संदर्भ में मिलनेवाला सुख प्रायः विशुद्ध नही होता। इस संदर्भ से अलग रखे गए सुख विशुद्ध होते है। प्लेटो के अनुसार ये विशुद्ध सुख वर्तुल की तरह आकृतियाँ, रंग, स्वर, गंध और ज्ञान से प्राप्त होते हैं। इनमें से रंग, स्वर गंध से मिलनेवाले सुख संवेदन-सुख हैं तथा उनका और सौंदर्य-सुख का बहुत ही निकट का संबंध है। इंद्रिय-सुखों का प्लेटो का किया हुआ विभाजन सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[6] इसके बाद हम इंद्रियसुख के स्थान पर "संवेदन-सुख" शब्द का प्रयोग करेंगे, क्योंकि उसमें अधिक निश्चितता है।

संगीत के जानकार "मधुर आवाज" और "अर्जित आवाज" में भेद करते हैं। मधुर आवाज याने सुखद आवाज और अर्जित (सधी हुई) आवाज का अर्थ है विभिन्न प्रकार की रचना करने की क्षमता से युक्त आवाज। उसी तरह भाव-संवेदन की दृष्टि से भी आवाज का वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरण के लिए दर्दभरी आवाज, लाड़ली आवाज, गंभीर आवाज, नखरैल आवाज। "अमुक अच्छा गाता है"-- इसके विविध अर्थ हैं: (1) उसकी आवाज मधुर है, (2) उसकी आवाज कमाई हुई (साधी हुई) है, (3) आवाज भाववाही है, (4) गानेवाले में स्वरसंगठन का कौशल है। उसी प्रकार वह परंपरा और गायन प्रकार पर भी निर्भर है। उदाहरणार्थ, ठुमरी, नाट्यसंगीत, भावगीत इत्यादि में तीसरे घटक का विशेष महत्त्व है।, संगीत के जानकार पहले घटक को महत्त्व नहीं देते। जानकार व्यक्ति गाने को केवल संवेदना सुख से जहाँ तक हो सके अलग करता है। इसके विपरीत, जिनमें गाने की समझ नहीं है वह पहले घटक (और प्राय: तीसरे घटक) को विशेष महत्त्व देता है।

संवेदना की सुखदता को महत्त्व देना और संवेदना के रूप में महत्त्व देना दोनों भिन्न बातें है। कलाकृति केवल सुखद संवेदना नहीं होती। लेकिन कलाकृति में संवेदनाओं को संवेदना के रूप में निश्चित एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि व्यवहार में संवेदनाओं का ज्ञानव्यापार या क्रियाव्यापार के साधन के रूप में स्थान होता ही है। उनका महत्त्व सिग्नल के रूप में होता है। रास्ता पार करते समय लाल बत्ती के दिखने पर हम रुक जाते है और हरी बत्ती लगने पर चलने लगते है। लेकिन इन दो संवेदनाओं के गुणविशेष हम नहीं देखते। कला में संवेदनाओं का खास महत्त्व होता है। कला-व्यवहार में संवेदनाओं का पूर्ण स्वरूप जानने की हमारी कोशिश रहती है, क्योंकि संवेदनाओं के गुणों पर ही उनके संगुंफन का स्वरूप निश्चित हो जाता है। इसका अर्थ यह कि कलाकृति का कला की दृष्टि से किया हुआ मूल्यांकन कुछ अंशो में क्यों न हो, संवेदना की हमारी परख पर निर्भर करता है।[7]

हर कला में संवेदनारूप घटक का महत्त्व होता अवश्य है परंतु सब कलाओं मे इस घटक का समान महत्त्व नहीं होता। संगीत में यह महत्त्व सर्वाधिक होता है। तो काव्य में सब से कम होता है। संगीत में इंद्रिय संवेद्य को कौशलपूर्ण संगठन के घटक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है तो काव्य में उसका उपयोग अर्थ के संवाहक के रूप में होता है। संगीत इंद्रिय संवेद्य माध्यम में सिद्ध होता है, काव्य इंद्रिय-संवेद्य माध्यम के द्वारा सिद्ध होता है, इसीलिए काव्य मे इंद्रिय, संवेद्य-घटक की अपेक्षा अर्थ को अधिक प्रधानता मिलती है।

8.4

हमने 8.2 मे 'सुदर' 'अच्छा' और 'श्रेष्ठ' में भेद देखा और सौंदर्य और सुख के संबध की चर्चा की। उस समय हमने यह सूचित किया कि किसी चीज को सुंदर निश्चित

रूप में कहना हो तो उसे सुखद भी होना चाहिए। तथापि श्रेष्ठ कलाकृति पर सुखद होने का बंधन नहीं होता। लेकिन ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो यह मानते हैं कि श्रेष्ठता में भी सुखदता समाविष्ट है। "शोकात्म वाङ्मय से आनंद क्यों होता है?" यह प्रश्न उठानेवाले भी इसी वर्ग में आते हैं। हमने अब तक सुख की जो चर्चा की उस में सुखद संवेदना को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। सुख-संकल्पना में अगर सुखद संवेदना को केंद्रीय स्थान दिया जाए तो "शोकात्म नाट्य से आनंद क्यों होता है?" यह प्रश्न हल करना बहुत ही कठिन हो जाता है। अतः "शोकात्म वाङ्मय से कौनसा सुख प्राप्त होता है?" यह प्रश्न सौंदर्यसुखवाद के संदर्भ मे कठिन है। इसमें आश्चर्य नही, शोकात्म वाङ्मय की गिनती श्रेष्ठ वाङ्मय में की जाती है और उससे सुख नही मिलता हो तो सौंदर्य सुखवाद की बड़ी सीमाएँ स्वीकार करनी पड़ेगी। शोकात्म कृति की निर्णायक कसौटी पर सौंदर्य सुखवाद खरा उतरेगा, ऐसा नही लगता। शोकात्म वाङ्मय मे सुख होगा तो तिल जितना और दुःख पहाड़ जितना होता है। पिछले प्रकरण मे फ्रायडवाद की चर्चा करते समय हमने देखा कि जो चीज चेतना के स्तर पर दुखद होता है वह अचेतन के स्तर पर सुखद हो सकती है। अपने कुछ स्वप्नों में दुःख, चिंता, निराशा की गहन छाया होती है। हैम्लैट जैसे शोकात्म वाङ्मय के संबध मे यह ठीक नहीं होगा। "रामायण" और "महाभारत" महाकाव्य शोकात्म है या नही, इसके बारे में विद्वानों में विवाद हो सकता है लेकिन यह स्वीकार किया जा सकता है कि इनका प्रभाव शोकात्म कलाकृति का-सा है। इन महाकाव्यो से सचमुच में सुप्त इच्छापूर्ति का सुख मिलता है? शेक्सपीअर का 'किंग लियर', 'ऑथेल्लो', बर्नार्ड शॉ का 'सेंट जोन' नाटक, मालापांते का कापुट उपन्यास, सार्त्र, काम्, बेकेट की रचनाएँ शोकात्म हैं, इसी के बारे में विवाद नही होगा। ये रचनाएँ न सवेदनासुख प्रदान करती हैं, न किसी चेतना या अचेतन स्तर पर इच्छाओ की परितृप्ति करती है। फिर इनसे कौन-सा सुख मिलता है? अगर हम आत्मपीड़न या परपीड़न में आनंद माननेवाले होते, तो यह प्रश्न विशेष कष्टकर नहीं होगा। लेकिन हम वैसे न हों तो? मान लीजिए कि यह तय हो गया कि इन वाङ्मय रचनाओ से सुख नही मिलता, फिर दूसरा प्रश्न तत्काल पैदा होता है। अगर ये कृतियाँ सुखद नही है, तो हम उन्हे दिलचस्पी से एवं एकाग्र चित्त से पुनः पुनः क्यो पढ़ते है?

इस प्रश्न के हल के लिए दो बातें आवश्यक है– (अ) सुख अवधारणा का नए ढंग से विश्लेषण करना होगा, क्योंकि संवेदनाओ के सुख को "सुख" अवधारणा में केंद्रीय स्थान दिया जाएगा तो ऊपरवाला प्रश्न हल ही नही होगा। (आ) उपर्युक्त प्रश्न में मानवीय व्यवहार का एक पूर्वगृहीत तत्त्व अनुस्यूत है। इसका भी विचार करना होगा। वह तत्त्व यह कि मनुष्य जो भी कुछ करता है वह सुख के लिए या दुःख टालने के लिए। इसकी चर्चा हम पहले करेंगे।

मनुष्य जो भी कुछ करता है केवल सुख के लिए करता है, यह सिद्धांत बेंटम ने प्रस्तुत किया है: निसर्ग ने मानव को दो सर्वोच्च तत्त्वों के कब्जे में रखा है। ये दो तत्त्व हैं सुख और दु:ख। हमें क्या करना चाहिए और हम क्या करनेवाले हैं, यह सर्वथा मानवजाति के इन दो मालिकों पर निर्भर है। यह सही है कि कुछ लोग सुख के स्थान पर वैराग्य तत्त्व को स्वीकार करते हैं। लेकिन उसका कारण यही है कि कुछ संदर्भों में सुख की प्राप्ति होने पर उस सुख से अधिक बड़ा दु:ख हिस्से में आ जाता है, ऐसा उनको लगता है। इसीलिए वे सुख से दूर रहते हैं। यह प्रकार कुछ ऐसा है जैसे दूध का जला छाछ भी फूंक कर पीता है। कभी तो वे दु:ख को ही स्वीकार करते हैं। लेकिन वैराग्य के तत्त्व दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले लोग बहुत कम हैं। दुनिया के दस प्रतिशत लोग भी अगर इस तत्त्व का पालन दृढ़ता से करेंगे तो एक दिन में दुनिया नरक बन जाएगी।[9]

बेंटम व मिल जैसे उपयुक्ततावादी यह मानते हैं कि मनुष्य सद्‌गुणों को अपनाना चाहते हैं और दुर्गुणों को टालते हैं। फिर भी उनके सुखवाद को धक्का नहीं पहुँचता। मिल का मंतव्य है कि मनुष्य सद्‌गुणों को अपनाना चाहते हैं, ऐसा नहीं है। उनकी इच्छा सुख प्राप्त करने की ही होती है। सद्‌गुणों से सुख मिलता है और दु:ख टाला जा सकता है, यह ध्यान में आने पर मनुष्य सद्‌गुणों की इच्छा करता है। मतलब यह है कि सद्‌गुणों को मनुष्य इसलिए चाहता है कि वे सुख-प्राप्ति के साधन होते हैं। एक बार सद्‌गुणों और सुख का साहचर्य हो गया तो फिर आरंभ में केवल साधन-रूप होनेवाले सद्‌गुण साध्य-रूप बन जाते हैं। वे सुख के घटक बन जाते हैं।[10]

मनुष्य जो कुछ करता है वह सुख के लिए होता है और सुख ही मनुष्य का एकमेव अंतिम साध्य होता है-- इस सिद्धांत पर कुछ आक्षेप उठाए गए हैं। उनमें से कुछ आक्षेपों का हम संक्षेप में विचार करेंगे। (क) प्लेटो ने कहा है कि हम ऐसी कल्पना करें कि जो केवल सुख की आकांक्षा करते हैं, उन्हें सब सुख मिले हैं, लेकिन उसके साथ स्मरण-शक्ति, सजगता इत्यादि चीजें नहीं मिलीं। ऐसी स्थिति में उनका जीवन क्षुद्र होगा। सुख है लेकिन भान भी नहीं है-- यह अवस्था सीपी में बंद कीड़े-की-सी होगी। और कोई यह स्वीकार नही करेगा कि ऐसा जीवन मनुष्य चाह सकता है। प्लेटो का मत है कि सुख की इच्छा करनेवाला मनुष्य सुख की ही इच्छा करता है और भान, स्मरणशक्ति इत्यादि बातों की इच्छा ही नहीं करता, यह कहना तत्त्वत: गलत होगा।[11]

(का) सुख और दु:ख का विचार प्राय: एकसाथ किया जाता है। इन दो बातों का संबंध कुछ इस प्रकार दिखाया जाता है कि शरीर और आत्मा की संगति बिगड़ ने पर उनका अपने मूल स्वभाव से स्खलन होता है और दु:ख उत्पन्न होता है, यह सुसंगति पुन: प्रस्थापित होने पर सुख निर्मित होता है। अब मान लीजिए कोई व्यक्ति

समचित्त है, उसमें संगति के बिगड़ जाने की और वह पुन: प्रस्थापित होने की प्रक्रिया होती ही नहीं है। इस प्रकार के मनुष्य के जीवन में सुख भी नहीं होगा और दु:ख भी नहीं होगा। ज्ञानवान पुरुषों में इस प्रकार की समचित्तवृत्ति होना स्वाभाविक है।[12] इस पर से ऐसा दिखता है कि जो ज्ञानी होने की इच्छा करते हैं वे इस प्रकार की समचित्तवृत्ति की इच्छा भी रखते हैं। मूर ने दिखाया है कि हम विशिष्ट चीजों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उनके प्राप्त होने पर प्राय: सुख भी मिलता है। लेकिन बहुत बार विशिष्ट चीजों की इच्छा मन में हुई तो भी उस समय वह भान नहीं होता कि उनकी प्राप्ति से सुख होगा। और सुखों का विचार हमारे मन में हो तो भी हम केवल सुख की इच्छा करते हैं, यह कहना गलत होगा। अपनी इच्छा के विषय में सुख के साथ जिसके कारण सुख प्राप्ति होनेवाली है, ऐसी चीजें भी अंतर्भूत होती हैं।[13] उपर्युक्त आक्षेपों से यह दीखता है कि सुख ही हमारी इच्छा का एकमात्र विषय नहीं होता। मतलब यह है कि पूर्वगृहीत धारणा स्वीकार करना कि मनुष्य जो भी कुछ करता है सुख के लिए करता है, गलत है।

सब मानवीय व्यवहार सुख के लिए चलते हों तो उनमें अच्छा बुरा कैसे निश्चित किया जा सकता है? सभी सुख समान मूल्य के नहीं होते। उनमें उन्नीस-बीस होता ही है। कुछ विचारकों की राय में सुखों को इच्छाओं के विषयों से अलग कर दिया जाए तो उनका मूल्य निश्चित नहीं किया जा सकता। सुखों को अगर इच्छाविषयों से अलग किया जाएगा तो उनका मूल्य समान माना जा सकता है। उनमें संख्यात्मक भेद होने पर भी गुणात्मक भेद नहीं होंगे। बेंटम ने यह बात ठीक समझी थी। किंग लियर पढ़ने से मिलनेवाला सुख और अर्नालकर का कोई उपन्यास पढ़कर मिलनेवाला सुख, इनमें "सुख" के रूप में कोई अंतर नहीं होता। अंतर करना हो तो सुख किससे प्राप्त हुआ है, इसका निर्देश करना पड़ता है। फिर 'किंग लियर' पढ़ने का सुख 'खूनी खंजीर' पढ़ने के सुख से श्रेष्ठ है, यह कहना क्या अधिक युक्तियुक्त नहीं है? इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी सभी इच्छाओं का एकमात्र विषय सुख होता है, यह स्वीकार करने पर भी समीक्षा में मूल्यांकन के लिए उसका कुछ उपयोग नहीं होता।

8.5

मनुष्य जो कुछ करता है वह सुख के लिए करता है यह मान्यता ही गलत है। और अगर वह सही भी होगी तो भी समीक्षा के लिए उसका कुछ उपयोग नहीं होता। ये दोनों बातों स्वीकार करने पर भी सुखवाद का पिशाच शांत नहीं होता। सुखवाद में कुछ तथ्य होना चाहिए। मनुष्य की सभी इच्छाओं का विषय सुख भले ही न हो, तो भी मनुष्य कलाकृति का आस्वाद लेता है वह उससे मिलनेवाले सुख के कारण ही, ऐसा क्यों न कहा जाए? लेकिन दूसरी तरफ से यह भी ध्यान में आता है कि स्पेन्सर द्वारा वर्णित संवेदना का सुख, उसी तरह इच्छाप्राप्ति का सुख सब कलाकृतियों

के आस्वाद में मिलेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मतलब यह है कि एक ओर सुखवाद उचित मालूम होता है, लेकिन दूसरी ओर सुख का निश्चित अनुभव होता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह पेंच छुड़ाने के लिए हमें "सुख" अवधारणा का नए ढंग से विश्लेषण करना होगा। हम वह गिल्बर्ट राइल की सहायता से करेगे।

राइल की राय में 'सुख' अवधारणा का व्यवस्थित विश्लेषण करना हो, तो प्रथम हमें यह देखना चाहिए कि इस शब्द का हम प्रत्यक्ष जीवन के विविध संदर्भो में कैसा उपयोग करते हैं। यह देखा जाए तो ध्यान में आएगा कि यह शब्द अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होता है। उनमें से दो महत्त्वपूर्ण अर्थ हैं: (अ) बहुत बार हम 'सुख मिलना' शब्द प्रयोग के स्थान पर 'पसंद आना' (to like) या 'रस लेना' (to enjoy) का प्रयोग करते हैं। इस संदर्भ में वे एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। मान लीजिए, कोई व्यक्ति बगीचे में गढ़े खोदने के काम में रस ले रहा है और वह यह काम बड़ी रुचि से कर रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह जो काम कर रहा है और इसके अलावा जिसे इस काम का सहचारी अनुभव कहा जाएगा या जिसे इस काम का परिणाम कहा जाएगा ऐसा सुख भी वह अनुभव कर रहा है। "क इस काम मे रस ले रहा है"- इस संवाक्य का अर्थ इतना ही है कि जब जब अवसर मिलता है तब वह यह काम अपनी इच्छा से करता है, वह एकाग्रतापूर्वक मन लगाकर करता है। यह काम करते समय उसे और कुछ भी करने की इच्छा नहीं होती। उसकी किसी एक स्थिर वृत्ति की अभिव्यक्ति यह काम करने में होती है। इस काम के फलस्वरूप उसे आनंद की प्राप्ति होनेवाली है, ऐसा नहीं। उसे इस काम में ही आनंद आ रहा है।[14] (आ) किन्ही संदर्भों में "सुख" शब्द के स्थान पर "उल्लास", "हर्ष" (delight-joy) "अत्यानंद" (rapture, exulation, transport) शब्द इस्तेमाल में लाए जा सकते हैं। ये शब्द कुछ काल तक टिकनेवाली भावनात्मक मनोदशाओं (moods) के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं। "वह कल उल्लसित मनोदशा (cheerful mood) में था। "ऐसा कहने पर उस आदमी के उस दिन के कुछ व्यवहार पर प्रकाश पड़ता है। उल्लसित मनोदशा में मनुष्य हँसता है, विनोद करता है, उत्साह से विविध बातें करता है, संकट आने पर आत्मविश्वास के साथ उन का मुकाबला करता है, इत्यादि। इन सभी बातों में इसकी मनादशा प्रतिबिंबित होती है। मनोदशा स्थिर मनोवृत्तियों की तरह बहुत समय तक -- करीब-करीब कायम टिकनेवाली चीज नहीं होती, तो भी भावोर्मि की तरह वह क्षणभंगुर भी नहीं होती। भावोर्मि क्षण में उत्पन्न होकर विलुप्त होनेवाली सिहरन जैसी होती है। बहुत बार सुख ऐसी भावोर्मियों के स्वरूप में भी अनुभव करने को मिलता है। उल्लसित मनोवस्था याने केवल सुख की भावोर्मियों का प्रवाह या शृंखला नही होती। मनुष्य उल्लसित मनोदशा में होता है तो उसे समय-समय पर सुखमय भावोर्मियाँ प्राप्त होती हैं, लेकिन समूचा समय ये भावोर्मियाँ ही अनुभूत होती रहेंगी,

ऐसा नहीं।

यह स्पष्ट है कि "सुख" के विविध उपरोल्लेखित अर्थ एक दूसरे के संलग्न होने पर भी भिन्न हैं। हम "सुख" शब्द का उपयोग क्वचित् करते हैं। बहुत बार हम "पसंद आना", "रस लेना" शब्द ही प्रयोग में लाते हैं और इन शब्दों से हमारी विशिष्ट प्रवृत्तियों या पसंदगियों का निर्देश होता है। विशिष्ट मनोदशा या भावोर्मि का निर्देश नहीं होता, राइल के उदाहरण में मनुष्य को बगीचे में गढ़े खोदने में रस आता है, इसका अर्थ यह कि यह काम, वह एकाग्र मन से, बहुत समय तक और जब भी अवसर प्राप्त होता, करता है। इसका महत्व नहीं है कि इस समूची प्रक्रिया में उसे सुखद भावोर्मियों का बोध हुआ अथवा नहीं, "सुख" के इस अर्थ को (सुखद=पसंदगीका) हम "अर्थ" कहें। और सुखद भावोर्मि को "अर्थ" कहें। ये तीनों अर्थ हम नित्य के व्यवहार में अलग-अलग रखते हैं। अगर कोई व्यक्ति कहे कि "क्ष यह चीज स्वांत:सुखाय करता है" या "क को यह चीज करने में आनंद प्राप्त होता है" तो हम समझते हैं कि "क" वह चीज किसी लाभ के लिए या औरो पर विशिष्ट परिणाम करने के लिए या कर्तव्य विचार से न कर इसलिए करता है कि वह चीज उसे पसंद है। हम ऐसा भी नहीं समझते कि वह "मन लगाकर कर रहा है (अर्थ 1), उसके हृदय में सुखद भावोर्मियाँ उछलती जा रही है (अर्थ 3), या उसकी मनोदशा उल्लसित है (अर्थ 2)। अर्थात् कभी तीनों अर्थ एकत्र आ सकते है। उदाहरणार्थ जब हम कहते हैं कि "क को अत्रे की सुखात्मिकाएँ (हास्योत्पादक नाटक) बहुत पसंद है"। तब ये तीनों अर्थ हम इकट्ठा लाते हैं। लेकिन कुछ संदर्भों में उन्हें हम अलग-अलग रखते हैं। उदाहरणार्थ "क को शेक्सपीअर की शोकात्मिकाऐं (विषादांत नाटक) बहुत पसंद हैं"-- यह कहते समय अर्थ1 अभिप्रेत होता है और शेष दो अर्थों को हम दूर रखते हैं। सामान्य मनुष्य होने के कारण व्यवहार करते समय हम इन विभिन्न अर्थों में गड़बड़ी नहीं करते। लेकिन जब हम "दार्शनिक" बनते हैं और नीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान इत्यादि के संदर्भ में विचार करते हैं तब हम अर्थों की विविधता भूल जाते हैं। फिर हम प्राय: अर्थ1 बिलकुल भुला देते हैं और अर्थ 2 और अर्थ 3 को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए तत्त्वचर्चा करते समय "सुख" शब्द केवल इन दो संलग्न अर्थों के लिए ही प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन से हमारी एक भाषिक अदा पर प्रकाश पड़ेगा। अन्यथा तो हम व्यवहार में "पसंद आना", "रस लेना" इत्यादि शब्दप्रयोग प्राय: करते हैं, लेकिन तत्त्व चर्चा करते समय हम केवल "सुख" की भाषा ही बोलने लगते हैं। इस भाषा का प्रयोग करने का मोह हमें होता हैं। इसका कारण भी है। "पसंद आना", "रस लेना" इत्यादि से "सुख"- अवधारणा अधिक समावेशक और मूलभूत है, ऐसा हम नाहक ही समझते हैं। "टेनिस खेलना आपको क्यों पसंद हैं?" ऐसा प्रश्न अगर कोई

हमसे पूछे तो टेनिस की पसंदगी के बारे में कुछ कारण देने की जिम्मेदारी हमपर आयी है, ऐसा हमें लगता है। अगर हम कहते हैं कि टेनिस खेलने से मुझे सुख मिलता हैं, तो हम समझते हैं कि हमने कोई सशक्त कारण दिया है। असल में ऐसा समझने में हम गलती कर रहे होते हैं। "आप टेनिस क्यों खेलते हैं?" इस प्रश्न का "मुझे टेनिस खेलना पसंद है," यही उत्तर तार्किक दृष्टि से पूर्ण संतोषजनक है। "डॉक्टर ने मुझे टेनिस खेलने के लिए कहा है, इसलिए मैं खेलता हूं", यह उत्तर भी जँच जाना चाहिए। पसंद होने की अवधारणा का प्रयोग करते हुए दिया गया स्पष्टीकरण अंतिम स्पष्टीकरण हो सकता है। टेनिस क्यों अच्छा लगता है -- क्यों पसंद है? -- इसका उत्तर देना जरूरी नहीं है। कभी टेनिस खेलने में अनूस्यूत चीजों का एवं टेनिस खेल के परिणामों का विश्लेषण करके उत्तर दिया जा सकता है, यह सही है। लेकिन ऐसा करते समय कभी न कभी हमें अपनी पसंदगी की अवधारणा को अंतिम स्पष्टीकरण की अवधारणा के रूप में उपयोग में लाना ही पड़ता है। उदाहरणार्थ "मुझे टेनिस पसन्द है क्योंकि उसकी शीघ्र दौड़धूप अच्छी होती है", यहाँ अच्छी होती है याने "मुझे पसंद है" अपनी कृति का स्पष्टीकरण देते समय कभी-न-कभी कोई अवधारणा अंतिम अवधारणा के रूप में प्रयुक्त करनी पड़ती है। किसी संदर्भ में एकाध मूल्य-अवधारणा अंतिम स्पष्टीकरण की अवधारणा के रूप में प्रयुक्त की जाती है। उदाहरणार्थ, "मुझे टेनिस पसंद है, क्योंकि उससे तबीयत अच्छी रहती है।" -- इसमें यह मूल्यसंवाक्य गृहीत है कि "तबीयत अच्छी रहना अच्छा होता है। "मैंने जो सत्य था, वहीं कहा क्योंकि सही बताना हरएक का नैतिक कर्तव्य है।" -- इसमें भी एक मूल्य-अवधारणा अंतिम स्पष्टीकरणों के लिए उपयोजित है। इसीलिए उपर्युक्त स्पष्टीकरणों को हम पर्याप्त और संतोषजनक स्पष्टीकरण के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन पसंदगी की भाषा का स्पष्टीकरण पर्याप्त न लगकर हम "सुख" या "आनंद" की अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं। असल में देखा जाए तो प्राय: पसंदगी की अवधारणा के स्थान पर "आनंद" की अवधारणा के उपयोग से कुछ अधिक सध जाता है, ऐसा नहीं, लेकिन हमारी समझ कुछ ऐसी है, यह सही है।

"टेनिस पसंद आना" का अर्थ क्या है? जब अवसर मिलेगा तब टेनिस खेलना, बिलकुल मन लगाकर खेलना। कुछ लोग डॉक्टर के कहने पर टेनिस खेलते हैं तो कुछ समय बिताने के लिए। उन्हें टेनिस पसंद होगा, ऐसा नहीं है। लेकिन ऐसे कुछ खास कारण न भी हों तो भी टेनिस खेलनेवाला मनुष्य उसे टेनिस पसंद है, इसलिए ही खेलता है। यहाँ "पसंद होने" से एक प्रवृत्ति का निर्देश होता है। लेकिन हर बार हम स्थिर प्रवृत्ति का ही उल्लेख करना चाहते हैं, ऐसी बात नहीं है। "कल का गाना मुझे बहुत पसंद आया", यह एक घटना का वर्णन है, किसी स्थिर प्रवृत्ति का नहीं। "कल का गाना मुझे बहुत पसंद आया" का अर्थ होता है, इसे मैंने मन लगाकर, कान

लगाकर सुना, उसमें मैं पूर्णत: निमग्न हो गया था, एकचित्त हो गया था, मेरी वृत्ति विगलित वेद्यांतर हो गयी थी।

जब "पसंद आना" शब्द से हम किसी स्थिर प्रवृत्ति या विशिष्ट घटना का उल्लेख करते हैं तब हमें सुखद भावोर्मियों एवं सुखद मनोदशा का अनुभव अभिप्रेत रहता ही है, ऐसा नहीं। कल का गाना तल्लीन होकर सुनते समय हमें बीच-बीच में या बार-बार सुखद भावोर्मियों के अनुभव निस्संदेह आए होंगे। लेकिन बैठक पाँच घंटे चली हो तो सतत पाँच घंटे भावोर्मियों के अनुभव ही आते रहे, ऐसा कुछ हम नहीं कहना चाहते। एक विशिष्ट रीति से हमने वह गाना सुना, इतना ही मुख्यत: हम कहना चाहते थे।

अब तक के कुल विवेचन से ध्यान में आएगा कि सुख-अवधारणा बहुत ही उलझी हुई है। इसका या तत्सम शब्द का उपयोग करते समय हमारे मन में जो अर्थ होते हैं उन्हें अलग करना जरूरी होता है। वे अर्थ इस प्रकार हैं :

(1) संवेदनाओं से प्राप्त सुख (2) हर्षनिर्भर मनोदशा और उसके साथ आनेवाली सुख की भावोर्मि (3) प्रेरणा-परितृप्ति के कारण निर्मित होनेवाली सुखद मानसिक स्थिति। इसके अलावा, (4) किसी भी चीज का पसंद आना, उसमें रस लेना, उसमें रस लेते हुए विगलित वेद्यांतर वृत्ति होना, इस सब के बारे में बोलते समय भी "सुख" या तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[16] सुंदर वस्तुओं का आस्वाद लेते समय इनमें से किस अर्थ में हमें सुख प्राप्त होता है, यह विशिष्ट संदर्भ से मालूम होता है। उदाहरणार्थ, चाँदनी या उपवन देखते समय मुख्यत: पहले प्रकार का सुख मिलता है, "साष्टांग नमस्कार" देखते समय दूसरे प्रकार का सुख प्राप्त होता है, स्वप्नरंजन करनेवाला उपन्यास पढ़ते समय तीसरे प्रकार का सुख मिलता है। शोकात्मिका देखते समय तीन प्रकार के ये सुख प्राय: अभिप्रेत नही होते, "प्राय:" कहने का कारण यह है कि शोकात्मिका में अपने मन का तनाव ढीलने के लिए सुखमय प्रसंगों की योजना की गई हो, तो उतने समय के लिए ऊपर निर्दिष्ट प्रकारों में से दूसरे प्रकार का सुख कुछ अनुपात में प्राप्त हो सकता है। लेकिन शोकात्मिका का कुल परिणाम ध्यान में लेने पर वे सुख विशेष महत्त्व के नहीं होते, यह ध्यान में आएगा। यह प्रश्न कि "शोकात्मिका से कौन-सा सुख मिलता है ?" चमत्कारिक लग सकता है; क्योंकि "सुख" के उपर्युक्त पहले तीन प्रकार उसमें प्राय: नहीं होते, अगर हों भी तो उनका कोई महत्त्व नहीं होता। लेकिन फिर भी हम यह प्रश्न पूछते हैं। इसका एक कारण है यह कि हमारे मन में यह गृहीत विचार अंकित रहता है कि मनुष्य जो कुछ करता है वह सुख के लिए ही करता है। लेकिन यह गृहीत विचार ठीक नहीं है। यह हमने ऊपर देखा है। और फिर भी हम यह प्रश्न पूछते हैं। हम यह पूछना चाहते हैं कि शोकात्मिका देखने की हमपर कोई जबर्दस्ती नहीं की गई है। उससे हमारा कोई

व्यावहारिक लाभ भी होनेवाला नहीं, न वह हमारा कर्तव्य भी है। ऐसा होने पर भी हम शोकात्मिका को तल्लीन हो कर क्यों देखते हैं? जब अवसर मिलेगा तब शोकात्मिका देखना हमें अच्छा क्यों लगता है? उससे कौन-सा सुख प्राप्त होता है? ये प्रश्न पूछते समय हमारे मन में उपर्युक्त "सुख" का चौथा अर्थ अभिप्रेत होता है। सुख-अवधारणा का विश्लेषण करने के कारण यह प्रश्न हल हो गए ऐसा तो नहीं लेकिन यह तो सिद्ध हुआ कि वे प्रश्न चमत्कारिक नहीं हैं, और यह लाभ भी महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त विश्लेषण से एक और बात पर प्रकाश पड़ता है। क्या सुख को सौंदर्यानुभव का आवश्यक घठक माना जा सकता है? यह प्रश्न हमने प्रारंभ में ही उठाया था, लेकिन उसका संतोषजनक उत्तर हमें नहीं मिल पाया था। लेकिन अब "सुख" का विश्लेषण करने पर यह प्रश्न संतोषजनक ढंग से हम हल कर सकते हैं। जिससे सुख प्राप्त होता है वह सब सुंदर, अच्छा, श्रेष्ठ होता ही है, ऐसा नहीं, लेकिन हमारी अपेक्षा यही होती है कि एकाध चीज सुंदर, अच्छी या श्रेष्ठ ठहरानी हो तो उससे उपरिनिर्दिष्ट विविध अर्थों में से किसी एक अर्थ में तो सुख प्राप्त होना चाहिए। इसका अर्थ यह कि सुख की अनुभूति सौंदर्यानुभव का एक आवश्यक घटक है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसा सुख लौकिक माना जाए या अलौकिक? इस प्रश्न को हल करने के लिए "सुख" के उपर्युक्त अर्थ अलग-अलग करने होंगें। उनमें से चौथा अर्थ अभिप्रेत होगा तो सौंदर्यसुख लौकिक है या अलौकिक, यह हम कौन-सी चीज मन लगाकर एवं तल्लीनतापूर्वक कर रहे हैं, इसपर निर्भर रहेगा। अगर हम हैम्लेट के बाप की हत्या का बदला लेने के कार्य में विलंब क्यों हुआ, इसके कारण एकाग्रतापूर्वक खोज रहे हैं तो हमारी तल्लीनता ज्ञानव्यापार की तल्लीनता होगी और वह लौकिक ही कही जाएगी। अगर सुख का दूसरा अर्थ अभिप्रेत होगा तो अपना सुख लौकिक सिद्ध होगा। "साष्टांग नमस्कार" देखने के कारण निर्मित होनेवाली मनोदशा और मित्रों के साथ हास्यविनोद में कट गई छुट्टी के कारण प्राप्त होनेवाली मनोवस्था में जाति का अंतर नहीं होता।

ये दोनों लौकिक ही हैं, प्रेरणा-परितृप्ति के कारण प्राप्त सुख लौकिक है या अलौकिक? उसे लौकिक ही मानना पड़ेगा। यह कोई भी मानेगा, लेकिन कुछ साहित्यशास्त्रियों को ऐसा नहीं लगता। वाङ्मय से प्रेरणाओं की परितृप्ति होती है, यह मान्य करने पर भी प्रेरणाओं के विषयों का प्रत्यक्ष अस्तित्व वहाँ अभिप्रेत न होने के कारण उस सुख को अलौकिक क्यों न माना जाए, यह प्रश्न वे उठाएँगे। हम शृंगारिक वाङ्मय से उदाहरण लेंगे। शृंगारिक वाङ्मय से विशेषत: विप्रलंभ शृंगार-प्रधान, वाङ्मय से) जो सुख प्राप्त होता है क्या वह अलौकिक होता है? क्या उसे अलिप्त, निरपेक्ष अवलोकन से प्राप्त सुख कहेंगे? इन प्रश्नों को "हाँ" या "नहीं", इस तरह

आसान उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि हम एक अर्थ में अलिप्त हों तो भी दूसरे अर्थ में अलिप्त नहीं रहते। इंद्रिय-सुख के शारीरिक विषय से हम जितनी दूर जाएँगे उतने हम शरीर-सुख से अलिप्त होते जाते हैं, यह कहा जा सकता है। शृंगारिक वाङ्मय पढ़ते समय हमारे सामने शारीरिक विषय नहीं होते, यह सही है। परंतु विश्वचैतन्यवादी जिस अर्थ में अलिप्तता या निरपेक्षता शब्द का उपयोग करते हैं, उस अर्थ में यह भूमिका 'अलिप्तता' की नहीं होती। विश्वचैतन्यवादियों की अलिप्तता लौकिक दृष्टिकोण के अभाव से संलग्न है। जिस में ज्ञानव्यापार और प्रेरणातृप्ति नहीं है, ऐसे व्यवहार का एक घटक है उनकी अभिप्रेत अलिप्तता। शृंगारिक वाङ्मय पढ़ते समय हममें ऐसी अलिप्तता नहीं होती। क्योंकि हमारी प्रेरणाएँ जागृत ही होती हैं और एक प्रकार से उनका समाधान भी होता है। उनके विषयों को समाजशास्त्रीय स्थान नहीं होता, वे भास-रूप होते हैं। इसलिए हमारी प्रेरणाओं की संतृप्ति के मार्ग नित्य के मार्गों से अलग होते हैं। अगर हमारी प्रेरणाएँ जड़ित हो जाएँ तो शृंगारिक वाङ्मय से हमें आनंद नहीं होगा और एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि विप्रलंभ शृंगार का अनुभव लौकिक जीवन में भी आता है। प्रेयसी से दूर रहकर, उसी के साहचर्य की अपेक्षा न रखनेवाला प्रेमी विप्रलंभ शृंगार का अनुभव लेता है, ऐसा कहा जा सकता है, वह प्रेयसी के साहचर्य की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए उसका प्रेम निरपेक्ष माना जाता है। लेकिन विश्वचैतन्यवादियों की अभिप्रेत --निरपेक्षता--मतलब अस्तित्व निरपेक्षता--यहाँ नहीं है। वही भय शृंगारिक वाङ्मय पढ़नेवाले पाठकों के बारे में भी सही है। उसका आनंद लौकिक ही ठहरता है। संवेदन सुख (अर्थ 1) लौकिक या अलौकिक, यह तय करने के लिए हम स्वर-संवेदना से मिलनेवाले सुख का उदाहरण लें। संगीत के संबंध में हम जब स्वर-संवेदना का विचार करते हैं तब अपने मन में निम्नलिखित तीन बातें होती हैं: (अ) स्वर का माधुर्य, (आ) उसकी भाव संवाहकता, (इ) स्वर-संगीत का घटक बनने की उसकी शक्ति। इन में से "अ" के संबंध में विश्वचैतन्यवादियों की अभिप्रेत अलिप्तता का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। मधु की मधुरता चखते समय, सघन हरी हरियाली पर लेटते हुए, चंद्रप्रकाश से नहाई सृष्टि की ओर देखते समय हम जिस प्रकार अलिप्त नहीं होते उसी प्रकार स्वर के माधुर्य का अनुभव लेते समय भी हम अलिप्त नहीं होते। यहाँ विशिष्ट प्रेरणाएँ जागृत न भी हों तो भी कुछ जीवन-प्रेरणाओं का ही स्वास्थ्य (well-being) और सुख हम अनुभव करते होते हैं, ऐसा कोई कह सकता है। "आ" और "इ" के कारण दो भिन्न प्रकार की कलाकृतियाँ उत्पन्न होने की संभावना है। "आ" के कारण भावसंवाहक "ठुमरी" नाट्यसंगीत, भावगीत इत्यादि का निर्माण होता है। जिस प्रकार भाव-कविता में बिशिष्ट भावों का व्यंजन होता है, विशिष्ट प्रेरणा, भावनाओं का आवाहन किया जाता है, उसी तरह इस प्रकार के संगीत में भी होता है। इसलिए ऐसे संगीत को हम वीरश्रीपूर्ण, मादक, नृत्यपूर्ण इत्यादि नाम

देते हैं। ऐसा संगीत सुनते समय विश्वचैतन्यवादियों की दृष्टि से हम अलिप्त नहीं होते। हमारी प्रेरणाओं को अगर बिलकुल ही निकाल देंगे तो वह संगीत हमें हृद्य नहीं लगेगा। उपर्युक्त दोनों प्रकार के संगीत को कांट अलौकिक नहीं मानेगा। उन्हें वह रोचकता (agreeable) का सुख और हृद्यता (charm) का सुख कहेगा। सार्वजनिक, अनिवार्य, निरपेक्ष सौंदर्यसुख से ही कांट ने रोचकता और हृद्यता को अलग किया है। फिर हृद्यता में लौकिक प्रेरणा और भावना का अस्तित्व गृहीत मानना पड़ता है। उसके कारण भी अलौकिकता में बाधा पड़ती है। 'इ' के कारण जो संगीत निर्मित होता है, वह लौकिक से एकदम भिन्न अनुभव प्राप्त करा देता है। क्योंकि उसमें स्वर का माधुर्य महत्त्वपूर्ण नहीं होता, उसी तरह भावव्यंजना का भी उसमें महत्त्व नहीं होता, याने अलिप्तता को भंग करनेवाली प्रेरणा-परितृप्ति और संवेदनासुख ये दो जो महत्त्व के कारण दिये गए हैं, उनको बिलकुल ही काट कर अलग कर दिया जाता है। यहाँ महत्त्व होता है केवल रचना की जो स्वरसंगति निर्मित होती है, उसमें ज्ञान-व्यवहार में उपयोग में लाई जानेवाली कार्यकारणादि ज्ञानद अवधारणाएँ प्रयुक्त नहीं होतीं। कांट भी मान्य करेगा कि इस प्रकार के संगीत से विनिर्मित सुख अलौकिक होगा। असल में यह संवेदनासुख ही नहीं है। वह है रचना से प्राप्त सुख।

सौंदर्य में अभिप्रेत संवेदनासुख और अन्य संवेदनासुख में हमने स्पेन्सर की सहायता से अंतर किया था। जिस संवेदनासुख का प्रेरणापरितृप्ति के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं उन्हीं को स्पेन्सर ने सौंदर्य-सुख कहा है। यह सुख भी क्या लौलिक कहा जायगा? इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक ही देना होगा, क्योंकि कांट कहेगा कि प्रेरणापरितृप्ति से संबंध टूटने पर भी संवेदनासुख रोचकता का सुख ही है, उसमें एक प्रकार की अलिप्तता भले ही हो वह विश्वचैतन्यवादियों के लिए अभिप्रेत अलिप्तता याने अस्तित्व निरपेक्षता नहीं है।

8.6

हम कहते हैं कि कुछ चीजें सुखद होती हैं। मतलब उनके कारण हमें सुख मिलता है। सुख हममें उत्पन्न होता है इसलिए हम सुखानुभव में मग्न होते हैं। लेकिन मान लीजिए किसी चीज के वस्तुगत गुण के रूप में अगर सुख अनुभूत होता है तो हम उस सुख में मग्न नहीं होंगे। फिर शायद विश्वचैतन्यवादियों को अभिप्रेत अलिप्तता या निरपेक्षता का निर्माण होना क्या संभव नहीं है? इस दिशा में विचार करते हुए सांतायाना ने विश्वचैतन्यवादियों के अतिशय निकट आनेवाला सुखवादी सौंदर्यसिध्दांत प्रस्तुत किया है। सांतायाना के इस सिध्दांत का अब हम संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेंगे। अपने आसपास की वस्तुओं के बारे में बोलते हुए हम अलग-अलग गुणों का निर्देश करते हैं और वे गुण उन वस्तुओं में हैं, ऐसा हम मानते हैं। कुछ दार्शनिकों की राय में ये सब गुण एक ही जाति के नहीं हैं। वे सब वस्तु में होते हैं। यह मानना

भी गलत है। इन गुणों में से सिर्फ कुछ गुण वस्तुगत होते है। इसके विपरीत कुछ गुण वस्तुओं में न होकर उन वस्तुओं के हमपर जो परिणाम होते हैं उनके कारण उत्पन्न होते हैं। समझ लीजिए, हम किसी कुर्सी को देख रहे हैं। उसका आकार वस्तुगत गुण माना जाता है। लेकिन उस कुर्सी का हमारी आँखों के साथ जो संबंध आता है- (उदाहरणार्थ, उसके द्वारा परावर्तित प्रकाश किरणें हमारी आँखों से टकराती हैं और उसके कारण हमारी मज्जा-संस्था में कुछ प्रक्रियाएँ शुरू होती हैं।) उसके कारण उसको विशिष्ट रंग है, ऐसा बोध हमें होता है। जिस अर्थ में आकार कुर्सी का वस्तुगत गुण है उस अर्थ में रंग कुर्सी का वस्तुगत गुण नही है। विश्व में मानवीय इंद्रियाँ नहीं होतीं तो भी वस्तुओं के आकार रहते है ही। लेकिन इंद्रियों के अभाव में वस्तुओं के रंग होते ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तु और मानवीय इंद्रियों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रंग अस्तित्व में आते हैं। फिर भी हम मानते हैं कि रंग वस्तु का ही गुण है। अब समझ लीजिए, उस वस्तु के अवलोकन से हमें सुख हुआ। रंग और सुख दोनों वस्तुगत नहीं हैं, लेकिन रंग वस्तुगत माना जाता है और सुख मनोगत। इसीलिए हम कहते हैं, "फूल पीला है", क्योंकि पीलापन फूल में ही होता है, ऐसा हम मानते हैं! इसके विपरीत हम कहते हैं, "फूल सुखद हैं" क्योंकि सुख फूल में विद्यमान होते हैं, ऐसा हम मानते हैं। लेकिन कभी-कभी मनोगत सुख वस्तुगत रूप में प्रतीत होता है। सांतायाना की राय में ऐसे समय हमें सौंदर्यदर्शन होता है। जिस दुनिया में सुख का अनुभव लेने को मनुष्य का मन नहीं है। उस दुनिया में सौंदर्य का अस्तित्व संभव नहीं। क्योंकि सौंदर्य वस्तुगत सुख ही तो होता है। सुखादि भावनाओं का वस्तुओं पर आरोप करने की प्रवृत्ति सबमें होती है, कम-से-कम मानव जाति की असमृद्ध अवस्था में वह प्रवृत्ति सभी में थी। आज समृद्ध मन को वस्तुएँ सुखद प्रतीत होती हैं, वे जब सुखरूप प्रतीत होंगी, तभी सौंदर्य-दर्शन होगा। सौंदर्य वस्तुगत सुख ही है।[18]

वस्तुगत सुख की अवधारणा समझना जरा मुश्किल ही है। परंतु उसके संबंध में निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिए जा सकते हैं। : विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यशास्त्री मानते हैं कि मानवीय भावनाओं इत्यादि का ऐंद्रिय माध्यम में देहीकरण सौंदर्य है। उनके इस सिध्दांत में और सांतायाना के सौंदर्य-सिध्दांत में तत्त्वतः कुछ भी अंतर नहीं है, ऐसा लगता है। लेकिन निम्नांकित मुद्दों पर उनमें मतैक्य नहीं है। (१) विश्वचैतन्यवादियों की राय में सौंदर्यसंवाक्य को सार्वभौमिकता होती है। सांतायाना सार्वभौमिकता को मान्य नहीं करता। उसकी राय में जो एक के लिए सुंदर वह अन्यों को सुंदर लगेगा ही सो नहीं। इस भूमिका के कारण सांतायना का कार्य विश्वचैतन्यवादियों की अपेक्षा अधिक कठिन हुआ है। सार्वभौमिकता मान्य करने पर ही सुख की वस्तुगतता कल्पित करना शक्य है। रंग वस्तुगत इसलिए हम मानते हैं कि वस्तु का रंग सभी को एक ही दिखता है। अगर देखनेवाले के साथसाथ वस्तु के

रंग बदलते जाते तो रंग वस्तुगत नहीं माने जा सकते। घास हरी होती है। लेकिन चूँकि मैं रंगांध हूँ या पर्याप्त प्रकाश का अभाव है मुझे वह कत्थई दिखती है। "होना" और "दिखना" या "भासित होना" यह द्वंद्व शक्य होने का कारण ही होने में अनुस्यूत सार्वभौमिकता है। अनेक लोगों ने भावनादिकों की वस्तुगतता मानने से इन्कार किया है, क्योंकि उनके बारे में सार्वभौमिकता सिद्ध करना कठिन होता है। लेकिन विश्वचैतन्यवादियों का दावा है कि कभी कभी हमारी भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रतीत न हो कर वस्तुगत गुणों के रूप में प्रतीत होंगी। लेकिन यह भूलना नहीं होगा कि यह वस्तुगतता प्रतिक्रियाओं की सार्वभौमिकता पर निर्भर रहती है। सांतायाना को वस्तुगतता चाहिए लेकिन सार्वजनीनता अमान्य है (2) विश्वचैतन्यवादियों की दृष्टि से जो भी भावनाएँ वस्तुगत होती हैं, सौंदर्य की प्रतीति देती हैं। लेकिन सांतायाना की राय में केवल वस्तुगत सुख ही सौंदर्य का अधिष्ठान है। उसकी राय में सुखसर्वोच्च मूल्य होने के कारण ही उसने यह भूमिका ली होगी, ऐसा लगता है।[20] एक अर्थ में कहा जा सकता हे कि विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यमीमांसा में भी सुख को महत्त्व रहता है क्योंकि इंद्रियसंवेद्य जड़ विश्व हमारी भावनादि को प्रतिसाद देता है। इस बोध के कारण सौंदर्य के कुल अनुभव को सुख की छटा प्राप्त होती है। कांट की राय में सौंदर्य-संवाक्य में विधेय स्थान पर एक प्रकार का संतोष या सुख होता है। ऐसा होने पर भी कांट और विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यशास्त्रियों को सांतायाना की भाँति सौंदर्यसुखवादी नहीं कहा जा सकता। कांट में ज्ञानशक्तियों के उन्मुक्त मेलन को सुख से अधिक महत्त्व दिया गया है और विश्वचैतन्यवादियो का बल सुख से अधिक आत्माभिव्यक्ति पर है। (3) विश्वचैतन्यवादियों को सौंदर्यानुभव में महत्त्वपूर्ण लगानेवाली अलिप्तता अथवा निरपेक्षता सांतायाना को मान्य नहीं है।[21]

(आ) जब सांतायाना वस्तुओं की सुखरूपता के बारे में बोलता है तब उसे शायद उनकी सुखदता ही अभिप्रेत रही होगी। जब कोई वस्तु ज्ञान अथवा व्यवहार का साधन नहीं होगी उस समय उसकी सुखदता अनुभव होती है तो वस्तु का सुखरूप लगना स्वाभाविक है।

हमने विश्वचैतन्यवादी सिध्दांत के संदर्भ में दोनों पर्यायों का विचार किया है। अत: सांतायाना के सिध्दांत की इससे अधिक तफसील में चर्चा करने की आवश्यकता है।

अगर सौंदर्यानंद को अन्य प्रकार के आनंद से अलग करना हो तो कांट के मार्ग का अवलंब करना पड़ेगा। कांट की राय में सौंदर्यानंद अनुभव के विषय के अस्तित्व की अपेक्षा न रखते हुए प्राप्त होता है। इस सिध्दांत के कारण कांट एक ओर सौंदर्यानंद और दूसरी ओर संवेदनासुख और नैतिक आनंद, इस प्रकार का विभाजन कर सका।

लेकिन चौथे अध्याय में हमने देखा कि कांट का विवेचन केवल स्वायत्त सौंदर्य पर ही लागू होता है। परायत्त सौंदर्य और आशयप्रधान कलाकृति को कांट का विवेचन लागू नहीं होता। आशय-प्रधान कलाकृति के कारण होनेवाला आनंद एक तो संवेदनासुख में, प्रेरणा-परितृप्ति में, नहीं तो नैतिक परितोष में विलीन होता है। 'फुलराणी' पढ़ते समय हमें सुख होता है। इस सुख का वर्णन संवेदनासुख ही करना होगा। सुंदर दृश्य देखने पर या कल्पना से मन के सामने उसे लाने पर जो सुख मिलता है उसे संवेदनासुख ही कहा जाएगा। फड़के के उपन्यास पढ़ कर प्रेरणा-परितृप्ति का सुख मिलता है। जब दुष्यंत और शकुंतला का मिलन होता है तब विश्व की सृष्ट शक्ति की विजय का संतोष हमें प्राप्त होता है और यह नैतिक परितोष से अलग नहीं किया जा सकता। कांट के लिए अभिप्रेत निरपेक्ष, अलौकिक आनंद आशयविरहित या केवल रचनाप्रधान कलाकृति के बारे में ही शक्य है।

8.7

इस अध्याय में हमें भावनाजागृति - सिध्दांत का भी विचार करना है। 'पण लक्षांत कोण घेतो' उपन्यास हृदय विदारक है, 'गिधाडे' बहुत प्रभावपूर्ण नाटक है, 'दिलीप चित्रे का प्राय: बहुत सारा लेखन हलचल उत्पन्न करनेवाला है', 'परसों बहुत रूखा गायन हुआ'-- इस प्रकार हम बोलते है।

इस प्रकार की बातों के मूल में भूमिका यही रहती है कि सुंदर वस्तुएँ और कलाकृतियाँ हमारी भावनाओं पर प्रभाव डालती हैं और कलाकृतियों के बारे में विचार करते समय एवं उनका मूल्यांकन करते समय ये परिणाम हम ध्यान में लेते हैं। बहुत बार यह देखा गया है कि कलाकार विशिष्ट भावनाओं की जागृति करने के लिए बोधपूर्वक कला का निर्माण करते हैं। समूचा व्यंग्यात्मक (satire) लेखन इसी उद्देश्य से निर्मित होता है। समाज का जागरण, सुधार, राजनैतिक परिवर्तन, इत्यादि उद्देश्य मन के सामने रखकर लिखने वाले लेखक भावना-जागृति करने का उद्देश्यपूर्वक प्रयत्न करते हैं। ऐसे अनेक प्रयोजन सामने रखते हुए भी कलाकार दर्शकों को हँसने एवं रुलाने के लिए लिखते हैं। सौंदर्यशास्त्रियों और समीक्षको ने भी इस कल्पना का बहुत पहले से पीछा किया है। प्लेटो ने अपने "रिपब्लिक"[22] में कवियों पर ऐसा अभियोग लगाया है कि वे भावना-जागृति करके मन को दुर्बल बनाते हैं और काव्य के कारण एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति में भावनाओं का संक्रमण कैसे कराया जाता है, यह उसने 'आयान' संवाद में बहुत अच्छे ढंग से दिखाया है।[23] अरस्तू के भावना-विरेचन के सिध्दांत में भावना-जागृति अभिप्रेत है।[24] लांजायनस जब बताते हैं कि बेहोशी (transport) विराटता (sublime) का परिणाम है तब उसे इस परिणाम में अंतर्निहित भावनात्मकता मुख्यत: अभिप्रेत है, ऐसा लगता है।[25] उन्नीसवीं शती के रोमांटिक कालखंड से आगे भावना-जागृति को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। आज भी रिचर्ड्स

जैसे समीक्षक अपने कला संबंधी सिध्दांत में भावना-जागृति महत्वपूर्ण स्थान देते दिखते हैं। भारत की परंपरा को देखने पर ध्यान में आएगा कि रससिद्धांत स्वीकार करनेवालों में रस को रसिकगत कहनेवालों को भावना-जागृति का कोई-न-कोई सिध्दांत मान्य रहता है। इस पर से यह ध्यान में आएगा कि भावना-जागृति संबंधी सिध्दांत सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

8.8

कलास्वाद की भावनात्मकता के बारे में बोलते समय हमने भावना शब्द को एक दूसरे से संलग्न लेकिन विभिन्न अवधारणाओं के लिए प्रयुक्त किया। इस शब्द का मनोवैज्ञानिक अर्थ देह वा मन की क्षुब्ध अवस्था[26] (stirred up state of the organism) है। सभी दैहिक-मानसिक व्यवहार के अस्तव्यस्त होने का यह अनुभव अलग-अलग घटकों से सिध्द होता है। उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बडा घटक है, शरीर संवेदना।[27] "हृदय की कँपकंपाहट होना", "गला भर आना", "पेट में गढ़ा पड़ना", "मस्तक पर चोटें पड़ना" इत्यादि शब्दप्रयोग भावावस्था का वर्णन करने के लिए हम इस्तेमाल में लाते हैं। यह वर्णन प्राय: शरीर-संवेदनाओं का ही है। ये संवेदनाएँ ही भावनाएँ हैं, ऐसा नहीं। लेकिन भावानुभव में निश्चय ही उनको महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसी के साथ कोई कृति करने की प्रेरणा भी भावना का एक अविभाज्य घटक होती है।[28] भय लगने पर भाग जाने की इच्छा होना, गुस्सा आने पर मारने के लिए दौड़ जाना, ये बातें उपर्युक्त मुद्दे के प्रमाण के रूप में दिखाई जा सकती हैं। भावना और प्रेरणा का बहुत निकट का संबंध है। आपात् काल में अच्छी तरह मुकाबला करने के लिए जो अतिरिक्त शक्ति आवश्यक है वह इसी भावना के कारण प्राप्त होती है, भावना का शरीरशास्त्रीय कार्य महत्त्वपूर्ण है।[29] इसके आलावा और चार मुद्दों का उल्लेख आवश्यक है। (अ) किन्हीं मनोवैज्ञानिकों की राय में प्रेरणा का भावना के साथ दो प्रकार का संबंध है। हमने ऊपर देखा कि भावनानुभव के एक अंग के रूप में प्रेरणा का स्थान होता है। लेकिन भावानुभव होता है वह इसलिए कि कोई प्रेरणा जागृत होती है। भोजन करते समय अगर हमारे सामने की थाली कोई खींच ले जाए तो गुस्सा आता है। यहाँ गुस्सा आने के कारणों में भोजन की इच्छा का किया गया विरोध शामिल करना होगा। अगर वह इच्छा ही न होती तो उसका विरोध भी नहीं होता और हमें गुस्सा भी न आता।[30] लेकिन हर बार ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, अचानक साँप दिखे तो हमें भय लगता है। यहाँ भावनांतर्गत प्रेरणा हो तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि भावनापूर्व प्रेरणा जागृत थी। इसपर यह कहा जा सकता है कि आत्मरक्षा की प्रेरणा सदैव जागृत रहती है, कभी उसका हमें स्पष्ट भान नहीं होता। जिसने, मरण के भय पर विजय प्राप्त की, मतलब जिसमें आत्मरक्षा की भावना बहुत प्रभावी नहीं है, उसे साँप का भय नहीं लगता। (आ)भावानुभव कुछ समय के

लिए तो हमारे सभी व्यवहारों पर पूरा प्रभाव डालता है। भावना बहुत तीव्र हो तो अपने सारे व्यवहार पूर्णतः अस्तव्यस्त हो जाते हैं। (इ) भावनाजागृति परिस्थिति पर निर्भर नहीं होती। हमें परिस्थिति का जो भान होता है उस पर निर्भर रहती है। साँप दिखने पर भय लगता है क्योंकि हमें मालूम है कि साँप जहरीला होता है। परिस्थिति कितनी भयानक है इसपर भय निर्भर नहीं रहता। उस भयानकता का कितना बोध हमें है, इसपर भय की उत्पत्ति निर्भर रहती है। इसलिए कभी संकट टल जाने पर (लेकिन उसका भान होने पर) हमें डर लगता है। अगर कोई कार सरपट दौड़ती निकट से गई तो उस क्षण भय नहीं पैदा होगा लेकिन कुछ क्षण बाद जब निकट आए संकट का बोध होता है तब हम काँप जाते हैं। (ई) भावना का विषय होता है। हम किसी पर गुस्सा करते हैं। किसी से हमें भय लगता है। भावना के स्वरूप में ही उसका विषय होना अनुस्यूत रहता है।[31] उपर्युक्त बहुत सारे मुद्दे यह दिखाते हैं। भावनानुभव लौकिकता की जमीन में खूब गहरे पैठ गया है। भावनाजागृति परिस्थिति के भान पर निर्भर रहती है, इसलिए उसकी एक जड़ ज्ञान-व्यवहार में दिखती है, उसमें प्रेरणा का अस्तित्व भी होता है। अतः भावना की दूसरी जड़ व्यवहारात्मक जीवन में होती है। भावनाजागृति का सिध्दांत जिनको मान्य है उन्हें असल में सीधे लौकिकतावाद का समर्थक होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। भावनाजागृति के सिध्दांत का अलौकिकता के साथ गठबंधन करने का यत्न कुछ सौंदर्यशास्त्रियों ने किया है। उसका परिचय हम प्राप्त करने ही वाले हैं। लेकिन उनका कार्य कितना कठिन है, इसकी कल्पना भावना के विश्लेषण से हो सकती है।

वाड्मय पढ़ते समय हमें जो अनुभव प्राप्त होता है वह क्या ऊपर चर्चित भावजागृति का होता है? कभी ऐसा अनुभव मिलता है, इसमें संदेह नही। सिंधु का दुःख देख कर आँखों में पानी भर जाता है। लियर की यातना हृदय में व्याकुलता उत्पन्न करती है, 'आयागो' और 'शंकर मामंजी' के प्रति गुस्सा पैदा होता है, हिचकॉक का चित्रपट देखते समय शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये सारे भावनानुभव हैं और वाड्मय कृति पढ़ते समय या रंगमंच पर देखते समय ऐसे अनुभव अवश्य आते हैं। लेकिन 'एकच प्याला' देखते समय हम दुखी हों तो भी सारा समय रोते नहीं रहते। या समूचा हृदय भर-भर नहीं आता। उसी तरह हिचकॉक का चित्रपट देखते समय समूचे समय में शरीर पर काँटा नहीं उभरता। भावना का अनुभव कुछ समय के लिए टिकनेवाला होता है। उसका स्वरूप बहुत कुछ अंशों में उर्मि या झटके की तरह होता है। वाड्मय पढ़ते समय ऐसी उर्मियाँ बीच-बीच मे हम अनुभव करते हैं, लेकिन समूचा समय ऐसी ऊर्मियों में नहीं जाता। ऐसा होता तो हम कभी के पागल बन जाते। फिर भी हम वाड्मयीन अनुभव को भावनात्मक अनुभव या भावनानुभव ही कहते हैं। अतः भावनात्मकता के और भी अर्थ हो सकते हैं।

"भावना", "भावनात्मक" शब्द हम बहुत बार जब-जब इस्तेमाल में लाते हैं तब-तब हमें भावनात्मक मनोदशाओं (moods) के बारे में बोलना होता है। ये मनोदशाएँ कम अधिक समय तक टिकी रहती हैं। भावोर्मियों की तरह वे क्षणजीवी नहीं होतीं। किसी दिन सुबह से ही हम चिड़चिड़े से बन जाते हैं। हम छोटी-छोटी बातों पर चिढ़ते रहते हैं। किसी दिन हम उदास या विषण्ण बनते हैं, या आनंद में रहते हैं। वे सारी मनोदशाएँ ही हैं, उर्मि की तुलना में उनका जीवन अधिक काल तक हो भी तो भी ये स्थिर प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं। कोई व्यक्ति दिनभर उदास रहेगा, लेकिन पूरे जीवनभर उदास रहेगा ऐसा नहीं। वह अगर बारबार उदास होगा, इस विश्वास के साथ कि बुरा ही घटित होगा, वह हमेशा व्यवहार करता होगा तो हम उसे निराशवादी कहेंगे। निराशावादी होना भावनात्मक स्वभाव वैशिष्ट्य (temperament) है।[32] भावनात्मक स्वभाव वैशिष्ट्य प्राय: जीवन-भर हमारा साथ देते हैं। वे हमारे व्यक्तित्व का ही एक भाग बनते हैं। जब हम किसी व्यक्ति को, निराशावादी और दूसरे को आशावादी कहते हैं, तब हमारे मन में उन मनुष्यों के स्वभाव वैशिष्ट्य ही होते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह तो नही कि निराशावादी मनुष्य सारे समय के लिए म्लान पड़ा रहता है और आशावादी सदैव उछल-कूद करता रहता है। ये दोनों औरों की तरह ही खाते-पीते रहते हैं, नौकरी करते हैं, सब्जी ले आते हैं। निराशावादी मनुष्य क्वचित् हँसेगा भी, आशावादी कभी रोएगा भी। पहला व्यक्ति आशावादी और दूसरा व्यक्ति निराशावादी है, इसका अर्थ इतना ही कि जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के बारे में विचार करते समय उनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न रहती हैं। इन प्रसंगों से कुछ भी अच्छा नहीं निकलेगा, यह एक की प्रतिक्रिया होती है और बुरे से भी अच्छा निर्मित होगा, यह दूसरे की विचार-प्रणाली होती है। ब्राउनिंग और हार्डी, ये दोनों लेखक क्रमश: आशावादी और निराशावादी प्रवृत्ति के अच्छे नमूने हैं। हार्डी निराशावादी था। इसका अर्थ वह सारे समय उदास था, ऐसा न होकर कुल जीवन के बारे में विचार करते समय उसकी प्रतिक्रिया एक विशिष्ट पद्धति की थी, ऐसा ही उसका अर्थ है।

इसके अलावा और एक बात का निर्देश जरूरी है। वह है भावनात्मक स्थिरप्रवृत्ति (sentiment, emotional disposition)।[33] प्रेम, द्वेष, भक्ति इत्यादि भावनाएँ स्थिर प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं। स्वभाव वैशिष्ट्य एवं भावनात्मक स्थिरप्रवृत्ति भावोर्मियों की तरह स्वयं अपने अनुभव के विषय नहीं हो सकते। इन स्थिरप्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति विशिष्ट कृति एवं भावोर्मि के माध्यम से होती है। यह अभिव्यक्ति अनुभव का विषय होती है, लेकिन उसके पार्श्व की स्थिरप्रवृत्ति अनुभव का विषय नहीं बनती। जिनका अनुभव हो सकेगा ऐसी स्थिरप्रवृत्ति चीज ही नहीं है। भावना और भावनात्मक स्थिरप्रवृत्ति की तार्किक जाति एक नहीं होती। स्थिरप्रवृत्ति और स्वभाव वैशिष्ट्य की जाति एक होती है। लेकिन स्थिरप्रवृत्तियों का एवं स्वभाव-वैशिष्ट्यों का भावनाओं

के साथ निकट का संबंध है। किसी स्थिर-प्रवृत्ति के होने का मतलब है जीवन की भिन्न परिस्थितियों के बारे में विशिष्ट भावनात्मक प्रतिक्रिया होने की ओर, विशिष्ट कृति करने की ओर झुकाव होना। जब हम कहते हैं कि "क" व्यक्ति देशभक्त है तब हम यह तो नहीं कहना चाहते कि वह सब समय देश के बारे में विचार करता रहता है या देशभक्ति से उसका सीना सदैव फूला रहता है। हम इतना ही कहना चाहेंगे कि विशिष्ट प्रसंगों में वह कैसे व्यवहार करेगा, उसकी प्रतिक्रियाएँ कैसी होंगी, इसकी कल्पना हमें है। फलाँ मनुष्य गर्वीला है, फलाँ मनुष्य महत्त्वाकांक्षी है, ये संवाक्य उन आदमियों की स्थिरप्रवृत्तियों का वर्णन करते हैं, उनके भावानुभवों का नहीं। स्थिरप्रवृत्ति के साथ-साथ विशिष्ट भावनात्मक अनुभव अपने आप ही आते हैं। लेकिन स्थिरप्रवृत्ति याने भावनात्मक अनुभव नहीं। स्थिरप्रवृत्ति और विशिष्ट भावानुभव का रिश्ता सहज प्रेरणाओं और विशिष्ट कृति के बीच के रिश्त की तरह होता है। मनुष्य में भूख की सहज प्रेरणा होती है। इसका अर्थ यह कि विशिष्ट समय पर मनुष्य विशिष्ट कृति करता है। उसे विशिष्ट अनुभव प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ अपराह्न एक बजे के आसपास लोग कैंटिन की दिशा में चलने लगते हैं, कहते है, "भूख से पेट में कौए चिल्ला रहे हैं।" वे थकान अनुभव करते हैं, इत्यादि। ये विशिष्ट कृतियाँ अथवा ये बातें अनुभव के विषय हैं, लेकिन भूख की सहजप्रेरणा अनुभव का विषय नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने 'भावना' एवं 'भावनात्मकता' के अलग-अलग अर्थ देखे। बिलकुल संकुचित अर्थ में यह शब्द थोड़ी देर के लिए टिकनेवाले शरीर मन के क्षोम का पर्याय है। लेकिन अक्सर हम इतने संकुचित अर्थ में "भावना" शब्द का उपयोग नही करते। क्षणिक भावनानुभव की अपेक्षा अधिक काल तक टिकने वाली मनोदशा (mood) और बहुत समय तक करीबन् जीवन-भर टिकनेवाली स्थिरप्रवृत्ति या भावनात्मक स्वभाववैशिष्ट्य भी हमें अभिप्रेत होता है। स्थिरप्रवृत्ति या भावनात्मक स्वभाववैशिष्ट्य हमेशा किसी स्थान के तापमान की भाँति होते हैं, मनोवस्था आज तापमान की भाँति होती है, और भावानुभव विशिष्ट क्षण में बरसनेवाली वर्षा की झड़ी की तरह होता है।

वाड्मय की भावनात्मकता ऊपर वर्णित तीन प्रकार की तरह होती है। वाड्मय को पढ़ते समय कभी हम झकझोर दिए जाते हैं, लेकिन यह अनुभव अल्पजीवी होता है। दैनंदिन जीवन में और वाड्मय को पढ़ते समय आनेवाला झकझोर दिये जाने का अनुभव काल की दृष्टि से समान होता है। जिस तरह हम झकझोरे जाते हैं वैसे कवि भी झकझोरा जाता है। लेकिन इस अल्पजीवी अनुभव से कलाकृति उत्पन्न होने की शक्यता कम दिखती है। इस क्षणभंगुर अनुभव को समूची कलाकृति सँभालना मुश्किल हो जाता है। निर्मिति प्रक्रिया का प्रारंभ क्षणिक भावोर्मि से हो सकता है। इस दृष्टि से अधिक समय तक टिकनेवाली मनोवस्था का अनुभव काव्य का आशय होने की

संभावना अधिक होती है। स्थिरप्रवृत्तियों एवं भावनात्मक स्वभाववैशिष्ट्यों को वाड्मय में स्वाभाविक रूप में बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ है। हमने ऊपर देखा कि स्थिरप्रवृत्ति विशिष्ट प्रसंग में विशिष्ट भावनाओं, मनोवस्थाओं, विचारों एवं कृतियों को जन्म देती है। 'सिंधु' के पतिप्रेम पर 'एकच प्याला' संपूर्ण नाटक खड़ा है। यह पतिप्रेम अलग-अलग भावना और कृतियों और भावनों के माध्यम से व्यक्त होता है। इसके कारण नाट्यकृति का आशय संपन्न हो सका। वही बात ऑथेल्लो और डेस्डिमोना के परस्पर प्रेम की, 'मैकबेथ' की महत्त्वाकांक्षा की और 'घनश्याम' अथवा 'आयोगो के दुष्ट स्वभाव की है।

काव्यानुभव का जन्म किसी तीव्र भावोर्मि में हो सकता है, यह हमने देखा। घर्षण से अग्नि निर्मित करने और उसी ज्वाला में जल जाने का गुण लकड़ी में होता है। इसलिए दावाग्नि की पहली चिनगारी गिर जाती है। जिस भावोर्मि में से काव्य के अनुभव का जन्म होता है उसके पीछे स्थिरप्रवृत्तियाँ होती हैं, और वे होती हैं इसीलिए भावनुभव प्राप्त होता है। बाद में पुष्प की तरह खिलाया जाता है और अनेक रूपों में व्यक्त किया जाता है। भावना को मिलाने की अवधारणा हमें विश्वचैतन्यवादियों के लेखन में भी प्राप्त होती है, यह हमने पाँचवें अध्याय में देखा। विश्वचैतन्यवादियों के विवेचन का स्मरण यहाँ होना स्वाभाविक है।

8.9

इस विवेचन के कारण संस्कृत काव्यशास्त्र के भावों के वर्गीकरण पर कुछ प्रकाश पड़ता है या नहीं, यह देखें। यह वर्गीकरण इस प्रकार है: (अ) स्थायीभाव, (आ) व्यभिचारी या संचारी भाव, (इ) सात्त्विक भाव। इसमें आठ सात्त्विक भाव क्षणिक भावनात्मक क्षुब्धावस्थाओं जैसे हैं। भावोर्मि के विश्लेषण में हमने शरीर- संवेदनाओं का निर्देश किया था। सात्त्विक भाव ऐसे ही शरीर-संवेदनाओं अथवा प्रक्रियाओं की जाति के हैं। संचारी भावों में से कुछ भावनाओं के स्वरूप जैसे हैं। (उदाहरणार्थ, चिंता, विषाद) कुछ भावनात्मक मनोदशाओं के-से हैं। (उदाहरणार्थ, हर्ष) कुछ स्थिर प्रवृत्तियों जैसे हैं। (उदाहरणार्थ गर्व, असूया) तो अन्य शारीरीक अवस्थाओं जैसे हैं (उदाहरणार्थ ग्लानि, मरण)। सात्त्विक भावों में से कुछ को स्थिरप्रवृत्तियाँ कहा जा सकता है। (उदाहरणार्थ, रति।) तो कुछ 'भावनाएँ' कहलाए जाएँगे (उदाहरणार्थ, भय।) इस से ध्यान में आएगा कि भरत द्वारा किए गए वर्गीकरण और हमारे वर्गीकरण में एकवाक्यता नहीं है। यह सही है कि भरत साहित्यमीमांसक था, मनोविश्लेषक नहीं। उसे नाट्य के संदर्भ में रसनिष्पत्ति कैसे होती है, यही बताना था, अतः वह लौकिक भावों का व्यवस्थित और तर्कशुद्ध वर्गीकरण दे, यह अपेक्षा करना ही गलत है। कुछ अध्येताओं ने ऐसा सूचित किया है। उदाहरणार्थ डॉ. गो. के. भट कहते हैं, ".....यह भावों का विचार करते समय मनोविज्ञान में अवगाहन कर मानवी भावभावनाओं का

पृथक्करण, उनका वर्गीकरण एवं जाति निश्चित करने का प्रयास भरत ने किया है और काव्यशास्त्र को वैसा करना चाहिए, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। संवेदना, भाव, भावना का संपूर्ण विचार मनोविज्ञान का विषय है, साहित्य का नही। यह विचार साहित्य को उपकारक भले ही हो, लेकिन इसलिए साहित्यमीमांसक वह करे, इस अपेक्षा में कोई अर्थ नहीं है। वह मनोविज्ञान को ही करना चाहिए और साहित्य को वह मनोविज्ञान से स्वीकारना होगा। अत: भरत द्वारा प्रतिपादित भावो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर आधुनिक मनोविज्ञान संबंधी ग्रंथों के विवेचन से उसकी तुलना करने का उद्यम अवांछित है, यह स्पष्टत: कहना होगा।[34] और ग. त्र्यं. देशपांडे लिखते हैं। "भरत द्वारा दी गयी भावों की सूची लौकिक मनोविकारों की सूची नही है, वह अभिनेय नाट्यभावों की सूची है, यह ध्यान में रखना चाहिए। इस सूची के कुछ भाव लौकिक मनोविकारों के संवादी दिखते है तो कुछ शारीरिक अवस्थाओं के समांतर हैं। अत: यह सूची दोषपूर्ण है, ऐसा रसविमर्शकार का आक्षेप है। लेकिन ऐसा आरोप करने का कोई कारण नहीं है। उनके सामने सीधा प्रश्न है। इन भावों का अभिनय कैसे करना है, यह वह प्रश्न है और इसी दृष्टि से उन्होंने भावो का विवेचन किया है।[35] यह सब मान्य करने पर भी प्रश्न यह शेष रहता है कि आज के मनोवैज्ञानिकों को गड़बड़ी का लगे, ऐसा भावों का वर्गीकरण भरत ने क्यों किया। भरत ने कुछ भावो को स्थायी कहकर अन्यों को व्यभिचारी कहा। उसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि स्थायीभाव प्रधान है और व्यभिचारी भाव गौण। प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि भरत ने जिन्हें स्थायी कहा उन्हे मनोविज्ञान की दृष्टि से सचमुच कुछ प्रधानता है अथवा नहीं। इस प्रश्न का यह उत्तर सुझाया जाता है कि यह लौकिक स्तर का वर्गीकरण है ही नहीं। वह केवल नाट्यांतर्गत भावो का वर्गीकरण है। उसी तरह स्थायी, व्यभिचारी विभाजन केवल नाट्य के संदर्भ तक सीमित करने का निश्चय करने पर यह कहा जाएगा कि भरत के सामने जो नाट्यकृतियाँ थी, उनमें रत्यादि भावों को प्रधानता मिली होगी और केवल इसी कारण से उसने इन भावों को स्थायीभाव कहा। उपलब्ध नाट्यकृतियों में अन्य भावों को गौणता मिली, यह शायद सही होगा। फिर भरत द्वारा किए गए वर्गीकरण का लौकिक भावो के साथ कुछ भी संबंध नहीं है, यह हमें सतत ध्यान में रखना होगा। लेकिन उसका विस्मरण होने का भय रहता है। उदाहरणार्थ डॉ. ग. त्र्यं. देशपांडे लिखते हैं : "रतिशोकादि वृत्तियाँ मनुष्य के अंत:करण में वासना-संस्कार के रूप में निरपेक्षतया स्थित होती हैं। ग्लानि, शंका इत्यादि भाव तावत्काल के लिए खास कारणों से आते हैं और जाते हैं। इसलिए रत्यादिकों को मानवी अंत:करण में वासनात्मकता के रूप में लौकिक दृष्टि से भी स्थायित्व है और ग्लानिशंकादिकों को सापेक्षत: केवल नैमित्तिक अस्तित्व है। नाट्य में अथवा प्रबंध काव्यों में इन संचारी भावों को स्थायीमुख से ही आस्वाद्यता होती है, स्थायीनिरपेक्ष

आस्वाद्यता नहीं होती, और स्थायीवृत्तियाँ भी जब नेता के पुरुषार्थ-निष्ठ नाट्यव्यापी व्यापारों से अभिव्यक्त होती हैं तभी वह आस्वाद्यक होती हैं, इसलिए नाट्य में पुरुषार्थ-निष्ठ वृत्ति को ही स्थायीरूप एवं उसी को आस्वाद्यता प्राप्त होती है।[36] भरत के वर्गीकरण को केवल नाट्य के संदर्भ में ही प्रासंगिकता है, ऐसा अगर कहा जाए तो ऊपर उद्धृत उद्धरण में आए, "लौकिक दृष्टि से भी स्थायित्व है।" वाक्य का अर्थ कैसे लगाएँ?

अंत: भरत द्वारा किए गए वर्गीकरण की तफसील अलग रखकर उसके पार्श्व में अनुस्यूत तत्त्व का विचार करने पर यह दिखाई देगा कि उसके मन में तीन वर्ग हैं: (अ) स्थिर भावना, (आ) क्षणिक भावना, (इ) भावोर्मियों के साथ विद्यमान शरीर प्रक्रिया। कौन-सी भावनाएँ किस वर्ग में डाल दी जाएँ, यह तफसील का प्रश्न है। इस वर्गीकरण में एक परिवर्तन करने पर भरत के तीन वर्ग आज भी स्वीकृत हो सकते हैं। वह परिवर्तन यह कि भावनाएँ स्थिर नहीं होतीं अत: पहले वर्ग में स्थिर प्रवृत्ति और भावनात्मक स्वभाववैशिष्ट्य को डाल सकते हैं, कोई भावना उसमें डाली नहीं जा सकती। यह परिवर्तन करने पर भरत का वर्गीकरण स्वीकार्य हो सकता है, क्योंकि भावना के अनुभव का विश्लेषण करने पर ऊपर निर्दिष्ट तीन प्रकार की बातें उसमें अंतर्भूत हैं, यह ध्यान में आता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि भरत का, तफसील सहित समूचा वर्गीकरण हम स्वीकार करें। हम चीजों का जो वर्गीकरण करते हैं, उसके पीछे सुव्यवस्थापना का उद्देश्य होता है। हमने "भावना" – अवधारणा का विश्लेषण करके उसके घटकों की एक रीति से व्यवस्था की। उसके कारण उस अवधारणा के बारे में हमारा बोध सूक्ष्मतर हुआ, ऐसा हम मानते हैं। भरत ने एक और व्यवस्था की या यह कहें उस काल में प्रचलित शास्त्रीय मान्यता-प्राप्त व्यवस्था का उपयोग किया। लेकिन जब तक भरत द्वारा दी गई व्यवस्था के कारण कोई सुव्यवस्थापना का उद्देश्य सफल हो रहा है, ऐसा हमें विश्वास नहीं होता तब तक उस व्यवस्था के तफसील का उपयोग न करना ही ठीक रहेगा। वह तफसील गलत है, ऐसा मानने का कारण नहीं है। इतना अवश्य कहना चाहिए कि भरत के इस तफसील सहित वर्गीकरण के कारण कौन-सा सैद्धांतिक लाभ हुआ, यह समझ में नहीं आता।

स्थायीभाव का स्वरूप स्थिरप्रवृत्ति जैसा होने के कारण उसका स्वत: प्रत्यक्षत: अनुभव का विषय होना तर्कत: असंभव है। उसका ज्ञान होना हो तो वह जिस कृति, उक्ति या अवस्था में प्रकट होता है उसका अनुभव लेना होगा। इस मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए हम कांच के कनकनेपन का उदाहरण लेंगे। कांच का कनकनापन उसकी स्थिर प्रवृत्ति है। कांच कनकना है मतलब पत्थर मारने पर वह टूट जाता है, ऊँचाई पर से गिरने पर टूट जाता है, इत्यादि। ये घटनाएँ अनुभव की कक्षा में आती हैं। ये अगर

अनुभव नहीं की गईं तो कांच कनकना है, ऐसा हम नहीं कहेंगे, क्योंकि कनकनापन स्वयं अनुभवविषय नहीं होता। उसी तरह स्थायीभाव स्वयं अनुभव-विषय नहीं होता। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, सात्त्विकभाव के माध्यम से वह व्यक्त होता है। ऐसा अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रस है, ऐसा कहा जा सकता है।[37] यह स्थायीभाव किसका इस प्रश्न का विचार हम बाद में करेंगे। वह कवि का हो सकता है। पात्र का या दर्शक / पाठक का भी हो सकता है। वह किसी का भी हो, वह अनुभव योग्य बनता है। विभावादिकों के कारण ही, यह स्पष्टीकरण रति जैसी स्थिर प्रवृत्ति पर व्यवस्थित लागू होता है। लेकिन भरत द्वारा दी गई स्थायीभावों की सूची में भयादि भावनाएँ भी शामिल हैं। उनके बारे में एक अलग प्रश्न उत्पन्न होता है। वह प्रश्न अंशत: भाषा के विविध उपयोगों के बारे में है और अंशत: ज्ञानशास्त्रीय है। मतलब इस प्रश्न में दो प्रश्न अंतर्भूत हैं : (अ) कोई भी भावना क्या वाच्य होती है? क्या उसका वर्णन किया जा सकता है? और (आ) दूसरे की भावना का हमें कैसे आकलन होता है? दूसरे को गुस्सा आया है, यह उसके आविर्भाव को देखकर, अनुमान से हम जानते हैं या उसके आविर्भाव में वह गुस्सा व्यक्त होता है? इस संबंध में विविध मतों की चर्चा करते समय ये दो प्रश्न हमारे मन में अवश्य होने चाहिए।

8.10

"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।" भरत के रससूत्र के संदर्भ में संस्कृत काव्यशास्त्र में वाङ्मयीन भावनात्मकता के संदर्भ में चर्चा हुई है। हमने यह देखा है कि स्थिरप्रवृत्ति अनुभव-विषय नहीं बन सकती। वह जिसमें व्यक्त होती है वे कृतियाँ इत्यादि अनुभव-विषय हो सकती हैं और उनके द्वारा स्थिरप्रवृत्तियाँ अनुभव की जा सकती हैं, इतना ही लाक्षणिक अर्थ से कहा जा सकता है। क्या क्रोध का वर्णन करने से वह व्यक्त होगा? उसका वर्णन किया जा सकता है। यह सही है। लेकिन जिस अर्थ में दाँत, ओंठ चबाना, मुट्ठियाँ भींचना, आँखें लाल होना, आवाज चढाकर बोलना इत्यादि बातों से क्रोध व्यक्त होता है, उस अर्थ में "क गुस्सा हुआ है।" इस प्रकार के वर्णन से वह व्यक्त नहीं होगा। आधुनिक दार्शनिक भाषा के जो विविध उप्योग मानते हैं उनमे भावाभिव्यंजन एक स्वतंत्र उपयोग है। भावनात्मक (emotive) भाषा का स्थान वर्णनात्मक (descriptive) भाषा नही ले सकती। भाव वाच्य नहीं होता, ऐसा नहीं है। लेकिन वाङ्मय में वह वाच्य के स्तर पर नहीं दिखाया जाता, उसकी अभिव्यंजना करनी होती है। नाटककार भावों की अभिव्यंजना के लिए विभावादि का उपयोग करता है। यहाँ भावों का वर्णन नहीं होता। भावों की अभिव्यंजना साधी जाती है। इसलिए वाङ्मय में (भाव) व्यंजक भाषा और विभावादियों का इतना महत्त्व है।

अगला प्रश्न है कि रस कहाँ होता है? विभावादि के कारण किसके भाव अभिव्यंजित

होते हैं? कवि के, पात्र के या रसिक के? क्या रसिक स्वयं भावनाओं में निमज्जित होता है या उनका वह केवल अवलोकन करता है? इन दो प्रश्नों के परस्पर विरोधी उत्तर दिए गए हैं : (1) भट्टनायक और अभिनवगुप्त का, (2) लोल्लट और शंकुक का। उनमें पहला अभिमत वाचकों के परिचय का है अत: उसे संक्षेप में प्रस्तुत कर हम दूसरे अभिमत की ओर जाएँगे।

भट्टनायक का सिद्धांत डॉ. भट ने संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है– "काव्य में और नाट्य में भावकत्व व्यापार होता है, उससे रस भावित होता है, और भोगीकरण या योजकत्व नाट्य के व्यापार से रसिक को उसका आस्वाद प्राप्त होता है। काव्य के शब्दों से रस 'भावित' होता है मतलब काव्य के पास 'भावकत्व' है। रस का आस्वाद रसिक को प्राप्त होता है (भुज्यते), मतलब रसिक भोजक है और जिस व्यापार से यह आस्वाद संभव बनता है वह 'भोगीकरण या भोजकत्व' व्यापार है। काव्य में या नाटकों में जो स्थायीभाव वर्णित होता है वह भावकत्व की अवस्था में कैसे आता है? इसका उत्तर है विभावादि का साधारणीकरण होने से .... विभावादि का याने पर्याय से स्थायी का 'साधारणीकरण' होने पर रस भावित होता है। है..... यह भोग की अवस्था ..... जब सत्त्व का उद्रेक होता है, सत्त्व का प्राचुर्य होता है, उस समय आत्मा का लोकोत्तर आनंद प्रकट होता है। इस आनंद में अंत:करण विश्रांत होता है, मतलब यह कि उस समय और किसी का भान नहीं रहता। यह जो सत्त्वमय अनन्य विषय आनंद की अवस्था है वही भोग की अवस्था है। रस का भोग इस अवस्था में होने के कारण (स्थायीभाव कोई भी हो तो भी) वह आनंद रूप होता है।"[38] भट्टनायक के विवेचन में महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ (अ) साधारणीकरण और (आ) आत्मानुप्रवेश हैं। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की ये दोनों अवधारणाएँ स्वीकार की हैं। इन दोनों की राय में रसिक भावनाओं का अवलोकन नही करता, प्रत्यक्ष उनका अनुभव करता है (undergoes the emotion)। रसिक का आत्मानुप्रवेश संभव हो, इसलिए साधारणीकरण की आवश्यकता है।

साधारणीकरण के दो अर्थ संभावित हैं : (अ) विशेष से (particular) सामान्य की ओर (universal) जाना। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दोनों विशेषों को लाँघकर सामान्य सत्त्व की ओर, सार्वत्रिक नियम की ओर जाते हैं, यह हम जानते ही हैं; काव्य मे साधारणीकरण की अपेक्षा रहती है, सामान्य की नहीं, ऐसा अभिनवगुप्त का अभिमत है। अत: शास्त्र में जो घटित होना है वह काव्य में भी होता है, यह समझना गलत है।[39]

(आ) नाटक देखा जाता है। सामान्य देखा नहीं जाता। अत: सामान्य को नाटक में स्थान नहीं हो सकता, विशिष्ट चीजों में प्रतीत होनेवाला सामान्यत्व यहाँ प्रस्तुत है। नाट्य के विभाव उनकी जाति का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्ति होने चाहिए।

ऐसा होने पर ही उनके अनुभव उन तक सीमित न रहकर उस जाति के किसी भी व्यक्ति के अनुभव हो सकते हैं। 'शांकुतल' के 'ग्रीवाभंगाभिराम.....' श्लोक के बारे में डॉ. देशपांडे लिखते हैं: "इस श्लोक का वाच्यार्थ अवगत होने पर रसिक को साक्षात्कार रूप मानस प्रतीति होती है। यह प्रतीति देशकालादि सीमाओं से रहित होने के कारण सामान्यत्व से आई हुई होती है। इस प्रतीति में आविर्भूत होनेवाला मृगशावक याने दुष्यंत जिसके पीछे लगा था वह विशिष्ट मृगशावक नहीं। वह कोई भी विशिष्ट मृगशावक नही। वह एक घबराया हुआ हिरन है। वह कोई भी डरा हुआ हिरन हो सकता है।[40]

साधारणीकरण के कारण आत्मानुप्रवेश संभव होता है, यह दिखाने के लिए अभिनवगुप्त के दिये हुए उदाहरण का डॉ. देशपांडे ने इस प्रकार स्पष्टीकरण दिया है-- सांब ने सूर्य का स्तवन किया और वह रोगमुक्त हुआ, यह वाक्य सुनते ही हमें प्रथम उसका वाच्यार्थ समझ में आता है। (यह वाच्यार्थ सांब, उसका विशिष्ट सूर्यस्तवन और उसकी विशिष्ट रोगमुक्त से संबद्ध है।) यह ज्ञान होने पर जो कोई सूर्यस्तवन करेगा वह रोगमुक्त होगा। इस तरह देशकालव्यक्ति-निरपेक्ष सामान्य स्वरूप के केवल वाच्यार्थ से अधिक बोध हमारे मन में पैदा होता है। इस तरह सामान्य रूप से यह प्रतीति होने पर हमें लगता है, मैं भी सूर्यस्तवन कर रोगमुक्त होऊँगा। पहले व्यक्तिविषयक ज्ञान, फिर उपरांत होनेवाली सामान्य प्रतिपत्ति और उसके बाद आत्मानुप्रवेश, ऐसा यह क्रम है।[41] ऊपर हिरन के भय का जो उदाहरण दिया है उसके संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि पहले हमे विशिष्ट हिरन के भय का ज्ञान होता है, फिर वह किसी भी हिरन का (या किसी का भी) भय प्रतीत होता है। (इस दूसरे, साधारण की हुई प्रतीति का ही संबध रसानुभव से होता है।) जो किसी का भी भय हो, वह रसिक का भी भय होता है। इसीलिए साधारणभाव से प्रतीत हुए भय में रसिक का आत्मानुप्रवेश होता है।

अब प्रश्न यह है कि इसमें अलौकिक क्या है? लौकिक जीवन के सुखदु:ख के बारे में भी क्या ऐसा ही नहीं घटित होता? पड़ोसवाले व्यक्ति की पत्नी की मृत्यु होने पर उसकी विरह वेदना, उसके बच्चो को होनेवाली मातृविरह की व्यथा, ये बातें हमें भी आत्मौपम्यबुद्धि से ही प्रतीत होती हैं और आत्मौपम्य बुद्धि का कार्य साधारण के बिना असंभव होता है। लौकिक जीवन में जब सहानुभव से दु:ख, आनंद इत्यादि की प्रतीति होती है तब ये सुखदु:ख साधारणीकृत होने के कारण ही संभव होते हैं। मैं दाढ़ की वेदना से परेशान हूँ, यह रोगी डॉक्टर से कहता है, तो डॉक्टर को वह मालूम होता है -- इसका कारण भी साधारणीकरण की प्रक्रिया ही है। असल में साधारणीकरण समूचे मानवी व्यवहार की नींव है। साधारणीकरण केवल रसनाव्यापार में प्रतीत होनेवाली चीज नहीं है।

परंतु इसपर मम्मट की भाँति यह कहा जा सकता है कि लौकिक जीवन के अनुभव विशिष्ट व्यक्तिबद्ध होते हैं। यह मेरा, यह मेरे शत्रु का, यह तटस्थ का, इस प्रकार उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। मित्र के संबंध में ममत्वभाव होने के कारण वे उपर्युक्त वर्ग में से पहले वर्ग में शामिल होते हैं।[42] रसानुभव व्यक्तिनिबद्ध नहीं होता, क्योंकि रसिक भी साधारण की भूमिका पर आया होता है। मृगशावक के कारण उत्पन्न रसानुभव के बारे में डॉ. देशपांडे लिखते हैं: "यह प्रतीत होनेवाला भय भी देशकालादि से सीमित नहीं है। इतना ही नहीं, इस-भय-प्रतीति से स्व-पर मध्यस्थ भाव का संबंध न होने के कारण स्वगत भय के बारे में होनेवाला दु:ख, शत्रुगत भय के कारण लगनेवाला सुख, वह रहे या जाए इस प्रकार की लौकिक भय के बारे में होनेवाली हमारी वृत्ति, इन बातों का यहाँ लवलेश भी नहीं होता। इस तरह इस प्रतीति में किसी भी लौकिक वृत्यंतर का अंतराय न होने के कारण यह भय निर्विघ्न प्रतीति का विषय बनता हैं।"[43]

अब प्रश्न यह है कि मम्मट ने लौकिक अनुभवों का जो वर्गीकरण किया है क्या वह स्वीकार्य है? हम जब दैवी या मानवी आपत्ति के कारण पीड़ित लोगों के बारे में पढ़ते हैं या दयार्द्र भावसे अभिभूत होते हैं तब हमारा अनुभव व्यक्तिनिबद्ध नहीं होता। ये पीड़ित लोग अपने स्वजन होते हैं इसीलिए हम भावाभिभूत होते हैं, ऐसा नहीं। उनका और हमारा संबंध न होने पर भी हम भावाभिभूत होते हैं। मम्मट का गृहीतकृत्य शायद यह है कि मनुष्य स्वभावत: स्वार्थी है। लेकिन यह गृहीतकृत्य शंकास्पद है। अनेक लोगों में सहानुभव की क्षमता होती है। इसीलिए जिनसे परिचय नहीं है ऐसों के दु:ख से भी व्याकुल होते हैं, क्वचित् अपने शत्रु के दु:ख से भी हमारे हृदय में व्याकुलता उत्पन्न होती है, अन्यथा वह मन को कठोर बनाने लगता है। इस तरह से मन को कठोर करनेवाला मनुष्य नाट्यगृह में अवश्य आँखें पोंछता दिखता है, क्योंकि वहाँ किसी की प्रत्यक्ष सहायता करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस विवेचन से ध्यान में आएगा कि रसानुभव संभव होना हो तो अपने पास लौकिक से उपलब्ध भावानुभवों का संचित होना आवश्यक है, इतना ही नहीं तो लौकिक से ही प्राप्त साधारणीकरण-क्षमता और सहानुभव-क्षमता का होना भी आवश्यक है।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या साधारणीकरण प्रक्रिया के कारण रसिक की वैयक्तिकता विलुप्त होती है? वह विलुप्त होनी चाहिए और होती भी है, ऐसा अभिनवगुप्तादि का मंतव्य है। इस संबंध में एक अलग मत न. चिं. केलकर ने प्रस्तुत किया है। केलकर कहते हैं, "जीवात्मा और परमात्मा अंतिम स्थिति में एक हों या दो, आत्मा को समूचे विश्व के साथ एकरूप होने की, एक ही क्षण में समस्त विश्व का आकलन करने की महत्त्वाकांक्षा होती है। इसके कारण वह जितने प्रमाण में सफल होती है, उतने प्रमाण में उसका आनंद भी बढ़ता है। इंद्रियों का बंधन न होता तो जगत्स्वरूप होने की आत्मा

की आकांक्षा अर्थात् सफल हो सकती, लेकिन इन बंधनों के होते हुए भी वह अतींद्रिय प्रतिभा-माया की सहायता से विश्व-भर में फैलने का प्रयत्न करती है। अपनी भूमिका न छोड़ते हुए अन्य भूमिकाओं का भी अनुभवानंद सेवन कराने की किमया प्रतिभा द्वारा ही संभव होती है। हम नवरसों का उदाहरण लें। रसपूर्ण काव्य को पढ़ते समय जो आनंद होता है, वह आत्मौपम्य बुद्धि के कारण ही। किसी भी रस का स्थायीभाव क्षण-भर के लिए दूसरे का लेकर अपनाए बिना रसप्रतीति नहीं होती। प्रत्यक्ष अपनी लड़की के ससुराल जाते समय आँखों से आँसू बहाते हुए जो शब्द हम बोलते हैं वह काव्य नहीं। वह तो आत्मभूमिका पर उपलब्ध इकहरा अनुभव है। लेकिन 'शाकुंतल' के चौथे अंक में कण्व के कन्या विरहवाला प्रसंग पढ़ते समय आँखों से आँसू ढालते हुए जो शब्द हम पढ़ते हैं वह हमारे लिए काव्य अथवा वाङ्मयकारण होता है। यहाँ एक के बदले दो भूमिकाएँ होती हैं। पाठक अपनी भूमिका को न छोड़ते हुए मन से दूसरी भूमिका पर संक्रमण करता है और प्रतिभा से अनुभव लेता है। अत: वह दुख नहीं रसास्वाद का आनंद ही होता है। इसके बाद अगर कल्पना करें कि एक ही भूमिका का अनुभव प्रतीति करने के स्थान पर एकदम दो या तीन भूमिकाओं का अनुभव प्रतीत करना संभव हुआ तो वहाँ वह आनंद द्विगुणित या त्रिगुणित होना चाहिए। उचित रससंकर से यह बात भी प्रतीति में आती है। उसके बाद अलंकारों के बारे में थोड़ी-सी चर्चा कर केलकर कहते हैं। "इस आनंद से एक तरह की तल्लीनता पैदा होती है और वह आनंद बहुत उत्कट हो तो उससे समाधि अवस्था भी उपलब्ध हो सकती है। इस दृष्टि से देखते हुए 'जो सही सविकल्प समाधि उत्पन्न कर सकता है वही वाङ्मय है।' यह नई परिभाषा मैंने बनाई है। ध्यान में लेने का मुद्दा यही है कि हमेशा जब हम समाधि शब्द का उच्चारण करते हैं तब मन में अर्थ आता है योगशास्त्र की 'निर्विकल्प' समाधि। लेकिन मैं जिसकी ओर संकेत कर रहा हूँ वह 'सविकल्प' समाधि है और दूसरी समाधि के बिलकुल विपरीत है। निर्विकल्प समाधि में बाहर की दुनिया का ही नहीं, अपनी देह का भी जरा-सा बोध नहीं रहता, रहना भी नहीं चाहिए। लेकिन वाङ्मयसेवन से उत्पन्न होनेवाली समाधि में अपनी मनोभूमिका का बोध तो शेष रहता ही है। लेकिन उपरिनिर्दिष्ट पद्धति से अन्य भूमिकाएँ भी उसमे समाविष्ट हो सकती हैं। इतना ही नहीं, वही वाङ्मय अधिक उत्कृष्ट है कि जिस के सेवन से अधिकाधिक कल्पनाएँ एक साथ मन में उत्पन्न होंगी और अधिक-से-अधिक भूमिकाओं का मन को अनुभव मिलेगा।"[44]

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा का अनुसरण कर केलकर "समाधि", 'जीवात्मा', 'परमात्मा' आदि संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं, लेकिन उनका उपयोग न करते हुए भी उनका सिद्धांत प्रस्तुत किया जा सकता है। असल में इन्हें एवं तत्सम संज्ञाओं को दूर रखना ही ठीक होगा, क्योंकि उनका उपयोग करके विवेचन में स्पष्टता के आने

के स्थान पर गलतफहमियों का सुखद कुहरा फैलता है। रसास्वाद के बारे में बात करते समय भरत ने भोजनरस का दृष्टांत दिया है। लेकिन भट्टनायक के बाद इस प्रकार के लौकिक प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं, यह जानकर रस के बारे में बोलते हुए "परब्रह्मस्वादसविधो' 'ब्रह्मास्वादसहोदर' ये संज्ञाएँ प्रयुक्त की गईं। इससे ऐसा आभास होता है कि भरत के समय भोजनरस लोगों के जितना परिचय का था उतना ही भट्टनायक के बाद विश्वनाथ तक के समय में ब्रह्मानंद परिचय का रहा होगा। ऐसा होना संभवनीय नही लगता। कम-से-कम आज ब्रह्मानंद की भाषा के प्रयोग का एक अन्य कारण भी संभवनीय है। जिनको वाड्मय के संबंध में बहुत अधिक आस्था होती है, ऐसे लोग वाड्मय का गौरव करने के लिए उसकी तुलना सर्वाधिक मूल्यवान चीज के साथ करते हैं। वाड्मय पर आत्यंतिक प्रेम करनेवाले लोगों का और ऐसे प्रेमिकों के लिए लिखनेवाले लोगों के रसानुभव की तुलना ब्रह्मानंद से करना उसी प्रकार है जिस प्रकार "रामभरोसे टी स्टॉलवाला" अपनी चाय को 'अमृततुल्य' कहे। अतः रसानुभव बहुत महत्त्वपूर्ण, उत्कट तल्लीनता उत्पन्न करनेवाला अनुभव है, यह हम स्वीकार करे और कुछ समय के लिए "ब्रह्मास्वादसहोदर आनंद" "जीवात्मा", "परमात्मा", "समाधि" इत्यादि शब्दप्रयोग जरा अलग हटाएँ।

इन शब्दप्रयोगों को अलग करने पर केलकरजी का सिद्धांत इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। मानवीय मन में अपने अनुभव की कक्षाओं को विस्तार देने की प्राकृतिक इच्छा रहती है। इस इच्छा के पेट से वाड्मय का जन्म होता है। अनुभव की विस्तृति करने के अन्य भी मार्ग है। उदाहरणार्थ, देशाटन, वाड्मय का पठन करने का महत्त्व यह है कि वह बैठे-बैठे हम अनुभव की कक्षाएँ विस्तारित करता है। जीवन के कुछ प्रसंग हमें प्रत्यक्ष अनुभव करने को मिलते है, तो अन्य कुछ प्रसंग अनुभव करने को नहीं मिलते। लेकिन वाड्मय के पात्र इन सभी प्रसंगों के बीच से गुजर जाते हैं। वे किसी परिस्थिति विशेष मे फँस जाने पर उनकी भावनाएँ क्या होंगी। इसकी कल्पना हम कर सकते है और इन पात्रों के माध्यम से उन भावनाओं का अनुभव कर सकते है। उन पात्रो मे एवं उनके अनुभवों से एकरूप होना वाड्मय के कारण ही हमारे लिए संभव बनता है। यह करते समय हमें अपनी भूमिका नही छोड़नी पड़ती। अपनी भूमिका को न छोड़ते हुए अन्यो की भूमिकाओं के साथ वाड्मय के माध्यम से तादात्म्य प्राप्त कर हम अपनी अनुभव की कक्षाओं का विस्तार कर सकते हैं।

केलकर ने "अपनी भूमिका न छोड़ते हुए" अवधारणा को स्पष्ट नहीं किया, उसके कारण उनके मन मे क्या होगा इसके बारे में हमें केवल अनुमान ही करना पड़ता है। उनके मन में व्यावहारिक "मैं" का बोध न छोड़ने की बात होगी, ऐसा लगता है। हम व्यावहारिक दुनिया में विशिष्ट स्थान पर रहनेवाले, विशिष्ट जगह पर नोकरी करनेवाले, विशिष्ट मत या दृष्टिकोण रखनेवाले, विशिष्ट हित संबंधों से बंधे व्यक्तियों

के रूप में विचरते हैं। इन सबमें से अपना "मैं-पन", "अस्मिता" आकार ग्रहण करती है। लेकिन अपने "मैं" के सभी पहलू समान महत्त्व के नहीं होते। बहुत बार अपने व्यक्तिगत हित संबंध को अपने "मै" का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है। कभी विशिष्ट जीवन मूल्यों के बारे में हमारी श्रद्धाएँ महत्त्वपूर्ण अंग समझी जाती हैं। वाङ्मय को पढ़ते समय हम चार घड़ियाँ कल्पना की सहायता से परकाया- प्रवेश कर अलग - अलग अनुभव ग्रहण करते है। प्रत्यक्ष मे दूसरे का दुख देखकर मन व्याकुल हो जाए तो उसकी मदद करने की इच्छा होती है और अपने व्यक्तिगत हितसंबधों को धक्का लग सकता है। वाङ्मय के संदर्भ में पात्रो के बारे में पाठक कोई कृति करे ऐसी अपेक्षा नहीं होती। इसलिए उपर्युक्त हितसंबंधों को धक्का नहीं लगता।

"अपनी भूमिका" का एक और अर्थ हो सकता है। पढ़ते समय हमारी भूमिका पाठक की होती है तथा नाटक देखते समय दर्शक की। डॉ. जान्सन की राय में नाटक देखते समय हमारी यह भूमिका कभी नहीं विलुप्त होती। हमें मालूम होता रहता है कि अपने सामने रंगमंच पर जो घटित होता है वह प्रत्यक्ष मै नहीं घटित होता। अगर किसी ऑथेल्लो ने अपनी पत्नी को सचमुच हमारे सामने मारा तो हम अपनी कुर्सी पर न बैठते। "ऑथेल्लो" जैसा नाटक तल्लीनतापूर्वक देखते समय भी अपनी भूमिका दर्शक की है और जो सामने घटित होता है वह प्रत्यक्ष जीवन का भाग नही, यह बोध हमारे मन में सतत रहता है।[45] केलकर के 'अपनी भूमिका न छोड़ते हुए' का यह भी अर्थ हो सकता है।

अब प्रश्न यह है कि वाङ्मय लेखन का स्वरूप ऐसा हो तो उसमें अलौकिक क्या है? अपने अनुभव की कक्षाओ को विस्तृत करने की इच्छा पूर्णत: लौकिक है। शेर देखने के लिए गीर के जंगल में या अफ्रिका में जाना पड़ता है और उसके लिए हमे अपनी नित्य की भूमिका छोड़नी पड़ती है! और शिकारी की पोशाक, बंदूक, दूरबीन लेकर दूर की यात्रा करनी पड़ती है। लेकिन वही शेर 'रानी के बाग' मे लाए जाएँ, तो हमारी नित्य की भूमिका को न छोड़ते हुए, मतलब नित्य की पोशाक में, नित्य की बस से 'अंधेरी से फाउंटेन' जाते समय उनको हम देख सकते हैं। लेकिन गीर के जंगल के शेर हों या 'रानी के बाग' के पिंजरे में बंद शेर हों, शेर देखने की इच्छा या उसकी तृप्ति दोनों एक ही हैं। वही बात वाङ्मयानुभव की भी है। इसपर आक्षेप यह लिया जा सकता है लौकिक जीवन में भी दूसरे का स्थायीभाव अपनाना संभव हो तो भी उसमें उत्पन्न अनुभव आनंदरूप ही होगा, ऐसा नहीं। लेकिन वाङ्मय की सविकल्प समाधि आनंदरूप ही होती है, केलकर ऐसा जरूर कहते हैं लेकिन वह आनंदरूप होती है यह वे गृहीत मान लेते हैं, सिद्ध नहीं करते। हमने 'आनंद' या "सुख" शब्दों का विश्लेषण किया है। उनमें से किस अर्थ में रसानुभव अलौकिक आनंद का अनुभव है, ऐसा केलकर को लगता है? अगर संवेदना-सुख, सुख की क्षणिक उर्मि,

हर्षनिर्भर मनोवस्था या प्रेरणातृप्ति का सुख, इन अर्थों में वे 'आनंद' शब्द का इस्तेमाल कर रहे हों तो समस्त वाङ्मय का परिणाम आनंदरूप नहीं होता, यह सत्य है। अगर आस्था दिखाना या एकाग्र विगलितवेद्यांतर वृत्ति होना, इन अर्थो में उपर्युक्त शब्द उन्होंने प्रयुक्त किया हो, तो यह आनंदरूपता वाङ्मय तक या कला और सौंदर्य तक ही सीमित नहीं होती, यह ध्यान में रखना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि "ब्रह्मस्वादसहोदर", "समाधि" "सत्त्वोद्रेक" इत्यादि शब्द अलग हटाकर और पूर्ण या सविकल्प आत्मानुप्रवेश को स्वीकार करने पर वाङ्मय के कारण उत्पन्न होनेवाला भावानुभव लौकिक है, यह जँच जाता है। हम केवल दर्शक हैं, नाटक के पात्र सच्चे नहीं हैं, उनसे हमारा कोई संबंध नहीं है, यह बोध हममें होने पर भी लौकिक स्तर पर हमारा आत्मानुप्रवेश नहीं होता, ऐसा नहीं है। फ्रायड़वादियों की राय में वाङ्मय-कृति संबंधी हमारी प्रतिक्रिया इकहरी नहीं होती। चेतना के स्तर पर एक प्रतिक्रिया और अवचेतन के स्तर पर दूसरी प्रतिक्रिया, ऐसा उसका द्विस्तरीय रूप होता है। चेतना के स्तर पर हम अपनी दर्शक की भूमिका से चिपके रहते हैं, लेकिन अवचेतना के स्तर पर हम पात्रों के साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं, पात्रों से होनेवाले साधर्म्यीकरण (analogizing) की प्रक्रिया के कारण हम अपना ही वैयक्तिक भावजीवन जी रहे होते हैं। अवचेतना के स्तर पर जो तादात्म्य पैदा होता है, वह पूर्णतः लौकिक स्तर का होता है।

तादात्म्य को नकार कर भी रसानुभव के बारे में विवेचन हुआ है। उससे अब हम परिचय प्राप्त करेंगे। लेकिन उससे पहले तादात्म्य के संबंध में वा. म. जोशी द्वारा उठाए गए आक्षेपों का संक्षेप में विचार करेंगे। 1930 के मडगाव साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में वामन मल्हार जोशी ने तादात्म्य के सिद्धांत पर निम्नांकित आक्षेप उठाए हैं :

(1) जब हम सृष्टिवर्णन पढ़ते हैं या प्रत्यक्ष सृष्टिशोभा को देखते हैं तब हम किसी से तादात्म्य प्राप्त करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(2) नायिका के साथ पुरुष पाठक और नायकों के साथ स्त्री-पाठक कैसे तादात्म्य प्राप्त करेंगे? उसी तरह "चिव चिव चिमणी छतात - छतात" ("चिचियाती चिड़िया छप्पर पर - छप्पर पर") कविवर तांबे की इस कविता में हम किस चिड़िया के साथ तादाम्य प्राप्त करते हैं?

(3) नाटक, काव्य एवं उपन्यास के रस का अधिष्ठान पात्र नहीं, दर्शक एवं पाठक का हृदय है, यह ध्यान में लेने के लिए निम्नांकित उदाहरणों का विचार किया जाए। बच्चे का जन्म होने पर वह तो रोता है लेकिन उसके माँ-बाप और मित्र प्रसन्न होते हैं -- भीष्म जैसा धीरोदात्त सत्पुरुष मृत्यु के अवसर पर रोता नहीं लेकिन उसके भक्त शोकाकुल होते हैं। इसी न्याय से नाटक, काव्य या उपन्यास के पात्र स्वयं न

भी हँसें या वे वक्रतापूर्ण न बोलें तो भी हास्यरस उत्पन्न हो सकता है, स्वयं वे न भी होंगे तो भी पाठकों को रुला सकते हैं। स्वयं शृगांरिक भाषा का प्रयोग न करते हुए भी शृंगाररस उत्पन्न कर सकते है।

(4) मेरी राय में अभिनेता या दर्शक दुष्ट पात्रो से तादात्म्य नहीं प्राप्त करते, पराए मानकर ही देखते हैं, प्रियाराधन करनेवाला युवक युवती के साहचर्य में आनंद प्राप्त करता है वह इसलिए नहीं कि उसके साथ तादात्म्य अनुभव करता है, बल्कि इसलिए कि उसकी लीलादि से उसका उपभोगत्व प्रतीत होता है। यही न्याय यहाँ भी लागू है। खल पात्र के स्वभाव का आकलन होने के लिए एक तरह का तादात्म्य वहाँ रहता है। लेकिन पाठक या दर्शक का तद्भिन्नत्व कभी नष्ट नही हो पाता। नरसिंह चिंतामण केलकर ने सविकल्प समाधि की उत्पत्ति बताई है। उसमें जो एक प्रकार का तादात्म्य बताया गया है, उस तादात्म्य की व्याप्ति पात्र के मनोविकारों का आकलन करने तक की, सीमित क्षेत्र की है, ऐसा संशोधन उसमें कर सविकल्पत्व पर अधिक बल देना चाहिए।

(5) जिस दृश्य में एक से अधिक पात्र होते हैं, उदाहरणार्थ, गडकरी के 'एकच प्याला' के 'आर्यमदिरामंडल' के दृश्य में, दर्शक किसी भी एक पात्र से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता। वह पूरे दृश्य की ओर देखकर उसका उपभोग करता है। इस प्रवेश के पात्रों की मूर्खता एवं पागलपन मनःश्चक्षुओं के सामने लाकर उनका वर्णन करनेवाले उस नाटककार के स्मित संपृक्त तटस्थ वृत्ति के साथ हम क्षण-भर के लिए तादात्म्य प्राप्त करते हैं, यह बात चल सकती है। लेकिन ग्रंथकार की वृत्ति और दर्शकों एवं पाठकों की वृत्ति सदैव एक ही होती है, ऐसा नहीं। बहुत बार वह भिन्न होती है।

(6) भावनाओं (emotions) और स्थिरवृत्तियों (sentiments)पर निर्भर नाटकों एवं काव्यों के दृश्यों में उनके दर्शकों एवं पाठकों ने अपनी कल्पनाशक्ति से एवं भावनाओं से बहुत ही योगदान किया होगा, यह स्वाभाविक है। काव्य पढ़ते समय अल्पांश में जागृत स्थिरभाव (sentiment)एवं छाया रूप में किंचित् उद्दीपित भावनाएँ, इन सबपर विचारशक्ति और कल्पनाशक्ति के संस्कार होकर जो मन की गठन या बैठक उत्पन्न होती है, उसपर काव्यानंद निर्भर होता है। मन की इस वृत्ति में वे किसी एक पात्र से, अनेक पात्रों से या ग्रंथकारों से पूर्णतः तन्मय नहीं होते। उनके विचारों और विकारों का आकलन करने के लिए एक प्रकार का समरसत्व वहाँ होता है, लेकिन पाठक के मन का तद्भिन्नत्व एवं तटस्थत्व कभी पूर्णतः नष्ट नहीं होता। काव्यानंद के लिए एक किस्म का अंशात्मक समरसत्व आवश्यक होगा लेकिन केलकर को लगता है उस प्रकार के आनंद का यही कारण नहीं है, प्रधान कारण भी नहीं। कुल दृश्य देखकर उसमें हमें जो चमत्कार दीखता है और उसे देखते समय अपनी जो एक मन की वृत्ति (attitude) बनती है, उसमें आनंददायित्व है।[46]

वामन मल्हार का अभिप्राय अगर यह होगा कि दर्शक एवं पाठक काव्यगत पात्रों के साथ कभी तादात्म्य प्राप्त नहीं करते तो उनका अभिमत स्वीकार्य होना मुश्किल है। अनेक प्रेक्षक नाटक के कुछ पात्रों के साथ -- विशेषतः नायक और नायिकाओं के साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं, यह वस्तुस्थिति है। स्वप्नरंजनपरक वाङ्मय-कृति ऐसे तादात्म्य का आवाहन करती है। कभी अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य हो सकता है। उसी तरह जिस तरह स्वप्न में व्यक्ति-प्रतिमा का विघटन (splitting) होता है, उसी तरह वाङ्मय में भी होता है। अतः एक ही समय अनेक पात्रों के साथ तादात्म्य होना संभव है। जब पाठक का किसी पात्र के साथ तादात्म्य होता है तब उस पात्र के अन्य पात्रों के साथ जो संबंध होते हैं उन पर, उन पात्रों के साथ उसका तादात्म्य हो सकता है अथवा नहीं, यह निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, स्वप्नरंजनात्मक चित्रपट के नायक से अगर हमारा तादात्म्य होता है, तो उसके विरोधी पात्र के साथ हमारा तादात्म्य नहीं हो सकता। तादात्म्य होता है वाङ्मय-कृति के भावनात्मक दृष्टिकोण के साथ, उसमें व्यक्त अभिप्राय के साथ - उदाहरणार्थ, हास्यास्पद पात्रों के साथ तादात्म्य नहीं होता, लेकिन जिस जीवन दृष्टि के कारण वह हास्यास्पद हुआ उसके साथ तादात्म्य होता है। सृष्टिवर्णन में तादात्म्य वर्ण्यविषय के साथ नहीं होता। वह वर्ण्य विषय जिस में स्नात हो गया है उस भावनात्मक मनोदशा (mood) के साथ तादात्म्य होता है। उपरिनिर्दिष्ट जीवन दृष्टि, भावनात्मक मनोदशा इत्यादि चीजें काव्यांतर्गत होती हैं। अतः उनके साथ तादात्म्यता प्राप्त करने का मतलब है वे जिस स्वरूप में काव्य में देहीभूत हुई हैं उस स्वरूप के साथ तादात्म्य प्राप्त करना है, यह स्पष्ट है। इस पर से तादात्म्य की उपपत्ति वामन मल्हार जोशी समझते हैं वैसी बिलकुल अस्वीकार्य नहीं है, यह ध्यान में आएगा। लेकिन यह मान्य करना पड़ेगा कि यह उपपत्ति सभी कलाओं एवं प्रकृतिनिर्मित सुंदर वस्तुओं के आस्वाद का रहस्य नहीं बताती। दाड़िम के चमकदार दाने देखते हुए मनुष्य तल्लीन होगा। उस संवेदना के कारण उसे रोचकता का सुख भी मिलेगा। उनमें से कोई रचना उत्पन्न हुई तो कांट का अभिप्रेत निरपेक्ष आनंद प्राप्त होगा। लेकिन यहाँ तादात्म्य का प्रश्न उत्पन्न होने का कोई सवाल नहीं पैदा होता। जहाँ मानवीय या मानवसदृश जीवन की सामग्री उपस्थित होगी वहीं पर तादात्म्य का प्रश्न प्रासंगिक ठहरता है।

वामन मल्हार को तादात्म्य मान्य न भी हो तो भी वाङ्मय के कारण भावना-जागृति नहीं होती, ऐसा तो वे नहीं कहते। उनको शायद इतना ही कहना है कि पाठकों की भावनाएँ पात्रों की भावनाओं के समांतर नहीं होतीं। अब हम एक अलग भूमिका का संक्षेप में विचार करनेवाले हैं। इस भूमिका के अनुसार पाठकगत भावना-जागृति को आस्वाद-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान ही नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र में यही भूमिका भट्ट लोल्लट और शंकुक ने ली है। भट्टनायक, अभिनवगुप्त, न. चिं. केलकर और

एक अर्थ में वा. म. जोशी की राय में पाठक को भावनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। वाङ्मय-कृति के कारण विनिर्मित भावना के प्रवाह में पाठक स्वयं डूबता-तिरता रहता है। लोल्लट और शंकुक की भूमिका यह है कि भावना का परस्थ के रूप में ही बोध होता है।

लोल्लट का कथन संक्षेप में इस प्रकार है: विभावों से स्थायीभाव उत्पन्न होता है। अनुभवों से वह स्थायी प्रतीत होता है और व्यभिचारियों से उपचित या परिपुष्ट होता है। इस तरह विभावादिकों से उपचित स्थायीभाव ही रस है। अगर वह उपचित नहीं होता तो रस नहीं बनता। केवल भाव ही रहता। लेकिन यह उपचित होनेवाला स्थायीभाव किसका?...... यह स्थायी मुख्यवृत्ति से रामादि का नाट्य के व्यक्तियों का इसलिए रस भी मुख्यवृत्ति से रामादि का ही।[47] वाङ्मयीन अनुभव पर चिंतन करना प्रारंभ करने पर स्वाभाविकत: ध्यान में आनेवाली यह उपपत्ति है। बहुत-से लोग मानते हैं कि सामान्य अनुभव की अपेक्षा वाङ्मय का भावानुभव अधिक तीव्र होता है।

शंकुकादियों ने इस उपपत्ति पर कुछ आक्षेप निम्न प्रकार से लिए हैं :

(1)उपस्थित स्थायीभाव को रस माना जाए तो एक ही स्थायीभाव के मंदतम, मंदतर, मंद इस प्रकार हो सकते हैं। ऐसे ये स्थायीभाव उपचित होने पर तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम -- एक ही रस के अनेक प्रकार हो सकते हैं।

(2) जो स्थायीभाव पराकाष्ठा तक उपचित हुआ है उसे रस कहा जाए तो भरत ने हास्यरस के स्मित, अवहसित, विहसित इत्यादि जो छ: प्रकार दिए हैं उनका अर्थ कैसे लगाएँगे?

(3) स्थायीभाव जो उपचित होता है, वह किसमें होता है? रामादि में होता है, ऐसा तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे व्यक्ति प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं हैं। अभिनेता में स्थायी का उपचय होता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा हुआ तो नट रंगमंच पर कैसे काम कर सकेगा? यह उपचय दर्शक में होता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह तो इस प्रक्रिया के बाहर है।[48]

स्वयं शंकुक की उपपत्ति इस प्रकार : रस स्थायी न होकर स्थायी का अनुकरण है। विभावादि हेतु, अनुभावादि कार्य एवं सहचारीरूप व्यभिचारी, ये सब कृत्रिम होते हैं, लेकिन वे वैसे लगते नहीं। उनके संयोग से रत्यादि स्थायीभावों का अनुमान होता है। गम्य-गमक भाव संयोग का स्वरूप होता है। यह अनुमान हो तो भी लौकिक अनुमान की तरह वह नीरस नहीं होता। उलटे वस्तुसौंदर्य-बल से उस अनुमान में आस्वाद्यता उत्पन्न होती है। रसिक द्वारा आस्वाद्य यह अनुमित स्थायी अभिनेता में वस्तुत: नहीं होता। रामादि अनुकार्य व्यक्ति के स्थायीभाव का वह केवल अनुकरण होता है। अनुकरण ही इस स्थायी का स्वरूप होने के कारण उसे रस अभिधान से संबंधित किया

जाता है। अभिनेता को विभाव काव्यबल के आधार से ही ज्ञात होते हैं। अनुभवों की शिक्षा उसे मिली होती है और व्यभिचारी भाव अभिनेता के कृत्रिम अनुभावों के परिणाम होते हैं। स्थायी अनुमित ही होना चाहिए। कवि द्वारा वर्णित विभाव, अभिनेता के द्वारा अभ्यस्त अनुभाव, अभिनय के द्वारा दिखाए गए व्यभिचारी भाव, इनके द्वारा गम्यगमकभाव से या लिंग-लिंगीभाव से स्थायीभाव की अवगति या अनुमति होती है। इसलिए भरत मुनि ने रस सूत्र में स्थायीभाव का निर्देश नहीं किया। यह अनुमित स्थायीभाव रामगत स्थायीभाव का अनुकार होता है। इसलिए अनुकृत रति ही शृंगार है। रस अनुकरणरूप होता है और अनुकरण से उसकी निष्पत्ति होती है।[49]

नाट्य जीवन का अनुकरण है। प्लेटो से चलते आए पाश्चात्य समीक्षा परंपरा के सिद्धांत का यहाँ स्मरण होना स्वाभाविक है। अनुकरण करना आसान होता है, लेकिन अनुकरण की अवधारणा का तार्किक विश्लेषण करना कठिन होता है। अनुकरण का विश्लेषण देते समय दो प्रश्न हल करते पड़ते हैं-एक सत्ताशास्त्रीय और दूसरा ज्ञानशास्त्रीय। सत्ताशास्त्रीय प्रश्न इस प्रकार : अनुकृति का सत्ताशास्त्रीय स्थान कौन-सा है? और ज्ञानशास्त्रीय प्रश्न इस प्रकार : हम अनुकृति देखते हैं, इस "देखने" का स्वरूप क्या होता है? प्राय: अनुकृति को यथार्थ दुनिया की वस्तु की अपेक्षा कम दर्जे का सत्ताशास्त्रीय स्थान देने की ओर हमारा झुकाव होता है। अनुकृति को देखना याने मिथ्या प्रतीति होना हम प्राय: मानते हैं। प्लेटो ने इस मत से संवादी भूमिका ही ली है। उसने कलाकृति की तुलना आइने के प्रतिबिंब के साथ की ही है, लेकिन प्लेटो का विश्लेषण जँचने लायक नहीं है; क्योंकि अनुकृति का "देखना" भासरूप वस्तुओं (illusions) को देखने से अलग है। केशवराव दाते का किया हुआ राम का अभिनय हम देखते हैं, उसका विश्लेषण कैसे किया जा सकता है? हम यह तो नहीं मानते कि प्रत्यक्ष राम हमारे सामने है, हम यह भी नहीं कह सकते कि हम केशवराव दाते को केशवराव दाते के रूप में देखते है यह भी नहीं कहा जा सकता, प्रथम देखने पर लगा कि राम ही सामने है, लेकिन अब ध्यान में आया कि वह केवल आभास था। यह शंका मन में नहीं आती कि यह राम होगा क्या? ऐसा भी नहीं है कि केशवराव दाते राम जैसा दिखनेवाला राम का ठाट लानेवाला आदमी है। यह जो "देखना" है वह हमें ज्ञात अन्य जातियों के देखने में नहीं शुमार हो सकता - विट्गिन्स्टाइन द्वारा प्रचलित संज्ञा का इस्तेमाल करना हो तो "नाटक देखना" एक स्वतंत्र भाषा व्यवहार (language game) है। वह अन्य देखने से संबद्ध है। फिर भी अलग है। नाटक देखने की क्रिया अन्य देखने के प्रकारों से भिन्नता मन पर अंकित करने के लिए शंकुक ने "चित्रतुरग" दृष्टांत लिया है। डॉ. देशपांडे ने शंकुक का दृष्टांत इस प्रकार विशद किया है "नाटक देखते समय हमें होनेवाली प्रतीति कैसी होती है? रत्यादि की सुखद अवस्था हम देखते हैं वह किसकी? यह सबको मान्य है कि वह अवस्था अभिनेता की नहीं।

हमें सामने "राम" दीखता है। यह हमारी प्रतीति कैसी होती है? "यह राम ही है, यही राम है", ऐसी वह सम्यक् प्रतीति नहीं होती। उसे मिथ्या प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता। मिथ्या प्रतीति को उत्तरकालीन बोध आवश्यक होता है। सीप देखकर हमें चाँदी की प्रतीति होती है। उत्तर काल में बाधित होने पर ही पता चलता है कि वह मिथ्या प्रतीति थी। लेकिन ऐसी बाधा होने तक उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। नाट्य में हमें जो रामत्व की प्रतीति होती है, उसकी संपूर्ण नाट्य होने तक बाधा नहीं होती। अत: उसे मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। अच्छा, यह संशय भी उस समय नहीं होता कि "यह सामने दिखने वाला राम होगा या नहीं, सारांश देखते समय हमें होनेवाली रामत्व की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य इनमें से किसी भी प्रकार की नहीं होती। हाँ, लेकिन उस प्रतीति को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता, क्यों कि वह अनुभव होता है।

"फिर इस प्रतीति का रूप क्या है? सबसे अलग प्रतीति होकर यह चित्रतुरग प्रतीति जैसी होती है रंग, हरताल, इत्यादि का रंगमिश्रण हमें भीत पर दीखता है, लेकिन वह घोड़ा ही है ऐसा हमें लगता रहता है। उसी तरह विशिष्ट वेष पहना हुआ, विशेष अदा में खड़ा होनेवाला, विशेष प्रकार से चलनेवाला वह अभिनेता हमारे सामने होता है, हमें लगता है कि वह राम ही है।"[50]

सौंदर्यानुभव का अनोखापन सिद्ध करने के लिए विश्वचैतन्यवादियों ने कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में जो विवेचन किया है, उसका यहाँ स्मरण होना स्वाभाविक है। उनकी राय में जब हम किसी वस्तु को सुंदर कहते है, तब उसके प्रत्यक्ष अस्तित्व के संबंध में कोई दावा नही करते। इसलिए कलाकृति को देखना यथार्थ की वस्तुओं को "देखने" की अपेक्षा अलग जाति का होता है। शंकुक का यह विवेचन विश्वचैतन्यवादियों के सिद्धांत का पूर्वोच्चार ही है।

शंकुक की उपपत्ति पर निम्नलिखित आक्षेप लिए गए हैं : (1) अभिनेता के पास होनेवाली सामग्री (उसका बोलना, हावभाव इत्यादि) जड़, चक्षुग्राह्य, मनोग्राह्य सामग्री में जाति का अंतर है। अत: एक जाति की सामग्री दूसरी जाति की सामग्री का अनुकरण करती है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? (2) जिस राम की रति का अनुकरण करना है उसको किसी ने देखा नहीं है। अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका अनुकरण किया जा रहा है? इनमें से पहला आक्षेप न केवल नाट्य के क्षेत्र में प्रासंगिक है बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में संगत है। जब हम कहते हैं कि सामने वाला व्यक्ति गुस्सा हुआ है तब हमारे सामने निश्चित क्या होता है? उसकी गुस्सैल मुद्रा, दाँत-होंठ भींचना इत्यादि चक्षुर्ग्राह्य चीजें ही हमें दिखाई देती हैं, उसका "गुस्सा" हमें नहीं "दिखाई" पड़ता। फिर "क गुस्सा हुआ है।" यह हम कैसे कहते हैं? उस पर एक उत्तर यह है कि कुछ मुद्रा दाँत-होंठ भींचना इत्यादि से हम अनुमान

करते हैं कि "क्ष" गुस्सा हुआ है। मानसशास्त्र के इस प्रकार के अनुमितिवाद पर पिछले कुछ वर्षों में पाश्चात्य दार्शनिकों ने जोरदार आक्षेप उठाए हैं। उनकी राय में अन्य व्यक्तियों के मानसिक व्यवहारों के बारे में सिर्फ अनुमिति का ही आधार हम लेंगे तो औरों को मन होता है, यह भी हम कह नहीं सकेंगे। क्योंकि हम औरों के मानसव्यवहार कभी नहीं देख पाते और उनके बारे में बोलते समय सदैव चक्षुर्ग्राह्य बातों में नित्य और आवश्यक साहचर्य है, ऐसा कैसे माना जा सकता है? और ऐसा न माना जाए तो हमारे अनुमान का आधार क्या है? मानसव्यवहार के बारे में कुछ ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं इसलिए गिल्बर्ट राइल इत्यादि दार्शनिकोंने मानवव्यवहार के बारे में अवधारणाओं की एक नई व्यवस्था प्रस्तुत की है। इस व्यवस्था के अनुसार हर व्यक्ति में मन का गूढ़ अंश है और उसका अन्यों को कभी ज्ञान नही होता, यह विचार गलत सिद्ध हुआ है। मन के बारे में बोलते समय हम जो अवधारणाएँ उपयोग में लाते हैं वे सब चक्षुर्ग्राह्य बातों के बारे में या व्यवहारों के बारे में ही उपयोग में लाई गई होती हैं। उदाहरणार्थ, यह कहने पर कि "क्ष" मनुष्य गर्वीला है, उस आदमी के मन के निगूढ़ अंश में गर्व नामक हमें अज्ञात रहनेवाली बातों का निर्देश न होकर उस आदमी के चक्षुर्ग्राह्य व्यवहार में दिखनेवाली स्थिरप्रवृत्तियों का ही निर्देश होता है। इस तरह चक्षुर्ग्राह्य और मनोग्राह्य के बीच की दरार पार की गई। हम जो कहते हैं, "क" गुस्सा है, उसका विश्लेषण भी उपर्युक्त विश्लेषण की भाँति ही दिया जाने लगा। इस वाद की गहराई में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि शंकुक पर लिया गया आक्षेप औरों के मानसव्यवहार के बारे में बोलते समय हम जो हमेशा करते हैं उसी पर लिया गया आक्षेप है। चक्षुर्ग्राह्य और मनोग्राह्य में जो संबंध, व्यवहार में हम गृहीत मानते हैं वही शंकुक के मन में भी होना संभव है, यह मान्य करने पर भी शंकुक पर उठाए गए आक्षेप का बल कम होना है। शंकुक के सिद्धांत में एक मुद्दा और है, वह यह कि नाटक के संदर्भ में अभिनेतागत चक्षुर्ग्राह्य बातों से रामगत मनोग्राह्य बातों का अनुमान करना होता है। इसमें एक अड़चन है, ऐसा आक्षेपकों का कहना है। "कार्य से कारण का अनुमान करना ठीक रहेगा। लेकिन कार्यसदृश वस्तुओं से कारण सदृश वस्तुओं का अनुमान करना समझदारीपूर्ण नहीं होगा। राम के अनुभाव से राम की रति का अनुमान करना ठीक रहेगा लेकिन राम के अनुभावों के सदृश दिखनेवाली चीजों से रामरति से सादृश्य रखनेवाले कार्यों का अनुमान कैसे किया जा सकता है?[52] इस पर यह कहा जा सकता है कि नाटक देखते समय सादृश्य रखनेवाले कार्यों से सादृश्यता होनेवाले कारणों का अनुमान, इतना ही घटित नहीं होता। चूँकि नट अनुकरण करता रहता है, वह जो-जो करता है उस सबको उसके परे किसी वस्तु का निर्देश करना ही कार्य होता है। अभिनेता धनुष्य हाथ में लेता है वह यही दिखाने के लिए कि राम ने धनुष्य हाथ में लिया है।

अनुमान, इतना ही घटित नहीं होता। चूँकि नट अनुकरण करता रहता है, वह जो-जो करता है उस सबको उसके परे किसी वस्तु का निर्देश करना ही कार्य होता है। अभिनेता धनुष्य हाथ में लेता है वह यही दिखाने के लिए कि राम ने धनुष्य हाथ में लिया है। अभिनेता एवं उसकी क्रियाएँ राम एवं उसकी क्रियाओं का ही सतत निर्देश करते रहते हैं। "नाटक में काम करने" की अवधारणा में ही यह सब अभिप्रेत है। राम के काम करनेवाले अभिनेता ने रावण का काम करनेवाले अभिनेता पर बाण मारा और रावण का काम करनेवाले ने मरण का अभिनय किया तो दर्शक यही समझता है कि राम का बाण लगकर रावण मरा अगर ऐसा है तो अभिनेता के आँसू ढालने पर राम को दुख हुआ, यह दर्शक को लगना क्या स्वाभाविक नहीं है? नाटक देखने की अवधारणा में यह सब अंतर्भूत है ही। नट को आँसू बहाते देखकर दर्शक यह नहीं कहता कि अभिनेता को दुख हुआ, वह यही समझता है कि राम को दुख हुआ है। देवालय की मूर्ति के सामने नैवैद्य रखा जाता है तो हम समझते हैं कि वह देवता को मिला। उसी तरह अभिनेता के आँसू बहाने पर हम समझते हैं कि राम को दुख हुआ है। जिसको "देवपूजा" या "नाटक देखना" ये अवधारणाएँ किस तरह प्रयुक्त होती हैं, यह मालूम है उसकी दृष्टि से यही कहना ठीक है अभिनेता के अभिनय को देखने पर अभिनेता की भावनाओं के बारे में अनुमान नहीं करना होता है। यह बात हमारे मन पर पूर्णत: अंकित है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु का प्रतीक बन जाती है तो उसका मूल स्वभाव भूलना होता है। किसी धार्मिक कार्य में यजमान की पत्नी जीवित न हो तो उसके स्थान पर सुपारी रखने की रीति है। सुपारी का ऐसा उपयोग होता है तो वह सुपारी नहीं रहती। वह एक प्रतीक बनती है। श्राद्ध के दिन ब्राह्मण भोजन करता है तो यह माना जाता है कि पितरों ने भोजन किया। वह ब्राह्मण पितरों का प्रतीक बना हुआ होता है और प्रस्तुत संदर्भ में उसको अपना व्यक्तित्व भूल जाना होता है। नाटक देखने की अवधारणा में अभिनेता का अपना व्यक्तित्व भूल जाना अंतर्भूत है। अभिनेता रोता है तो यह भूल जाना होता है कि यथार्थ जगत् का एक व्यक्ति दुखी हुआ है। उसे प्राय: दुख नहीं होता। काम ठीक होना हो तो दुख होना ठीक भी नहीं है। इसीलिए जब किसी के हृदय में प्रत्यक्ष भावना नहीं होती लेकिन उसके लिए उचित आविर्भाव मात्र रहता है तो हमें नाटक की स्मृति हो जाती है। इसलिए हम कहते हैं कि "क" को इस समाचार से आनंद हुआ होगा, लेकिन उसने दुख का बहुत अच्छा नाटक किया अर्थात् यहाँ "नाटक करना" अवधारणा की कक्षा हम विस्तृत करते हैं।

शंकुक पर दुखद आक्षेप यह है कि जिस राम को किसी ने देखा नहीं है उसका अनुकरण अभिनेता करता है, यह कैसे कहा जा सकता है? ऐतिहासिक पात्रों के बारे में यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता क्योंकि लोगों ने ऐतिहासिक व्यक्तियों को देखा होता है, उनके बारे में लिखा हुआ होता है। लेकिन लोककथा और पुराण के पात्रों के संदर्भ

में यह समर्थन लागू नहीं होता। क्योंकि ये पात्र कभी सचमुच हो गए हैं, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। उनके बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि ये सचमुच अस्तित्व में कभी नहीं थे। फिर भी ऐतिहासिक व्यक्तियों की भाँति लोकमानस में वे गहरे धँसे होते हैं? ऐतिहासिक पात्रों और लोकमानस में अंकुरित पात्रों का अनुकरण कैसे हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित करने का कोई कारण नहीं, ऐसा लग सकता है। लेकिन फिर भी एक अर्थ में यह प्रश्न शेष रहता ही है। रामायण में कहा गया है कि सीताहरण होने के बाद राम शोकमग्न हुआ और उस अवस्था में उसने क्या-क्या किया इसका वर्णन भी किया गया है। लेकिन इन सब बातों का समूचा तफसील रामायण में दिया हुआ नहीं होता फिर ऐसे समय अभिनेता क्या करता है? सीता जैसी प्रिय पत्नी का हरण किए जाने पर राम जैसा पति क्या करेगा, इसका विचार कर मूल में जो तफसील नहीं है उनको कल्पना से गढ़ लेता है। मतलब यहाँ नट के सामने विशिष्ट व्यक्ति न होकर विशिष्ट प्रकार के लोग होते हैं। यहाँ साधारणीकरण का मुद्दा अटल हो जाता है। पूर्णत: कल्पित पात्रों के संदर्भ में तो वह बहुत महत्त्वपूर्ण सिध्द होता है। कल्पित वस्तु एवं यथार्थ वस्तु के बीच एक अंतर होता है। यथार्थ वस्तु के अनंत गुण या पहलू होते हैं। इन सब का हमें ज्ञान होता ही है, ऐसा नहीं। उन वस्तुओं के स्वरूप का हम सतत अन्वेषण करते रहते हैं और उनके संबंध में समूचा ज्ञान हमें होता ही है, ऐसा नहीं। उस वस्तु के स्वरूप का हम सतत अन्वेषण करते रहते हैं और उसके संबंध में विचार करते समय हम उस वस्तु का सतत निर्देश करते रहते हैं। लेकिन काल्पनिक वस्तु में अपने को अज्ञात पहलू या गुण नहीं होते, उसका स्वरूप होता है हमारा ही कल्पित गुणों का समुच्चय। यथार्थ की किसी चीज का वर्णन करते समय उस चीज का एक बंधन मन पर होता है। काल्पनिक चीज का वर्णन करते समय ऐसा कोई बंधन होने का कारण ही नहीं होता। फिर भी यह बोध होता है कि हमपर किसी का बंधन है। यह बंधन यथार्थ का ही होता है। यहाँ यथार्थ में विशिष्ट प्रकार के लोग विशिष्ट स्थितियों में व्यवहार किस प्रकार करते हैं, इसका ज्ञान हमारी कल्पना पर नियंत्रण रखता है। अगर इस नियंत्रण को नहीं माना गया तो हमारी विनिर्मित पात्र-सृष्टि प्रत्ययकारी (convincing) नहीं लगेगी। यहाँ यथार्थ से मतलब होगा - 'मनुष्यों एवं घटनाओं के प्रकार'। फिर केवल बुध्दिगम्य सामान्य का अनुकरण इंद्रियगम्य वस्तुओं द्वारा संभव नहीं होता, इसलिए कहना पड़ता है कि मनुष्यों के प्रातिनिधिक व्यक्ति का अनुकरण अभिनेता करता है। अर्थात् यह प्रातिनिधिक व्यक्ति यथार्थ का व्यक्ति न हो कर यथार्थ के नियंत्रण में कवि द्वारा विनिर्मित काल्पनिक व्यक्ति हो तो भी चल सकता है। ऐतिहासिक विशिष्टता को छोड़कर हम प्रतिनिधित्व की ओर जाते हैं तो साधारणीकरण का मुद्दा संगत ठहरता है क्योंकि विशिष्ट राम के शोक से हम अब जो कोई इस प्रकार शोक करेगा, उसके शोक की

ओर गए हुए होते हैं। उसपर भट्टतौत ने पूछा है, "जो इस तरह शोक करता है, उसके ये अनुभव हैं।" कहना हो तो स्वयं अभिनेता का ही वहाँ अनुप्रवेश होता है। फिर अनुकार्य और अनुकर्ता संबंध ही कहाँ रहा?[53] लेकिन यह आक्षेप टिकनेवाला नहीं। क्योंकि शंकुक कहेगा कि जब अभिनेता काम करता है तब अनुकार्य शोक में उसका अनुप्रवेश हो सकता है, यह सही होने पर भी वह होता ही है ऐसा नहीं। अपेक्षा भी नहीं होती कि वह हो, न होना ही अधिक उचित माना जाता है। अभिनेता का अनुप्रवेश हुआ अथवा नहीं, यही बात असल में अप्रासंगिक है। नट का एक यथार्थ व्यक्ति के रूप में अनुप्रवेश होना "नाटक में काम करने" की अवधारणा में ठीक बैठता ही नहीं। शंकुक के मत के समर्थक आगे चलकर यह भी कह सकते हैं कि जो बात अभिनेता की है वह दर्शक की भी। दर्शक का अनुप्रवेश हो सकता है लेकिन "नाटक देखने" के संदर्भ में वह अप्रस्तुत है। साधारणीकरण के कारण अभिनेता एवं दर्शक के अनुप्रवेश की शक्यता उत्पन्न होती हैं, लेकिन अनुप्रवेश होता ही है या होना ही चाहिए, ऐसा नहीं। साधारणीकरण के बिना नाटक में क्या घटित होता है, यह समझ में नहीं आएगा, यह सही है। लेकिन साधारणीकरण होने पर तटस्थता समाप्त होती है, ऐसा नहीं। कुछ दर्शकों में तटस्थता पहले से होती है और उत्स्फूर्त रूप में होती है और उसको टिकाए रखने के कार्य में रंगमंच परदे, रंग-देवता की पूजा इत्यादि उपायों का उपयोग होता है।

इसपर से ऐसा दिखता है कि शंकुक की उपपत्ति के अनुसार जिन्हें सत्ताशास्त्रीय स्थान नहीं है, ऐसे पात्रों में भावनाओं का अस्तित्व प्रतीत होना ही रसानुभाव का वैशिष्ट्य है। इन पात्रों में देहीभूत हुई भावनाओं का रसिक तटस्थतापूर्वक अनुभव लेता है। इन भावनाओं में उसका अनुप्रवेश होता है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। इसके बारे में बोलते समय "चर्वणा" का उल्लेख किया जाता है। अगर नाटक में "देहीभूत" भावना रसिक के हृदय में छलकती नहीं है, यह शंकुक का अभिमत मान्य किया जाए तो चर्वणा का अर्थ कैसे लगाएँ? स्वयं भरत ने रसविषयक विवेचन करते समय भोजनरस का दृष्टांत दिया है। इस दृष्टांत के कारण चर्वणा पर प्रकाश पड़ता है। मसालों से युक्त पदार्थ हम मुँह में घुलाते रहते हैं, उनका चर्वण करते हैं। चर्वण करते समय हम उस पदार्थ के साथ एकरूप तो नहीं होते। बड़ी तल्लीनतापूर्वक और रूचि से हम श्रीखंड का स्वाद लेते हैं, इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि हम श्रीखंड-रूप बन जाते हैं। उसी तरह राम का शोक तल्लीनतापूर्वक देखते समय हम में शोक भावना के उमड़ने की आवश्यकता नहीं है। राम की चर्वणा होती है, इसका अर्थ इतना ही कि हम नाट्यगत रस का तल्लीनतापूर्वक अवलोकन करते हैं। यह अवलोकन "देखना", "सुनना", "स्वाद लेना" इत्यादि ज्ञानव्यापारों के निकट का होता है। लेकिन यहाँ अवलोकन विषय को सत्ताशास्त्रीय स्थान न होने के कारण (या उसके स्थान के बारे

में हम उदासीन होते हैं, इसलिए) वह अवलोकन पूर्णत: ज्ञानव्यापार की जाति का नहीं होता। फिर भी रसानुभव आकुल-व्याकुल होने के अनुभव की अपेक्षा "अवलोकन" के अधिक निकट है।

शंकुक की उपपत्ति हमें जँचे अथवा न जँचे, लेकिन "नाटक देखना" अवधारणा की वह एक करीबन् संपूर्ण उपपत्ति है मान्य करना होगा। लेकिन उसकी ओर कुछ उपेक्षावृत्ति से देखने की पद्धति हो गई है। मम्मट के उपरांत लोल्लट के भट्टनायक - अभिनवगुप्त की ओर आने का एक पुल, इसी रूप में शंकुक की ओर देखा जाता है। इसका कारण यह कि मम्मट ने शंकुक की मान्यता को बताते हुए कहा है, "सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्री शंकुक।"[54] यह मत शंकुक का ही है यह तय करना आज असंभव है। अभिनव ने अभिनव-भारती में शंकुक की जो भूमिका दी है उसमें मम्मट का दिया हुआ ऊपर का वाक्य नहीं है। मान लीजिए हमने ऐसा माना कि मम्मट ने जैसा बताया है वैसा ही सिद्धांत शंकुक ने प्रस्तुत किया है, तो तटस्थतावादी भूमिका पर से उपर्युक्त वाक्य का अर्थ होगा : रामादि जैसे भाव रसिकों में भी होते हैं। अत: राम का अनुकरण करनेवाले नट के अभिनय को देखने पर राम के भावों का वह अनुमान करता है और नट द्वारा किया हुआ राम का अनुकरण तल्लीनतापूर्वक देखता है। लेकिन मम्मट के उपर्युक्त वाक्य से अगर कोई अनुमान करेगा कि रसिक का आत्मानुप्रवेश होता है, यह आखिर शंकुक ने मान्य किया है, तो शंकुक की मान्यता का स्वतंत्र अस्तित्व ही नष्ट होता है।

आत्मानुप्रवेश के बारे में यह अभिमत शंकुक पर लादा गया तो शंकुक भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त के आगमन की पूर्वतैयारी कर रहा था, ऐसा लगता है। भट्टनायक, अभिनवगुप्त ने जो किया वही शंकुक को करना था, लेकिन वह सफल हुआ नहीं। ऐसी कुछ धारणा हमारी बनी है। प्रा. रा. श्री. जोग लिखते हैं, मम्मट द्वारा बताए गए शंकुक के मत में बिलकुल आखिर में सामाजिकों, रसिकों की वासना से चर्व्यमाण रस का उल्लेख है। फिर भी यह रस काव्यगत व्यक्ति या उनका अनुकरण करनेवाले अभिनेता से रसिकों तक आ नहीं पहुँचा। कम से कम शंकुक ने उसपर बल नहीं दिया। वहाँ से उसके रसिक हृदय तक लाने का कार्य भट्टनायक ने किया।"[55] डॉ. ग. त्र्यं. देशपांडे ने शंकुक को रसप्रक्रिया के विकास में एक मंजिल का ही स्थान दिया है।[56] इस पर शंकुक कहेगा कि भट्टनायक - अभिनव को जो करना था वही मुझे भी करना था, यह गलत है। मेरी और भट्टनायक - अभिनवगुप्त की भूमिकाएँ पूर्णत: भिन्न एवं परस्परव्यावर्तक है।[57]

शंकुक की राय दो पाश्चात्य विश्वचैतन्यवादियों की राय के बहुत निकट जाती है। उनकी भी राय में भावनाएँ कलाकृति में देहीभूत होती हैं और इस देह के सत्ताशास्त्रीय स्थान के प्रति हम उदासीन रहते हैं। इसीलिए शंकुक की भूमिका को

क्या अलौकिकतावादी माना जाए, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उसे हल करने के लिए हमें अनुकरण का स्वरूप देखना होगा। ऊपर सूचित किया ही है कि अभिनेता द्वारा किए गए अनुकरण में साधारणीकरण की प्रक्रिया अंतर्भूत रहती है। नट सीताहरण के प्रसंग में आँसू ढालता है और उससे राम के दुख का अनुकरण करता है। राम के आँसू ढालने पर उसे दुख होता है, यह कैसे समझा जाए? "दुख होना" अवधारणा का आँसू ढालना एक भाग है, इसलिए यह अवधारणा साधारणीकरण पर आधारित है, मूल में ही वह समाजजीवन से हमें प्राप्त हुई है। व्यक्ति अकेला (isolated) न होकर मानव-समाज का घटक होता है।[58] विभावों को सत्ताशास्त्रीय स्थान नहीं होता। लेकिन उनकी ओर उसकी दु:खादि भावनाओं की ओर देखने पर यह भान होता है कि "ऐसे व्यक्ति होते हैं और उनकी भावनाएँ ऐसी होती हैं।" इस भान के होने पर यह ध्यान में आता है कि हम कुल मानवजीवन का फलक ही देख रहे हैं। इसके बाद आत्मानुप्रवेश के होने पर लगेगा कि हम अपने ही जीवन का फलक देख रहे हैं। इसके बाद आत्मानुप्रवेश नहीं हुआ तो लगेगा कि इन पात्रों का (और उनके जैसे यथार्थ दुनिया के मनुष्यों का) जीवन देख रहे हैं। उसके कारण हममें भावना जागृत होगी या नहीं भी हो सकती। अगर वह हुई तो पात्रों के समांतर भावना हममें उत्पन्न न होकर उनकी भावनाओं के अनुरूप लेकिन अलग भावनाएँ उत्पन्न होंगी। क्या यह भावना – जागृति अलौकिक होती है? इस संदर्भ में वामन मल्हार जोशी के अभिमत की चर्चा आवश्यक है। वे लिखते हैं, "रघुवंश के अजविलाप को पढ़ते समय मृत इंदुमती एवं शोकाकुल अज के साथ हम तादात्म्य प्राप्त करते हैं इसलिए आनंद प्राप्त होता है, ऐसा नहीं। इन प्रसंगों में व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ दृष्टि का अंश हम अलग करते हैं और पति-पत्नी के प्रेम में जो उच्चतम स्वारस्य भरा हुआ है उसकी प्रतीति यह वर्णन पढ़ते हुए हमें प्राप्त होती है। इसलिए हमें आनंद मिलता है। रघुवंश के दूसरे सर्ग में वर्णन किया हुआ वह पर्वत, वह नंदिनी, वसिष्ठ, धेनु, उसे खिलानेवाला वह शेर, उस शेर को "मेरा मांस चाहे तो खा लो मगर उस गाय को छोड़ दो" कहनेवाला दिलीप राजा, इत्यादि सब चीजें पढ़कर एवं आँखों के सामने लाकर हमें आनंद होता है, वह इसलिए कि पहले-पहले भयानक एवं शोकजनक भासमान होनेवाले इस दृश्य में भी जो एक प्रकार का उदात्त रम्यत्व है राजा के साथ बोलनेवाले शेर में जो एक चमत्कृति-जनकत्व है, राजा की भक्ति में जो एक उच्चत्व एवं पावित्र्य है उन सब की ओर हम तटस्थ, नि:स्वार्थ और अलौकिक भूमिका पर रहकर (तादात्म्यपूर्वक नहीं) दर्शक के नाते देख सकते हैं।[59]

वामन मल्हार की राय में दर्शक की भूमिका तटस्थता की होती है, तादात्म्य की नहीं। इसी भूमिका से वह कवि द्वारा निर्मित जीवनचित्र की ओर देखता है और उसके मन में आदरादि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस भूमिका को उन्होंने "नि:स्वार्थ एवं

अलौकिक" कहा है। यह भूमिका नि:स्वार्थ इसलिए है कि दिलीप राजा के उच्चत्व एवं पाविञ्य के कारण पाठक का, एक व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में, कुछ भी भला बुरा होनेवाला नहीं होता। एक व्यावहारिक व्यक्ति के नाते मेरे जो सुखदुख होते हैं वे मेरे "स्व" से जुड़े होते हैं, इसलिए उन्हें "स्वार्थी" कहा जा सकता है। जो सुखदुख मेरे "स्व" से जुड़े नहीं होते वे नि:स्वार्थ कहे जा सकते हैं। मेरे परिवार की किसी लड़की का स्मृतिभ्रंश के कारण उसके दूर गए पति से पुनर्मिलन हो जाए तो व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में जो "स्वार्थी" आनंद मुझे होगा वैसा दुष्यंत-शकुंतला के मिलने से नहीं होता। लेकिन यह आनंद एवं आदर विशिष्ट जीवनमूल्यों की सफलता के कारण उत्पन्न हुआ है। इसे नैतिक आनंद या आदर कह सकते हैं। "लौकिक" की परिभाषा "स्वार्थ" के या "व्यावहारिक" के समकक्ष करें तो उपर्युक्त भावनाएँ अलौकिक ठहर सकती हैं। लेकिन विश्वचैतन्यवादियों ने सौंदर्य की अलौकिकता बताते हुए ज्ञान, नीति, व्यवहार की अपेक्षा वह भिन्न होता है, यह कहा था। अब यह सही है कि नाटक के पात्रों को यथार्थ के व्यक्तियों के रूप में सत्ताशास्त्रीय स्थान नहीं होता। लेकिन तो भी साधारणीकरण के कारण हमें लगता है, "ऐसे लोग यथार्थ में होते हैं/होने चाहिए" और इन लोगों के अस्तित्व के बारे में और विशेष कर उनके द्वारा सिद्ध हुए जीवनमूल्यों के अस्तित्व के बारे में हम उदासीन नहीं होते। मतलब वहाँ कांट को अभिप्रेत निरपेक्षता (= अस्तित्व निरपेक्षता) नहीं। इसलिए वामन मल्हार द्वारा निर्दिष्ट भावनाएँ- विश्वचैतन्यवादियों के अर्थ में अलौकिक नहीं ठहरतीं। इसपर ब्रैड्ले जैसा विश्वचैतन्यवादी कहेगा कि सौंदर्यानुभव में हमें केवल पात्रों के अस्तित्व के बारे में उदासीन होना चाहिए, ऐसा नहीं। उनमें देहीभूत मूल्यों के आदर्शों के बारे में भी ऐसी ही उदासीनता आवश्यक है। मतलब, सिंधु जिस प्रकार सही नही है, उस प्रकार उसका पतिप्रेम भी सच नहीं है, ऐसा मानना होगा।[60] इसपर उत्तर यह है कि पात्रों के अस्तित्व के बारे में उदासीनता होनी चाहिए, यह मान भी लिया जाए तो भी उन में देहीभूत मूल्यों के बारे में उदासीनता होनी चाहिए, यह मान्य नहीं किया जा सकता। ऐसी उदासीनता हो तो वाङ्.मयीन अनुभव ही संभव नहीं होगा। हम बहुत बार संकुचित, स्वार्थी (selfish) दृष्टिकोण से विचार करते हैं और इसलिए हम अनेक बार नैतिकता के स्तर पर जा ही नहीं सकते, यह सही है। लेकिन यह लौकिक जीवन की अलौकिकता है। स्वार्थ के स्तर से नैतिक स्तर पर जाने के लिए नि:स्वार्थी भावनाओं की बहुत सहायता होती है और इसीलिए कलानुभव स्वार्थ से नैतिकता की ओर ले जानेवाला अनुभव है, ऐसा माना जाता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि नाटक के पात्रों को यथार्थ जीवन के व्यक्ति के रूप में सत्ताशास्त्रीय स्थान न होने के कारण उन्हें "देखना" यथार्थ के व्यक्तियों को "देखने" से अलग होता है और केवल उतनी ही बाबत में अलौकिक है। लेकिन इस अलौकिक "देखने" के कारण हमपर जो परिणाम

होते हैं उन्हें अलौकिक मानने का कोई कारण नहीं। सत्ताशास्त्रीय स्थान न होनेवाले पात्रों का दुख देखकर हम सच्चे आँसू क्यों ढालते यही रसचर्चा का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

समझिए कि हमने यह कहा कि जिसपर मानवी भावनाओं का आरोप हुआ है ऐसी दुनिया का दर्शन हमें वाङ्मय के कारण होता है और उसके परिणामस्वरूप हमारे मन में कौन-सी भावनाएँ जागृत होती हैं, इसका महत्त्व न होकर, दर्शन का ही महत्त्व है। यह उपपत्ति अलौकिकता की ओर उन्मुख है ऐसा लग सकता है, क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि लौकिक में अपनी भावना की दृष्टि से नीरंग दुनिया के दर्शन होते हैं और वाङ्.मय में भावनाओं द्वारा संस्कारित दुनिया के दर्शन होते हैं, लेकिन यह सही नहीं है। सामान्य मनुष्य को नीरंग सृष्टि दिखाई ही नहीं देती। नीरंग सृष्टि दिखती है केवल शास्त्र को। सामान्य आदमी को शाम उदास लगती है, शास्त्रज्ञ का चश्मा जानबूझकर गढ़ा जाता है। सामान्य मनुष्य नीरंग चश्मा पहनकर जन्म नहीं लेता, न ही दुनिया के साथ इस तरह व्यवहार करता है। अगर केवल शास्त्रज्ञ की दुनिया ही लौकिक मान ली जाए तो ही कला के द्वारा दिखनेवाली दुनिया अलौकिक मानी जा सकती है। लेकिन कला द्वारा जीवन में जो दुनिया दिखती है, उसके अत्यधिक निकट होती है, यह भूलना नहीं चाहिए।

8.11

उपर्युक्त विवेचन में हमने कहीं-कहीं तटस्थता का उल्लेख किया है। बहुत से समीक्षकों की मान्यता है कि तटस्थता कलानुभव का एक व्यवच्छेदक लक्षण है। यह ताटस्थ्य और विश्वचैतन्यवादियों को अभिप्रेत ताटस्थ्य क्या एक ही है? यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। इस प्रश्न की चर्चा हम बुलो द्वारा प्रस्थापित "अंतर" के संदर्भ में करेंगे। इस सिद्धांत को विशेष महत्त्व देने का कारण यह है कि उसमें ताटस्थ्य की अवधारणा को केंद्रवर्ती स्थान मिला है। बुलो की राय में कलानुभव में एक प्रकार का मानसिक अंतर (psychical distance) अभिप्रेत होता है। मतलब पर्याय से अपने में और भावनादि के चेतकों में यह अंतर निर्मित होता है।[61]

दैनंदिन जीवन से और उसमें उलझे "मैं" से अंतरित (distanced) अनुभव अलग किया हुआ होता है।[62] दैनंदिन जीवन में हमे चीजों का जो अनुभव मिलता है उसमें हमारी जरूरतें पूरी करने के लिए जो अंग आवश्यक होता है, उतना ही हम देखते हैं। लेकिन अंतरित अनुभव में चीज के अन्य अंगों का भी भान रहता है। चीज का यह मानो नया साक्षात्कार ही होता है और ऐसा साक्षात्कार कला के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए अंतर की अवधारणा हर कला में उचित जान पड़ती है। इसी अवधारणा के कारण कलानंद को अन्य सुखद अनुभवों से अलग किया जा सकता है।

अंतर के कारण अनुभव की वैयक्तिकता कम होती है। लेकिन इसका अर्थ यह

नहीं कि रसिक का अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भाँति अलिप्त होता है। अंतरित अनुभव से हमेशा के व्यवधान निकाल दिए जाते हैं। लेकिन इस कारण वैयक्तिकता खत्म होती है, ऐसा नहीं।[63] रंगमंच के पात्रों बारे में हमारा दृष्टिकोण सच्चे मनुष्यों के संबंध में विद्यमान दृष्टिकोण से अलग रहता है। पात्र वास्तविक व्यक्तियों के रूपों में हमारे सामने नहीं विचरते और इस भान के कारण हमारे दृष्टिकोण में अंतर पड़ जाता है। बुलो की राय में पात्र कल्पित हैं, इस भान के कारण अंतर उत्पन्न नहीं होता, बल्कि अंतर उत्पन्न होने के कारण पात्र वास्तविक नहीं है, यह भान पैदा होता है।[64]

इसके बाद बुलो ने अंतर की अवधारणा के अंतर्गत वर्तमान द्वंद (antinomy of distance) को स्पष्ट किया है। अगर कलाकृति सफल होती है तो उसका आशय हमारे प्रत्यक्ष जीवन से भिड़नेवाला होना चाहिए। लेकिन कलानुभव की चौखट छोड़नी न हो तो अंतर का भान नहीं छूटना चाहिए। कलाकार और रसिक दोनों की दृष्टि से कहा जा सकता है कि अंतर का भान न छोड़ते हुए प्रत्यक्ष जीवन और कला को अधिक से अधिक निकट लाने में कला का उत्कर्ष है।[65] दर्शक की क्षमता और अनुभव विषय का स्वरूप, इनपर यह अंतर निर्भर रहता है।

बुलो के सिद्धांत में और विश्वचैतन्यवादी सिद्धांत में तटस्थता के मुद्दे पर एकमत है, ऐसा लग सकता है, लेकिन इन सिद्धांतों को अधिक बारीकी से जाँचने पर उनके भेद ध्यान में आ सकते हैं। बुलो ने अंतर का महत्त्व बताया है। फिर भी उसकी राय है कि कला को वास्तव जीवन से दूर नहीं जाना चाहिए। अब यह सही है कि विश्वचैतन्यवादी वास्तव का सामना करते हैं। समूचे लौकिक जीवन को कला में समाविष्ट करने के लिए वे उत्सुक रहते हैं। यह सब जीवन आत्मसात् कर अलौकिक तत्त्वानुसार उसकी पुनर्रचना करने की वे प्रतिज्ञा करते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि केवल ताटस्थ्य के अथवा मानसिक अंतर के एक खंभे पर अलौकिकता का सिद्धांत खड़ा नहीं रह सकता। एक ओर तटस्थ अवलोकन और दूसरी ओर अलौकिक रचनातत्त्व के अनुसार जिसकी संरचना हुई है, ऐसा अवलोकन-विषय होगा तभी कलास्वाद को अलौकिक कहा जा सकेगा। केवल तटस्थता होने पर और स्वार्थी एवं व्यावहारिक भूमिका का अभाव होने पर अलौकिकता सिद्ध नहीं होती। इसलिए बुलो, स्पेन्सर, वामन मल्हार इत्यादि विचारकों के द्वारा ताटस्थ्य का पुरस्कार किए जाने पर भी वे अलौकिकतावादी नहीं ठहरते। कला के भावनात्मक अंग के संदर्भ में अलौकिकता प्रस्थापित करनी हो तो इस अंग के घटकों की अलौकिक रचना पर बल देना होगा। विश्वचैतन्यवादियों ने एवं उन्हीं के सौंदर्यशास्त्रीय चौखट में विचार करनेवाले मर्ढेकर जैसे सौंदर्यशास्त्रियों ने इस बात को समझा था। भावनानुभव की अलौकिक तत्त्व के अनुसार पुनर्रचना करने के कार्य में उन्हें कितनी सफलता मिली,

यह बाद में देखेंगे। लेकिन यहाँ यह रेखांकित करना होगा कि रचनातत्त्व के अभाव में केवल ताटस्थ्य से कला-व्यापार अलौकिक सिद्ध नहीं होते। उसी तरह एक और मुद्दा ध्यान में लेना चाहिए। उन्नीसवीं शती में और उसके बाद के विचारक अलौकिकता की ओर खींचे जा रहे थे, इसका प्रमाण बुलो जैसों के सिद्धांत में मिलता है। अर्थात् इस प्रमाण के कारण अलौकिकतावाद आकर्षक है, इतना ही स्थापित होता है। यह नहीं स्थापित होता कि वह स्वीकार्य है।

8.12

तटस्थता से अधिक कुछ सिद्ध नहीं होता, यह ध्यान में आते ही एक अलग प्रश्न मन को सताने लगता है। अगर वाङ्:मय के कारण आनेवाला भावानुभव लौकिक ही होगा तो दैनंदिन जीवन में आनेवाले भावानुभवों से उसे अलग कैसे किया जा सकता है? अगर वह अलग नहीं किया जाएगा तो उसका व्यवच्छेदक लक्षण कैसे प्राप्त होगा?

इस प्रश्न का एक उत्तर है कि वाङ्:मय के अनेक अंग होते हैं भावनात्मक उनमें से एक अंग है। अत: वाङ्:मय के अन्य अंगों में हमें आवश्यक व्यवच्छेदक लक्षण मिल जाए तो भी चल सकना चाहिए। भावनात्मकता में ही या भावनात्मकता में भी कोई व्यवच्छेदक लक्षण प्राप्त होना चाहिए, यह आग्रह हमें छोड़ देना चाहिए। दूसरा उत्तर यह है कि वाङ्:मय के भावानुभव एवं अन्य भावानुभव में जाति का या गुणात्मक अंतर नहीं होता। वह अंतर केवल संख्यात्मक होना संभव है। इस प्रकार का संख्यात्मक अंतर वाङ्:मयानुभव को अन्य अनुभवों से अलग करने को पर्याप्त है, ऐसा क्यों न माना जाए? लेकिन ये दोनों उत्तर लोगों को फौरन जँच जाएँगे, ऐसा नहीं लगता। इसलिए हम देखें कि क्या अन्य कुछ अंतर प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि कला से प्राप्त होनेवाला भावानुभव आनंदरूप होता है, अन्य अनुभव सुखदु:खरूप होते हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र में इस आनंदरूपता के आधार के रूप में साधारणीकरण का निर्देश किया जाता है। हमने यह देखा कि साधारणीकरण हमारे सभी व्यवहार की नींव की है। अगर साधारणीकरण वाङ्:मय तक ही सीमित नहीं है तो वाङ्:मयानुभव को अन्य अनुभवों से अलग नहीं किया जा सकता। और यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य अनुभवों में वर्तमान सुखदु:खरूपता चली जा कर वाङ्:मयानुभव में केवल सुखरूपता रहती हैं। कहा जाता है कि साधारणीकरण के कारण अनुभव की व्यक्तिबद्धता नष्ट हो जाती है। इतना ही है कि पाठक के "स्वार्थी" व्यावहारिक हितसंबंध के विचार उसे वाङ्:मयास्वाद के समय विघ्नरूप नहीं सिद्ध होते। लेकिन ऐसा नहीं कि उसके व्यक्तित्व का "परार्थ" (other - regarding) विचार, भाव विलुप्त हो जाता है और ऐसा नहीं कि उसकी सहानुभव-क्षमता और नैतिकता के स्तर पर से विचार करने की शक्ति भी लुप्त होती है। मतलब, बहुत संकुचित अर्थ में ही पाठक के अनुभव की व्यक्तिबद्धता गल जाती है। उसके व्यक्तित्व का

बहुत सारा भाव वैसे ही रह जाता है। अतएव वाङ्मयानुभव आनंदरूप ही होता है, ऐसा जोर देकर कैसे कहा जा सकता है ? अन्य अनुभवों की तरह ही वह भी सुखदु:खरूप ही ठहरेगा। वामन मल्हार जोशी ने दिलीप का जो उदाहरण दिया है, उसमें ध्यान में आएगा कि वाङ्मय के कारण यह परितोष प्राप्त होगा ही, ऐसा नहीं। कुछ वाङ्मय कृतियों के कारण ऐसा दुख भी उत्पन्न होगा। जिसका अपने व्यक्तिगत जीवन से कोई संबंध नहीं। नि:स्वार्थता के स्तर पर आने पर आनंद और परितोष प्राप्त होता है, दु:ख उत्पन्न हो ही नहीं सकता, यह सही नहीं है। गांधीजी ने अपने जीवन का आखिरी समय दारुण निराशा में बिताया, यह नि:स्वार्थ स्तर की निराशा है। ऐसी ही निराशा हार्डी की "ज्युड़ दि आबस्क्यूअर" पढ़कर भी पैदा होती है। इसपर से ध्यान में आएगा कि साधारणीकरण से अनुभव की सुखदु:खरूपता तिरोहित होती है ही ऐसा नहीं है।

इसी अध्याय के पहले भाग में हमने सुख के अलग-अलग अर्थ देखे। जब कहा जाता है कि वाङ्मयानुभव सुखरूप होता है तब इनमें से कौन-सा अर्थ अभिप्रेत होता है? जिस अर्थ में कोई सुखात्मिका या अनुकूल संवेदना सुखद होती है उस अर्थ में सारा वाङ्मय सुखद होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह तो स्पष्ट है। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रेरणापरितोष का सुख सभी वाङ्मय से प्राप्त होता है। ये सारे अर्थ निकाल दिए जाने पर भी "सुख" का एक ही अर्थ शेष रह जाता है। वह अर्थ "अच्छा लगना" मन लगाकर, तल्लीन होकर, स्व-रसरंजनात्मक वृत्ति से कुछ करना, वह करते समय "विगलिंत वेद्यांतर वृत्ति" होना, इन शब्द-प्रयोगों से व्यक्त होता है। केवल इसी अर्थ से समूचा वाङ्मय सुखरूप होता है, यह प्रश्न पूछने के स्थान पर यह प्रश्न पूछना उचित होगा कि : हम वाङ्मय अतिशय रुचि से एवं तल्लीनतापूर्वक क्यों पढ़ते हैं ? यह प्रश्न सुखात्म वाङ्मय की अपेक्षा शोकात्म वाङ्मय के संदर्भ में उपस्थित होने की शक्यता अधिक होने के कारण हम उसी संदर्भ में इस प्रश्न का विचार करेंगे।

प्रारंभ में ही एक बात को स्पष्ट करना होगा। समूचा शोकात्म वाङ्मय हम पर समान परिणाम करता है, ऐसी समझ से अगर उपर्युक्त प्रश्न को हल करने का प्रयत्न हम करेंगे तो वह वाङ्मयीन विविधता पर अन्याय करना होगा। समस्त शोकात्म वाङ्मय में एक ही सत्त्व होता है, यह समझ वाङ्मय के क्षेत्र में लाभकारी नहीं सिद्ध होगी। इस प्रकार का एकसत्त्वतर्काभास (essentialist fallacy) करने के कारण जिन कलाकृतियों को हमने अन्यथा शोकात्म कहा होता वे शोकात्म नहीं हैं, ऐसा कहने की स्थिति पैदा होगी। शोकात्म नाट्य के जो परिणाम होते हैं वे एक ही कुल के हैं, उनका चेहरा एक जैसा होता है, इतना ही समझकर इस विषय पर विचार करना अधिक लाभदायी होगा।

वाङ्मय से हमारी भावनात्मक अनुभव की कक्षाएँ विस्तारित होती हैं, व्यावहारिक

जीवन की धकापेल में किसी अनुभव को पूरी तरह पूर्ण रूप में लेना हमारे लिए संभव नहीं बनता। इसलिए हमारे व्यक्तित्व का भावनात्मक अंग भूखा रह जाता है और हमें योग्य खाद्य सामग्री न मिलने के परिणाम स्वरूप भूख भी मंद होने लगती है। और फिर भावनात्मक अनुभव आवश्यक हो तो हमें सनसनाहट पैदा करनेवाली खबरें छापनेवाले अखबार, रोमांचकारी चीजों से भरे मासिक पत्र, चित्रपट, इत्यादि की ओर मुड़ना पड़ता है। वह न हो, इस विचार से ही हम अच्छा वाङ्‌मय पढ़ते हैं। शोकात्म वाङ्‌मय हम इतनी रुचि से पढ़ते हैं क्योंकि उससे हमें संपन्न भावानुभव प्राप्त होता है।[67] केवल मनोरंजन करनेवाली स्वप्नरंजक रचना सीमित अर्थ में ही हमारी अनुभव की कक्षाएँ विस्तारित करती है। लेकिन ऐसी रचना और शोकात्मिका में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। स्वप्नरंजक उपन्यास जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों का स्पर्श ही नहीं करते। वे जीवन का चित्रण इस प्रकार से करते हैं मानो वे अंग अस्तित्व में हैं ही नहीं। जीवन में दु:ख, निराशा, संकट इत्यादि चीजें होती हैं, इनको वह भूलने को बाध्य करते है। भावविह्वल (sentimental) करनेवाली वाङ्‌मय रचनाएँ जीवन का आधा-अधूरा अत: विकृत दर्शन ही कराती हैं। यहाँ दु:ख दिखाए गए हैं, यह सही है। लेकिन दु:ख से दृढ़तापूर्वक सामना करने का महत्त्व है। इस बात की अवहेलना की गई होती है। ऐसे वाङ्‌मय के कारण पुरुषनिष्ठा और दृढ़ता के स्थान पर प्रत्यक्ष सक्रियता से अलग भावनात्मक विलास करने की प्रवृत्ति परिपोषित की जाती है। शोकात्म वाङ्‌मय में उपर्युक्त दोनों प्रकार की विकृतियाँ टाल दी जाती हैं। जीवन का अधिक से अधिक भावार्थ एवं पूर्ण चित्र अत्यंत गंभीरतापूर्वक उसमें चित्रित किया जाता है और पाठक का किसी प्रकार लाड़-प्यार उसमें डाला गया होता है।[68]

शोकात्म नाट्य में केवल यथार्थ जीवनचित्रण ही नहीं होता। इस जीवन की ओर देखने के विशिष्ट बौद्धिक - भावनात्मक दृष्टिकोण भी उसमें दिए जाते हैं उन में से दो महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोणों का हम संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेंगे।

इनमें से पहला दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य पर आनेवाली आपत्तियाँ कितनी भी बड़ी हों, उनके कारण ऐहिक जीवन का कितना भी विनाश हो, तो भी मानव की आत्मा उस सबसे हार नहीं मानती। मृत्यु के क्षण में भी वह मानव जीवन पर एवं मूल्यों पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है। उसपर आनेवाले संकट जितने बड़े, उसके जीवन का विनाश जितना बड़ा, उतनी उसकी आत्मा की भव्योदात्तता एवं प्रतिष्ठा अधिक प्रकर्षपूर्वक प्रतीत होने लगती है। विनाश में महानता की प्रतीति होने के कारण शोकात्म वाङ्‌मय को पढ़ते समय दु:ख के साथ आनंद भी होता है।[69] इस विचार-प्रणाली का उद्‌गम कांट द्वारा विवेचित विराटता के विचार में प्राप्त होता है। सौंदर्य के दर्शन से निरपेक्ष आनंद प्राप्त होता है, तो विराटता के कारण भय उत्पन्न

होता है, लेकिन अपनी नैतिकता दुनिया की विराट शक्तियों से अधिक ऊपर की सीढ़ी पर है, इस प्रतीति से आनंद भी प्राप्त होता है। यह उपपत्ति कुछ शोकात्मिकाओं पर उचित रूप में लागू होती है, इसमें शंका नहीं। उदाहरणार्थ, इब्सेन का "एनिमी ऑफ दी पीपुल" शेक्सपीअर का "ऑथेल्लो" एवं "ज्युलियस सीजर", "रैग सेंट जॉन" -- इन शोकांतिकाओं का परिणाम वही होता है जैसा ऊपर कहा गया है। लेकिन "किंग लियर", "रामायण", "महाभारत" का प्रभाव इस तरह नहीं होता। यहाँ मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, मनुष्य की आत्मिक विजय, उससे प्राप्त आनंद इत्यादि बातों का एहसास नहीं होता, उल्टे एक तरह की आत्मिक थकांन और उससे उत्पन्न होनेवाली श्रांत मन:स्थिति का ही दोष होता है। महाभारत में अनेक अच्छे बुरे लोगों का एवं छोटी-बड़ी वस्तुओं का विनाश होते दिखाया गया है। जिन्हें मूल्यों की कद्र नहीं है ऐसे लोग और मूल्यों के लिए जान की बाजी लगानेवाले लोग दोनों का विनाश होता है। मनुष्य, मूल्य, तत्त्व, विचार इनमें से कुछ भी सर्वनाश की लहर से नहीं बचता। यह सब देखने पर दुनिया क्षणभंगुर है, मायारूप है, इस दुनिया में मन:शांति प्राप्त होना संभव नहीं है, यह जँचने लगता है। एक तरह की निवृत्ति की भावना उत्पन्न होती है और विरक्त पुरुष को मिलनेवाली शांति हमें प्राप्त होती है। यही शांत रस है।[70]

जीवन की ओर देखने के उपर्युक्त दो दृष्टिकोण -- एक युयुत्सु और दूसरा निवृत्त - शांत - ये दोनों अत्यंत समृद्ध दृष्टिकोण हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों ने मानव को हमेशा आकर्षित किया है। युयुत्सु दृष्टिकोण का मनुष्य को आकर्षण हो, यह जितना स्वाभाविक है उतना ही निवृत्त - शांत दृष्टिकोण का भी हो, यह स्वाभाविक है। फ्रायड ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में यह सिध्दांत प्रस्तुत किया कि हर प्राणी में अपनी मूल याने चेतनापूर्व अवस्था की ओर जाने का नैसर्गिक आकर्षण होता है। याने हर प्राणी में मृत्यु की सहज प्रेरणा होती है।[71] फ्रायड़ ने पूर्वजीवन में कहा था कि सुख - लालसा जीवन की आदिम प्रेरणा है और वह यह भी मानता था कि मनुष्य को दु:खमय बातों का स्मरण भी अच्छा नहीं लगता। लेकिन प्रचंड भयदायी वस्तुओं के (उदाहरणार्थ, बम का विस्फोट) धक्के से जिन्हें मानसिक रोग हुए हैं, ऐसे लोगों के स्वप्नों में भयप्रद बातों की सतत पुनरावृत्ति होते देखकर फ्रायड ने अपने पुराने विचार को थोड़ा बदल कर मृत्यु की सहज - प्रेरणा का सिध्दांत कुछ सहमते हुए ही प्रस्तुत किया।[72] फ्रायड का यह सिध्दांत शांत रस जिसके कारण निर्मित होता है ऐसी शोकात्मिकाओं के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों को ऊपर निर्दिष्ट दो दृष्टियों का प्राकृतिक आकर्षण होता है। अत: वे शोकात्मिका को तन्मयता से देखते हैं।

आखिर जाते-जाते एक मुद्दे का संकेत आवश्यक है। उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में अलौकिक कुछ भी नहीं है। जो मृत्युंजय, युयुत्स जीवन दृष्टि "एनिमी ऑफ द पीपुल"

नाटक में मिलती है, वही महात्मा गांधी, लिंकन, ईशू इत्यादि की जीवनगाथा को पढ़कर भी प्राप्त हो सकती है। और जो शांतरस महाभारत के कारण अनुभव करने को मिलता है, वह महायुद्ध में तप-निखरकर निकलनेवाले समृद्ध और विवेकशील किसी व्यक्ति को प्राप्त होना संभव है। यही जीवनदृष्टि शोपनहावर का लेखन एवं उपनिषद जैसे तात्त्विक ग्रंथ पढ़कर भी प्राप्त होती है।

इस अध्याय में मुख्यत: हमने सुखवाद और भावना-जागृतिवाद की चर्चा की। इस चर्चा का निष्कर्ष लौकिकता की ओर झुकनेवाला है, ऐसा हमको दिखाई दिया। अर्थात् यह भी ध्यान में रखना होगा कि यहाँ हम मुख्यत: वाङ्मय जैसी आशय प्रधान कला का विचार कर रहे थे।

अध्याय 9

कला और नीति

9.1

तीसरे अध्याय के अंत में हमने यह देखा कि कला की अवधारणा द्विध्रुवात्मक है। उनमें से एक ध्रुव यह है कि कला स्वायत्त है। कलामूल्य स्वायत्त अथवा स्वयंभू है, इसका मतलब यह नहीं कि वह जीवन का सर्वोच्च मूल्य है। उसका अर्थ इतना ही कि कला व्यापार लौकिक व्यवहार की अपेक्षा मूलत: भिन्न है। कलामूल्य पराश्रित नहीं है, स्वयंभू है। इसके विरोधी मतानुयायी यह मानते हैं कि न तो कला का स्वतंत्र, स्वयंभू मूल्य है और न कलानुभव तथा अन्य अनुभव में गुणात्मक अंतर है। जीवन के अन्य व्यवहारों में चीजों का जो मूल्य होता है वही कला का भी होता है और जीवनानुभव और कलानुभव के बीच अगर अंतर है तो संख्यात्मक है। कभी इससे भी आगे बढ़कर यहाँ तक कहा जाता है कि कला को केवल साधनमूल्य ही होता है। इसके लिए प्रमाण मिलना सुलभ है। विभिन्न युगों में कला ने विभिन्न भूमिकाएँ अदा की हैं। प्राचीन काल में गुफाओं पर चित्र अंकित करनेवाला मनुष्य कला के लिए कला का निर्माण नहीं कर रहा था, उसकी दृष्टि से जादू का ही वह एक भाग था। अमुक पद्धति से नृत्य करने पर अथवा ध्वनि करने पर शिकार में सफलता मिलती है, युद्ध में कामयाबी हासिल होती है, भूतप्रेतों से सुरक्षा होती है इत्यादि धारणाएँ उस समय प्रचलित थीं। कलासंबंधी यह दृष्टिकोण केवल प्राचीन जंगली समाज में ही प्रचलित नहीं था। अरस्तू के "पोएटिक्स" के बायवाटर कृत अनुवाद की प्रस्तावना में गिल्बर्ट मरे ने ग्रीक शोकात्मिका और उस समय की डायोनिसस की धार्मिक विधियों में निकट के संबंध की चर्चा की है। उसपर से ज्ञात होता है कि ग्रीक युग में कला को जीवनपोषक के रूप में मूल्यवान माना जाता था। इ. स. पूर्व 361 में सांसर्गिक रोग से बचाव के लिए त्रासदी के प्रयोग रोम में किए जाते थे, यह मरे ने बताया है,[1] इससे भी उपरोक्त मुद्दे की पुष्टि होती है। मध्ययुगीन नाट्य परंपरा का जन्म धार्मिक त्योहार, प्रार्थना एवं कर्मकांड के फलस्वरूप हुआ और आरंभ में धर्मप्रचार को देखा जाता था। यह सिद्ध हो चुका है।[2] मध्ययुग में धर्मप्रसार के लिए नाट्य ही नहीं अन्य कलाओं का भी प्रचुर उपयोग कर लिया गया। फिर जब ऐहिक (secular) मूल्यों का महत्त्व बढ़ गया तब नीति, राजनीति, राष्ट्रभक्ति इत्यादि बातों के लिए कलाओं का उपयोग किया गया। होरेस ने शिक्षा और मनोरंजन दोनों को

कला का ध्येय माना था और उसके बाद आज तक सौंदर्यशास्त्रज्ञों, समीक्षकों और कलाकारों ने इस बात का समर्थन किया है। शिक्षा में दो बातों का अंतर्भाव होता है: (1) दुनिया, लोकव्यवहार और मानवीय मन का ज्ञान। दर्शन और विज्ञान को जो ज्ञान अभिप्रेत होता है या हम जन्मजात बुद्धि से जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार का ज्ञान कला देती है। यह दावा प्राचीन काल से किया गया है। (2) आचरण का ज्ञान अर्थात् नीतिशिक्षा। कला को केवल साधन माननेवाले विचारक प्राय: यह मानते हैं कि कला इन दोनों प्रकार के ज्ञान का साधन है। इसमें से जो दो सिद्धांत निकले हैं उनका हमें आगे विचार करना है। इस प्रकरण में हम नीति-सिद्धांत का विचार करेंगे। आस्वाद के बाद कला और नीति के संबंध की चर्चा करना विशेष औचित्यपूर्ण है।

पिछले प्रकरण में कला के आनंद एवं उसकी भावनात्मकता का विचार हमने किया। हमने देखा कि कलास्वाद को अनेक अर्थों में आनंददायी माना जाता है। इनमें ये दो अर्थ निहित हैं: (अ) कला के इंद्रिय संवेद्य घटकों के कारण संवेदना सुख मिलता है। (आ) प्रेरणा-तुष्टि का आनंद भी कला से प्राप्त होता है। कला द्वारा मिलनेवाले ये आनंद के दोनों प्रकार नीति के रक्षकों को बड़े महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि उनकी राय में दोनों का संबंध हमारी इच्छा-शक्ति एवं व्यक्तित्व से जुड़ जाता है। प्रेरणा संतुष्टि का इच्छा-शक्ति के साथ क्या संबंध है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। संवेदनासुख अनेक बार इच्छाओं की संतुष्टि के साथ जुड़ा हुआ होता है। इसलिए उसके बारे में भी नीतिविद् साशंक होते हैं। हमने यह देखा है कि दोनों में नित्य और आवश्यक संबंध होता है, ऐसा नहीं। संवेदनासुख के कुछ प्रकारों को प्लेटो ने विशुद्ध सौंदर्यसुख कहा है। फिर भी नीतिशास्त्रज्ञों को शायद यह भय लगा रहता है कि इस सुख में व्यक्ति डूब जाए तो वह अपने कर्तव्यों को भूल जाएगा।

आठवें प्रकरण में हमने कला की भावनात्मकता का विचार किया। हमने वहाँ देखा कि भावनाओं और प्रेरणाओं का संबंध निकट का है। अगर हम यह मानते हैं कि वाङ्.मय का आस्वाद भावना-जागृति का ही अनुभव है तो यह बात भी ठीक लगनी चाहिए कि वाङ्.मय का हमारे व्यावहारिक जीवन पर परिणाम होता है। नाटक के पात्रों को यथार्थ संसार के व्यक्तियों के रूप में सत्ताशास्त्रीय स्थान नहीं होता और इसलिए शायद वे पात्र हमारी भावनाओं एवं प्रेरणाओं के विषय नहीं बन सकते। लेकिन साधारणीकरण के कारण हमें यह प्रतीत होता है कि इन पात्रों जैसे मनुष्य यथार्थ जीवन में हो सकते हैं। इसलिए वाङ्:मय पढ़ते समय उन पात्रों के संबध में किसी प्रकार की कृति करना हमसे अपेक्षित भले ही न हो, प्रत्यक्ष यथार्थ में उस प्रकार के व्यक्तियों के संबंध में कृति करने की संभावना निश्चित होती है। यह सही है कि "अंकल टाम्स केबिन" उपन्यास के गुलामों को हम मुक्त नहीं कर सकते, लेकिन इस

प्रकार के उपन्यास को पढ़कर संसार में जीनेवाले गुलामों को मुक्त करने की इच्छा हमें होना संभवनीय है। वाङ्‌मय के दूरगामी परिणामों को ध्यान में लें तो वाङ्‌मय का नीति से संबंध किस प्रकार स्थापित होता है, यह ज्ञान हो जाता है। इसीलिए कला की भावनात्मकता का विचार करते समय ही नीति-विचार का सौंदर्य-शास्त्र में प्रवेश हो जाता है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने रसचर्चा के अंत में रस की पुरुषार्थनिष्ठा का सिद्धांत प्रस्तुत किया है।[3] इसीलिए कला की भावनात्मकता की चर्चा के उपरांत कला और नीति की समस्या की ओर मुड़ना स्वाभाविक है।

9.2

कला और नीति के संबधों का विचार करते समय एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। बहुत बार नीति या नैतिक शब्दों को संकीर्ण अर्थ प्रदान किया जाता है। उदाहरणार्थ, स्त्रीपुरुष-संबंध, घूसखोरी, व्यसन, वित्त का अपहरण इत्यादि से संबंधित प्रश्नों को नैतिक कहा जाता है। लेकिन इतनी ही महत्त्वपूर्ण अन्य बातों को नैतिकता के अंतर्गत स्थान नहीं दिया जाता है। उदाहरण के लिए अगर किसी शिक्षक ने ध्यान लगाकर नहीं पढ़ाया तो उसे अनैतिक नहीं कहा जाता और उसने किसी छात्रा के साथ अत्यधिक आत्मीयता बरती तो उस कृत्य को अनैतिक करार कर दिया जाता है। अगर कोई व्यक्ति सभी प्रकार के मोहों को मात देकर ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयासशील है तो उसका "नैतिक" मूल्यांकन नहीं किया जाता। लेकिन मोहों को जीतकर अगर कोई एकपत्नीव्रती रहता है तो उसकी नैतिकता की सराहना की जाती है। किंचित् विचार करने पर ही पता चलेगा कि नैतिकता का इतना संकुचित अर्थ करना उचित नहीं है। नीतिनियमों का सजगतापूर्वक परिपालन करना हो तो मनुष्य को अपने से पूछना चाहिए कि "क्या मुझे अमुक काम करना चाहिए? वह करना मेरा कर्तव्य है? किस आधार पर?" इस प्रकार के प्रश्न पूछे बिना किया कर्तव्य-पालन सही अर्थ में कर्तव्य-पालन नहीं कहा जा सकता। वह तो आदत से या भय से किया हुआ आचरण माना जाएगा। हम जो भी कुछ करते हैं वह हमारा कर्तव्य है यह हमारी विवेक-बुद्धि को जब प्रतीत होगा तभी वह करना अथवा न करना नैतिक अर्थ से संयुक्त हो सकता है। हम जिनको नीति नियम मानते हैं उनके संबंध में विचार करते समय प्रतीत होता है, कि अच्छा, श्रेयस्कर, आदर्श मानवी जीवन किस तरह होना चाहिए। इसका चित्र इन नियमों के पीछे उपस्थित होता है। इस आदर्श जीवन को पाने के लिए नैतिक नियमों का पालन किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ये नैतिक नियम साधनरूप हैं। कुछ नियम साध्यरूप भी होते हैं। ख्रिस्त ने कहा है कि पड़ोसियों को प्यार करो -- यह आदर्श जीवन का ही एक भाग है। वह केवल आदर्श जीवन को प्राप्त करने का साधन मात्र नहीं है। नैतिकता के संबंध में विचार का अर्थ केवल इतना नहीं है कि "परस्त्री या परवित्त के संबंध में अभिलाषा न रखें", श्रेष्ठ एवं अच्छे आदर्श

जीवन का विचार भी उसमें सम्मिलित है। असल में कला और नीति के संबंध कला और पुरुषार्थ या जीवनमूल्यों के बीच के संबंध होते हैं।

"कला जीवन के लिए है" माननेवालों में अधिकतर लोग कला को साधन ही समझते हैं। सभी जीवनवादी ऐसा मानते हैं, यह बात ठीक नहीं। कला को स्वायत्त माननेवाले व्यक्ति भी जीवनवादी हो सकते हैं। कला को स्वायत्तता देने पर भी कला के कारण कुल जीवन समृद्ध होता है। अत: स्वायत्त कला भी अंततोगत्वा आदर्श जीवन का भाग हो जाता है। मूर ने अंतिम श्रेय (the ideal) की अवधारणा विशद करते समय सौंदर्यास्वाद को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।[4] सौंदर्यास्वाद अंतिम श्रेय का एक भाग है, उसे अन्य मूल्यों का साधन समझने की आवश्यकता नहीं। स्वायत्त रहकर भी अंतिम श्रेय का भाग वह हो सकता है। कुछ लोग तो यह मानते हैं कि कला के स्वायत्त रहने से ही वह अंतिम श्रेय का एक भाग बन सकती है। इस तरह कला मूल्य की स्वायत्तता को अबाधित रखकर भी यह माना जा सकता है कि कला जीवन के लिए है। लेकिन इस प्रकार के संमत नीतिवादी सिध्दांतों को चर्चा में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता। हमें मुख्यत: यहाँ उन सिध्दांतों की चर्चा करनी है जिनमें कला को केवल साधन मात्र माना गया है अथवा कलामूल्यों को अन्य मूल्य का– नैतिक मूल्य का –एक प्रकार माना गया है, क्योंकि सौंदर्य मीमांसकों एवं समीक्षकों ने इन्हीं सिध्दांतों को महत्त्व दिया है।

जीवनवादी सौंदर्य-मीमांसक अपने सिद्धांत को अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं तथा कला और जीवन के परस्पर संबंधों की उनकी कल्पना भी अलग है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सिध्दांतों का विचार हमें करना है। उसके पूर्व जीवनवादी दृष्टिकोण का एक वैशिष्ट्य बताना होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार कलाकृति के आशय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अगर रचना और आशय में तारतम्य करने का अवसर आता है तो जीवनवादी सौंदर्यशास्त्रज्ञ रचना की अपेक्षा कला को अधिक महत्त्व का स्थान देंगे। इनमें से बहुत लोग यह भी मानते हैं कि कलाकृति का रचना तत्त्व आशय पर निर्भर होता है।

9.3

हम तोलस्तोय के सिध्दांत से विषय की चर्चा प्रारंभ करें। अपनी पुस्तक "वाट इज आर्ट" में तोलस्तोय ने इस सिद्धांत को कुछ अतिरेकपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। इसे अतिरेकपूर्ण इसलिए कहा जाता है कि उसमें कला को जीवन के संवर्धन का एक साधन मात्र मानकर विचार किया गया है। कला के श्रेयस् के संबंध में भी तोलस्तोय की कुछ खास मान्यताएँ हैं। तोलस्तोय की राय में कला मानवीय अनुभव के आदान-प्रदान का एक मार्ग है। शब्दों के माध्यम से विचार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित होते हैं, उसी प्रकार कला द्वारा भावना संप्रेषित होती है।[5] एक आदमी

के द्वारा व्यक्त भावनाओं का संसर्ग दूसरों को होता है और उन्हें भी वही भावनाएँ अनुभव करने को मिलती हैं। भावना की प्रत्येक अभिव्यक्ति को कला नहीं कहा जा सकता। हम जो अनजाने भावना व्यक्त करते हैं उनसे कला का निर्माण नहीं होता। अपने भावानुभव को औरों के लिए जब हम सचेत रूप में अभिव्यक्त करते हैं तब कला उत्पन्न होती है।[6] भावना की उर्मि से जो सहज उद्‌गार बाहर आते हैं वह कला नहीं। जीवन के प्रवाह में जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उन्हें सजग रूप में हम व्यक्त करते ही हैं, ऐसा नहीं। बहुत बार भावनाओं का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं "मुझे उस समय बहुत डर लगा।" इस प्रकार के वर्णन से कला का निर्माण नहीं होता। एक बार अनुभव की हुई भावना को मन में पुन: जागृत कर सचेत रूप में वह इस प्रकार से व्यक्त करना कि औरों को भी उसका अनुभव मिले, कलानिर्मिति है।[7]

यहाँ दो बातें बतानी हैं: (1) तोलस्तोय और वर्डस्वर्थ के कलाविषयक सिध्दांत में बहुत साम्य है। दोनों मानते हैं कि कला में जो भावना व्यंजित होती है वह मूल न होकर पुनरुज्जीवित होती है। इन दो अवस्थाओं के बीच जो काल बीत जाता है उसमें चिंतन की प्रक्रिया से उसे व्यवस्थित आकार प्राप्त होता है। दोनों के मन में संभवत: यही धारणा थी। (2) तोलस्तोय की राय में कलाकार न कैवल दूसरों में भाव उत्पन्न करता है, वह स्वयं भी उस भाव को अनुभव करता है। प्रचार साहित्य का निर्माण करनेवाला स्वयं भोक्ता न होकर किसी विज्ञापन करनेवाले व्यक्ति की भाँति व्यवहार कर सकता है। यह जरूरी नहीं होता कि कोलगेट टूथ पेस्ट का विज्ञापन करनेवाला व्यक्ति स्वयं कोलगेट का इस्तेमाल करता हो। उसी प्रकार शराब बंदी के समर्थन में लिखनेवाला व्यक्ति स्वयं शराब पीनेवाला भी हो सकता है। लेखक अन्यों में भावना निर्मित करता है। उसमें अपने में भावना उत्पन्न हो अथवा नहीं, यह सवाल ही नहीं पैदा होता। लेकिन तोलस्तोय को इस प्रकार का कलाकार अभिप्रेत नहीं है। उसकी राय में कलानिर्मिति के क्षणों में कलाकार में भी भावना जागृति होती है। कलाकार और आस्वादक दोनों एक ही भावना से उद्वेलित होते हैं।

कला भावना-संप्रेषण का एक प्रभावपूर्ण माध्यम है, अत: विविध व्यक्तियों को एकत्र लाने का सराहनीय कार्य उसके द्वारा संपन्न होता है। कला इसी कारण मानव जाति के मंगल में योगदान करती है।[8] सच्ची जीवंत कला में भावना संक्रमण की जो शक्ति रहती है, उसके के कारण सच्ची कला और नकली कला में भेद किया जा सकता है।[9] और यहाँ गुण कला की गुणवत्ता का एकमात्र निकष सिद्ध होता है।[10] कला के आशय की चर्चा करते समय तोलस्तोय कहता है कि कला मानव को पूर्णत्व की ओर ले जानेवाला एक साधन है।[11] गलत विचारों के स्थान पर यथार्थपरक विचारों के स्थानापन्न होने पर यह माना जाता है कि मनुष्य वैचारिक दृष्टि से पूर्णत्व की

दिशा में बढ़ रहा है। भावना की दृष्टि से मनुष्य की प्रगति तब होती है जब उसकी दुष्ट भावना विलुप्त होकर उसमें सद्भावना उत्पन्न हो जाए।[12] हमने यह देखा है कि कला की गुणवत्ता इस बात पर निर्भर है कि कला कितने प्रभावपूर्ण ढंग से भावना संक्रमण करती है। कला के आशय की गुणवत्ता इस पर निर्भर है कि वह आशय मानवीय प्रगति में कितना योगदान करता है।[13]आगे तोलस्तोय यह भी कहता है कि भावनाओं की सुष्टता या दुष्टता निश्चित करने का एक ही एक मार्ग है धार्मिक दृष्टिकोण से उनका मूल्यांकन करना। जीवन के अर्थ को लेकर हर समाज की अपनी एक अवधारणा होती है। इस अवधारणा को ही उस समाज का सर्वोच्च पुरुषार्थ कहा जाता है। जीवन की सभी बातों का मूल्यांकन अंततोगत्वा इस सर्वोच्च मूल्य की दृष्टि से किया जाता है। इसी दृष्टि को तोलस्तोय धार्मिक दृष्टिकोण कहता है।[14] हमारे युग के धार्मिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ध्यान में आएगा कि बंधुत्व की भावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी वृद्धि में ही हम सब का सब प्रकार से कल्याण निहित है। जीवन की विविध बातों का मूल्यांकन इस सर्वतोपरि श्रेष्ठ मूल्य की दृष्टि से ही होना चाहिए। जो कला बंधुत्व उत्पन्न करेगी वह अच्छी और जो इसके विरोधी होगी, वह कला बुरी मानी जानी चाहिए। कला के मूल्यांकन के लिए भी यही मानदंड प्रयुक्त होना चाहिए।[12] बंधुभाव के साथ यह भावना भी महत्त्वपूर्ण है कि हम सब ईश्वर की संतानें हैं इसलिए ईश्वर विषयक प्रेम और समस्त मानवों के प्रति बंधुत्व की भावना हम में होनी चाहिए। इन दोनों को संजोना कला का कार्य है। विशेषत: खिस्ती समाज की कला को यह काम करना चाहिए।[16] इसके अतिरिक्त सहजीवन के लिए जो उचित छोटी-छोटी भावनाएँ हमारे मन में उत्पन्न होती हैं उन्हें भी तोलस्तोय ने महत्त्व दिया है। (उदाहरण के लिए अनुकंपा, समाधान तृप्ति, आनंद इ।) इन के कारण भी बंधुत्व की भावना बढ़ती है।[17] तोलस्तोय की राय में अच्छी कला विश्वबंधुत्व की भावना को पुष्ट करती है और इसी तरह की कला उत्पन्न करनी होगी। जिस कला के कारण यह भावना कमजोर पड़ेगी उस कला का निषेध करना चाहिए। उसको पूर्णत: उखाड़ना चाहिए। देशभक्ति जैसी संकीर्ण भावना व्यक्त करनेवाले उपन्यासों एवं कविताओं तथा केवल रईस निठल्लों की निराशामय भावनाओं और कामुक प्रेम के इर्दगिर्द इकट्ठा होनेवाली विकृत भावनाओं से ओतप्रेत वाङ्मय कृतियों को तोलस्तोय कुत्सित कलाकृतियाँ समझता है। उसका कहना है कि समाज के बहुसंख्यक लोग इन भावनाओं का आकलन कर ही नहीं सकते।[18] जिन भावनाओं का आकलन ही नहीं होता उनकी सहसंवेदना लोगों के मन में जागृत कैसे होगी? और सहानुकंप या सहानुभाव उत्पन्न करना अगर कला का कार्य है तो उपर्युक्त भावनाओं की अभिव्यंजना करनेवाली कृतियाँ क्या कला के रूप में कम दर्जे की सिध्द नहीं होतीं?

तोलस्तोय की राय में हर कलाकृति के संबंध में निम्नलिखित प्रश्न पूछे जाने चाहिए:

(1) वह असली है या नकली? उसके कारण भावनाओं का संक्रमण होता है अथवा नहीं? अगर भावना-संक्रमण नहीं होता तो वह कलाकृति नकली सिध्द होगी। (2) अगर किसी कलाकृति से भावना-संक्रमण होता है तो यह भी पूछना चाहिए कि उसकी व्याप्ति कितनी है। बुरी कला किसी छोटे गुट की भावनाओं का अभिव्यंजन करती है। अत: उसकी भावना-संक्रमण की व्याप्ति भी छोटी ही होगी। अच्छी कला की व्याप्ति बहुत बड़ी होती है। (3) उसके बाद यह पूछना चाहिए कि अच्छी कला किस प्रकार की भावनाओं का संक्रमण करती है -- सहजीवन के लिए पोषक अनुकंपा, आनंद इत्यादि भावनाओं का या ईश्वर विषयक प्रेम और सार्वजनीन बंधुत्व भावना का?[19] तोलस्तोय के वर्गीकरण के अनुसार सार्वत्रिक बंधुभाव की पोषक कला सर्वश्रेष्ठ सिध्द होगी।

लेकिन तोलस्तोय के निकषों का उपयोग करने से बहुत सी रचनाओं का अवमूल्यन होता है, जिन्हें हम महान रचनाएँ मानकर चलते हैं। उदाहरण के लिए तोलस्तोय की राय में बिथोन्वन की "नाइंथ सिंफनी" बुरी कलाकृति सिद्ध होगी।[20] दांते की "डिवाइन कामदी", शेक्सपीअर या गटे का बहुत-सा साहित्य, बोदलेर, इब्सेन, मेटरलिंक का लेखन भी तोलस्तोय की आलोचना से नहीं बचेगा। बुरी कला की ही भूरि-भूरि प्रशंसा होने से सामान्य मनुष्य के मन में किस तरह गड़बड़ी पैदा होती है, यह तोलस्तोय ने दिखाया है। उसका कहना है कि सामान्य मनुष्य जानता है की शारीरिक शक्ति या नैतिक महत्ता के सामने नतमस्तक होना चाहिए। लेकिन घटिया प्रेम कविता लिखने पर जब पुष्किन को गौरवान्वित किया जाता है तब वह विलक्षण संभ्रमित होता है।[21] उसकी राय में यह बेहद विचलित करनेवाली बात है कि सौंदर्य के नाम पर अनाचार और अनीति को कलाकारों और विचारकों की ओर से प्रोत्साहन मिलता है।[22] तोलस्तोय का अनुरोध है कि यह बंद होना चाहिए और उसके लिए असंख्य कलाकृतियों की बलि देने को वह तैयार है।

तोलस्तोय की नीतिपरक कलामीमांसा की परीक्षा हम बाद में करेंगे। उसकी और प्लेटो की भूमिका में कुछ मामलों में साम्य होने के कारण इन दोनों के दृष्टिकोणों का विचार एक ही स्थान पर करना उचित होगा। पहली बात यह है कि तोलस्तोय के मन में कला संबंधी बहुत अधिक आदर है और इसी आदत के कारण कला में विकृतियाँ पैदा करनेवाले कलाकारों और सौंदर्य सिध्दांतों के प्रति उसके मन में घृणा है। चूँकि उसके मन में कला के प्रति आदर है और उसे कला के सामर्थ्य का भान है, वह कला की अवधारणा को विशिष्ट पद्धति से निर्मित करने का प्रयास कर रहा है। दूसरी बात यह है कि रीतिवादी दृष्टिकोण का जिस प्रकार दृढ़तापूर्वक समर्थन उसने किया है उस तरह उसने अन्य बातों का भी समर्थन किया है और ये बातें ऐसे लोग भी पसंद करेंगे, जिन्हें तोलस्तोय का नीतिवाद अमान्य है। उदाहरण के लिए

तोलस्तोय का अभिमत है कि कलाव्यापार कुल मानवी जीवन का अविच्छिन्न घटक होना चाहिए। तोलस्तोय को यह बिलकुल पसंद नही है कि केवल कला-निर्मिति करनेवाले कलाकारों का एक अलग वर्ग हो, समाज उसका भरणपोषण करे।[23] राजश्रयों, गायकों, राजकवियों का अथवा जनतंत्र में लेखकों को मिलनेवाले पुरस्कारों का तोलस्तोय विरोध क्यों करता है? राजाश्रय के कारण कलाकार की कलासाधना निर्बाध नहीं चलेगी। कुछ कलाओं को राजाश्रय पोषक सिद्ध हुआ है। गायक को राजाश्रय के कारण लाभ ही होगा। लेकिन वाङ्‌मय कृतियों के निर्माण में राजाश्रय सहायक सिद्ध न होने की आशंका है। उदरपूर्ति के प्रबंध के बाद या आवश्यक सुखसुविधाओं की उपलब्धि के बाद लेखक को प्रत्यक्ष जीवन की धकापेल में उतरने की आवश्यकता नहीं होगी। उसका अनुभव-संसार संकीर्ण एवं नकली होगा। वह सशक्त कला-कृति का निर्माण नहीं कर पाएगा। जिस कला का आशय प्रत्यक्ष जीवन होता है उसको राजाश्रय नहीं मिले, यही ठीक होगा, क्योंकि इन कलाओं का साक्षात् जीवन से ऐसा कुछ वास्ता होता है कि जीवन के संघर्ष में हिस्सा लेनेवाला ही उनका निर्माण कर सकता है। तोलस्तोय की राय है कि यह अच्छा है कि अपना निर्वाह बिना श्रम के अच्छी तरह चलेगा या नही, इसके बारे में लेखक के मन में शंकाएँ हों क्योंकि इसके बारे में उसे पूरी सुरक्षा का विश्वास हो जाए तो उसकी कला पर अनिष्ट परिणाम होगा।[24] इसमें संदेह नहीं कि तोलस्तोय की यह राय आशय-प्रधान कलाओं के संबंध में विचारणीय है। लेकिन जिन कलाओं में आशय का पूर्णतः बहिष्कार होता है उनके संदर्भ में तोलस्तोय का विचार पूर्णतः अप्रासंगिक हो जाने की संभावना है। जो गायक स्वरों की केवल रचना करता है, उसका भावजीवन समृद्ध है अथवा नही, उसका नीति संबंधी दृष्टिकोण समीचान है अथवा नहीं इत्यादि प्रश्न हम नहीं पूछते। क्योंकि स्वरों की मनोहर रचना करने की क्षमता होना और भावजीवन का समृद्ध होना इन दोनों का परस्पर कोई संबंध नहीं। केवल गायन के संसार में जीनेवाला और अन्य दुनिया से कट कर रहनेवाला गायक अच्छी स्वररचना का निर्माण कर सकेगा, इसमें संदेह नहीं। रचना प्रधान कलाकृतियों के संबंध में तोलस्तोय नहीं बोल रहा है या उसका विचार ही उसने नहीं किया है, ऐसा लगता है। लेकिन यह ध्यान में रहे कि यह अकेले तोलस्तोय की सीमा नहीं है। सभी नीतिवादी सौंदर्य-मीमांसा की यह सीमा है। रचना-प्रधान कलाकृति को किसी न किसी आशय का प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से भावों की व्यंजना होती है, यह जब तक नहीं माना जाता तब तक उसके संदर्भ में नीति के प्रश्न ही नहीं उठते। लेकिन रचना-प्रधान कलाकृति पर इस तरह आशय को थोपना कहाँ तक समीचीन है, यह प्रश्न उपस्थित कर के नीतिवादी प्रयत्नों को अवरुद्ध करना रचनावादी के लिए सहज संभव बन जाता है।

कलाकृति के सुलभ आकलन पर तोलस्तोय बल देता है। जो कलाकृति सामान्यों

के आकलन से बाहर होगी। उसे तोलस्तोय अच्छी कलाकृति नहीं कहेगा। बहुत से आलोचक यह कहते पाए जाते हैं कि अच्छी कलाकृति के ठीक आकलन के लिए आस्वादक में विशेष योग्यता का होना आवश्यक है। उसपर तोलस्तोय का कहना है कि इस तरह की तथाकथित कृतियाँ सामान्यों को समझा देनी होंगी। उसके लिए आवश्यक कौशल एवं ज्ञान उन्हें उपलब्ध करा देना होगा। असल में ऐसा कुछ खास ज्ञान अस्तित्व में ही नहीं होता। ये कलाकृतियाँ सामान्यों की समझ में किस प्रकार आएँगी, इसका जबाब उपर उल्लेखित आलोचक इस प्रकार देते हैं:– "ये कलाकृतियाँ अगर बार-बार देखी जाए तभी लोग उन्हें समझेंगे।" लेकिन यह बार-बार देखने को बताना कलाकृति का मर्म समझना नहीं है। इसका अर्थ यही है कि बार-बार कलाकृतियों के अवलोकन पर हमें उन्हें देखने की आदत हो जाएगी और आदत से हर चीज अच्छी लगने लगती है। कुछ बुरे व्यसन आदत के कारण अच्छे लगने लगते हैं।[25] तोलस्तोय के कथन में आंशिक सत्य है लेकिन वह पूर्ण स्वीकार्य नहीं हो सकता। बहुत बार हम पर जैसे संस्कार किए जाते हैं, उनके अनुसार हमारी रुचियाँ-अरुचियाँ भी बन जाती हैं। विविध भारती का फिल्मी संगीत सुनने का संस्कार हो जाए, तो वह अच्छा लगने लगता है, नाट्यसंगीत का संस्कार हो तो वह भी अच्छा लगने लगता है। लेकिन विविध प्रकार का संगीत सुनने पर हम केवल संस्कार पर निर्भर न रहकर उसमें अच्छा और घटिया तय करने लगते हैं। यह तो हम नहीं मानते कि जिसका संस्कार अधिक होता है वह अच्छा है। उल्टे किसी संगीत प्रकार के हमपर कम संस्कार हो गए हों लेकिन अगर हमें लगे कि वह संगीत प्रकार अधिक मूल्ययुक्त है, तो उसके अधिक संस्कार मन पर करने का प्रयास हम करते हैं। यहाँ मूल्यों का भान पहले होता है और उस मूल्य का अधिक व्यवस्थित आकलन हो जाए इसलिए अधिक संस्कार करने की आकांक्षा बाद में पैदा होती है। मतलब यह कि मूल्य का भान केवल रुचि-अरुचि, आदत और संस्कार पर निर्भर नहीं है। जो अधिक सशक्त, व्यापक, व्यामिश्र होता है वह अधिक संतोषजनक, अधिक मूल्ययुक्त है, यही हमारी धारणा होती है। हम समझते हैं कि वह अधिक मूल्यवान है जो हमारे व्यक्तित्व के विविध पहलुओं का अधिकाधिक आवाहन करता है और संतोष देता है। ऐसी चीजें समझने में भी बड़ी मुश्किल होती हैं। लेकिन इस मुश्किल को हम एक चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए विशिष्ट प्रकार के संस्कार अपने मन पर अंकित करने के लिए हम सजग प्रयत्न करते हैं। फिल्मी गीत का तीन मिनट का रेकार्ड "समझने" के लिए विशेष तैयारी की अपेक्षा नहीं होती। लेकिन एक घंटे का "खयाल" समझने के लिए पूर्व तैयारी चाहिए। यह तैयारी कोई सहज आदत नहीं होती, केवल आदत और सजग संस्कार के बीच का भेद हमें नहीं भूलना चाहिए।

लेकिन आकलनीयता याने आशय और तंत्र का सुलभ होना, इतना ही अर्थ

तोलस्तोय को अभिप्रेत था, ऐसा नहीं लगता। यह महत्त्व की बात है कि निठल्ले और रईस लोगों की कला की आलोचना करते समय वह आकलन की बात उठा रहा है। जीवन के केंद्रीय स्त्रोत से कटे मुट्ठी-भर रईस लोग अपने मनोरंजन के लिए सामान्यों के आकलन के लिए कुंठित कला, जो प्राय: व्यक्तिकेंद्रित और गुट-केंद्रित होती है, उत्पन्न करते हैं। यह कला विकृत है क्योंकि वह समाजजीवन से अलग पड़ गई है, यह तोलस्तोय का मत था। कुछ समय के लिए हम गरीब और रईस का भेद भूलकर इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि तोलस्तोय के कहने में कुछ सत्यांश है। यह सही है कि समाज कोई तराशा हुआ अखंड पत्थर नहीं होता। यह भी सही है कि देश और काल के परे कोई वैश्विक (universal) मानव जैसी चीज अस्तित्व में नहीं होती। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हर व्यक्ति कोई स्वतंत्र द्वीप होता है तथा मनुष्यों और मनुष्यों के बीच समानता नहीं होती। उनमें भेद होते हैं तो साम्य भी होता है। विशेषत: किसी भी काल में मानवीय समस्याओं की जो समानता दिख पड़ती है उसे इस संदर्भ में ध्यान में रखना होगा। हर व्यक्ति के सामने अपनी वैयक्तिक समस्याएँ होती हैं। उसी तरह वह जिस समाज का घटक होगा उस समाज की कुछ समान समस्याएँ भी उसके सामने होती हैं। इन समस्याओं के संबंध में सबकी प्रतिक्रियाएँ समान नही होंगी। उनको हल करने के लिए उनके द्वारा सुझाए गए मार्ग भी भिन्न हो सकते हैं। लेकिन समस्याएँ समान होती हैं। ये समस्याएँ समाज-जीवन का केंद्रीय स्त्रोत होता है। उदाहरण के लिए हमारे देश में भयानक दारिद्र ऊपर से नीचे तक दिखनेवाला भ्रष्टाचार, सभी जगह प्रत्यक्ष व्यवहार में दिखनेवाली बुद्धिहीनता, आलस्य, स्वार्थ, सुखासीनता, फूट हमारी समान समस्याएँ हैं, रईस और गरीब, सुशिक्षित और अनपढ़, प्रगत और पिछड़े हुए सबके सामने समस्याएँ हैं। जब तक बंबई में गंदी बस्तियाँ हैं तब तक पेड़र रोड पर रहनेवाले रईसों के स्वाथ्य को भी खतरा है। कोई इंजीनियर घूस लेता है इसलिए अभी अभी बनाए रास्तों पर भी गड्ढे दिखने लगते हैं और उसके कारण गरीब की साइकिल जिस तरह टूट जाती है, उस तरह रईस की इंपाला भी बिगड़ती है। हम सबका व्यक्ति-जीवन समान समस्याओं से जुड़ा हुआ है, उनसे प्रभावित है। अत: व्यक्ति-जीवन का चित्रण करते समय समान-जीवन का चित्रण उसमे अपरिहार्यत: आ ही जाता है। दो व्यक्तियों एवं दो गुटों को जोड़नेवाले एक सेतु के रूप में समाज-जीवन का बहुत महत्त्व है। कलाकार के समाज-जीवन से एकरूप होने का अर्थ यह नहीं कि वह सामाजिक जीवन पर उपन्यास लिखे। कलाकार को व्यक्ति के जीवन पर भी लिखना चाहिए लेकिन उसे सामाजिक जीवन को भूलना भी नहीं चाहिए। अन्यथा व्यक्ति जीवन का चित्रण नकली और नि:शक्त होगा। क्योंकि ऐसे व्यक्ति-जीवन की जड़ें समाज में नहीं होतीं। और जिसकी समाज-जीवन में जड़ें नहीं हैं, वह व्यक्ति-जीवन झूठ और नि:शक्त ही होगा। ऐसे नि:शक्त जीवन जीनेवाले लोग

हर समाज में होते हैं।[26] उनकी कला भी अशक्त होती है। सामान्य लोग उसका आकलन नहीं कर सकते, क्योंकि समाज के केंद्रीय स्त्रोत से उसका संबंध नहीं होता। इस प्रकार की कला के बारे में तोलस्तोय बात कर रहा है इसलिए उसकी राय का महत्त्व है।

9.4

इसके बाद हम प्लेटो के नीतिवादी सिद्धांत का विचार करेंगे। प्लेटो और तोलस्तोय के सिद्धांतों में साम्य है और भेद भी हैं। वे भेद इस प्रकार हैं: तोलस्तोय की राय मे कला का कला के रूप में विचार करने पर भी नैतिक गुणों का परिपोष ही उसके मूल्यांकन का अंतिम निकष है। भावना संक्रमण को भी वह कला का निकष मानता है। लेकिन आगे चलकर अच्छी और बुरी कला का भेद करके ही सत्कला होती है। असत्-कला बंधुत्व भाव के विपरीत भावना प्रस्तुत करती है। लेकिन उसी के कारण उसकी भावना-संक्रमण-क्षमता पर बंधन पड़ जाते हैं। किसी विशिष्ट गुट के परे इसको समझा ही नहीं जाता। मतलब यह हुआ कि यद्यपि भावना-संक्रमण-क्षमता को कला का निकष मान लिया जाए तो भी भावनाओं की जाति पर यह संक्रमण-क्षमता निर्भर होती है। इसलिए सच्चे अर्थ में सद्भावनाओं का संक्रमण अच्छी कला का ही नहीं, अपितु समस्त कला का निकष सिद्ध होता है।

प्लेटो भी कला के नैतिक निकष को स्वीकार करता है। परंतु नैतिकता को वह एकमेव निकष नहीं मानता। प्लेटो कला को विशेषत: काव्य को बहुत ही पसंद करता था। समीक्षकों की राय है कि उसके अपने लेखन मे वाङ्‌मयीन गुण उपलब्ध होते हैं।[27] काव्य से आनंद प्राप्त होता है और कवियों को अगर अपने आदर्श राज्य में स्थान वह दे सकता तो अच्छा होता, यह वह मानता है।[28] वह कहता है कि काव्य से मनुष्य के व्यक्तित्त्व पर कुछ दुष्परिणाम होते हैं और उसे नाइलाज होकर बहिष्कृत करना पड़ता है। अगर प्लेटो के मन में सद्गुणों का परिपोष यही एकमात्र निकष होता तो कवियों की बहिष्कृति के लिए उसे खेद न होता। काव्य सद्गुणों का परिपोष नही करता और यह सिद्ध होने पर भी प्लेटो को दु:ख हो रहा है। इसका अर्थ यह कि काव्य संबंधी निकषों का विचार करते समय प्लेटो सद्गुण-परिपोष के सिवा और भी कोई निकष इस्तेमाल कर रहा है।

वह निकष सौंदर्य हो सकता है। प्लेटो के सौंदर्य विषयक विवेचन और कलासंबंधी विवेचन में अंतर है। "फ्रीड्स" संवाद में प्लेटो ने सौंदर्य का गौरव किया है। दुनिया की सभी वस्तुओं के मूल में उनके सत्त्व होते हैं। सुंदर वस्तु के मूल में सौंदर्य का सत्त्व होता है। लेकिन सौंदर्य का सत्त्व अन्य सत्त्वों से एक महत्त्वपूर्ण बात को लेकर अलग है। अन्य सत्त्व इंद्रियगोचर नहीं होते। वे केवल मन:चक्षुओं द्वारा ही देखे जाते हैं। लेकिन सौंदर्य के सत्त्व का ज्ञान चर्मचक्षु को भी होता है। इसलिए सौंदर्य को वह चर्मचक्षुओं को दीखनेवाले संसार और केवल मनश्चक्षुओं को

दीखनेवाले सत्त्व के संसार को जोड़नेवाली कड़ी मानता है।[29] इसी कारण सौंदर्य मानव की आत्मिक उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन सकता है। चूँकि कला में सौंदर्य है अत: उसके कारण भी आत्मिक उन्नति होगी, यह अपेक्षा मन में सहज ही उत्पन्न होती है। लेकिन प्रत्यक्ष में अनुभव बिलकुल विपरीत देखने में आता है। प्लेटो को दिखाई दिया कि वाङ्‌मयादि कलाओं से आत्मोन्नति के स्थान पर सद्‌गुणों का क्षय ही होता है। इसलिए उसने कलाओं की सीमा पार करने की बात तय की। लेकिन उनके सौंदर्य के कारण उसे दु:ख भी हुआ। इससे एक बात स्पष्ट होती है। वह यह कि कलाओं के संबंध में बोलते हुए प्लेटो तोलस्तोय की भाँति केवल इकहरा निकष नहीं प्रस्तुत करता था।

साथ साथ यह भी ध्यान में रखना होगा कि सौंदर्य और नीति के बीच संघर्ष उत्पन्न होने पर प्लेटो नीति का पक्ष लेता है, सौंदर्य का नही। "रिपब्लिक" में उसने यही किया है। यहाँ कैथरिन रा द्वारा अपनी "आर्ट एण्ड सोसायटी: अ इंटरप्रिटेशन ऑफ प्लेटो" नामक पुस्तक के पहले प्रकरण में प्रस्तुत एक मुद्दे का विचार करेंगे। उसकी राय में "रिपब्लिक"में प्लेटो ने सभी कलाकृतियों का निषेध नही किया है। उसने केवल हल्की एवं बाजारू कलाकृतियों को धिक्कारा है। यह सही है कि प्लेटो ने समस्त कलाकृतियों की सरेआम निंदा नही की, क्योकि देवो एवं उत्तम पुरुषों की प्रशंसा करनेवाले काव्य की उसने सराहना की है। इस मंतव्य की सत्यता के बारे में शंका पैदा होती है। टेलर का तो यह कहना है कि यह समझना कि प्लेटो केवल घटिया कलाकृतियों की ही निंदा करता है, अपनी ही आँख मे धूल झोंकना है। अथेन्सकी विश्व को दी हुई दो महान कलाकृतियों की प्लेटो ने निर्भर्त्सना की है।[30]

प्लेटो ने कला के विरुद्ध जो नैतिक आक्षेप उठाए उनका स्वरूप समझने के लिए दो बातों की जानकारी आवश्यक है। उनमें पहली बात "रिपब्लिक" में प्लेटो की भूमिका है। यहाँ प्लेटो का उद्देश्य आदर्श जीवन का वैयक्तिक एवं सामाजिक गठन किस प्रकार होता है, यह स्पष्ट करना है। जो चीजें इस आदर्श जीवन की पोषक सिद्ध होंगी उन्हीं को वह अपने आदर्श राज्य में स्थान देगा। यहाँ उसका उद्देश्य कला का केवल कला के रूप में विचार करना नहीं है। फिर भी कला के स्वरूप के संबंध में उसके द्वारा यहाँ तथा अन्यत्र जो मुद्दे उपस्थित किए गए हैं वे महत्त्वपूर्ण है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात प्लेटो का वह विवेचन है जिसमें उसने उसका चिंतन किया है कि आदर्श जीवन किन सद्‌गुणों के कारण प्रस्थापित होता है, "रिपब्लिक" के चौथे खंड में वह आदर्श राज्य के नागरिको मे चार सद्‌गुणों का होना आवश्यक बताता है। विवेक अथवा ज्ञान (wisdom) शौर्य, (courage) संयम (temperance) और न्याय (justice) ये चार गुण हैं। ज्ञान, शौर्य, संयम में संगति उत्पन्न होने पर न्याय का निर्माण होता है।[31] जिस अनुपात में कला इन सद्‌गुणों का परिपोष करती

है उसी अनुपात में वह अच्छी मानी जाएगी, जो कला उन्हें कमजोर करती है वह बुरी है और उसे आदर्श राज्य में से सीमा पार करना चाहिए, यह प्लेटो का विचार है। प्लेटो के कला विषयक प्रश्न इस प्रकार हैं: (1) कला के कारण ज्ञान की वृद्धि होती है? उसके कारण क्या मनुष्य विवेकशील होते हैं? (2) उसके कारण शौर्य का परिपोष होता है? (3) कला के कारण मनुष्य संयम करना जानता है? इन तीन प्रश्नों के लिए सकारात्मक उत्तर मिल जाए तो कहा जा सकता है कि कला के कारण मनुष्य में न्याय का पोषण होता है और इसी स्थिति में यह सिद्ध होगा कि आदर्श राज्य के आदर्श नागरिक बनाने के काम में कला महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। लेकिन उपर्युक्त प्रश्नों के अगर नकारात्मक उत्तर मिल जाएँ तो कला का उच्चाटन करना ही योग्य होगा। उपरोल्लेखित दूसरे और तीसरे प्रश्न की चर्चा इस प्रकरण में प्रस्तुत है।

"रिपब्लिक" के दूसरे खंड में प्लेटो कहता है कि छोटे बच्चों को झगड़ने से हमें परावृत्त करना चाहिए। अपना उद्देश्य अगर यह होगा तो इसकी सावधानी हमें बरतनी होगी कि उनके हाथ में कवियों द्वारा विरचित देवताओं की कथाएँ नहीं आएँगी। स्वर्ग में देवता एक दूसरे के साथ लड़ते हैं, आदरणीय महान लोग भी रिश्तेदारों से झगड़ा करते हैं इत्यादि बातें कवियों द्वारा बताई जाती हैं। इस प्रकार की बातें सुनने पर बच्चों को भी लगता है कि कोई भी बुरा काम करने में कुछ गलत नहीं है।[32]

कवियों द्वारा देवताओं के जो चित्र बनाए गए हैं वे और एक कारण से अनर्थकर हैं, दुनिया में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की बातें दिखती हैं। कवियों को चाहिए कि देवों द्वारा निर्मित अच्छी वस्तुओं का ही दिग्दर्शन करें, क्योंकि अगर देवता अच्छे हैं तो वे बुरी बातें क्यों पैदा करेंगे? यह वस्तुत: किसी को भी मान्य करना होगा। लेकिन कवियों ने देवताओं को अच्छी वस्तुओं के साथ साथ बुरी वस्तुओं का भी निर्माता बनाया है। उसके कारण इस श्रद्धा पर आँच आती है कि देवता स्वभावत: अच्छे ही होते हैं। कवि यह भी कहते हैं कि प्रसंगोपात् देवता झूठ बोलते हैं। विविध रूप धारण करते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, यह भी अनर्थकर है।

"रिपब्लिक" के तीसरे खंड में प्लेटो कहता है कि कवि शौर्य का परिपोष नहीं करते प्रत्युत पाठकों के मन में भय ही उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए मृत्यु-लोक के उनके वर्णन इतने भयप्रद होते हैं कि मूल्यों की सुरक्षा के लिए भी लोग रणांगण पर मरने को तैयार नहीं होंगे। अपमान और गुलामी स्वीकार करेंगे, लेकिन सैनिकों के लिए उचित वीर-गति उन्हें पसंद नहीं होगी। वे वर्णन जितने अधिक काव्यमय होंगे उतने वे अधिक अपायकारक सिद्ध होंगे।[33]

अगर मृत्यु भयप्रद नहीं होगी तो मरे हुए लोगों के प्रति शोक का कोई कारण नहीं है। हम कहते हैं कि विवेकवान मनुष्य को चाहिए कि अपनी भावनाओं को संयत

करे, शोक के अधीन न हो। लेकिन कवि देवताओं के विलापों का रसपूर्ण वर्णन करते हैं। प्रत्यक्ष देवताओं को शोकग्रस्त देखने पर कोई मनुष्य संयम करने का प्रयास नहीं करेगा। सामान्य प्रसंग में भी शोकग्रस्त होने की आदत उसे पड़ जाएगी।[34] काव्य में वर्णित देवताओं के मज़ाक का भी यही परिणाम होगा। देवताओं के शारीरिक सुख की हविस का तथा शराब से मदहोश होने एवं काम मोहित होने का एवं विशिष्ट काम के लिए तोहफे लेने का वर्णन भी कवियों ने किया है।[35] अगर देवता ही इस प्रकार के दुष्कृत्य करते हैं, तो यह कोई सोचेगा तक नहीं कि इस प्रकार के कामों में कुछ गलत है।

कवि सदैव देवताओं की कथाएँ ही बताते हैं, सो नहीं है, सामान्य मनुष्य की कथाएँ भी वे बताते हैं। लेकिन इसमें भी वे अनर्थकारी बातें करते हैं। उदाहरण के लिए वे यह दिखाते हैं कि दुष्ट मनुष्यों की बहुत तरक्की होती है और सुष्ट लोगों को कष्ट सहने पड़ते हैं। अन्याय का कृत्य खुल नहीं जाये तो उससे बहुत फायदा होने की बात कही जाती है।[36] प्लेटो का कहना है कि सप्रवृत्त आदमियों की तरक्की एवं दुष्प्रवृत्त का विनाश दिखाया नहीं जाए तो लोगों में सद्भावना पैदा कैसे होगी?

प्लेटो ने काव्य के आशय की तरह अभिव्यंजना-प्रणाली को लेकर भी आक्षेप किए हैं। कवि कभी अपनी बात सीधे कह देता है तो कभी अपने पात्रों के द्वारा। दूसरी पद्धति नाट्य में विशेष प्रयुक्त होती है। इस पद्धति में एक तरह का अनुकरण निहित है, क्योंकि कवि जब अपने पात्रों से कुछ कहलवाता है। तो उन पात्रों का अनुकरण निहित है। इस अनुकरण को लेकर प्लेटो ने कुछ आक्षेप किए हैं। वह कहता है कि आदर्श राज्य के नागरिकों का हित इसमें है कि वे अपने काम स्वयं ही व्यवस्थित ढंग से करें। दूसरों का काम करना जिस तरह ग़लत है उस तरह अनुकरण करना भी गलत है। अनुकरण केवल अपने विशिष्ट पेशे के लिए योग्य बातों का ही किया जाना चाहिए। शूर एवं संयमी लोगों का अनुकरण अच्छा और दुष्प्रवृत्त लोगों का अनुकरण करना बुरा है। दुष्ट लोगों का अनुकरण करते-करते स्वयं दुष्ट बन जाने का खतरा रहता है।[37] आज प्लेटो की यह बात किसी को नहीं जँचेगी कि खल पुरुष का अनुकरण करनेवाला अभिनेता (या कवि) के स्वयं खलपुरुष बन जाने का डर है। लेकिन थोड़ा विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि उसके कहने में कुछ तथ्यांश है। हम अभिनेता के स्थान पर पाठकों की दृष्टि से इस प्रश्न का विचार करेंगे। अगर वाङ्मय-कृति में पाठक का आत्मानुप्रवेश होता होगा तो विशिष्ट पात्रों के अथवा लेखकों के भावों का वह अनुभव करेगा। ये भाव पात्रों एवं लेखक के अनुकरण से प्राप्त होते हैं। अगर हम बार-बार दूसरों की भावनाओं एवं दृष्टिकोणों को अपना लेंगे तो उसका अपने व्यक्तितत्त्व पर परिणाम होना यह बिलकुल स्वाभाविक है। प्लेटो का शायद यही मंतव्य था।

इसके बाद प्लेटो संगीत का विचार करता है। गीतों की तर्जें अर्थानुसार होती हैं, यह मानकर उसने अपना मत प्रस्तुत किया है। दु:ख की अभिव्यक्ति करनेवाला लिड़ियन संगीत और शराब की मदहोशी, आलस्य, एवं मृदुता की व्यंजना करनेवाले आयोनियन एवं लिड़ियन संगीत का आदर्श राज्य में कोई स्थान नहीं होगा। उल्टे, डोरियन एवं फ्रिजियन संगीत, चूँकि वीर्यवान एवं संयत होता है, सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा।[38] प्लेटो का विवेचन केवल काव्य और संगीत तक सीमित नहीं है। प्लेटो का आग्रह है कि चित्रकला, बुनाई, कढ़ाई, वास्तुकला, हस्तव्यवसाय पर वह लागू होगा ही, मनुष्य के चारों ओर होनेवाली प्राकृतिक बातों पर भी वह लागू होता है। काव्य पर जिस प्रकार राज्यकर्ताओं का नियंत्रण होना आवश्यक है, उस तरह अन्य बातों पर भी वह आवश्यक मानता है।[39] हम जिस वातावरण में रहते हैं उसका प्रभाव अनजाने हमारे व्यक्तित्त्व पर पड़ता ही है। इसलिए इन सभी बातों का हमें अच्छी तरह विचार करना चाहिए।

काव्य के कारण हमारे व्यक्तित्त्व पर बुरा प्रभाव किस प्रकार पड़ता है, इसका विचार भी प्लेटो ने दसवे खंड में संक्षेप में किया है। दो नए मुद्दे यहाँ पर उपस्थित किए गए हैं। कवि संयमी व्यक्तियों के बदले भावुक व्यक्तियों का ही चित्रण क्यों करते हैं? इसका कारण यह है कि संयमी लोगों का चित्रांकन कठिन होता है और वह दर्शकों को पसंद भी नहीं आता। चूँकि असंयमी व्यक्ति का जीवन अधिक वैविध्यपूर्ण होता है। उसका चित्रण लोग पसंद भी करते हैं।[40]

दूसरा मुद्दा वाड्.मय के परिणाम को लेकर है। अन्यथा संयमी लोग भी वाड्.मय पढ़ते समय असंयमी किस तरह होते हैं, यह प्लेटो ने दिखाया है। अपने ऊपर आपत्ति आ जाए तो हम संयम नहीं छोड़ते लेकिन दूसरों पर आ जाए और उनके प्रति अगर हमारे मन में सहानुभूति हो तो उसमें कुछ गलत भी हमें नहीं लगता। प्लेटो का कहना है कि एक बार हमारे मन में औरों के बारे में सहानुभूति या दु:ख उत्पन्न हो जाए तो वह हमारे मन में जाकर बैठ जाता है और हमपर आपत्ति आने पर हम संयम से नही रह सकते।[41]

प्लेटो ने सभी कलाओं और काव्यों पर बंधन नहीं डाले, विशिष्ट कलाकृतियों एवं कविताओं पर ही उसका कटाक्ष है, यह स्पष्ट है। मनुष्य के संयम, शौर्य इत्यादि सद्‌गुणों का परिपोष करनेवाली कलाओं का उसने समर्थन किया है और उसके प्रमाण "रिपब्लिक" में मिलते हैं।[42] लेकिन कलाकार अच्छे काव्य के निर्माण में उत्साह नहीं दिखाते और लोकप्रियता के लिए असंयमी आदमियों का चित्रण ही करना पड़ता है, यह तथ्य भी उनको ज्ञात है। अत: प्लेटो जिसे सत्काव्य कहता है उसके निर्माण में वे अपनी खुशी से तैयार होंगे, ऐसा प्लेटो को नहीं लगता।

जिनको मूलत: उखाड़ना चाहिए इस प्रकार के दु:ख, अनुकंपा, क्रोध, लालसा

इत्यादि भावनाओं को कवि खादपानी देता है।[43] इसलिए कवियों को आदर्श राज्य से बहिष्कृत करने का निर्णय प्लेटो को लेना पड़ा। यह निर्णय उसने बड़ी अनिच्छा से लिया क्योंकि प्लेटो को काव्य में बहुत रुचि थी। लेकिन उसका विचार था कि केवल काव्य सुंदर है, इसलिए उसे आदर्श राज्य में स्थान देने की आवश्यकता नहीं है। उसे आदर्श राज्य में तभी स्थान दिया जाएगा जब वह हितकर होगा। होमर के प्रेमियों को उसने चुनौती दी है कि वे सप्रमाण सिद्ध करे कि होमर का काव्य सचमुच हितकर है। यह सिद्ध होगा कि वह अहितकर है तो होमर को भी बहिष्कृत करना पड़ेगा। कवियों को केवल कवि होने के नाते वह आदर्श राज्य से बहिष्कृत नहीं करना चाहता। अगर वे देवताओं या महान पुरुषों के सद्‌गुणों को अपने काव्य में स्पष्ट करेंगे तो आदर्श राज्य में उनका स्वागत करने के लिए प्लेटो तैयार है। लेकिन उसके साथ यह भी सही है कि उन्होंने अगर समाज के लिए कुछ घातक काम किया तो केवल इसलिए कि वे कवि हैं प्लेटो उन्हें क्षमा नही करना चाहेगा।[44]

नैतिक निकषों के आधार पर अनेक अच्छी रचनाओं और उनके रचयिताओं को प्लेटो ने बहिष्कृत किया, यह कलाप्रेमी लोगों को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने प्लेटो के आक्षेपों का इस प्रकार उत्तर देने का प्रयास किया, जैसे कि उसने सभी कलाओं को ही बहिष्कृत किया है। उनमें से कुछ लोगों ने यह दिखाने का प्रयास किया कि कलाएँ सद्‌गुणों का विकास भी करती हैं। इस संदर्भ में रेनेसन्स के युग में प्रख्यात अंग्रेजी समीक्षक सर फिलिफ सिड़नी ने काव्य का जो समर्थन किया, उसका निर्देश आवश्यक है। सिड़नी की राय में सभी ज्ञान का आदर्श आत्मोन्नति है और कला का भी वही है। इस ध्येय की उपलब्धि में काव्य-मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। इतिहासकारों एवं दार्शनिकों से कवियों की तुलना करने पर यह मुद्दा स्पष्ट हो जाएगा। दार्शनिक अमूर्त शब्दों में नीतिपाठ देता है। लेकिन अमूर्त नीत्युपदेश और उदाहरणों को एकत्र लाना दोनों के लिए संभव नहीं होता। इसलिए नैतिक शिक्षा के कार्य में दोनों पिछड़ जाते हैं। दर्शन का नीत्युपदेश इतना अमूर्त होता है कि जो व्यक्ति उसे समझे और आचरण में लाए वह धन्य है। इतिहासकार के उदाहरणों से यह तो समझमें आता है कि दुनिया कैसी है, लेकिन यह नहीं समझ में आता कि वह कैसी होनी चाहिए। कवि इन दोनों से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वह अमूर्त अवधारणा एवं विशिष्ट ठोस उदाहरणों को जोड़ देता है। दार्शनिक जो पढ़ाता है उसे लोग नही समझ पाते परंतु वही नीतितत्त्व अगर कवि समझाए तो उसे सब समझ जाते हैं। इतिहासकार द्वारा दिए गए उदाहरणों की अपेक्षा कवि के उदाहरण अधिक प्रभावी सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसके पास सत्य एवं काल्पनिक उदाहरणों का बड़ा भंडार होता है। फिर वह सद्‌गुणों की विजय और दुर्गुणों की पराजय दिखा सकता है। जब विशिष्ट नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक तत्त्वों का प्रचार करना हो तब लेखक सिड़नी द्वारा कथित मार्गों का ही अवलंबन करते हैं, यह निश्चित है।

प्लेटो की दृष्टि से कवियों को जो करना चाहिए वही अगर कवि करेंगे तो क्या होगा यही मानो सिड़नी बता रहा है। लेकिन सिड़नी का यह सिद्धांत केवल प्रचार वाङ्‌मय और बोधकथाओं के संबंध में ही सही है। अन्य वाङ्‌मय के कारण जो परिणाम होते हैं उनके बारे में वह कुछ नहीं कहता और बहुत सारा अच्छा साहित्य प्रचार करनेवाला न होने के कारण उसकी रक्षा सिड़नी की ढाल से संभवतः नहीं होगी।

इस प्रकरण के प्रारंभ में प्लेटो और तोलस्तोय के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर बताया था। तोलस्तोय की राय में कला कला के रूप में तभी अच्छी समझी जाएगी जब उसमें भावना-संक्रमण की क्षमता होगी और उसके द्वारा संक्रमित होनेवाली भावनाएँ नीति-पोषक भी होंगी। मतलब तोलस्तोय नीति की अवधारणा को कला के अच्छी होने का निकष मानता है। प्रत्युत् प्लेटो कला को कला के रूप में पहचानने के लिए नीति का निकष उपयोग में नहीं लाता। परंतु समग्र जीवन का विचार करते समय कलामूल्यों और नीतिमूल्यों के बीच संघर्ष पैदा होने पर कलामूल्यों की तुलना में नीतिमूल्यों का अधिक महत्त्व मानता है। सिड़नी के मत में कलामूल्य और नीतिमूल्य में संघर्ष उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि कला से हमारी जो नैतिक अपेक्षाएँ होती हैं उन्हें कला पूर्ण करती है। प्लेटो, तोलस्तोय और सिड़नी की भूमिकाओं में यह भेद है अवश्य लेकिन इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सब में एक विलक्षण समानता है। ये तीनों खुले रूप में नीतिवादी हैं और उनका नीतिवाद सामान्य व्यक्ति को सहज आकलन होनेवाला है। कला और नीति के संबंधों को लेकर सामान्य मनुष्य की जो कल्पनाएँ होती हैं उन्हीं के बारे में ये बोलते हैं। नीति पर कला का जो प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है वही उनको अभिप्रेत है। उनकी राय में कला को चाहिए कि वह नीति-मूल्यों का प्रत्यक्ष समर्थन करें, मानवी सद्‌भावनाओं की वृद्धि करें, कम-से-कम ऐसा कुछ न करे जिससे नीति का क्षय हो। नीतिवाद का इतने स्पष्ट एवं समर्थ रूप में समर्थन करनेवाले समीक्षक आज बहुत कम हैं, लेकिन कला सिद्धांत के साथ नीतिवाद का जुड़ाव हो, यह गत दो सहस्त्र वर्षों की पाश्चात्य समीक्षा में एक अनिवार्य मत है। शिक्षा और आनंद कला के प्रयोजनों का युग्म नए पुराने ग्रंथों में दिखता है। पाठक के मन पर नीतिमूल्य किस प्रकार अंकित किए जाए इसके संबंध में मतभेद हो सकता है। कुछ लोगों की राय से नीति मूल्यों का सीधे प्रचार करना चाहिए। औरों की राय में कला को चाहिए कि वह कांता की भाँति अप्रत्यक्ष नैतिक शिक्षा दे। लेकिन वह साधनों के ब्योरे का प्रश्न है। सौंदर्य-मूल्य की स्वायत्तता का सिद्धांत कांट ने प्रस्तुत किया, उसे पौने दो सौ वर्ष हो गए, लेकिन नीतिवाद का जोर आज भी कम नहीं हुआ है। प्रत्यक्ष नीति का उच्चारण न करनेवाले, अथवा सैद्धांतिक स्तर पर उसका विरोध करनेवाले बहुत-से आलोचक कला के आशय के संबंध में जो कुछ बोलते हैं, उसे देखने पर लगता है कि उनके खून में ही नीतिवाद समा गया है। प्रारंभ में ही

नैतिक शब्द के अर्थ की कक्षा का हमने विस्तार किया है। इस व्यापक अर्थ में "नैतिक" शब्द का इस्तेमाल करना है, यह अगर ध्यान में रखा जाए तो उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रतीत होगी। कलाकृति के आशय के संबंध में बात करते समय हम कितनी सहजता से जीवनमूल्य, जीवनदृष्टि, श्रद्धा, निष्ठा इत्यादि अवधारणाओं का इस्तेमाल करते हैं, यह भी इस संदर्भ में ध्यान में रखना होगा।

9.5

अब तक हमने नीतिवादी दृष्टिकोण का समर्थन करनेवाले एक संप्रदाय का विचार किया अब दूसरे का करेंगे। इनका वैशिष्ट्य यह है कि ये लोग सीधे यह नहीं कहते कि कला को प्रत्यक्षत: नीति का समर्थन करना चाहिए। उनका कहना यह है कि कला को चाहिए कि वह अपना वैशिष्ट्यपूर्ण कार्य करती रहे और यह कार्य करते समय कला आस्वादक पर जो प्रभाव करती है, वे प्रभाव अप्रत्यक्षत: नीति के परिपोषक ही होते हैं। इस पंथ की भी दो भूमिकाएँ हैं। पहली भूमिका यह है कि कलामूल्य और नीतिमूल्य अलगअलग हैं। फिर भी कला नीति की पोषक ही होती है। दूसरी भूमिका यह कि नीति की दृष्टि से जो श्रेयस्कर अनुभव होता है उसमें और कलानुभव में तत्त्वत: कोई फर्क नहीं है। नीतिपरक, उत्तम और पुरुषार्थनिष्ठ जीवन अगर जीना हो तो कलानुभव के मार्ग से भी जाना होगा। यह भूमिका तोलस्तोय की भूमिका के बिलकुल विरोधी है। तोलस्तोय की राय में कला को अगर अच्छी कला बताना है तो उसे नीतिपोषक ही होना चाहिए और हम जिस दृष्टिकोण की अभी चर्चा कर रहे हैं इसके अनुसार जीवन श्रेयस्कर होना है तो वह कलामय होना चाहिए। फिर भी एक अलग दृष्टि से इन दोनों में साम्य है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं। इस भूमिका के अनुसार कला और मनुष्य के कुल जीवन में निकट का संबंध है। कलाव्यवहार का स्तर अलौकिक होता है, इस सिद्धांत से दोनों का विरोध है।

कलामूल्य और नीतिमूल्य अलग भी हों तो भी कला नीति के लिए पोषक ही होती है, इस दृष्टिकोण के समर्थकों में अरस्तू का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अब हम इसके कैथार्सिस की चर्चा करेंगे। लेकिन उसके पहले एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। प्लेटो और अरस्तू ने कला के संबंध में जो प्रश्न उठाए हैं वे सामान्यत: समान हैं और इन प्रश्नों के उनके उत्तर यद्यपि समान नहीं हैं फिर भी एक जाति के ही हैं। प्लेटो के प्रश्न इस प्रकार हैं: क्या कला आस्वाद को ज्ञान देती है? वह शौर्य, संयम इ। सद्गुणों का परिपोष करती है? कला के कारण मनुष्य के व्यक्तित्त्व पर कोई बुरा परिणाम होता है? - इन प्रश्नों के अरस्तू के दिए उत्तर प्लेटो के उत्तरों से भिन्न हैं। पहले दो प्रश्नों को प्लेटो के द्वारा दिए गए उत्तर सामान्यत: नकारात्मक हैं, तीसरे प्रश्न का सकारात्मक है। अरस्तू पहले प्रश्न को निश्चित रूप में सकारात्मक उत्तर देता है। दूसरे प्रश्न का भी उसका उत्तर सकारात्मक ही माना जा सकता

है। तीसरे प्रश्न का उसका उत्तर नकारात्मक है। इससे पता लगेगा कि प्लेटो और अरस्तू के उत्तरो में भिन्नता थी। ये प्रश्न कांट या विश्वचैतन्यवादियों से पूछे जाएँ तो वे कहेंगे कि "वे प्रश्न पूर्णतः अप्रासंगिक हैं।" अरस्तू यह नहीं कहता। वह प्लेटो के प्रश्नों को समीचीन मानकर ही उत्तर देता है। (कला के संदर्भ में उसके नैतिक परिणामों की चर्चा अप्रासंगिक है।) बुचर बताता है कि यह अरस्तू का भी मत है। अगर यह सही है तो यह मानना होगा कि कांट और हीगेल के मत का पूर्वोच्चार अरस्तू ने किया था। बहुत बार नए प्रश्न पूछने पर कला विषयक चिंतन के इतिहास को नया मोड़ मिलता है। यह इसपर निर्भर करता है कि ये प्रश्न कितने महत्त्वपूर्ण हैं। आलोचना का इतिहास बताएगा कि प्लेटो द्वारा पूछे गए कितने ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। अनेक आस्वादकों एवं विचारकों का मत है कि आज भी प्लेटो के प्रश्न प्रासंगिक हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो यह कहना पड़ेगा कि आलोचना-परंपरा में पहला युगकर्ता सौंदर्यशास्त्रज्ञ अरस्तू नही प्लेटो था।

प्लेटो ने कलाओं पर नैतिकता का निकष लगाया और उस निकष पर न उतरने वाली कलाकृतियों पर जोरदार आक्रमण किया तो उसके शिष्य अरस्तू ने कलाओं को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। यह करते समय उसे कला के परिणामों की पूरी कल्पना निश्चित रूप से थी। कला के परिणामों के संबंध में उसमें और प्लेटो में एकमत होता तो उसने भी कला पर आक्रमण किया होता। प्लेटो के विरोध में कला का विशेषतः काव्य का समर्थन करते समय प्लेटो के आक्षेपों का खंडन करना उसे आवश्यक लगा "अनुकृति" शब्द को नया अर्थ देकर प्लेटो के ज्ञानशास्त्रीय आक्षेपों का उसने उत्तर दिया। नीतिशास्त्रीय आक्षेपों को उत्तर देने के लिए ही उसने कैथार्सिस का सिद्धांत प्रस्तुत किया होगा। कैथार्सिस के सिद्धांत को नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि निश्चय ही मिली है। लेकिन शोकात्म नाटक इच्छा-शक्ति का प्रत्यक्ष आवाहन करता है। उसके कारण विशिष्ट सद्गुण बलवान होते हैं और विशिष्ट गुणों का निर्मूलन होता है, इस प्रकार का प्रत्यक्ष नीतिवादी सिद्धांत उसने स्पष्टतः प्रस्तुत किया है, ऐसा नहीं दीखता।

"कैथार्सिस" का निश्चित अर्थ क्या है? भावनाओं का विरेचन या विशुद्धीकरण? अरस्तू को निश्चित कौन-सी प्रक्रिया अभिप्रेत थी? इसके संबंध में बहुत विवाद हुआ है और बहुत भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें से दो प्रमुख मतों का हम संक्षेप में विचार करेंगे। ये मत कभी एक दूसरे में इस प्रकार उलझे हुए होते हैं कि उनका अलग से विचार करना मुश्किल हो जाता है।

अ) प्रत्यक्ष नीतिवादी अथवा विशुद्धीकरणवादी मतः इस बात के समर्थक सामान्यतः कैथार्सिस का संबंध विशुद्धीकरण की प्रक्रिया से जोड़ते हैं। लेसिंग के मत मे कैथार्सिस के फलस्वरूप भय और अनुकंपा भावनाओं का रूपांतरण सद्गुणप्रयुक्त

स्थिरप्रवृति में होता है। सद्गुण अतिरेक और न्यूनत्व को टालकर स्थापित सुवर्ण मध्य जैसे होते हैं। शोकात्मिका के कारण उपरिनिर्दिष्ट भावनाओं से अतिरेक और न्यूनत्व दोनों दोष निकाले जाकर सुवर्णमध्य स्थापित होता है।[46] इस संबंध में प्रा. गो. वि. करंदीकर लिखते हैं– राज्यशास्त्र के पाँचवें प्रकरण से ही यह अर्थ स्पष्ट हो सकता है। उसमें एक उद्धरण संगीत के एक विशेष प्रकार की सामाजिक उपयोगिता स्पष्ट करनेवाला है। अरस्तू ने इसमें कहा है कि धार्मिक उन्माद के कब्जे में आए आदमी पर भावना प्रक्षोभक संगीत का प्रयोग किए जाने से उसकी प्रक्षुब्ध भाव-वृत्ति को राह मिलती है और उसे पुन: आनंदमय शांत मन:स्थिति का लाभ होता है। इस प्रतिक्रिया का उल्लेख उसने कैथार्सिस शब्द से ही किया है। भावना-प्रक्षोभक संगीत के कारण होनेवाला कैथार्सिस और त्रासदी के कारण होनेवाला कैथार्सिस -- दोनों एक ही जाति के हैं, यह इससे स्पष्ट होता है। कैथार्सिस के द्वारा सूचित भावनात्मक परिणाम जीवन में कारुण्य और भय से भावनावश होनेवाले प्रेक्षकों तक सीमित होगा। धार्मिक प्रक्षोभ की तुलना में करुण और भय, इन भावनाओं का प्रक्षोभ जितना अधिक सामान्य होता है उतना त्रासदी का कैथार्सिस सार्वत्रिक होता है। राज्यशास्त्र में संगीत विषयक दृष्टिकोण का विश्लेषण कर निकाले गए इस निष्कर्ष से नीतिशास्त्र की शिव विषयक अवधारणा का विवेचन संवादी है। निकामेकिअन नीतिशास्त्र के दूसरे विभाग का छठा प्रकरण इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। वहाँ व्यक्त अरस्तू की सद्गुण संबंधी अवधारणा सुवर्णमध्य के सिद्धांत पर आधारित है। कुछ चीजों की तीन अवस्थाएँ कल्पित की जाती हैं। अतिरेक, सुवर्णमध्य और न्यूनत्व, गुणवान मनुष्य भय, करुणा, क्रोध, आत्मविश्वास इत्यादि भावनाओं का अथवा सुखदु:खों का अतिरेक एवं न्यूनत्व टालता है। सुवर्णमध्य को उपलब्ध करने का अर्थ है योग्य समय में, योग्य वस्तुओं के संदर्भ में, योग्य व्यक्तिओं के लिए, योग्य हेतु एवं योग्य प्रणाली से इन भावनाओं की प्रतीति करना। भय और करुणा दोनों का अतिरेक और न्यूनता टालने की प्रक्रिया को त्रासदी के संदर्भ में कैथार्सिस कहा गया जान पड़ता है। कैथार्सिस के माने हैं भावनाओं का सुवर्णमध्यीकरण। राज्यशास्त्र के उद्धरण से निष्पन्न होनेवाला उपशमात्मक अर्थ एवं नीतिशास्त्र के उद्धरण से सूचित होनेवाला सुवर्णमध्यांत्मक अर्थ दोनों परस्पर पोषक हैं और शोकांतिका की नैतिक फलश्रुति की आर संकेत करते हैं। --- भावनातिरेक के उपशम से एवं सुवर्णमध्य को साधने से अस्तित्व में आनेवाला नैतिक जीवन ही त्रासदी की सामाजिक उपयोगिता है। मुख्यत: शोकांतिका के सामाजिक स्थान को सिद्ध करने के लिए ही कैथार्सिस की नैतिक उत्पत्ति प्रस्तुत की गई होगी। प्लेटो के त्रासदीपर हुए आक्रमण को अरस्तू ने "कैथार्सिस" के रूप में उत्तर दिया है।[47] प्रा. करंदीकर ने विभिन्न सिद्धांतों का समन्वय करके दिखाया है कि अरस्तू की उत्पत्ति नैतिक है। नैतिकता पर उनके द्वारा दिया गया बल लेसिंग की याद दिलाता

है। उपराम (relief) का सिद्धांत बर्नेस, बोसाँकि इत्यादि विद्वानों ने भी प्रस्तुत किया है।[48] उसी तरह प्रा. करंदीकर द्वारा उद्धृत शब्द - "योग्य समय में, योग्य वस्तुओं के संदर्भ में, योग्य व्यक्तियों के लिए।" हंफ्री हाउस की याद दिलाते हैं। उनकी राय में त्रासदी अपनी भावनाओं को योग्य विषय उपलब्ध करा देती है और उन्हें आकार भी देती है।[49] इस तरह प्रा. करंदीकर विभिन्न सिद्धांतों का संश्लेषण कर यह निर्णय देते हैं कि अरस्तू की भूमिका नैतिक है।

आ) अप्रत्यक्ष नैतिकतावादी मत अथवा विरेचनवादी मत : बुचर की राय है कि "पोएटिक्स" में अरस्तू की भूमिका प्रत्यक्षतः नैतिकतावादी नहीं है। काव्य एवं अन्य सभी कलाओं का उद्देश्य एक विशुद्ध और उच्च दर्जे का सुख प्रदान करना है। इतना ही वह कहता है। "पोएटिक्स" लिखते समय अरस्तू का दृष्टिकोण केवल वाङ्मयीन समीक्षक का था। वह यह नहीं कहना चाहता था कि शिक्षाक्रम में काव्य का स्थान कौन-सा है। इसीलिए विभिन्न काव्यप्रकारों के प्रेक्षकों एवं पाठकों पर कौन-से नैतिक परिणाम घटित होते हैं, इसके संबंध में अरस्तू कुछ भी नही कहता। शोकात्मिका की परिभाषा करते समय अथवा बादवाले विवेचन में अरस्तू ने ऐसा कही भी नहीं कहा है कि प्रेक्षकों के जीवन को नैतिक मोड़ देना त्रासदी का उद्देश्य है। नाट्यगृह एवं विद्यालय दोनों अलग चीजें हैं, यही उसकी मान्यता है।[50] इसका अर्थ यह नहीं कि कला के संबंध में विचार करते समय वह नैतिकता की ओर से पूर्णतः उदासीन है। वह यह अवश्य कहता है कि कला आनंद प्रदान करती है। लेकिन इस आनंद के संबंध में उसके मन में विशिष्ट नैतिक अपेक्षाएँ हैं। वह यह मानता है कि यह आनंद स्वस्थ होना चाहिए। जिस नाट्यकृति में निम्न दर्जे के आदर्शो का चित्रण किया जाता है उनसे उसका वांछित स्वस्थ आनंद नहीं ही प्राप्त हो सकता।[51] त्रासदी के चरित्रों के संबंध में लिखते समय उसके मन में नैतिकता के विचार अवश्य होंगे।[52] लेकिन फिर भी बुचर का मत है कि कलास्वरूप के विचारों का एवं नीतिविचारों का प्रत्यक्ष संबंध तोड़नेवालों में अरस्तू पहला विचारक है।[53]

बुचर अपने विवेचन का प्रारंभ बर्नेस के सिद्धांत से करता है। त्रासदी के कारण भय और अनुकंपा की जागृति होती है। और उसके कारण हमारे मन में सदैव व्याप्त रहनेवाली भावनाओं का उपशम होता है और उसका विरेचन होकर एक सुखरूप अनुभव प्राप्त होता है। इन भावनाओं के विरेचन का अर्थ यह नहीं कि हमारे हृदय रिक्त होते हैं। बुचर की राय में इन भावनाओं का दु:खद घटक बाहर फेंका जाता है।[54] अरस्तू ने अपने 'रेटारिक' ग्रंथ में भय और अनुकंपा दोनों को दुखमय माना है। इन दोनों में भय अधिक मूलभूत भावना है; आत्मकेंद्रित प्रेरणा पर आधारित वह एक भावना है, अप्रत्यक्षतः अनुकंपा के बारे में भी यही कहा जा सकता है।[55] इससे यह दीखता है कि अरस्तू को अभिप्रेत तो अनुकंपा है वह निःस्वार्थ दया नहीं है। नाट्यगृह

में जब भय और अनुकंपा का उदय होता है तब इन भावनाओं में एक परिवर्तन दीखता है। असल में यह परिवर्तन अनुकंपा के बारे में नहीं परिलक्षित होता। केवल भय के बारे में परिलक्षित होता है। नाट्य प्रयोग देखते समय जो भय प्रतीत होता है वह अपने ऊपर आए संकट के कारण उत्पन्न नहीं होता। काल्पनिक पात्रों पर संकट आने के कारण उन्हें जो भय प्रतीत होता है वही सहानुभूतिवश हमें भी प्रतीत होता है। हममें और इन पात्रों में साम्य होने के कारण ही सहानुभव संभव होता है।[56]

बुचर की राय में शोकात्मिका के नायक के व्यक्तितत्त्व में दर्शक का व्यक्तितत्त्व थोड़ी देर के लिए विलीन होता है, उसके जीवन से तादात्म्य होने के कारण उस पर आए संकट मानो अपने पर आए संकटों के समान दर्शक को लगते हैं। समस्त मानव जाति के दु:ख और भवितव्य को देखने का आभास होता है। भावना की व्यक्तिबद्धता खत्म होती है। दर्शक मानता है कि नाट्यकृति समस्त मानवी जीवन का चित्र है। इस स्तर पर उसे मनुष्य की प्रचंड समस्याएँ दीखने लगती हैं। यह भी एहसास होता है कि त्रासदी के नायक के दु:खी होने में एक किस्म की नैतिक अनिवार्यता है. इस विराट दर्शन के कारण आदरयुक्त भय (awe) उत्पन्न होता है। इस अनुभव में भय और अनुकंपा का मेलन होता है। उनकी व्यक्तिबद्धता विनष्ट होने के कारण उनका नित्यवाला दु:खद घटक नष्ट होता है।[57] इस तरह भावनाओं का विरेचन होता है।

हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में भावनाएँ व्यक्तिबद्ध एवं आत्मकेंद्रित रहती हैं। नैतिक आचरण में उनकी व्यक्तिबद्धता रुकावट पैदा करती है। त्रासदी का नैतिकता से अप्रत्यक्ष संबंध है।[58]

बुचर के विवेचन को पढ़ते समय अभिनवगुप्त की याद स्वाभाविक रूप में होती है। दोनों ने साधारणीकरण और आत्मानुप्रवेश पर बल दिया है। व्यक्तिबद्धता खत्म होने पर प्राप्त होनेवाला साधारणीकृत अनुभव आनंदरूप होता है, यह दोनों ने कहा है। यह साम्य विलक्षण ही कहा जाएगा।

कैथार्सिस संबंधी दो मतों की चर्चा हमने की। उसमें महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि विशुद्धीकरणवादियों की राय में त्रासदी का हमपर प्रत्यक्ष नैतिक परिणाम होता है। यह जरूरी नहीं कि हम इसकी चर्चा करें कि इन दोनों में कौन-सा अधिक ठीक है। लेकिन यह ध्यान में लेने पर कि अरस्तू प्लेटो को उत्तर दे रहा था और तत्कालीन सौंदर्यशास्त्रीय विचार को देखने पर यह कहा जा सकता है कि अरस्तू की भूमिका अप्रत्यक्ष - नीतिवादी ही ठहरती है। अरस्तू को विशुद्धीकरणवादी मत अधिक निकट का लगा होगा। अर्थात् उसने विशुद्धीकरणवादी मत स्पष्टत: (explicitly) प्रस्तुत नहीं किया। अगर बुचर का यह मत स्वीकार किया जाए कि कोई भूमिका नीतिवादी सिद्ध करने के लिए उसमें इच्छाशक्ति को प्रत्यक्ष आवाहन किया जाना आवश्यक है तो अरस्तू की भूमिका अप्रत्यक्ष नीतिवादी ही ठहरती है।

अब प्रश्न यह है कि शोकात्म वाङ्:मय का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कुछ नैतिक परिणाम होता है अथवा नहीं? अगर ऐसा होता भी होगा तो सूक्ष्म ही होगा। विशिष्ट नीति तत्त्वों को मन पर अंकित करने के लिए जो वाङ्:मय निर्मित होता है उसके परिणाम की भाँति वह स्थूल निश्चय ही नहीं होगा। यह कहना ठीक नहीं लगता कि भय और अनुकंपा उत्पन्न करनेवाली हर त्रासदी भावनाओं का सुवर्णमध्य उत्पन्न करती है। कुछ त्रासदियों के कारण सिर्फ भावविवशता ही उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह कि केवल भावजागृति का महत्त्व नहीं है। वह किस कारण से होती है। इसका बहुत महत्त्व है। श्रेष्ठ त्रासदी में ऐसा कुछ होना चाहिए, जिसके कारण सुवर्णमध्य अवस्था उत्पन्न होती है। बुचर के सिद्धांत के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। पिछले प्रकरण में हमने देखा है कि समस्त मानवी व्यवहार की नींव साधारणीकरण की प्रक्रिया है। अतः त्रासदी के विशिष्ट परिणाम का उत्तर साधारणीकरण में नहीं मिलेगा। शायद इसलिए बुचर ने और एक बात का निर्देश किया है। त्रासदी में केवल दु:ख की व्यंजना ही नहीं होती। उसका कहना है कि उसके मूल में विद्यमान नैतिक अनिवार्यता का भान होता है। इस दु:ख की जाति एवं इयत्ता ऐसी होती है कि उसके कारण विश्वरचना ऐसी क्यों है, इस रचना के पीछे ईश्वर का क्या उद्देश्य है, ये प्रश्न सामने खड़े होते हैं, इसमें से एक नई दृष्टि मिलती है।[59] इस तरह की जीवन दृष्टि उत्पन्न होने पर भावनाओं की केवल जागृति ही नहीं होती उनकी सुव्यवस्था भी होती है। इसी दृष्टि को जीवन का दर्शन कहा जा सकता है। यह नहीं कि हर त्रासदी के कारण इस प्रकार की जीवन-दृष्टि प्राप्त होती है। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रेष्ठ कलाकृतियों से हमें समृद्ध भावनानुभाव प्राप्त होता है और भावनाओं और प्रेरणाओं को समुचित व्यवस्था का मार्ग भी प्राप्त होता है।

अब प्रश्न है कि इस व्यवस्था और नीतिमूल्य का संबंध क्या है? इस व्यवस्था में और सीधे नीत्युपदेश में अंतर क्या है? इस तरह की व्यवस्था और हमारी इच्छा शक्ति का उचित दिशा में कार्यान्वित होना, दोनों एक ही हैं? इनके दो उत्तर हैं। अगर नीति की अवधारणाओं एवं नैतिक जीवन का संकुचित अर्थ ग्रहण किया जाए तो भावनाओं - प्रेरणाओं की व्यवस्था होना एवं नीतिमान होना, ये दोनों बातें भिन्न ठहरती हैं। फिर हम इतना ही कह सकते हैं कि भावना-प्रेरणाओं का व्यवस्थापन होने के कारण नीतिमान होने में अप्रत्यक्ष सहायता होती हैं, इसलिए उनमें अगर व्यवस्था होगी तो नीति के लिए सहायक ही होगी। दूसरी बात यह कि नीति का अधिक व्यापक अर्थ लेने पर भावना-प्रेरणाओं का व्यवस्थापन भी एक नैतिक मूल्य सिद्ध हो जाता है। कुछ लोग तो इसे सर्वोच्च नैतिक मूल्य मानते हैं। हमारी नैतिक उक्तियों का उद्देश्य भी सुव्यवस्थित जीवन की प्रस्थापना ही होता है। अतः यह उद्देश्य सिद्ध करने का कोई भी मार्ग नीति का मार्ग ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो जीवन

की सुव्यवस्थित समृद्धि परमश्रेष्ठ ऐहिक नीतिमूल्य ठहरता है और इसको प्राप्त करने का एक मार्ग कला है। नीति की अवधारणा का इस तरह व्यापक अर्थ लेकर नीति एवं कला के संबंध को स्थापित करनेवाले सिद्धांतों का अब हमें विचार करना है।

9.6

इस संदर्भ में रिचर्ड्स का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है। रिचर्ड्स पूर्णतः जीवनवादी सौंदर्यशास्त्रज्ञ हैं। कलावाद जो विश्वचैतन्यवादी मत है का जोरदार खंडन करके वह अपना मूल्य-विचार प्रस्तुत करता है।[60] उसका कहना है कि जो सौंदर्यशास्त्रज्ञ यह दावा करते हैं कि कलानुभव अन्य अनुभव से अलग जाति का अनुभव है, वे यह संतोषपूर्वक नहीं स्पष्ट कर पाते कि यह पृथकता खास किस बात में है।[61] उसकी राय में कलानुभव जीवन के अन्य अनुभवों की कोटि का ही होता है। ये अनुभव एक ही प्रकार की सामग्री से तैयार होते हैं। उस सामग्री का संगठन भी एक ही तत्त्व के अनुसार होता है। कलानुभव और लौकिक अनुभव के बीच भेद जाति का नहीं, संख्यात्मक होता है। दो अनुभवों की सामग्री समान होती है, परंतु एक स्थान पर सामग्री की दरिद्रता होती है, तो दूसरे स्थान पर सामग्री विपुल एवं वैविध्यपूर्ण होती है. एक स्थान पर सामग्री का संगठन बहुत कौशल से नहीं होता तो दूसरे स्थान पर कौशल की पराकाष्ठा होती है। कलानुभव लौकिक ही होता है। लेकिन वह अधिक समृद्ध, वैविध्यपूर्ण और अधिक कौशल से रचा हुआ होता है।[62]

कलानुभव को अलौकिक न मानने पर केवल कलानुभव को ही लागू पड़नेवाले मूल्यनिकष खोजने की आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए रिचर्ड्स केवल सौंदर्यमूल्य नहीं चाहता, क्योंकि उसके मत में समीक्षक का कुल जीवनमूल्य से बहुत निकट का संबंध होता है। चिकित्सक को शारीरिक स्वाथ्य की जितनी फिक्र होती है उतनी ही मानसिक स्वास्थ्य की फिक्र समीक्षक को होती है। समीक्षक का केवल सौंदर्य के संबंध में विचार करना अपना कार्यक्षेत्र अकारण संकुचित करना है। अपने नैतिक एवं सामाजिक जीवन पर कला के जो दूरगामी परिणाम होते हैं वे रिचर्ड्स को महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते थे और इसीलिए वह कुल मूल्य के निकष की खोज कर रहा था।[63] उसकी राय में लोग जिसे सौंदर्यमूल्य नाम देते हैं और जिसे नीतिमूल्य कहा जाता है ये दोनों इस मूल्य में ही समाविष्ट हैं। समग्र मूल्य के निकष की अवधारणा के संबंध में रिचर्ड्स का कहना है कि यह निकष जीवन और कला दोनों के संदर्भ में प्रयुक्त करने लायक होना चाहिए। अर्थात् उसके उपयोग से जीवन के अनुभवों एवं कलाकृति में तारतम्य कर सकने की संभावना होनी चाहिए। दूसरी अपेक्षा यह है कि यह निकष संख्यात्मक होना चाहिए कि अमुक कविता अमुक कविता से अधिक मूल्यवान है। मूल्य निकष के संबंध में रिचर्ड्स की एक और अपेक्षा है। सुंदर वस्तुओं में इतना वैविध्य होता है कि उनमें समान गुणविशेष या गुण समूह प्राप्त होगा ऐसा रिचर्ड्स को नहीं लगता।

वह मानता है कि सुंदर वस्तु के कारण जो अनुभव निर्मित होते हैं उन्हीं में उस समान गुणविशेष की खोज करनी चाहिए। अत: इसमें आश्चर्य नहीं कि उसका आग्रह यह है कि मूल्य का निकष मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं की भाषा में ही देना होगा।[64]

इस प्रकार का निकष उसे आवेग-संतुष्टि की अवधारणाओं में मिला। वह संक्षेप में इस प्रकार है। जिससे आवेग (impulse) की संतुष्टि होती है वही बात मूल्यवान है।[65] लेकिन मनुष्य के मन में अनेक आवेग होते हैं और जिस बात से एक की संतुष्टि होती है उससे अन्य आवेगों की संतुष्टि होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। एक आवेग की संतुष्टि से अन्य आवेगों की असंतुष्टि भी उत्पन्न हो सकती है। मानवीय आवेगों की विविधता और अनेकता को ध्यान में लेकर रिचर्ड्स ने अपने सिद्धांत में इस प्रकार परिवर्तन किया। जिस बात से हमारे आवेगों की संतुष्टि होती है और उसके साथ उसके समकक्ष या उससे अधिक महत्त्वपूर्ण आवेग की असंतुष्टि उत्पन्न नहीं होती है, तो वह बात मूल्यवान है।[66] कैसे पता चले कि कोई आवेग महत्त्वपूर्ण है? जिस आवेग के असंतुष्ट रहने से कुल जीवन बिखर जाता है वह आवेग महत्त्वपूर्ण है।[67] महत्त्वपूर्ण आवेग को प्रभावी आवेग कहा जा सकता है। यह बात ध्यान में रखने पर कि मनुष्य के मन में अनेक आवेग होते हैं। रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत में अन्य परिवर्तन करना आवश्यक होता है। मूल्य के संबंध में बात करते समय एक आवेग की संतुष्टि का विचार करना ठीक नहीं। अनेक आवेगों की संतुष्टि महत्त्वपूर्ण ठहरती है। इसीलिए मूल्यवान चीजों के बारे में इस प्रकार कहा जा सकता है। जिस चीज से अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण आवेगों की संतुष्टि होती है, वह बात मूल्यवान होती है। यहाँ एक मुद्दा ध्यान में रखना आवश्यक है। रिचर्ड्स की राय में अनुभव मूल्ययुक्त होते हैं, ये अनुभव जिनके कारण उत्पन्न होते हैं उनमें मूल्य नहीं होता उन्हें अगर मूल्ययुक्त कहना ही है तो उनमें केवल साधनमूल्य है इतना ही कहा जा सकता है। जब हम कहते हैं कि म्युजिअम के योद्धा का बुत मूल्ययुक्त है, तब ऊपर से प्रतीत होता है कि हम उस बुत के बारे में बोल रहे हैं लेकिन जरा विचार करने पर ध्यान में आएगा कि हम असल में उस बुत के कारण उत्पन्न होनेवाले अनुभव के संबंध में ही बोल रहे हैं। क्योंकि यह अनुभव साध्य है और उसका मूल्य स्वयंभू है। म्यूजिअम के उस बुत में केवल साधनमूल्य ही है।[68]

रिचर्ड्स के समस्त विवेचन में आवेग की अवधारणा का बहुत महत्त्व है। आवेग शब्द उसने प्राय: मात्र इच्छा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। जिनके के स्वरूप के संबंध में हमें स्पष्ट भान रहता है इस प्रकार की इच्छाएँ उसे अभिप्रेत हैं ही। लेकिन उसके साथ अवचेतन की इच्छाओं को भी उसने प्रस्तुत माना है।[69] वाङ्मय को पढ़ते समय अवचेतन की इच्छाओं को भी संतोष मिलता है, यह फ्रायड़वादियों का सिद्धांत हमारे परिचय का है। अत: अवचेतन की इच्छाओं को रिचर्ड्स एक अन्य अर्थ में भी आवेग

की अवधारणा का प्रयोग करता है। उसकी राय में शरीर (विशेषत: मज्जासंस्थान और उसकी क्रियाएँ) और मन एक ही होने के कारण मज्जासंस्थान की हलचलों का भी समावेश वह आवेग में ही करता है।[70] रिचर्ड्स का दावा है कि मूल्यवान अनुभव में इन तीनों प्रकार के आवेगों की संतुष्टि मिलती है। लेकिन मज्जासंस्थान की हलचलों को भी आवेग कहने पर एक तार्किक अड़चन उपस्थित होती है। मज्जासंस्थान में विद्युदुर्मियाँ खेलती हैं। उनकी संतुष्टि का अभिप्राय यह कहने जैसा हास्योत्पादक एवं निरर्थक है कि बटन दबा कर दीया लगाने से बिजली की संतुष्टि होती है। मानसिक और शारीरिक व्यापारों को ही संगठन के घटक मानना कोटि-संभ्रम में घुस जाना होगा। अर्थात् शारीरिक हलचलों को निकाल दें तो भी रिचर्ड्स के मूल सिद्धांत को धक्का नहीं लगता।

सामान्य जीवन में भी आवेगों की संतुष्टि होती ही रहती है। अधिकाधिक आवेगों की संतुष्टि पाना प्राणिमात्र का स्वभावधर्म है। सर्वांगीण संतुष्टि के लिए आवश्यक आवेगों का संगठन भी सामान्य जीवन में दीखता है।[71] फिर भी सामान्य अनुभव अधिक मूल्यवान नहीं होते। जीवन सहज हो जाए इसलिए हम कुछ आवेगों को बिलकुल बहिष्कृत करते हैं। समृध्दि अनुभव झेलने की क्षमता सबमें नहीं होती। इसीलिए संख्या की दृष्टि से सामान्यों का अनुभव दरिद्री होता है। मनुष्य के व्यसनी होने से अथवा किसी नैतिक नियम की जबरदस्त गिरफ्त में होने से उसका अनुभव दरिद्री होता है। कभी मनुष्य के मन के आंतरिक संघर्ष के कारण जीवन में दारिद्र आता है। कुछ लोग विभिन्न आवेगों को विभिन्न समय में अलग-अलग संतुष्टि प्राप्त करा देते हैं। उदाहरण के लिए हर दिन यांत्रिक ढंग से जीनेवाले और कभी पंद्रह दिन ठंडी हवा के स्थान पर जाकर रहनेवाले व्यक्ति इसमें आ जाते हैं। लेकिन इससे उनका कुल जीवन समृद्ध नही होता। उसी तरह अगले क्षण में विश्वास न रखकर हर वर्तमान क्षण को भोगनेवाले लोगों के जीवन में भी समृध्दि नहीं होती, क्योंकि उनके आवेगों में कुछ अनुशासन नहीं होता। मूल्यवान अनुभव समृद्ध एवं सुगठित होता है। इस प्रकार का मूल्यवान जीवन जीनेवाले लोग बहुत विरले होते हैं। बहुत से लोगों का जीवन दरिद्र या अव्यवस्थित होता है।[72] कला को समृद्ध एवं सुगठित अर्थात् मूल्ययुक्त अनुभव प्राप्त करने का एक राजमार्ग कहा जाता है, यह स्पष्ट करने के लिए रिचर्ड्स द्वारा विश्लेषित काव्यानुभव की ओर हमें जाना चाहिएँ। मान लीजिए हम निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ रहे हैं :

"कंटकशल्यें बोचटलीं
मखमलीची लव वठली।"

जब कविता की ये पंक्तियाँ हम कागज पर पढ़ते हैं तो अनुभव का प्रारंभ दृक्संवेदना से होता है जो अपने आप में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि कविता पढ़ते समय

टाइप, छपाई इत्यादि के प्रति हमारा उतना ध्यान नहीं होता। उसके बाद हमारे मन में कुछ ध्वनियों के बिंब पैदा होते हैं। शब्दों के उच्चारण में स्वरयंत्र, जीभ, होंठ इत्यादि की हलचलें होती हैं। उनके भी बिंब बनते हैं। इन्हें रिचर्ड्स संबद्ध प्रतिमा (tied images) कहता है।[73] काव्यानुभव में इन बिंबों एवं उन बिंबों से निर्मित बंध का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। ध्वनि-संगठन के कारण काव्य के कुल अनुभव को एक चौखटा मिलता है।[74] उसके बादवाली सीढ़ी है अन्य बिंबों की निष्पत्ति। कविता के अनेक इंद्रिय-बिंब होते हैं, जिन्हें मुक्त बिंब कहा जाता है (free images)। काव्यशास्त्रीय चर्चा में इनको अत्याधिक महत्त्व दिया जाता है। रिचर्ड्स की राय है कि यह ठीक नहीं है क्योंकि सभी पाठक इन बिंबों को अपने मन के सामने साकार नहीं कर सकते और बिंब-निर्माण-क्षमता पर काव्यास्वाद निर्भर नहीं रहता, क्योंकि जिनमें वह क्षमता बिलकुल नहीं होती वे पाठक भी काव्य का आस्वाद अच्छी तरह ले सकते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि बिंब जितने अधिक स्पष्ट और सुरेखित होते हैं, काव्यानुभव उतना सशक्त होता है। तीसरी बात यह है कि दृक्संवेदना के बारे में चित्र में जो निश्चितता होती है वह काव्य के बिंबों में नहीं हो सकती। फिर हर कविता में बिंब का उपयोग किया गया होगा ही, सो नहीं। ऐसा भी नहीं है कि जिन कविताओं में बिंबों का उपयोग नहीं है वे कविताएँ काव्य की दृष्टि से हेय ही होंगी। फिर इन बिंबों का निश्चित कार्य कौन-सा है? काव्य में बिंब भावनाओं और विचारों का निर्माण करते हैं, यही उनका कार्य है। अर्थात् बिंबों का मूल्य साधनात्मक ही है।

इसके आगे विचारों की सीढ़ी है - References विचारों में एक प्रकार की साधारणता होती है। काव्य में विचारों का विषय कोई विशिष्ट बात न होकर इस प्रकार की बातों का वर्ग होता है। विचारों को केवल विचार के रूप में काव्य में स्थान नहीं होता। उनका भी महत्त्व साधनात्मक ही होता है। विचारों के कारण भावना और आवेग उत्पन्न होते हैं। इसलिए विचारों का काव्य में महत्त्व होता है।[75] रिचर्ड्स ने विचारों के संबंध में यह क्यों कहा, इसकी चर्चा बादमें करेंगे।

इसके बाद भावनाओं और आवेगों की जागृति की अवस्था है। आवेग जागृत होने पर उसका आविष्कार अर्धस्फुट क्रिया (incipient action) में होता है। इस अध 'स्फुट क्रिया को रिचर्ड्स ने "ऐटिट्युड़" नाम दिया है। काव्य पठन के समय हम क्रियाशील (practical) होते हैं, क्योंकि हमारे हाथ से प्रत्यक्ष क्रिया न भी होती तो भी क्रिया की पूर्वतैयारी एवं अर्धस्फुट क्रिया की सीढ़ी पर हम होते ही हैं।[76] काव्य-पाठ में सबसे महत्त्वपूर्ण सीढ़ी यही होती है। पिछले प्रकरण में भावना और आवेग के संबंधों की चर्चा हमने की है। हमें मालूम है कि हर भावना में आवेग अंतर्निहित होता है। अत: भावना जागृति का अर्थ आवेग-जागृति। कलास्वाद के अवसर पर जागृत होनेवाले

आवेग लौकिक ही होते हैं। लौकिक जीवन में आवेग जागृत होने पर क्रिया भी होती है। काव्य पाठ के समय प्रत्यक्ष क्रिया नहीं होती, लेकिन हम उस अर्थ में तटस्थ भी नहीं होते, जिस अर्थ में विश्वचैतन्यवादी समझते हैं और यह भी निष्कर्ष नहीं निकलता कि आवेग जागृत नहीं होते। आवेग निश्चय ही जागृत होते है। लेकिन उनकी व्यवस्था कुछ इस प्रकार होती है कि प्रत्यक्ष क्रिया नहीं होती और इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ही हमें तटस्थता का अनुभव मिलता है। तटस्थता से कलानुभव का प्रारंभ नहीं होता, उसका अंत होता है। लेकिन वह तटस्थता विश्वचैतन्यवादियों की बताई हुई तटस्थता नहीं होती।

हमने यह देखा है कि दैनंदिन जीवन में भी आवेगों की व्यवस्था होती रहती है। लेकिन प्राय: इस संगठन में दरिद्रता होती है अथवा विखराव। काव्यानुभव में ये दोष दूर किए जाते हैं। उनमें आवेगों की विपुलता और विविधता होती है और उन आवेगों का संगठन भी कौशल्यपूर्ण होता है।[77] इसी कारण अन्यथा एक दूसरे की विरोधी भावनाएँ और आवेग काव्यानुभव में पास-पास रह सकते हैं। अलग-अलग भावनाओं-आवेगों में संतुलन उत्पन्न होता है। इस संतुलन के उदाहरण के रूप में रिचर्ड्स ने कैथार्सिस का निर्देश किया है। अनुकंपा के पास जाने की प्रेरणा होती है और भय से दूर जाने की। रिचर्ड्स का कहना है कि त्रासदी के कारण उनमें संतुलन उत्पन्न होता है। लेकिन यह बहुत ही स्थूल उदाहरण है जो ठीक नही लगता। रिचर्ड्स ने काव्य की विडंबना (irony) का उदाहरण दिया है। विड़ंबना के कारण भिन्न और विरोधी आवेग एकत्र आ सकते हैं। इसीलिए बहुत बार अच्छी कविता में विड़ंबना होती है और उस में निर्मित होनेवाला आवेगों का संतुलन इतना वैविध्यपूर्ण, संपन्न और स्थिर होता है कि विड़ंबना के कारण वह विचलित नहीं होता। प्रत्युत्, सामान्य दर्जे के काव्य में निहित अनुभव विड़ंबना को नहीं झेल सकता। शेक्सपीअर की त्रासदियों के हास्य का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। प्रत्यक्ष जीवन में कोई गंभीर घटना घट जाए तो कोई हँसता नहीं, या ऐसा कुछ नहीं करता जिससे हास्य उत्पन्न होगा। लेकिन मैक्बेथ में डंकन की हत्या के बाद शराब पीकर घुत् हुए पहरेदार का हास्यपूर्ण भाषण सुनते समय हमें नहीं खटकता। इसका कारण यह कि मैक्बेथ देखते समय हमारी मनोवस्था इतनी व्यापक और संतुलित होती है कि उसमें विविध, परस्पर-विरोधी भावना और आवेग खप जाते हैं और शोभा भी देते हैं। परिपक्व मनुष्य किसी बात में सहसा विचलित नहीं होता, क्योंकि उसके मन में हास्य का निर्मल झरना बहता रहता है। परिपक्व मनुष्य भावना-शून्य नहीं होता, भावनाओं का अनुभव वह भी करता है। लेकिन उनका व्यवस्थापन ठीक न होने के कारण•उसकी भावनाएँ असीम होकर इतस्तत: नहीं बहतीं।

इसका मतलब यह नहीं कि सभी वाङ्मय कृतियाँ एकसरीखी होती हैं। कुछ कृतियों

में समांतर आवेगों का संगठन होता है तो अन्यों में परस्पर-विरोधी आवेगों से संगठित ढाँचा निर्मित होता है। य. गो. जोशी एवं साने गुरुजी का लेखन पहले वर्ग में आता है। उनके साहित्य में केवल भावुकता और उसकी पोषक चीजों पर बल दिया जाता है। उनको भेदनेवाली कोई चीज (उदाहरणार्थ उपरोध--) उसमें नहीं मिलता। मर्ढेकर और गंगाधर गाड़गील के वाङ्.मय में दूसरे प्रकार का संगठन दिखता है। उनके वाङ्.मय में उत्कट भावना के साथ ही साथ उपरोध और विनोद को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह बात इस संदर्भ में उद्बोधक है। उसी तरह पाठक और पाठक के बीच का अंतर भी ध्यान में रखना होगा। बहुत सारे पाठकों की भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ निश्चित साँचे में बंद होती हैं। उदाहरण के लिए माता के बारे में अथवा देश के बारे में विचार आने पर उनका हृदय गद्गद होता है। इस बात का उपयोग कुछ चतुर लोग होशियारी से कर लेते हैं। उन्हें मालूम होता है कि अपने पाठकों को कैसे वशीभूत किया जा सकता है। इसलिए वे पंछी को मायके भेजते हैं, उधर परली तरफ की झोंपड़ी की ओर अंगुली निर्देश करते हैं, मायके - ससुराल के बारे में बात करते समय उन्हें गंगा यमुना में मिली होने की बात दिखती है। वे किसी गरीब, सादा शिक्षक, अभिनेता, शिवशाही या पेशवाई के किसी वीरपुरुष के बारे में लिखते हैं। कुलथी की कढ़ी, थालीपीठ, प्याज के पकौड़े मराठी मनुष्य को जिस तरह प्रिय होते हैं उसी तरह उपरोक्त विषयों पर साँचे में बद्ध लेखन भी मराठी वाचक को प्रिय लगता है, क्योंकि उनकी भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ साँचे में बद्ध होती हैं। प्रत्यक्ष जीवन में वे इन साँचो के बाहर नहीं जा सकते। क्योंकि ये साँचे ही उनके जीवन के आधार होते हैं। अगर वे नही होते तो अपनी प्रतिक्रियाओं में विलक्षण अस्तव्यस्तता पैदा होने का डर उनमें होता है। अच्छा वाङ्.मय पढ़ते समय इन साँचों के बाहर जाने का अवसर मिलता है। लेकिन अनेक दरिद्र पाठक इस अवसर से लाभ नहीं उठा पाते। उनमेंसे कुछ को मृत्यु जैसे प्रसंग गद्गद करते हैं, उनके साँचों को तोड़-मोड़ कर नई दिशा में विचार करने के लिए सिखाते हैं। लेकिन सबके बारे में यह घटित होता हो, ऐसा नहीं। अनेक लोग विचार और भाव की दृष्टि से आखिर तक पंगु एवं बौने ही रहते हैं।

काव्य-पाठ से हमें जीवनविषयक समृद्ध भावनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त होता है। रिचर्ड्स बताता है कि काव्य-पाठ के समय कौन-सा अनुभव आता है। अत्यधिक आनंद या थ्रिल इत्यादि का एहसास होता है अथवा नहीं इसकी अपेक्षा काव्य के पाठ के बाद हमारे आवेगों का संगठन किस प्रकार होता है और किस प्रकार की क्रिया करने की तैयारी हममें उत्पन्न होती है। यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्य के दूरगामी परिणाम महत्त्वपूर्ण होते हैं।[78] इन परिणामों के कारण जीवन के किसी भी प्रसंग को खुले मन से देखने और झेलने की क्षमता उत्पन्न होती है। यह दृष्टिकोण पहले धर्म देता था। धर्म केवल ईश्वरविषयक श्रद्धा ही उत्पन्न नहीं करता, अपने कुल जीवन में उपयोगी

जीवन दृष्टि सिद्धांत करना भी धर्म का ही कार्य है। ख्रिश्चन धर्म की जीवन दृष्टि ईश्वरविषयक श्रद्धा पर आधारित थीं। इस मूलभूत श्रद्धा को उन्नीसवीं सदी में प्रचंड धक्के लग गए। और उस पर आधृत जीवन-दृष्टि की इमारत ढहने लगी। रिचर्ड्स का विश्वास है जहाँ धर्म निरुपयोगी सिद्ध हुआ वहाँ काव्य सफल होगा।[79] काव्य हमें ऐसी जीवन-दृष्टि प्रदान करता है कि जिसके कारण हम प्रगल्भ होकर अधिकाधिक मूल्यवान अनुभव ग्रहण करने में सक्षम होते हैं।

रिचर्ड्स ने सौंदर्यमूल्य और नीतिमूल्य में अंतर नही किया। अत: कलाकृति के सुंदर होने में और उसके अच्छी होने या शिव होने में तत्त्वत: कुछ भी अंतर नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कला नीतिपोषक होती है। लेकिन इससे यह सिद्ध नही होता कि कला उपदेशपरक होती है या होनी चाहिए। नीति-तत्त्वों के पालन से जो मूल्यवान अनुभव से संपन्न जीवन प्राप्त होता है, वह कलास्वाद से भी प्राप्त होता है। यह जीवन उपलब्ध करने का एकमात्र मार्ग नहीं है, परंतु वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण मार्ग है, इसमें कोई संदेह नहीं।

कलामूल्य के संदर्भ में रिचर्ड्स का सिद्धांत ही महत्त्वपूर्ण है। हम काव्य से समृद्ध एवं सुगठित अनुभव की अपेक्षा करते हैं। काव्य जिस सामग्री से बनाया जाता है वह सामग्री लौकिक जीवन की होने के कारण जो इस सामग्री का कुशल संगठन काव्य के संदर्भ में करता है वह प्रत्यक्ष जीवन में भी कर सकेगा। यह विचार समीचीन भी लगता है। लेकिन यह काव्य के बारे में सही भी हो सकता है। अन्य कलाओं के बारे में यह संभव नहीं। यह कहा जा सकता है कि लौकिक आशय जिन कलाकृतियों में अंतर्निहित होता है, उनके संदर्भ में रिचर्ड्स का सिद्धांत सही हो सकता है-परंतु आशयरहित कृतियों के संदर्भ में वह सही होगा, यह संभव नहीं। उदाहरण के लिए खयाल गाने अथवा सुनने की आदत से कुल जीवन समृद्ध होगा ऐसा नहीं लगता। स्पष्ट है, रिचर्ड्स ने अपना सिद्धांत आशयपूर्ण वाड्.मय कृतियों के आधार पर बनाया है। अन्य कलाओं के संदर्भ में उसे लागू करने का 'प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटरी क्रिटिसिज्म' ग्रंथ में किया गया उसका प्रयत्न बाद में सूझा विचार है। स्वरों की रचना करते समय लौकिक जीवन के कौन-से आवेग जागृत होते हैं, उनकी व्यवस्था कैसी होती है, और नैतिक दृष्टि से जीवनोपयोगी कैसे सिद्ध हो सकते हैं आदि प्रश्न रिचर्ड्स को अड़चन में डालनेवाले हैं। इस अड़चन से मुक्त होने के लिए कहना पड़ेगा कि संगीत में भी आशय होता है। भावगीत, नाट्यगीत आदि। संगीत प्रकारों में आशय होता है अवश्य, लेकिन समस्त संगीत में आशय होगा, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, जीवनवादी सौंदर्यशास्त्रियों को इस प्रकार की अतिरेकी भूमिका ग्रहण करनी ही पड़ती है। अन्यथा कला के एक क्षेत्र को उन्हें स्वायत्त मानना पड़ता है। स्वायत्ततावादियों का सही क्षेत्र है आशयहीन संगीत, चित्रकला, और प्रकृतिसौंदर्य। आशयसमृद्ध वाड्:मय-कला उन्हें

भी अड़चन में डालती है। कलाक्षेत्र में वाङ्‌मय को महत्त्वपूर्ण स्थान देने से स्वायत्ततावाद के मार्ग में अनेक अड़चनें उत्पन्न होती हैं। इसीलिए स्वायत्ततावादी विद्वान वाङ्‌मय को कला के क्षेत्र में निष्कृष्ट स्थान देते हैं।

9.7

संपूर्णतः जीवनवादी एक अन्य सौंदर्य-सिद्धांत का परिचय हम कर लेंगे। यह जॉन ड्युई का सिद्धांत है। रिचर्ड्स की भाँति जॉन ड्युई का भी कहना है कि कलानुभव और जीवनानुभव में अंतर नहीं है। पर्वत-शिखर और तलहटी की जमीन में जो रिश्ता होता है वही जीवनानुभव और कलानुभव में होता है। इस अभेद को दिखाना सौंदर्यशास्त्र का प्रथम कार्य है।[80] कलानुभव और जीवनानुभव के बीच न केवल घटक ही समान होते हैं, उनमें व्यवस्था लगाने का तत्त्व भी एक ही प्रकार का होता है। उनमें जातिगत अंतर नहीं है। जो अंतर है वह संख्यात्मक है। सामान्य अनुभव से कलानुभव-अधिक समृद्ध अधिक तीव्र तथा अधिक व्यवस्थित होता है।

हमारे दैनिक जीवन में भी कतिपय घटनाएँ हमारा ध्यान खींचती हैं। उन्हें एकाग्रतापूर्वक हम देखते हैं और वे हमारी आस्था जागृत कर आनंद भी देती हैं। इन प्रसंगों में बीजरूप में कलानुभव रहता है। असल में यह गलतफहमी है कि कलाव्यापार जीवनव्यापार से भिन्न है। किसी समय लोग दैनंदिन व्यवहार के उपकरण, धनुष्यबाण, भाले अतिशय कौशल से बनाते थे। निर्मिति की यह क्रिया निश्चय ही आनंदप्रद होगी। इन्हीं चीजों को हम आर्ट म्युजियम में लाकर आज रख देते हैं। ये चीजें म्युजिअम में रखने के लिए नहीं बनी थीं। यही बात नाट्य, नृत्य, संगीत इत्यादि कलाओं के बारे में कही जा सकती है। मूलतः ये सभी कलाएँ समाज के रोजमर्रा के जीवन व्यापार का भाग था।[81]

राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद के उदय के उपरांत यूरप के म्यूजिअम अस्तित्व में आए। राष्ट्र ने कला के क्षेत्र में जो काम किया उसके दर्शन लोगों को हों, इसलिए अनेक कलाकृतियों को म्यूजियम में लाकर रख जाता है। उसी तरह विजित देश की कलाकृतियाँ भी विजय-चिह्न के रूप में म्यूजिअम में रखी गईं। इस तरह इन कलाकृतियों को उनके मूल जीवन संदर्भ से अलग कर दिया गया।[82] इन में पूँजीशाही के विकास का भी महत्त्वपूर्ण संबध है। आश्चर्य नहीं कि नवरईस पूँजीपतियों को लगे कि उनके पास दुर्लभ और महंगी कलाकृतियाँ हों। अपनी सुसंस्कृति को दिखाने का यह एक आसान रास्ता होता है। रईस राष्ट्र भी यही करते हैं। यह केवल आत्मश्लाघा का प्रकार है। इस प्रकार कलाकृतियों को उनके विशिष्ट जीवन संदर्भ से अलग कर दिया गया।[83] और उन्हें केवल कलाकृति का स्थान या दर्जा प्राप्त हुआ। आज के यांत्रिक युग में कलाकार समाज से एकरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह यांत्रिक ढंग से निर्मिति नहीं कर सकता। इसी में से कलाकार का अतिरेकी व्यक्तिवाद उत्पन्न होता है। वह

समाज से जुड़ना पसंद नहीं करता और मानता है कि केवल आत्माभिव्यक्ति के लिए कला का निर्माण करता है। परिणामत: कला का समाज-जीवन से संबंध टूट जाता है। जो यह सौंदर्य-सिद्धांत कि कला केवल तटस्थ अवलोकन के लिए होती है, मानकर चलते हैं वे मानते हैं कि कला की जीवन से विच्छिन्नता नैसर्गिक ही है। कला और दैनंदिन जीवन के बीच का अंतर स्वाभाविक लगे इसी में जीवन विषयक कटु भाष्य अंतर्निहित है। अपना दैनंदिन जीवन कितना क्षुद्र एवं विकृत है, इसकी स्वीकृति देने के लिए ही मानो हम कला और जीवन के बीच एक दरार की बात करते हैं।[84] डयूई इस जीवन और कला में अंतर करनेवाली विचार-प्रणाली को मूलत: ही गलत मानता है। सामान्य जीवन की मूल्यवान बातों में ही तीव्रता, सूक्ष्मता, तरलता आ जाती है तो कलाकृति उत्पन्न होती है।[85] डयूई का कहना है कि सौंदर्यानुभव का स्वरूप समझना हो तो दैनंदिन जीवन के सामान्य अनुभव का विश्लेषण करना आवश्यक है।

प्राणी और उसके इर्दगिर्द की परिस्थिति के बीच के संबंधों से समस्त अनुभव उत्पन्न होता है। इन दोनों में कुछ समय तक टिकनेवाला, कुछ स्थिर-सा संबंध पैदा होता है। लेकिन परिस्थति के बदलने पर यह संबंध सतत टूटता है। बाह्य परिस्थिति के बदलने और उससे जुड़ी कड़ी के विकसित होने पर प्राणी अस्वस्थ हो जाता है। फिर वह परिस्थिति में परिवर्तन उत्पन्न करता है। इस बदली हुई परिस्थिति के प्राणी पर नए परिणाम होते हैं। इन परिणामों से संस्कारित प्राणी पुन: परिस्थिति में परिवर्तन करने का प्रयास करता है। इस तरह यह व्यापार अप्रतिहत जारी रहता है। इस व्यापार का वैशिष्ट्य यह है कि उसके शुरू होने पर परिस्थिति एवं प्राणी के मूल रूप भी बदलते जाते हैं। घड़ी के लंबक के इधर से उधर सतत हिलते रहने में लय की कल्पना की जाती है वस्तुत: लय का यह यांत्रिक और निर्जीव उदाहरण है। लय के सही उदाहरण के लिए हमें प्राणियों के व्यवहार को देखना चाहिए। एक क्रिया का दूसरी किया से जीवंत संबंध होता है। प्राणी की हर दूसरी क्रिया उसकी पहली क्रिया से एवं उसके परिणामों से संस्कारित होती रहती है। इसलिए इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं में जीवंत लय होती है। इस अनुभव का अपना आकार (form) होता है, वह सुगठित अनुभव होता है।[86]

मनुष्य का अनुभव भी इसी प्रकार का होता है। लेकिन उसके एवं अन्य प्राणियों के अनुभव में एक महत्त्वपूर्ण भेद होता है। परिस्थिति के साथ चल रही किया प्रतिक्रिया का एहसास मनुष्य को होता है। परिस्थति के साथ उसकी कड़ी टूटने पर भावना उत्पन्न होती है। उससे विचार-प्रक्रिया शुरू होती है। यह भी इच्छा होती है कि टूटी कड़ी पुन: जुड़ जाए। ये विचार इत्यादि चीजें ही परिस्थिति में वस्तुओं के अर्थ बनते हैं।[87] हर अनुभव चैतन्यपूर्ण होता है, क्योंकि परिस्थिति और प्राणी के बीच के जीवंत

संबंधों से वह उत्पन्न होता है। यह संबंध जब परिपूर्ण अवस्था तक पहुँच जाता है, तब परिस्थिति और प्राणी परस्पर में पूर्णतः जुड़ जाते हैं, एकरूप होते हैं। इस प्रकार का परिपूर्ण अनुभव भी बीजरूप कला ही है।[88] इस अनुभव का वैशिष्ट्य यह होता है कि उसमें एकात्मता होती है। कभी स्वयंपूर्णता भी प्रतीत होती है। यह स्मरणीय अनुभव होते हैं। हम उनका निर्देश करते समय कहते हैं, "वह तूफान!", "वह भोजन!"

कलानुभव में सामान्य जीवन के घटक ही होते हैं। फर्क इतना ही कि उनमें तीव्रता और स्पष्टता होती है। कलानुभव में मनुष्य और बाह्य परिस्थिति के बीच होनेवाली क्रिया प्रतिक्रिया का फल होता है। मनुष्य का मन और परिस्थिति के बीच के दबाव के कारण कलात्मक अभिव्यक्ति उत्पन्न होती है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से काल का आयाम भी जुड़ा होता है। अभिव्यक्ति क्षण में होनेवाली वस्तु नहीं होती वह कुछ समय तक चलनेवाली चीज होती है। अभिव्यक्ति के समय पूर्वानुभव के संस्कार जागृत होकर अभिव्यक्ति से एकरूप होते हैं।[89] सब जानते हैं कि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के कारण परिस्थिति में परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरण के लिए आरंभ में चित्रकार के सामने खाली कैनवास होता है। अभिव्यक्ति प्रक्रिया के दौरान उसपर रंग चढ़ते हैं। परिस्थिति के परिवर्तन के फलस्वरूप चित्रकार में भी परिवर्तन होते हैं। वह भी नए ढंग से संगठित होता है।[90] इन परिवर्तनों के कारण चित्रकार का दैनंदिन भावजीवन से संबंध टूट जाता है, सो नहीं। उसकी भावनाएँ वे ही होती हैं, लेकिन अभिव्यक्ति के कारण उनमें अधिक स्पष्टता आती है।

कलाकार तथा अन्य मनुष्य और कला-निर्माण तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में जातिगत अंतर नही होता। वह अंतर आज इसलिए लगता है कि आज की उत्पादन पद्धति यांत्रिक हो गई है। इस पद्धति के कारण हम जो वस्तु निर्मित करते हैं वह साधनरूप बन गई है। वस्तुतः अपना अनुभव साध्य रूप बने और वह अनुभव अपने को संतुष्टि देनेवाला रहे, यही इच्छा हर व्यक्ति में निसर्गतः होती है। यह केवल कलाकार तक सीमित नहीं है। हर अनुभव एवं उत्पादन प्रणाली को कलास्वरूप प्राप्त हो सकता है। यह सही है कि समाज-रचना के विकृत होने के कारण यह आज संभव नहीं होता, लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि कलाव्यापार एक अलौकिक वस्तु है। समाज में आज जो व्यवस्था दीखती है, वह बाहर से आरोपित है। यह जीवंत अनुभव से उस्फूर्ततापूर्वक बनी व्यवस्था नहीं है। अपने जीवन के कतिपय अंगों को वह स्पर्श नहीं करती। अनुभव को साध्यरूप देना अथवा उसे स्वयं तुष्टि देनेवाला बताना प्रचलित समाजव्यवस्था की क्षमता के बाहर है। लेकिन कला यह संभव बना सकती है। जीवन की रचना किस प्रकार होनी चाहिए, इसका मानो आदर्शपाठ ही कला देती है।[91] ड्यूई का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट है। रोजमर्रा के अनुभवों की परिणत अवस्था कलानुभव है। चूँकि हमारे वैयक्तिक या सामाजिक जीवन की संरचना विकृत है। हमारा दैनंदिन

अनुभव उप परिणत अवस्था को नहीं प्राप्त होता। लेकिन हमसे जीवन की संरचना अगर बदली जाएगी तो सामान्य अनुभव भी इस अवस्था तक पहुँच सकेगा। यह संरचना कैसी हो इसका मार्गनिर्देशन कला करती है। कला यह इसलिए कर सकती है कि कलानुभव के घटक और सामान्य अनुभव के घटक एक ही हैं तथा इन घटकों के संगठन के तत्त्व भी समान हैं। सामान्य अनुभव में इन घटकों का अधूरा वकास रहता है, संगठन भी अपूर्ण रहता है। कला में ये घटक एवं संगठन पूर्णत: विकसित अवस्था में मिलता है। समस्त अनुभव की सफलता कलानुभव है।

कलाओं का मनुष्य के समग्र जीवन पर बहुत बड़ा परिणाम होता है। डिकन्स जैसे लेखकों ने जीवन का भेदक चित्रण कर समाज में परिवर्तन पैदा किए, यह इस परिणाम का एक पहलू हो गया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इस परिणाम का दूसरा पहलू है। किसी भी समय में जो कलाकृति उत्पन्न होती है वह उस समय का सांस्कृतिक पर्यावरण ही होता है। इस पर्यावरण का हमारी कृतियों, इच्छा-आकांक्षाओ पर सतत परिणाम घटित होता रहता है। प्रत्यक्ष नीति के सबक देने की अपेक्षा यह परिणाम अधिक सूक्ष्म एवं सर्वांगीण होता है, अत: महत्त्वपूर्ण होता है।[92]

अब शेली के "डिफेन्स ऑफ पोएट्री" में किए गए काव्य और नीति के संबधों के बारे में कुछ परिचय प्राप्त करेंगे। समाज में नैतिकता नहीं दीखती, इसका कारण नीतितत्त्वों का अभाव नहीं है। वास्तविकता यह है कि नीतितत्त्व तो हैं लेकिन नैतिकता नहीं है। नैतिकता के अभाव का कारण समाज में विकसित कल्पनाशक्ति का अभाव है। मनुष्य में अगर विकसित कल्पनाशक्ति हो तो दुनिया में जो जो सुंदर है उसके साथ उसका तादात्म्य हो सकता है। समस्त मानव जाति के सुख-दु:ख से वह एकरूप हो सकता है। अन्यों पर प्रेम करने की उसकी शक्ति बढ़ जाती है। फिर वह आत्मकेंद्रित नही रहता। सबकी दृष्टि से वह किसी भी प्रश्न की ओर देख सकता है। मनुष्य की आत्यंतिक आत्मकेंद्रितता नष्ट होना, औरों की दृष्टि से विश्व की ओर देखने की क्षमता उत्पन्न होना, अन्यों पर प्रेम करना इत्यादि चीजें नैतिकता का विकास ही हैं। काव्य नैतिकता के लिए उपयुक्त है। लेकिन वह इसलिए नहीं कि विशिष्ट नीतितत्त्वों का प्रसार करता है। यह उपयुक्तता अप्रत्यक्ष सहायता के रूप में होती है। काव्य के कारण कल्पनाशक्ति का पोषण होता है और विकसित कल्पनाशक्ति के कारण नैतिकता का पोषण होता है। काव्य और नैतिकता के बीच का संबंध इस प्रकार अप्रत्यक्ष होता है, लेकिन इसलिए वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

रिचर्ड्स, डयूई, शेली जीवनवादी सौंदर्य चिंतक हैं। परंतु उनमें और प्लेटो, तोलस्तोय मे महत्त्वपूर्ण भेद है। प्लेटो एवं तोलस्तोय की राय में कला को चाहिए कि विशिष्ट जीवनमूल्यों के संस्कार आस्वादक पर अंकित करे। रिचर्ड्स, डयूई, शेली की राय में कलाकार अपने क्षेत्र को स्थलकालसापेक्ष संकीर्ण मूल्यों तक सीमित करके

प्रत्यक्ष प्रचार न करे।[93] फिर भी वे नैतिकवादी हैं। कलाकृति के मूल्यांकन के लिए वे जो निकष इस्तेमाल में लाते हैं वे नैतिक हैं। उदाहरण के लिए जिस कलाकृति में, साँचे में बंद भावनात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग किया जाएगा, जिसमें प्रेरणा की दरिद्रता होगी, उसे रिचर्ड्स घटिया कलाकृति मानता है।[94] यह सही है कि संकीर्ण अर्थ में इस प्रकार की कलाकृति अनैतिक नहीं होती, लेकिन वह मूल्यहीन होती है और उससे पाठक को मूल्यहीन अनुभव ग्रहण करने की आदत पड़ सकती है। इसलिए एक व्यापक अर्थ में उसे अनैतिक भी कहा जा सकता है। रिचर्ड्स और ड्यूई नैतिकतावादी होने पर भी विशिष्ट नीतिमूल्यों के लिए कला का उपयोग करने के पक्ष में न होने के कारण प्लेटो और तोलस्तोय की तुलना में उन्हें कलाकार की स्वाधीनता की अधिक चिंता है।

हमें अब एक और दृष्टिकोण का संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेना है। उसे सांतायाना ने प्रस्तुत किया है। उसकी राय में कला केवल आनंदरूप होने से ही नैतिक होती है। उसका दावा यह है कि सौंदर्य की आनंदरूपता केवल मूल्ययुक्त ही नहीं होती, वह सर्वोच्च मूल्य भी होता है। उसके कारण इस प्रकार हैं। नैतिक स्थापनाएँ प्राय: नकारात्मक होती हैं। उनका उद्देश्य यह बताना रहता है कि जीवन में जो दु:ख और खतरे हैं उनसे कैसे अपने को बचाया जा सकता है। प्रत्युत् सौंदर्यविषयक स्थापना सकारात्मक होती है। शिवमूल्य के दर्शन कराना उसका कार्य होता है। इन दो स्थापनाओं में दूसरा अंतर यह होता है कि सौंदर्य संवाक्य का विषय ऐसी चीजें होती हैं, जिनका मूल्य स्वयंभू या साध्यात्मक होता है और नीतिसंवाक्यों का विषय ऐसी चीजें होती है जिनको केवल साधनमूल्य ही होता है। किसी चीज के कारण कौन-से लाभ होते हैं यह नीतिसंवाक्य में कहा जाता है, तो सुंदर चीज के कारण क्या लाभ हो सकता है, इसका विचार भी सौंदर्य-संवाक्य के समय हमारे मन में नहीं होता।[95] क्रीड़ा की भाँति कला-व्यापार में भी स्वरसरंजनात्मक वृत्ति की अपेक्षा रहती है, एवं कलाव्यापार उत्स्फूर्ततापूर्वक स्वान्त:सुखाय किए जाते हैं। अपनी शक्तियों का इस प्रकार मुक्त प्रकटीकरण करने में ही मनुष्य के जीवन की सफलता होती है।[96] इसके बाद सांतायाना कहता है कि अगर इस दुनिया से संकटों एवं समस्याओं का उन्मूलन हो जाए तो जीवन आनंदमय होगा। इस प्रकार का आनंदमय जीवन ही मूल्ययुक्त जीवन है। परमोच्च अनुभव सत्यज्ञान-स्वरूप बताया जाता है। सांतायाना का कहना है कि जब सत्यज्ञान से किसी व्यावहारिक लाभ की अपेक्षा नहीं होती तब सत्य और किसी सुंदर दृश्य में भेद नहीं रहता। सत्यान्वेषण का सौंदर्यानुभव में रूपांतरण होता है।[97] सांतायान के इस विवेचन के संबंध में यह कहना है कि जिस दुनिया में समस्याएँ नहीं होतीं, संकट या संत्रास नहीं होता उस दुनिया में केवल स्वांत:सुखाय की गई बातें होंगी, इसमें संदेह नहीं। इस प्रकार की दुनिया में निस्संदेह सुख एक आवश्यक

घटक होगा। लेकिन सांतायाना का यह मत मान्य नहीं किया जा सकता कि वहाँ केवल सुख ही सुख होगा और वह सिर्फ सौंदर्य-सुख होगा। इस प्रकार के आदर्श जगत् में सौंदर्य-सुख और संवेदना-सुख के साथ बिगलित वेधांतर ज्ञानसाधना, तन्मय होकर खेले गये विविध खेल, मित्रता, प्रेम जैसे मूल्य भी होंगे और इन सबसे सौंदर्य-सुख ही प्राप्त होता है, यह कहना गलत है।

9.8

अब तक हमने तीन सिद्धांतों का विचार किया। "कला में नैतिकता होनी चाहिए", "अच्छी कला में नैतिकता होती ही है", "कला सुखरूप होने के कारण ही उसमें सर्वोच्च नैतिक मूल्य साकार होता है।" अब हम चौथे सिद्धांत का विचार करेंगे। "कला में नैतिकता होना अनिवार्य है।" यह सिद्धांत मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी तत्त्व प्रणालियों में निहित है।

छठे प्रकरण में हमने देखा है कि मार्क्सवादियों की राय में किसी भी समाज की कुल संरचना उसके उत्पादन-संबंधों पर निर्भर होती है। मनुष्य का जीवन आर्थिक दृष्टि से जिस वर्ग में वह जीता है उस वर्ग के हित संबंधों से बद्ध होता है। उसकी धार्मिक, राजनैतिक, नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, मान्यताएँ भी वर्ग हित से आबद्ध रहती हैं। अपने वर्ग को सजग रूप में त्याग कर क्रांतिकारी वर्ग से जुड़नेवाले लोग अपवादात्मक ही होते हैं। व्यक्ति अपने वर्ग के दायरे में ही विचार और कार्य करते हैं। इसके कारण उनकी हर बात में वर्ग-दृष्टि से किया हुआ मूल्यांकन अभिप्रेत होता है। उनकी हर कृति का राजनैतिक और नैतिक अर्थ होता है। मार्क्सवादियों की राय में जब तक वर्णव्यवस्था पर आधारित समाज है तब तक मनुष्य की मानवीयता को वर्ग की सीमाएँ अवरुद्ध करती हैं।[98] अतः कला और वाड्.मय में वर्ग-सापेक्षता का होना अनिवार्य है।[99] इसके लिए एक उदाहरण लें। कलाकार अपनी स्वाधीनता के प्रति अतिशय जागरूक होते हैं। वे समाजवाद का विरोध करते हैं, क्योंकि उनको डर है कि समाजवादी समाजरचना में उनकी स्वाधीनता को नष्ट किया जाएगा। इसपर मार्क्सवादियों का कहना यह भी होता है कि व्यक्तिवादी लोग जिस प्रकार समझते हैं उस प्रकार की व्यक्ति-स्वतंत्रता पूँजीवादी समाज में वस्तुतः नहीं होती, क्योंकि इस समाज में बहुसख्यक लोग दरिद्री होते हैं। इस समाज में लेखक पूँजीवादी प्रकाशक एवं रईसों का गुलाम होता है। उसे क्या लिखना चाहिए, यह पूँजीवादी ही तय करते हैं। अतः इस व्यवस्था में व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं कला-स्वातंत्र्य का उद्घोष करना पूँजीवादी समर्थकों का केवल ढोंग है।[100]

इसपर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कलाकारों की सभी उक्तियों एवं कृतियों में क्या विशिष्ट वर्ग के दृष्टिकोण से किया हुआ मूल्यांकन ही अनुस्यूत रहता है? जब वह राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक प्रश्नों के संबंध में बोलेगा तब उसकी वर्गीय निष्ठा

प्रकट होगी, यह माना जा सकता है। लेकिन प्रेम, स्त्री, फूल इत्यादि के संबंध में जब बोलता है तब भी उसकी वर्गीय निष्ठा ही व्यक्त होगी। क्या यह कहना अतिरेकपूर्ण नहीं है,? हमने छठे प्रकरण में देखा कि मार्क्सवाद मानवी जीवन के कुछ पहलुओं का ठीक स्पष्टीकरण दे सका है, लेकिन कुछ पहलू ऐसे भी हैं जिनपर मार्क्सवादी सिद्धांत नहीं लागू किया जा सकता। अत: व्यक्ति की हर कृति में उसकी वर्गनिष्ठा दीख ही जाती है, यह कहना अतिरेक है। उदाहरणार्थ बालकवि की "फुलराणी" में या गोविंदाग्रज की कविता "राजहंस" में कहाँ है वर्गनिष्ठा? यहाँ एक बात ध्यान में रखनी होगी- अनेक स्थानों पर वर्गनिष्ठा नहीं दिखती लेकिन विशिष्ट मूल्यों के प्रति निष्ठा अवश्य परिलक्षित होती है। रंभोरु, नितंबिनी आदि शब्दों से नारी का वर्णन करनेवाला संस्कृत कवि, पति के पैरों को स्वर्ग माननेवाले सिंधु का निर्माण करनेवाले नाटककार गड़करी, पुरुष से भी अधिक नारी के दर्शन से भयचकित एवं नतमस्तक हुए तांबे स्त्री को पुरुष जितनी या पुरुष से भी अधिक स्वतंत्रता देनेवाले माधवराव पटवर्धन, आत्मप्रतिष्ठा के लिए घर छोड़नेवाली नारी को जन्म देनेवाला इब्सेन या ऐसी ही स्थिति में फिर पति के घर लौटने की सलाह देकर नारी को कुलवधू माननेवाले रांगणेकर, इन सबके बीच जो भेद हैं वे जीवनमूल्य के ही भेद हैं। इन मूल्यों की जड़ें वर्गीय संस्कृति में अवश्य पाई जा सकती हैं। लेकिन वर्गनिष्ठा के संबंध में मार्क्सवादी आग्रह को छोड़ दिया जाए तो भी मूल्यनिष्ठा के प्रति आग्रह छोड़ने का कोई कारण नहीं है। जीवनवादी सौंदर्यशास्त्रज्ञों को कला की यही मूल्यनिष्ठा अभिप्रेत होती है। मानवीय जीवन के संबंध में लिखे हर प्रकार के गंभीर वाङ्.मय में विशिष्ट जीवननिष्ठा का होना अनिवार्य है।

वाङ्:मय में नैतिकता का होना अनिवार्य है। यह सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी भी मानते हैं। सार्त्र ने अपनी जीवन विचारधारा को "व्हाट इज लिटरेचर" में स्पष्टत: प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के प्रारंभ में सार्त्र ने वाङ्:मय एवं चित्रकला जैसी अन्य कलाओं के बीच भेद स्पष्ट किया है। उसकी राय में चित्रकार एवं गायक अपने माध्यम को भाषा की दृष्टि से नहीं देखते। चित्रकार का अर्थ उसके माध्यम में ही देहीभूत होता है, विशिष्ट रंगरेखाओं से वह अर्थ पूर्णत: एकरूप होता है। यह अर्थ उसके माध्यम से व्यक्त नहीं होता। चित्रकार अर्थ के प्रतीक उत्पन्न नहीं करता, अर्थयुक्त वस्तुएँ उत्पन्न करता है।[101] गद्य लेखक की भाँति कवि भी एक अर्थ में भाषा के माध्यम से ही कलाकृतियाँ निर्मित करता है। लेकिन दोनों में जमीन-आसमान का अंतर होता है। कवि जो कलाकृति निर्मित करता है वह चित्र, पुतला, गीत; इत्यादि वर्गों में परिगणत होती है।[102] कवि भाषा में अर्थयुक्त वस्तुएँ उत्पन्न करता है। गद्य लेखक अर्थ को प्रकट करने के लिए, कुछ बनाने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। इसलिए गद्य लेखक से यह पूछा जा सकता है कि तुम क्यों लिखते हो? लेखन करना अथवा

बोलना एक प्रकार से कुछ कृति करना ही होता है।[103] इस रचना का स्वरूप किसी पर प्रकाश डालना या कुछ दिखाना होता है। लेखक मानवी विश्व पर प्रकाश डालता है क्योंकि उसे वह बदलना चाहता है। वह मानव का जो चित्र बनाता है, वह निष्पक्षपातपूर्ण नहीं होता, मनुष्य का पूर्वग्रहविरहित चित्र ईश्वर भी नहीं बना सकेगा।[104]

सार्त्र का अभिप्राय यह होगा कि अगर लेखक दुनिया को बदलने के लिए दुनिया पर प्रकाश डालना चाहता है तो उसने अपना नैतिक चयन किया है। अर्थात् जीवन की कुछ बातों को उसने अस्वीकार किया है तो कुछ बातों को श्रेयस्कर रूप में स्वीकार किया है। और इन श्रेयस्कर बातों के संदर्भ में ही वह दुनिया को बदलना चाहता है। अतः उसका चित्रण निःपक्षपातपूर्ण हो ही नहीं सकता।

लेखन व्यावहारिक कृति (praxis) है और उसमें लेखक का एक नैतिक चयन अंतर्निहित है। उससे यह सवाल पूछना चाहिए कि, "मेरी तरह अगर चयन समस्त मानव जाति करे तो उसका क्या परिणाम होगा?" ऐसा ही एक सवाल लेखक को अपने से पूछना चाहिए। मैं जो लिख रहा हूँ। वह अगर सब पढ़ेंगे तो उसका क्या परिणाम होगा?"[105] लेखक औरों को विश्व के दर्शन कराता है और विश्व के प्रति उनकी जिम्मेदारी के प्रति उन्हें परिचित करा देता है। मनुष्य एक बार भाषा का उपयोग करना शुरू करे तो इससे वह बच नहीं सकता। वह मौन भी रह जाए तो भी वह भाषण ही होता है। व्यावहारिक स्तर पर कोई कृति न करना भी एक कृति ही है, उसी प्रकार न बोलना भी एक भाषण ही सिद्ध होता है। उसका भी नैतिक अर्थ होता है।[106]

वाङ्‌मय, लेखक और पाठक के बीच के सहयोग पर निर्भर होता है। यह सब सहयोग न होगा तो वाङ्‌मय कृति कागज पर किया हुआ निरर्थक रेखांकन होगा। लेखक पाठकों के लिए लिखता है ताकि मन से वे जीवंत रहें। लेखक का अभिप्रेत अर्थ भाषा के माध्यम से दिया जाता है। वह भाषा में देहीभूत नहीं होता। लेखक के लेखन के सहारे पाठक उस अर्थ की निर्मिति करता है।[107] अगर उस तरह निर्मिति करनेवाला पाठक नहीं होगा तो वाङ्‌मय रचना अस्तित्व में ही नहीं आएगी। लेखक पाठक को आवाहन करता है कि पाठक उसे सहयोग दे, बिना उसकी सहायता के लेखक जिस जीवनदर्शन का निर्माण करना चाहता है, वह वस्तुगत नहीं होगा। असल में वह पाठक की स्वाधीनता को किया गया आवाहन होता है, क्योंकि पाठक को उत्स्फूर्तता से लेखक को सहयोग देना चाहिए।[108] लेखक को चाहिए कि अपनी स्वाधीनता की भाँति वह पाठक की स्वाधीनता की भी फ़िक्र करे। स्वाधीनता साहित्य की नींव होने के कारण वाङ्‌मय- निर्मिति स्वाधीनता पर आधारित नैतिक कृति होती है।

उपन्यासकार हमें विश्व के दर्शन कराता है और हमारी ही सहायता से ये दर्शन वस्तुगतता प्राप्त करते हैं। ये दर्शन कब प्रतीतिपूर्ण होंगे? दुनिया को बदलने की इच्छा से कृति करते समय जब हम विश्व को देखते हैं तभी विश्व का स्वरूप, अपना भी स्वरूप हमारी समझ में आता है, जीवन-दर्शन को प्रत्ययकारी करने का एक मार्ग है कृतिशील होना।[109] स्वाधीनता उपन्यास की नींव है और उसके दायरे को बढ़ाना उपन्यासकार का उद्देश्य होता है। उपन्यास की दुनिया में द्वेष होगा। लेकिन वह स्वाधीनता की आकांक्षा की अभिव्यंजना के रूप में वहाँ आएगा। उदाहरण के लिए किसी नीग्रो ने गोरे लोगों पर अंगार बरसानेवाली रचना की तो वह नीग्रो लोगों की स्वातंत्र्येच्छा की अभिव्यंजना सिद्ध होगी। यह कृति जो पढ़ेगा वह जुल्म ढानेवाले गोरे लोगों से तन्मय नहीं हो सकेगा। पाठक गोरा भी हो तो वह काले लोगों की तरफ से ही खड़ा रहेगा। इसलिए अन्याय की प्रशस्ति करनेवाला अच्छा उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। किसी की स्वाधीनता के विरुद्ध होना साहित्य के विरुद्ध ही पड़ता है। कोई लुहार फैसिस्ट बन जाए तो उसके जीवन पर उस स्वाधीनता-विरोधी दर्शन का परिणाम हो सकता है, लेकिन उसके कारण लुहार काम के कौशल पर परिणाम होने की कोई संभावना नहीं है। लेकिन अगर कोई कलाकार फैसिस्ट बनेगा तो न केवल उसका वैयक्तिक जीवन विकृत होगा, उसकी कला भी विकृत होगी। लेखक के रूप में वह नि:शेष होगा।[110] स्वाधीनता हर लेखक की सर्वोच्च जीवननिष्ठा होती है। लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि लेखक स्वाधीनता की अमूर्त अवधारणा का जयगान गाता रहे। लेखक के सामने मानव की अमूर्त स्वाधीनता नहीं होती, लेखक जो लिखता है वह अपने समकालीनों के लिए, उसकी अपनी परिस्थिति में या समाज या वर्ग के लोगों के लिए लिखता है। वह विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट स्वाधीनता के संबंध में लिखता है।[111]

इसके पहले हमने जिन विचारों का विवेचन किया उनमें और सार्त्र की मान्यताओं में बहुत-सी बातों में साम्य हो भी तो भी एक बात में महत्त्वपूर्ण भेद है। अच्छे वाङ्‌मय में नैतिकता का आयाम अनिवार्यत: होता है। इस मुद्दे पर इन विचारकों में एकमत है। लेकिन सार्त्र इस नैतिकता को केवल वाङ्‌मय तक सीमित रखता है, वह प्लेटो की भाँति यह नहीं कहता कि संगीत में भी नैतिकता विद्यमान होती है। प्लेटो से सार्त्र का कहना अधिक सही प्रतीत होता है। खयाल नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा हो ही नहीं सकता। इसलिए खयाल का नैतिक मूल्यांकन हो नहीं सकता। जिन ध्वनि-रचनाओं में अर्थ को स्थान या महत्त्व नहीं है वे 'न-नैतिक (a-moral)' कही जाएँगी। हाँ, जिस संगीत में अर्थ को प्राधान्य है, जिसके भावनात्मक परिणाम हो सकते हैं, इस प्रकार के संगीत का नैतिक मूल्यांकन हो सकता है। गंभीर संगीत सस्ते किस्म के चालू संगीत की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अच्छा माना जाए तो स्वाभाविक है। नैतिकता

की दृष्टि से संगीत का मूल्यांकन एक अन्य दृष्टि से भी किया जा सकता है। जिसे तीन मिनट की रेकार्ड से अधिक कुछ भी नहीं चाहिए उनके व्यक्तित्त्व में ही कुछ दोष होते हैं। खयाल सुनने के लिए श्रम, अभ्यास, जीवट, कठिन बातों को झेलने एवं उनमें आनंद मनाने की शक्ति, इत्यादि गुण अपेक्षित हैं। तीन मिनट की रेकार्ड पर ही खुश होनेवाले व्यक्ति के पास इनमें से कुछ गुण नहीं होते। ऊपर उल्लेखित गुण मूल्यवान एवं भरपूर जीवन जीने के लिए आवश्यक होते हैं। हाँ, यह सही है कि उपरोक्त गुणों को व्यक्तित्व के मूल्यांकन में स्थान दिया भी जाता है तो भी उन्हें नैतिक गुण कहाँ तक माना जाएगा, यह प्रश्न ही है। सार्थक संगीत की बात ही अलग है, उसका मूल्यांकन करते समय जिन बातों का उल्लेख हम करते हैं। उन्हें नैतिक कहने के लिए संभवतः लोग तैयार होंगे। उदाहरण के लिए यह सब लोग मानेंगे कि सस्ता संगीत घटिया होता है। वाङ्मय में अर्थ का प्राधान्य होने के कारण उस में नैतिकता को बहुत ही महत्त्व दिया जाता है।

सार्त्र ने गद्य और काव्य में जो भेद किया है वह बहुत-सी कविताओं के संदर्भ में लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए तिलक की 'वनवासी फूल', केशवसुत की 'तुतारी', माधवराव पटवर्धन की 'सुधारक', अनिल की 'प्रेम आणि जीवन' ये सभी कविताएँ हैं, इतनाही नहीं उनमें नैतिकता को स्थान है। अतः सार्त्र का काव्य के संबंध में सिद्धांत स्वीकार्य नहीं है। गद्य वाङ्मय की तरह काव्य का भी नैतिक पहलू होता है।

हम जो कुछ करते हैं उसका नैतिक आयाम होता ही है। फिर नैतिकता का दायरा भी बहुत बड़ा है। हाँ, नैतिकता का स्पष्ट एहसास हमें होता ही है ऐसा नहीं। कुछ संदर्भों में ही यह भान होता है कि जीवन में नैतिक प्रश्न हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में नैतिकता को लेकर हम अधिक सजग रहते हैं। इसके संबंध में समाज का दृष्टिकोण संकीर्ण होता है। उनको धक्का पहुँचानेवाली कोई बात अनैतिक समझी जाती है। कला के क्षेत्र में कलाकृतियों की अनैतिकता को लेकर हमेशा विवाद होते रहते हैं। ऐसे ही विवाद कलाकृतियों की अश्लीलता के बारे में भी होते हैं। किसी नाटक के बारे में विवाद उत्पन्न हो जाए तो नाटककार और उसके चहेते कहते हैं कि "इस नाटक की ओर कलाकृति के रूप में देखिए। स्वस्थ दृष्टि से देखने पर इस नाटक में कुछ भी बुरा नहीं है।" लेकिन इससे एक गलतफहमी यह होती है कि कलाकृति की ओर 'न-नैतिक' दृष्टि से ही देखना चाहिए। लेकिन मनुष्य-जीवन का चित्रण करते समय, समाज की संकीर्ण नैतिक मान्यताओं पर आक्रमण करते समय, समाज-पुरुष की आँखों पर बँधी पट्टी दूर करते समय, संक्षेप में समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन करते समय भी इन नाटककारों को एवं उनके समर्थकों को अलौकिकतावाद की ढाल का प्रयोग करना पड़ता है, इस बात में वाङ्मय कला के स्वरूप के संबंध में एक बड़ी गलतफहमी

घर कर बैठी है। विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यशास्त्र का इतना बड़ा प्रभाव हमारे मन पर पड़ा है कि जो बात नैतिक क्षेत्र में सीधे आ जाती है। उसकी ओर भी 'न-नैतिक' दृष्टि से देखने के लिए हम कहते हैं। यह आत्मवंचना है और इसे रोकना जरूरी है। अश्लील एवं बीभत्स वाङ्‌मय अनेक बार समाज की रूढ़ नैतिक कल्पनाओं को चुनौती देता है। यह चुनौती नैतिक होती है, उसे न-नैतिकता का पुट देने से उसका जोर कम होगा और वाङ्‌मय के अच्छेपन के संबंध में हमारी धारणा विकृत होगी। जिसमें जीवनकार्य का आशय नहीं होता। ऐसा संगीत, चित्र, शिल्प 'न-नैतिक' अत: अलौकिक हो सकता है। लेकिन वाङ्‌मय किसी प्रकार से 'न-नैतिक' नहीं हो सकता। व्यापक अर्थ में वाङ्‌मय नैतिक ही होता है। उसका नैतिक होना उसका स्वभाव है। सभी कलाओं में एक ही समान सारतत्त्व होता है, इस भोली अवधारणा के लिए वाङ्‌मय के इस स्वभाव की बलि देना उचित नहीं।

एक बात कहना आवश्यक है। वाङ्‌मय में अनिवार्यत: नैतिकता होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि हर वाङ्‌मय-कृति कोई नैतिक प्रश्न हल करती ही है। कुछ वाङ्‌मय कृतियाँ विशिष्ट नैतिक समस्या का हल करती हैं (उदाहरण के लिए इब्सेन का डॉल्स हाउस नाटक), लेकिन कुछ वाङ्‌मय कृतियाँ नैतिक प्रश्नों को हल नहीं करतीं, वे केवल उन्हें प्रस्तुत करती हैं। उनके कारण हमें जीवन के कुछ प्रश्नों का प्रारंभ में ही एहसास होने लगता है, कभी नैतिक प्रश्नों का एहसास होता है, और ऐसा भी लगता है कि हमने नैतिक प्रश्नों को हल कर लिया है। ऐसे प्रसंगों में कलाकार हमारे एहसास को अधिक सघन करता है। वास्तविकता के अनदेखे पहलू को वह प्रस्तुत करता है, प्रश्नों को नई दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करता है। हमारी इस धारणा को कि हमने नैतिक प्रश्न हल कर लिए हैं, वह धक्का देता है। हम कहते हैं कि वाङ्‌मय जीवन के दर्शन कराता है। हमें यह ध्यान में रखना होगा कि इस दर्शन का नैतिक आयाम भी होता है।

एक और मुद्दा प्रस्तुत करना आवश्यक है। मार्क्सवाद तथा सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी मानते हैं कि मनुष्य का हर कृतित्व नैतिक होता है। उसके संबंधों में नैतिक सवाल उठाना आवश्यक होता है। जब समाज एवं व्यक्ति के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं तब हर मानवी कृतित्त्व में अनिवार्यत: नैतिक अर्थ उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, भूमिगत होकर नाजियों को मात देने की आकांक्षा रखनेवाले फ्रेंच सैनिकों के जीवन का हर क्षण नैतिक परीक्षण का क्षण था। लेकिन हमारे सब के जीवन का हर क्षण ऐसा नहीं होता। इसलिए कुछ क्षण हम 'न-नैतिक' मनोरंजन के लिए दे सकते हैं। इस विश्राम के काल में लिखा वाङ्‌मय -- उदाहरणार्थ वुड़हाउस का कथावाङ्‌मय 'न-नैतिक' ही कहा जाएगा। क्रोचे के व्यवहारात्मक अंग का विभाजन 'न-नैतिक' और 'नैतिक' उपयुक्त है। वुड़हाउस के उपन्यास, लॉरेल हार्डी के चित्रपट,

सर्कस के खेल आदि मनोरंजन के प्रकार 'न-नैतिक' हैं, क्योंकि ये बने ही विश्राम के लिए होते हैं। नैतिकता का आयाम इनमें नहीं होता। मार्क्सवादी इसपर यह कह सकते हैं कि जीवन के मुख्य प्रश्न पर से हमारा ध्यान विचलित करने के लिए ये बातें निर्मित हैं। वे 'न-नैतिक' नहीं हैं, अनैतिक-क्रांति विरोधी होती है। लेकिन यह अतिरेकपूर्ण विचार है। हम इतना निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कलाकृति जितनी गंभीर रूप में जीवन का सामना करने लगती है, उतना उसका नैतिक आयाम महत्त्वपूर्ण होता जाता है।

□□

अध्याय 10
कला एवं सत्य

10.1

कला की अवधारणा द्विध्रुवात्मक है और उसमें एक ध्रुव लौकिकतावाद एवं दूसरा विश्वचैतन्यवादियों का स्वायत्ततावाद है। विश्वचैतन्यवादियों की राय में यथार्थ के तीन मूल आयाम हैं, उनके लिए तीन अलग-अलग दृष्टिकोणों की अपेक्षा होती है, और उनमें से तीन अंतिम, स्वायत्त मूल्य फलित होते हैं। ज्ञान के कोण से अंतिम यथार्थ सत्य के रूप में प्रतीत होता है, इच्छा-शक्ति की दृष्टि से वह शिव के रूप में प्रतीत होता है। सौंदर्यानुभव और कलानुभव अलौकिक है, इसका अर्थ यह है कि ज्ञान एवं नीति के दृष्टिकोण इस अनुभव में त्याज्य होते हैं। इन दो क्षेत्रों की अवधारणाओं से कृति को देखा जाए तो ज्ञानप्राप्ति या शिवप्राप्ति हो सकती है, सौंदर्यप्राप्ति संभव नहीं।

इस दृष्टिकोण का विरोध करनेवाले सिद्धांत की मूलभूत मान्यता यह है कि कलाव्यवहार और ज्ञान-व्यवहार भिन्न स्तरों पर नहीं चलते। मनुष्य के लौकिक जीवन में जो बातें होती हैं, वे सौंदर्यानुभव में विशेष सुगठित और तीव्र रूप में होती हैं। सौंदर्यानुभव एवं अन्य अनुभव में जाति का अंतर नहीं है, संख्यात्मक अंतर है। अलौकिकतावाद और लौकिकतावाद के संघर्ष को तब विशेष तीव्रता प्राप्त होती है जब नैतिक प्रश्नों की चर्चा की जाती है। आशययुक्त कलाकृतियों के बारे में हम दो पक्ष ले सकते हैं। या तो हम तटस्थ अवलोकन की भूमिका ग्रहण करते हैं अथवा लौकिक जीवन में नीतिप्रधान भूमिका ग्रहण करते हैं। प्रश्न यह है कि ये दोनों भूमिकाएँ कहाँ तक समीचीन हैं। विश्वचैतन्यवादी चिंतक लौकिक भूमिका को अयोग्य ठहराते हैं। उसपर उनके विरोधक यह दिखा सकते हैं कि बहुत बार हम लौकिक जीवन की अवधारणाओं का उपयोग सौंदर्य एवं कलामूल्य के निकष के रूप में करते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि "क" सुंदर है क्योंकि उसके चेहरे पर सौम्यता एवं प्रसन्नता है, उसका स्मित निष्पाप है। या "क" स्त्री सुंदर है, क्योंकि उसके नाक-नक्शे ठीक हैं। लेकिन उसके सौंदर्य में एक त्रुटि है -- उसके चेहरे पर उग्रता है। प्रसन्नता, निष्पापता, उग्रता आदि लौकिक जीवन की अवधारणाएँ हैं और सौंदर्य के निकष के रूप में प्रयुक्त की गई हैं। इतना तो निश्चित है कि सौंदर्य के संदर्भ में उनका विचार अप्रासंगिक नहीं समझा जाता। उदाहरण के लिए लक्ष्मीबाई टिलक के "स्मृतिचित्र"

हैं। इसमें दीखनेवाली खानदानी प्रसन्नता, निर्भीक सत्यप्रियता, निष्पाप हास्य-दृष्टि एवं भावनात्मक समृद्धता के कारण यह रचना महान मानी जा सकती है। भावुक साने गुरुजी का वाङ्‌मय अति भावुकता के कारण बहुत ऊँचे दर्जे का नहीं माना जाता। होमिंग्वे में जो दृढ़ता परिलक्षित होती है उसके कारण उसका कलामूल्य निश्चित बढ़ गया है। उपर्युक्त वाङ्‌मय में लौकिक जीवन की अवधारणाएँ वाङ्‌मयीन सौंदर्य एवं महानता का निकष मान ली गई हैं। इनका हमारे नीतिमूल्यों से निकट का संबध है। नीति का अधिक व्यापक अर्थ लेने पर यह कहा जा सकता है कि ये अवधारणाएँ नैतिक संसार की ही हैं।

इसपर स्वायत्ततावादी यह कह सकते हैं कि यह हम स्वीकार करते हैं कि "स्मृतिचित्र" में प्रसन्नता इत्यादि हैं, लेकिन जब वाङ्‌मय की ओर कलादृष्टि से देखा जाएगा तब इस प्रसन्नता का कोई महत्त्व नहीं। वाङ्‌मयीन महत्ता का विचार करते समय इस प्रसन्नता को महत्त्व दिया जा सकता है। केवल कलादृष्टि से विचार करते समय प्रसन्नता या समृद्धता इत्यादि बातें अप्रासंगिक ही मानी जाएँगी। इसमें एक बौद्धिक चालाकी है। जब स्वायत्ततावादी जीवनवादी से कहता है कि वाङ्‌मय की ओर कलादृष्टि से देखना चाहिए तब वह मानो यह सूचित करना चाहता है कि जीवनवादी ऐसा नहीं करता, इसका मतलब यह है कि स्वायत्ततावादी ही कला की ओर कला की दृष्टि से देखता है तथा कला को कला के रूप में देखना स्वायत्ततावाद को स्वीकार करना है। यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि जीवनवादी भी वाङ्‌मय की ओर कला के रूप में ही देखता है। यह सही है कि वह लौकिक जीवन की अवधारणाएँ प्रयुक्त करता है। लेकिन कलाकृति का कलाकृति के रूप में मूल्यांकन करने के लिए ही इन अवधारणाओं को वह काम में लाता है। यह क्यों माना जाता है कि इन अवधारणाओं के उपयोग करने पर कलाकृति की ओर कला के रूप में देखा ही नहीं जा सकता? इसके पीछे एक प्रच्छन्न आग्रह यह है कि कला-व्यवहार के लिए अपनी खास अवधारणाएँ ही आवश्यक हैं, लौकिक अवधारणाएँ वर्जित हैं। यह आग्रह स्वायत्ततावादियों ने एक स्वयंसिद्ध तत्त्व के रूप में भले ही स्वीकारा हो, जीवनवादी उसे क्यों स्वीकारेंगे? दूसरी बात यह कि वाङ्‌मयीन सौंदर्य और वाङ्‌मयीन महत्ता में कोटिभेद होता है, यह विचार सभी संदर्भों में युक्तियुक्त नहीं लगता। कुछ संदर्भों में उनका भेद संख्यात्मक ही होता है। खंडित आशय पर कलाकृति सुगठित हो सकती है, लेकिन आशय की व्याप्ति बढ़ने पर एवं उसमें व्यामिश्रता आने पर आशय में भव्यता एवं महात्मता उत्पन्न होती है। यह अंतर मुख्यत: संख्यात्मक ही है। व्यमिश्रता और सामर्थ्य महानता के निकष हैं। लेकिन सुंदर और महान दोनों प्रकार की रचनाओं में आशय होने के कारण आशय के कुछ निकष (उदाहरणार्थ, संभवनीयता) दोनों संदर्भों में समान ही होंगे। इससे इतना ही स्पष्ट हो ही जाता है

कि वाङ्.मय का सौंदर्य एवं उत्कृष्टता और वाङ्.मय की महानता में जो अंतर होता है वह सभी मामलों में गुणात्मक नहीं होता।

इसपर स्वायत्ततावादी अपना अंतिम शस्त्र निकालते हैं। उनकी युक्ति यह है कि अगर कला-व्यापार तक सीमित विशिष्ट अवधारणाएँ नहीं होंगी। तो कला-व्यापार का व्यवच्छेदक लक्षण नहीं उपलब्ध होगा। लेकिन इस व्यवच्छेदक लक्षण के लट्ठ से डरने का कोई कारण नहीं। तीसरे प्रकरण में हमने देखा कि कला, वाङ्.मय, सौंदर्य इत्यादि अवधारणाएँ आम्ल, ग्रह, इलेक्ट्रान इत्यादि अवधारणाओं जैसी नहीं हैं कि उनका व्यवच्छेदक लक्षण निर्दिष्ट किया जा सके। जो लोग वाङ्.मय के व्यवच्छेदक लक्षण के रूप में किसी विशिष्ट गुण का निर्देश करते हैं वे सिर्फ आग्रही या अनुनय करनेवाले निकष या परिभाषाएँ देते हैं। क्योंकि वाङ्.मय - अवधारणा उने तमाम बातों का निर्देश करते हैं जो कुल साम्य के नाते एकत्र आती हैं। अत: वाङ्.मय जैसी अवधारणा के बारे में अनेक निकषों का व्यवहार करना पड़ता है। इस अवधारणा की तार्किक जाति को अगर हम देखें तो वाङ्.मय का एक ही एक व्यवच्छेदक लक्षण मानना एकतत्त्वतर्काभास है और वाङ्.मय के आशय की अवहेलना भी हो सकती है। वाङ्.मयीन आशय और अन्य जीवनविषयक आशय में भेद दिखाना जरूरी है, लेकिन आवश्यक नहीं कि वह गुणात्मक ही हो। जैसा कि रिचर्ड्स ने कहा है, वह संख्यात्मक भी हो सकता है। कभी वाङ्.मय और वाङ्.मयेतर बातें एक ही कार्य करती हैं और उनमें जो अंतर उत्पन्न होता है वह इसपर निर्भर है कि वे यह कार्य किस प्रकार करती हैं। हाँ इसके बाद भी कुछ ऐसी कृतियाँ शेष रह सकती हैं कि जिन्हें वाङ्.मय कहा जाए या नहीं यह भ्रम पैदा हो सकता है। इसलिए वाङ्.मय के केवल गुणात्मक निकष के पीछे दौड़ना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना है।

10.2

स्वायत्ततावाद को छेद देनेवाले एक और सिद्धांत का इस प्रकरण में विचार करना है। जिस प्रकार कला के नैतिक परिणामों का सिद्धांत हम जाने-अनजाने स्वीकार करते हैं उसी प्रकार कला को जीवनदर्शन करना चाहिए, इस सिद्धांत को भी हम स्वीकारते हैं। हम कहते हैं। "हरिभाऊ ने 'पण लक्षात कोण घेतो?' उपन्यास में विधवाओं की दारुण परिस्थिति पर विदारक प्रकाश डाला है।" "गंगाधर गाड़गील की कथाओं में सड़ियल मध्यवर्ग की संस्कृति का भेदक चित्रण किया हुआ दिखता है।" "'वासूनाका' पढ़कर सफेदपोश लोगों को अपरिचित समाज के एक स्तर का परिचय होता है।" "'कोसला' पढ़कर आज की युवा पीढ़ी का मन हमारी समझ में आता है।" "आस्तितत्त्ववादियों का लेखन पढ़ने पर मानव के अकेलेपन की एवं जीवन की अर्थशून्यता की प्रतीति होती है"। इन वाक्यों को ध्यान से पढ़ने पर यह पता त्वरित लग जाता है कि हम यह मानते हैं कि कलाकृतियों में जीवन विषयक जो ज्ञान प्राप्त

होता है उसका और कलाकृतियों के मूल्य का निकट का संबंध है। अर्थात् सत्य के दर्शन को भी हम कलामूल्य का निकष मानते हैं। अगर किसी रचना में जीवन के संबंध में कुछ नया नहीं भी मिला अथवा जीवन का गंभीर भान न भी हो सका, तो भी हमारी इतनी अपेक्षा अवश्य रहती है कि उसमें कम-से-कम ऐसा कुछ भी न हो जो बुद्धि को न जँचे। किस कलाकृति से जीवन-दर्शन की अपेक्षा रखनी चाहिए। इसका विवेक भी हम करते हैं। "अरेबिअन नाइटस" से यह अपेक्षा हम नहीं करते। लेकिन "कोसला" से हमारी यह अपेक्षा कि वह जीवन दर्शन कराए, निश्चित ही होती है। इसके पूर्व कि हम इन प्रश्नों पर विचार करें कि "क्या कला ज्ञान देती है?" और "कला में सत्य का स्वरूप क्या होता है?" हम एक संबद्ध अन्य प्रश्न का विचार करें।

कला की ज्ञानात्मकता के संबंध में विचार करते समय 'ज्ञान का कारण होना' और 'ज्ञान देना', इनके बीच के भेद को ध्यान में रखना होगा। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। फ्रायड़ अपने रोगियों को मुक्त कल्पना-साहचर्य (free association of ideas) के सहारे उनके बचपन में ले जाया करता था और वहाँ भावजीवन की गाँठें सुलझाकर उन्हें रोगमुक्त करता था। कई बार रोगी बताया करते थे कि बचपन में उनपर किस प्रकार यौन-अत्याचार किए गए। उनकी जाँच करते समय फ्रायड़ को लगा कि इनमें से बहुत सारे प्रसंग कल्पना से रचे गए हैं, वे असल में घटित नहीं हैं। इससे फ्राइड़ को मानसिक प्रक्रियाओं के संबंध में नई जानकारी मिली। प्रश्न यह है कि इस खोज में रोगियों द्वारा बताई गई। यादगारों का क्या स्थान है? इन यादगारों से जानकारी रोगियों द्वारा दी गई। रुग्ण नए ज्ञान के "निमित्त" अवश्य हो गए लेकिन निर्माता नहीं। रोगियों द्वारा दी गई जानकारी पूर्व-प्रचलित सिद्धांत में शामिल नहीं होती। अत: नए सिद्धांत की सूझ का वह कारण बन सकती है, नए सिद्धांत का प्रमाण बन सकती है। लेकिन इस जानकारी पर आधारित फ्रायड़ का निर्माण किया हुआ सिद्धांत नया ज्ञान देता है। कभी हम कहते हैं कि ख्वाबी मन का स्वरूप "क" उपन्यास के कारण समझा जा सकता है। वस्तुत: इस समय हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ख्वाबी मन के संबंध में हमें जो सिद्धांत सूझ जाते हैं, उनके प्रमाण के रूप में इस उपन्यास का बहुत उपयोग होगा। यह कहते समय कि मार्क्विस द साद की "ज्यूस्तिन" रचना से परपीड़न की विकृति से युक्त व्यक्ति का मन हमें मालूम होता है। हम दो भिन्न बातें बताना चाहते हैं: (1) इस विकृति के संबंध में लेखक ने नई सैद्धांतिक जानकारी दी है, और (2) यह उपन्यास-रचना उपर्युक्त विकृति की एक अभिव्यंजना या लक्षण ठहरती है। ये दोनों अर्थ भिन्न हैं। हमारी दृष्टि से इस में से सिर्फ पहला अर्थ महत्त्वपूर्ण है। कोई उपन्यास जीवन की समझ की वृद्धि करता है ऐसा दावा करते समय हमारे मन में वही अर्थ होना चाहिए। हमारे सामने प्रश्न है "क्या कलाकृतियाँ ज्ञान देती हैं?" यह नहीं कि ज्ञान का वे प्रमाण या निमित्त

हैं या नहीं।

यहाँ एक तात्त्विक समस्या की संक्षेप में चर्चा करनी है। हमें ज्ञान होता है, इसका मतलब क्या है? वस्तुस्थिति का स्वरूप समझना ज्ञान होना माना जा सकता है। "सामने हरा पेड़ है" यह वाक्य विशिष्ट बात की जानकारी देता है। सामनेवाला पेड़ सचमुच हरा होगा तो हमारा वाक्य सत्य माना जाएगा और प्रस्तुत वस्तुस्थिति का स्वरूप समझना ही उसका ज्ञान होना है। यह उदाहरण विशिष्ट वस्तु का है। उसका विश्लेषण करने पर ध्यान में आएगा कि इसमें सामान्य का, अवधारणा का ज्ञान अनुस्यूत है। "पेड़" और "हरा" दो शब्दों से सामान्यों का निर्देश होता है। इन दो सामान्यों का हमें ज्ञान होता है, इसीलिए हम यह वाक्य कह सके कि "सामने का पेड़ हरा है"। इस तरह के संवाक्य हम अनेक वस्तुओं के संबंध में बनाते रहते हैं। इसके अलावा, विशिष्ट घटनाओं का स्पष्टीकरण देनेवाली स्थापनाएँ भी हम करते रहते हैं। विशिष्ट घटना का किसी सामान्य नियम के साथ संबंध प्रस्थापित हो जाने पर हम मानते हैं कि स्पष्टीकरण मिल गया। पहले प्रकरण में हमने इस प्रश्न की चर्चा की थी कि "समुद्र सपाटी से बहुत ऊँची जगह पर आलू जल्दी क्यों नहीं उबलते?" ऊँचे स्थान पर वातावरण की हवा का दबाव कम होने के कारण उत्कलन-बिंदु बहुत नीचे होता है। अत: उष्णता कम होने पर भी पानी उबलता है, लेकिन उतनी उष्णता आलू उबलने के लिए पर्याप्त नहीं होती। वातावरण में हवा का दबाव और उत्कलन-बिंदु के संबंध के सामान्य नियम की सहायता से "ऊँचे स्थान पर आलू क्यों नहीं उबलते?" इस प्रश्न को हम हल कर सके। हमारे मन में सामान्य नियमों का ज्ञान न होता तो यह प्रश्न हल न होता। नियम होते हैं, इसीलिए विशिष्ट घटनाओं का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है और यह भी समझ में आता है कि वे वैसी क्यों हैं। पूर्णत: बिखरी घटनाएँ अनाकलनीय होती हैं। उनको जब विशिष्ट नियमों के आधार पर अन्य घटनाओं से जोड़ा जाता है तब उनका अर्थ प्रतीत होता है।[1] वैज्ञानिक विशिष्ट घटनाओं में इसलिए रस नहीं लेते कि वे विशिष्ट हैं। उनका ध्यान सामान्य नियमों को खोजने की ओर रहता है, क्योंकि इन नियमों के कारण ही विशिष्ट घटनाओं के अर्थ समझ में आ जाते हैं। दुनिया में वस्तुओं का ज्ञान जो हमें होता है वह या तो हमारी जन्मजात बुद्धि से या वैज्ञानिक नियमों के बल पर।

कलाकार जीवन का अर्थ लगाता है और उसके कारण अन्यथा अनाकलनीय लगनेवाला जीवन हमें ज्ञात होने लगता है। कलाकार ज्ञान देता है याने वास्तविकता के संबंध में वह सामान्य नियम बताता है अथवा किसी विशिष्ट घटना का सामान्य नियम के साथ संबंध प्रस्थापित करता है। यह दावा कहाँ तक टिकनेवाला है? कुछ लोगों की राय में यह टिकनेवाला नहीं है। उनकी राय में काव्य इत्यादि कलाएँ ज्ञान नहीं देतीं। वे ज्ञान दे ही नहीं सकतीं। कलाओं द्वारा ज्ञान दिया जाना तार्किक दृष्टि से असंभव

है। कलाओं का स्वभाव धर्म ही है कि ज्ञान से उनकी कभी मैत्री नहीं होने वाली है। इस मत के तीन समर्थकों के सिद्धांत की हम चर्चा करेंगे।

10.3

अब हम पहले प्लेटो की मान्यता का विचार करेंगे। प्लेटो ने कला पर तीन दृष्टिकोणों से आक्षेप उठाए हैं। (1) नैतिक दृष्टिकोण (2) ज्ञानशास्त्रीय दृष्टिकोण और (3) सत्ताशास्त्रीय दृष्टिकोण। पहले दृष्टिकोण से उठाए आक्षेपों का विचार पिछले प्रकरण में हम कर चुके हैं। वहाँ हमने यह देखा कि प्लेटो की राय में अधिकांश काव्य नीतिपोषक नहीं होते, लेकिन प्लेटो यह नहीं कहता कि काव्य नीतिपोषक हो ही नहीं सकते। कुछ नीतिपोषक का उल्लेख भी उसने किया है। मतलब यह है कि काव्य और नीति-पोषण में वह तार्किक विरोध नहीं देखता। ज्ञानशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्लेटो ने कला पर जो आक्षेप किए हैं उनकी कोटि नैतिक दृष्टि से उठाए गए आक्षेपों की अपेक्षा अलग है। उसका कहना यह है कि कला ज्ञान नहीं देती और परिस्थिति के बदलने के बावजूद जब तक कला, कला के रूप में है, तब तक उससे ज्ञान मिलना असंभव है। उपरिनिर्दिष्ट दूसरा और तीसरा दृष्टिकोण एक दूसरे में गूँथे गए हैं। अत: ज्ञान शास्त्रीय आक्षेपों के संदर्भ में ही प्लेटो के सत्ताशास्त्रीय आक्षेप का भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान किसको कहा जाए, यह ज्ञान विषय के सत्ताशास्त्रीय स्थान पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। अब यही देखना है।

नित्य के व्यवहार में वस्तुएँ कैसी हैं और वे कैसी दीखती हैं, इसमें हमें सतत भेद करना पड़ता है। पृथ्वी स्थिर दिखती है, परंतु वह सतत भ्रमण करती रहती है। किसी वस्तु को देखने पर उसके विभिन्न भाग संलग्न दिखते हैं, लेकिन वैसे होते ही हैं, ऐसा नहीं। कोई स्वार्थी व्यक्ति औरों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील दिखता है, परंतु यह भी हो सकता है कि वस्तुत: वह उनके प्रति लापर्वाह हो। दिखना और होना -- इसमें अगर भेद नहीं किया जाए तो अपने अनुभव परस्पर को छेद देनेवाले सिद्ध हो सकते हैं। यह अनुभव कि पृथ्वी स्थिर है, और यह अनुभव कि वह स्थिर नहीं है दोनों अनुभव एक ही स्तर के माने जाएँ तो दिखाई देगा कि वे एक दूसरे को काँट रहे हैं, फिर इस अनुभव से कुछ भी ज्ञान निष्पन्न नहीं होगा। अगर अपने अनुभवों में एकता होती, तो हमने इन सब को यथार्थ ही मान लिया होता। लेकिन ऐसा नहीं होता। यही कारण है कि कुछ अनुभवों को हम यथार्थ मानते हैं और कुछ अनुभवों को आभासात्मक। इसी विवेक से शास्त्र का निर्माण होता है।[2] उसी प्रकार अपने अनुभवों के बारे में भी हम कोटियाँ निश्चित करते हैं। उदाहरण के लिए यथार्थ गाय और स्वप्न में दिखने वाली गाय, दोनों को हम एक स्तर पर नहीं मानते। वास्तविक गाय को स्वप्न में दिखी गाय से हम ऊँचा स्थान देते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह ध्यान में आएगा कि ज्ञान के संदर्भ में हमें दो सोपान-परंपराओं का विचार करना पड़ता

है। एक अनुभवों की और दूसरी अनुभव-विषयों की। ये दोनों सोपान-परंपराएँ परस्पर संबद्ध हैं।

अपने चारों ओर अनेक इंद्रियगोचर वस्तुएँ हैं। ये वस्तुएँ नित्य बदलनेवाली एवं अशाश्वत होती हैं। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है कि इनकें अनेकत्व एवं अशाश्वता के पीछे कोई स्थिर व्यवस्था एवं एकसूत्रता है अथवा नहीं। हमारी बुद्धि की यह धारणा होती है कि ऐसी कुछ व्यवस्था होगी। फिर सृष्टि के अवलोकन पर यह प्रतीत होता है कि इन अनेकविध विशेषों के पीछे एकसूत्रता होगी। गायें अनेक हैं, उनमें कुछ भिन्नता हो भी तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में समानता भी है। ये समान गुणविशेष "गोत्व" नाम से पहचाने जाते हैं। यह 'गोत्व' जिस प्रेरणा में होता है उसे गाय कहा जाता है, यह 'गोत्व' निकाल देने पर वह प्राणी गाय नहीं रहता, दूसरे शब्दों में गाय, गाय होगी। क्योंकि उसके 'गोत्व' होता है। जिसको गाय के वर्ग में गिना जाता होगा तो उसमें 'गोत्व' आवश्यक है। अर्थात् गाय का गाय के रूप में अस्तित्व 'गोत्व' पर निर्भर रहता है। गाय के अस्तित्व का मूल स्रोत 'गोत्व' है। उसे विशिष्ट गाय के रूप में जो सत्ताशास्त्रीय स्थान है वह 'गोत्व' पर निर्भर है। मतलब यह हुआ कि विशिष्ट गाय की अपेक्षा 'गोत्व' की सत्ताशास्त्रीय सीढ़ी ऊपर है। अब मान लीजिए, हमने गाय का एक चित्र बनाया। इस चित्र में एवं प्रत्यक्ष गाय में कुछ बातों में समानता परिलक्षित होगी -- रंग, आकार, इत्यादि। लेकिन ये बातें महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सभी महत्त्वपूर्ण बातों में गाय और उसके चित्र में बड़ा भेद होता है। उदाहरण के लिए चित्र में अंकित गाय दूध नही देती। अत: चित्रांकित गाय का सत्ताशास्त्रीय स्थान बहुत ही नीचे होता है। इस तरह एक सत्ताशास्त्रीय सीढ़ी की कल्पना हम कर सकते हैं। उसके बिलकुल ऊपर की सीढ़ी पर 'गोत्व' होगा। उसके नीचे प्रत्यक्ष गायें और सबसे नीचे गायों के चित्र होंगे।[3] गोत्वादि सत्त्वों को समाहित कर लेनेवाला एक 'आदि सत्त्व' अस्तित्व में है, यह प्लेटो ने "रिपब्लिक" में कहा है। यह आदिसत्त्व ही शिवसत्त्व है।[4] कुल वास्तव की सोपान-परंपरा इस प्रकार दिखाई जा सकती है। सबसे ऊपर शिवसत्त्व, उसके नीचे अन्यसत्त्व, उसके नीचे अपने चारों ओर की अशाश्वत और परिवर्तित होनेवाली वस्तुएँ और सबसे ऊपर वह ज्ञान जिनका विषय शिव का सत्त्व है (प्लेटो इसी को "डायलेक्टिक" कहता है)। उसके नीचे सत्त्वों का ज्ञान प्रदान करनेवाले गणितादि शास्त्र, उसके नीचे अशाश्वत विश्व की वस्तुओं की हमारी जानकारी, समझ, धारणा या हमारी उनके संबध में मान्यताएँ और सबसे नीचे बिंब, प्रतिकृति का अनुभव। इस सोपान-परंपरा के साथ प्लेटो ने चित्-शक्ति की भी सोपान-परंपरा कल्पित की है।[5] सत्त्वों का विश्व इंद्रियगोचर न होकर बुद्धिगम्य होता है। जो बौद्धिकता के स्तर पर कार्य करते हैं, उन्हीं को सत्त्वों को ज्ञान अर्थात् सत्यज्ञान होता है। जो ऐंद्रियता के स्तर पर रहते

हैं, उन्हें सत्यज्ञान हो ही नहीं सकता।

अब प्लेटो का प्रश्न यह है कि कवि, चित्रकार इत्यादि कलाकार किस स्तर पर क्या कार्य करते हैं? अगर वे बौद्धिकता के स्तर पर कार्य करते होंगे तो उनको सत्त्वों का आकलन होगा और तभी उन्हें सच्चे अर्थ में ज्ञानी कहा जा सकता है। अगर वे ज्ञानी होंगे तभी उनसे ज्ञान की अपेक्षा करना समीचीन होगा। होमर इत्यादि कवि ज्ञानी हैं, यह उनके भक्तों का दावा होने के कारण इस प्रश्न का महत्त्व है।

प्लेटो ने यह प्रश्न कि "कलाकार के पास ज्ञान है अथवा नहीं?" इस प्रश्न से जोड़ दिया है कि "कलाकार जो निर्माण करता है उसका सत्ताशास्त्रीय स्थान क्या है?" सत्ताशास्त्रीय प्रश्न के संदर्भ में उसने पलंग का उदाहरण लिया है। पलंग का सत्त्व सर्वाधिक ऊँचे स्तर पर होता है, उसके नीचे पलंग की अवधारणा के अनुसार बढ़ई द्वारा बनाए गए पलंग होते हैं, और सबसे नीचे चित्रकार द्वारा बनाई गई पलंग की प्रतिकृति होती है। अर्थात् चित्रकार की प्रतिकृति मूल सत्त्व से भी दो दो सीढ़ियाँ नीचे होती है। यह तृतीय श्रेणी की निर्मिति है।[6]

प्लेटो के अनुसार चित्रकार बढ़ई के द्वारा निर्मित पलंग की प्रतिकृति बनाता है। फिर बढ़ई का पलंग जैसा है वैसा वह चित्र में नहीं दिखाता। किसी स्थान पर खड़े होने पर वह पलंग जैसा दिखेगा वैसा वह दिखाता है।[7] चित्रकार किसी भी वस्तु के किसी विशेष अंग का ही चित्रण कर सकता है। इस प्रकार का आभास वह उत्पन्न करता है कि जिन-जिन बातों का वह चित्रण करता है, उनके रूपों को उसने अच्छी तरह समझा है। और उसके कारण छोटे बच्चे एवं भोले व्यक्ति धोखा खा जाते हैं। उन्हें यह लगता है कि हम प्रतिकृति नहीं देख रहे हैं, मूल वस्तु ही देख रहे हैं।[8] लेकिन समझदार व्यक्ति जानता है कि यह आभास है।

कलाकार द्वारा रचित वस्तुएँ सत्ताशास्त्र की दृष्टि से तीसरे दर्जे की हैं अथवा दूसरे, यह तय करने के लिए प्लेटो ने निम्नलिखित प्रश्न पूछे हैं : कवि क्वचित् वैद्यकशास्त्र के संबंध में लिखता है। इसे वैद्यकशास्त्र का अगर ज्ञान होता तो उसने रोगियों को ठीक किया होता अथवा शास्त्र में एकाध परंपरा का निर्माण किया होता। क्या किसी कवि ने इनमें से कोई बात की है? लेकिन कवि वैद्यकशास्त्र के संबंध में शायद ही कभी लिखता है अतः उससे यह प्रश्न पूछने में विशेष अर्थ नहीं है। लेकिन युद्ध के दाँवपेंच, राजनीति, शिक्षा इत्यादि विषयों को कवियों ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अतः यह सवाल पूछना आवश्यक है कि क्या कवियों को इसका ज्ञान होना सचमुच आवश्यक है? यह कहा जा सकता है कि उनके कारण किसी राजा का कार्य अधिक अच्छे ढंग से चल रहा है। अगर उन्हें युद्ध-तंत्र का ज्ञान है तो उनके नेतृत्त्व में एकाध युद्ध लड़ा गया है या नहीं, यह प्रश्न भी प्रस्तुत किया जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र में होमर का कर्तृत्व अगर विशेष उल्लेखनीय नहीं है तो यह पूछना चाहिए कि

क्या उसने निजी जीवन में कुछ उल्लेखनीय कार्य किया है? पायथागोरस ने अपनी खास जीवन-प्रणाली निर्मित की थी और उसने एक परंपरा भी प्रवाहित की, क्या होमर कुछ ऐसा कर सका? होमर ज्ञानी है और उसके मार्गदर्शन से लाभ हो सकता है, ऐसा अगर लोगों को लगा होता तो लोगों ने उसका सम्मान किया होता, उसको गुरु माना होता। केवल गीत गानेवाला गायक उसे नहीं कहा होता। होमर जैसे कवि बड़े लोगों की प्रशस्तियाँ गाते हैं। जीवन की महानता का रहस्य अगर उन्हें ज्ञात होता तो क्या वे स्वयं महान न बनते? जो स्वयं प्रशस्ति का विषय बन सकता है वह क्या दूसरों की प्रशंसा के गीत गाता रहेगा?'[9] प्लेटो के उपर्युक्त विवेचन से एक ही निष्कर्ष निकलता है। चूँकि कलाकार केवल अनुकृति ही करते हैं और सत्य घटनाओं का निर्माण नहीं कर सकते, उनके पास प्रस्तुत बातों का ज्ञान नहीं होता। प्लेटो ने ज्ञान के होने और कुछ निर्माण करने की क्षमता होने में निकट का संबंध स्वीकार किया है। उसने ज्ञान के जो उदाहरण दिए हैं उनमें "ज्ञान के होने में" विशिष्ट कौशलों को आत्मसात् करने की बात भी अनुस्यूत है। "मुझे तैरने का ज्ञान है" में यह भी अंतर्ग्रथित है कि "पानी में पड़ने पर मैं डुबूँगा नहीं, मैं तैर सकता हूँ।" उसी तरह इस ज्ञान में कि "मुझे युद्धनीति का ज्ञान है", यह भी अनुस्यूत है कि "युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए जो कौशल अपेक्षित होते हैं वे मेरे पास हैं और इसलिए मैं युद्ध जीत सकता हूँ" हाँ, हर संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि "ज्ञान का होना" = "विवक्षित कौशलों को आत्मसात् किए रहना।" लेकिन प्लेटो के दिए उदाहरणों में यह प्रतीत होता है कि ज्ञान का होना और विवक्षित कौशलों को प्राप्त किए रहने में निकट का संबंध है। होमर ने अगर कहा होता "मुझे तैरने का ज्ञान है", तो प्लेटो ने उसे चुनौती दी होती! "सामने नदी है, तैरकर दिखाओ।" इसी प्रकार की चुनौती उसने कलाकारों को दी है। जो कौशल अपने पास होने का दावा ये करते हैं, उनका प्रात्यक्षिक वह चाहता है। यह चुनौती मिलने पर भी कि "तैरकर दिखाओ" उसका केवल शाब्दिक वर्णन ही करता है, उसे तैरना नहीं आता। उसी तरह प्लेटो का निष्कर्ष है कि किसी कवि ने किसी भी कौशल का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिखाया; अत: उसने उसे आत्मसात् ही नहीं किया।

प्लेटो की राय में कलाकार प्रतिकृति और बिंब के स्तर पर स्थित रहता है। उसका निष्कर्ष यह है कि उसके पास सत्य-ज्ञान नहीं होता। ज्ञान स्वयं के पास न होने से औरों की सहायता से मनुष्य वस्तुओं का निर्माण कर सकता है। यह दिखाने के लिए प्लेटो ने नित्य के व्यवहार में प्रयुक्त वस्तुओं का उदाहरण दिया है। जो बाँसुरी बजाता है वह जानता है कि बाँसुरी कैसी होनी चाहिए। बाँसुरी का निर्माण करनेवाले के पास वह ज्ञान नहीं होता। लेकिन वह बाँसुरी बजानेवाले की सहायता से बाँसुरी बना देता है। *बाँसुरी बजानेवाले के पास ज्ञान नहीं होता, उसके पास केवल जानकारी के होने*

पर भी वस्तुओं का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन केवल प्रतिकृति बनाने वाले के पास ज्ञान भी नहीं होता, जानकारी भी नहीं, क्योंकि उसे इन की जरूरत ही नहीं होती।[10]

प्लेटो की राय है कि ज्ञान की दृष्टि से चित्रकार बिल्कुल नीचे के, दृष्टिभ्रम के स्तर पर होता है। चीजें जैसी होती हैं वैसी वह नहीं दिखाता, वे जैसी दिखती हैं वैसी वह दिखाता है और केवल दिखने पर निर्भर रहा जाए तो बहुत गड़बड़ हो सकता है, क्योंकि एक ही लकड़ी पानी में डुबो दी जाए तो वक्र दिखती है और पानी के बाहर सीधी; दूर होगी तो छोटी और पास होने पर बड़ी, इस गड़बड़ से बाहर पड़ने का रास्ता है गणित की सहायता से नापजोख करना। लेकिन चित्रकार गणितादि शास्त्रों की सहायता नहीं लेता। अगर वह सहायता लेगा तो चित्र के द्वारा दृष्टिभ्रम पैदा नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह कि चित्रकार ज्ञान की ठीक विरोधी दिशा में मुँह कर खड़ा होता है, और अपने को भी वह ज्ञान से परावृत्त करता है, ऐसी भी बातें करता है जो उसकी बौद्धिकता के लिए घातक हैं।[11]

प्लेटो के विवेचन के निष्कर्ष इस प्रकार हैं: कलाकार जो रचता है वह सत्ताशास्त्रीय दृष्टि से तीसरे स्तर पर होता है। वह सत्ताशास्त्रीय दृष्टि से दूसरे स्तर पर होनेवाली चीजें नहीं बना सकता, क्योंकि उसके लिए आवश्यक ज्ञान एवं जानकारी उसके पास नहीं होती। अगर वह होती तो उसने तीसरे स्तर पर रहनेवाली चीजें बनाने में समय न गँवाया होता। आदमी के पास ज्ञान होने से केवल कलाकार बना रहना उसको संतोष नहीं देगा। चूँकि वह कलाकार होने में संतोष करता है और उसके पास होने का दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। अत: उसके पास ज्ञान नहीं होता। ज्ञान और कला दोनों चीजें परस्पर व्यतिरेकी हैं। कलाकार को ज्ञानी होना है तो उसे बिंब के स्तर को त्याग देना चाहिए अर्थात् कला-विश्व को उसे छोड़ना चाहिए, परंतु कलाओं का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि उन्हें बिंबों और संवेदनाओं के क्षेत्र में ही रहना पड़ता है और इस क्षेत्र में रहने पर ज्ञान नहीं प्राप्त होता क्योंकि अंतिम सत्य इंद्रियगोचर न होकर बुद्धिगम्य होता है, वह इंद्रियगोचर क्षेत्र में आ ही नहीं सकता। कला को ज्ञान चाहिए तो उसे इंद्रियगोचरता को त्यागना पड़ेगा और इंद्रियगोचरता को त्यागने से कला, कला नहीं रह पाती। इसलिए कला के द्वारा ज्ञान प्राप्ति तर्कत: असंभव है। कला और सत्य में स्वभावत: विरोध है। कला सत्य का ज्ञान नहीं कराती, तर्कत: सत्यज्ञान कराना कला के लिए *असंभव* बात है।

10.4

कला ज्ञान नहीं देती, न दे सकती है -- रिचर्ड्स ने भी प्लेटो की भाँति यह मत आग्रहपूर्वक प्रतिपादित किया है। इस मत की पुष्टि के लिए उसने एक ज्ञानशास्त्रीय और एक भाषाशास्त्रीय, दो सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं। हम उनका थोड़े में परिचय प्राप्त

कर लें।

रिचर्ड्स के ज्ञानशास्त्रीय सिद्धांत के आकलन के लिए उसके "मन" संबंधी विवेचन को समझ लेना आवश्यक है। उसने मन और देह (मज्जा-संस्थान) में अभेद माना है।[12] मज्जा-संस्थान के द्वारा उद्दीपकों का परिणाम हम पर घटित होता है और हमारे द्वारा विशिष्ट व्यवहार होता है। अपने ऊपर उद्दीपनों की क्रिया होना और अपनी प्रतिक्रिया होना, इन दो छोरों के बीच हमारी सभी मानसिक घटनाएँ अस्तित्व में आती हैं। ऐसा नहीं कि सभी उद्दीपकों का हमपर परिणाम होता है। विशिष्ट समय पर हमारी आवश्यकताएँ क्या होंगी, इसपर किन उद्दीपकों का क्या परिणाम होगा, यह निर्भर होता है। अनुभव उद्दीपन का स्वरूप और हमारी आवश्यकताओं पर आधारित होता है।

विचार और ज्ञान उद्दीपनों के कारण निर्मित प्रक्रियाओं के सदृश होता है। जब उद्दीपक के स्वरूप और प्रतिक्रिया के स्वरूप में अनुकूलता होती है तब अपनी प्रतिक्रिया ज्ञानात्मक होती है। मान लीजिए अंगार की उष्णता उद्दीपक है, अगर हमारी प्रतिक्रिया इस उद्दीपक के अनुकूल हो गई तो (उदाहरणार्थ, हम उद्दीपक से दूर हट चलें) इसका अर्थ होगा कि हमने उद्दीपक का स्वरूप समझ लिया। [13] जब हमारी प्रतिक्रिया का स्वरूप केवल हमारी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं पर निर्भर होता है तब उद्दीपक और प्रतिक्रिया के बीच अनुरूपता होगी ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए झगड़ा करने एवं प्रेम करने के लिए कोई भी कारण चल जाता है।[14] हमारे ज्ञान की भाँति हमारी मान्यताएँ एवं दृष्टिकोण स्थिर नहीं होते, क्योंकि वे मान्यताएँ उद्दीपकों के स्वरूप पर निर्भर न होकर अपने विशिष्ट समय की इच्छाओं पर निर्भर रहती हैं।[15] अपने मज्जा-संस्थान की किसी भी समय की विशिष्ट स्थिति जिस तरह बाहर से आनेवाले उद्दीपकों पर निर्भर होती है, उसी तरह वह शरीरांतर्गत बातों पर भी निर्भर होती है। लेकिन बाहर से आनेवाले उद्दीपकों के कारण मज्जासंस्थान का नियमन होने पर ही ज्ञान निष्पन्न होता है।[16] रिचर्ड्स का दावा है कि "जानना" या "ज्ञान होना" इस घटना का कार्यकारण-संबंधों की अवधारणा के सहारे पूर्ण स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। वह मानता है कि "क" का ज्ञान होना = "क" के कारण घटित होना।[17] ज्ञानात्मक विचार का वैशिष्ट्य है कि किसी न किसी बात का निर्देश उसमें होता है।[18] विचार का उसके विषय से जो संबंध होता है वह किस प्रकार का होता है? बाहर की दुनिया की घटनाओं के कारण जब विचार उत्पन्न होते हैं तब विचार और उनके विषयों का संबंध सरल कार्यकारण संबंध होता है। घड़ी की घंटी बजने पर उसके संबंध में कोई विचार पैदा होता है तो यह दिखाया जा सकता है कि घंटी का बजना कारण है और उसके संबंध में विचार उत्पन्न होना कार्य।[19] लेकिन बहुत बार हम उन बातों के बारे में भी विचार करते हैं जो हमारे सामने उपस्थित नहीं होतीं।

खास कर पढ़ाई करते समय हमारा विचार इसी प्रकार चलता है। हमारे सामने शब्द होते हैं, लेकिन हम शब्दों के बारे में विचार नहीं करते। वे शब्द जिन बातों का निर्देश करते हैं उनके बारे में हम विचार करते हैं। हममें विचार स्फुरित करने की शक्ति शब्दों में कैसे आती है? एकाध शब्द एकाध वस्तु के संदर्भ में अनेक बार प्रयुक्त होता है। उनमें एक प्रकार का दृढ़ साहचर्य उत्पन्न होने पर जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वह प्रतिक्रिया उस वस्तु के सामने न होते हुए भी केवल उस शब्द के कारण उत्पन्न हो सकती है। ऐसा होने पर वह शब्द उस जाति की वस्तु का चिह्न बनता है।[20] विचार विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं के संबंध में होता है, लेकिन उसे स्थल एवं काल के आयामों को जोड़ देने पर वह विशिष्ट वस्तुओं के संबंध में विचार बन जाता है।[21] सामान्यत: जिस विशिष्ट वस्तु का विचार हम कर रहे होते हैं वह वस्तु यथार्थ में उस विचार के मुताबिक होने पर वह विचार सही (true) माना जाता है।[22]

हमने ऊपर देखा कि मानसिक घटना बाहर से आनेवाले उद्दीपकों पर और हमारे विशिष्ट समय की अथवा नित्य की आवश्यकताओं पर निर्भर रहती है। हमने यह भी देखा कि जब यह घटना अर्थात् हमारी प्रतिक्रिया, उद्दीपक के अनुरूप होगी तभी (ज्ञानात्मक) विचार निष्पन्न होता है। बहुत बार हमारी अंतर्गत आवश्यकताओं के कारण विचार अविकृत और यथार्थ नहीं रहता। लेकिन (ज्ञानात्मक) विचार अविकृत और यथार्थ रहने में हमारा हित है। अर्थात् (ज्ञानात्मक) विचार अविकृत रूप में रखना बहुत कठिन होता है। बहुत बार अनेक विचार आंतरिक कारणों से, याने हमारी इच्छाओं, आकांक्षाओं के कारण इतने विकृत होते हैं कि उनमें ज्ञानात्मकता ही नहीं रहती। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ विचार होता है वहाँ ज्ञान होता ही है।[24]

(ज्ञानात्मक) विचार अविकृत और यथार्थ रखने का कार्य विज्ञान करता है। धार्मिक कल्पनाओं के कारण विचारों में विकृति उत्पन्न होती है और इसीलिए धर्म और विज्ञान में संघर्ष उत्पन्न होता है। यह संघर्ष अटल है। हमारी प्रतिक्रियाओं का संगठन करने के दो परस्पर व्यावर्तक तत्त्व हैं, धर्म और विज्ञान में एकता का होना असंभव है।[25] अपना जीवन ढंग से चलना हो तो हमें विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। लेकिन केवल विज्ञान की नींव पर जीवन को खड़ा करना अभी तक संभव नहीं बना है। इसीलिए जीवन की सफलता के लिए विज्ञान से अन्य बातों की भी आवश्यकता है। हमें सत्य की जरूरत है। उसी तरह काल्पनिक बातों की (fictions) भी। काल्पनिक बातों का उपयोग करना आत्मवंचना नहीं है। जब काल्पनिक बातों को हम ज्ञान मानते हैं, तभी आत्मवंचना उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं। डी. एच. लॉरेन्स नामक उपन्यासकार का पदार्थ-विज्ञान पर हमला करना अथवा कवि येट्स का परियों का अस्तित्व स्वीकार कर चलना आत्मवंचना है, क्योंकि उसमें

काल्पनिक बातों और सत्य का गड़बड़ किया गया है। लेकिन कल्पित बातों को सत्य से अलग रखा जाए तो हमारी प्रेरणाओं के नियंत्रण में उनका बहुत उपयोग होता है। प्रेरणाओं के नियंत्रण के लिए उपयोग में लाई गई काल्पनिक बातों का वाङ्‌मय एक अच्छा उदाहरण है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवेचन से यह बात ध्यान में आ सकती है कि अपने इर्दगिर्द के उद्दीपकों के कारण हममें जो प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, उनमें केवल एक खास प्रकार की प्रतिक्रियाएँ ही सही अर्थ में ज्ञानात्मक होती हैं। जो प्रतिक्रियाएँ उद्दीपक के स्वरूप पर ही केवल अवलंबित होती हैं उन्हीं को ज्ञानात्मक कहा जा सकता है। अन्य प्रतिक्रियाएँ हमारी प्रेरणाओं एवं आवश्यकताओं पर निर्भर होती हैं। इन दूसरे प्रकार की प्रतिक्रियाओं से ही वाङ्‌मय का संबंध होता है क्योंकि वाङ्‌मय के माध्यम से हमारी प्रेरणाओं का नियंत्रण होता है, उनमें सुप्रबंध उत्पन्न होता है। वाङ्‌मय के कारण अगर ज्ञान प्राप्ति होनेवाली है तो उसे प्रेरणाओं के नियंत्रण का काम छोड़ कर विज्ञान बनना चाहिए। वाङ्‌मय को अपना स्वभाव नहीं त्यागना है। वह विज्ञान नहीं बन सकता, और इसलिए ज्ञान भी नहीं दे सकता।

यहाँ रिचर्ड्स के द्वारा प्रस्तुत भाषाशास्त्रीय सिद्धांत से परिचित होना आवश्यक है। यथार्थ के बारे में जानकारी देना भाषा का एक मात्र उपयोग नहीं होता। वह जिस तरह जानकारी देने के लिए प्रयुक्त होती है उसी तरह भावना के प्रकटीकरण एवं भावना-जागृति के लिए भी उपयोग में लाई जाती है। जानकारी देने के लिए भाषा का जो उपयोग किया जाता है उसे रिचर्ड्स वैज्ञानिक उपयोग (scientific use) कहता है। भावना की निर्मिति के लिए किए गए भाषा के उपयोग को वह भावनात्मक उपयोग (emotive use) कहता है। कभी बिना किसी भी विचार की सहायता के भाषा भावजागृति का कार्य कर सकती है। लेकिन प्राय: उसे विचारों का उपयोग एक साधन के रूप में ही करना पड़ता है। ऐसे समय विचारों का विचार के रूप में महत्त्व नहीं होता, उनकी सत्यासत्यता भी महत्त्व की नहीं होती। असल में इस संदर्भ में उनकी सत्यसत्यता का प्रश्न ही अप्रस्तुत होता है।[27] जब हम भाषा का वैज्ञानिक उपयोग करते हैं तब हमारे विचारों में तार्किक संबंध होना आवश्यक है। लेकिन जब हम भाषा का उपयोग भावना जागृति के लिए करते हैं, यह तार्किकता अपेक्षित नहीं होती। बहुत बार तार्किकता का न होना ही अच्छा होता है।[28] अर्थात् वाङ्‌मय के मूलभूत घटक-वाक्य वैज्ञानिक नहीं होते और उनके बीच के संबंध भी तार्किक नहीं होते। इसीलिए वाङ्‌मय ज्ञान दे ही नहीं सकता। क्योंकि वैज्ञानिक भाषा की किसी भी शर्त को वाङ्‌मय नहीं पालती।

कला-समीक्षा में बहुत बार "सत्य" संज्ञा का उपयोग किया जाता है। अगर कला में विचारों के सत्यासत्य को महत्त्व नहीं है तो "सत्य" संज्ञा हम किस अर्थ में प्रयुक्त

करते हैं? रिचर्डस ने सत्य के तीन अर्थ दिए हैं- (1) वैज्ञानिक क्षेत्र में "सत्य" का विशिष्ट अर्थ होता है। जब किसी संवाक्य में वर्णित स्थिति वस्तुस्थिति के अनुसार होती है तब उस संवाक्य को सत्य माना जाता है। रिचर्ड्स की राय में समीक्षा में सत्य का यह अर्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है। (2) लेखक हमारे सामने जिस अनुभव को उपस्थित करना चाहता है उसके अनुरूप एवं उचित ठहरनेवाली बातों को हम स्वीकार्य मानते हैं, ये बातें हमें ठीक लगती हैं। इस अंतर्गत सु-संगति को लक्ष्य कर "सत्य" शब्द का प्रयोग होता है।[29] (3) कभी कलाकार की आत्मनिष्ठा को उद्देश्य कर भी "सत्य" शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ कलाकृतिगत आत्मनिष्ठा से ही रिचर्ड्स का अभिप्राय है।[30] उपर्युक्त अर्थों में से पहला अर्थ विज्ञान में प्रयुक्त होता है और यह अर्थ समीक्षा में अभिप्रेत नहीं होता।

मूलत: विचार विशिष्ट बातों के संबंधों में नहीं, बातों के विशिष्ट प्रकारों के संबंध में होता है, यह रिचर्ड्स ने इसके पहले ही कहा है। स्थल, काल एवं अन्य अवधारणाओं के चौखटों का उपयोग कर विचारों की व्याप्ति सीमित करनी पड़ती है और विचारों की व्याप्ति जब तक सीमित नहीं हो जाती है तब तक विचार को सत्यासत्यता प्राप्त नहीं होती।[31]

कभी काव्य पढ़ते समय हमारे आवेगों में बहुत अच्छी व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस व्यवस्था एवं ज्ञान का मूल में कुछ भी संबंध नहीं होता। इस प्रकार के आवेगों के संतुलन के लिए कुछ अल्प एवं अस्थायी सहायता मिले, इस हेतु विचार का उपयोग किया जाता है। सतह पर देखने पर लगता है कि यह विचार ज्ञानात्मक है। जीवनविषयक भूमिका जो मूलत: केवल आवेगों के संतुलन के कारण निर्मित होती है उसे इस ज्ञानात्मक दीखनेवाले विचार का हम आधार देना चाहते हैं। रिचर्ड्स की राय में ऐसा करना काव्य की दृष्टि से अतिशय हानिकर होता है, क्योंकि काव्य का विचार ज्ञानात्मक माना जाए तो इस विचार का और विज्ञान के ज्ञानात्मक विचारों का समन्वय करना आवश्यक हो जाता है। लेकिन ऐसा समन्वय नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह मानना पड़ता है कि विज्ञान का विरोधी काव्य का विचार असत्य है। फिर उस विचार की नींव पर खड़ी जीवनविषयक भूमिका ढह जाती है।[32] इसलिए अच्छा तो यही है कि काव्य यथार्थ लगनेवाले विचार से मदद न ही ले।

काव्य के ज्ञानात्मक लगनेवाले विचारों और विज्ञान के विशुद्ध ज्ञानात्मक विचारों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। विज्ञान का विचार किसी भी संदर्भ में सही मानना पड़ता है। काव्य का विचार काव्य के संदर्भ तक ही सही माना जाता है। काव्य के विचारों के कारण हमारे आवेगों और भावनाओं में सुप्रबंध होने की दृष्टि से कुछ मदद होती है। इतना ही उनका महत्त्व है। उन्हें वैज्ञानिक विचारों का दर्जा नहीं दिया जा सकता। इतना ही नहीं काव्य के कारण निर्मित होनेवाले आवेगों के संतुलन के बीच

अगर कोई वैज्ञानिक विचार आ जाता है तो हम उसे अलग रखते हैं। इसके लिए रिचर्ड्स ने "ऑथेल्लो" नाटक का उदाहरण दिया है। ऑथेल्लों डेस्डिमोना का गला दबाता है। इस तरह वह स्त्री, जिसका गला घोंट दिया गया है, बोल सकेगी, यह बात चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से असंभव है। लेकिन फिर भी मरने के पहले डेस्डिमोना नाट्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्द बोलती है। चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से यह सर्वथा गलत बात नाटक में जरा भी नहीं खटकती। इसपर से यह स्पष्ट होगा कि विज्ञान के ज्ञानात्मक विचारों और काव्य के विचारों में गुणात्मक अंतर है।[33]

इसके बाद रिचर्ड्स ने काव्य में प्राप्त होनेवाले एक और किस्म के ज्ञानात्मक विचार की चर्चा की है। उत्तम काव्य के पठन पर जो मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है उसमें और ज्ञान की प्राप्ति के बाद होनेवाली मानसिक स्थिति में बहुत साम्य होता है। इस तरह ज्ञानात्मक लगनेवाली मन:स्थिति काव्य और संगीत के कारण ही निर्मित होती है ऐसा नहीं है। वह शराब और भंग के सेवन से भी हो सकती है। इस समय वह निश्चित लगने लगता है कि अंतिम यथार्थ का ज्ञान हमें हो गया है। लेकिन यह पूछने पर कि यह रहस्य क्या है, कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता है। वैज्ञानिक को सृष्टि का कोई भी रहस्य ज्ञात हो तो वह उसके संबंध में निश्चित स्थापना कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि कलानुभव के कारण निर्मित होनेवाली मन:स्थिति ज्ञान प्राप्ति के कारण निर्मित होनेवाली मन:स्थिति की भाँति होती है, लेकिन उस मन:स्थिति का कोई विषय नही होता। "ज्ञानविषय-रहित ज्ञान-सदृश मन:स्थिति"- यही उसका वर्णन किया जा सकेगा। इस मन:स्थिति का किसी भी ज्ञानात्मक स्थापना से संबंध प्रस्थापित नहीं किया जाए तभी वह मूल्ययुक्त ठहरती है। कला जो मूल्यवान अनुभव प्राप्त करा देती है, वह उस मन:स्थिति का एक उत्तम उदाहरण है।[34] रिचर्ड्स का कहना है कि ज्ञानविषय-रहित ज्ञान-सदृश मन:स्थिति के फलस्वरूप किसी प्रकार का ज्ञान निष्पन्न नहीं होता। इसपर कोई यह कहेगा कि समाधि के कारण जो अनिर्वचनीय है, उसका वैशिष्ट्य यही है कि वह वैज्ञानिक ज्ञान की भाँति शब्दांकित नही हो सकता। रिचर्ड्स के मत में यह विचार-धारा पूर्णत: गलत है। जो अनिर्वचनीय है, जिसका विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान से किसी प्रकार का संबंध प्रस्थापित नहीं किया जा सकता, उसको ज्ञान ही क्यों कहा जाए, यह रिचर्ड्स का सवाल है।[35]

रिचर्ड्स की राय में कला के कार्य और विज्ञान के कार्य में जमीन आसमान का अंतर है। यह सही है कि कला ज्ञान-सदृश मन:स्थित उत्पन्न करती है। लेकिन उसमें से ज्ञान पैदा नहीं होता। कला ज्ञान नहीं देती और उसका स्वाभाविक स्वरूप देखने पर कहा जा सकता है कि वह ज्ञान दे नहीं सकती। लेकिन फिर भी कला का अपना एक महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। वह है आवेगों की सुव्यवस्था। कला और विज्ञान को चाहिए कि एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करते हुए अपना कार्य करते रहें। इसी

में मनुष्य का कल्याण है।[36]

10.5

अब हमें एक और दृष्टिकोण से परिचय कराना है। मार्गरिट मैक्डोनल्ड ने "द लैंग्वेज ऑफ फिक्शन"[37] निबंध में इसे प्रस्तुत किया है। रिचर्ड्स की भाँति मैक्डोनल्ड ने भाषा के विविध उपयोग होते हैं, यह सिद्धांत मानकर ही विवेचन किया है। इतिहासकार एवं चरित्रकार की भाँति उपन्यासकार भी भाषा का उपयोग करता है। प्रश्न यह है कि क्या ये दोनों उपयोग एक ही किस्म के हैं? निम्नलिखित दो पैरिग्राफों की तुलना करने पर यह प्रश्न हल हो जाएगा।

अ) "एक दिन अपराह्न आठ दस जवान लोग बस्ती में घुसे। उनके हाथ में कुल्हाड़ियाँ थीं, भाले थे, फेंटे पहने और मलमल की कमीजें पहने हुए ये जवान बस्ती में घुसे और सीधे रामोशी बस्ती में गए। जल्दी-जल्दी में उन्होंने रामोशियों की झोंपड़ियों की तलाशी ली। औरतों को धमकियाँ दीं। एक दो रामोशियों को कुल्हाड़ी के डंडे मारे। रामोशी बस्ती में चिल्लपों मची।[38]

आ) "बालकवि के पिताजी भी बापूराव देवराम ठोंबरे (तात्या) के दो और भाई थे। तात्या बिचौले थे, उस समय के अनुसार मराठी शिक्षा पूरी होते ही वे पुलिस विभाग में भरती हुए। उनकी (हाथ की) लिखावट बहुत सुंदर थी। अत: पहले उन्हें क्लर्क का काम दिया गया।"[39]

इनमें से दूसरे पैराग्राफ के संवाक्य वस्तुस्थिति का वर्णन करनेवाले हैं। चूँकि ये वस्तुस्थिति के साथ मिलते हैं, ये संवाक्य सत्य माने जाते हैं। पहलेवाले पैरिग्राफ के वाक्यों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें वर्णित रामोशी बस्ती पर यथार्थ में हमला कभी हुआ ही नहीं। संवाक्य में किया गया वस्तुस्थिति का वर्णन प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति के अनुसार न हो, तो वह संवाक्य झूठ ठहरता है।

दोनों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि चरित्रात्मक ग्रंथ के वाक्य तथ्यों का वर्णन करनेवाले संवाक्य होते हैं। ये संवाक्य इसलिए सही माने जाते हैं कि ये वस्तुस्थिति से मिलतेजुलते होते हैं। उपन्यास के वाक्यों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि उपन्यास के संवाक्य असत्य होते हैं। जब कोई मनुष्य गप लगाता है तब यह फिक्र करता है कि लोगों को वह सत्य लगे। उपन्यासकार भी कल्पित बातों को इस प्रकार पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है कि लोग उन्हें सत्य मानकर चलें। फिर भी हम यह नहीं कहते कि उपन्यासकार लफ्फाज है। झूठ बोलनेवाला मनुष्य हमें दिक्भ्रमित करता है, उपन्यासकार दिक्भ्रमित करने के लिए नहीं लिखता। अपनी कल्पित बात को वह जितनी प्रतीतिपूर्ण बना सकेगा उतना उसको उपन्यासकार के रूप में महान माना जाएगा।[40] अगर उपन्यासकार यह कहेगा कि मेरी लिखी बातें सचमुच ही घटित हो चुकी हैं, मेरे उपन्यास वस्तुत: इतिहास

ही हैं तो यह माना जाएगा कि वह पाठकों को ठग रहा है। लफ्फाज आदमी कभी न कभी नंगा हो ही जाता है और उसके बाद उसपर कोई विश्वास नहीं करता। लेकिन उपन्यास के बारे में ऐसा नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में पाठक एकाध उपन्यास पढ़ लेता और फिर और उपन्यासों के पीछे नहीं पड़ता। उपन्यासकार पाठकों को धोखा नहीं देता और न कोई पाठक धोखा खाता भी है। जो कुछ घटित होता है वह दोनों की सहमति से ही होता है।[41]

झूठ संवाक्य दो प्रकार के होते हैं। या तो वे जान-बूझकर ठगने के लिए होते हैं अथवा अज्ञानमूलक होते हैं। उपन्यासकार लफ्फाज नहीं होता यह तो हमने कहा -- क्या वह अज्ञानमूलक संवाक्य लिखता है? अज्ञानमूलक संवाक्य सही हैं, ऐसा विश्वास उनके बोलनेवालों का होता है। उपन्यासकार अपने संवाक्यों को सही नहीं मानता। न वे आत्मव्याघाती होते हैं। उनके स्वरूप के संबंध में एक और पर्याय सूझता है। वह यह कि ये संवाक्य निश्चय ही झूठ होते हैं। परंतु उनकी सत्यासत्यता निश्चित करने के लिए वे प्रस्तुत नहीं किए जाते। वे अभ्युपगम जैसे होते हैं। उपन्यासकार मानो हम से कह रहा है, "हम मान लें कि रामोशी बस्ती पर हमला हुआ था।"[42] अन्य क्षेत्रों में भी केवल विचारार्थ प्रस्तुत संवाक्य होते हैं। लेकिन वे सत्य-असत्य निश्चित करने के हेतु ही होते हैं। जिन संवाक्यों की सत्यासत्यता निश्चित नहीं की जाती वे संवाक्य वास्तविक घटनाओं का स्पष्टीकरण करने की दृष्टि से निरुपयोगी होते हैं। इस प्रकार के संवाक्य बाँझ कल्पना-विलास होते हैं। उपन्यास के संवाक्य ऐसे नहीं होते। किसी भी प्रमाण की सहायता से वे संवाक्य सत्य वा असत्य, संभवनीय वा असंभवनीय नहीं माने जा सकते। अतः मार्गारिट मैक्डोनल्ड का निष्कर्ष है कि उपन्यास के वाक्य संवाक्यों अथवा अभ्युपगमों जैसे नहीं होते।[43] विज्ञान के संवाक्य वास्तव का वर्णन करते हैं अथवा वास्तविक घटनाओं का स्पष्टीकरण देते हैं। उपन्यास के वाक्य वास्तव का सही अथवा गलत वर्णन नही करते और उसका स्पष्टीकरण भी नहीं देते। ये वाक्य नवनिर्मिति करते हैं। उपन्यास लिखना वास्तव का वर्णन करना न होकर कुछ नया निर्मित करना होता है। सपने की घटनाएँ यथार्थ घटनाओं से तुलनीय नहीं होतीं। वही बात उपन्यास की घटनाओं के बारे में भी होती है। लेकिन यथार्थ घटनाएँ देखी नहीं गई हों तो सामने की घटनाएँ निर्मित नहीं होतीं, उसी तरह उपन्यास की घटनाएँ भी निर्मित नहीं की जा सकतीं।[44]

उपन्यासकार सचेत होकर नवनिर्माण करता है। लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि पृथ्वी पर होनेवाले मनुष्यों में, वस्तुओं में, घटनाओं में वह अधिक कुछ जोड़ देता है। उसकी निर्मिति इस तरह होती ही नहीं है। इसीलिए उपन्यास में पात्र होते हैं, प्रत्यक्ष जीवन में "मनुष्य" होते हैं। उपन्यासकार नए पात्रों का निर्माण भी करे तो उससे देश की जन-संख्या नहीं बढ़नेवाली है। उसी तरह पात्रों का जीवन उपन्यास

के चौखटे में पूर्णत: समाया हुआ होता है। उस चौखटे के बाहर उनका अस्तित्व ही नहीं होता। सच्चे मनुष्य का जीवन इस तरह पुस्तक में बंद नहीं होता।

मैक्डोनल्ड की राय में उपन्यास पात्रों, प्रसंगों, स्थानों का एक स्वयंपूर्ण बंध होता है। इनमें से कोई भी एक घटक अन्य घटकों से अलग नहीं किया जा सकता। इन घटकों का संगठन करते समय उपन्यासकार को कुछ शर्तों का पालन करना पड़ता है। उनमें से महत्त्वपूर्ण शर्त है उपन्यास के पात्र, घटनाएँ इत्यादि घटकों की एवं उनकी रचना की विश्वसनीयता। उपन्यास के संदर्भ में मैक्डोनल्ड की राय है कि ऐरिस्टोटल की संभवनीयता और शक्यता इन तत्त्वों की अपेक्षा "विश्वसनीयता" तत्त्व अधिक अच्छा है।

मैक्डोनल्ड ने यद्यपि उपन्यास की भाषा के उपयोग के संबंध में लिखा है फिर भी उसका विवेचन नाट्य एवं अन्य वाङ्‌मय प्रकारों पर भी लागू होता है। मैक्डोनल्ड की राय में वाङ्‌मय में होनेवाला भाषा का उपयोग उसका स्वतंत्र उपयोग है। उसकी अन्य उपयोगों के साथ गड़बड़ी नहीं होनी चाहिए। विशेषत: विज्ञान में भाषा का जो उपयोग अभिप्रेत होता है, उससे वाङ्‌मय में भाषा का उपयोग पूर्णत: भिन्न ढंग से होता है। विज्ञान में भाषा ज्ञान का वाहन बनती है, वास्तव का वर्णन करती है, घटनाओं का अर्थ निश्चित करती है। वाङ्‌मय की भाषा उस अर्थ में वास्तव का वर्णन नहीं करती। वह एक अलग किस्म की दुनिया का सृजन करती है। अत: वाङ्‌मय से ज्ञान की अपेक्षा करना सिद्धांत: गलत है, यहाँ जाते-जाते एक और मुद्दे का उल्लेख करना आवश्यक है। मैक्डोनल्ड ने वाङ्‌मयीन भाषा की सृजनशीलता के सिद्धांत को प्रस्तुत करते समय वाङ्‌मय रचना के पात्रों के सत्ताशास्त्रीय स्थान के प्रश्न की चर्चा की। इन पात्रादिको का वास्तव विश्व के घटक के रूप में सत्ताशास्त्रीय स्थान नहीं होता। उनकी यह मान्यता संस्कृत साहित्यशास्त्र के चित्र-तुरग न्याय का स्मरण दिलाती है, पाश्चात्य काव्यशात्र्य में कांट के उपरांत कतिपय सौंदर्यशास्त्रज्ञों ने यही भूमिका अपनाई।

पूर्वपक्ष के रूप में हम ने अब तक प्लेटो, रिचर्ड्स और मैक्डोनल्ड की मान्यताओं का विचार किया। तीनों की राय में साहित्य ज्ञान नहीं देता, दे नहीं सकता। प्लेटो ने ज्ञान-शास्त्रीय सोपान-परंपरा की कल्पना कर वाङ्‌मयादी कलाओं को सबसे नीचे के स्थान पर बिठाया और यह बताया कि उनसे ज्ञान की अपेक्षा करना किस तरह गलत है। इस सोपान-परंपरा में उसने कलाकृतियों को सब से नीचे स्थान दिया और निष्कर्ष निकाला कि सत्ताशास्त्र की दृष्टि से सबसे कनिष्ठ दर्जे की चीजों का निर्माण करनेवाला कलाकार ज्ञानी हो ही नहीं सकता। भारतीय साहित्यशास्त्र में शंकुक ने तथा पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में कांट ने कलाकृति की सत्ताशास्त्रीय सोपान -परंपरा से मुक्ति की और बताया कि कलास्वाद मिथ्याज्ञान न होकर अनुभव का एक अलग

प्रकार है। यही विचारधारा मैक्डोनल्ड के सिद्धांत में भी दिखती है। उपन्यासकार की स्थापनाएँ असत्य स्थापनाएँ नहीं होतीं, क्योंकि उन्हें सत्यासत्य का निकष नहीं लगाना होता है। उनका उद्देश्य वास्तव का वर्णन मात्र करना न होकर एक अलग किस्म के विश्व का निर्माण करना होता है, इस प्रकार कहने पर यह सहज है कि उपन्यासकार वास्तव का ज्ञान नहीं देता। रिचर्ड्स ने भाषा के वैज्ञानिक और भाषात्मक दो अलग उपयोग मानकर यह निष्कर्ष निकाला है कि वाङ्मयीन भाषा भावनात्मक होती है, वाङ्मय ज्ञान नहीं देता। प्लेटो के मत में वाङ्मय ज्ञान नही देता, यह वाङ्मय का न्यून है। मैक्डोनल्ड और रिचर्ड्स की राय में यह न्यून नहीं, क्योंकि वाङ्मय के स्वरूप को देखते हुए उससे ज्ञान की अपेक्षा करना तत्त्वत: गलत है। ज्ञान न देना वाङ्मय का दूषण न होकर उसका एक महत्त्वपूर्ण स्वभाव-वैशिष्ट्य है।

10.6

उपर्युक्त तर्क प्रभावी हैं। परंतु जो यह मानते हैं कि वाङ्मय ज्ञान दे सकता है और उसे वह देना चाहिए, उनका विचार बदलेगा, ऐसा नहीं लगता, क्योंकि इस विचार की जड़ें मनुष्य के मन में बहुत गहराई से जमी हैं। देखना यह है कि इस ज्ञानवाद का सैद्धांतिक स्तर पर समर्थन कहाँ तक किया जा सकता है। अत: पूर्वपक्ष के मतों का विश्लेषण आवश्यक है।

रिचर्ड्स ने भाषा के जो उपयोग बताए हैं - वैज्ञानिक और ज्ञानात्मक; उससे यह गलतफहमी पैदा हो सकती है कि कोई वाक्य भावनात्मक होगा तो वह ज्ञानात्मक हो ही नहीं सकता। स्वयं रिचर्ड्स यह नहीं कहता। पाठकों को स्मरण होगा कि उसने यह स्वीकार किया है कि भावनाजागृति का साध्य उपलब्ध करना हो तो साधन के रूप में विचारों का बहुत बार उपयोग करना पड़ता है। आठवें प्रकरण में भावना के स्वरूप की जो चर्चा की गई उससे भी यह निष्कर्षित होता है कि भावनाजागृति उद्दीपक के स्वरूप को जानने पर निर्भर होती है। साँप का डर इस बात पर निर्भर है कि साँप के संबंध में हमें क्या मालूम है। उद्दीपक के स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा तो भावना जागृति भी नहीं होगी। वाङ्मय पढ़ते समय हमारे सामने उद्दीपक प्रत्यक्ष नही होते, उनके वर्णन होते हैं। उन वर्णनों के आकलन पर ही भावना जागृत होती है। "रणांगण" में निर्वासित ज्यू लोगों का चित्रण है। निर्वासितों के विस्थापित होने का चित्रण हमारी समझ में आता है इसीलिए हमारे हृदय में व्याकुलता पैदा होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि भावना-प्रेरणाओं की व्यवस्था का काम वाङ्मय को करना हो तो ज्ञानात्मक विचारों की साक्ष नहीं टाली जा सकती। रिचर्ड्स को यह मान्य होगा क्योंकि साधन के रूप में विचार को उसने स्वीकृति दी ही है।

लेकिन रिचर्ड्स का यह कहना है कि ये विचार सत्य एवं वास्तविक हैं अथवा नहीं, इसे वाङ्मय के संदर्भ में महत्त्व नहीं दिया जाता। यह सही है कि कुछ वाङ्मय

कृतियों की सत्यासत्यता के संबंध में हम उदासीन होते हैं, उदाहरणार्थ, परिकथाओं को पढ़ते समय हम यह नहीं पूछते कि इन कथाओं का वर्णन वास्तविक है या नहीं। लेकिन कुछ अन्य वाङ्‌मय-कृतियों के संदर्भ में हम सत्यासत्यता का प्रश्न अवश्य उपस्थित करते हैं। उदाहरणार्थ हैम्लेट का वाक्य है।– "Frailty thy name is woman!" यहाँ हैम्लेट का नारी संबधी नैराश्यपूर्ण तिरस्कार व्यक्त हुआ है और उसके साथ सामान्यतः नारियाँ नैतिक दृष्टि से दुर्बल एवं चंचल होती हैं, यह यथार्थ संबंधी स्थापना भी ध्वनित होती है। यथार्थ के संबंध में हैम्लेट की मान्यता को हम सत्य के रूप में स्वीकार करते ही हैं, ऐसा नहीं। लेकिन इतना तो हम निश्चित मानते हैं कि यह स्थापना सत्य का दावा करती है। केवल सत्य सिद्ध होनेवाली स्थापनाएँ ही ज्ञानात्मक संवाक्यों में गिनी जाती हैं, ऐसा नही। जिन संवाक्यों के बारे में सत्यासत्य का प्रश्न उठाया जाता है, वे सब संवाक्य भी ज्ञानात्मक हैं और उसके विरोधी प्रमाण हमें मिलते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि यह स्थापना असत्य है। फिर हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हैम्लेट ने स्त्रियों के बारे में इस प्रकार का गलत विचार क्यों प्रस्तुत किया? इस तरह का ज्ञानात्मक एवं बौद्धिक आवाहन करना वाङ्‌मय रचना का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य माना जाता है। ऐसी रचनाएँ विचार-प्रवर्तक मानी जाती हैं और इसलिए प्रायः उन्हें मूल्यवान भी माना जाता है। इस प्रकार के विचार-प्रवर्तन का मूल्य केवल साधनात्मक नहीं होता, वह साध्य का एक भाग होता है। इब्सेन के नाटकों को हम अच्छा मानते हैं, क्योंकि उनके कारण आवेगों का संतुलन होता है और सामाजिक यथार्थ का नया गहन भान होता है।

वाङ्‌मय में ज्ञानात्मकता एक अन्य रास्ते से प्रवेश करती है। वाङ्‌मय - रचना केवल शब्द और वाक्य नहीं होती। इन वाक्यों से चरित्र, प्रसंग, पृष्ठभूमि का निर्माण होता है। विशिष्ट पद्धति से उनका संगठन बनाया जाता है। इन घटकों एवं उनके संगठन का विश्लेषण करना वाङ्‌मय की ज्ञानात्मकता के स्वरूप का आकलन करने की दृष्टि से आवश्यक है। इस हेतु मैक्डोनल्ड के सिद्धांत का भी परामर्श लिया जा सकता है।

कल्पना करें कि हम "एकच प्याला" का आखिरी प्रवेश देख रहे हैं। हम जो कर रहे हैं उसका वर्णन कैसे किया जाए, इस प्रश्न की चर्चा को हमें आगे ले जाना है। उपरोक्त प्रश्न का पहला उत्तर यह कि हम चेहरे पर रंग लगाये दो व्यक्तियों को विशिष्ट कृति करते हुए एवं बोलते हुए देख रहे हैं। जो नाटक देखना जैसी अवधारणा से भी परिचित नहीं है वह मनुष्य भी यह उत्तर दे सकता है। लेकिन हमारी दृष्टि से यह उत्तर महत्त्वपूर्ण नहीं है। "नाटक देखना" अवधारणा से जिसका परिचय है वह यों उत्तर देगा:

(अ) हम "बालगंधर्व" और "बोडस" नामक दो अभिनेताओं को देख रहे है, उनके

भाषण तथा "अभिनय" देख रहे हैं।

(आ) हम "सिंधु" और "सुधाकर" को देख रहे हैं -- ये दोनों वर्णन संभव हैं, क्योंकि एक ही दृश्य दो भिन्नभिन्न अवधारणाव्यूह में बैठ सकता है। ये अवधारणाव्यूह अलग हैं। उदाहरणार्थ हम ऐसा कहते हैं कि बालगंधर्व ने सिंधु का अभिनय बहुत सुंदर ढंग से किया। सिंधु का मूल्यमापन करते समय उसका पतिप्रेम, सहिष्णुता, आदि गुणों का हम उल्लेख करेंगे। बालगंधर्व के बारे में बोलते समय इन गुणों का निर्देश अनुचित होगा। कुछ नाटकों के वर्णन दो अवधारणाव्यूहों तक सीमित रहते हैं। उदाहरणार्थ, परिकथा पर आधारित नाटक देखते समय इन दो व्यूहों के परे जाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इन नाटकों के संदर्भ में अंतर्गत "सुसंगति" और "विश्वसनीयता" ये दो अवधारणाएँ पर्याप्त हैं।

मैक्डोनल्ड की राय में वाङ्मयास्वाद में इन दो -- विशेषत: दूसरे व्यूह के परे हम नहीं जाते और जाना ठीक भी नहीं है। दूसरे व्यूह में जो वाक्य प्रयुक्त होते हैं, उन्हें सत्यासत्यता का निकष नहीं लगाया जाता। ये वाक्य वास्तव का वर्णन नहीं करते, वे एक अलग स्वयंपूर्ण विश्व का सृजन करते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस अलग विश्व के संबध में बात करते समय हम सत्यासत्यता का निकष लगाते हैं या नहीं? क्या हम इतना ही कहते हैं कि "यह विश्वसनीय नहीं है?" या हम यह भी कहते हैं कि "यह सत्य है, विश्व में सचमुच ऐसा घटित होता है।" नाटक देखते समय "यह कितना सच है?" कहना रिचर्ड्स की दृष्टि में कालापव्यय है।[46] रिचर्ड्स की राय कुछ भी हो शेक्सपिअर के नाटकों को देखते समय उनके सत्य जीवनदर्शन से हम अभिभूत होते हैं, यह सही है। चूँकि इन अभिभूत होनेवालों में अनेक रसिक दर्शकों, मर्मज्ञों समीक्षकों और प्रगल्भ सौंदयशास्त्रज्ञों का समावेश होता है, अत: उनके अभिभूत होने में सांस्कृतिक अनाड़ीपन का अंश है, यह नहीं कहा जा सकता। नाटक में स्त्री को उसका पति पीट रहा है यह देखते समय हम जानते हैं कि असल में यहाँ कोई किसी को नहीं पीट रहा है, क्योंकि वह जो चल रहा है वह वास्तव दुनिया का भाग नहीं है, यह हमें मालूम है। फिर सत्यासत्य की अवधारणाओं का हम उपयोग कैसे करते हैं? परिस्थिति तो यह है कि इन अवधारणाओं का उपयोग तर्क-दृष्टि से असंभव हो। फिर भी हम सत्यासत्य की अवधारणाओं का उपयोग करते हैं और उसमें हमें कोई गलती है, ऐसा भी नहीं लगता -- यह कैसे?

कला का संसार वास्तव संसार से पूर्णत: भिन्न है और उन दोनों में कोई संबध नहीं है, यही माना जाए तो उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर हमें नहीं मिलेंगे। इसलिए हमें इन प्रश्नों की ओर एक अलग कोण से देखना होगा। "पात्र" और मनुष्य में सत्ताशास्त्रीय भेद अवश्य है। लेकिन उनमें एक रिश्ता भी है। वास्तव दुनिया के व्यक्ति के रूप में सिंधु यथार्थ नहीं है, लेकिन उस जैसी दुर्भागी स्त्रियाँ आस्तित्व में हैं। उन स्त्रियों की

प्रतिनिधि सिंधु को माना जा सकता है। इसमें भी अड़चन है। जिस व्यक्ति का प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं है वह प्रत्यक्ष मनुष्यों का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है? उससे अच्छा यह होगा कि उसे प्रतीक माना जाए। लेकिन सिंधु को निरा प्रतीक नहीं कहा जा सकता। प्रतीक और प्रतीक द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं में किसी साम्य की अपेक्षा नहीं होती। लेकिन यह भी सही है कि साम्य के होने पर भी प्रतीक की स्थिति संभव है। सिंधु ऐसा ही प्रतीक है। उसके और अन्य स्त्रियों के बीच सत्ताशास्त्रीय भेद को छोड़ दें तो वह अनेक मामलों में अन्य स्त्रियों जैसी है। केवल सिंधु ही नहीं, समस्त "एकच प्याला" को एक-यथार्थ दुनिया का प्रतीक कहा जा सकता है। इस प्रतीक के भाग (पात्र, घटनाएँ, वातावरण) स्वयं प्रतीकरूप होते हैं। फिर इन भागों के परस्पर संबंध भी जीवन की तत्समान वस्तुओं के संबंधों जैसे होते हैं। अर्थात् उन्हें भी प्रतीकरूप ही मानना चाहिए। इस प्रकार समूची कलाकृति को ही प्रतीक या प्रतीक-रचना माना जा सकता है। उनके घटकों और प्रत्यक्ष जीवन के घटकों में साम्य है, उसी तरह कलाकृति और जीवन-दोनों में अंतर्गत रचना का भी साम्य है।

सिंधु और सिंधु की भाँति यातना से पीड़ित व्यक्तियों में साम्य है। नाटक देखते समय हमारे सामने क्या होता है? (हमने यह उत्तर कि हमारे सामने रंगपुता मनुष्य होता है, असंबद्ध मानकर दूर हटाया है) इस प्रश्न के तीन उत्तर संभवनीय है— (1) हमारे सामने एक नटश्रेष्ठ बालगंधर्व है। (2) हमारे सामने सिंधु है। (3) हमारे सामने दुर्भागी स्त्रियों का प्रतीक है। इसलिए हमारे सामने सचमुच दुर्भागी स्त्री है, ऐसा लगता है कल्पना से उसके साथ विविध रिश्ते जोड़े जा सकते हैं। उदाहरण के लिए उसके प्रति दया, सहानुभूति, आदर इत्यादि भावनाएँ उत्पन्न होना। सिंधु प्रत्यक्ष यथार्थ में नहीं है इसीलिए केवल उसे प्रतीक माना जा सकता है। मैक्डोनल्ड दूसरे उत्तर के पास रुक गया। अत: वाङ्मय रचना के वाक्य भाषा के सर्जक प्रयोग का उदाहरण हैं और यथार्थ का वर्णन वे नहीं करते। अत: उनके संबंध में सत्यासत्य का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। वह तो उसने कहा। लेकिन वाङ्मय चित्रण के बारे में "यह सत्य है" या "यह झूठ है" यह जो हम कहते हैं, उसका स्पष्टीकरण मैक्डोनल्ड के विवेचन से नहीं होता। वह स्पष्टीकरण हमारे तीसरे उत्तर से हो जाता है। वाङ्मयकृति एक प्रतीक या प्रतीक - रचना होने के कारण वास्तविकता का वर्णन वह कर सकती है और इसलिए वह सत्य या असत्य हो सकती है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे का खुलासा जरूरी है। उपन्यासकार चरित्रों को प्रस्तुत करता है। प्रसंगों का निर्माण करता है लेकिन वह सामान्यत: यह नहीं कहता कि "यथार्थ इस प्रकार का है।" उसकी आवश्यकता नहीं होती। वास्तविकता के संबंध में उसकी मान्यता उसकी कथारचना एवं पात्र-परीकल्पना में व्यंजित होती है। ज्ञान-दान का कार्य वाङ्मय की अवधारणा में ही अंतर्भूत होता है, क्योंकि ऐसे संकेत

ही होते हैं। अरस्तू से आज तक समीक्षकों ने यह मानो मान ही लिया है कि वाङ्:मय ज्ञान देता है। हेगेल के बाद सौंदर्य-मीमांसकों ने उसके संबध में शंकाएँ अवश्य उठाई हैं। परंतु उसका प्रत्यक्ष समीक्षा पर कोई परिणाम नहीं हुआ है। समीक्षक जब तत्त्वचर्चा करते हैं तब वे कला की स्वायत्तता आग्रहपूर्वक प्रतिपादित करते हैं और यह अस्वीकार करते हैं कि कला ज्ञान देती है। लेकिन यही समीक्षक प्रत्यक्ष समीक्षा-व्यापार में यह स्वीकार कर चलते हैं कि कला ज्ञान देती है। उनके द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं की जड़ों को देखा जाए तो यह गृहीतक स्पष्ट दिखता है। आय-कर-विभाग को धोखा देने के हेतु आय-व्यय के दो-दो बही खाते रखनेवाले समीक्षक भी होते हैं। ऊपर कहा गया है कि वाङ्:मय रचना यथार्थ का प्रतीक होती है और यथार्थ और रचना में साम्य होता है। इससे एक दो गलतफहमियाँ होने की संभावना है। पहली गलतफहमी वाङ्:मय रचना के टेकनीक को लेकर हो सकती है। जब यह कहा जाता है कि वाङ्:मय रचना और यथार्थ में साम्य होता है, तब यह न माना जाए कि यहाँ केवल यथार्थवादी टेकनीक का ही समर्थन किया जा रहा है। लेखक कभी अद्भुत तत्त्व (fantacy) अतिशयोक्ति एवं ऊनोक्ति का भी प्रयोग कर सकता है। कभी कालक्रम से वह कथा बताएगा तो कभी प्रसंगों के फुटकर टुकड़ों को तितर-बितर कर जोड़ता जाएगा। मतलब यह कि वास्तव का चित्रण केवल टेकनीक पर निर्भर नहीं होता। टेकनीक जो भी हो, उस टेकनीक से निर्मित वाङ्:मय कृति और यथार्थ के बीच संबध कैसे होते है और वे कैसे पहचाने जाते हैं इसके सबध में निश्चित संकेत या नियम समाज की कला विषयक समझ में अंतर्भूत होंगे तो वाङ्:मय रचना को यथार्थ के सबध में क्या कहना है, इसका पता चल सकता है। उपर्युक्त भ्रमों में से दूसरा भ्रम इस सिद्धांत की सीमा के बारे में हो सकता है। यह नही कहा जा सकता कि समस्त वाङ्:मय यथार्थ के प्रति सत्यज्ञान कराता है। उदाहरण के लिए दिवास्वप्न जैसा उपन्यास सत्य का ज्ञान नही प्रदान कराता। ऐसा उपन्यास हमारी वंचना ही करेगा। उसका कुछ अंश यथार्थवादी होता है तो बाकी स्वप्नरंजनपरक। वह हमें यह मानने का आवाहन करता है कि स्वप्नरंजनपरक भाग को भी यथार्थ समझें। न केवल मामूली रचनाकार ऐसा धोखा देते हैं, बड़े लेखक भी ऐसा करते हैं। डिकन्स के उपन्यासों में यथार्थ का गहन भान और स्वप्नरंजन का मिश्रण दिखता है।

वाङ्:मय-कृति के चरित्र और घटनाएँ प्रतीक रूप होते हैं। ये प्रतीक किसी वर्ग का संकेत करते हैं। इस वर्ग की व्याप्ति कितनी बड़ी होती है? दावा यह किया गया है कि समस्त मानव जाति उसमें सम्मिलित होती है। यह दावा सही नहीं है। हम सिंधु को देखकर यह अवश्य मान सकते हैं कि सिंधु जैसी कतिपय स्त्रियाँ दुनिया में होती हैं। परंतु हम नहीं मानते कि दुनिया की सभी स्त्रियाँ पति को देवता माननेवाली होती हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि दुनिया में झगड़ालू स्त्रियाँ होती हैं। दूसरा उदाहरण

"कोसला" के पांडुरंग का है। यह सही है कि वह आज के युवकों का प्रतिनिधित्व करता है। परंतु ऐसा नहीं कि आज की युवा पीढ़ी में श्रावण और पुंडलीक नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त मानव जाति का प्रतिनिधित्व करनेवाला चरित्र रचना में होना असंभव है। कुछ मामलों में सभी व्यक्ति समान होते हैं, तो कुछ मामलों में उनकी भिन्नता मन पर अंकित हो जाती है। केवल सबको समान लगनेवाली बातों पर ही लेखक लिखने लगेंगे तो उनके चित्रण में नीरसता पैदा होगी। फिर उनका चित्रण एकांगी और एक अर्थ में असत्य भी होगा। क्योंकि मनुष्य-स्वभाव की विविधता उसमें जरा भी दिखाई नहीं देगी। मानव-स्वभाव यहाँ से वहाँ तक एक सरीखा होता है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उचित होगा कि मनुष्यों के विभिन्न प्रकार (types) होते हैं और वाङ्.मयीन प्रतीकों से उनमें से कुछ प्रकारों का संकेत होता है। अर्थात् इन प्रकारों में कुलसाम्य का रिश्ता होने के कारण मानवता के विविध प्रकार एक दूसरे से पूर्णत: अलग नही होते। उनमें संपर्क सूत्र (points of contact) अवश्य होते हैं। साधारणीकरण के सिध्दांतको पूर्णत: तो नहीं, लेकिन अंशत: स्वीकार किया जा सकता है। इसीलिए वह आज भी टिका हुआ है।

10.7

वाङ्.मय में ज्ञानात्मकता उत्पन्न होना आवश्यक हो तो उसका स्वरूप कैसा हो, इसकी अरस्तू के द्वारा की गई चर्चा हमारे लिए उद्‌बोधक होगी। कलाओं को अनुकृति-स्वरूप मानकर प्लेटो ने उनका अधिक्षेप किया था। "अनुकृति" के अर्थ को ही नया रूप प्रदान कर अरस्तू ने प्लेटो के हमले से कलाओं का बचाव कर उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी थी। "अनुकृति" से अरस्तू के अभिप्राय का जो अर्थ बुचर ने लिया वह एवं इस संबंध में बुचर के बहुत सारे निष्कर्ष युक्तियुक्त हैं। अरस्तू कलाकृति और प्रतीक में अंतर करता है। प्रतीक और वह जिसे प्रतीकित करता है वह वस्तु, इनमें किसी प्रकार साम्य होने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन अनुकृति और अनुकार्य में साम्य होना नितांत आवश्यक है।[47] कलाकृति अनुकृति हो भी तो वह और मूल वस्तु में एक महत्त्वपूर्ण भेद होता है। कलाकृति का संबंध मूल वस्तु के ऐंद्रिय स्वरूप से रहता है।[48] अस्तित्व में आई हर वस्तु विशिष्ट सत्त्व अथवा (form) रूप और उसके लिए अनुरूप जड़तत्त्व (matter) के संयोग से उत्पन्न होती है। कलाकृति द्वारा दिखाया जाता है कि मूल वस्तु का सत्त्व एक निराले ही जड़ तत्त्वों में देहीभूत है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष अस्तितत्त्व में जो गाय है वह विशिष्ट प्रकार के हाड़मांस में देहीभूत गोत्त्व है! चित्रकार द्वारा निर्मित अनुकृति गोत्व की रंगादि माध्यम से अभिव्यंजना है। अत: वस्तुएँ जैसी दिखती हैं उसी का चित्रण कलाकृति कर सकती है। मूल वस्तु के संबंध में हमारी जो इच्छाएँ या आकांक्षाएँ होती हैं वे कलाकृति के संदर्भ में उत्पन्न नही होतीं। बुचर की मान्यता है कि इस तरह कलाकृति लौकिकता से वियुक्त होती है।[49]

सभी कलाएँ अनुकृति स्वरूप हैं और उन सबमें काव्य सर्वश्रेष्ठ कला है। काव्य में अपने चारों ओर की वस्तुओं की अनुकृति नहीं होती, काव्य की अनुकृति का विषय उन वस्तुओं का सत्त्व होता है। चौथे प्रकरण में हमने देखा है कि अरस्तू की राय में यथार्थ की वस्तुओं के पीछे चार प्रकार के कारण होते हैं। इन चार कारणों में द्रव्यकारण (material cause) और रूपकारण (formal cause) सब से महत्त्वपूर्ण हैं। इस विश्व में हर वस्तु का अस्तित्व और स्वरूप वह वस्तु जिस जाति की है उस जाति के सत्त्व पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, हमारे सामने की गाय है क्योंकि वह गोत्व की अभिव्यंजना करती है। सब गायों में गोत्व समान है। विशिष्ट गायों में भेद गोत्व के कारण उत्पन्न नहीं होता, उनमें होनेवाले द्रव्य या जड़तत्त्व के कारण होता है। शास्त्रज्ञ सत्त्वों का अनुसंधान करते हैं। किसी भी जाति की विभिन्न वस्तुओं में जो समानता है उसको जानना वे महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उनकी भिन्नता शास्त्रज्ञों को महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती। अरस्तू की राय में काव्य में भी सत्त्व का महत्त्व होता है। प्राकृतिक वस्तुओं में सत्त्व होता है, लेकिन उनमें द्रव्य भी होता है। इसलिए सत्त्व के साथ-साथ अन्य गुण भी होते हैं। इन अन्य गुणों के कारण सत्त्व की व्यवस्थित अभिव्यंजना नहीं होती। काव्य में इन अन्य गुणों की भीड़ हटाई जाकर सत्त्वकी अभिव्यंजना व्यवस्थित रूप में होती है।[50]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साक्रेटिस की राय में "अनुकृति" एक तरह की नवनिर्मिति होती है। इंद्रियगोचर वस्तुओं में बुद्धि जो सत्त्व खोजती है उसी को कलाकृति में देहीभूत किया जाता है। वास्तविक वस्तुओं में इस सत्त्व की जो अभिव्यंजना देखने को मिलती है उससे अधिक परिपूर्ण अभिव्यंजना कलाकृति में होती है। अत: यह कहना कि कलाकृति इंद्रियगोचर वस्तुओं का केवल प्रतिबिंब होती है, गलत है। प्राकृतिक वस्तुआ को सत्त्वों की अभिव्यंजना करने में असफलता प्राप्त होती है, इसीलिए वे अपूर्ण होती हैं; उन्हीं वस्तुओं का पूर्णत्व को प्राप्त हुआ स्वरूप कलाकृति में देखने को मिलता है।[51] अर्थात् कलाकृति सत्त्व का केवल इंद्रियगोचर बिंब होता है।[52]

कवि और इतिहासकार के बीच में महत्त्वपूर्ण अंतर यही है कि इतिहासकार वही कहता है जो घटित हो गया है। मनुष्यों को उसी रूप में दिखाता है, जैसे वे हैं, इतिहास के इस विषय में सत्त्व और द्रव्य का मिश्रण होता है। इस मिश्रण में से केवल सत्त्व अलग करना इतिहासकार का उद्देश्य नहीं होता। इसके विपरीत कवि सत्त्व का ही प्रकटीकरण करता है, अत: कवि इतिहासकार की अपेक्षा दार्शनिक के अधिक निकट जाता है। जो-जो घटित हुआ वह अंकित करनेवाले इतिहासकार और ऐंद्रिय विश्व की घटनाओं को केवल देखनेवाले सामान्य मनुष्य में भेद नहीं है। दोनों घटनाओं का केवल अंकन करते हैं, उनका स्पष्टीकरण नहीं देते। स्पष्टीकरण देने का अर्थ होता

है विशिष्ट घटनाओं के परे जाकर उनके पीछे वर्तमान नियमितता के तत्त्व का अन्वेषण। सामान्य मनुष्य और इतिहासकार इस नियमितता का अन्वेषण नहीं करते, कवि यह करता है। अरस्तू कहता है, "अब तक जो कहा है -- संभावनाओं या अनिवार्यता के नियम के अनुसार जो शक्य है वही कहना है। कवि और इतिहासकार में जो भेद है वह इसलिए नहीं कि एक पद्य में लिखता है और एक गद्य में। सही भेद यह है कि एक जो घटित हुआ है उसे ही बताता है और दूसरा जो संभाव्य है उसे बताता है। अत: काव्य इतिहास से अधिक दार्शनिक और उच्च भी है, क्योंकि काव्य की प्रवृत्ति विश्वात्मकता की अभिव्यक्ति करने की ओर तो इतिहास की प्रवृत्ति विवक्षित का प्रकटीकरण करने की ओर होती है। एक विशिष्ट प्रकार का मनुष्य अमुक एक प्रसंग में संभावना एवं अनिवार्यता के नियम के अनुसार जो बोलेगा अथवा करेगा उसे मैं विश्वात्मक समझता हूँ।[53] अरस्तू ने बार बार संभावना और अपरिहार्यता का उल्लेख किया है। कथावस्तु को रचना और व्यक्तिचित्रों की निर्मिति दोनों में इन्हीं तत्त्वों का पालन होना चाहिए, वही उसकी मान्यता है। "जिस प्रकार कथावस्तु की रचना में उसी प्रकार स्वभावचित्रण में भी कवि को चाहिए कि अपरिहार्य एवं संभाव्य को ही लक्ष्य मानकर वह चले। जिस प्रकार एक प्रसंग दूसरे प्रसंग के बाद अपरिहार्य एवं संभाव्य क्रम से घटित होता है, उसी प्रकार एक विशिष्ट स्वभाव के मनुष्य को अपरिहार्यता एवं संभवनीयता के नियम के अनुसार विशिष्ट पद्धति से बोलना एवं बरतना चाहिए।"[54]

यहाँ "संभवनीयता", "अपरिहार्यता" और "शक्यता", इन अवधारणाओं का खुलासा आवश्यक है। अरस्तू "पोएटिक्स" में जब 'अपरिहार्यता' का जिक्र करता है तब उसे 'तार्किक अपरिहार्यता' अभिप्रेत है, ऐसा नहीं लगता। नाट्यकृति यथार्थ की अनुकृति होती है और वह यथार्थ का ज्ञान देती है। यथार्थ के अवलोकन से जो नियम प्राप्त होते हैं। उनमें तार्किक अपरिहार्यता नहीं होती। जब हम केवल तार्किक नियमों के अनुसार संवाक्य का बंध बनाते हैं तभी तार्किक अपरिहार्यता उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए "अगर राम गोविंद से बड़ा होगा और गोविंद कृष्ण से बड़ा होगा तो राम कृष्ण से बड़ा होगा ही" - संवाक्यों के इस बंध में तार्किक अपरिहार्यता है। क्योंकि ये संवाक्य केवल तार्किक नियमों के अनुसार प्रस्तुत किए गए हैं। लेकिन "सायनाइड पेट में जाने पर आदमी मर जाता है," संवाक्य में तार्किक अरिहार्यता नहीं है, क्योंकि वह केवल तार्किक नियमों पर आधारित संवाक्य नहीं है। जिस संवाक्य में तार्किक अपरिहार्यता होती है, ऐसे संवाक्य को नकराने पर आत्मव्याघात (self contradiction) पैदा होता है। लेकिन अनुभवजन्य संवाक्यों के सत्यों को नकारने से आत्मव्याघात नहीं पैदा होता। विज्ञान के वास्तव के संबंध में किये गये संवाक्य अनुभवजन्य होते है अत: उसमें तार्किक अपरिहार्यता नहीं होती। वे केवल संभाव्य

होते हैं। कुछ संवाक्य अधिक संभाव्य होते हैं। कुछ संवाक्यों की संभाव्यता इतनी बड़ी होती है कि उन्हें एक प्रकार की निश्चितता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए "मनुष्य मर्त्य होते हैं," संवाक्य में निश्चितता है, क्योंकि अब तक इसके विरोध में कोई प्रमाण नहीं मिला है। अरस्तू जब अपरिहार्यता का उल्लेख करता है तब उसे सिर्फ निश्चितता की धारणा ही अभिप्रेत होती है।

शक्यता की अवधारणा संभावना की अवधारणा की अपेक्षा अलग होती है। यह कहा जा सकता है कि जिस घटना के बारे में कोई संवाक्य आत्मव्याघाती नहीं है ऐसी कोई भी घटना तार्किक दृष्टि से शक्य है। एक उदाहरण लें। समझ लें कि अभी पाँच बजे हैं। मैं बंबई में अपने घर में बैठा हूँ। पाँच बजकर पाँच मिनट चंद्र पर पहुँच जाने के संवाक्य में तर्क की दृष्टि से कोई आत्मव्याघात नहीं है। मेरा पाँच मिनटों में चंद्र पर पहुँचना तर्कतः शक्य है लेकिन शक्य और अशक्य शब्दों का प्रयोग हम कुछ अलग दृष्टि से भी करते हैं। वास्तव की जो जानकारी हमें है, उसके आधार पर कोई घटना घटित होना असंभव है, ऐसा हम कहते हैं। ऐसे समय हम "अशक्य" शब्द का भी प्रयोग करते हैं। 'पाँच मिनट में चंद्र पर पहुँचना अशक्य है' कहते समय हम इस व्यावहारिक अर्थ से अशक्य (empirically impossible) कहते हैं। जो घटनाएँ तार्किक दृष्टि से अशक्य नहीं होती वे व्यवहारिक दृष्टि से अशक्य हो सकती हैं। पाँच मिनट में चंद्रमा पर पहुँचना तार्किक दृष्टि से अशक्य नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से अशक्य है। लेकिन तर्कतः यह अशक्य ही है कि मैं पाँच बजकर पाँच मिनट पर बंबई में भी रहूँगा और चंद्रमा पर भी। वास्तव घटनाएँ शक्य घटनाओं के वर्ग में गिनी जाती हैं। अगर वे घटित हुई हैं तो उनका घटित होना तर्कतः अशक्य नहीं है। लेकिन वे सब संभवनीय थीं, या निश्चित घटनेवाली थीं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

कलाकृति अगर यथार्थ होनी है और उससे यथार्थ के अर्थ को आत्मलोकित होना है तो उसमें विचार-विसंगत या तर्क-विसंगत कुछ भी नहीं होनी चाहिए। "विचार विसंगत भागों की सहायता से शोकांत कथानकों की रचना नहीं होना चाहिए। यथासंभव सब प्रकार की विचार-विसंगति टाली जानी चाहिए, अथवा किसी प्रकार से उसे नाटक के बाहर रखा जाए-- नाटक में नहीं।[55] सृष्टि में नियमबद्धता होती है। इसी को बौद्धिकता अथवा तार्किकता (rationality) कहा जाता है। नाट्य-रचना का उद्देश्य सृष्टि की बौद्धिकता (नियमबद्धता) दिखाना है अतः उसमें विचार विसंगत (नियमबद्धता का विरोधी) कुछ भी नहीं होना चाहिए -- यह अरस्तू की मान्यता है।[56]

कवि बौद्धिकता या सत्त्व की अभिव्यंजना करता है याने क्या करता है, इसके संबंध में दो मत हैं : (1) अपरिहार्यता और संभवनीयता, इन दो तत्त्वों का अनुसरण

कर वह अपनी कलाकृति के घटकों की ऐसी रचना करता है कि उसका प्रत्येक घटक बुद्धिसंगत लगता है। इस मत के अनुसार नाट्यकृति एक अंतर्गत संगति से संपृक्त स्वयंपूर्ण संगठन सिद्ध होती है। लेखक को पूरी स्वतंत्रता होती है कि वह नाटक के चरित्रों, घटनाओं इत्यादि बातों का कैसे निर्माण करे। लेकिन एक बार उस सामग्री को प्रस्तुत करने पर उस सामग्री में से अपरिहार्यता रूप में जो निर्मित होगा उसे दिखाने को वह प्रतिबद्ध होता है।[57]

इस सबंध में दो मत नहीं हो सकते कि कलाकृति में अंतर्गत संगति होनी ही चाहिए। प्रश्न यह है कि उसे यथार्थदर्शी बनाने के लिए क्या केवल अंतर्गत संगति पर्याप्त है? किसी परिकथा में अंतर्गत संगति होने पर वह कथा वास्तवदर्शी कही जा सकती है। यथार्थदर्शी होने के संबध में अपने आग्रह को नहीं छोड़ना है तो सुसंगति के परे जाना होगा।

(2) कलाकृति यथार्थदर्शी बनानी हो तो उसका यथार्थ के साथ विशिष्ट प्रकार का संबध होना आवश्यक है। संवाक्य सही होने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें वर्णित वस्तुस्थिति उस वर्णन के अनुसार सचमुच में होनी ही चाहिए। यही संबंध कलाकृति और यथार्थ के बीच भी होना जरूरी है। इसका अर्थ यह हुआ कि कलाकृति में अंतर्गत सुसंगति होनी चाहिए, और वह कलाकृति यथार्थ जैसी भी होनी चाहिए। फिर यथार्थ घटनाओं को यथावत् चुनने में सत्य हाथ में नही आएगा। उसके लिए उन घटनाओं के परे जाकर उनके पीछे निहित नियमितता का तत्त्व खोजना चाहिए। विशिष्ट बातें इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं कि वे विशिष्ट हैं, उनमें जो सत्य और नियमितता होती है वह महत्त्वपूर्ण होती है। उसको पाना ही सत्य ज्ञान पाना है। अगर यह मान्य नहीं किया जाए कि वाङ्.मय रचना के घटकों पर उस रचना के बाहर के यथार्थ की नियमितता का नियंत्रण होता है तो यह सिघ्द नही किया जा सकता कि साहित्य ज्ञान देता है।

वाङ्.मय-कृति सत्य का दर्शन कैसे कराती है? सत्त्व बुद्धिगम्य और अमूर्त होने के कारण रंगमंच पर सत्त्व को प्रत्यक्ष दिखाना अशक्य होता है। हमारे सामने रंगमंच पर खड़े होते हैं विशिष्ट चरित्र। इन चरित्रों के माध्यम से ही सत्त्वों के दर्शन कराए जा सकते हैं। सामान्य और विशेष के संयोग के बिना उपर्युक्त प्रश्न नहीं सुलझेगा। अगर वाङ्.मय में प्रस्तुत चरित्र प्रातिनिधिक होंगे तो हमारे लिए अपेक्षित सामान्य और विशेष का संयोग घटित हो सकता है। ये समस्त मानव जाति के प्रतिनिधि हों यह तो अभिप्रेत नहीं है। हमने यह देखा है कि यह कहने के बजाय कि मानव जाति में समान एक ही सत्त्व होता है, यह मानना अधिक उचित होगा कि मानवी स्वभाव के विविध प्रकार होते हैं। वाङ्.मय के व्यक्तित्व को देखने पर हमारी यह प्रतिक्रिया नहीं होती कि सब मनुष्य ऐसे होते हैं। लेकिन ये प्रतिक्रियाएँ अवश्य अपेक्षित होती

हैं कि "ऐसे व्यक्ति दुनिया में होते हैं", "मनुष्य स्वभाव का एक अच्छा नमूना देखने को मिल गया।"

वैज्ञानिक की भाँति लेखक भी सामान्य और सत्त्व की खोज में रहता है। फिर भी लेखक वैज्ञानिक नहीं होता। वैज्ञानिक विशिष्ट बातों के परे जाकर उसके पीछे की नियमितता का तत्त्व खोजता है और उसका मन सामान्य में ही रमता है। लेखक विशिष्ट बातों को लाँघकर सामान्य की ओर नहीं जाता। वह विशिष्ट बातों के माध्यम से ही सामान्य के दर्शन कराता हैं। हम भी हर दिन के व्यवहार में प्राय: इतना ही करते हैं हम आदमियों के स्वभाव को पहचान लेते हैं, विशिष्ट परिस्थितियों में उनकी प्रतिक्रियाओं का अनुमान करते हैं और सामान्यत: हमारे अंदाज सही सिद्ध होते हैं और इसी लिए हम अपने व्यावहारिक जीवन में सफल हो जाते हैं। इसी से लगता है कि मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान हमें रहता है। लेकिन बहुत बार हम अपने ज्ञान को अमूर्त अवधारणाओं के रूप में नहीं प्रस्तुत करते। हम उसे उस रूप में नहीं प्रस्तुत कर सकते। लेकिन उससे कुछ नहीं बिगड़ता। विशिष्ट बातों में अस्फुट रूप में दिखनेवाली नियमितता के आधार से हम अपने व्यवहार करते हैं और उतना हमारे लिए पर्याप्त होता है। दूसरी बात यह है कि हमें सामान्य में जितना रस एवं रुचि होती है उतनी ही विशिष्ट व्यक्ति और घटनाओं में होती है। इसी कारण से मनोविज्ञान की पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा विशिष्ट मनुष्यों एवं घटनाओं को देखना हमें अधिक रुचता है। अगर हमें केवल सामान्य में रस होता तो विज्ञान की वृद्धि के साथ वाङ्मयादि कलाओं का क्षय हो गया होता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और भविष्य में भी ऐसा कुछ होने की संभावना नहीं है। हममें जिस तरह अर्द्धस्फुट सामान्य का आकर्षण होता है उसी तरह कलाकार को भी होता है। वह केवल अपूर्ण सामान्य का अन्वेषण नहीं करता। इसलिए तो अरस्तू ने काव्य को दर्शन का स्थान नहीं दिया। उसका दावा इतना ही है। "अत: काव्य इतिहास से अधिक दार्शनिक और अधिक उच्च है, क्योंकि काव्य की प्रवृत्ति विश्वात्मकता की अभिव्यंजना करने की ओर होती है, तो इतिहास का रुख विशिष्ट की अभिव्यंजना करने की ओर होता है। अर्थात् यह भूलना नहीं चाहिए कि अरस्तू यह मानता था कि सामान्य लोगों को विशिष्टता से संपृक्त सत्व के जो दर्शन होते हैं उससे अधिक गहन दर्शन कवि को होते हैं।

10.8

अरस्तू का कुल बलाघात कला में होनेवाले सामान्य के एवं सत्त्व के दर्शन पर है। इसी मुद्दे पर क्रोचे ने अरस्तू का विरोध किया था। कलाकृति के चरित्र प्रातिनिधिक होने चाहिए, इस मत के समर्थकों से क्रोचे पूछता है, "डॉन क्विजोट किस का प्रतिनिधित्त्व करता है?" यह नहीं माना जा सकता कि वह उनका प्रतिनिधि है जिन का यथार्थ से सम्बन्ध छूट जाता है। क्रोचे की मान्यता है कि वह अपना ही

प्रतिनिधित्त्व करता है।[58] क्रोचे का कुल दृष्टिकोण ध्यान में रखने पर उसका यह मानना स्वाभाविक है। वह मानता है कि कला प्रातिभज्ञान होती है। चूँकि प्रातिभज्ञान का विषय वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्ति होते हैं, उसकी राय में कलाकृति के चरित्र भी व्यक्ति ही होते हैं।

अरस्तू ने काव्य को इतिहास से भिन्न मानकर दर्शन के निकट प्रतिष्ठित किया है। इसके विपरीत क्रोचे के मत में काव्य दर्शन से भिन्न होने के कारण इतिहास के निकट आनेवाला है। क्रोचे की राय में इतिहास और काव्य दोनों का विषय वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्ति एवं घटना होने के कारण उनमें बहुत साम्य है।

कलाकृति का सामान्य अर्धस्फुट होता है, वह विशिष्ट बातों में देहीभूत हुआ होता है। इसलिए कलाकृति के स्वरूप में ही एक प्रकार की द्व्यर्थता है। उसके सत्त्व के स्थान को लेकर दो परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकल सकते हैं। कलाकृति में विशिष्ट बातें होने पर भी उनमें से सामान्य सत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, यह अरस्तू का कहना है। इसके विपरीत क्रोचे के मत में कलाकृति में सामान्य अवधारणाएँ होने पर भी उनका स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं होता, प्रातिभज्ञान के घटक के रूप में ही वे कलाकृति में उपस्थित होती हैं, अत: उनका स्थान साधन का ही होता है।[59] कुछ वाङ्मय कृतियों के चरित्र केवल मानवीय प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं. उनका अपना खास व्यक्तित्त्व नहीं होता। मेलोड्रामा का खल पुरुष ऐसे चरित्रों का उत्तम उदाहरण माना जा सकता है। कामदी में भी बकवास करनेवाली महिला या झगड़ालू नारी, भुलक्कड़ प्राध्यापक, समय-असमय में कविता पाठ करनेवाला कवि इत्यादि चरित्र प्रातिनिधि होते हैं। ये रचनाएँ अरस्तू के सिध्दांत को पुष्ट करते हैं। लेकिन हैम्लेट जैसी नाट्य रचना में प्रातिनिधिक गुणों के साथ खास हैम्लेट में दिखनेवाले विशिष्ट गुण भी दिखते हैं। अरस्तू और क्रोचे दोनों अपने मत के समर्थन में ऐसे चरित्रों का दृष्टांत दे सकते हैं इनमें से किसका सिध्दांत सही है इसके निर्णय के लिए "हैम्लेट" जैसे नाटक की साक्ष्य पर्याप्त नहीं होगी, क्योंकि ऐसे चरित्रों में सामान्य का महत्त्व है या विशिष्ट का, यह इसपर निर्भर करेगा कि हम कौन-सा चश्मा लगाकर देख रहे हैं। और हम कौन-सा चश्मा पहने, यह सामान्यत: समाज एवं काल के कुल वैचारिक वातावरण पर निर्भर होगा। उदाहरण के लिए आज कम्युनिस्ट देश के लोग सामान्य पर बल देते हैं।[60] तो पाश्चात्य पूंजीवादी देशों में बहुत सारे लेखक व्यक्तिचित्रण को महत्त्व देते हैं। इसके मूल में मानवीय जीवन के संबध में दो भिन्न दृष्टियाँ हैं यह स्पष्ट है।

असल बात तो यह है कि मानवीय संदर्भ में दोनों का महत्त्व है। विशेष को लाँघकर जानेवाला सामान्य और सामान्य की नींव के बिना खड़ा होनेवाला विशिष्ट - दोनों झूठे अमूर्तन हैं। दूसरे प्रकरण में हमने देखा कि मानव के संबध में विचार करते हुए इसे भूलना नहीं होगा कि मनुष्यों को व्यक्तित्त्व मिला हुआ होता है, सामने

की बोतल का आम्ल जिस तरह सहज ही आम्लत्व में समाविष्ट हो जाता है,उस तरह विशिष्ट मनुष्य का जीवन स्वभाव के किसी एक नियम में समाविष्ट नहीं होता. इसका अर्थ यह नहीं कि मानव व्यक्ति नियमों के परे होता है। मानव-व्यक्तित्व नियम-रहितता में न होकर उचित नियमों के वैविध्य में होता है। मानव-जाति के इतिहास में घटित विशिष्ट घटना अनेक नियमों का फल होती है। एक नियम औरों से भले ही महत्त्वपूर्ण हो, अन्य नियमों से उसको बहुत प्रभावित होना पड़ता है। मार्क्सवादियों का यह नियम उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। पूँजीवाद का उदय, विकास ह्रास निश्चित है और उसके बाद समाजवाद की स्थापना। समाज-जीवन में वर्गसंघर्ष का स्थान अवश्य है और समाज के अवस्थांतरों के आकलन के लिए वह नियम महत्त्वपूर्ण है। परंतु इससे सब आकलन नहीं होगा। अगर ऐसा होता तो समाज में विशिष्ट समय में क्या होगा, इसका निश्चित भविष्य हम कर सकने में समर्थ होते। लेकिन किसी मार्क्सवादी को यह भविष्यवाणी करने में सफलता नहीं मिली, इसका कारण यह है कि वर्ग-संघर्ष किस समय कौनसा रूप धारण करेगा, यह केवल आर्थिक स्थिति पर निर्भर नहीं होता। भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक इत्यादि विविध बातों का प्रभाव आर्थिक स्थिति पर होता रहता है और इन सबपर वर्ग-संघर्ष का स्वरूप निर्भर रहता है। यह वर्ग-संघर्ष व्यक्ति-जीवन में भी दिखता है और उसका स्वरूप क्या होगा, यह व्यक्ति का जीवन बनानेवाली अन्य बातों पर निर्भर रहेगा। मनुष्य के वाङ्‌मय में जीवन का यथार्थ चित्रण करना है तो उसमें सामान्य और विशेष दोनों का अंतर्भाव होना चाहिए। या ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिन अनेक सामान्यों या नियमों का मेलन विशिष्ट मानवीय परिस्थिति में होता है उन सबका विचार यथार्थ के आकलन के लिए आवश्यक है।

विवाद का विषय है कि वाङ्‌मय में चरित्र और घटनाओं का निर्माण करते समय किसपर बल दिया जाए। सामान्य पर या विशिष्ट पर। सामान्य पर अत्यधिक बल देनेवाले लेखक मानवीय जीवन का निर्माण करनेवाले अनेक सामान्यों से एक सामान्य को औरों से अलग करते हैं और इसी का चित्रण करते हैं। उदाहरण के लिए कतिपय मार्क्सवादी लेखक मानव के आर्थिक और सामाजिक अंग को ही मनुष्य का सर्वस्व समझते हैं। इसके विपरीत व्यक्तित्ववादी लेखक मनुष्य के वैयक्तिक पहलू की ओर ही ध्यान देते हैं। उनके द्वारा निर्मित चरित्र विशिष्ट आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति में जीते हैं, ऐसा एहसास ही नहीं होता। लेकिन ये दोनों छोर चित्रण में एकांगिता उत्पन्न करते हैं। लेखक वैज्ञानिक नहीं होता। अत: उसे केवल सामान्य की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। उसी तरह वह चित्रगुप्त भी नहीं है कि जो कुछ भी घटित हो जाए, उसकी सूची रखे। अत: उसे सामान्य की पूर्णत: अवहेलना नहीं करनी चाहिए। मानव यथार्थ का जो ज्ञान साहित्य के कारण प्राप्त होता है वह समाज-विज्ञान, सामाजिक

मनोविज्ञान, इत्यादि विज्ञानों से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी मानवीय जीवन के बारे में सामान्य स्थापना करता है। उसे विशिष्ट व्यक्ति में "व्यक्ति" के रूप में रस नहीं होता। इसके विपरीत वाङ्मय जीवन और व्यक्तितत्त्व की बारीकी में प्रवेश करता है और जीवनविषयक सामान्य स्थापना सूचित करता है और इसके लिए वह केवल शब्द का प्रयोग नहीं करता। यथार्थ सदृश काल्पनिक व्यक्तिरेखा या प्रसंग उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष जीवन का निरीक्षण करनेवाले मनुष्य और लेखक में अंतर यह होता है कि लेखक को प्रत्यक्ष के माध्यम से सामान्य का संकेत प्रभावपूर्ण ढंग से करना होता है और उसके द्वारा रचित चरित्र और प्रसंग यथार्थ से संवादी होने पर भी काल्पनिक होते हैं। अत: उनमें से घटकों के चुनाव एवं संगठन का स्वातंत्र्य उसे प्राप्त होता ही है। इसीलिए प्रत्यक्ष में अस्पष्टत: भासित होनेवाला कोई जीवन सत्त्व वह व्यवस्थित रूप में एवं प्रभावपूर्ण ढंग से ध्वनित कर सकता है।

यथार्थ का आकलन होने की दृष्टि से जहाँ वाङ्मय की बहुत बड़ी सहायता होती है, ऐसे किसी क्षेत्र का उल्लेख करना जरूरी है। हमारे दैनंदिन जीवन में एक प्रदेश ऐसा भी है कि उससे सभी प्रश्न हल हो गए हैं, ऐसा कभी कहा ही नहीं जा सकता। हमें सदैव एकांगी उत्तरों पर ही संतोष करना पड़ता है, क्योंकि सर्वतोपरि परिपूर्ण स्पष्टीकरण जिसकी वजह से बुद्धि को संपूर्ण संतोष होगा, मिलने के लिए आवश्यक प्रमाण वहाँ कभी प्राप्त नहीं होता। वह प्रदेश है हमारा भावनात्मक जीवन। इस जीवन में ऐसे कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं कि उनके संपूर्ण उत्तर हमें कभी प्राप्त नहीं होते। उदाहरण के लिए कल परसों तक सूत के धागे की तरह सरल दिखनेवाला किसी परिवार का बच्चा एक दिन अचानक बदल जाता है और उसका व्यवहार पहले से बहुत बदल जाता है, उसके परिवर्तन का पता लगाने के लिए यत्रतत्र बिखरे कारण - घटकों का विचार करना पड़ता है। उसमें अचानक कुछ शारीरिक परिवर्तन घटित हुए होंगे, पारिवारिक कशमकश के कारण उसका मन क्षुब्ध हुआ होगा, परीक्षा में असफलता से उसमें हीनता की भावना निर्मित हुई होगी। --अनेक कारण संभवनीय हैं। इन सबका पता लगाना मुश्किल हो जाता है। फिर उनमें से अनेक घटकों की जाँच करने पर भी उससे हमारे प्रश्न का हल मिल ही जाएगा, यह नहीं कहा सकता। क्योंकि बहुत अधिक प्रमाण अनेकार्थी होते हैं। हो सकता है उक्त उदाहरण में बच्चे में शारीरिक परिवर्तन के कारण मानसिक परिवर्तन हुआ हो या मानसिक क्षोभ के कारण शारीरिक बदल हो गए हों। यह नहीं कहा जा सकता कि उसके आचरण में जो बदल हुए हें उनका मूल कारण हमें मिल ही गया है। अत: किसी एक स्पष्टीकरण के बारे में सहमति होगी ऐसा नहीं। हर स्पष्टीकरण एकांगी हो सकता है। कभी-कभी तो परस्पर विरोधी स्पष्टीकरणों का समर्थन करनेवाला प्रमाण व्यक्ति और घटना के संदर्भ में पाया जा सकता है। अत: प्राय: वादातीत स्पष्टीकरण नहीं मिलता। बहुत

बार किसी भी तरह से प्रश्न को हल करना आवश्यक होता है। अत: कोई-न-कोई स्पष्टीकरण स्वीकार करने के लिए हम विवश हो जाते हैं।

किसी सृष्टि-नियम की खोज करते समय जिस प्रकार किसी हाइपोथिसिस की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार विशिष्ट घटना का अर्थ खोजते समय भी उसकी आवश्यकता होती है। संसार का अनुभव, उसके अनरूप अपने अनुमान, हमारे जाने हुए वैज्ञानिक नियम इनपर हमारी यह अभिधारणा आधारित होती है। लेकिन वैज्ञानिक नियम केवल ज्ञात होने से काम नहीं चलता। विशिष्ट घटना के संदर्भ में कौन-से नियम किस प्रकार प्रयुक्त करने होंगे, यह निश्चित करने के लिए आवश्यक बौद्धिक कौशल भी अपेक्षित होता है। संकल्पनात्मक ज्ञान से ही केवल यह कौशल अपने आप प्राप्त नहीं होता। वैद्यकीय परीक्षा में सुवर्णपदक प्राप्त करनेवाला डॉक्टर मामूली बुखार ठीक करेगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनोविज्ञान के प्रगाढ़ अध्येता को भी कभी-कभी यह मालूम नहीं होता कि औरों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए। सामान्यत: हम सबके पास ऊपर उल्लेखित कौशल कमोबेश रूप में होता है। लेकिन इसकी सीमाएँ होती हैं। अगर यह कौशल अधिक होता है तो मानवीय जीवन अधिक समझदार हो जाता है। बहुत बार हम इस कौशल का स्थान आचार व्यवहार के सुनिश्चित साँचों से भर देते हैं। हमारी भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की भाँति बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ भी रूढ़ होती हैं। इन साँचों का भी महत्त्व होता है, क्योंकि इन साँचों के कारण ही हम तुरंत निर्णय लेकर काम पूर्ण कर सकते हैं। चूँकि स्थितियाँ बदलती रहती हैं, ये बौद्धिक साँचे भी बदलने पड़ते हैं। इन साँचों को बदलने या उन्हें लचीला बनाने का सामर्थ्य वाङ्.मय में निश्चित ही होता है। नए प्रमाण प्रस्तुत करना, जो प्रमाण महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता उसका महत्त्व अंकित करना, नई मार्मिक दृष्टि (insight) देना इत्यादि कार्य अच्छा वाङ्मय कर सकता है। हाँ, समस्त वाङ्मय यह नहीं कर सकता। अतिशय गति से लोकप्रिय होनेवाली रचनाएँ प्राय: रूढ़ भावनात्मक और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं का ही बहुत होशियारी से उपयोग करती हैं। बहुत बार हमारी प्रतिक्रियाएँ इसलिए भी रूढ़ होती हैं कि इसे बहुत-सी बातों की जानकारी ही नहीं होती। उदाहरण के लिए शराब के दुष्परिणामों के संबध में आँकड़े नही प्राप्त होते, इसलिए उनकी भयावहता मन पर अंकित नहीं होती। लेकिन शराब के कारण अगर किसी परिवार के विनाश को हम प्रत्यक्ष देखते हैं तो इस भयावहता का मन पर प्रभाव होता है। हमारा अनुभव-क्षेत्र सीमित होता है। अच्छे साहित्य का वैशिष्ट्य यही है कि जिन बातों को देखने का अवसर हमें नहीं मिलता उन बातों को वाङ्.मय हमारे मन पर प्रतीतिपूर्ण ढंग से अंकित करता है।

अरस्तू को अभिप्रेत इतिहासकार घटनाओं को सिर्फ नोट ही करता है। असल में इतिहासकार भी घटनाओं की पृष्ठभूमि में निहित नियमितता का अनुसंधान करते

हैं। वे घटनाओं और व्यक्तियों को केवल दर्ज नहीं करते, बल्कि मार्मिक दृष्टि भी प्रदान करते हैं। इतिहासकार और साहित्यकार में निकट का नाता होता है। उसका कारण यह कि इतिहासकार यथार्थ से बँधा हुआ होता है, साहित्यकार मुक्त कल्पनाशक्ति की सहायता भी ले सकता है और इसलिए उसके द्वारा प्रदत्त मार्मिक दृष्टि इतिहासकार की दृष्टि से अधिक स्पष्ट होती है और ऐसी कड़ियाँ, जिन्हें इतिहासकार नहीं प्राप्त कर सकता, साहित्यकार अपनी कल्पना से जोड़ देता है।

यहाँ तक हमने वाङ्‌मय से होनेवाले ज्ञान का विचार किया। यह कहना ठीक नहीं होगा कि समूचा साहित्य ज्ञान देता है, लेकिन कुछ कलाकृतियाँ अवश्य ज्ञान देती हैं। हम उन कृतियों को मूल्यवान मानते हैं, जिनके कारण यथार्थ के प्रति नई दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं और इसीलिए वे मूल्यवान होती भी है। वाङ्‌मयीन सत्य कलामूल्य का ही एक भाग है। और ऐसा भी कहा जा सकता है कि जो ज्ञान वाङ्‌मय से प्राप्त होता है वह विज्ञान से उपलब्ध नहीं होता। अत: विज्ञान की प्रगति के कारण वाङ्‌मय का पतन होना संभव नही दीखता।

10.9

कलाकार को यथार्थ का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? असल में इस प्रश्न के उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। औरों को जैसे ज्ञान मिलता है वैसे ही कलाकार को भी मिलता है। सब यथार्थ के अवलोकन से ही ज्ञान प्राप्त करते है। यह सही है कि वैज्ञानिक की तरह कलाकार प्रयोगशाला में काम करता हुआ नही नजर आता। लेकिन वह तफसील का फर्क हो गया। वैसे उसे जिस मानवीय मन और जीवन का मर्म खोजना होता है वह प्रयोगशाला में मिलने की संभावना कम होती है। प्रत्यक्ष जीवन ही उसका क्षेत्र होता है। कहा जाता है कि ऋषि-मुनियों को अवलोकन और प्रयोग की सहायता के सिवा ही विश्व का रहस्य प्राप्त होता है। यह दावा किया जाता है कि ऋषि-मुनियों की तरह कलाकारों को भी आंतरिक ज्ञान होता है और वे द्रष्टा होते हैं। ऐसा मानने वाले लोग भी हैं कि कवियों को जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे वैज्ञानिक को मिलने वाला ज्ञान कम दर्जे का होता है। अब हम कवियों की ओर से किए गए दावे की चिकित्सा करेंगे।

किसी भी घटना का अर्थ ज्ञान करने के लिए उसका किसी सृष्टि-नियम के साथ संबध लगाना पड़ता है। नियमों से सिद्ध इस सृष्टि की व्यवस्था में उसका स्थान निश्चित करना होता है। घटनाओं के स्पष्टीकरण के लिए कार्यकारण भाव पर आधारित नियमों का हम सतत उपयोग करते हैं। किसी घटना का कारण ज्ञात होने पर माना जाता है कि उसका अर्थ समझ में आ गया। चौथे प्रकरण में हमने देखा कि कार्यकारण भाव की अवधारणा एक अनुभवपूर्व अवधारणा है। वैज्ञानिक विशिष्ट अनुभवपूर्ण अवधारणाओं की चौखट में रहकर ही सृष्टिनियमों की खोज करता है। लेकिन मानव

इन अवधारणाओं पर निर्भर नहीं रहता। इसका कारण यह है कि मानवीय बुद्धि इंद्रियगोचर के परे अंतिम यथार्थ को जानने की इच्छा करती है। कार्यकारण भावादि अवधारणाओं के चौखटे में रहकर मिलनेवाला ज्ञान इंद्रियगोचर विश्व तक सीमित होता है। अतींद्रिय तक उसकी गति नहीं होती। यह अतींद्रिय तत्त्व मानवीय ज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकता। तथापि उसके बारे में विचार किया जा सकता है। ज्ञान की दृष्टि से ऐसा विचार भले ही व्यर्थ हो। मनुष्य के मन में उसका बहुत आकर्षण होता है। यह अतींद्रिय के बारे में विचार विशिष्ट अवधारणाओं के सहारे चलता है। उनमें से कुछ अवधारणाओं का यहाँ निर्देश करना आवश्यक है।

पहली अवधारणा का विचार चौथे अध्याय में हुआ है। यह अवधारणा प्रकृति में निहित उद्देश्य की। हम यह मानते हैं कि इस जगत में जो भी कुछ घटित होता है वह एक व्यवस्था के अनुसार होता है। यह व्यवस्था ईश्वर के द्वारा या किसी अ-मानवी शक्ति या नियति के द्वारा हेतुत: निर्मित हो गई है। हमारी धारणा होती है कि यह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और शिव है। अत: स्वाभाविक रूप में मनुष्य को और उसकी भलाई को महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कल्पना केवल धर्मग्रंथ में ही नहीं, हम सब के मन में ऐसी ही कोई कल्पना रहती है। सदाचारी व्यक्ति के जीवन की दुर्दशा देखने पर हमारे इस विश्वास पर आघात होता है और मन इस विचार से व्याकुल होता है कि किसी पर अन्याय हुआ है। हम प्रश्न पूछते हैं कि विश्व में मानवीय मूल्यों का स्थान क्या है। शेक्स्पीअर की शोकसंकुल रचनाओं को पढ़ते समय हमारी यही मन:स्थिति होती है। यह कौन-सा लक्षण है? अगर नैतिक मूल्यों और विश्वरचना का संबंध हम नहीं मानते होते तो साधुता के नाश को देखकर हम आक्रंदन न करते। हमारी दृढ़ धारणा है। कि मानवी जीवन और विश्वरचना में कुछ संबंध है. फिर उसका स्पष्ट ज्ञान हमें हो या न हो, बौद्धिक स्तर पर नास्तिक लोगों के मन में नास्तिकता एवं अज्ञेयवाद पूरी तरह अंकित हुआ नहीं होता। अगर ऐसा होता तो उन्हें यह सवाल न सताता कि अच्छे व्यक्तियों की किस्मत में दु:ख क्यों होता है? यह व्याजप्रश्न है क्योंकि तर्क के सहारे इसका उत्तर मिल नहीं सकता-- इस प्रकार की कठोर तार्किक भूमिका अपनानेवाला कोई विरला ही होता है। बौद्धिक स्तर पर हम कितने ही अश्रद्ध हों हमारे मन में कहीं-न-कहीं श्रद्धा रहती ही है, इसीलिए इसे हम व्याजप्रश्न नहीं कहते। इसीसे "किंग लियर" जैसी ट्रेजेड़ी में हम घबरा जाते हैं।

इस ईश्वरीय हेतु की अवधारणा के कारण यथार्थ का ज्ञान भले ही न हो, यथार्थ के बारे में अलग पद्धति से विचार हम निश्चय ही करते हैं और मानवी जीवन का अर्थ भी निश्चित करते हैं। किसी घटना का अर्थ लगाने का मतलब है उसका किसी व्यवस्था में स्थान पहचानना। अगर वह व्यवस्था प्रकृति के नियमों की हो तो हम कहते हैं कि हमें ज्ञान हो गया। परंतु ईश्वर और विश्व के साथ इसके संबंधों की धारणा

के संदर्भ में किसी घटना को समझने का प्रयास असल में ज्ञान नहीं है। इसकी एक और साक्ष्य दी जा सकती है। ज्ञान के क्षेत्र में एक ही समय एक ही सिद्धांत शास्त्रीय सिद्धांत माना जाता है जब कि विश्व की अंतिम हेतुपूर्ण रचना के संबंध में अलग अलग सिद्धांत एक ही समय उत्साहपूर्वक स्वीकार किए जाते हैं। एक ही समय विभिन्न लोगों को विभिन्न रचनाएँ दिखती हैं और जगत्-संचालक के संबंध में अलग-अलग निष्कर्ष निकाले जाते हैं। ईश्वर परीक्षा लेता है, सजा देता है, वह अन्यायी है, मानव के सुख के प्रति असहिष्णु है, इत्यादि विभिन्न विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। किसी को लगता है जीवन में कोई व्यवस्था ही नहीं है, वह निदर्शक एवं अर्थशून्य है।[61] इनमें से किसी सिद्धांत को इंद्रियगोचर साक्ष्य के सहारे काटकर कोई सिद्धांत नहीं हो सकता। क्योंकि ये सिद्धांत वैज्ञानिक नहीं होते। और अगर इन सिद्धांतों में से ज्ञान नहीं मिलता तो क्या उनके बारे में विचार करना अयोग्य नहीं है? इसपर दो उत्तर हैं : एक तो यह कि यथार्थ के अंतिम रहस्य के बारे में विचार करना मनुष्य का स्वभाव है। बहुत प्रयास करने पर ही ये विचार रुक सकते हैं। विशेष कर हमारे भावनात्मक दृष्टिकोण और मूल्यव्यवहार की नींव के रूप में वैश्विक दृष्टिकोण की हमें बड़ी सहायता होती है। फिर लेखक और कलाकार धर्म की ओर मुड़े और वैश्विक दृष्टि की खोज करने लगे तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

कुछ समीक्षकों की राय में धार्मिक दृष्टिकोण महान साहित्य के विशेषतः शोकात्मिका के आस्वादन में विघ्नरूप बनता है। उनकी रायमें न्यायी ईश्वर की परिकल्पना और इहलोक में दुःख सहनेवाले को मृत्यु के उपरांत स्वर्गसुख प्राप्त होने की बात मानने पर दुःख का दंश फीका पड़ जाता है। मानवी मन की समूची शक्तियों का विकास होना है तो हमें ऐसा मानना चाहिए कि मनुष्य का अच्छा बुरा जो भी कुछ होनेवाला है वह इसी दुनिया में और इसी जीवन में होगा। जन्म और मृत्य के बीच की सीमाओं में ही मनुष्य की कल्पना एवं वह सब दुष्टता का नाश करेगा, यह समझ भी त्याग देनी होगी। सुष्ट और दुष्ट शक्तियों के बीच का संघर्ष अनादि एवं अनंत मानना होगा। ईश्वर के संबंध में अगर अज्ञेयवृत्ति स्वीकार की और सुष्ट शक्तियों के साथ दुष्ट शक्तियों की चिरंतनता हमने मान्य की तो सही शोकात्म वाङ्‌मय उत्पन्न होगा और हम इसका आस्वाद ले सकेंगे।[62]

अब प्रश्न यह है कि आस्तिकता हो तो दुःख का दंश क्या सचमुच नष्ट होता है? सश्रद्ध व्यक्ति को सचमुच क्या ऐसा लगता है कि परलोक याने पृथ्वी, चंद्र या अन्य ग्रहों की तरह एक अलग दुनिया है और वहाँ मनुष्य को चिरंतन सुख या दुख प्राप्त होते हैं? क्या धार्मिक व्यक्ति यह सीखता है कि ईश्वरीय न्याय स्कूल-कालेज का पुरस्कार-वितरण-समारोह है? *असल में धार्मिक व्यक्ति को भी दुःख, दुःख के रूप में ही प्रतिभासित होता है। ईश्वर के आस्तित्व में दृढ़ श्रद्धा होने पर भी धार्मिक व्यक्ति*

को ऐसा नहीं लगता कि ईश्वर उसके पीछे सदैव खड़ा है। मृत्यु के समीप आने पर ख्रिस्त को भी यह आशंक हुई थी कि ईश्वर ने उसे छोड़ा तो नहीं है? बाइबल के का 'नया नियम' मार्क कृत वर्णन देखिए.33 दूसरे प्रहर से तीसरे प्रहर तक सारे देश पर अँधेरा फैल गया। 34 तीसरे प्रहर के अंत में चोर जोरदार चीख मारकर बोला 'एलोई, एलोई लमा सबक्तनी?' मतलब 'मेरे देवता, मेरे देवता, तुमने मेरा त्याग क्यों किया।'[63] ख्रिस्त को कैद कर लिया गया उसके पहले घटित प्रसंग देखिए: "32 फिर वे गेथशेमाने नामक गाँव में आए, तब वह अपने शिष्यों से बोला, मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, तब तक आप बैठिए। 33. उसने पेत्र, याकोब, और योहान को साथ लिया और यह बहुत चकित और बैचेन होने लगा। 34. वह उनसें बोला ' मेरी आत्मा को 'मरणप्राय' दु:ख हुआ है।' आप यहाँ रहिए और जागरूक रहिए। 35. फिर वह कुछ आगे बढ़कर भूमि पर लेटा और उसने प्रार्थना की अगर हो सके तो यह घड़ी टाल दो, 36 और वह बोला, अब्बा, बाप! तुम्हें सब कुछ साध्य है। यह प्याला मुझसे दूर करो; फिर भी मेरी इच्छा के मुताबिक नही, अपनी इच्छा के मुताबिक सब होने दो।[64] इन उद्घरणों में ऐसा दिखता है कि ख्रिस्त को भी दु:ख, दु:ख के रूप में ही भासित हुआ था। उसे भी मन ही मन यह विश्वास नहीं था कि ईश्वर सब समय मेरे पीछे है। प्रत्यक्ष परमेश्वर के पुत्र की यह स्थिति है, तो अन्य सश्रद्ध लोगों के बारे में क्या कहा जाए? उसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि उपरोक्त उद्गार येशू ने मानव के रूप में निकाले हैं, ईश्वर-पुत्र के रूप में नहीं, लेकिन इस निष्कर्ष से हमारा आक्षेप बाधित नहीं होता, क्योंकि येशू मानव था। लेकिन वह सामान्य मानव नहीं था। मैं ईश्वर का पुत्र हूँ। ईश्वर की योजना के मुताबिक मेरा अवतार हुआ है। ऐसा दृढ विश्वास रखनेवाला वह महामानव था। प्रत्यक्ष भगवान कृष्ण के साथ में रहते हुए भी महाभारत के वीरों को दुख का दंश हुआ था और जीवन की निगूढता प्रकर्ष रूप में प्रतीत हुई थी। आज के श्रद्धावान मनुष्य की स्वर्ग एवं नरक की अवधारणाएँ भोली नहीं हैं, वह मानता है कि स्वर्ग और इहलोक, जीवन की दो पद्धतियाँ हैं। उसी प्रकार ईश्वर का अस्तित्व मानने से ईश्वरविषयक निगूढ़ता कम नहीं होती। धार्मिक मनुष्य का आंतरिक जीवन शंका, भय आदि से आच्छादित रहता है और अश्रद्ध मनुष्य की अपेक्षा सश्रद्ध मनुष्य को ही जीवन का गूढ़ लगना अधिक संभवनीय है।[65] अश्रद्ध आदमी मानता ही नहीं कि जीवन और अमानवी विश्व में कुछ संबंध है। अत: वह कह सकता है कि अच्छे व्यक्ति जीवन में दु:ख क्यों पाते हैं, यह प्रश्न निरर्थक है। श्रद्धावान व्यक्ति मानवीय मूल्य और अमानवीय विश्व में संबंध मानता है। इसीलिए सत्प्रवृत्त व्यक्ति का दु:ख उसे समस्या के रूप में प्रतीत होता है। शोकांतिका के बारे में चिंतन करते समय जब हम कहते हैं कि शोकांतिका का नायक पूर्णत: निर्दोष और निष्पाप हो तो काम नहीं होगा। तब विश्व-रचना में निहित न्याय के प्रति हम अपनी

श्रद्धा ही व्यक्त करते हैं। ऐसी श्रद्धा न होती तो निर्दोष और निष्पाप नायक का दु:ख भी हम निर्विकार होकर भी देख सके होते। लेकिन जब हम देखते हैं कि नायक के दोष की तुलना में उसे प्राप्त प्रायश्चित्त बहुत बड़ा है तब ईश्वरीय न्याय की गूढ़ता से हम प्रभावित होते हैं। यहाँ एक बात को ध्यान में रखना होगा। श्रद्धावान व्यक्ति ईश्वर की अवधारणा का उपयोग करता ही है, ऐसा नहीं; देवता को न माननेवाले लोग भी सश्रद्ध होते हैं। अतिभौतिकीय सिद्धांत प्रस्तुत करनेवाले बहुत सारे विचारक इसी गुट में आते हैं। देव, धर्म, इत्यादि अवधारणाएँ बिलकुल झटक देनेवाले मार्क्सवादी भी यह कहने का मोह संवरण नहीं कर पाते कि अंतिम यथार्थ मानव की तरफ है। वे कहते हैं कि जिस दिशा में अंतिम कल्याण है, उसी दिशा में इतिहास के चक्र अनिवार्यत: घूम रहे हैं। उसका अर्थ यही है।

ऊपर सश्रद्धता का जो उल्लेख किया है, उसके बारे में एक गलतफहमी होने की संभावना है। सश्रद्ध मनुष्य गुरुवार को 'दत्त' की तस्वीर को माला पहनाता है। शनिवार को 'शनिमहात्म्य' पढ़ता है, बीच बीच में मनौती मनाता है। एवं सत्यनारायण की पूजा करता है, ऐसा सामान्यत: समझा जाता है। लेकिन सश्रद्धता का यह बचकाना अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। सश्रद्ध होने का मतलब यह है कि विश्व की रचना गूढ़ होने पर भी सप्रयोजन है, जिसने रचना की वह शक्ति शिव की तरफ है, यह मानना और उस धारणा के अनुसार अपना जीवन नियमित करना।

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रद्धावान होना कला के आस्वाद में बाधक नहीं होता। उलटे, श्रद्धा और विवेक हो तो वह कलास्वाद में पोषक ही होगा। विवेक के होने से प्रश्न खड़ा रहता है कि 'मानवी अच्छाई का विश्वरचना में स्थान क्या है?' और श्रद्धा होगी तब यह प्रश्न उचित जान पड़ता है। जिनको इस प्रश्न का महत्त्व कभी समझ में नहीं आया वे लोग या तो कठोर बुद्धिवादी होते हैं या जीवन के बारे में निश्चित अंधे शौकीन तबियत के होते हैं। इन में से पहले प्रकार के लोगों ने मानव के विश्व में स्थान के प्रश्न को लेकर विचार नहीं किया होता, ऐसा नहीं है। लेकिन यह मानकर कि जिस प्रश्न का उत्तर मानवीय ज्ञान की कक्षा के बाहर होता है वह प्रश्न ही अर्थशून्य है, वे अपने मन से इस प्रश्न को हटा देते हैं। लेकिन ऐसे भी 'ईडिपस' या 'किंग लियर' पढ़कर उद्वलित होते हों तो उनके मन में विश्वरचना के प्रयोजन का विचार, कम-से-कम नाटक को पढ़ते समय, जाने-अनजाने अवश्य आता होगा। अन्यथा उन्हें इन नाटकों के प्रति इतना आकर्षण महसूस न होता। शौकीन रंगीली तबीयत के व्यक्तियों के बारे में विचार करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वे जिस तरह विश्वरचना के बारे में निश्चिंत होते हैं, वैसे 'किंग लियर' के बारे में भी।

वाङ्‌मय के कारण, विशेषत: महान वाङ्‌मयकृति के कारण विश्वरचना के प्रयोजन के विचारों को विशेष चुनौती मिलती है और इन विचारों के कारण ज्ञान

प्राप्त न भी हो, उपरोक्त प्रश्न हल न भी होता हो, जीवन की अंतिम गूढ़ता रहस्यमय ही रहे, फिर भी ये और इस प्रकार के विचारों का सूझना, उनमें निमग्न होना, ये सब बातें प्रौढ़ व्यक्तियों को अच्छी लगती हैं। कुल विश्व के रहस्य के बारे में विचार करना, वैश्विक दृष्टि प्राप्त कर लेना, इसे बहुत सारे लोग वैज्ञानिक खोज की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। इसीलिए वे मानते हैं कि कवि द्रष्टा है और उसे मिला हुआ ज्ञान अधिक उच्च दर्जे का होता है। लेकिन कुल विश्व के बारे में अंतिम यथार्थ के बारे में ये विचार "ज्ञान" नहीं है। इसलिए उन्हें वाङ्मय का ज्ञानमूल्य न कह कर विचारमूल्य कहना अधिक युक्तियुक्त होगा।

कलाकार यथार्थ के बारे में जो ज्ञानात्मक या वैचारिक सिद्धांत प्रस्तुत करता है, उन्हें वह सामान्यत: स्पष्ट शब्दरूप नहीं देता। प्राय: वह यथार्थ के बारे में वक्तव्य देता ही नहीं। वह कलाकृति के घटकों की जो संरचना करता है उसमें उसका मंतव्य ध्वनित होता है। किसी सिद्धांत को वक्तव्य के रूप में प्रस्तुत करने पर उसके अर्थ के बारे में विवाद नहीं होता। लेकिन इसे बताने के लिए बिंब, पात्र, घटनाएँ इत्यादि की सहायता से एक प्रतीक निर्मित किया जाए तो शायद वह एकार्थबोधक नहीं होगा। स्वप्न की भाँति वह भी अनेकार्थनियत ठहरता है। इसीलिए कलाकृति के अर्थ के बारे में वाद संभव होते हैं। उसके घटक अलग-अलग पद्धति से संगठित होते हैं और उसके कारण कलाकृति के द्वारा अलग-अलग अर्थ ध्वनित होते हैं।

10.10

अब हम एक बिलकुल अलग प्रकार के 'ज्ञानवादी सिद्धांत' का परिचय प्राप्त करेंगे। यह लैंगर का सिद्धांत है। उसे ज्ञानवादी सिद्धांत क्यों कहा जाता है, इसको स्पष्ट करना चाहिए। लैंगर के कुल कला विषयक चिंतन में भावना को बहुत महत्त्व है। वर्डस्वर्थ जैसे विचारकों ने अपने सिद्धांत में भावना को जो स्थान दिया है, वह लैंगर ने नहीं दिया। उसकी राय में कलाकृति भावना की अभिव्यंजना नहीं होती, न वह भावना की चेतक होती है। कलानिर्मिति और कलास्वाद का भावना के उद्वेलन से कोई रिश्ता नहीं होता। भावना की जो एक अंतर्गत संरचना (form) होती है, वह कलाव्यापार के कारण हमें ज्ञात होती है, यह सूसन लैंगर का दावा है। वह कहती है कि कला भावना का, याने भावना की संरचना का ज्ञान देती है।

लैंगर के विवेचन में "फॉर्म और प्रतीक" अवधारणाओं का विशेष महत्त्व है। उसने उनका स्पष्टीकरण कैसे किया है, यह अब संक्षेप में देखेंगे।

'फॉर्म' बहुत बार 'आकार' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लेकिन यह इस शब्द का एकमेव या सर्वाधिक महत्त्व का अर्थ नहीं। जहाँ हम इंद्रियगोचर वस्तु की रचना का वर्णन करते रहते हैं वहाँ 'आकार' अर्थ योग्य लगता है। लेकिन अन्यत्र वह असंगत ठहरता है। उदाहरणार्थ, भाषाशास्त्र (Philology) में रूप (form) को बहुत महत्त्व

है। लेकिन यहाँ फॉर्म का अर्थ 'आकार' नहीं होता। फॉर्म को अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग अर्थच्छटाएँ प्राप्त होती हैं। लेकिन इन विविध अर्थच्छटाओं में कुछ अंशों में निश्चित साम्य होता है। जहाँ-जहाँ नियमितता, अनुशासन या व्यवस्था होती है, वहाँ हम 'रूप (फॉर्म)' या उसके आसपास आनेवाले अर्थ के 'प्रकार' (type), 'नमूना' (norm), 'रीति' (fashion)] 'रूपरेखा' (design), 'योजना' (plan) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं।[66] इन सबमें एक चीज समान है, वह है रचना, व्यवस्था, संगठन की अवधारणा।

किसी भी वस्तु के घटकों का संगठन ही उसका रूप (फॉर्म) होता है। अलग-अलग जातियों के घटकों का एक ही तत्त्व के अनुसार संगठन हो सकता है। इसका एक उदाहरण लें। स्वरसप्तक को अंग्रेजी में स्केल कहते हैं। स्केल शब्द का मूल अर्थ सीढ़ी है। चढते क्रम से एक के बाद एक आनेवाले स्वर और एक पर एक सीढी के पैडों में केवल रचना का साम्य है; लकड़ी का पेड़ और स्वर में कोई साम्य नहीं है। यह रचना का साम्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इमारत की रूपरेखा और इमारत या भाव के चढ-उतार और उनका आलेख, इनमें रचना का ही साम्य है। अलग-अलग बातों में इस प्रकार का रूप साम्य होने के कारण एक से दूसरे का निर्देशन होता है। उदाहरणार्थ, नक्शे से देश का निर्देशन होता है। वाक्य-रचना से अवधारणाओं, आदि की संरचना का निर्देशन होता है।[67] अलग-अलग घटकों में समान संरचना को इन घटकों से अलग करने को ही अमूर्तीकरण (abstraction) कहते हैं। बैलों की जोड़ी, जुड़वाँ बच्चे, चप्पलों की जोड़ी इन सबमें 'दो' यह गणित का रूप समान है। गणित में इस समान रूप का विचार करते हैं। 'दो' से संगठित हुए बैलों, चप्पलों आदि घटकों का विचार यहाँ प्रासंगिक नहीं होता। जब अलग-अलग घटकों के आशय से हम उनका रूप अलग करते हैं तब हमें अवधारणाएँ मिलती हैं। ग्रहगोल, चक्र, ये चीजें अपने ही चारों ओर घूमती हैं। विशिष्ट आशय से हम उनका समान रूप अलग करते हैं तो हमें 'अपने चारों ओर घूमना', यह अवधारणा प्राप्त होती है। विज्ञान में अवधारणाओं का या अमूर्त रूपों का बहुत महत्त्व है।

'फॉर्म' अवधारणा का लैंगर के लेखन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत: हमने इसका परिचय प्राप्त कर लिया। अर्थात् अब तक हमने अवधारणात्मक रूप का ही विचार किया। दूसरे एक प्रकार रूप का हम बाद में परिचय कर लेनेवाले हैं। उसके पहले हमें 'प्रतीक' अवधारणा का विचार करना है। लैंगर की राय में 'प्रतीक' अपने युग की एक प्रभावपूर्ण और सर्जनशील अवधारणा है।[68] इस अवधारणा की सहायता से ही लैंगर ने कला के स्वरूप की खोज की है, क्योंकि मानवी मन और उसकी प्रतिक्रिया के बारे में विचार करते समय यही अवधारणा अधिक लाभदायी सिद्ध होती है।[69]

प्रतीक (symbol) और चिह्न (sign) में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। दो वस्तुओं में

सतत साहचर्य हो तो उनमें से एक वस्तु दूसरी की चेतक (stimulus) का स्थान लेती है। ऐसे समय एक वस्तु को हम दूसरी का चिह्न समझते हैं। पेवलाव के कुत्तों पर प्रयोग में घंटी की आवाज अन्न के प्रत्यक्ष दर्शन का स्थान लेती है और अन्न के दर्शन से जो कार्य होता है वह इस आवाज से होता है। यहाँ घंटी की आवाज चिह्न के रूप में काम करती है, क्योंकि चेतक के रूप में उसने अन्न के दर्शन का स्थान लिया हुआ है।[70] मनुष्य की तरह जानवर भी चिह्न का उपयोग कर लेते हैं। लेकिन चिह्न के मानवीय और अमानवीय उपयोगों में अंतर है। किसी चिह्न को देखने पर जानवरों की दृष्टि अपने चारों ओर की वस्तुओं की ओर मुड़ती है, उदाहरणार्थ, पेवलाव के प्रयोग में कुत्ता घंटी की ध्वनि सुनने के बाद अपेक्षा करता है कि अब सामने अन्न आ जाएगा। मनुष्य जब किसी चिह्न को देखता है तो बहुत बार वह आसपास की वस्तु की ओर नहीं मुड़ता। चिह्न के द्वारा निर्दिष्ट वस्तु प्राय: उसके आसपास नहीं होती। चिह्न का उपयोग कर वह उस वस्तु के बारे में विचार कर सकता है। ऐसे चिह्न को प्रतीक कहते हैं।[71] प्रतीकनिर्मिति की प्रक्रिया मानव की विशिष्ट मूलभूत आवश्यकता है।[72]

विचारों के लिए प्रतीकों की बहुत जरूरत होती है। लेकिन प्रतीकों का उपयोग केवल विचार प्रक्रिया तक सीमित नहीं है, प्रतीकों का निर्माण मानव के मस्तिष्क की प्राकृतिक और सतत चलनेवाली क्रिया है।[73] मनुष्य सतत प्रतीकों का निर्माण करता रहता है। यह स्पष्ट है कि निश्चित अवधारणाओं के लिए हम जिन प्रतीकों का निर्माण करते हैं उनके बारे में लैंगर यहाँ बात नहीं कर रही है। लैंगर की राय में हमें कोरा अनुभव कभी आता ही नहीं। जो अनुभव आता है वह प्रतीकों द्वारा संस्कारित होकर ही आता है।[74] ऐसा लगता है कि कांट ने अपने ज्ञानशास्त्रीय विश्लेषण में काल, अवकाश, कोटी (category) को जो स्थान दिया है वही लैंगर ने प्रतीकों को दिया है। हम प्रतीकों की सतत अभिव्यक्ति करते रहते हैं। अनेक बार भाषा के माध्यम से वह होती है। लेकिन मानव के पास प्रतीकों की व्यंजना करने के अन्य मार्ग भी हैं। उदाहरणार्थ, कर्मकांड (ritual) और कला।[75]

हर प्रतीक अर्थसंपृक्त होता है। इस "अर्थ" का विश्लेषण आवश्यक है। अभिधान या संज्ञा का अर्थ होता है, ऐसा हम मानते हैं। लेकिन अर्थ अभिधान का कोई गुण नहीं होता। अर्थ अभिधान का कार्य है, यह कहना अधिक समीचीन होगा। विशिष्ट वस्तुओं के विशिष्ट संबंधों के कारण अर्थ उत्पन्न होता है। विशिष्ट अभिधान, जिस वस्तु को उस अभिधान का अर्थ समझा जाता है वह वस्तु और उस अभिधान को उस अर्थ से उपयोग में लानेवाला मनुष्य--इन तीन घटकों में विशिष्ट संबंध होंगे तभी अर्थ का निर्माण होता है।[76]

अर्थसंपृक्त वस्तुओं में चिह्न (sign) और प्रतीक (symbol) दोनों का समावेश

होता है। चिह्न बहुत बार सृष्टि में सहज मिल जाता है। घर पर टपटप आवाज आती है, उसपर से हम समझते हैं कि "वर्षा हो रही है।" टपटप आवाज हमने निर्मित नहीं की है, वह प्रकृतिनिर्मित ही है। इन प्रकृतिनिर्मित चिह्नों की भाँति मानव-निर्मित चिह्नों का भी हम उपयोग कर लेते हैं। स्टेशन पर सीटी सुनने को हम चाहे जो अर्थ दे सकते हैं। लैंगर की राय में चिह्नों को पहचानने में जो गलती होती है वह प्राथमिक गलती है। जहाँ इस प्रकार की गलती संभवनीय है वहाँ बिलकुल प्राथमिक ज्ञान संभावित है। चिह्नों का अर्थ पहचानना बिलकुल ही सामान्य से सामान्य ज्ञानप्रक्रिया है।[77] किसी वस्तु को चिह्न के रूप में न इस्तेमाल किया जाए तो अपनी प्रतिक्रिया अलग प्रकार की होती है। हम विशिष्ट चीजों की अपेक्षा करते हैं। छप्पर पर टपटप आवाज सुनने पर हम समझ जाते हैं कि वर्षा हो रही है। प्रतीक को देखने पर हम विचार करने लगते हैं, जिसका वह प्रतीक हैं।[78] प्रतीक का अर्थ कोई अवधारणा, यह अवधारणा जिन वस्तुओं पर लागू होती है उन वस्तुओं का संकेत उस प्रतीक के द्वारा होता है। यह वस्तुनिर्देश हमेशा अवधारणा की सहायता से होता है।[79]

फुटकर अभिधानों की अपेक्षा अभिधानों का विशिष्ट प्रकार का संगठन विचार की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इस तरह से संगठित अभिधानों से संवाक्य बनता है। संवाक्यों के द्वारा हम चीजों के बारे में बोलते हैं। संवाक्य वस्तुस्थिति का चित्र होता है। वस्तुस्थिति की रचना और संवाक्य की रचना में एक प्रकार का साम्य होता है।[80] लेकिन संवाक्यात्मक चित्र वस्तुस्थिति का प्रतीक होता है, उसकी प्रतिकृति नहीं।[81] यथार्थ के चित्रण के लिए चित्र या आलेख का उपयोग किया भी जाए तो भी इस संबंध में भाषा की समता अन्य कोई वस्तु नहीं कर सकती।

यहाँ भाषा के एक वैशिष्ट्य का उल्लेख करना आवश्यक है। भाषा के द्वारा विचार व्यक्त करने हों तो उनकी रचना एक के पीछे एक ही करनी होती है। जिन चीजों के बारे में हम बोलते हैं वे यद्यपि एक ही स्थान पर एक ही समय अस्तित्व में होती हों या एक दूसरे में उलझी हुई हों तो भी उन्हें भाषा में प्रस्तुत करना हो तो उनकी रचना उपरोक्त पद्धति से ही करनी पड़ती है।[82]

तार्किक अनुभववादियों ने संवाक्यों के दो गुट किए हैं:– अर्थसंपृक्त और अर्थरहित संवाक्य। यह हमने तीसरे अध्याय में देखा। उनका मत है कि जिन संवाक्यों की सत्यासत्यता की पड़ताल प्रत्यक्ष अनुभव में नही आ सकती वे संवाक्य अर्थरहित व्याजसंवाक्य समझे जाने चाहिए, इन व्याजसंवाक्यों का कार्य भावनाभिव्यक्ति करना होता है, ऐसा भी वे कहते हैं। अतिभौतिकीय संवाक्य या काव्य के संवाक्य व्याजसंवाक्य होते हैं। तार्किक अनुभवादियों का यह मत लैंगर मान्य करती है। लेकिन उसका यह मत कि इन व्याजसंवाक्यो का कार्य केवल भावनाभिव्यंजना है, लैंगर को बिलकुल मान्य नही हैं। उसकी राय में अतिभौतिकी एवं काव्य में भाषा की अपेक्षा याने उपरोक्त

विभाजन के संवाक्यों की अपेक्षा बिलकुल अलग प्रकार के प्रतीक प्रयुक्त किये जाते हैं। इन प्रतीकों द्वारा भी विचार व्यक्त होते हैं। भाषा के अलावा अन्य प्रकार के प्रतीक होते हैं और भाषा के कारण जो कार्य होता है उससे अलग कार्य इन अन्य प्रकार के प्रतीकों द्वारा होता है, इस बात का भान तार्किक अनुभववादियों को न होने के कारण ही उन्होंने व्याजसंवाक्यों के बारे में उपर्युक्त मत व्यक्त किया है, ऐसा लैंगर का मत है।[83] भाषा के अलावा अन्य प्रतीक भी अर्थयुक्त होते हैं और बौध्दिकता का क्षेत्र भाषा के क्षेत्र की अपेक्षा बड़ा होता है, ये दोनों बातें हमें ध्यान में रखनी होंगी।

बौद्धिकता के बारे में उपरोक्त मुद्दा स्पष्ट करने के लिए लैंगर ने बिलकुल सादे ऐंद्रिय अनुभव का उदाहरण दिया है। इस अनुभव में भी अपनी आँखें और कान अमूर्त रूप और आकार खोजते हैं। अगर ऐसा न होता तो हमारा अनुभव विलक्षण बेतरतीब-सा हो जाता। बिलकुल प्राथमिक अमूर्तीकरण अपने ऐंद्रिय अनुभव में होता रहता है। इसमें से ही आगे चलकर अधिक विकसित स्वरूप का अमूर्तीकरण और समृद्ध विचार प्रक्रियाएँ निर्मित होती रहती है।[84] अगर ऐसा न होता तो केवल ऐंद्रियता और केवल अवधारणा के बीच की दरार कभी न पटती।[85] ऐंद्रियता के स्तर पर जो रूप हमें दिखाई पड़ते हैं वे पदार्थविज्ञान के रूपों की अपेक्षा अलग होते हैं। पदार्थविज्ञान के रूप ऐंद्रियता के रूपों की अपेक्षा अधिक यथार्थदर्शी होते हैं, यह मानना गलत है। लैंगर की राय है कि ये दो पर्यायी रूप हैं, यह मानना अधिक समीचीन होगा।[86] गणित का उपयोग कर वास्तव का रूप खोजना पदार्थविज्ञान का उद्देश्य होता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह यथार्थ के गुणात्मक वैशिष्ट्यों की अपेक्षा संख्यात्मक वैशिष्ट्यों की ओर ध्यान दे, अपने इंद्रियों का जो विश्व दिखाई देता है उसमें गुणात्मक वैशिष्ट्यों को महत्त्व प्राप्त होता है। ऐंद्रिय यथार्थ दर्शन में भी अमूर्तीकरण रहता है, उसमें भी रूप की खोज रहती है। ये रूप गणित की सहायता से नहीं प्राप्त होते। इंद्रियों से ही तैयार किए हुए होते हैं।[87] ये रूप ही मानवीय बुद्धि के आदिम आयुध हैं। उनमें प्रतीकात्मकता एवं बौद्धिकता अनुस्यूत रहती है। उनके उपयोग के कारण ही पदार्थों और घटनाओं से भरा विश्व दिखाई देता है।[88]

रंग, रेखा इत्यादि के कारण जो दृश्य रूप निर्मित होते हैं, उनमें और भाषा में एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। भाषा के घटक एक के बाद एक इस रीति से ही संगठित हो सकते हैं। दृश्य रूप में घटक एक ही समय मन के सामने आते हैं और उनका एक ही दृष्टि में आकलन किया जा सकता है।[89] इस अभाषिक प्रतीक में से ऐसे विचार व्यक्त होते हैं कि जो भाषिक प्रतीक में से व्यक्त हो ही नहीं सकते।[90] ऐंद्रिय प्रतीक और भाषा में एक और अंतर है। हर भाषा में शब्द मूलभूत घटक होता है। हर शब्द का विशिष्ट अर्थ होता है और उसकी अन्य शब्दों के सहारे व्याख्या भी की जा सकती

है। एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं। फिर हर भाषा में वाक्य-रचना के नियम होते हैं। अभाषिक प्रतीक में भी घटक होते हैं। परंतु उन घटकों को उनका खास अपना मतलब, विशिष्ट संगठनों से उन्हें अलग कर दिए जाने पर भी उनका अपना कहा जा सके, ऐसा अर्थ नहीं होता। भाषा का मूलभूत घटक शब्द होता है। ऐसा कोई घटक चित्र का अलग नही किया जा सकता। एक ही शब्द अलग-अलग संदर्भों में एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। उस प्रकार चित्र के मूलभूत घटक के बारे में नहीं कहा जा सकता। शब्दों के अर्थ विशद करनेवाला शब्दकोश होता है। चित्र के मूलभूत घटकों का ऐसा कोई कोश नहीं होता। संक्षेप में भाषा का जैसा शब्द-संग्रह होता है वैसा चित्र का नहीं, भाषा में जैसे वाक्य-रचना के नियम होते हैं वैसे नियम चित्र के घटकों के संगठन करने के लिए नहीं होते। [91] मूलत: शब्द विशिष्ट चीजो का निर्देश नहीं करता, वह चीजों के वर्ग का निर्देश करता है। अभाषिक प्रतीक किसी एक विशिष्ट चीज को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। चीजों के वर्ग का निर्देश करने की सामर्थ्य इन प्रतीकों में मूल में ही नहीं हो।[92] चित्रादि प्रतीकों को लैंगर ने प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीकवाद (presentational symbolism) नाम दिया है। शब्दों की भाँति इन प्रतीकों का भी अर्थ होता है। उनमें भी अवधारणाओं के तार्किक रूपों की खोज अंतर्भूत होती है। प्रतीक में ये सब बातें अपने आप आती ही हैं।[83]

अपने सादे ऐंद्रिय अनुभव में अमूर्तीकरण और रूपाभिव्यंजना सतत चलती रहती है। इन रूपों की सहायता से ही हमें अपने अनुभव का बोध होता है। यह बोध अपनी दैहिक प्रक्रियाओं में अपनी प्रेरणाओं में प्रतिबिंबित होता है। अर्थात् यहाँ इन प्रतिक्रियाओं और प्रेरणाओं के बीच की संरचना या रूप को महत्त्वपूर्ण स्थान है। लैंगर ने प्रश्न पूछा है कि क्या अपने प्रेरणात्मक जीवन का बोध प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीकों की सहायता से ही निष्पन्न होता है।[94] प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीकों के द्वारा होनेवाला ज्ञान भाषा में ग्रथित ज्ञान की अपेक्षा अलग होने पर भी उसमें मानवीय मन की बौद्धिकता ही दिखती है। बौद्धिकता की कक्षा भाषा के द्वारा चलनेवाली स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित विचार-प्रक्रियाओं तक ही सीमित है, ऐसा मानना गलत होगा। जहाँ प्रतीकों का उपयोग होता है वहाँ किमान रूप में आदिम स्वरूप की बौद्धिकता विद्यमान होगी ही। बौद्धिकता ही मानवी मन का सत्त्व है।[95] जिसे हम भावना कहते हैं उसमें भी बौद्धिकता होनी चाहिए। यह क्रेटन की राय[96] लैंगर मान्य करती है। भावना के अपने आकार होते हैं और वे विकसित होते हैं। यह क्रेटन का विचार लैंगर को भी स्वीकार्य लगता है।[97] अगर भावना के खास अपने आकार होंगे तो ये आकार कौन-से, उनका स्वरूप क्या है, इन बातों पर यह निर्भर है कि वे किन प्रतीकों द्वारा आकलन हो सकते हैं। भावना का स्वरूप व्यक्त करने की दृष्टि से भाषा अधूरी सिद्ध होती है। भाषा से अधिक अलग- अलग प्रतीकों द्वारा ही भावना की यथायोग्य अभिव्यक्ति हो सकती

है। लैंगर की राय में संगीत, भावनाभिव्यंजना की दृष्टि से परिपूर्ण प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीक है। यह प्रतीक अर्थ व्यक्त करता है, लेकिन वह वस्तुनिर्देश नहीं करता।

लैंगर का दावा है कि प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीकों के निर्माण में मानवी भाषा का उद्‌गम है। किसी चीज को देखने के बाद अगर लगे कि वह अर्थसंपृक्त है, तो प्रतीक का जन्म होता है। वह चीज केवल उपयुक्त या खतरनाक प्रतीत होने पर ही केवल वह अर्थयुक्त लगती है, ऐसा नहीं। उसका अर्थसंपृक्त होना उसे केवल देखने पर ही समझ में आता है। अनुपयुक्त चीजों के बारे में अनामिक आकर्षण लगता है। खतरनाक चीजों के बारे में भय लगने लगता है। इस अर्थसंपृक्त बोध में प्रतीक-निर्मिति अंतर्भूत रहती है। भावनात्मक अर्थ से संपृक्त प्रतीकों का निर्माण कुछ खास जाति के बंदर भी करते हैं।[99]

क्लाइव बेल ने "कला याने अर्थयुक्त रूप (अथवा रचना) (significant form) कहा है। कला का अर्थ किस प्रकार का होता है? कलाकृति संवाक्य तो नहीं बनाती। कुछ कलाकृतियों में जल, चट्टानें, नावें इत्यादि चीजें चित्रित की जाती हैं। लेकिन उनके द्वारा निर्मित होनेवाला अर्थ बताने के लिए कलाकृति की निर्मिति नहीं होती। कलाकृति के अर्थ की आदिम नींव मन के गहरे में कहीं हौती है। इसीलिए मनोविश्लेषणवादियों ने सिद्धांत प्रस्तुत किया है कि कलाकृति मानव की अवचेतना की सुप्त इच्छाओं की अभिव्यंजना है। लैंगर मान्य करती है कि फ्रायड़वादियों के सिद्धांत में बहुत तथ्य है। फिर भी उसने इस सिद्धांत को नहीं स्वीकार किया। कोई कविता कैसे स्फुरित होती है, वह लोकप्रिय क्यों होती है, लिओनार्दो द्वारा चित्रांकित स्त्रियों के मुख पर निगूढ़ स्मित क्यों आया इत्यादि प्रश्न फ्रायड़वादी हल कर सकते हैं। लेकिन अच्छी कलाकृति और बुरी असफल कलाकृति में अंतर कैसे किया जाए, यह वे नहीं बता सकते।[100]

बेल के सिद्धांत की अर्थयुक्त रूप की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए लैंगर ने संगीत का उदाहरण लिया है। चित्र में जल, चट्टानें, इत्यादि अर्थ का आशय रहता है। संगीत में ऐसा आशय नहीं होता। इसीलिए संगीत ध्वनियों की आशयरहित विशुद्ध रचना मानी जा सकती है। कलाकृति का अर्थ उसमें क्या चित्रांकित हुआ है, इसपर निर्भर न होकर उसके ऐंद्रिय घटकों की संगठना पर निर्भर रहता है। इस सिद्धांत की सत्यासत्यता की परीक्षा के लिए संगीत का उदाहरण बहुत महत्त्व का सिद्ध होगा।[101] संगीत याने भावनाओं की अभिव्यंजना है, इस सिद्धांत का लैंगर ने विरोध किया है। उसका कहना है कि संगीत के इतिहास में सतत विकसित होनेवाले रूपों को महत्त्व प्राप्त होता है, भावनाभिव्यंजना को रूप की जरा भी जरूरत नहीं होती।[102] संगीत के कारण भावनाभिव्यंजना या भावजागृति होती हो तो उसका महत्त्व नहीं है। संगीत भावनाओं का प्रतीक है, भावनाओं के रूप का उसमें अभिव्यंजन होता है।[103]

संगीतकार भावनाओं की व्यंजना नहीं करता या सुननेवाले के सहानुभाव का आवाहन नहीं करता, वह देता है भावनाओं के रूपों का ज्ञान। कलानिर्मिति और कलास्वाद ज्ञानव्यवहार है और भावनाओं का स्वरूप ज्ञान का विषय है।[104] मानव के प्रेरणात्मक एवं भावनात्मक अनुभव की जो बुनावट होती है उसका दिग्दर्शन संगीत के घटकों के संगठन के कारण होता है। लै : का दावा है कि यह बात सर्वमान्य है।[105] संगीत प्रतीक हों तो भी उसे "भाषा" नहीं कहा जा सकता। उसका प्रमुख कारण यह है कि भाषा में शब्द-संग्रह होता है, हर शब्द का निश्चित शब्दकोशीय अर्थ होता है। संगीत में शब्दसंग्रह जैसा कुछ नहीं होता और उसके घटकों का निश्चित अर्थ भी नहीं होता।[106] संगीत प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीक होता है। उसमें जो व्यक्त होता है वह भाषा के माध्यम से कभी व्यक्त नहीं होता।[107] संगीत भावना की सिर्फ संरचना व्यक्त करता है। दो परस्पर विरोधी भावनाओं की संरचना समान हो तो ऐसा लगेगा कि एक ही गीत इन परस्पर विरोधी भावनाओं को व्यक्त करता है। लेकिन संगीत का संबंध भावना की संरचना से ही होता है। यह ध्यान में रखने पर उपरोक्त बात में कुछ चमत्कारिक नहीं लगेगा।[108] संगीत में अमूर्तीकरण होता है, लेकिन उसका रूप उसके ऐंद्रिय घटकों से अलग किया हुआ नहीं होता। वह हमें स्थिर और निश्चित अवधारणाएँ नहीं देता।[109] संगीत अर्थ व्यक्त करता है लेकिन यह अर्थ निश्चित स्वरूप का न होने के कारण संगीत भाषा नहीं बन सकता।[110]

लैंगर की धारणा है कि संगीत की तरह अन्य कलाएँ भी अभाषिक, प्रत्यक्ष दर्शनात्मक प्रतीकों के माध्यम से भावनाओं की बुनावट एवं रूप का ज्ञान देती हैं। जिनमें अवधारणात्मक आशय तो नहीं होता लेकिन घटकों की विशुद्ध रचना है, ऐसी कलाओं में प्रकर्ष के साथ इसका बोध होता है।[111]

कलाकृति का कार्य भावना की बुनावट का ज्ञान देना है। इस ज्ञान के बोध से एक अलग भावना का अनुभव प्राप्त होता है! इस ज्ञानाश्रित भावना को "सौंदर्य भावना", "सौंदर्यानंद" नाम दिए जाते हैं। इस भावना से कला की उत्पत्ति नहीं होती। कला के कारण जो मार्मिक दृष्टि प्राप्त होती है उसमें से यह भावना उत्पन्न होती है इसलिए यह कला की फलश्रुति है, यही कहना समुचित होगा।[112]

कला भावना की बुनावट या रचना का प्रतीक है, यह सिद्धांत अन्य कलाओं पर भी कैसे लागू होता है, यह दिखाने के लिए लैंगर ने अपनी "फीलिंग ॲण्ड फॉर्म" पुस्तक लिखी है। उसमें कलाप्रतीक के स्वरूप के संबंध में उसका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। उसकी राय में कलाकृति केवल ऐंद्रिय अनुभव का विषय होती है। चित्र केवल देखने के लिए होता है, गाना केवल सुनने के लिए। कलाकृति एक बिंब अथवा भासात्मकवस्तु (virtual object) होती है, प्रत्यक्ष अस्तित्व में उपस्थित वस्तु के जो व्यावहारिक उपयोग हम करते हैं, वे कलास्वाद में अप्रासंगिक होते हैं। कलाविश्व

प्रतीक होता है, उसका वैशिष्ट्य यही कि वह एक अर्थ व्यक्त करती है।[113] कलाकार अपने ऐंद्रिय माध्यम में अलग-अलग रूप, रचना, बुनावट उत्पन्न करता है। भूमिति की रचना और कलाकृति की रचना में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। भूमिति की रचना में अंतर्गत घटकों के गुणों का एवं उनके पारस्पारिक संबंध का महत्त्व नहीं होता। कलाकृति इसमें बहुत ही भिन्न होती है। कलाकृति में हर घटक के गुणों का महत्त्व होता है और सभी घटकों के सभी संबंध महत्त्वपूर्ण होते हैं।[114]

लैंगर आधुनिक सौंदर्यशास्त्रज्ञ है। उसका कलास्वरूप सिद्धांत अभिनव सिद्धांत के रूप में सम्मानित है। "फिलासफी इन अ न्यू की" पुस्तक के मुखपृष्ठ पर हर्बर्ट रीड़ की उसके सिद्धांत की की हुई प्रशस्ति इस प्रकार प्रकाशित है : "For the first time we have a theory which accounts satisfactorily for all forms of art and all art forms".

फिर भी पाठकों को इस सिद्धांत का चेहरा पहचाना-सा लगना आश्चर्य की बात नहीं है। लैंगर का सिद्धांत अनेक विश्वचैतन्यवादियों के अभिव्यंजना-सिद्धांत की याद दिलाता है। कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में दोनों सिद्धांतों में विलक्षण समानता है। लैंगर की तरह बोसाँकि भी कलाकृति को भासरूप मानता है। कलाकृति भासरूप होने के कारण प्रत्यक्ष अस्तित्त्व में होनेवाली वस्तुओं के व्यावहारिक उपयोग कलाकृति के संदर्भ में अप्रासंगिक ठहरते हैं, यह दोनों का मानना है। बोसाँकि की राय में कला भावना की अभिव्यंजना करती है। तो भी हर भावना की अभिव्यंजना कला नहीं सिद्ध होती। वैसा सिद्ध होने के लिए मूल भावनात्मक अनुभव पुष्प की तरह खिलना आवश्यक होता है। इसका अर्थ यह कि बोसाँकि को व्यामिश्र और उलझनपूर्ण अंतर्गत रचना से संपृक्त भावना ही अभिप्रेत है। फिर, कलाकृति भी एक व्यामिश्र रचना ही है, उसमें हर घटक के अन्य सभी घटकों के साथ जो संबंध होते हैं वे रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं, इस बात के संबंध में भी बोसाँकि और लैंगर में एकमत है। एक बाबत में दोनों में मतभेद है। बोसाँकि कलास्वाद को ज्ञानानुभव नहीं कहता। लैंगर की राय में वह ज्ञानानुभव ही है। फिर भी लैंगर कहती है कि वह ज्ञान अवधारणात्मक अथवा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। लैंगर की भूमिका विश्वचैतन्यवादियों को मान्य होने की बहुत शक्यता है, क्योंकि विश्वचैतन्यवादी मानते हैं कि विश्व में जहाँ-जहाँ नियमितता है, वहाँ बौद्धिकता भी होती है। लैंगर भावना में अंतर्निहित इसी नियमितता की खोज में है। यह कहा जा सकता है कि लैंगर द्वारा वर्णित भावना के रूप का अवधारणाविरहित ज्ञान की कांट द्वारा निर्दिष्ट "नियमरहित नियमितता" का प्रत्यय है। लैंगर का यह सिद्धांत कि "कलाकृति भावना की रचना या बुनावट का प्रतीक होती है" कांट के इस सिद्धांत की याद ताजा करती है कि "सौंदर्य नीति का प्रतीक होता है।" उपरोक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि लैंगर का सिद्धांत

जितना नया लगता है उतना नया नहीं है। उसका पूर्वोच्चार विश्वचैतन्यवादियों में प्राप्त होता है।

यहाँ एक और मुद्दे का उल्लेख भी करना जरूरी है। विश्वचैतन्यवादियों की राय में कलानुभव अलौकिक अनुभव है। उसमें ज्ञानात्मकता और व्यवहारात्मकता दोनों वर्जित हैं। ऐसा होने पर भी कुछ विश्वचैतन्यवादियों ने कलात्मक व्यापार को ज्ञानात्मक माना है ऐसा ऊपर से देखने पर लगता है। उदाहरणार्थ क्रोचे कलाकृति एवं विशिष्ट वस्तु को प्रातिभज्ञान के बीच एकरूपता मानना है। यह सही है कि कला में वह ज्ञानात्मकता लाता है, लेकिन वह यह भी कहता है कि कला का ज्ञान शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक ज्ञान की अपेक्षा पूर्णत: अलग है। उसके सिद्धांत के अनुसार कला व्यापार होने पर भी अपने लिए परिचित अन्य ज्ञान के व्यवहार से वह पूर्णत: अलग है और इसीलिए उसे अलौकिक कहा जा सकता है। लैंगर का सिद्धांत मूलत: विश्वचैतन्यवादियों की परंपरा में आना आवश्यक है, फिर भी उसने उसे जो मोड़ दिया वह लौकिकता की ओर उन्मुख है। अर्थात् यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि अपने को परिचित ज्ञान-प्रकारों में उसे अभिप्रेत कला द्वारा मिलनेवाला ज्ञान नहीं बैठता।

इस सिद्धांत की सही परीक्षा वाङ्मय के क्षेत्र में होती है। अवधारणात्मक अर्थ संगीत में से अलग किया जा सकता है। उसे निकाल देने पर भी संगीत की रचना अर्थयुक्त लगे तो माना जा सकता है कि संगीत भावना की बुनावट का प्रतीक है। लेकिन वाङ्मय से अवधारणात्मक स्वरूप का अर्थ निकाला ही नहीं जा सकता।

लैंगर की राय में कवि अनुभव का, प्रत्यक्ष जीवन का आभास उत्पन्न करता है।[115] काव्यास्वाद में हम प्रत्यक्ष जीवन नहीं देखते, उसका बिंब देखते हैं। इस स्थान पर सही यथार्थ के साथ अपने संबंध को तोड़ना पड़ता है।[116] काव्य का विश्व एक स्वतंत्र विश्व ही होता है।[117] काव्यरूप भासात्मक बिंब भावना का प्रतीक होता है। प्रत्यक्ष जीवन में जिसके कारण कोई भावना जागृत होती है उस बात का निर्देश करके यह बिंब विनिर्मित नहीं किया जाता। काव्य के शब्दों की रचना में से उस भावना की जीवंत रचना अभिव्यक्त होती है। इस रचना के साधर्म्य का पूरा महत्त्व है।[118] सामान्यत: हम ऐसा समझते हैं कि कविता के वर्ण्य विषय में संलग्न भावनाएँ काव्य के माध्यम से व्यक्त होती हैं। उदाहरणार्थ "राजहंस माझा निजला" कविता पढ़ते समय एक दुर्भागी स्त्री एवं उसका मृत बालक हमारे मानस - चक्षुओं के सामने खड़ा रहता है। हम कहते हैं कि इस विशिष्ट परिस्थिति में जो शोकावेग है, उसकी अभिव्यंजना कविता में हुई है। लैंगर को इस प्रकार का भावनाभिव्यंजन अभिप्रेत नहीं है। उसे कहना है कि शोक के विशिष्ट अनुभव की जो अंतर्गत रचना होती है वह शब्द, वृत्त, बिंब, घटना आदि की रचना से व्यक्त होती है।

इसके उदाहरण के रूप में लैंगर द्वारा किए गए शोकात्म नाट्य के विश्लेषण का हम संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेंगे। मानवीय जीवन की एक लय का चित्रण शोकात्म नाट्य में किया जाता है। यह लय मानवीय व्यक्ति का विकास, समृद्धि और उसके जीवन का उतार है। यह लय हर व्यक्ति में दिखती है। सृष्टि में कुछ लयें (उदाहरणार्थ ऋतुचक्र) बार-बार निर्मित होती हैं। यह लय है जो शोकात्म नाटक में चित्रित की जाती है।[119] व्यक्ति के जीवन में अनेक चीजें बीज रूप में विद्यमान रहती हैं। उदाहरणार्थ, उसकी शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक-शक्ति, कार्य करने की एवं सहन करने की शक्ति। ये सारी शक्तियाँ शोकात्म नाट्य में विकसित होती हैं और समाप्त भी। मनुष्य का मनुष्यत्व ही उसके जीवन की नियति है। यह नियति द्वारा तय है कि मनुष्य का जीवन विशिष्ट प्रकार से विकसित होगा और विशिष्ट तरह से खत्म होगा।[120] शोकात्म नायक के जीवन की लय का आरोह-अवरोह चलते समय उसका भावनात्मक और मानसिक विकास होता रहता है, वह समृद्ध होता है और उसके बाद वह अपनी पूर्ण विकसित शक्तियों का त्याग भी करता है। इस त्याग में ही उसकी महानता है। अपना जीवन सफल होने का बोध होने पर मनुष्य हार पर मात कर सकता है।[121] मानव जीवन की इस लय का अथवा रचाव का चित्रण शोकात्मिका में किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि यही लय हर शोकात्मिका का विषय होता है। शोकात्मिका का विषय किसी की इच्छा, कृति, संघर्ष और हार होता है। लेकिन विषय कुछ भी हो, शोकात्मिका के रचाव का तत्त्व वृद्धि - समृद्धि - क्षय ही होता है।[122]

लैंगर के विवेचन में बहुतसा अंश जँचने योग्य है। लेकिन फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्ण स्वीकार्य है। उसके कारण हैं: (अ) लैंगर कहती है उस तरह शोकात्म नाटकों में क्या जीवन की सफलता (fulfilment) का बोध होता है? ऐंटनी एंड क्लियोपात्रा, ऑथेल्लो, एनिमी आफ द पीपल नाटकों में वह निश्चित होता है। लेकिन "हैम्लेट" या "किंग लियर" नाटक में वह होता है ऐसा नहीं। "महाभारत" में भी वह निर्मित हुआ है, ऐसा नहीं दिखता। इन वाङ्‌मय कृतियों में आखिर आत्मिक थकान महसूस होती है। विषण्णता का बोध होता है, जीवन के क्षीण होते जाने की प्रतीक होती है, लेकिन जीवन-सफलता का बोध नहीं होता।

(आ) अरस्तू एवं उसके बादवाले समीक्षकों ने कहा है कि शोकांतिका का नायक सर्वगुणसंपन्न नहीं होना चाहिए। उसमें निदान एक दोष तो होना ही चाहिए, क्योंकि दोष-विरहित नायक का दुख हमारी नैतिक दृष्टि को स्वीकार्य नहीं होता। विश्व में वर्तमान नैतिक व्यवस्था का सूचन शोकात्मिका में होना चाहिए, यह समीक्षकों का दावा होगा। उनका कहना है कि इस व्यवस्था के विरुद्ध कृति करने के कारण ही नायक के हिस्से में दुख आ जाता है।[123] शोकात्मिका देखते समय स्वाभाविक रूप में मन के सम्मुख यह प्रश्न आता है कि प्रायः अच्छे व्यक्तियों की किस्मत में दुख क्यों

होना चाहिए। इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है कि यह प्रश्न समीक्षक पूछे और शोकात्मिका उसका कुछ उत्तर सुझाए। लैंगर का कहना है कि इन समीक्षकों की खोज की दिशा ही गलत है, कलाकृति के संदर्भ में विश्व की रचना और मानव के दुख के संबंध में, तात्त्विक और नैतिक प्रश्न पूछना ही गलत है क्योंकि उसके फलस्वरूप जिस सत्य को दिखाना कला का धर्म है उस सत्य की ओर हम ध्यान नहीं देते।[124] फिर उपरोक्त प्रश्नों के समीक्षकों ने जो उत्तर दिए हैं उनमें एकवाक्यता नहीं है। लैंगर की राय है कि इस समूची गड़बड़ी के मूल में एक मूलभूत गलती है। कवि ने क्या निर्मित किया है और वह किसके संबंध में लिख रहा है, इन दो चीजों में समीक्षक गड़बड़ी करते हैं। कवि ने जो निर्मित किया है उसका कलात्मक प्रयोजन क्या है, यह खोजने के स्थान पर कवि के वर्ण्यविषय के बारे में, मतलब प्रत्यक्ष जीवन के बारे में -- वह क्या सूचित करना चाहता है, जीवन के कौन-से तत्त्व का उदाहरण देने के लिए उसने नाटक लिखा है, इसकी खोज समीक्षक लेने लगते हैं। वाङ्मय सत्य का दर्शन कराता है, जीवन के स्थान पर प्रकाश डालता है। यह सही है। लेकिन अवधारणात्मक स्तर के तात्त्विक एवं नैतिक प्रश्न वह हल नहीं करता।[125] लैंगर ने शोकात्मिका के बारे में जो कहा है वह महत्त्वपूर्ण है, इसमें शंका नहीं है। लेकिन इसलिए अरस्तू से लेकर ब्रैड़ली-स्टायनर तक के समीक्षकों ने जो सवाल पूछे हैं, वे गलत हैं, वे एक तर्काभास पर स्थित हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। शोकात्मिक नाटक देखने पर उत्स्फूर्त रूप में हम जो सवाल पूछते हैं वे अगर देखे जाएँ तो हमारे लिए लैगर की बनिस्वत, या लैंगर जितने, अरस्तू और ब्रैड़ली निकट लगते हैं, यह ध्यान में आएगा।

(इ) लैंगर ने अपना सिद्धांत मूलत: संगीत के संदर्भ में प्रस्तुत किया था। उसने गृहीत माना है कि संगीत अर्थयुक्त होता है। लेकिन संगीत की ओर ध्वनियों की आशयरहित रचना के रूप में भी देखा जा सकता है। संगीत में रूप, आकार, रचना रहती है, यह सही है, लेकिन वह रचना भावना की बुनावट का प्रतीक मानने का कोई कारण नहीं है। वह केवल अर्थविरहित रचना होगी। उसे प्रतीक नहीं भी मानें तो भी वह रचना है, ऐसा कहा जा सकता है। यह भूमिका लेने पर लैंगर के सिद्धांत का मूलत: खंडन होता है। संगीत के संबंध में विशुद्ध रचनावादी भूमिका ली जा सकती है और अनेकों ने वह ली भी है।

यहाँ तक हमने कला की ज्ञानात्मकता और वैचारिकता का अन्वेषण किया। इस अन्वेषण से निष्कर्ष यह निकाला कि कला ज्ञान देती है। यह ज्ञान सामान्य या विशेष का होगा, वह अवधारणात्मक स्तर का होगा अथवा अभाषित प्रत्यक्षदर्शनात्मक प्रतीकों द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान होगा, अनेक कलाकृतियों में ज्ञानात्मकता न होकर केवल वैचारिकता होती है। जीवन के प्रश्नों को ये कलाकृतियाँ जो उत्तर देती हैं वे

अनुभवजन्य प्रमाणों के परे जाते हैं और इसलिए उन्हें ज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता। लेकिन वे उत्तर बुद्धि का समाधान करते हैं, इसलिए उन्हें वैचारिक कहा जा सकता है। हमने यह भी देखा कि ज्ञानात्मकता और वैचारिकता का हम कलाकृतियों की अच्छाई एवं महत्ता के निकष के रूप में उपयोग करते हैं। अर्थात् सभी कलाओं के संदर्भ में हम ज्ञानात्मकता के निकष का उपयोग करते हैं, ऐसा नहीं, वाङ्मयकला के संदर्भ में अनेक स्थानों पर उसका उपयोग होना अटल है। लेकिन संगीत में वह निकष अप्रासंगिक सिद्ध होने की ही शक्यता अधिक है।

प्रस्तुत अध्याय पूर्ण करने के पूर्व एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे का निर्देश आवश्यक है। महान वाङ्मयकृति में में "मानव जीवन का अर्थ क्या है?" "विश्व के असीम फैलाव में मानवीय मूल्यों का स्थान क्या है?" इत्यादि प्रश्न चर्चित रहते हैं। इन प्रश्नों का हल वैज्ञानिक स्तर पर नहीं होता, वैचारिक स्तर पर होता है। इसलिए उनके उत्तर देते समय लेखक अपने सामने ज्ञानात्मक संवाक्य नहीं रखता। वह हमें एक जीवनदृष्टि देता है। इस जीवनदृष्टि में वैचारिकता, मूल्यात्मकता और भावनात्मकता ये तीन घटक होते हैं। इसलिए वह हमारे जीवन एवं व्यक्तितत्त्व के अनेक अंगों का स्पर्श करती है। प्रश्न यह है कि अगर लेखक की जीवन दृष्टिहमारी अपनी जीवनदृष्टि से बहुत भिन्न हो, तो क्या उस कलाकृति का आस्वाद हम ले सकते हैं? कुछ लोगों का मत है कि मानव ने जो-जो निर्मित किया है वह हमारे लिए पराया नहीं है, हम अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर किसी भी मानवी निर्मिति का आकलन कर सकते हैं। लेकिन जरा अधिक विचार करने पर ध्यान में आता है कि लेखक-पाठक के आदान-प्रदानों में बहुत अड़चनें होती हैं। हम जितना समझते हैं उतनी प्रभावपूर्ण हमारी कल्पनाशक्ति नहीं होती, ऐसा लगता है, कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट होगी। चातुर्वण्य को स्वीकार करनेवाली "ज्ञानेश्वरी" का संपर्णू आस्वाद चातुर्वर्ण्य पर हमला करनेवाले आधुनिक को लेना संभव है? ऐसी कलाकृति का, जो बताती है कि मानव एक क्षुद्र जंतु है, मानव की शक्तियों पर श्रद्धा रखनेवाले मानवतावादी या मार्क्सवादी के लिए संपूर्ण आकलन करना क्या संभव है? वर्गरहित समाजरचना के उपरांत मनुष्य के दुर्गुण नष्ट हो जाएँगे, मानव संपूर्ण सद्गुणयुक्त, सुखी होगा, इस प्रकार की जीवनदृष्टि पर आधारित वाङ्मयकृति, ऐसे लोगों की जो मानते हैं कि मानव की सुष्ट-दुष्ट शक्तियों का संघर्ष अनंत समय तक चलनेवाला है, क्या सही अर्थ में समझ में आएगी? अगर इसका उत्तर नकारात्मक होगा तो यह मान्य करना पड़ेगा कि अनुभव की कक्षाएँ विस्तारित करने के साधन के रूप में वाङ्मय बहुत प्रभावपूर्ण नहीं है, लेकिन यह जँचने लायक नहीं है, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि वाङ्मय के कारण हमारे अनुभव की कक्षाएँ विस्तारित होती हैं। उल्टे, इन प्रश्नों का झट से सकारात्मक उत्तर देना भी मुश्किल है। भिन्न जीवनदृष्टि स्वीकार करनेवाले लेखक-पाठकों में परस्पर

आदान-प्रदान होना हो, तो दोनों को कुछ बातें माननी होंगी। टी. एस. इलियट ने लेखक की दृष्टि से इसका विचार किया है।[126] उसकी राय में किसी वाङ्मय कृति की जीवनदृष्टि या वैचारिक नक्शा पर्याप्त व्यापक, सुसंगतिपूर्ण और प्रौढ़ हो तो वह आस्वाद के आड़े नहीं आता। लेकिन अगर वह संकीर्ण और अप्रौढ़ होगी तो आस्वाद में निश्चय ही विघ्न उपस्थित करती है। लेकिन इतना कहने से काम नहीं चलता। पाठक से एक बात की अपेक्षा है। अपनी खास जीवनदृष्टि आस्वाद के समय अलग करके दूसरी जीवनदृष्टि कुछ समय तक स्वीकारने की कम-से-कम उसकी ओर सहिष्णुता एवं सहृदयता पूर्वक देखने की क्षमता पाठक के पास होना आवश्यक है। जीवनदृष्टि वैज्ञानिक की तरह न होने के कारण जीवनदृष्टियाँ अनेक हो सकती हैं। यह मान लिया जाए तो उपरोल्लेखित क्षमता प्राप्त हो सकती है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना होगा कि जीवन-दृष्टियों के संबंध में ऐसी सहिष्णुता उतनी आसान भी नहीं होती, जितनी कि ऊपर से लग सकती है।

❑❑

अध्याय 11
कला और रूप

11.1

तीसरे अध्याय में हमने देखा कि कला की अवधारणा द्विध्रुवात्मक है। कला की स्वायत्तता और स्वयंपूर्णता को माननेवाला सिद्धांत एक ध्रुव है तो कला लौकिकजीवन का ही एक भाग है, यह सिद्धांत दूसरा ध्रुव। विश्वचैतन्यवादियों के अलौकितावादी सिद्धांत को सही समर्थन स्वायत्त सौंदर्यमें अथवा आशयरहित केवल रचना में मिलता है। लेकिन विश्वचैतन्यवादी सौंदर्यशास्त्रज्ञ बहुत महत्त्वाकांक्षी हैं। एक ओर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सभी कलाकृतियों में एवं सुंदर वस्तुओं में आशय अपरिहार्यत: विद्यमान रहता है। तो दूसरी ओर विश्वचैतन्य के विभिन्न स्तरों पर अभिव्यंजना ही कलाकृतियों एवं सुंदर वस्तुओं का नित्य आशय होता है। इसी के साथ इस आशय की सरंचना एक अ-लौकिक तत्त्व के अनुसार होती है, यह भी वे सिद्ध करना चाहते हैं। क्योंकि उसके सिवा कला की अलौकिकता सिद्ध करना असंभव होता है। इसीलिए सभी अलौकिकतावादी मीमांसक रूपतत्त्व पर (principle of form) विशेष बल देते हैं। लेकिन इतना मात्र कहने से उनकी भूमिका पर्याप्त नहीं होती। क्योंकि पिछले प्रकरण में लैंगर के सिद्धांत की चर्चा करते समय हमने यह देखा कि जहाँ संरचना होती है वहाँ रूपतत्त्व भी होता ही है। अलग अलग संदर्भ में अलग अलग रूपतत्त्व दिखते हैं। अरस्तू ने जब संभवनीयता और अपरिहार्यता का निर्देश किया तब वह एक-एक ज्ञानात्मक रूप पर ही बल दे रहा था।, लैंगर ने कहा कि जब शोकात्मिका में 'विकास-परिपक्वता-ढलान' लय की उपलब्धि होती है तब वह भी एक ज्ञानात्मक रूप का ही निर्देश कर रही थी। व्यावहारिक रूपतत्त्वों की उपलब्धि जीवन में सर्वत्र होती है। विशिष्ट साध्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधनों की योजना करना एक तरह से एक व्यावहारात्मक रूपतत्त्व का उपयोग करना ही है। शोकात्मिका के घटकों का चुनाव करते समय अथवा उनकी संरचना करते समय भावनाओं का विरेचन या शुद्धिकरण साध्य करना होता है, यह विचार नाटककार मन में रखे तो यह कहा जा सकता है कि उसने एक व्यवहारात्मक रूप का तत्त्व का ही स्वीकार किया है। इन उदाहरणों से यह ध्यान में आएगा कि रूपतत्त्व जीवन में सब स्थानों पर होता है। इसलिए रूपतत्त्व का संदिग्ध उल्लेख कर कला का अलौकिकत्त्व सिद्ध नहीं होगा। उनके लिए यह भी कहना चाहिए कि यह रूपतत्त्व अलौकिक होना चाहिए।

विश्वचैतन्यवादियों को अलौकिक रूपतत्त्व कांट के विचार में प्राप्त हुआ था। वह है "नियमरहित नियमितता" और "प्रयोजनशून्य प्रयोजनपूर्णता।" एक ओर समूचे जीवन का स्वीकार कर के दूसरी ओर उपरोक्त अलौकिक रूप तत्त्व की सहायता से पुनर्रचना करने की दुहरी प्रतिज्ञा विश्वचैतन्यवादियों ने की। यह दावा कितना टिकनेवाला है, यह हम अब देखेंगे। आशययुक्त कलाकृतियों के बारे में बोलना हो तो यह मान्य करना चाहिए कि पिछले तीन अध्यायों के निष्कर्ष लौकिकतावाद के पोषक थे। हमने देखा कि उन कलाकृतियों के बारे में बोलते समय हम बिलकुल सहज दृष्टि से ज्ञानात्मक एवं नैतिक प्रश्न पूछते हैं। आस्वाद के संदर्भ में हमने दुख और भावना-जागृति की चर्चा की। उस चर्चा का निष्कर्ष भी लौकिकतावाद की ओर उन्मुख था। उसके पहले हमने सृजन-प्रक्रिया का विचार किया। उसमें हमने चरित्रात्मक या जीवनीपरक प्रणाली की समी क्षा की और कलाकृति की ओर से लौकिकतावाद की ओर जानेवाले रास्ते को बंद किया। लेकिन यह हमने मान्य किया कि 'आत्मनिष्ठा', 'सच्चाई' इत्यादि अवधारणाएँ समीक्षक को प्रयुक्त करनी पड़ती हैं। और ये अवधारणाएँ लौकिकतावाद की तरफ की है यह ध्यान में रखना चाहिए। इसका अर्थ यह कि अब तक की चर्चा से जो निष्कर्ष निकलते हैं वे लौकिकतावाद के पोषक है। अब रूपतत्त्व के मुद्दे पर अलौकिकतावादी आक्रमक पैंतरा धारण करेंगे तभी सिद्ध हो सकेगा कि आशययुक्त कला के संदर्भ में उनका सिद्धांत विचारार्ह है।

11.2

'रूप एवं रचना' शब्द हमने फॉर्म शब्द के समानार्थक मानकर प्रयुक्त किए हैं। उसी तरह प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांतों के संदर्भ में "फॉर्म" के लिए हमने 'सत्त्व' शब्द का उपयोग किया है और कांट तथा क्रोचे के संदर्भ में 'आकार' शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि 'फॉर्म' शब्द अनेकार्थवाचक है। उसके सारे अर्थ सूचित होंगे ऐसा कोई एक मराठी शब्द नहीं मिलता। इसलिए 'फॉर्म' के लिए अलग-अलग संदर्भ में अलग-अलग शब्दों की योजना करनी पड़ी है। 'फॉर्म' के मूल अंग्रेजी में जो अर्थ हैं वे जाँचकर उनके भेद सदैव ध्यान में रखने चाहिए। ये अर्थ अलग-अलग नहीं रखे जाएँ तो चमत्कारिक गलतियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, 'फॉर्म आफ लिटरेचर' का अर्थ वाङ्मय प्रकार है, यहाँ 'आकृति' अर्थ पूर्णत: असंगत है। लेकिन 'लिरिक, एक आकृति या आकृति-बंध है'-- ऐसे कुछ चमत्कारिक संवाक्य समीक्षक करते पाए गए हैं।'

फॉर्म शब्द के विविध अर्थों का हमें विचार करना है अत: 'रूप', 'रचना', 'आकार', एवं सत्य' अब तक इस्तेमाल किए गए किसी एक शब्द की पर्यायी शब्द के रूप में योजना करना विवेचन की दृष्टि से हितकर नहीं होगा। इसलिए विवेचन की सुविधा के लिए वहाँ फॉर्म शब्द प्रयुक्त किया गया है। 'फॉर्म' शब्द के 'शार्टर

आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' (सस्क. ई. 1955) में जो अर्थ दिए हैं उनमें से निम्न-लिखित अर्थ अपने संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं:

1. The visible aspect of a thing: now 454., shape, configuaration, occas, the figure of the body as dist. from the face.
2. Philos. (a) In the Scholostic philosophy: The essential determinant principle of a thing that which makes anything (matter) a determinate species or kind of being: the essential creative quality.
2. (b) In Kant: That (subjective) factor of knowledge which gives reality and objectivity to the thing known.
3. Due shape: regularity, good order
4. Style of expressing the thoughts and ideas in composition including the arrangement and order of the parts. Also, good or just order (of ideas etc.): logical sequence.
5. Manner, method, way (of doing anything).
6. A set method of outward behaviour or procedures :

a) ceremony or formality (often slightingly);

b) a way of behaving oneself; in pl = manners.

7. Observance of etiquettin, ceremony or decorum (offer depreciatively) · Mere onward ceremony of formality.

(उपर्युक्त में से दूसरे अर्थ के लिए हमने 'सत्त्व' एवं 'आकार' शब्दों का प्रयोग किया है, उनकी चर्चा अरस्तू कांट, क्रोचे के संदर्भ में आई है; यहाँ अन्य शब्दों की चर्चा करेंगे।)

इनमें से पहला अर्थ मराठी में प्रचलित हुआ है। 'फॉर्म' शब्द के जो पर्याय शब्द प्रयुक्त होते हैं, (उदाहरणार्थ, 'रूप', 'घाट', 'आकार', 'रचना', 'आकृति') उससे स्पष्ट दिखता है। जो दृश्य है उसके संदर्भ में यह अर्थ उचित होगा। परंतु जो अन्य इंद्रियों द्वारा या केवल मन से ही जानना होता है, उसके संदर्भ में यह अर्थ उचित नहीं लगता। अन्य संदर्भों के जब वह शब्द इस्तेमाल होता है तब उसे वाच्यार्थ में नहीं लिया जाता। वाच्यार्थ के परे जाकर हम कभी 'घाट' या 'आकार' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। इसके दो कारण हैं : पहला कारण यह है विचार की सुविधा के लिए हम दृश्य चीजों का सतत उपयोग करते रहते हैं, अन्य क्षेत्रों की अवधारणाएँ हम दृश्य चीजों की अवधारणाओं की सहायता से प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ तापमान मापने के लिए हम एक दृश्य उपकरण इस्तेमाल करते हैं और हृदय की स्थिति जानने के लिए दृश्य आलेख देनेवाला यंत्र इस्तेमाल करते हैं। 'मन के विविध स्तर', 'अर्थ के विविध स्तर' शब्द प्रयोगों में भी दृश्य चीजों का उपयोग अभिप्रेत है। दृश्य चीजों की अवधारणाओं का उपयोग करना सुकर होता है, इसलिए

विचार करते समय उनकी सतत सहायता ली जाती है, यह स्पष्ट है सौंदर्यशास्त्र की चर्चा में 'घाट' एवं 'आकार' शब्द बहुत इस्तेमाल किए जाते हैं। इसका एक और भी कारण है। वह यह कि इन शब्दों का मूल्यसूचक अर्थ है। 'आकार' का अर्थ ही 'अच्छा आकार' लिया जाता है। किसी बदशकल व्यक्ति के बारे में हम कहते हैं, इसके कुछ आकार ही नहीं है। अगर उसकी देह है तो आकार तो होगा ही। फिर भी 'इसके कुछ आकार नहीं है', वाक्य आत्मव्याघाती नहीं है, क्योंकि इस वाक्य का अर्थ 'उसका आकार अच्छा नही' ऐसा ही लेना होता है। जब मूल्यसंकेत का अंग वाच्यार्थ से अधिक प्रभावपूर्ण होता है तब उस शब्द के अर्थ में 'व्यवस्थितता', 'अनुपातपूर्णता' 'सौष्ठव' आदि अवधारणाओं का भी समावेश होता है। (ऊपर दिए अंग्रेजी अर्थों में तीसरा देखें) उपर्युक्त दो कारणों से 'घाट' और 'आकार' शब्द, उनका मूल संदर्भ (मतलब-दृश्य बातें) छोड़कर अन्य क्षेत्रों में भी इस्तेमाल किए जाते हैं।

11.3

अगर चीजों का विभाजन किया जाए -- दृश्य या इंद्रिय-गोचर-स्वरूप और उनका अंतरंग -- तो हमें दो अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं। उपर्युक्त अर्थों में चौथे अर्थ में यह विभाजन गृहीत माना गया है। वाङ्मय, वक्तृत्त्व इत्यादि तक ही यह विभाजन संगत है ऐसा नहीं। अन्य संदर्भों में बोलते-बरतते समय भी यह विभाजन उपयोगी ठहरता है। विशिष्ट काम और वह करने की पद्धति अथवा रीति— इस तरह विभाजन करेंगे तो रीति का अंतर्भाव 'फॉर्म' में होता है। (अर्थ पाँच देखिए।) इसके बिलकुल निकट आनेवाला लेकिन मूल्यसूचन भी करनेवाला अर्थ 'रीति' शब्द में समाविष्ट है। (अर्थ छः और सात देखिए।) ज्येष्ठ व्यक्तियों को सम्मान देना हो तो नीचे झुककर नमस्कार करना, निदान उनके आगमन पर खड़े होना, इत्यादि रीतियों का इस्तेमाल करना पड़ता है। 'आकार' शब्द को जिस तरह मूल्यात्मक अर्थ है उस तरह - 'रीति' शब्द को भी वह है। 'वह लड़की कोई रीति (रिवाज) जानती ही नहीं दिखती, सास आने पर भी पैर फैलाकर बैठी थी।' इस वाक्य में 'रीति' शब्द का मूल्यात्मक अर्थ स्पष्ट होता है। 'आकार' होना याने 'अच्छा आकार होना' उसी तरह 'रीति जानना' याने अच्छी रीति जानना, बोलना-बरतना, औचित्यपूर्ण एवं शिष्ट आचरण के अनुकूल होना' ऐसा समझा जाता है।

एक ही आशय अलग-अलग पद्धतियों से व्यक्त किया जा सकता है, यह गृहीत बात चूँकि हमारे मन में होती है, इसलिए हम आशय एवं अभिव्यक्ति की रीति के बारे में स्वतंत्र मूल्यसंवाक्य बनाते हैं। उदाहरणार्थ हम कहते हैं, 'अ' की भावनाओं की सच्चाई के बारे में वाद नहीं है। लेकिन वह उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त नहीं कर पाता यह सही है। 'ब' के भाषण में नए मुद्दे तो नहीं थे लेकिन भाषा ओजस्वी थी और वक्तृत्त्व सराहनीय था। 'क' के लेख में प्रचुर विद्वता एवं नए विचार जगह

जगह पर दीखते हैं। लेकिन सामग्री का सही प्रस्तुतीकरण वह बिलकुल ही नहीं जानता।" आशय एवं अभिव्यक्ति में सेंद्रिय संबंध न होकर एक ही आशय की अलग-अलग प्रणालियों (रीतियों) से अभिव्यक्ति हो सकती है, यह बात गृहीत मानकर ही अपना बहुत सारा समीक्षाव्यापार भी चलता है।

कभी लेखक जो कुछ लिखता है उसे आशय का अच्छा समर्थन नहीं रहता। लेकिन ऐसा अच्छा आशय होता तो उसके लिए उचित सिद्ध होती, ऐसी अभिव्यक्ति होती है। यह अन्य क्षेत्र में भी घटित होता है। उदाहरणार्थ, मित्रता एवं आदर की भावना व्यक्त करने के लिए मनुष्य एक दूसरे को नमस्कार करते हैं। लेकिन कभी केवल नमस्कार के लिए नमस्कार भी किया जाता है। आशय एवं अभिव्यक्ति का विभाजन यहाँ परम सीमा को पहुँच जाता है। ऐसे समय हम कहते हैं कि केवल उपचार या 'फॉर्म' के तौर पर उसने नमस्कार किया। यहाँ केवल उपचार/फॉर्म शब्द प्रयोग अप्रशंसा का संकेतक होता है। मूल में आशय एवं अभिव्यक्ति एक दूसरे से संलग्न होती तो नमस्कार के लिए नमस्कार अस्तित्त्व में ही न आया होता। छोटा बच्चा स्कूल में नहीं जाना चाहता तो पेट दुखने की बात कहकर रोने का बहाना करता है। लेकिन सचमुच में अगर पेट दुखने पर बच्चे न रोते तो ऐसा बहाना करना संभव न होता। सच्चे सिक्के होते हैं, इसीलिए नकली सिक्कों के इस्तेमाल की शक्यता पैदा होती है।

अभिव्यक्ति का विचार करते समय पहली बात ध्यान में रखनी पड़ती है वह ऐंद्रियता की। हर कलाकृति में ऐंद्रियता का अंग कम अधिक अनुपात में होता ही है। संगीत में इस अंग को बहुत महत्त्व मिलता है तो गद्य वाङ्‌मय में सबसे कम। लेकिन सभी कलाओं में ऐंद्रियता अवश्य रहती है। ऐंद्रिय घटक के साथ एक बात का निर्देश करना जरूरी है। वह है तकनीक। एक ही आशय को अलग-अलग ढंग से कहा जा सकता है, यह हमने देखा ही है।

यहाँ हम भेद करते हैं कि 'क्या कहा है?' और 'कैसे कहा है?' और 'कैसे' की चर्चा करते समय आँखों के सामने केवल ऐंद्रिय घटक ही होता है, ऐसा नहीं। कथन की नानाविध पद्धतियाँ, कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण की विविधता इत्यादि चीजें हमें अभिप्रेत होती हैं, निदान वाङ्‌मय के संदर्भ में इन केवल ऐंद्रिय न होनेवाली चीजों का बहुत महत्त्व होता है। सारांश, आशय एवं अभिव्यक्ति का विभाजन करेंगे तो अभिव्यक्ति को फॉर्म कहना समुचित है और 'फॉर्म' में अभिव्यक्ति के ऐंद्रिय माध्यम, अभिव्यक्ति का तकनीक एवं शैली का समावेश करना पड़ता है।

अब हमें दो प्रश्नों का विचार करना है: (1) उपरिनिर्दिष्ट आशय एवं फॉर्म दोनों अंगों का एक दूसरे के साथ किस प्रकार का संबंध होता है? (2) इनमें से एक ही अंग का विचार करने पर क्या केवल उसी को लागू होनेवाला संगठन तत्त्व होता है?

11.4

पहले प्रश्न का विचार करते समय एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि वाङ्मयकृति जैसी आशययुक्त कलाकृतियों में ही आशय एवं अभिव्यक्ति दो अंग संभावित हैं। लेकिन खयाल गायन में अर्थ का लगभग बिलकुल महत्त्व नहीं होता और तराना में तो अर्थ नहीं ही होता। वहाँ उपरोल्लेखित दो अंग नहीं होते। इसलिए उनके बीच के संबंध का प्रश्न ही नही पैदा होता। इस संदर्भ में आशय एवं अभिव्यक्ति (फॉर्म) के बीच संबंध महत्त्वपूर्ण न होकर घटक एवं संगठन (फॉर्म) का संबंध महत्त्वपूर्ण है। उसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। यहाँ हमें आशय एवं अभिव्यक्ति के बीच के संबंधों का ही विचार करना है।

अनेक समीक्षकों ने कहा है कि आशय एवं अभिव्यक्ति दो अलग घटक हैं और उनमें औचित्य (aptness) का रिश्ता होता है। कुछ लोगों ने उससे आगे बढ़कर यह भी सुझाया है कि आशय एवं अभिव्यक्ति में एक प्रकार का साधर्म्य होता है। अभिव्यक्ति के केवल ऐंद्रिय घटकों के संबंध में बोलना हो तो कहा जा सकता है कि यह साम्य संवेदनों के गुणों एवं आशय के स्वरूप में होता है। उसी तरह संवेदनों के संबंधों की की अंतर्व्यवस्था और आशय की अंतर्व्यवस्था में भी साम्य होता है। इस संदर्भ में अलेक्झांडर पोप के 'ऐन एसे आन क्रिटिसिजम' की पंक्तियाँ (362-373) महत्त्वपूर्ण हैं।

True ease in writing comes from art, not chance
As those move easiest who have learned to dance.
Tis not enough no harshness gives offence.
The sound must seem an echo to the sense:
Soft is the strain when zephyr gently blows
And the smooth stream in smoother numbers flows;
But when loud surges lash the sounding shore,
The hoarse, rough verse should like the torrent roar :
When Ajare strives some rock's vast weight to throw,
The line too labours, and the words move slow ;
Not so when swift Camilla scours the plain,
Flies o'er th'unbending corn, and skims along the main.

आशय के साथ ऐंद्रिय घटक व्यक्तिशः एवं एकत्रित रूप में कैसे बदलते हैं इसका उदाहरणसहित स्पष्टीकरण उपर्युक्त पंक्तियों में मिलता है। ऐंद्रिय संघटन पर जैसे आशय का परिणाम घटित होता है, वैसे आशय पर भी इस संगठन का परिणाम घटित होता है। उसका कारण यह है कि वाङ्मयीन कलाकृति दो अलग-अलग संघटनों के साहचर्य एवं सहकार्य का परिपाक होता है। एक आशय की संगठना एवं दूसरा ऐंद्रिय घटकों का संगठन। कवि को इन दोनों संगठनों की ओर ध्यान देना पड़ता है और उसके

कारण ऐंद्रिय संगठन का वैशिष्ट्य समझ लेते समय हमें दो चीजों की दखल लेनी पड़ती है। एक तो ये वैशिष्ट्य ऐंद्रिय सगठन का एक ऐंद्रिय संगठन के रूप में सौंदर्य विकसित करनेवाले होते हैं, फिर वह आशय ढंग से एवं प्रभावपूर्ण रूप में व्यक्त हो इसलिए भी वे उत्पन्न हुए होते हैं। शेक्सपिअर के नाटकों का छंद-शास्त्रीय अध्ययन करने पर यह ध्यान में आता है कि उसके प्रारंभिक नाटकों की छंदरचना में बहुत एकरसता थी। लेकिन जैसे-जैसे उसका वृक्ततंत्र अधिक परिपक्व होता गया वैसे-वैसे यह यांत्रिकता जाकर छंद में जीवंत लचीलापन आया। 'अ मिड़समर नाइट्स ड्रीम' के संवाद और 'लियर' या 'टेंपेस्ट' के संवादों की तुलना करने पर यह ध्यान में आएगा। अंग्रेजी के (Dramatic Blank Verse) का कुल इतिहास देखा जाए तो प्रारंभ में एकरसता और बाद में लचीलापन, यही क्रम दीखता है। यह लचीलापन आने का एक कारण छंदरचना को अधिकाधिक अर्थसंपृक्त करने के लिए कवियों द्वारा किया गया प्रयास है। लेकिन उसी के साथ एकरस छंदरचना में निहित रचना-सौंदर्य लचीली छंदरचना में निहित रचना-सौंदर्य की अपेक्षा कम दर्जे का होता है। यह बोध भी इस परिवर्तन का कारण हो सकता है।

शैली एवं तकनीक का आशय के साथ विद्यमान संबंध औचित्य, सुहकार्य एवं साधर्म्य का होता है। यह स्पष्ट करने के लिए हम एक दो उदाहरण लेंगे। उनमें से पहला उदाहरण चेतना-प्रवाह के तकनीक का है। यह तकनीक विशिष्ट प्रकार के आशय से संलग्न है। अपने हर दिन के जीवन के अनुभव निश्चित उद्देश्यों एवं विचारों द्वारा संबंधित हुए रहते हैं। और इस संगठन कार्य में वस्तुस्थिति का भान सतत सहायता करता रहता है। लेकिन कभी मनुष्य का वस्तुस्थिति के साथ संबंध टूट जाता है। कभी परिस्थिति ही ऐसी होती है कि यह एहसास होता है कि अपने उद्देश्य पूरे नहीं होंगे। ऐसी मानसिक स्थिति में विचार स्वैरतापूर्वक भटकने लगते हैं। अगर इन विचारों में कुछ संगति होगी तो वह सुप्त मन में बिल्कुल गहरे धँसी इच्छाओं के कारण उत्पन्न होती है। सबोध मनोव्यवहार की व्यवस्था स्वैर मनोव्यवहार में नहीं होती। विचारों को इतस्तत: बहने देना एवं उनका केवल शब्दीकरण करना संज्ञा-प्रवाह के तकनीक का प्रमुख वैशिष्ट्य है। यह स्पष्ट है कि हमारे रोजमर्रा के मनोव्यापार का चित्रण करने के लिए इस तकनीक का उपयोग नहीं होगा। परिस्थिति के साथ जिसका गठबंधन नहीं हुआ है ऐसे बिखरे मन का ही चित्रण इस तकनीक से किया जा सकता है। वसंत कानेटकर के 'घर' उपन्यास में इस तकनीक का बहुत कुशल उपयोग किया हुआ है। इस उपन्यास का नायक परिस्थिति से कुंठित हुआ है। जहाँ-जहाँ परिस्थिति को झुकाकर या उसके साथ समझौता कर अपनी इच्छा को पूर्ण कर लेने का प्रयास वह करता है वहाँ उसे असफलता मिलती है। ऐसे समय उसके विचार स्वैर बहने लगे हों तो आश्चर्य नहीं। उस स्वैरता में रूढ़ अर्थ में बौद्धिक व्यवस्था नहीं है। परंतु एक

तरह की एकसूत्रता है क्योंकि ये स्वैर बहनेवाले विचार और पतझड़ की तरह चक्कर काटनेवाले कल्पनाचित्र नायक की यौन-इच्छा से उद्‌भूत हैं। इस परिस्थिति में इस प्रकार के मनुष्य की यही स्थिति होगी, यह हमें समझ में आता है। हम कहते भी हैं कि ऐसा होना अटल है। 'घर' उपन्यास बहुत अच्छा बना है, क्योंकि उसके आशय एवं तकनीक में औचित्य का रिश्ता है। लेकिन जहाँ मनुष्य परिस्थिति के साथ सचेत होकर मुकाबला कर रहा हो, वहाँ सीधी संवेदना-प्रणाली अधिक औचित्यपूर्ण ठहरती है। आशय कैसा है, इसपर निवेदन का तंत्र निर्भर रहता है।

विशिष्ट आशय (और उसके लिए अनुरूप निवेदन-प्रणाली) चुनने में लेखक परिस्थिति पर एक तरह का भाष्य करता है, जीवन के संबंध में एक समझ सूचित करता है, उसमें से एक नैतिक भूमिका भी व्यक्त होती है। लेखक अगर केवल संज्ञा-प्रवाह तकनीक का ही प्रयोग करे तो संकेतित होता है कि उसकी राय में मनुष्य परिस्थिति के साथ मुकाबला करने में असफल हुआ है, अपने चारों ओर चक्कर काटने के अलावा उसके हाथ में दूसरा कुछ भी नही रहा है, मानव का कोई भविष्य नहीं है, क्योंकि परिस्थिति में परिवर्तन करने की ताकत उसमें नहीं है। उसके लिए आवश्यक निश्चित साध्यों से नियंत्रित विचार वह कर नही सकता। उपर्युक्त तकनीक के सातत्यपूर्ण उपयोग से परिस्थिति के संबंध में एवं मानवी सामर्थ्य के बारे में निराशापूर्ण समझ व्यक्त होती है। उसी तरह परिस्थिति बदलने की शक्यता न होने के कारण उस दिशा में प्रयास करने की जरूरत नहीं है, ऐसा नैतिक संकेत भी सूचित होता है। कानेटकर के 'घर' में सिर्फ रघुनाथ की कथा तक चेतनाप्रवाह का तकनीक सीमित है। उसके कारण बंबई के नगर-जीवन की कड़ुवाहट भरी गंदगी सिर्फ उसमें प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त हुई है। इंदुमति की कथा सरल निवेदन प्रणाली में की गई है। इसलिए कुल मानवी जीवन के बारे में निराशा या हताशा 'घर' में से व्यक्त नही होती। उस परिस्थिति से निकलने का मार्ग है, ऐसा ही कुछ मानो लेखक संकेतिक करना चाहता है। अर्थात् यह रास्ता बहुत उपयोगी नहीं है क्योंकि कोंकण के रमणीय जीवन के बारे में स्वप्नरंजन कर औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले प्रश्न हल नहीं होनेवाले हैं। यह सत्य है कि कोंकण आज जैसा दिख रहा है वैसा बहुत दिनों तक रहनेवाला नहीं है। आधुनिकीकरण का रेला इतना जबर्दस्त है कि उस में से (सप्रयोजन बनाए बगीचों को छोड़कर) कुछ भी छूटनेवाला नहीं है। कानेटकर को जो रोमांटिक रास्ता दीख रहा है वह बहुत उपयोगी नहीं है। यह सही है। लेकिन यह महत्त्वपूर्ण है कि मार्ग खोजने का उन्होंने प्रयत्न किया है।

जिस प्रकार अनुभव मिला है वैसा ही उसे प्रस्तुत करना, उसमें बोधपूर्वक बदल न करना, बुद्धि को आकलित होने के लिए उसपर संस्कार न करना, इत्यादि बातों पर अतियथार्थवादियों का बल रहता है। जो चीज चेतना-प्रवाह के बारे में सही है

वही अतियथार्थवादी तकनीक के बारे में भी सही है। सामान्यत: अपने को जो अनुभव मिलता है वह बुद्धि को आकलन होनेवाला ही होता है। उसमें अर्धस्फुट बिंबों या प्रतीकों का बिखरा-बिखरा प्रवाह नहीं होता। हमारे सामान्य अनुभव में अर्थपूर्णता की ऐंठन होती है। इसलिए इस अनुभव के चित्रण के लिए अतियथार्थवादी तकनीक का उपयोग नहीं होता। अतियथार्थवादी लेखक जब विशिष्ट आशय एवं उसके अनुरूप तकनीक चुनते हैं, तब उन्हें जीवन पर एक भाष्य करना होता है। वह यह है कि सही मनुष्य अपने बोधपूर्वक या सचेत जिए जीवन में नहीं उपलब्ध होता। वह उसके मन के अचेतन स्तर पर ही प्राप्त होता है। लेकिन वह भाष्य गलत एवं भयावह है। यह सही है कि मनुष्य का अबोध मन होता है। लेकिन वही उसका सबकुछ नहीं होता। इस अचेतन मन को धीरे-धीरे विजीत कर अहं सत्ता को बढ़ाने में मानवता है, यह स्वयं फ्रायड़ की मान्यता है।[1] अतियथार्थवादियों को यह घर की भेंट शायद नही रुचेगी। मनुष्य के समस्त जीवन की दृष्टि से विचार करने पर यह ध्यान में आएगा कि चेतनप्रवाह का तकनीक एवं अतियथार्थवादी तकनीक केवल पूरक तकनीक हैं। अर्थात् इन तकनीकों का उपयोग केवल नया फैशन नहीं है। उनको साहित्य मे निश्चित ही स्थान है। लेकिन यह स्थान एक विशिष्ट आशय तक ही सीमित है।[2]

शैली के लिए नाटक की भाषा का उदाहरण लिया जा सकता है। हम हमेशा जिस भाषा में बोलते हैं उससे गड़करी और कुछ अंशों में कानेटकर के नाटकों की भाषा अलग होती है। यह भाषा अलग क्यों होती है? इन नाटककारों को अपना भाषा-वैभव दिखाने का मोह होता है, यह उसका एकमेव कारण नहीं। उनकी शैली का स्पष्टीकरण भिन्न प्रकार सें दिया जा सकता है। वे जो विश्व रच रहे हैं उसके लिए उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा अतिशय उचित है। यह विश्व सामान्य जीवन की अपेक्षा बिलकुल अलग स्तर का है। उसके व्यक्ति अतिमानव लगते हैं। उनकी भावनाएँ विचार, सब कुछ सामान्यों की भावना-विचारों से अलग स्तर के होते हैं। इसलिए उनके मुँह में सामान्यों की भाषा उचित ही नहीं लगेगी। जब आशय सामान्य जीवन का होता है तब कानेटकर घरेलू भाषा लिख सकते हैं। (उदाहरणार्थ 'प्रेमा तुझा रंग कसा?' एवं 'वेड्यांचे घर उन्हांत' नाटकों की भाषा देखें) लेकिन जब वे शिवाजी-संभाजी पर लिखने लगे तब उनकी भाषा बीच-बीच में ऐतिहासिकता का रूप धारण करती है, इतना ही नहीं वह सभी अर्थों में असामान्य होती है। कानेटकर ने जिस रीति से ऐतिहासिक पात्र कल्पित किए हैं, उसी रीति से उनकी भाषा भी निश्चित की है। उनके नाटकों में दोष निकालना ही हो तो केवल उनकी भाषा में ही देखना युक्तियुक्त नहीं होगा। अपने पात्रों की परिकल्पना करते समय ही वे उसमें अस्वाभाविकता ले आए हैं। शिवाजी एवं संभाजी अद्वितीय व्यक्ति हैं, यह सही है, लेकिन सामान्य मनुष्य में भी दिखनेवाला विवेक, परिपक्वता अथवा दृढ़ता उन में न दिखाने में ही उनकी अद्वितीयता है, ऐसा

कानेटकर के नाटकों से लगता है। सामान्यों में जो रहता है, उसमें से इन पात्रों में कुछ भी न हो, यह आश्चर्य है। गरीब को मामूली बुखार और श्रीमंत को राजयक्ष्मा- ऐसा यह विभाजन लगता है। इसलिए कानेटकर के पात्र कभी भावाकुल तो कभी हिस्टेरिकल लगते हैं। एक बार ऐसे पात्र कल्पित करने पर उनके मुँह में असामान्य, याने अप्राकृतिक भाषा का उपयोजन क्रमप्राप्त है।

कलाकृति के घटक एक दूसरे से अलग कर एक ओर आशय और दूसरी ओर शैली एवं तकनीक, इस तरह का विभाजन हमने किया। इन दोनों में औचित्य का रिश्ता होता है, यह भी हमने देखा। शैली, वृत्त, तकनीक का समावेश 'फॉर्म' में करने पर यह कहा जा सकता है कि हर आशय के साथ उसे उचित फॉर्म आवश्यक है। फॉर्म कितना औचित्यपूर्ण एवं यथायोग्य है, इसपर कलाकृति की सफलता निर्भर है तो आशय एवं फॉर्म दोनों को हम अविभाज्य नहीं मानते। हर आशय के साथ अविभाज्य रूप में या ऐंद्रिय संबंध से जुड़ा फॉर्म जन्म लेता तो उस फॉर्म का हम स्वतंत्र मूल्यांकन न कर सकते। लेकिन विशिष्ट शैली, तकनीक, छंद इत्यादि बातें विशिष्ट आशय के लिए उचित हैं ऐसा जब हम कहते हैं तब हम उनका स्वतंत्र मूल्यांकन ही कर रहे होते हैं। जब तक ऐसा हम नहीं कहते कि आशय के लिए उचित न रहनेवाला फॉर्म तर्कत: असंभव है, तब तक फॉर्म कलाकृति का एक स्वतंत्र घटक है, ऐसा ही हम मानते हैं।

उन्नीसवीं शती में कोलरिज जैसे समीक्षकों ने इस कल्पना का जोरदार विरोध किया कि आशय एवं फॉर्म का अलग-अलग विचार हो सकता है। विश्वचैतन्यवादियों का भी इस कल्पना से विरोध ही था। इन विचारकों ने एक अलग ही सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस सिध्दांत के अनुसार हर आशय अपने साथ अपना खास फॉर्म लेकर ही जन्म लेता है। कलाकृति के निर्माण होने तक उसका फॉर्म कैसा होगा, इस संबंध में कलाकार कुछ नहीं कह सकता। वृक्ष से चूनेवाला चेप सघन बनने पर उसका आकार कैसा होगा, यह हमें पहले नहीं मालूम होता। वही बात कलाकृति के फॉर्म को लेकर है। हर आशय का खास अपना एक फार्म रहता है, इसका अर्थ यह होता है कि वह आशय दूसरे किसी फॉर्म में अभिव्यक्त होना संभव नहीं होता। इस सिद्धांत की अधिक जानकारी पाँचवें अध्याय में आई है, इसलिए यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की गई है।

'फॉर्म' शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं, इस बात को विश्वचैतन्यवादियों ने ध्यान में नहीं रखा, यह उनका सिध्दांत देखने पर लगता है। 'फॉर्म' का अर्थ संगठनतत्त्व लेने पर और हर कलाकृति अनन्यसाधारण होती है, यह उनका दावा मान्य करने पर उनका उपरोक्त सिद्धांत विचारणीय बनता है। और उसके कुल तात्त्विक चौखटे के अनूसार विचार करने पर वह सिद्धांत स्वीकार्य लगने की भी संभावना है। लेकिन

'फॉर्म' का अर्थ 'भाषा के माध्यम में अभिव्यक्ति' लिया जाए और हर कलाकृति की अनन्यसाधारणता मान्य न की जाए तो विश्वचैतन्यवादियों का सिद्धांत स्वीकार्य प्रतीत होने का कोई कारण नहीं है। अपनी उत्स्फूर्त वाङ्‌मयीन समीक्षा देखी जाए तो स्पष्ट होगा कि हमारा स्वाभाविक रुझान विश्वचैतन्यवादियों का सिध्दांत स्वीकार करने की ओर नहीं होता। लेकिन विश्वचैतन्यवादियों का सेंद्रिय फार्म-विषयक सिध्दांत एक अन्य कारण से महत्त्वपूर्ण लगता है। जब विशिष्ट शैली एवं तकनीक को अनावश्यक महत्त्व मिलने लगता है तब उसमें से बाहर आने के लिए यह सिद्धांत उपयोगी होने की संभावना बनती है।

11.5

आशय और फॉर्म के संबंध में विचार करते समय बहुत बार माध्य और साधन संबंधी ऐसी अवधारणाएँ भी हम इस्तेमाल करते हैं जिन्हें विश्वचैतन्यवादी पसंद नहीं करते। लेखक पाठक या दर्शक के मन पर विशिष्ट प्रभाव करना चाहता है और उसका लक्ष्य पाठक के सामने विशिष्ट आशय प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना होता है। जो कोई लेखक उपन्यास या नाटक लिखने बैठता है उसे पाठक के मन को बाँध रखना आवश्यक होता है। इसके लिए उसे कुछ साधन जुटाने पड़ते हैं। बहुत बार 'आगे क्या होगा?' को लेकर वाचक के मन उत्कंठा जागृत करनी होती है। इसलिए प्रकरण की समाप्ति अथवा पर्दा गिरने के समय उत्कंठा जागृत करना अपरिहार्य होता। शोकात्मिका में विनोदी प्रसंग क्यों रखे जाते हैं? ऐसे प्रसंगों के अनेक प्रयोजन हो सकते हैं। लेकिन उनका सहज ध्यान में आनेवाला प्रयोजन यह कि उसके कारण मन का तनाव कम होता है। नाटक के कुछ प्रसंगों में शोक, भय, करुणा आदि भावनाएँ इतनी प्रभावपूर्ण रहती हैं कि दर्शक उन्हें झेल नहीं पाते। उनके कारण उत्पन्न होनेवाले तनाव को कम करने के लिए हास्यपरक प्रसंगों की योजना की जाती है। जीवन के बारे में एकाध अभिप्राय दर्शकों के मन पर अंकित हो, इसलिए मूल कथावस्तु के साथ किसी उपकथानक की योजना की जाती है। इसकी प्रतीति 'एकच प्याला' और 'किंग लियर' नाट्यकृतियों से मिलती है। किसी राजनैतिक नीति एवं कार्यक्रम के पक्ष में या विरुद्ध लोकमत बनाने के लिए भी विशिष्ट पात्रों तथा प्रसंगों की योजना की जाती है।

लेखक के उद्देश्य के विविध प्रकार के हो सकते हैं। हर स्थान पर प्रचार, क्रांति, मनोरंजन इत्यादि उद्देश्य ही होंगे, ऐसा नहीं। इन सबसे बिलकुल अलग उद्देश्य का उदाहरण लेंगे। कलाकृति का आशय सही एवं सच्चा है, ऐसा पाठक को लगे, इसलिए लेखक विशिष्ट प्रकार की निवेदन-प्रणाली का अवलंब करता है। सामान्यतः उपन्यासकार का दृष्टिकोण सर्वदर्शी निर्माता का होता है। पात्र एवं घटनाएँ उसी के द्वारा निर्मित होती हैं; इसलिए लेखक को उनके बारे में सब कुछ मालूम पड़ता है।

परंतु प्रत्यक्ष जीवन में किसी भी चीज का हमें जो परिचय प्राप्त होता है वह इस तरह सर्वदर्शी दृष्टिकोण से नहीं होता। हमारी दृष्टि की सीमाएँ होती हैं। चीजों का स्वरूप हमें धीरे-धीरे मालूम होता है और बहुत बार उसे हम पूर्णत: समझ भी नहीं सकते। लेकिन हमारी अधूरी समझ में जो सच्चाई और गहराई होती है वह सर्वदर्शी दृष्टिकोण से प्राप्त वस्तुस्थिति की समझ मे नहीं होती। इसलिए भी उपन्यासकार सीमित दृष्टिकोण से निवेदन करते हैं। कुछ उपन्यास विशिष्ट पात्रों के दृष्टिकोण से लिखे हुए होते हैं। कुछ उपन्यासों में पत्रों, डायरी-पद्धति, संवाद का प्रचुर उपयोग किया हुआ होता है। उपन्यास के आशय की सच्चाई की बारे में पाठक को नि:शंक करने के ये मार्ग हैं।

आस्वादक पर विशिष्ट प्रभाव करने के उद्देश्य से लिखी रचना स्वयं साधनरूप बनती है। अनेक कलाकृतियाँ इस तरह की होती हैं। लेकिन कभी लेखक कहता है कि वह पाठक पर प्रभाव करने के लिए नहीं लिखता, उसे जो प्रतीत हुआ है, जो अनुभूति हुई है उसे व्यक्त करने के लिए ही वह लिखता है। यह मान्य कर भी लिया जाए तो भी ऐसा नहीं लगता कि साध्य एवं साधन अवधारणाओं का उपयोग टाला जा सकता है। इसका एक सामान्य कारण है। बहुत बार मूल में अनुभव पर्याप्त स्पष्ट नहीं होता, उसी तरह वह पूर्णत: कलाकार के विशिष्ट माध्यम में आ ही सकता है, ऐसा नही होता। उदाहरणार्थ, कवि का अनुभव पूर्णत: शब्द-रूप में व्यक्त नहीं होता। कुछ अंशों में शब्द-रूप में वह व्यक्त होगा तो कुछ अंशों में ऐंद्रिय संवेदनों से बना होगा। जब कवि कविता लिखता है तब उसे मूलत: अनेक माध्यमों से प्राप्त अनुभव पूर्णत: भाषिक माध्यम से संप्रेषित करना पड़ता है। यह करते समय उसे बहुत चौकस होकर शब्द, बिंब, वृत्त इत्यादि की योजना करनी पड़ती है। यह सही है कि अभ्यास के कारण यह करने में उसे बहुत कष्ट नहीं होता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं की यहाँ साध्य और साधन अवधारणाएँ अप्रासंगिक हैं।

कला के बारे में बात करते समय साध्य और साधन अवधारणाएँ बहुत लचीलेपन से इस्तेमाल में लानी पड़ती है। एक संदर्भ में जो साध्य है, वह दूसरे संदर्भ में साधन हो सकता है। समझ लीजिए कि किसी को चित्ताकर्षक कथा बनानी हो, इसके लिए उसे घटनाओं पर बल देना पड़ता है और वातावरण निर्माण एवं पात्रों के अंकन को साधन का स्थान मिलता है। कथानक को प्रवाही रखने के लिए उसे वर्णनों की कांटछाँट करनी पड़ती है, चरित्रों को भी सहज, समझमें आनेवाले, कम व्यामिश्र, कल्पित करना पड़ता है। लेकिन किसी को पात्रों के मनोव्यापार के चित्रण पर ही बल देना हो, तो इस उद्देश्य के संदर्भ में घटनाओं को दोयम स्थान प्राप्त होकर वे साधन मात्र बनेंगी। पात्रों के व्यक्तितत्त्व का कोई पहलू अधिक स्पष्ट करने के लिए वाङ्मय कृतियों में कुछ घटनाओं एवं संवादों के अंतर्भाव के उदाहरण कम नहीं हैं।

ऑथेल्लो के अंतिम अंक में डेस्डिमोना का अंतिम भाषण देखिए। जिस अवस्था में डेस्डिमोना यह भाषण करती है उस अवस्था में कोई मनुष्य बोल नहीं सकेगा। संभवनीयता के नियम में डेस्डिमोना का यह भाषण उचित नहीं लगता। फिर भी शेक्स्पीअर ने नाटक में उसे स्थान दिया है, क्योंकि उसके कारण डेस्डिमोना का निर्मल प्रेम को उत्त्कर्ष प्राप्त होता है।

अच्छी कलाकृति में एक साध्य और अन्य साधन इस तरह कायम विभाजन नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि जिन चीजो को अन्यत्र केवल साधनरूप प्राप्त हुआ होता है उन्हें, यहाँ अंशत: क्यों न हो साध्यरूप मिलता है। अच्छे नाटक की कथावस्तु, कथावस्तु के रूप में अच्छी होती है। पात्र जीवंत व्यक्तित्व के होते हैं। शैली भी शैली के रूप में अच्छी होती है। लेकिन इसके कारण इन चीजों का साधनरूप पूर्णत: नष्ट नहीं होता। वे एक दूसरे के साधन भी होते हैं और वे स्वयं साध्य भी होते हैं। हम मुख्यत: किसका विचार करते हैं, इसपर किस को साध्य कहा जाए और किसको साधन, यह निर्भर रहता हैं। उनके इस परस्पर संबंध से प्राणी की देह की अंतर्व्यवस्था का सहज ही स्मरण होता है। प्राणियों की इंद्रियाँ एक दूसरे को सुस्थिति के साधन होती हैं और साध्य भी। कलाकृति को ऐंद्रिय संबंध (organic whole) माना जाता है इसका यह एक कारण है।[3] आशय एवं फार्म का रिश्ता भी कुछ अनुपात में ऐसा ही होता है। 'कुछ अनुपात' में कहने का कारण यह है कि जिन कलाओं में आशय को विशेष प्राधान्य होता है वहाँ तकनीक, शैली आदि को बहुत बार केवल साधनों का ही स्थान प्राप्त होता है। लेकिन यहाँ भी कार्य के लिए आशय में परिवर्तन घटित होने के उदाहरण मिलते हैं। छंद या यमक की सुविधा के लिए कवि शब्द बदलते हैं। याने दूसरे शब्दों में अर्थच्छटाओं में परिवर्तन करते हैं। रंगमंच पर कुछ चीजें विद्रूप दिखेंगी इसलिए नाटककार उनका केवल संकेत करते हैं। ऐसे उदाहरण हैं कि जब विशिष्ट अभिनेताओं, नाट्यगृहों के वैशिट्यों को ध्यान में रखकर नाटककारों ने पात्रों, संवादों, वर्णनों एवं गीतों का निर्माण किया है। इन सब बातों के कारण आशय एवं फार्म के बीच के संबंध सेंद्रिय संबंधी की तरह हो सकते हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए। इसलिए साध्य-साधनों की अवधारणा के बदले कभी समष्टि-व्यष्टि (whole and parts) की अवधारणा इस्तेमाल की जाती है। विश्वचैतन्यवादियों की राय में साध्य-साधनों अवधारणाएँ केवल हस्तोद्योग के संदर्भ में ही उचित जान पड़ती हैं। लेकिन ऐसा नहीं कि यह अवधारणा स्वीकार करने पर विश्वचैतन्यवाद को स्वीकारना ही चाहिए।

उपर्युक्त, विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है। वह यह है कि एक ओर आशय और दूसरी ओर कलाकृति का ऐंद्रिय स्वरूप, तकनीक, शैली इत्यादि चीजों में परस्परावलंबी साध्य-साधन का, औचित्य और अनुरूपता का रिश्ता होता है।

11.6

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ है कि 'फॉर्म' शब्द को अलग-अलग संदर्भ में अलग अलग अर्थ प्राप्त होते हैं। कभी शब्द-छंद-रचना तक ही यह शब्द सीमित रखा जाता है। कभी उसमें कथावस्तु की संरचना एवं निवेदन प्रणाली का भी अंतर्भाव किया जाता है। लेकिन इससे भी व्यापक अर्थ में 'फॉर्म' शब्द का उपयोग किया गया है। 'फॉर्म आफ लिटरेचर' शब्द प्रयोग में फॉर्म का व्यापक अर्थ अभिप्रेत होता है। वाङ्मय प्रकार को 'फॉर्म' कहने का कारण यह है कि हर वाङ्‌मय प्रकार के लिए उचित आशय, अभिव्यक्ति, शैली, तकनीक, बुनावट की विशिष्ट रूढ़ियाँ या नियम होते हैं। वाङ्‌मय प्रकार अलग-अलग होते हैं क्योंकि अलग-अलग कलाकृतियों का अलग-अलग नियमों से नियमन होता है। अरस्तू ने इसी दृष्टिकोण से वाङ्‌मय के स्वरूप की चर्चा की है। अपने 'पोएटिक्स' के प्रारंभ में ही उसने अपनी भूमिका स्पष्ट की है। "मेरा उद्देश्य काव्य का मूलस्वरूप, उसके विभिन्न प्रकार, हर प्रकार का मूलभूत लक्षण इन का विचार करना है। महाकाव्य एवं शोकांतिका, सुखांतिका एवं डिथिरेंबिक काव्य, मुरली एवं वीणा के संगीत के अधिकतर प्रकार, ये सब उनके सामान्य स्वरूपों की दृष्टि से अनुकृति के प्रकार हैं। अनुकृति का माध्यम, अनुकृति का विषय, एवं अनुकृति की पद्धति हर बाबत में भिन्न होती है। इसके सिवा दूसरी भी एक कला है, वह सिर्फ भाषा की सहायता से अनुकृति करती है और वह भाषा गद्यरूप अथवा पद्यरूप होती है।[4] चूंकि कर्म करनेवाले व्यक्ति अनुकृति के विषय होते हैं और वे व्यक्ति उच्च या नीच दर्जे के हो सकते हैं। अत: हमें भी, व्यक्तियों को प्रत्यक्ष जीवन में जैसे हैं उनसे अधिक अच्छे, उनसे नीचे दर्जे के अथवा जैसे वे हैं वैसे ही दिखान होगा, यह स्पष्ट है। इसी वैशिष्ट्य के कारण शोकांतिका और सुखांतिका में भिन्नता उत्पन्न होती है, क्योंकि सुखांतिका का रुख मनुष्य को अधिक बुरा दिखाने की ओर रहता है। तो शोकांतिका उसे प्रत्यक्ष जीवन से अधिक अच्छा दिखाने की ओर उन्मुख रहती है। और भी एक तीसरा भिन्नत्त्व है -- जिस पद्धति से उस प्रत्येक विषय की अनुकृति की जाती है, वह पद्धति, क्योंकि माध्यम भले ही एक हो और अनुकृति का विषय भी वही हो तो भी कवि निवेदन की सहायता से अनुकृति कर सकेगा। या वह अपने सामने जीवंत और चलते-बोलते पात्र खड़े करेगा।"[5]

अरस्तू ने उपरोक्त विचार क्यों किया? सृष्टि की चीजों का जैसे वर्गीकरण किया जा सकता है, वैसा वाङ्‌मय कृतियों का भी वर्गीकरण किया जा सकता है, ऐसा उसे लगा होगा। इसलिए उसने उपरोक्त विचार-पद्धति का अवलंब किया होगा। अलग-अलग वाङ्‌मय प्रकारों के वैशिष्ट्य उसने बताए और अमुक एक प्रकार में क्या साधा जा सकता है, उसमें क्या अंतर्भूत हो सकता है, क्या नहीं हो सकता, इसका भी दिग्दर्शन किया। उदाहरणार्थ, महाकाव्य एवं शोकात्मिका के बीच उसके द्वारा

बताया हुआ अंतर देखिए। "महाकाव्य एवं शोकात्मिका के बीच उसके द्वारा बताया हुआ अंतर देखिए। "महाकाव्य में ही अपने विस्तार को बढ़ाने की एक बडी और विशिष्ट शक्ति होती है। बिलकुल एक ही समय घटित होनेवाली विभिन्न घटनाओं की अनुकृति हम शोकांतिका में नहीं कर सकते। रंगमंच की घटनाओं एवं अभिनेताओं द्वारा स्वीकृत भूमिकाओं की सीमाओं में ही हमें व्यवहार करना पड़ता है, लेकिन महाकाव्य में, उसके निवेदनात्मक स्वरूप के कारण एक ही समय घटित अनेक घटनाएँ दिखाई जा सकती हैं। शोकांतिका में अद्‌भुत का अंग आवश्यक होता है। जिसपर अद्‌भुत की मुख्य प्रभावकारिता निर्भर रहती है। उस विचारदुष्ट भाग को महाकाव्य में अधिक अवसर मिलता है।"[6] संस्कृत काव्यशास्त्र में भी अलग-अलग वाङ्‌मय प्रकारों को भिन्न प्रकार की सामग्री किस प्रकार आवश्यक होती है, उनके उद्दिष्ट किस प्रकार भिन्न होते हैं इत्यादि बातों की चर्चा की गई है। महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। इत्यादि निर्देश इसी प्रकार के विचार का परिपाक है।[7]

इन निर्देशों के कारण वाङ्‌मय निर्मिति में अनुशासन पैदा होता है और समीक्षा व्यापार को भी बहुत मदद मिलती है। वाङ्‌मयीन कृति सामने रखते समय उसके संदर्भ में कौन-से प्रश्न पूछे जाने चाहिए, कौन-से प्रश्न असंगत बन जाते हैं, इन बातों का स्पष्ट भान समीक्षक को होना चाहिए। इस दृष्टि से निर्देशों का महत्त्व अविभाज्य है। फार्स का मूल्यांकन फार्स के रूप में ही होना चाहिए। शोकात्मिका के लिए समुचित अपेक्षाओं को लेकर हम फार्स की ओर देखेंगे तो उसका मूल्यांकन होने की बिलकुल ही संभावना नहीं है। इसलिए वाङ्‌मय प्रकारों के स्वरूप का भान समीक्षा में निस्संदेह उपकारक होता है। परंतु रोमांटिक काल-खंड के बाद वाङ्‌मय प्रकारों का महत्त्व कम करने के जान-बूझ-कर प्रयास किए गए। क्रोचे जैसे विश्वचैतन्यवादियों ने भी वाङ्‌मय प्रकार की अवधारणा पर हमला किया। क्रोचे की राय में कलाकृतियों का कला के प्रकारों में वर्गीकरण केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए करना होता है, इस वर्गीकरण की कोई सैद्धांतिक पृष्ठभूमि नहीं है। "शेल्फ 'अ' पर स्थित पुस्तकें", "शेल्फ 'ब' पर स्थित पुस्तकें" -- इस प्रकार के वर्गीकरण का जितना अर्थ है उतना ही अर्थ वाङ्मय प्रकारों की मदद से किये गये वाङ्.मय कृतियों के वर्गीकरण का भी है। शेल्फ "अ" पर स्थित पुस्तकों में कोई एक समान तत्त्व होगा, ऐसा हम नहीं मानते। उसी तरह शोकात्मिका जैसे किसी वाङ्‌मय प्रकार की कलाकृति में भी कोई समान तत्त्व है, ऐसा हमें नहीं मानना चाहिए। किसी कलाकृति में भी कोई समान तत्त्व है, ऐसा हमें नहीं मानना चाहिए। किसी कलाकृति को देखने के बाद वह क्या अभिव्यंजना है, किसकी अभिव्यंजना है, क्या अभिव्यंजना के रूप में वह यथायोग्य है, ये प्रश्न पूछने के स्थान पर समीक्षक पूछते हैं कि वह किस वाङ्मय विधा में वर्गीकृत होती है और उस वाङ्‌मय विधा के नियमों का उसने पालन किया है अथवा नहीं। क्रोचे की राय

में कलाकृति को पहले किसी वाङ्‌मय विधा में बिठा देना और फिर उसका आस्वाद लेना, यह क्रम ही गलत है।

वाङ्‌मय प्रकार की अवधारणा को क्रोचे जो विरोध करता है उसके स्त्रोत कांट में प्राप्त होते हैं। सौंदर्य संवाक्य व्यक्ति विषयक ही होता है, यह कहकर कांट ने हर सुंदर वस्तु का अनन्यसाधारणत्त्व प्रतिपादित किया है। यह हमने दूसरे अध्याय में देखा है। अगर हर कलाकृति एवं सुंदर वस्तु अनन्यसाधारण होती तो कलाकृति का या सुंदर वस्तु का वर्गीकरण असंभव ही ठहरता है। लेकिन कांट का सिद्धांत हमने अतिरेकी, अत: अग्राह्य माना है। अत: वर्गीकरण का तात्त्विक विरोध करने का कोई कारण नही है। लेकिन यह आग्रह हमें अवश्य रखना होगा कि वर्गीकरण यांत्रिक न हो।

वाङ्‌मय कृति के वर्गीकरण का रोमांटिक समीक्षकों ने जो विरोध किया उसका कारण यह है कि वर्गीकरण से उत्पन्न नियम अथवा निर्देश यांत्रिक ढंग से इस्तेमाल में लाए जाने के फलस्वरूप वे कलाकारों एवं समीक्षकों को तकलीफदेह लगने लगे थे। कुछ अनुपात में ये नियम कलाकृतियों को सफल बनाने के अंदाज थे। बदली परिस्थिति के अनुसार उनमें परिवर्तन आवश्यक थे। वैसा न करते हुए कर्मकांडी समीक्षक पुराने से ही दृढ़तापूर्वक चिपके रहे। उनके इस कष्टप्रद से ऊबकर केवल रोमांटिक लेखकों ने ही विद्रोह नहीं किया। ड्रायडन एवं जान्सन जैसे पुरानी परंपरा के समीक्षकों ने भी उनपर हमला किया, कभी समीक्षक वर्गीकरण का विरोध इसलिए करते हैं कि कोई कलाकृति किस वाङ्‌मय विधा में सम्मिलित की जाए, यह उनकी समझ में नहीं आता, क्योंकि किसी विधा में सहज में समाविष्ट होनेवाली वह नहीं होती। बेन जान्सन के 'वाल्पोनी' नाट्यकृति को सुखात्मिका कहा जाए अथवा नहीं, डॉ. केतकर के उपन्यास, हैं अथवा नही, ये प्रश्न समीक्षकों को आज भी तकलीफ देते हैं।

वाङ्‌मय विधाओं के बारे में हम अपनी अवधारणाएँ पर्याप्त लचीली करें तो कर्मकांडी समीक्षकों से तकलीफ नहीं होगी। 'सुखात्मिका' एवं 'उपन्यास' अवधारणाएँ अगर बंदिस्त न रखी जाएँ तो 'वाल्पोनी' एवं केतकर के उपन्यासों का वर्गीकरण करने में कष्ट नहीं होगा। लेकिन यह प्रश्न हल करना उतना आसान नहीं। जिसमें नैतिक भ्रष्टता का विदारक चित्रण किया गया है ऐसे 'वाल्पोनी' जैसे नाटक को 'सुखात्मिका' कहना याने जीवन के सतही दोषों का दिग्दर्शन करानेवाले अथवा हास्य (fun) से ओतप्रोत नाटकों का एवं उपर्युक्त नाटक का वर्ग एक ही है, यह मानना होगा। 'अैज यू लाईक इट,' 'अ मिडसमर न्‌ाईट ड्रीम' 'ट्वेल्थ नाईट' नाटकों के आधार पर अगर हम सुखात्मिका नाटक का मूलादर्श निश्चित करें तो 'वाल्पोनी' को सुखात्मिका मानना हमें कठिन होगा, उसी तरह शॉ के बहुत-से नाटकों को

सुखात्मिका मानने में हम संकोच करेंगे। लेकिन शेक्स्पीअर के उपर्युक्त नाटकों एवं शॉ के नाटकों में और 'वाल्पोनी' में कुछ अंशों में और कुछ मामलों में साम्य है। अगर यह ठीक है तो सुखात्मिका की कक्षा हम शायद बढ़ाएँगे, और उपर्युक्त सभी नाटकों को एक ही परिवार में स्थान देंगे। इन समस्त नाट्यकृतियों में एक ही सत्त्व है, यह कहना अनुचित होगा। लेकिन इतना निश्चित दिखाया जा सकता है कि उनमें कुल-साम्य का नाता है। लेकिन यह सबको उचित लगेगा ऐसा नहीं है, क्योंकि 'सुखात्मिका' अवधारणा स्वभावत: वादग्रस्त है। उसी की सीमाएँ कैसे निश्चित की जाएँ इसके संबंध में वाद होना स्वाभाविक है। वह बात 'उपन्यास' के बारे में भी सही है। वाङ्‌मय-विधा अवधारणा पर क्रोचे की जो समीक्षा है उसके मूल में एक गृहीत है। वह यह कि कला एक ऐसी महाजाति है कि जिसमें जातियाँ एवं उपजातियाँ नहीं होतीं, उसमें केवल भिन्न एवं पूर्णत: स्वतंत्र कलाकृतियाँ ही होती हैं। उसकी राय में कला नामक महाजाति का सत्त्व है अभिव्यंजना। कलाकृतियों का आस्वाद लेते समय एवं मूल्यांकन करते समय इसके अतिरिक्त अन्य किसी बात की अवधारणा का या तत्त्व का उपयोग करना गलत है। लेकिन सभी कलाकृतियों का मूल्यांकन केवल एक ही तत्त्व के आधार से करने के लिए कहना समीक्षकों पर कष्टकर बंधन डालना है। केवल वाङ्‌मय तक बात को सीमित कर चर्चा करनी हो तो यह सही है कि समस्त वाङ्‌मय को लागू होगा ऐसा निकष हम कुछ संदर्भो में इस्तेमाल में लाते हैं। उदाहरणार्थ, हम जब कहते हैं कि शेक्स्पीअर को मानव-स्वभाव के बारे में जो बोध हुआ था वह टामस हार्डी में दिखनेवाले बोध की अपेक्षा अधिक गहन है, तब शेक्स्पीअर नाटककार है और हार्डी उपन्यासकार, यह भेद हम ध्यान में नही रखते। अत: यह स्पष्ट दीखता है कि विशिष्ट संदर्भ में विशिष्ट कारण के लिए वाङ्‌मय विधाओं की भिन्नता को हमें अलग हटाकर रखना पड़ता है। लेकिन इसपर से यह सिद्ध नहीं होता कि समस्त संदर्भो में यह भिन्नता असंगत होती है। भिन्नता के पीछे साम्य होता है, यह तो हम दिखा सकते हैं यह सही है, लेकिन भिन्नता ही नही है यह मानना गलत होगा। भिन्नता एवं साम्य दोनों का विचार संगत होता है। यह प्रश्न केवल तात्त्विक स्तर पर हल करने की अपेक्षा किसी कलाकृति के संदर्भ उठाना अधिक लाभकारी होगा, क्योंकि उसके कारण मुद्दा अधिक स्पष्ट होगा। उदाहरण के लिए शेक्स्पीअर का 'हैम्लेट' नाटक ही लें। इस नाटक का अतिशय व्यापक एवं सामान्य (general) संदर्भ में विचार किया जा सकता है और उसका मूल्य भी निश्चित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि अचेतन मन में उत्पन्न ग्रंथि के कारण वह मनुष्य कैसे निष्क्रिय बनता है, उसके भाग्य-लेख में दुख ही किस प्रकार लिखा जाता है इत्यादि बातों का प्रभावपूर्ण चित्रण 'हैम्लेट' में मिलता है। मानवी जीवन के एक महत्त्वपूर्ण भावनात्मक संघर्ष का चित्रण उसमें मिलता है इसलिए

'हैम्लेट को विश्व वाङ्‌मय में बहुत बड़ा स्थान प्राप्त है। इसी कारण से इस नाट्यकृति की तुलना 'ईडिपस', 'डेथ आफ अ सेल्समन', 'मोर्निंग बिकम्स इलेक्ट्रा' नाटकों के साथ ही 'सोहबराव अेंड रूस्तुम' इत्यादि काव्यों के साथ भी हो सकती है। लेकिन हैम्लेट का समूचा मर्म जान लेना हो तो उसका एक शोकात्म नाट्यकृति के रूप में और उसमें भी एक शेक्स्पीरिअन शोकात्मिका के तौर पर अध्ययन करना होगा। केवल अभिव्यंजना एवं प्रेरणा संतुलन जैसे अवधारणाओं की सहायता से 'हैम्लेट' का पूर्ण विश्लेषण देना असंभव है। 'हैम्लेट' का मूल्यांकन करते समय उसकी अन्य कलाकृतियों के साथ तुलना करना आवश्यक बन जाता है लेकिन इस नाट्यकृति की किसी भी अन्य वाङ्‌मयकृति के साथ हम तुलना नहीं करते। उदाहरणार्थ, 'हैम्लेट', की तुलना 'ट्वेल्थ नाईट' से या 'संशय कल्लोळ' से करने से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। तुलना के लिए विशिष्ट वर्ग की वाङ्‌मयकृतियाँ ही आवश्यक होती हैं। इसका अर्थ यह कि बिना तुलना के मूल्यांकन संभव नहीं और बिना वर्गीकरण के तुलना संभव नहीं। इसलिए क्रोचे का यह दावा कि वाङ्‌मय प्रकार (विधा) कला-प्रकार इत्यादि अवधारणाएँ दिक् भ्रमित करनेवाली और तात्त्विक आधार न होनेवाली अवधारणाएँ हैं, अतिरेकपूर्ण हैं, अतः उन्हें अलग हटाना होगा।

हमारी प्रत्यक्ष व्यावहारिक समीक्षा को देखा जाए तो 'वाङ्‌मय प्रकार' (विधा) अवधारणा का पग-पग पर उपयोग हुआ मिलेगा और यह भी प्रतीत होगा कि उसके कारण हमारी समीक्षा पद्धति अधिक संपन्न हुई है तथा कलाकृति के बारे में हमारी चेतना अधिक सूक्ष्म हुई है। इस स्थिति में कला याने अभिव्यंजना जैसा छोटा, चुस्त फार्मूला खोजने की धुन में हमारे समीक्षाव्यापार के लिए उपयोगी अवधारणाओं का त्याग करना उचित नही होगा। सौंदर्य का कोई आसान एवं सर्वव्यापी फार्मूला होता है, यह धारणा ही भोलेपन से उत्पन्न हुई है और यह मानकर कि ऐसा कोई फार्मूला उपलब्ध हुआ है अपने पास की उपयुक्त अवधारणाओ का त्याग करना मृगजल दीखने पर हाथ में विद्यमान वाटर-बैग का जल उँडेल देना है, यह पागलपन ही है।

11.7

उपरोक्त विवेचन के आरंभ में दो प्रश्नों की चर्चा करना हमने तय किया था। उसमें से पहले प्रश्न की चर्चा (आशय एवं फार्म के संबंधों की) हमने यहाँ तक की। उसी तरह 'वाङ्‌मय विधा' अवधारणा का भी हमने विचार किया। अब दूसरे प्रश्न की ओर चलेंगे। यह प्रश्न है: समझिए, कलाकृति का विश्लेषण हमने किया– (अ) आशय एवं (आ) ऐंद्रिय शरीर, क्या इनमें से हर अंग का स्वतंत्र संगठन तत्त्व प्राप्त होना संभव है? सुविधा के लिए इन दो पहलुओं का अलग-अलग विचार करेंगे।

कलाकृति का ऐंद्रिय शरीर याने वह जिसका अनुभव केवल इंद्रियों के द्वारा आता है। संगीत में नाद (sound), कविता में शब्दों के नाद (verbal sound), चित्रकला

में रंग, रेखा, प्रकाश, छाया, घनता इत्यादि सब ऐंद्रिय अंग के उदाहरण हैं, सुविधा के लिए इन ऐंद्रिय घटकों के अर्थ को अलग रखकर केवल इन्हीं घटकों का विचार करेंगे। पहलेवाले विवेचन में बहुत स्थानों पर हमने साध्य-साधन, आशय-अभिव्यक्ति अवधारणाओं का उपयोग किया है। लेकिन विवेच्य संदर्भ में घटक और संगठना अवधारणाओं का उपयोग करना उचित होगा। जब विशिष्ट आशय व्यक्त करना होगा अथवा आस्वादक पर विशिष्ट प्रभाव करना होगा, तब आशय-अभिव्यक्ति एवं साधना-साध्य अवधारणाएँ संगत ठहरती हैं। लेकिन जब केवल विशिष्ट घटकों का बंध तैयार करना हो, तब घटक एवं संगठन अवधारणाएँ संगत ठहरती हैं।

ऐंद्रिय अंग के घटकों में व्यक्तिशः सुखदता एवं असुखदता हो सकती है। परंतु जब इन घटकों का संगठन होता है तब संघटित घटक व्यक्तिशः कैसे हैं, यह विचार गौण हो जाता है। उदाहरणार्थ, व्यक्तिशः कर्कश नाद भी किसी काव्य-पंक्ति में शोभा देता है। इसका अर्थ यह कि ऐंद्रिय घटकों के संघटन के बारे में विचार करते समय घटकों की सुखदता की अपेक्षा कुछ अलग तत्त्व इस्तेमाल करना पड़ता है।

यहाँ लय तत्त्व (rhythm) पर विचार करना उचित होगा। लय तत्त्व के संबंध में सहज सूझने वाला विचार याने उसमें अनुस्यूत पुनरावृत्ति की अवधारणा किसी घटक की नियमबद्ध पुनरावृत्ति होने पर वहाँ लयबद्धता की प्रतीति होती है, यह सामान्य कल्पना है। ऋतुओं के परिवर्तन में एक प्रकार की नियमबद्धता रहती है। दिन एवं रात के परिवर्तनों में भी नियमबद्धता दिखती है। उसी तरह वह चंद्र की वृद्धि एवं क्षय-सागर का ज्वार-भाटा इत्यादि में भी दिखती है। अपने जीवन का विचार करें तो अपना श्वासोच्छ्वास, हृदय का स्पंदन, अपने जीवन का जन्म-वृद्धि-ह्रास क्रम, ये सभी चीजें नियमबद्ध पुनरावृत्ति के ही उदाहरण हैं। अनेक बार इन्हें लयतत्त्व के उदाहरण माना जाता है। असल में इन्हें लयतत्त्व के उदाहरण नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि लयतत्त्व में अनुस्यूत सर्जक स्वातंत्र्य उसमें नहीं दिखता। लय याने केवल पुनरावृत्ति नहीं। समान घटकों की पुनरावृत्ति में समान न होनेवाले घटकों का अंतर्भाव हुए बिना लयतत्त्व की अभिव्यंजना नहीं होती। समानता एवं साधर्म्य के साथ असमानता या वैधर्म्य भी आवश्यक है। नियमबद्धता के साथ सर्जशीलता का स्वातंत्र्य भी चाहिए। जहाँ सर्जकता नहीं होगी, परिवर्तन नहीं होंगे, वहाँ कहा जाएगा कि मानवीय आत्मा का स्पर्श नहीं है इसलिए मेट्रोनम की टिक-टिक समान कालखंड दिखाती है फिर भी उसको लयतत्त्व का उदाहरण नहीं कहा जा सकता लेकिन तबले पर बजाया ताल अवश्य लयबद्ध ठहरता है, क्योंकि उसमें सर्जकता विद्यमान रहती है। ताल भी समान कालखंड दर्शाता है। लेकिन उसमें कला के टुकड़े समान घटक ध्वनियों से भरे हुए नहीं होते। इसमें वैविध्य होता है।

अपनी पुस्तक 'संगीत का सौंदर्यशास्त्र' में प्रा. अशोक रानड़े ने लय की जो चर्चा की है वह इस संदर्भ में उद्‌बोधक सिद्ध हो सकती है। उन्होंने पहले सुसान लैंगर की परिभाषा 'लय याने स्थिति-परिवर्तन' की छानबीन की है। इन सिध्दांतों पर रानड़े का पहला आक्षेप यह है कि स्थिति-परिवर्तन एवं उत्कंठा-विसर्जन, ये घटनाएँ किसी भी हलचल में अंतर्भूत गतिमानता के केवल परिणाम हैं तथा वे कलाव्यापार तक सीमित नहीं हैं। दूसरा आक्षेप यह है कि इन सिद्धांतों की सहायता से अच्छे एवं साधारण दर्जे की कलाभिव्यंजना में भेद नहीं किया जा सकता। यह उन्हें मान्य है कि लयतत्त्व की परिभाषा में पुनरावृत्ति एवं नियमितता का समावेश होना आवश्यक है। लेकिन उसी के साथ 'सर्जकता' का भी अंतर्भाव आवश्यक है। अत: उन्होंने लय की परिभाषा इस प्रकार की है: 'लय याने सर्जक केंद्रों का नियमित पुनरुद्‌भव'[10] इसके बाद इस परिभाषा के समर्थन में उन्होंने लय के स्वर-स्तर और काल-स्तर पर अवतारों के उदाहरण दिए हैं। इनमें से पहला उदाहरण सप्तकांतर का है। 'सप्तकांतर याने मंजिल बदलकर उसी में स्वर का उपयोजन' एक ही स्वर अथवा स्वरसमूह तीनों सप्तकों में आविर्भूत होने पर स्वर-संहति का कार्यक्षेत्र एकदम विस्तृत होता है। अभिव्यंजना की कक्षाएँ विस्तरित होती हैं। सर्जन की संभावनाएँ बढ़ाना भी अनिवार्य हो जाता है।[11] 'स्वर स्तर के तीसरे प्रकार के लयतत्तव के अवतार का नाम नियमित अनियमितता है। हर राग में कुछ स्वर लेने होते हैं तो कुछ छोड़ने (वर्जित) होते हैं। लेकिन कभी-कभी कोई कलाकार रूढ़िद्वारा छोड़े हुए स्वर का (वर्जित स्वरों का) बीच-बीच में कुशलतापूर्वक उपयोग करता हुआ दिखाई देता है और उसके कारण समूची अभिव्यंजना विशिष्ट प्रकार से आलोकित होती दिखती है।' 'वर्ज्य-स्वरों का उपयोग सदैव इतना नियमित नहीं होता कि उसका अनुमान बताया जा सके। इतना वह अनियमित भी नहीं होता कि विशिष्ट राग या सुरावट से विनिर्मित वातावरण में चुभ जाए।[12] इस नियमित अनियमितता के कारण गाने में उस्फूर्तता आती है। इसी के कारण श्रोताओं की आस्वाद-प्रक्रिया में भी यांत्रिक साँचे की एकरसता न आकर वह दक्ष एवं जीवंत बनती है।[13]

यहाँ एक बात का उल्लेख आवश्यक है। प्रा. रानड़े ने लय तत्त्व में लचीली एवं जीवंत नियमितता को प्राधान्य दिया है, यह ठीक ही है। पाठकों को स्मरण होगा कि इसी मुद्दे पर कांट ने अपने विवेचन में नियमरहित नियमितता या 'प्रयोजनशून्य प्रयोजन' इन अवधारणाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। रानड़े के विवेचन में कांट द्वारा उल्लेखित नियमितता को स्थान है। लगता है कांट ने जिस अंग का निर्देश नियमरहित शब्द से किया उसी को लक्ष्य कर रानड़े 'सर्जकता' शब्द का प्रयोग करते हैं। दोनों को नियमितता और उस्फूर्तता का संयोग अभिप्रेत है।[14] विश्वचैतन्यवादियों के "विशेष संपृक्त साधारण' अथवा 'अनेकता में एकता' अवधारणाओं में भी रानड़े

को अपेक्षित संयोग मिल सकता है क्योंकि यह अनेकता पूर्णत: समान घटकों की नहीं होती। विश्वचैतन्यवादियों ने यह गृहीत माना है कि इन घटकों में स्वभाववैचित्र्य होता है।

ड्युई ने अनुभव का जो विश्लेषण किया है उसका परिचय हमने प्राप्त किया है। वह विश्लेषण यहाँ महत्त्वपूर्ण लगेगा। अनुभवों में क्रिया-प्रतिक्रियाओं का स्पंदन चलता रहता है। बदलनेवाली परिस्थिति प्राणियों पर कुछ प्रभाव करती है, उसपर प्रतिक्रिया के रूप में प्राणी परिस्थिति में परिवर्तन उत्पन्न करता है। इस स्पंदन का वैशिष्ट्य यह है कि प्राणी की हर कृति पहले हुए स्पंदन से संस्कारित रहती है। जो जो कुछ घटित हुआ और घटित किया गया उसी का संचित लेकर ही आगे का स्पंदन प्रारंभ होता है। यह पूर्व संचित अवधारणा लयतत्तव की चर्चा में महत्त्वपूर्ण है। लयबद्ध रचनाओं के किसी घटक में पहले के स्पंदनों का संचित रहता है। लेकिन केवल इतना कह कर काम नहीं चलेगा। क्योंकि आगे आनेवाले घटकों का संकेत भी उसमें, किया हुआ होता है। पहले जो घटित हुआ है उसका संचित और आगे जो कुछ होनेवाला है उसका संकेत हर घटना में हो, ऐसी यह योजना होती है। इसी मुद्दे को अलग शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि गायक के गाना गाते समय लयबद्ध घटकों की एक स्वयंपूर्ण विशेष-संपृक्त समष्टि तैयार होती रहती है।

संगीत एवं वाङ्.मयादि अन्य कलाओं में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि अन्य कलाओं को प्रत्यक्ष जीवन में ही स्वयंपूर्ण समष्टि (निदान बीजरूप में) प्राप्त हो सकती है। लौकिक जीवन के बारे में बोलते समय हम 'नाट्यपूर्ण' इत्यादि विशेषण इस्तेमाल करते हैं। वे इसी कारण से सार्थक बनते हैं। लेकिन गाना बीजरूप में भी मानव-विश्व के बाहर सुनने को नहीं मिलता। कवि कुछ भी कहे कोकिल सचमुच में तान पर तान नहीं भरते। कोकिल के तथाकथित गाने में एकरसता होती है। पंछियों का कलरव, निर्झरों की नाजुक कलकल सुखद एवं मधुर होती है लेकिन उनमें 'गीत' नहीं होता। इसका अर्थ यह कि संगीत का विश्व केवल मानवनिर्मित होता है। इसीलिए मनुष्य उसे पूर्णत: स्वयंपूर्ण बना सकता है। लौकिक विश्व का जिसके साथ ज़रा भी संबंध नहीं, ऐसी स्वयंपूर्ण प्रतिसृष्टि निर्मित करना संगीत में संभव होता है।[15]

अब तक हम अर्थरहित संगठन के बारे में विचार कर रहे थे। लेकिन ऐसे संगठन को अर्थ की किनारी प्राप्त होने पर दो भिन्न संगठनों एवं उनके बीच के सहयोग एवं संघर्ष का विचार हमें करना पड़ता है। तराना में अर्थ की किनारी नहीं होती। ख्याल में यह हो भी तो भी उसे महत्त्व मिलेगा ही, ऐसा नहीं। नाट्यगीत में अथवा भावगीत में वह बहुत बड़े पैमाने पर होती है। सामान्य अपेक्षा यह होती है कि नाट्यसंगीत एवं गीत में अर्थ और नाद में सहयोग होना चाहिए। लेकिन सदैव ऐसा होता है, ऐसी बात नहीं है। बहुत बार अर्थ को प्राधान्य मिलने पर भी संगीत को अर्थपरिपोषिक

एवं रसपरिपोषक किया जाता है। लेकिन कभी-कभी संगीत का अंग इतना प्रभावपूर्ण हो जाता है कि अर्थवाही शब्दों की ओर गायक पूर्णत: लापर्वाही बरतता है।

11.8

मानो यह मनुष्य-स्वभाव ही है कि जहाँ अर्थ है वहाँ वह अर्थ को ही प्रमुखता देता है। काव्य में इसकी प्रतीति उत्कट रूप में आती है। काव्य में नाद का महत्त्व है, कवि शब्दों के नाद की समष्टि बाँधने का प्रयास करता है। लेकिन केवल नाद की समष्टि काव्य नहीं है। मम्मट ने अनुप्रासों की प्रचुरता से युक्त निम्नलिखित उदाहरण दिया है:

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय व:।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम --
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।।[16]

इसी को मम्मट 'अधम काव्य' कहता है। उसमें नाद की प्रचुरता होते हुए भी काव्य इसीलिए कहा जाएगा कि थोड़ा कुछ अर्थ निकल रहा है। इसमें से अगर कुछ भी अर्थ नहीं निकलता तो उसे काव्य कहने की आवश्यकता नहीं थी। अर्थरहित नाद में से केवल संगीत पैदा होता है। काव्य में अर्थ होना ही चाहिए, बल्कि उसमें नाद से अधिक अर्थ चाहिए।

वाङ्मय जैसी कला में अर्थ को प्रधानता प्राप्त होना क्रमप्राप्त है। इसलिए अलौकिकतावादियों को यहाँ नया पैंतरा लेना पड़ता है, यह हमने देखा ही है। वह पैंतरा इस प्रकार है: एक ओर अर्थ का प्राधान्य वे मान्य करते हैं लेकिन दूसरी ओर दिखाते हैं कि वाङ्मय में इस अर्थ का संगठन केवल कला में दीखनेवाले अलौकिक नियमों के अनुसार ही होता है। मतलब यह है कि लौकिक का कायाकल्प कर उसी को वे अलौकिक बनाते हैं। अगर ऐसा सफलतापूर्वक किया जा सकता तो वाङ्मयादि कलाओं की भी अलौकिकता सिद्ध होती। अत: अर्थ का संगठन करने के लिए केवल कला संसार तक सीमित अलौकिक संगठन-नियम प्राप्त होते हैं अथवा नहीं, इसकी हम चर्चा करेंगे। अलौकिक संगठन-नियम याने ऐसे नियम कि जो लौकिक व्यवहार में उपयोग में नहीं आते। विशेषत: ऐसे नियम ज्ञानात्मकता एवं व्यवहारात्मकता के नियमों से भिन्न होने चाहिए।

शोकात्मिका की बुनावट के बारे में अरस्तू ने संभवनीयता एवं अपरिहार्यता ज्ञानव्यवहार के जो दो नियम बताए थे उनकी चर्चा पिछले अध्याय में हमने की है। लेकिन अरस्तू ने संरचना या बुनावट के अन्य नियम भी बताए हैं। अब उनका विचार हमें करना है। इस संदर्भ में अरस्तू का मत यह है: "फिर सुंदर वस्तु में -- फिर वह

कोई जीवंत प्राणी हो या विभागों से बनी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु हो, केवल विभागों की सुसंगत रचना होकर काम नहीं चलता, एक विशिष्ट आकार का होना आवश्यक है, क्योंकि सौंदर्य आकार एवं सुसंगति पर निर्भर होता है। इसलिए अत्यधिक छोटा चित्र सुंदर हो नहीं सकता। चूँकि प्राय: क्षणार्ध में वह वस्तु देखी जाती है अत: उसके दर्शन अस्पष्ट होते हैं। उसी तरह अकटोविकर आकार का चित्र भी सुंदर नहीं हो सकता क्योंकि आँख उसको एक साथ ग्रहण नहीं कर पाती, अत: उसकी एकात्मता और समष्टि का बोध दर्शक को नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, अगर किसी की लंबाई हजार मील होना। इसलिए जिस तरह सजीव वस्तु एवं प्राणी के बारे में विशिष्ट आकारमान की आवश्यकता होती है और वह आकारमान एक दृष्टिक्षेप में सहज सिमटनेवाला होना चाहिए, उसी तरह कथावस्तु के बारे में भी एक विशिष्ट लंबाई की आवश्यकता होती है और वह लंबाई भी ऐसी होनी चाहिए कि स्मरणशक्ति सहज आकलन कर सके।[17] अगर बोध स्पष्ट होगा तो नाटक जितना बड़ा हो उतना वह उसके आकारामान के कारण अधिक सुंदर होगा। इस बात की स्थूल परिभाषा करनी हो तो हम कह सकते हैं कि जिस व्याप्ति में संभवनीयता और अपरिहार्यता के नियमों के अनुसार प्रसंगमाला का दु:स्थिति से सुस्थिति तक का या सुस्थिति से दु:स्थिति तक का परिवर्तन समाविष्ट हो सकता है, वही योग्य आकारमान कहा जा सकता है।[18]

शोकात्मिका ऐसी हो कि सहज ही में उसका आकलन हो सके। अगर वह बहुत लंबी होगी तो उसका सहज एवं समग्र रूप में आकलन नहीं होगा और बहुत छोटी होगी तो झट से आँखों में नहीं समा सकती। यह एक ऐसा नियम अरस्तू ने बताया है कि जो सामान्य व्यक्ति को भी सूझ सकता है। यह नियम कितना भी सामान्य लगे लेकिन इसमें संदेह नहीं कि हम उसका उपयोग करते हैं और वह उपयोगी भी साबित होता है। हम चाहते हैं कि कलाकृति चुस्त और व्यवस्थित गठन की हो। लेकिन यह नियम 'वार ऐंड पीस' जैसे उपन्यास के बारे में भी क्या सही है? इसपर यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास की सभी घटनाएँ एवं सभी पात्र हमारे मन के सम्मुख एक क्षण में भले ही खडे न रहें फिर भी इन सबके पीछे का प्रमुख सूत्र -- काल का लयबद्ध स्पंदन -- हम झट से ग्रहण कर सकते हैं। उसी तरह इस उपन्यास की प्रमुख घटनाओं एवं प्रमुख पात्रों के संबंध का आलेख हमारे मन के सामने खड़ा रह सकता है और इसकी सहायता से एवं स्मरण शक्ति को कुछ तानकर हम और भी अधिक तफ़सील भर सकते हैं। हमारी इतनी अपेक्षा निश्चित रहती है कि उपन्यास के केंद्रीय भाग का हमें सहज ही आकलन हो।

नपे-तुलेपन या चुस्ती के साथ अरस्तू ने कलाकृति की स्वयंपूर्णता के संबध में भी आग्रह रखा है। उसकी राय में कलाकृति एक स्वयंपूर्ण समष्टि या बंध है। इस संदर्भ में उसने आदि, मध्य और अंत, ये तीन अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं। अरस्तू कहता

है, 'जो स्वयं वस्तु से कार्यकारण संबंध से घटित नहीं होता लेकिन जिसके बाद निसर्गतः कोई वस्तु रहती है या घटित होती है, यह 'आदि' है।' इसके विपरीत जो स्वयं निसर्गतः दूसरी किसी वस्तु के बाद अपरिहार्यता या नियमपूर्वक आती है, लेकिन जिसके बाद कुछ भी नहीं आता वह 'अंत' है। जो किसी के बाद आता है लेकिन जिसके पीछे से कुछ आता रहता है वह 'मध्य' है। इसलिए अच्छी रचना की कथावस्तु में प्रारंभ या अंत यदृच्छया नहीं अपितु उपर्युक्त तत्त्वों के अनुसार होना चाहिए।[19] इन संवाक्यों का केवल वाच्यार्थ लेने से काम नहीं चलेगा। दुनिया में ऐसी कोई घटना नहीं कि जो अन्य चीजों से कार्यकारणभाव से घटित नही होती। उसी तरह ऐसी कोई घटना नहीं कि जिसके कुछ परिणाम नहीं होते। अरस्तू घटनाओं की समष्टि के बारे में बोल रहा है यह यहाँ ध्यान में रखना चाहिए। यह समष्टि अप्रतिहत चलनेवाली घटनाओं के प्रवाह से अलग की जा सके, इसपर उसका बल है। जिस घटना के पूर्व कोई भी घटना नहीं होती। -- मतलब जो पहलेवाली घटनाओं से अलग की जा सकती हो, इस तरह अलग करने पर भी अर्थपूर्ण सिद्ध होती हो -- ऐसी घटना को ही 'आदि' कहा जाता है। जिसके बाद कोई भी घटना नहीं होती -- मतलब जिसके बाद की घटनाएँ विचार में लेने की आवश्यकता नहीं होती, उस घटना को 'अंत' कहा जाता है और जिसके पहले और बाद में संभवनीयता अथवा अपरिहार्यता के नियमों के अनुसार अन्य घटनाएँ होती हैं उसे 'मध्य' कहा जाता है। सुव्यवस्थित गठन की कथावस्तु न चाहे जहाँ शुरू होती है, न चाहे जहाँ समाप्त होती है, क्योंकि वह उपर्युक्त तत्त्वों के अनुसार रची हुई होती है।

इस संदर्भ में औचित्य की अवधारणा का विचार होना आवश्यक है। औचित्य का विचार समस्त जीवन को व्याप्त करनेवाला है। किसी भी चीज का विचार करते समय हम औचित्य का तत्त्व इस्तेमाल करते है। उदाहरणार्थ, विवाह जैसे शुभ प्रसंग में अशुभ बोलना अथवा शोकसभा में जोर से हँसना हम अच्छा नहीं समझते। कलाकृति के बारे में दो संदर्भो में औचित्य का तत्त्व लागू होता है। एक, आशय एवं उसको व्यक्त करने के मार्ग के बीच का संबंध औचित्यपूर्ण होना चाहिए। दो एक उदाहरणों से बात स्पष्ट होगी। क्षेमेंद्रने रस के अनौचित्य का उदाहरण इस प्रकार दिया है:

"चुम्बनसक्तः सोवस्या दशनं च्युतमूलभात्मनो वदनात्।

जिह्वामूलप्राप्तं खाडिति कृत्त निरष्ठीवत्।।

(नायक नायिका का) मुखचुम्बन करने लगा तो उसका दाँत मूल से उखड़ाकर (और नायक के) मुँह से जीभ के मूल तक (गले तक) पहुँचा (तब उसने) खाड् कर (खाँस कर) थूक दिया।"[20]

यहाँ हास्य एवं बीभत्स को एकत्र लाया गया है और उसके कारण वर्ण्य विषय बीभत्सयुक्त होकर इन काव्य पंक्तियों के प्रठन से मन को आह्लाद नहीं प्राप्त होता।

अब अनौचित्य का निम्नलिखित उदाहरण देखिए:

"ऊरूमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वासस:प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत्।।"

(पार्वती की) गोद के नखक्षतों की पंक्तियों (अनेक नखक्षतों से) से शंकर के नेत्र त्वरित लुब्ध हुए (और उसने) शिथिल वस्त्र संभलनेवाली प्रिया को रोका (वस्त्र समेटने नहीं दिया)"[21]

यहाँ भगवान शंकर की आँखें नखक्षतों से अंकित पार्वती की गोद पर टिकी होने का वर्णन है, वह वर्णन सामान्य स्त्री के संबंध में ही शोभा देता है। जगन्माता के संदर्भ में उसे प्रयुक्त करने के कारण यहाँ अनौचित्य उत्पन्न हुआ है।

इस उदाहरण में कुल जीवन की श्रद्धाओं की पार्श्वभूमि स्वीकृत की गई है। क्षमेंद्र की अपेक्षा यही है कि काव्य में ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिए जिससे अपनी जीवन श्रद्धाओं को धक्का पहुँचे। औचित्य की अवधारणा का आशय काल के अनुसार बदलता है। जो क्षेमेंद्र को अनुचित लगा, वह आज के समीक्षकों को अनुचित लगेगा ही, ऐसा नहीं है। फिर भी कानून के बदलने पर भी कानूनी और गैरकानूनी अंतर रहता ही है। उसी तरह औचित्य के आशय में बदल होने पर भी उचित और अनुचित का अंतर रहता ही है।

'औचित्य' की अवधारणा में तीन चीजों का समावेश होता है। साध्य एवं साधन के संदर्भ में 'औचित्य' से साधन की योग्यता या अयोग्यता निर्दिष्ट की जाती है। किसी बंध के विविध घटकों के बीच की अंतर्गत सुसंगति भी इसी संज्ञा से सूचित की जाती है। क्षेमेंद्र के पहले उदाहरण में वह अंतर्गत सुसंगति ही अभिप्रेत है। उसी तरह कलाकृति के घटकों एवं कुल जीवन के मूल्यों के बीच की सुसंगति भी इस संज्ञा से सूचित होती है। ऐसे समय 'औचित्य' में सज्जनता, शिष्टाचार, सदभिरुचि इत्यादि अर्थ समाविष्ट हुए दिखते हैं।

एक संघटन तत्त्व के रूप में हमने औचित्य का विचार किया। यह तत्त्व लौकिक माना जाए या अलौकिक, यह विशिष्ट संदर्भ पर निर्भर रहता है। अगर हमने माना कि कलाकृति स्वयंपूर्ण बंध है, तो वह तत्त्व अलौकिक माना जा सकता है। विश्वचैतन्यवादियों के इस दावे के मूल में कि अंतर्गत सुसंगति ही कला का अंतिम संगठन तत्त्व है, यही भूमिका है। यह भूमिका अलौकिकतावाद की पोषक है। लेकिन शंकर-पार्वती का शृंगार अगर अनौचित्य का उदाहरण है तो कलाकृति एक स्वयंपूर्ण बंध है, ऐसा हम नहीं मानते, यह स्पष्ट होगा। क्योंकि यहाँ कलाकृति दोषपूर्ण ठहराई गई है, क्योंकि यहाँ कलाकृति का विशिष्ट प्रसंग पाठक के मूल जीवनमूल्यों से संवादी नहीं है। काव्य की घटनाएँ असंभवनीय हैं। अत: काव्य को दूषित कहन वाला पाठक जिस तरह लौकिकतावादी माना जाता है उसी तरह सदभिरूचि को योग्य न लगनेवाली

चीजों को काव्य में स्थान देने के परिणाम-स्वरूप काव्य को दूषित कहने वाला क्षेमेंद्र जैसा समीक्षक भी लौकिकतावादी ही सिद्ध होता है।

11.9

इसी संदर्भ में पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में एक समय महत्त्वपूर्ण माने गए एकात्मता के तीन नियमों (Three unities) का निर्देश आवश्यक है। कलाकृति की एकात्मता सुरक्षित रखने के लिए एवं बढाने के लिए ये नियम बने हैं, यह स्पष्ट है। मतलब उनका स्थान साधनों का है। परंतु रनेसाँ से रोमांटिक कालखंड तक उनके संबंध में हुए विवादों को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि ये नियम मानो साध्यरूप ही थे।

इनमें से पहला नियम नाट्य की कथावस्तु की एकात्मता के बारे में है। इस नियम का अभिप्राय यह है कि कथावस्तु इकहरी होनी चाहिए। कथावस्तु में अनेक कथाओं की परतें हों तो कथावस्तु की एकात्मता भंग हो जाती है, इस विचार से यह नियम किया गया होगा, यह स्पष्ट है। लेकिन कथावस्तु दो परतोंवाली हो तो भी एकात्मकता को धक्का पहुँचता ही है, ऐसा नहीं। अनेक नाटकों के आधार से यह देखा जा सकता है। बहुत बार उपकथानक प्रधान कथानक को स्पष्ट करता है। उदाहरणार्थ 'एकच प्याला' अथवा 'किंग लियर' के उपकथानक। कभी नाट्यकृतियों में व्यक्त जीवनविषयक अभिप्राय एक कथानक से समर्थ रूप में व्यक्त नहीं होता। अतः अलग-अलग कथानक संगठित करने पडते हैं। कभी प्रधान कथानक के कारण दर्शकों के मन पर पड़ा हुआ बोझ कम करने के लिए हास्यपरक उपकथानकों की योजना की जाती है। इससे ऐसा दिखता है कि कथावस्तु अनेक पात्रोंवाली हो तो कलाकृति की एकात्मता भंग होती हो ऐसा नहीं।

एकात्मता के नियम-त्रय में स्थल एवं काल के विस्तार संबंधी नियम एक समय महत्त्वपूर्ण माने जाते थे, लेकिन उन्हें आज महत्त्व नहीं दिया जाता। अभिजातवादियों का आग्रह था कि कथावस्तु को चौबीस अथवा बारह घंटों की सीमा में घटित दिखाया जाए।[22] उनका आग्रह यह भी था कि कथा की घटना एक ही स्थान पर घटित हो। वस्तुतः इन नियमों का जितना संबंध एकात्मता के साथ है उससे अधिक निकट का संबंध यथार्थवाद की अवधारणा से है। नाट्यकृति जीवन की अनुकृति है। अरस्तू के इस सिद्धांत से काल एवं स्थल संबंधी उपर्युक्त नियम निकले होंगे। अभिजातवादियों को लगा होगा कि नाट्यकृति में जीवन का यथार्थ दिखाना हो तो जीवन और नाट्यकृति में अधिकाधिक साम्य होना चाहिए। अगर नाट्य-प्रयोग पाँच घंटे चलता हो तो नाट्यकृति में चित्रांकित काल उतना ही न हो, लेकिन कुछ अनुरूप प्रतीत हो इतना छोटा होना चाहिए। अगर काल पर बंधन आते हैं तो घटनाएँ जिन स्थलों पर घटित होती हैं, उनके विस्तार पर भी बंधन रखना जरूरी हो जाता है, क्योंकि बारह अथवा

चौबीस घंटों में पात्र देश-देश नहीं घूम सकते। उनके कार्य का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जाता है। उपरोक्त विवेचन से ध्यान में आता है कि नाट्यकृति जीवन की अनुकृति होती है, इस सिद्धांत का बहुत ही संकुचित अर्थ लेने के कारण ये नियम पैदा हुए होंगे।

स्थलकालादि के बारे में नियम नहीं पाले गए तो नाट्यकृति की एकात्मता बाधित होती ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शेक्सपीअर के नाटकों से यह भली भाँति समझा जा सकता है। इन बहुचर्चित तीन नियमों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण नियम भावनात्मक परिणाम की एकात्मता के संबंध में है। इस नियम का अभिप्राय यह है कि कलाकृति के कारण एक ही भावावस्था उत्पन्न होनी चाहिए अथवा एक ही भावावस्था कलाकृति में देहीभूत होनी चाहिए। परंतु इस नियम को लाँघ कर भी शेक्स्पीअर अपने नाटकों की एकात्मता को अबाधित रख सका, क्योंकि जो भावावस्था उत्पन्न करनी है वह संमिश्र हो सकती है और संमिश्र भावावस्था में एकात्मता नहीं होती, ऐसा नहीं है।[23]

ये चारों नियम साधनों के बारे में हैं और उनका महत्त्व बहुत ही सीमित है। लेकिन उनमें अनुस्यूत साध्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह साध्य है नाट्यकृति की एकात्मता। स्पष्ट है कि नाट्यकृति में बिखराव न आए इसलिए इन नियमों को खोजने का प्रयास अभिजातवादी समीक्षकों ने किया होगा। नियमबद्धता के साथ कलाकारों की स्वाधीनता और प्रयोगशीलता का अगर उन्होंने समर्थन किया होता तो ये नियम इतने यांत्रिक न होते।

उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि चुस्ती, व्यवस्थितता, स्वयंपूणर्ता, सु-संगति, एकात्मता जैसी अवधारणाओं का कलाकृति के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अवधारणाएँ संभवनीयता एवं अपरिहार्यता जैसी केवल बुद्धिजन्य ज्ञानात्मक समष्टियों तक सीमित नहीं हैं। लेकिन उनके कारण विश्वचैतन्यवादियों को अत्यधिक हर्ष करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि ये अवधारणाएँ केवल कलाविश्व तक सीमित नहीं हैं। मतलब वे अलौकिक नहीं हैं। असल में जीवन के हर क्षेत्र में मुक्त संचरण करने वाली ही वे अवधारणाएँ हैं।

वाङ्‌मयकृति के घटक एक दूसरे के साथ कार्यकारण भाव, संभवनीयता इत्यादि ज्ञानात्मक संबंधों से संलग्न होते हैं। उसी तरह वे अन्य संबंधों से भी संलग्न हो सकते हैं। हम एक उदाहरण लें। अनातोल फ्रान्स के 'थैस' उपन्यास में दिखाया है कि धार्मिक प्रवृत्तिवाला सत्पुरुष किसी दुष्प्रवृत्त नारी के उद्धार के लिए उसके निकट आता है। उपन्यास के अंत में वह नारी सत्प्रवृत्त बन जाती है और उस पुरुष का पतन होता है। मतलब उपन्यास के आरंभ में जो परिस्थिति थी उससे बिलकुल विपरीत स्थिति आखिर में हो जाती है। इसे इ. एम. फास्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ द नावेल'

पुस्तक में 'बालुका घडी आकृतिबंध' कहा है। इस बंध को अलौकिक कहा जा सकता है, क्योंकि वह ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक नहीं है। समीक्षकों ने दिखाया है कि ऐसे ही अन्य बंध भी वाङ्मय में मिलते हैं।

11.10

अब तक हमने एक प्रकार की अर्थ-समष्टि का विचार किया। वह है कथानक प्रधान समष्टि। लेकिन कथावस्तु से रहित गीतिकाव्य में भी बंध के खास नियम होते हैं। कुछ आधुनिक समीक्षकों की यही मान्यता है। वे कहते हैं कि ये नियम अ-तार्किक होते हैं। इन समीक्षकों में से दो पश्चिमी समीक्षकों के विचारों की हम संक्षेप में चर्चा करेंगे। पहला समीक्षक विल्यम एम्पसन है।

एम्पसन का अनेकार्थता (ambiguity) सिद्धांत संस्कृत साहित्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धांत के बहुत निकट आता है। जिसके कारण एक ही भाषिक खंड में विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार की भाषिक अर्थच्छटा (verbal nuance) को एम्पसन अनेकार्थता कहता है।[24] अनेकार्थता के उदाहरण के तौर पर उसने शेक्स्पीअर की पंक्ति उद्धृत की है। "Bare ruined choirs, where late the sweet birds sang". एम्पसन ने दिखाया है कि इसी सीधी-सी दिखनेवाली पंक्ति में कितनी अर्थच्छटाएँ भरी हुई हैं। धार्मिक संगीत गाने के लिए वृंद के लिए चर्च में जो स्थान होता है उसे क्वायर कहते हैं। यहाँ कवि का अभिप्राय कैथालिक भिक्षुगृह (मानस्टरी) के ढहे-गिरे क्वायर से है। वह कहता है, यहाँ पहले पक्षियों के मधुर गीत सुनने को मिलते थे। क्वायर के गानेवाले बच्चों और पक्षियों में अनेक प्रकार का साम्य है। पंछी जिस तरह टहनियों पर पंक्तिबद्ध बैठते हैं वैसे ये बच्चे भी बैठते थे। उनके गाने का स्थान लकड़ी, का बनाया हुआ होता है। जिसपर पंछी बैठते हैं वह शाखा भी लकड़ी की ही होती है। टहनी के चारों टहनियाँ और वृक्ष होते हैं।

क्वायर के लिए सुरक्षित जगह होती है, उसकी रक्षा के लिए जो इमारत बाँधी जाती थी वह अरण्य की तरह दिखे, ऐसी योजना की जाती थी। पत्तों और फूलों में जिस तरह वृक्ष रंगीन दिखते हैं, उस तरह रंगीन काँच की खिड़कियों के कारण यह इमारत भी रंगीन दीखती थी, जिस स्थान पर पहले बच्चे गाते थे वह स्थान अब रंगहीन एवं उजाड़-सा हो गया है। जाड़े के मौसम में आकाश का जो भूरा रंग दिखता है वही आज यहाँ भी दीख रहा है। इन दिनों पंछी टहनियों पर बैठकर नहीं गाते। एक तरह के वीरानस्थान का अनुभव मिलता है। वही अनुभव वीरान भिक्षुगृह के क्वायर को देखते समय आता है। कवि यह संकेतित करना चाहता है। गानवृंद के बच्चों में जो भावनात्मक दृढ़ता सूचित होती है उसमें और जिस व्यक्ति पर शेक्स्पीअरने सुनीत लिखे उसके संबंध में उसे लगनेवाली भावनाओं में साम्य है। प्रोटेस्टंटों ने भिक्षुगृह नष्ट कर दिए, उसकी प्रतिध्वनि एवं प्यूरिटनों के प्रति भय इस

पंक्ति के अर्थ में योगदान करते हैं। इस अर्थघनता के कारण प्रस्तुत पंक्ति सुंदर बन जाती है। ये विविध अर्थच्छटाएँ एक के पीछे एक मन के सामने तैर जाती हैं और ध्यान में आता है कि इनमें से किसपर ध्यान केंद्रित किया जाए। यह द्विधा मानसिकता उत्पन्न होना काव्य पाठ में ही अभिप्रेत है। इस अनेकार्थ ध्वनन के कारण काव्यार्थ संपन्न होता है। उसकी प्रभावकारिता बढ़ती है। इस प्रकार की अनेकार्थ-सूचकता ही काव्य की नींव कही जा सकती है।[25] शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। कभी वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं, कभी वे एक दूसरे से संलग्न होते हैं, कभी एक दूसरे के पूरक। एक और बात का उल्लेख आवश्यक है। फुटकर शब्दों की अनेकार्थ-सूचकता महत्त्वपूर्ण होती ही है। लेकिन उन शब्दों का कुल भाषा में क्या स्थान है, अन्य शब्दों से क्या रिश्ते बनते हैं, यह देखना भी महत्त्वपूर्ण है। रेसीन जैसा फ्रेंच लेखक जब विशिष्ट शब्द-योजना तैयार करता है तब फ्रेंच भाषा का समूचा व्यामिश्र जाल उसके मन में विद्यमान होता है।[26]

समूची भाषा में ही अनेकार्थता अनुस्यूत है।[27] कवि इस अनेकार्थता का कौशल से उपयोग कर लेता है। उसकी काव्य-पंक्ति से अर्थच्छटाओं के अनेक वलय निकलते रहते हैं। इतना बड़ा अर्थ-संभार शब्दों में ठूँसकर भरने का जादू कवि ही कर सकता है। बौद्धिक एवं तार्किक व्यापार के लिए जब भाषा का उपयोग किया जाता है तब उसकी अनेकार्थ-सूचना की क्षमता का संकोच होकर वह एकार्थवाचक बनती है। काव्य में बिलकुल इसके विपरीत प्रक्रिया घटित होती है। वहाँ सारा बल अनेकार्थ-सूचकता पर रहता है। अर्थात् एक ओर जिस तरह अर्थ को पुष्प की भाँति खिलाने की प्रक्रिया चलती रहती है, उसी तरह दूसरी ओर उस अर्थ में एकात्मता का निर्माण करने की क्रिया भी चलती है।

काव्य में अर्थ की समृद्धि किस प्रकार बढ़ती है और उसमें एकात्मता कैसे आती है, इसका अच्छा उदाहरण मिल्टन के 'सेम्सन अेगनिस्टीझ' के नायक डिलायल के बारे में आगे के शब्दोंमें एम्पसन ने दिए है। "The specious monster, my accomplished snare" इन में से शब्दों पर श्लेष है। समीक्षकों ने उनको निम्नप्रकार से स्पष्ट किया है। 'Specious' के अर्थ हैं (1) सुंदर दिखनेवाले एवं (2) चकमा देनेवाले। "monster" के अर्थ (1) कुछ विकृत, अप्राकृतिक और (2) विध्वंस की सूचना करने वाला दुश्चिह्न। 'accomplished' के अर्थ (1) स्तुति इत्यादि की सहायता से अनुनय करने में निपुण और (2) पति का नाश करने के काम में सफल। इनमें से हर स्थान पर जो दो अर्थ अभिप्रेत हैं वे परस्पर-विरोधी हैं। परस्पर विरोध वाले दो अर्थ सूचित करनेवाले शब्द भाषा में नहीं होते तो कवि को एक के स्थान पर दो-दो शब्दों का उपयोग करना पडता। परस्पर-विरोधी अर्थ एक ही शब्द के द्वारा सूचित करने के फलस्वरूप एम्पसन को डिलीयल के बारे में लगनेवाला समूचा द्वेष

पंक्ति में इकट्ठा हुआ है।

एम्पसन की समीक्षा-पद्धति का वैशिष्ट्य यह है कि उसके विवेकपूर्ण उपयोग से काव्यपाठ में निश्चय ही सूक्ष्मता आती है और इसलिए वाड्.मय के बारे में हमारा बोध अधिक समृद्ध हुआ है, यह मान्य करना ही होगा। लेकिन इस पद्धति पर प्रमुख आक्षेप यह है कि वह कुछ संदर्भो में ही उपयोगी सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ छोटी कविताओं का विश्लेषण करते समय उसका जितना उपयोग होता है उतना दीर्घ वाड्.मयकृति के विश्लेषण में नहीं होता। एम्पसन ने दीर्घ नाट्यकृति के टुकड़ों का विश्लेषण अपनी पद्धति से कर दिखाया है, यह सही है। लेकिन एकाध नाट्यकृति को पढ़ना याने उसकी कुछ पंक्तियों के ध्वन्वार्थों के वलयों का अनुसंधान करना नहीं होता। कलाकृति के स्वभाव के अनुसार उसका विश्लेषण करने की पद्धति तय करनी होगी। 'मैकवेथ' का विश्लेषण करते समय ए. सी. ब्रैड्ली की पद्धति उपयोगी होगी तो शेक्स्पीअर के किसी कविता का विश्लेषण करते समय एम्पसन की पद्धति मूल्यवान होगी। लेकिन समीक्षकों को बहुत बार यह भान नहीं रहता। वे एक ही पद्धति का उपयोग सभी संदर्भों में करने की जिद करते हैं। एम्पसन की प्रणाली की दूसरी सीमा यह है कि जिसमें अर्थ की व्यामिश्रता नहीं है, ऐसी कविताओं पर वह लागू नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, कवि टिलक की कविता 'केवढे हे क्रौर्य' अथवा कुसुमाग्रज की 'गर्जा जय जयकार क्रांतिचा' कविताओं पर यह प्रणाली आजमाई जाए तो हाथ में असफलता ही आएगी। लेकिन मर्ढेकर की कविता के संदर्भ मे, जिसमें व्यामिश्र अर्थ की घनता है, यह प्रणाली बहुत सफलता के साथ उपयोग में आ सकती है। एम्पसन का वैशिष्ट्य यह रहा कि उसने अपनी विश्लेषण-पद्धति के अनेक उदाहरण दिए हैं। और उनमें से अनेक उदाहरण जॅंचने लायक हैं। इसलिए ऐसा नही लगता कि अपनी समीक्षा प्रणाली काव्य पर उसने आरोपित की है।[29]

उपर उल्लिखित समीक्षकों में से दूसरा समीक्षक क्लिअन्थ ब्रूक्स है। उसकी राय में भाषा विरोधाभासात्मक (paradoxical) होती है। दो परस्पर-विरोधी कल्पनाओं एवं मूल्यों का संघर्ष काव्य में देखने को मिलता है। डन जैसों के काव्यों में विरोधाभास के उदाहरण मिलते हैं, यह सिद्ध करना कठिन नही। लेकिन वर्डस्वर्थ के काव्य में भी अगर यह वैशिष्ट्य मिले तो उसका महत्त्व है। ब्रूक्स ने अपने "द वेल राट अर्न" पुस्तक के प्रारंभ में वर्डस्वर्थ के दो सुनीतों का विश्लेषण किया है उनमें से पहले सुनीत में यह दिखाया है कि कवि एक छोटी बच्ची के साथ शाम को घूमने निकला है। समूची सृष्टि नि:शब्द एवं शांत है। इस नि:शब्दता में प्रार्थना का पावित्र्य है इसलिए स्वाभाविक रूप में कवि को प्रार्थना में मग्न जोगन की स्मृति हो जाती है। समूची सृष्टि जिस भावना से ओतप्रोत है उसका कवि के साथवाली बच्ची पर कोई परिणाम नही दिखता। फिर कवि के ध्यान में आता है कि वह लडकी देवता

के सदैव निकट होती है। अत: उसके हृदय में पवित्रता सतत वास करती है। जो सदैव प्रार्थना की मन:स्थिति में ही होती है उसे प्रार्थना के लिए अलग निकालने की आवश्यकता नहीं। उसे किसी कर्मकांड की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ दो विरोधी कल्पनाएँ अचानक एकत्र आने पर सौंदर्य उत्पन्न हुआ है। शाम का वातावरण और उस लड़की की मन:स्थिति दोनों में बहुत अंतर उत्पन्न हुआ है। इस अंतर का एक अर्थ प्रारंभ में ही सूचित होता है। वह यह कि समस्त सृष्टि धार्मिक भावना से उद्वेलित है, लेकिन उस लड़की पर कुछ प्रभाव नहीं है लेकिन तुरंत उसका विरोधी अर्थ कवि को प्रतीत होता है। वह यह कि सृष्टि तो कभी-कभी इस भावना से प्रभावित होती है। लेकिन यह लड़की सदैव ही इस भावना में डूबती-तैरती रहती है। अत: वह सृष्टि से कम पवित्र न होकर अधिक पवित्र है।

ब्रूक्स ने दूसरा उदाहरण 'समीक्षक अपान वेस्टमिन्टसर ब्रिज' का लिया है। वर्डस्वर्थ प्रकृतिपूजक कवि प्रसिद्ध है। उसी तरह कुल नागर संस्कृति के बारे में उसके मन की तीव्र अप्रीति भी उसके काव्य में स्थान-स्थान पर दिखती है। प्रस्तुत सुनीत में उसने प्रभात के लंदन का वर्णन किया है। इससे अधिक सौंदर्य दुनिया में नहीं है, ऐसा उसे लग रहा है। लेकिन इन सबसे महत्त्वपूर्ण बात आखिरी तीन पंक्तियों में बताई गई है। वह यह कि लंदन शहर प्रकृति से दूर नहीं गया है। इसी शहर में जीवंत बहने वाली टेम्स नदी है, घर शांत हैं, लेकिन यह शांति मृत्यु की न होकर केवल निद्रा की है। लंदन में निसर्ग है, जीवंतता है, यह बोध कवि-मानस में अचानक स्फुरित हुआ है। ब्रूक्स का अभिप्राय है कि वर्डस्वर्थ का शहर के बारे में कुल दृष्टिकोण एवं उसे अचानक हुई नई प्रतीति इन दोनों के बीच जो विरोध है उसी के कारण यह सुनीत विशेष परिणामकारी हुआ है।[30]

विरोधाभास के अन्य भी अनेक उदाहरण उसने दिए हैं। उसका कहना यह है कि एक सरल अर्थ बताना शास्त्रीय भाषा का उद्देश्य होता है। लेकिन कवि की भाषा अधिक व्यामिश्र अर्थ बताती है। इसीलिए वह अलंकारिक होती है। अलंकार न केवल काव्य की शोभा बढ़ाते हैं, बल्कि विरोधाभासादि अलंकार काव्य का स्वाभाविक माध्यम भी हैं, क्योंकि काव्य में समाविष्ट व्यामिश्र अनुभव की रचना के ही वे नियम हैं।

अन्य भी कुछ अलंकार अनुभवों की संरचना के नियम हो सकते हैं। सामान्यत: ये नियम तार्किक नहीं होते। इसलिए उन्हें अ-लौकिक नियम कहना संभव है। उदाहरणार्थ, सारालंकार (climax) देखिए 'वह आया, उसने देखा, उसने जीत लिया।' संवाक्य शृंखला की तुलना अगर हम 'सर्व मनुष्य मर्त्य होते हैं, साक्रेटिस मनुष्य है, इसलिए साक्रेटिस मर्त्य हैं' संवाक्य-शृंखला के साथ की जाए तो यह ध्यान में आएगा कि पहली संवाक्य-शृंखला अ-तार्किक है। वही बात व्यंग्य (irony) के बारे में भी सही है। व्यंग्यात्मक वाक्य के वाच्यार्थ और उसमें से सूचित होनेवाले ध्वन्यर्थ में विरोध

होता है और परस्पर-विरोधी अर्थ एक ही वाक्य में इकट्ठा होने पर इस विरोध की तीव्रता बढ़ जाती है। 'उपमा' और 'रूपक' को भी एक अर्थ में अनुभव की रचना के अ-तार्किक नियम कहा जा सकता है। अर्थात् उपमा का उपयोग वैज्ञानिक भाषा में भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'यह नया रसायन दूध की तरह शुभ्र है'-- यहाँ इकहरे साम्य पर बल है। लेकिन 'दुनिया रंगमंच है' कहते समय हमारे मन में अनेक स्तरीय साम्य होता है। इसलिए 'दुनिया रंगमंच है' में निहित रूपक को एक अर्थ में अ-तार्किक रचना का तत्त्व माना जा सकता है। द्वंद्व का उपयोग एक वाक्य में निहित परस्पर-विरोधी अर्थों के संश्लेषण के लिए भी होता है। हम विशिष्ट उद्देश्य के लिए कुछ करते हैं, लेकिन हमें अभिप्रेत परिणाम के स्थान पर कुछ विपरीत घटित होता है। ऐसे समय घटनाओं की शृंखला व्यंग्यात्मक ही होती है। लेकिन यहाँ व्यंग्य किसी व्यक्ति के मन का न होकर नियति के मन का होता है।

एक अर्थ में अ-तार्किक रचना के उदाहरण जिस तरह अलंकार मे उपलब्ध होते हैं, वैसे ध्वनि के कुछ प्रकारों में भी मिलते हैं। 'ध्वन्यालोक' का निम्नलिखित उदाहरण देखिए:

"भ्रम धार्मिक विस्त्रब्ध: स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन।। [31]

इस श्लोक का अर्थ है: "हे धार्मिक सज्जन, गोदावरी किनारे के कुंज में रहनेवाले मदमत्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है। अत: तू नि:शंक होकर घूम।" जो मनुष्य कुत्ते से डरता था वह सिंह का नाम सुनने पर नि:शंक कैसे घूम सकता है? यहाँ वाच्यार्थ विधि रूप है, लेकिन सूचित अर्थ निषेध रूप है। यहाँ भी दो परस्पर-विरोधी अर्थों को एक ही उक्ति के आधार से गूँथ दिया गया है।

पहले कहा है कि उपर्युक्त उदाहरण में संरचना अ-तार्किक है। इसका अर्थ इतना ही कि शास्त्रीय ग्रंथ में इस प्रकार की संरचना का प्राय: उपयोग नहीं किया जाता। इस ग्रंथ में संवाक्यों की जो तार्कि़क बुनावट की जाती है वह उपर्युक्त उदाहरण में नहीं पाई जाती लेकिन यह समझने का कोई कारण नहीं है कि इस अर्थ में अ-तार्किक बुनावट के निर्माण में विचार और तर्क की प्रक्रियाएँ नही होती। यह जानने को कि जो कुत्ते से डरता है, वह सिंह का नाम लेने पर कैसे आ सकता है, बौद्धिक स्तर की प्रक्रियाएँ जरूरी होती हैं। लेकिन इन प्रक्रियाओं का यहाँ इतना संक्षेप किया हुआ होता है कि वे हमारा ध्यान नहीं खींचतीं। वे अध्याहृत होती हैं। वे गृहीत मान ली जाती हैं या उनका संक्षेप होने के कारण परस्पर-विरोधी अर्थ बतानेवाले उपर्युक्त संवाक्य में चमक पैदा हुई है। उसका कौशल चमत्कृति की आवश्यकता नहीं होती और लेखक इस प्रकार की चमत्कृति के पीछे जाता भी नहीं।

धार्मिक मनुष्य को संबोधित कर किए हुए उपर्युक्त भाषण में जिस तरह कुछ

बौद्धिक प्रक्रियाएँ गृहीत स्वीकार की जाती हैं, उस तरह विशिष्ट व्यवहारात्मक उद्देश्य भी गृहीत मान लिए गए हैं। इस उदाहरण में स्त्री की इच्छा है कि वह धार्मिक मनुष्य विशिष्ट स्थान पर न आए। फिर उसने खुलकर यह क्यों नहीं कहा? वयस्क व्यक्ति को ऐसा खुलकर बताना अपमान है। कोई चीज सरल कहने में धृष्टता होती है। व्यावहारिक कारण से उसे टालना है, इसलिए उस स्त्री ने उपरोक्त ढंग से वह बात सुझाई है। याने इस रचना के मूल में व्यावहारिक उद्देश्य है।

इसमें संदेह नहीं कि अलंकारादिकों के अनुषंग से काव्य की संरचना का अध्ययन किया जा सकता है। यह भी निर्विवाद है कि उसके कारण काव्य के बारे में हमारा बोध सूक्ष्म होता है। प्रश्न यही है कि क्या इस प्रकार के विश्लेषण से काव्य का समूचा मर्म हम समझते हैं? या काव्य के मर्म को पकड़ने के जो अनेक मार्ग हैं, उनमें से एक मार्ग-इतना ही इस विश्लेषण का स्थान है? अगर एकसत्त्वतर्काभास एवं अलौकिकता के चष्मे हमने नहीं पहने हों तो हमें मान्य करना पड़ेगा कि उपर्युक्त विश्लेषण-पद्धति अनेकों में से एक है और वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, ऐसा मानने का भी कोई कारण नहीं है। फिर उपन्यास, नाटक इत्यादि के विश्लेषण में तो इस प्रणाली को बहुत ही कम महत्त्व का स्थान प्राप्त होगा।

11.11

अब हमें मराठी में पिछले कुछ वर्षों से बहुचर्चित विश्लेषण-पद्धति का विचार करना है। यह मर्ढेकर द्वारा निर्मित प्रणाली है और उसका काफी रोब-दाब है। उस रोब-दाब का कारण यह नहीं कि मर्ढेकर ने एम्पसन की भाँति अनेक वाङ्मयकृतियों का प्रभावपूर्ण विश्लेषण किया बल्कि यह है कि उन्होंने इस विश्लेषण-पद्धति को एक तात्त्विक नींव देने का प्रयत्न किया। यह तात्त्विक नींव उस काल में मराठी समीक्षकों को बहुत नई एवं क्रांतिकारी लगी। विश्वचैतन्यवाद की जरा भी जानकारी न होने के कारण मराठी पाठकों को ऐसी कुछ गलतफहमी हुई हो तो आश्चर्य नहीं। विश्वचैतन्यवादियों की भाँति मर्ढेकर भी कला के ऐसे संगठन तत्त्व की खोज में थे जो ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक नहीं था। सौंदर्य के संगठन तत्त्व के बारे में बोलते समय विश्वचैतन्यवादी प्राय: नकार की भाषा में बोलते हैं। सौंदर्य-संगठन का तत्त्व ज्ञान एवं नैतिक संगठनातत्त्व की अपेक्षा अलग है, इतना ही प्राय: वे बताते हैं। सुंदर वस्तुओं की रचना नियमबद्ध होती है, लेकिन वह किस नियम के अनुसार होती है, यह नहीं बताया जा सकता। यही उनके बताने का रुख होता है। निश्चित नियम बताने पर सौंदर्यानुभव का ज्ञानानुभव में रूपांतर होगा, ऐसा कुछ डर उनको है। इसलिए, 'अनेकता में एकता का तत्त्व', 'स्वतंत्र कल्पनाशक्ति को परितोषजनक लगनेवाली रचना', 'प्रभावित करनेवाली संगति' ऐसे कुछ संदिग्ध शब्द-प्रयोगों के आधार से वे अपना काम चला लेते हैं। उन्हीं की परंपरा में क्लाइव बेल भी 'अर्थसंपृक्त रूप' के

निश्चित नियम नहीं बताता। रचना के निश्चित नियम देने के लिए विश्वचैतन्यवादी एवं बेल जैसे सौंदर्यशास्त्री सहम गए। लेकिन उसी स्थान पर मर्ढेकर नहीं सहमे। उन्होंने दृढ़तापूर्वक सौंदर्यपूर्ण रचना के नियम बताए, ऐसा करने में उन्होंने क्या साध लिया, यही हमें अब देखना है।

मर्ढेकर के बताए नियम सभी के परिचय के हैं। फिर भी सुविधा के लिए ये दिए जा रहे हैं: '(1) दो संवेदन-संबंधों का एक साथ अनुभव ग्रहण करते समय उनमें से एक के गुणधर्म दूसरे के गुणधर्मों से मिलते-जुलते हैं, तो वे दो संबंध परस्पर-सुसंगत होते हैं। यह है संवाद-लय का तत्त्व। (2) दो संवेदना-संबंधों का एकसाथ अनुभव ग्रहण करते समय उन में से एक के गुणधर्म दूसरे के गुणधर्म के साथ मिलतेजुलते न होकर उल्टे विरोध कर रहे हों तो वे दोनों परस्पर संबंध विरोधी होते हैं। यह विरोध-लय का तत्त्व!

(3) किसी संवेदना-संबंधों के समुच्चय के अगर दो भाग किए जाएँ और उनमें से एक भाग के संबंधों की संख्या दूसरे भाग के संबंधों की संख्या जितनी ही हो तो वे दोनों भाग परस्पर संतुलन में होते हैं। यह है संतुलन-लय का तत्त्व।[32]

मर्ढेकर के पहले दो नियमों के बारे में एक गलतफहमी निर्मित होने की शक्यता है। मर्ढेकर साम्य और भेद के बारे में बोल रहे हैं, ऐसा कुछ लग सकता है। साम्य और भेद अवधारणाएँ इतनी सर्वव्यापक हैं कि मर्ढेकर के पहले दो नियम सहज सिद्ध होंगे ऐसा भी लग सकता है। लेकिन मर्ढेकर साम्य-भेद के बारे में नहीं बोल रहे हैं, वे संवाद-विरोध के बारे में बोल रहे हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए। भेद याने विरोध नहीं। भेद के संबंध से जुड़ी अनेक चीजें हमें दिखती हैं। परंतु उनके बीच विरोध का ही रिश्ता हो, ऐसा नही है। मर्ढेकर ने एलियट की निम्न-लिखित पंक्तियों का विश्लेषण किया है। जो इस संदर्भ में महत्त्व का होगा।

When lonely woman stoops to fally and
paces about her room again alone,
she smoothes her hair with automatic hand,
And puts a record on the gramaphone.[33]

इन पंक्तियों के भावसंगठन का विश्लेषण करने पर ध्यान में आएगा कि पहली दो पंक्तियों में एवं आखिरी दो पंक्तियों में जो रिश्ता है वह भेद का है, विरोध का नहीं। मर्ढेकर ने इन पंक्तियों के साथ गोल्डस्मिथ की इसी विषय पर लिखी कविता दी है। उसको पढ़ने पर भग्न-हृदय नारी क्या करेगी इस बात को लेकर हमारे मन में जो अपेक्षा निर्मित होती है, उससे कुछ बिलकुल ही भिन्न एवं अनपेक्षित ऐसा कुछ एलियट की कविता में घटित होने के कारण वैचित्र्य पैदा होता है। यहाँ भेद है लेकिन मर्ढेकर कहते हैं वैसा विरोध नहीं।[34] मर्ढेकर ने और भी कुछ उदाहरण दिये हैं।[35] माँ-बाप को बच्चों के बारे में प्रेम' और 'बच्चों को माँ-बाप के प्रति प्रेम'-- इनका

उन्होंने संवाद-लय के उदाहरणस्वरूप निर्देश किया है। लेकिन मानवी भावनाओं का यह वर्गीकरण इतना मोटा है कि दो पीढ़ियों के बीच की भावनात्मक संबंधों की समूची सूक्ष्मता यहाँ धुल-पुँछ जाती है। किंग लियर और उसकी तीन कन्याएँ, हैम्लेट एवं उसकी माँ, श्रावण और उसके माँ-बाँप, पाँडुरंग सांगवीकर और उसको पिता, काउंट चेंची और उसकी कन्या, इड़िपस और जोकास्टा, राम और दशरथ इनके बीच के संबंधों की सूक्ष्मता मर्ढेकर के वर्गीकरणों में अथवा उनके तीन नियमों में कैसे समाविष्ट होगी, यह समझना मुश्किल है। विरोध-लय के उदाहरण-स्वरूप मर्ढेकर प्रेम और द्वेष का उल्लेख करते हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बहुत बार एक ही व्यक्ति के संदर्भ में ये दोनों भावनाएँ अनुभव की जा सकती हैं। इस प्रेम-द्वेष का मर्ढेकर क्या करनेवाले हैं पता नहीं? मर्ढेकर जो मानते हैं उससे मनुष्य-मनुष्य के बीच के भावनात्मक रिश्ते बहुत उलझनपूर्ण और सूक्ष्म होते हैं। इसके कारण मर्ढेकर के नियमों में फिट बिठाने के लिए उनकी बहुत ही खींचतान करनी पड़ती है।

मर्ढेकर ने अपनी 'सौंदर्य आणि साहित्य' (संस्करण 2) पुस्तक में 109 पृष्ठ पर बालकवि की कविता 'खेड्याची रात्र' का विश्लेषण किया है। इस कविता में एक भावनात्मक अनुभव व्यक्त हुआ है। यह अनुभव भग्नता, नश्वरता, भयावहता का है। इस भयावहता में अमंगल अमानवी शक्ति का ध्वंसक यथार्थ सूचित हुआ है। अत: शरीर पर अनामिक भय के रोंगटे खड़े होते हैं। देवालय, बुर्ज, वटवृक्ष का चबूतरा, ये निर्देश कुछ ऐसा अस्पष्ट-सा बोध पैदा करते हैं। किसी समय यह इलाका बच्चों, लोगों से भरा हुआ, समृद्ध, सुरक्षित और भविष्य के प्रति नि:शंक रहा होगा। लेकिन आज यहाँ उजाड़ पठार है, बुर्ज की दीवारें गिर चुकी हैं, वटवृक्ष का चबूतरा देवालय की वीरानगी को बढ़ा रहा है, अब यहाँ मनुष्यों की बस्ती नहीं, देवालय में दीया नहीं, प्रचुर अंधेरा छा गया है। लेकिन ऐसा नहीं कि यहाँ संस्कृति के चिह्न शेष नहीं हैं। ऐसे रेगिस्तान की, जहाँ संस्कृति कभी विकसित ही नहीं हुई, वीरानगी यहाँ नहीं है। रेगिस्तान की वीरानगी दृश्य को व्याकुल नहीं करती, क्योंकि उसमें भग्नता नहीं होती। जहाँ जन्म नहीं वहाँ मृत्यु की भग्नता भी नहीं और उसके कारण आनेवाली खिन्नता भी नहीं। केवल वीरानगी में आशय ही नहीं होता, लेकिन यहाँ वैसा नही है। संस्कृति का निवास यहाँ था, यह दिखानेवाले मृत अवशेष यहाँ अभी हैं। पिशाचों से अभिभूत जगह में जिस तरह पिशाच विचरते हैं उस तरह यहाँ भूतपूर्व संस्कृति के पिशाच विचरण करते हैं। झरने के पास सियारों का चिल्लाना और प्रेतों का हवा में बड़बड़ाना अमंगलता है ही, लेकिन उसके साथ अमंगल अमानवीय शक्तियों के निवास का भी सूचन होता है। गाढ़े काले दह में जल है लेकिन उसका बहना, जीवन को खिलानेवाला मंगलसूचक नहीं है। वह छायाओं से ढँका, दमघुटा, प्रवाहत्व भूला हुआ जल है। ऐसे दह से, उसपर स्थित झाड़झंखाड़ के जाले से हूँकार आ रहे हैं। रात मानो सजीव हो उठी थी। अमंगल

शक्तियों की वह प्रतिनिधि बन गई है और हुँकार भर रही है। आगे वाले छंद में कौवा, भडकने वाली ज्वाला, आकाश का धरती में मिलना इत्यादि बातों से यह भयावह अमंगलता मनपर अधिक अंकित होती है।

इस स्थान पर सर्वप्रथम स्वाभाविकत: विचार मन में आता है कि यह अनुभव कितना प्रभावपूर्ण है और उसे व्यक्त करने के लिए कवि ने कितने औचित्यपूर्ण साधनों की योजना की है। यहाँ रसपरिपोष की भाषा बिलकुल उत्स्फूर्तता से सूझ जाती है लेकिन रस-व्यवस्था मराठी-समीक्षा विचार में इधर कबाड़ा जैसी मानी जा रही है। समीक्षा के लिए नए औजारों की जरूरत महसूस हो रही है। ऐसी स्थिति में मर्ढेकर की अनोखी प्रणाली मराठी पाठकों को अच्छी लगे तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसमें नवीनता है। अब मर्ढेकर ने इस कविता का जो विश्लेषण किया है उसे देखें। उनकी समीक्षा-पद्धति का उपयोग करना हो तो ध्यान कविता के शब्दों पर केंद्रित करना चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नही कि कविता में सभी शब्द महत्त्पूर्ण होते हैं। 'प्रसरणशील आकार' के शब्दों की ओर ध्यान देने से काम चलता है। मर्ढेकर ने ऐसे शब्दों के तीन वर्ग किए हैं। उनमें निम्नलिखित शब्द आते हैं।(1) प्रारंभिक गुणों के नामों के अतिरिक्त सभी विशेषण और विशेषणवाचक शब्दसमुच्चय (2) काल-स्थल दर्शक क्रियाविशेषणों के अलावा शेष सभी क्रियाविशेषण, (3) केवल अस्तित्वदर्शक संवाक्यों में आनेवाली क्रियाएँ छोड़कर अन्य सभी क्रियाएँ।[36] उपर्युक्त काविता का विश्लेषण करने के पहले उन्होंने उसके 'प्रसरणशील आकारों' के शब्दों की सूची की है। पहले छंद के 'उजाड' 'पडल्या' (गिरे हुए), 'ओसाड' (वीरान) 'वडाचा' (वटवृक्ष का), 'दाट' (गहन) 'भरे' (भरा हुआ) और 'भरपूर' शब्दों का समावेश इस सूची में किया है और 'माळ' (पठार), 'बुरुजाच्या भिंती' (बुर्ज की दीवारें), 'देवळापुढती' (देवालय के सामने), 'पार' (चबूतरा), 'अंधार' (अंधेरा) शब्द महत्त्वहीन माने हैं। 'इस पहले छेद के पद्यबंध में 'उजाड' 'पडल्या' 'ओसाड' में संवाद-लय है। एक ही अर्थ अधिकाधिक गहरा बनता गया है। वही स्थिति 'दाटला' (छा गया), 'भरे' (भरा हुआ), 'भरपूर' शब्दों की लय की है। लेकिन इन दो गुटों में पहले का स्वरूप 'ओसाडी' वीरान है तो दूसरे का "भरपूर" है। अत. इन दो गुटों के अर्थ परस्पर विरोधी धर्म के अतएव विरोध लयबध्द हैं। फिर इन दोनो गुटों में तीन-तीन अर्थ-संबंध होने के कारण यह पूरा छंद संतुलन लयवाला है।'[37] उनके इस विवेचन के बारे में निम्नलिखित मुद्दे उपस्थित किए जा सकते हैं: (1) उपर्युक्त पैरे में संतुलन लय का मुद्दा मर्ढेकर की पध्दति की यांत्रिकता का प्रमाण है। असल में क्रियाविशेषणों, क्रियाओं एवं विशेषणों के साथ 'माल', 'बुरुज', 'भिंती', 'देऊळ', 'वडाचा', 'पार' ये संज्ञाएँ भी विचार में लेनी होंगी, क्योंकि वे भी प्रभावपूर्ण ढंग से भाव-व्यंजन करती हैं। लेकिन मर्ढेकर की राय में भाव-वहन की दृष्टि से संज्ञाएँ निकम्मी हैं।[38] असल में विशिष्ट

शब्द भावव्यंजक हैं अथवा नहीं, यह इसपर निर्भर नहीं है कि वह शब्द व्याकरण में किस जाति का है, बल्कि इसपर है कि वह विशिष्ट काव्य में कैसे प्रयुक्त किया गया है। अगर संज्ञाएँ, क्रियाएँ, विशेषण, क्रियाविशेषण आदि प्रकार के शब्दों का विचार किया जाए तो मर्ढेकर को इस छंद में प्रतीत होनेवाला संतुलन बिगड़ जाता है। लेकिन उससे कविता अ-सुंदर नहीं बनती। याने इस कविता के सौंदर्य का और मर्ढेकर द्वारा दिए गए शब्दों के वर्गीकरण का एवं तथाकथित संतुलन का कोई संबंध नहीं। (2) इस छंद में विरोध-लय है, यह दिखाने की जिद मर्ढेकर क्यों करते हैं, यह एक अनाकलनीय गूढ़ है। क्योंकि 'दाटला', 'भर', 'भरपूर', शब्दों से मर्ढेकर, बतलाते हैं जैसे सच्चे अर्थ में "भरपूरी" कौन-सी है ? तो न्यूनत्व की, कुछ न होने की, अमंगल की 'भरपूरी' है। यह 'भरपूरी' समृध्दि नहीं है। अगर वह ऐसी होती तो पहले छंद की चार पंक्तियों में विरोध-लय निर्मित होती। लेकिन यहाँ की 'भरपूरी' अमंगल तथा न्यून की होने के कारण पहली तीन पंक्तियों के भावनार्थ पर इस पंक्ति की ओर गहन छाया पड़ती है, याने रस-परिपोष उत्कट होता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यहाँ नैसर्गिकत: सूझनेवाली अवधारणाएँ हैं। रसपरिपोष एवं उसके लिए इस्तेमाल किए गए औचित्यपूर्ण साधन, इन अवधारणाओं से इस कविता का मर्म व्यवस्थित रूप में स्पष्ट होता है। तो फिर इन अवधारणाओं को त्यागकर खींचतान कर के संवाद, विरोध, संतुलन नियम क्यों उपयोग में लाए जाएँ ? उनके संभवनीय कारण इस प्रकार कहे जा सकते हैं– पुराने से ऊब और नवीनता का शौक, यह तो तत्काल सूझनेवाला कारण है। लेकिन वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण मर्ढेकर द्वारा किए गए सौंदर्य के अन्वेषण के मूल में विद्यमान गृहीत में प्राप्त होता है। वह गृहीत यह है कि सौंदर्य-अवधारणा आम्लत्व अवधारणा जैसी है। हर आम्ल में आम्लत्व तो होता ही है और सब स्थानों पर दिखनेवाला आम्लत्व तत्त्वत: एक ही होता है। उसी तरह हर सुंदर वस्तु में सौंदर्य तो होता है और सब स्थानों पर दिखनेवाला सौंदर्य तत्त्वत: एक ही होता है। अगर आम्लत्व का आकलन हो जाए तो वह सभी आम्लों के स्वरूप का आकलन होता है। उसी तरह अगर सौंदर्य का सत्त्व समझ में आ जाए तो वह सभी सुंदर वस्तुओं का स्वरूप समझ में आता है, यह गृहीत मान्य करने पर सब स्थानों पर एकरूप identical होनेवाले सौंदर्य-सत्त्व को खोजने की इच्छा स्वाभाविक ही है। लेकिन यह गृहीत ही कहाँ तक ठीक है, यह प्रश्न मर्ढेकर को नहीं सूझा। अगर यह सवाल वे पूछते तो आम्लत्व और सौंदर्य एक जाति की अवधारणाएँ नहीं हैं, यह उनके ध्यान में आ जाता। आम्लत्व की अपेक्षा सौंदर्य की अवधारणा की तार्किक व्यवस्था बहुत उलझनपूर्ण है। यह उनको मालूम होता। फिर सभी कलाओं के लिए लागू होनेवाले सौंदर्य के नियम ढूँढने की जिद उन्होंने नहीं की होती। हमने अपने पहले तीन अध्यायों में जो तार्किक

चर्चा की वह केवल आधुनिक दार्शनिकों के बुध्दिविलास को देखने के लिए नहीं थी। वह चर्चा नहीं करते तो हम गलत तात्त्विक गृहीतकृत्यों के मायाजाल में फँस जाते और हमारा सौंदर्यबोध फलप्रद नहीं होता। यह आश्चर्य है कि मर्ढेकर की समझ में न आया। क्योंकि मूर के बादवाले दर्शन में उपरोक्त बोध प्रकर्ष रूप मे दीखता है। मूर का विवेचन ध्यान में लिये बगैर आज के विचारक को मूल्य के क्षेत्र में कार्य करना संभव नहीं है। यह स्थिति आज की नहीं है। करीब चालीस वर्ष पूर्व लेखन करते समय रिचर्ड्स को यह भान था। इसीलिए अपने मूल्य-विचार को प्रस्तुत करते समय उसने मूर से कुछ सामना किया।[39] लेकिन दर्शन की ओर बहुत दूर से देखनेवालों को जितना रसेल दीखता है उतना मूर नहीं और यह एक दुर्भाग्य है। लेकिन उपर्युक्त गृहीत गलत भी हो तो भी असावधान पाठकों को संभ्रमित करने के लिए वह पर्याप्त है। मर्ढेकर ने अपना सौंदर्यशास्त्र मराठी पाठकों के सामने रखा तो बहुतों को लगा कि हमारे आज तक के मराठी समीक्षकों की अपेक्षा मर्ढेकर बहुत ही अधिक मूलभूत विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, क्योंकि वामन मल्हार जोशी या रा. श्री. जोग केवल काव्य के सौंदर्य के बारे में बोलते थे, मर्ढेकर सभी कलाओं के बारे में बात करते हैं, उनके द्वारा अन्वेषित तत्त्व सभी कलाओं पर लागू होते हैं। इसके कारण हम इतने सम्मोहित हुए कि ये तत्त्व सभी कलाओं पर-कम-से-कम किसी एक कला पर -- सचमुच लागू हो सकते हैं या नहीं यह सरल प्रश्न हम में से बहुतों ने पूछा ही नही।

इस गलत गृहीत पर मतलब 'एकसत्त्वर्काभास' पर, अनेकों का सौंदर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र आधारित होता है। फिर भी उनका काव्यशास्त्र महत्वपूर्ण है, यह मान्य करना पड़ता है। उदाहरणार्थ काव्य विषयक एम्पसन का सिध्दांत बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे ही गृहीत पर आधारित है तो भी वह महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि वह सिध्दांत समस्त काव्य पर लागू न भी हो तो भी कुछ कविताओ पर निश्चय ही लागू होता है और इन कविताओं के बारे में हमारा बोध वह सूक्ष्म एवं समृध्द करता है। वह काव्य पर सैध्दांतिक बलप्रयोग नहीं करता। क्योंकि वह काव्य के जीवंत बोध से उत्स्फूर्त रूप में निकला है। लेकिन मर्ढेकर का सिध्दांत खींचतान किए बिना किसी पर लागू नहीं होता।

हमने देखा कि वह काव्य के बोध से स्फुरित नहीं हुआ है और काव्य पर लागू करना हो तो काव्य को बहुत खींचना पड़ेगा। क्या वह अन्य कलाओं पर लागू हो सकता है? मर्ढेकर की दृष्टि से संगीत सर्वाधिक महान कला है। अत: इस कला के संदर्भ में वह लाभदायी है अथवा नहीं यह देखा जाना चाहिए। प्रसिद्ध संगीतज्ञ प्रा. अशोक रानड़े ने मर्ढेकर पर अपने एक अप्रकाशित लेख में दिखाया है कि संगीत पर वह बिलकुल ही लागू नहीं होता।[40]

प्रस्तुत लेख में रानड़े ने मर्ढेकर पर तीन आक्षेप लिये हैं: (1) मर्ढेकर ने विशद्ध

संवेदना पर बल देकर रचनावाद का समर्थन किया है और उसके कारण कुछ संगीत-प्रकारों पर अन्याय हुआ है। 'गजल-भावगीत, ठुमरी-टप्पा से लेकर ख्याल-धृपद तक सभी प्रकारों में शब्द और अर्थ का बहुत महत्त्व है। इन सब प्रकारों के विकास के लिए और पर्याय में अंतिम संगीत सिद्धि के लिए शब्दार्थों का कार्य इतना आवश्यक है कि 'शुध्दतम संवेदना = उच्चतम कला' समीकरण में फिट बिठाने के लिए आधे से अधिक संगीत-प्रकारों को बाद करना पड़ेगा। बिलकुल पश्चिमी वाद्य संगीत को भी देखे तो उसका बहुत बड़ा भाग प्रोग्राम-म्युजिक से व्याप्त रहता है। जीवनार्थ से निकट का रिश्ता बता कर ही उसमें श्रवण-संवेदनाओं की रचना होती रहती है।'

(2) मर्ढेकर के लयतत्त्वों के आधार से संगीत की संरचना का स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता। गड़बड़ हो जाता है। उदाहरणार्थ विरोध-नियम लीजिए 'विरोध -नियम में स्वर संवाद-पध्दति की बुनावट में आ ही नहीं सकते। यह भी प्रश्न ही है कि स्वरसंहतितत्त्व में विरोधी स्वरबंध कौन-से माने जाएँ। क्योंकि रागादि स्वरसंगठन में अगर विरोधी याने वर्ज्य अर्थ लिया जाए तो रागसिद्धि ही नही होगी। विरोध-नियम का अस्तित्व गृहीत होने के कारण सप्तक के अलग-अलग अर्थों में विद्यमान, यह अर्थ लेने पर ध्यान में आ जाता है कि यह गुण दृष्टि से विरोध-संबंध का उदाहरण नहीं बनता, स्थान-विरोध का ही बन सकता है।

(3)वस्तुत: ये सब नियम दृश्य कलाओं के बोझ से दबे हैं और सच्चे अर्थ में मूलभूत भी नहीं हैं, यह स्पष्ट है

यह देखना आवश्यक है कि मर्ढेकर का सिध्दांत दृश्य कलाओं के मूल्य का पूर्ण स्पष्टीकरण कहाँ तक दे सकता है। इसके लिए प्रा. माधव आचवल के स्थापत्यकला संबंधी विचारो की सहायता लें। प्रा. माधव आचवल मर्ढेकर के संबंध में बहुत ही सहानुभूतिपूर्वक विचार करनेवाले लेखक हैं। यह सही है कि वे फॉर्म को महत्त्व देते हैं लेकिन उनका स्थापत्यशास्त्रीय विचार मर्ढेकर की भाँति इकहरा नहीं है। उनकी पुस्तक 'किमया' से कुछ वाक्य देखिए: 'केवल चार दीवारों से घर तैयार नहीं होता, उसके सारे अंतरंग से उसका बाहयरूप आकार लेता रहता है।'[41] 'घर अति नाजुक तंतु-वाद्य है। अपनी समूची मन:स्थितियों के अनुरूप झनक-झनक उसमें से निकल सकती है। हमारे सारे अंतर्जीवन को वह अनुकूल प्रतिक्रिया देता है।[42] संवेदनाओं और संवेदनाओं के हमारी भाववृत्तियों के साथ बने विशिष्ट संबंधों के तरल बोध से घर के अवकाश की जगहें भरना संभव होता है।'[43] 'विशिष्ट भावपरिपोष की दृष्टि से की हुई काल और अवकाश की बंदिश संगीत कला की भाँति वास्तुकला का भी प्राणतत्त्व है।'[44] आचवल एवं मर्ढेकर दोनों फॉर्म को महत्व देते हैं। लेकिन मर्ढेकर का फॉर्म आशय-सापेक्ष, आशय की अभिव्यंजना करनेवाला नहीं। आचवल का फॉर्म आशय को व्यक्त करनेवाला, उसके साथ संवादी है। प्रकाश, जल, द्रव्य (material)

रंग, रेखा, घनता, अवकाश को वास्तु द्वारा दिए गए आकार और इन सब के संगठन से निर्मित सौंदर्य आचवल चाहते हैं। लेकिन उसी तरह वास्तु के चारों ओर का वातावरण वास्तु का प्रयोजन, वास्तु में रहनेवालों की संस्कृति इत्यादि बातें भी वास्तुकला के संदर्भ में उन्हें महत्त्वपूर्ण लगती है, इसलिए उनके द्वारा किया गया वास्तु के रूपबंध का विश्लेषण निर्जीव, यांत्रिक, इकहरा नही लगता। मर्ढेकर का विश्लेषण निर्जीव, यांत्रिक एवं अधूरा लगता है। उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आता है कि मर्ढेकर के नियम जैसे वाङ्‌मय में उपयोगी सिध्द नहीं होते वैसे संगीत एवं दृक्‌कलाओं में भी उसी रूप में जिस रूप में वे हैं इस्तेमाल नहीं किए जा सकते।

11.12

अब हमे 'सेंद्रिय एकता' (organic unity) एवं 'सेंद्रिय समष्टि' अथवा सेंद्रिय संबंध (organic whole) अवधारणओं का विचार करना है। कलाकृति में सेंद्रिय एकता होती है। याने कलाकृति एक सेंद्रिय संबंध होती है। यह सिध्दांत बहुत पुराना है। सेंद्रिय संबंध-अवधारणा के एक अंग का उल्लेख अरस्तू ने किया है। वह कथावस्तु के बारे में लिखता है, '----------विभागों का रचनात्मक ऐक्य ऐसा होना चाहिए कि उनमें से किसी भी विभाग का स्थान बदलने पर अथवा उसे निकाल दिए जाने पर समस्त रचना ही बिखर जाए या विचलित हो जाए, क्योंकि जिस चीज का अस्तित्व अथवा अभाव कोई दृश्य परिवर्तन नही घटित करता वह चीज उस समूची वस्तु का मूल घटक नहीं बन सकती।[45] अरस्तू को अभिप्रेत सेंद्रिय एकता जीवंत प्राणी के शरीर में होती है। उसी तरह सेंद्रिय एकता वाड्.मयकृति में भी होनी चाहिए , यह अरस्तू की अपेक्षा है। विश्वचैतन्यवादियों ने भी इस अवधारणा का बेहिचक उपयोग किया है। लेकिन सेंद्रियता के लिए उनके द्वारा बतायी गयी कसौटियाँ अरस्तू की कसौटियों से अधिक कड़ी है। ये कसौटियाँ कौन सी यह हम बाद में देखनेवाले हैं। आज के युग में सेंद्रिय संबंध की अवधारणा का स्वीकार हेरल्ड आज्बर्न ने उत्साह से किया है। उसने मनोविज्ञान के गेस्टाल्ट विचार और विश्वचैतन्यवादी दर्शन को जोड़कर अपना सिध्दांत प्रस्तुत किया है। आज्बर्न ने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दो विचार प्रणालियों को एकत्र किया है, अत: उसका विवेचन बहुत समावेशक हुआ है। इसलिए उसके द्वारा प्रस्तुत संबंध के सिध्दांत की हम चर्चा करेंगे।

आज्बर्न का कहना है कि मैक्टेगार्ट के चिद्वादी दर्शन पर किए भाष्य में सेंद्रिय संबंध की अवधारणा का डॉ. ब्राड़ ने जो अर्थ लगाया है वह मुझे मान्य है। ब्राड़ का कहना है कि जो संबंध सेंद्रिय है उसमें एक चीज अपरिहार्यत: होनी ही चाहिए। अगर 'क्ष' सेंद्रिय संबंध है तो उसके हर भाग का अस्तित्व अन्य भागों के अस्तित्व पर एवं उस भाग के अन्य भागों के साथ जो संबंध हैं, उनपर निर्भर है।[46] आज्बर्न की राय में हर कलाकृति में ब्राड़ के अर्थ की सेंद्रिय एकता होती है या हर कलाकृति एक

सेंद्रिय संबंध होती है। बोसाँकि जैसे विश्वचैतन्यवादी भी सेंद्रिय एकता की अवधारणा का उपयोग करते हैं। उनकी राय में सेंद्रिय संबंध के सभी भाग एक दूसरे से अंतर्गत संबंधों से (internal relation) जुड़े हुए होते हैं। उसके हर भाग का अस्तित्व एवं स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि वह भाग उस सेंद्रिय संबंध के अन्य भागों से और कुल संबंध से कैसे जुड़ा हुआ है। किसी भी बंध का भाग उस बंध पर निर्भर होने के कारण तर्क-दृष्टिसे बंध पहले और उसका भाग बाद में, ऐसा ही क्रम रहता है। आज्बर्न इस विचार से सहमत है। वह कहता है कि सेंद्रिय बंध ऐसा बंध है कि जो तर्क-दृष्टि से उसके भागों की अपेक्षा एवं उनके संबंधों की अपेक्षा पहले होता है।[47]

सेंद्रिय बंध विषय में इस सिध्दांत का खुलासा इस प्रकार किया जा सकता है। (1) कलाकृति एक सेंद्रिय बंध होता है। (2) याने कलाकृति के भाग अपने अस्तित्व के लिए एवं स्वरूप के लिए उस बंध पर निर्भर होते हैं। (3) इस में से जो उपसिध्दांत निकलता है वह यह कि कलाकृति का कोई भी भाग बदल दिया तो उसके अन्य भाग भी बदलते हैं और परिणाम में कलाकृति ही बदलती है। हमने देखा कि अरस्तू ने इस मुद्दे का निर्देश किया है। (4) आज्बर्न की राय में कलाकृति की सेंद्रिय एकता ही उसका सौंदर्य है।[48]

इस सिध्दांत के समर्थनार्थ प्रमाण देने के पहले आज्बर्न ने उसमें एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सुझाया है। उसकी राय में कलाकृति में एक तरह का लचीलापन होता है। इस कारण कलाकृति में अगर छोटे-छोटे परिवर्तन किए गये तो उस वजह से कलाकृति का स्वरूप बड़े अनुपात में नहीं बदलता। वह उसके भी आगे जाकर कहता है कि किसी पुतले का सिर भी अगर टूटे तो उसका शेष भाग मूल पुतले जितना ही सुंदर दिखता है। पूर्ण पुतले के सौंदर्य और खंडित पुतले के सौंदर्य में कोई फर्क नहीं होता।[49]

इसपर आक्षेप यह लिया जा सकता है: अगर सेंद्रिय बंध तार्किक दृष्टि से उसके भागों के पहले होगा तो बंध खंडित होने पर उन भागों का स्वरूप बदल ही जाएगा। अगर भागों का अस्तित्व एवं स्वरूप बंध पर निर्भर होगा तो अखंड पुतले के हाथ-पैर और खंडित पुतले के हाथ-पैर एक ही हैं, यह कहना भी तर्क-दृष्टि से गलत है। मतलब, आज्बर्न को सेंद्रिय बंध की अपनी अवधारणा में बदल करना होगा, अन्यथा खंडित पुतले और अखंड पुतले के बीच के सौंदर्य की एकरूपता अमान्य करनी होगी। अगर अखंड पुतले के हाथ-पैर और खंडित पुतले के हाथ-पैर एवं उनका सौंदर्य, इनकी एकरूपता उसे मान्य होगी तो किसी ऐंद्रिय बंध के भाग बंध के बाहर भी मूल स्वरूप में ही अस्तित्व में हो सकते हैं, यह मान्य करना क्रमप्राप्त है। यह मान्य करने पर ब्राड़ के द्वारा स्पष्ट किया हुआ सेंद्रिय बंध का सिध्दांत ध्वस्त होता है।[50]

अब आज्बर्न ने अपने सिध्दांत के समर्थ के लिए दिए हुए प्रमाणों का संक्षेप में विचार करेंगे। यह प्रमाण देते समय आज्बर्न ने मनोविज्ञान के गेस्टाल्ट सिध्दांत का

बहुत उपयोग किया है। गेस्टाल्ट वादियों का मत है कि हम जो देखते हैं वह एक समग्र क्षेत्र (field) होता है। इस क्षेत्र के प्रत्येक घटक का स्वरूप उसका उस क्षेत्र में क्या स्थान है और उसका उस क्षेत्र के अन्य घटकों से क्या संबंध है, इसपर निर्भर रहता है। पास-पास के रंग एक-दूसरे में किस तरह दृश्य-बदल घटित करते हैं, यह उदाहरण यहाँ लिया जा सकता है। एक ही गोरी स्त्री श्वेत एवं कृष्ण साड़ी में देखने पर अलग दिखती है। उसका गोरापन वही होता है, लेकिन कृष्णवर्णीय साड़ी में उसके गोरेपन को उठान मिलता है। श्वेत साड़ी में वैसा नहीं होता। यह प्रमाण मान्य करना होगा। लेकिन कुछ विचार करने पर ध्यान में आएगा कि उससे आज्बर्न को जो निष्कर्ष निकालने हैं, वे नहीं निकलते। प्रस्तुत प्रसंग में गोरी नारी के गोरे रंग को हम 'ग' कहें और काले रंग को 'क' कहें। मान लें कि 'ग' जब काले रंग के साथ होता है तब हमें 'ग' के स्थान पर '$ग_1$' दीखेगा। अब प्रश्न यह है कि '$ग_1$' 'ग-क' संबंध के बाहर दीखना क्या अशक्य है? अपने उदाहरण में स्त्री का रंग '$ग_1$'हो इसलिए 'ग-क' संबंध अस्तित्व में होना आवश्यक है। लेकिन मूल में अधिक गोरी स्त्री का रंग '$ग_1$' हो, इसलिए 'ग-क' बंध की आवश्यकता नहीं। इसका अर्थ यह कि गेस्टाल्ट मत स्वीकार्य होने पर भी आज्बर्न को वांछित दार्शनिक निष्कर्ष नहीं निकलते।

आज्बर्न के समस्त विवेचन पर और एक मूलभूत आक्षेप लिया जा सकता है। गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक मानते हैं उस प्रकार अगर हमारे समस्त अनुभव को गेस्टाल्ट तत्त्व अपरिहार्यत: लागू होनेवाला हो तो केवल उसकी सहायता से सौंदर्यास्वाद एवं अन्य अनुभव के बीच का भेद नहीं दिखाया जा सकता। आज्बर्न को इसका बोध रहा होगा। इसलिए उसने और एक निकष बताया है। एकाध चीज सेंद्रिय बंध बनने के लिए उसमें चुस्ती चाहिए। हमारा ध्यान उसके सभी भागों के परस्पर के साथ एवं कुलबंध के साथ जो संबंध हैं, वे स्पष्टत: सु-संगत रीति से एक ही नज़र में आकलित होने चाहिए।[51]

यहा निर्दिष्ट 'चुस्ती', 'स्पष्टता' इत्यादि गुण एवं सेंद्रिय बंध पूर्णता· अलग चीजें हैं। आज्बर्न जिसे सेंद्रिय बंध कहता है उसकी सहायता से सुंदर चीजों एवं अन्य चीजों में भेद नहीं किया जा सकता। यह ऊपर संकेतित हुआ है। वही बात चुस्ती, स्पष्टता इत्यादि के बारे में भी सही है। केवल सुंदर चीजें ही चुस्त होती हैं, ऐसा नहीं। चुस्ती हमारी पूर्णत: लौकिक जरूरत है।

सेंद्रिय बंध एवं समाष्टि के अतिभौतिकीय सिध्दांत पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आक्षेप यह है कि वह हमारी समीक्षा की भाषा में अनुस्यूत नहीं है। उल्टे, इस सिध्दांत को छेद देनेवाला बहुत कुछ उसमें अंतर्भूत है। कलाकृति के घटकों में फेरफार करने पर कलाकृति में आमूलाग्र परिवर्तन होते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष समीक्षा में हम नहीं मानते। ये घटक कितने महत्त्वपूर्ण हैं, इसपर सब निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, मैक्बेथ को

पश्चात्ताप हुआ और उसने राजत्याग किया। यह दिखाने पर 'मैक्बेथ' में आमूलाग्र परिवर्तन होगा। लेकिन बैंको के खून का काम दो के स्थान पर पाँच जल्लादों पर सौंप देने की बात दिखाने से कुल नाट्यकृति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होगा। लेकिन महत्त्वपूर्ण घटक और कम महत्त्व के घटक इस प्रकार का विभाजन विश्वचैतन्यवादी मान्य नहीं करते, क्योंकि विश्व की सभी चीजें एक ही सेंद्रिय बंध का भाग होने के कारण उनमें से एक को भी अगर धक्का लग जाए तो अंतर्गत संबंध के नियम के अनुसार समूचे विश्व में बदल होना चाहिए। इसीलिए उनका सिध्दांत उसके वर्तमान रूप में स्वीकार्य नहीं होगा- लेकिन ऐसा कहने में उनपर शायद अन्याय होने की शक्यता है। ऐसा न हो इसलिए उनके सिध्दांत का रुख ध्यान में लेना होगा। उनका कहना है कि कलाकृति ऐसी होनी चाहिए कि उस में जरासा भी फेरबदल करने के लिए गुंजाइश न हो। यह ध्येय के रूप में तो ठीक है, यह हम क्षण-भर के लिए मान लें। लेकिन इसका अर्थ यह होगा कि सेंद्रिय समष्टि का होना हर कलाकृति का वर्णन नही है, वह शायद कुछ कलाकृतियों का वर्णन होगा। बहुसंख्य कलाकृतियों का वह केवल ध्येय ही होगा। 'ध्येय' शब्द से मूल्य संकेतित होता है। अत: यह पूछना चाहिए कि क्या यह ध्येय के रूप में स्वीकार्य है? इस ध्येय को प्राप्त करना छोटी कलाकृतियों के लिए संभव होता है। उदाहरणार्थ सुभाषित या सानेट। लेकिन ऐसा नहीं लगता कि 'वार ऐंड पीस' को यह ध्येय प्राप्त करना संभव होगा। इसलिए क्या सानेट को 'वार ऐंड पीस' से अधिक मूल्यवान माना जाए? ऐसा मानना गलत होगा, इसमें संशय नहीं। लेकिन अगर विश्वचैतन्यवादियों को अभिप्रेत सेंद्रिय एकता 'वार ऐंड पीस' में पैदा करने का प्रयास तोलस्तोय ने किया होता तो वह उपन्यास क्या अधिक मूल्यवान न बनता? इस उपन्यास में जो केंद्रीय भाग है, उसमें सेंद्रिय एकता है, यह कहा जा सकता है। लेकिन उसके जो तफसील हैं उनमें वह नहीं दिखती। लेकिन असल में उससे कुछ बिगड़ता भी नहीं। गरीब मनुष्य का महीने का आय-व्यय-पत्रक बँधा हुआ होता है और उसमें सेंद्रिय एकता रहती है। आगाखान का अंदाजपत्रक बँधा नही होता। ऐसा ही कुछ बड़ी कलाकृति के बारे में कहा जा सकता है। बड़ी कलाकृति के सभी भागों को सेंद्रिय एकता का तत्त्व लागू कर दिया जाए तो उस कलाकृति के आशय का एवं पाठक का दम ही घुट सकता है।

अब तक हमने फॉर्म के संबंध में जो चर्चा की उससे निष्कर्ष यह निकलता है कि 'फॉर्म' शब्द से किसी भी विशिष्ट अवधारणा का निर्देश नहीं होता। इस शब्द के पीछे अवधारणाओं का एक उलझनदार जाल मिलता है। यह जाल तोड़कर उसमें से किसी एक ही अवधारणा को फॉर्म शब्द से सदा के लिए जोड़ने का प्रयत्न करना उचित नहीं। अगर उलझनदार समीक्षा-व्यापार जारी रखना हो तो यह उलझनदार जाला सुरक्षित रखना होगा। जीवन में अनुशासन चाहिए। लेकिन अनुशासन याने वैविध्य

को चकनाचूर करनेवाला स्टीम-रोलर नहीं।

फॉर्म के संदर्भ में विश्वचैतन्यवादियों द्वारा उठाए गए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की चर्चा हमने की। उनका कहना यह कि कलाकृति का आशय अलौकिक तत्त्व की सहायता से संगठित किया जा सकता है। इस तत्त्व को अलौकिक कहने का कारण यह है कि वह ज्ञानात्मक अथवा व्यवहारात्मक क्षेत्रों के संगठन तत्त्व की अपेक्षा अलग होता है। लेकिन हमने देखा कि केवल कलाव्यापार तक सीमित संगठन तत्त्व वाङ्मय जैसी आशययुक्त कलाओं में नहीं प्राप्त होता। चुस्ती, एकात्मता, इत्यादि तत्त्व समस्त मानवीय जीवन को व्यापनेवाले तत्त्व हैं। इसपर विश्वचैतन्यवादी उत्तर देंगे, 'हमारा यही कहना है, अनेकता में एकता समस्त विश्व का ही अंतिम तत्त्व है, वह जब ज्ञान के क्षेत्र में दीखता है तब उसे हम सत्य कहते हैं, नीति के क्षेत्र में उसकी अभिव्यंजना को शिव कहते हैं, और ऐंद्रिय विश्व में अभिव्यंजना को सौदर्य कहते हैं।' यह विवेचन अगर केवल ऐंद्रिय जगत् तक सीमित होता तो ठीक लगने की शक्यता थी। लेकिन आशय या अर्थ को ऐंद्रिय नहीं कहा जा सकता। आशय के आने पर उसके बौध्दिक या व्यवहारात्मक नियमों के अनुसार संगठन शुरू होता है। यह प्रक्रिया बिलकुल नैसर्गिक एवं उत्स्फूर्त ही है। सौंदर्य का संगठन तत्त्व अलौकिक है। यह सिध्द करना हो तो यह दिखाना संभव होना चाहिए कि वह तार्किकेतर एवं व्यावहारिकेतर तत्व है। वह केवल तार्किकेतर सिध्द करने से ही उनका अलौकिकत्व सिध्द नहीं होता। उदाहरणार्थ, रिचर्ड्स का या फ्रायडवादियों का संगठन तत्त्व तार्किकेतर है। लेकिन वह व्यावहारिकेतर न होने के कारण अलौकिक नहीं है। वाङ्मयीन कलाकृति के बारे में विचार करते समय हर स्थान पर हम अरस्तू का संभवनीयता या अपरिहार्यता का तत्त्व इस्तेमाल करते ही है, ऐसा नहीं। उदाहरणार्थ 'किंग लियर' नाटक का अंत सुखांत करने पर वह हमें उचित न लगता। लियर की मृत्यु अपरिहार्य एवं संभवनीय है इसलिए केवल यह बात सही नहीं है। उसका कारण हमारे मन में कोई ना कोई अलौकिक संगठन तत्त्व विद्यमान रहता है, ऐसा भी नहीं है। असली कारण अलग है। लियर ने इतना विलक्षण दुख भोगा है कि कार्डेलिया की मृत्यु के बाद उसका ऐहिक जीवन चालू रहने में किसी प्रकार का अर्थ शेष नहीं रहा था। पके फल का टहनी से गिर पड़ना जितना स्वाभाविक उतना ही अतीव दुख से पीड़ित लेकिन अंत में अल्पजीवी समझदारी प्राप्त करनेवाले लियर का मरना भी स्वाभाविक लगता है। लेकिन लियर की मृत्यु बौध्दिक दृष्टि से अपरिहार्य चीज नहीं है, उसी तरह वह किसी भी अलौकिक संगठन तत्त्व के कारण आवश्यक बननेवाली चीज भी नहीं है। हम एक उदाहरण और लें। शोकात्म नाटक में सुखात्म दृश्य क्यों होते हैं? सहज सूझनेवाला कारण यह है कि दर्शकों के मन का तनाव कम हो इसीलिए। बहुत अंशों में वह ठीक भी लगता है। लेकिन मर्ढेकर उसमें विरोध-लय-तत्त्व खोजना चाहते हैं। शेक्स्पीअर

की शोकात्मिकाओं की रचना की दृष्टि से विचार करने पर मर्ढेकर का स्पष्टीकरण कितना पूर्वग्रहदूषित है, इसका पता चलेगा। इससे यह ध्यान में आएगा कि जहाँ अरस्तू के 'संभवनीयता' एवं 'अपरिहार्यता' इन बौध्दिक नियमों का अभाव होता है वहाँ कोई न कोई अलौकिक संगठन तत्त्व होता ही है, ऐसा समझना गलत है।

लौकिक जीवन के समस्त आशय को समेटनेवाला और वाङ्मयीन मूल्य का पूर्ण स्पष्टीकरण देनेवाला अलौकिक संगठन तत्त्व प्राप्त होगा, ऐसी आशा व्यर्थ है। केवल ऐंद्रिय घटकों से बनाए, अर्थरहित, कलाकृति में तार्किकेतर एवं व्यावहारिकेतर तत्त्व प्राप्त होने की शक्यता बहुत बड़ी है। इसलिए अलौकिकतत्त्व का दावा केवल ऐसी ही कलाकृतियों तक सीमित रखना होगा।

इससे यह सिध्द होगा कि वाङ्मय बहुत बड़े पैमाने पर लौकिकता के ध्रुव की ओर उन्मुख है। ऐसा नहीं कि उसमें अलौकिकता का संपूर्ण अभाव ही है। जब तक शाब्दिक संगीत एवं भाषाशैली का स्वतंत्रत: विचार हो सकता है और जब तक उपरोधादि अलंकार और 'वालुकाघड़ी आकृतिबंध' जैसे संगठन तत्त्वों के आधार से वाङ्मय के आशय का संगठन हो सकता है तब तक वाङ्मय में भी अलौकिकता का बीज रहता है, यह मान्य करना पड़ता है।

संगीत बिलकुल इससे अलग है। अर्थरहित खयाल बहुत बड़े पैमाने पर अलौकिक की ओर झुका हुआ होता है। लेकिन खयाल के साथ चीज भी होती है। और चीज के साथ संगीत में अर्थ का चंचु-प्रवेश हो जाता है। खयाल की ओर से हम ठुमरी, नाट्यगीत, भावगीत की तरफ चलते हैं तो अर्थ की प्रबलता बढ़ती जाती है। उसी के साथ संगीत अलौकिकतावाद के ध्रुव की ओर झुकने लगता है। इससे ध्यान में आएगा कि संगीत और वाङ्मय इन दो छोरों पर स्थिति, कलाओं में लौकिकता एवं अलौकिकता दोनों ध्रुवों की उपस्थिति की दीखती है। इसलिए कला के अलग-अलग प्रकार न मानते हुए कला की अवधारणा द्विध्रुवात्मक होती है, यह मानना वस्तुस्थिति के अधिक निकट होगा।

□□

अध्याय 12
उपसंहार

हमारी बौध्दिक यात्रा अब समाप्त होने जा रही है। उसका संक्षेप में सर्वेक्षण करके हम स्थान-स्थान पर निकाले गए निष्कर्षों को एकत्र कर प्रस्तुत करेंगे। यह निष्कर्ष-संश्लेषण का कार्य उतना आसान नहीं है। पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रवेत्ता अपने निष्कर्ष को संक्षेप में प्रस्तुत कर सकता है। उसकी कुल भूमिका पंढरपुर जैसे किसी एक तीर्थक्षेत्र में जानेवाले 'वारकरी' की भाँति होती है। सभी सुंदर वस्तुओं में अथवा कलाकृतियों में एक ही समान सत्त्व होता है, इसपर उसे विश्वास रहता है और वह उपलब्ध होने का अवसर दिखा तो अपनी यात्रा फलवती बन जाने का उसे संतोष भी मिलता है। इस यात्रा में क्या प्राप्त हुआ, यह पूछे जाने पर वह 'सौंदर्य याने अभिव्यंजना' जैसा चुस्त और चमकदार उत्तर भी दे सकता है। लेकिन हमारी बात अलग है। हम एक ही एक तीर्थक्षेत्र की खोज में नहीं थे। हमारी भूमिका बारह ज्योतिर्लिंगों की यात्रा करनेवाले यात्री की थी। यात्रा से क्या प्राप्त हुआ, ऐसा कुछ पूछा जाए तो हमें जगह-जगह से प्राप्त विभूति की पूड़ियाँ और फूलों की पोटलियाँ दिखानी पड़ेंगी। यह काम हम उपसंहार में करने जा रहे है।

प्रारंभ में ही हमने चर्चा के लिए यह प्रश्न उठाया कि 'सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप क्या होता है?' निष्कर्ष निकला कि सौंदर्यशास्त्र में अध्ययन की जो पद्धति इस्तेमाल की जाती है वह विज्ञान म प्रयुक्त पद्धति की अपेक्षा मूलत: भिन्न होने के कारण सौंदर्यशास्त्र विज्ञान एवं विज्ञानाधिष्ठित शास्त्र हो नहीं सकता। वह एक दार्शनिक शास्त्र है और उसमें अवधारणा-विश्लेषण की प्रणाली इस्तेमाल की जाती है। प्रत्यक्ष कला-समीक्षा में जो अवधारणाएँ उत्स्फूर्त रूप में इस्तेमाल की जाती हैं उनका विश्लेषण करना सौंदर्यशास्त्र का प्रमुख कार्य है। अवधारणा संवाक्यों में अवतरित होती है, अत: सौंदर्य-संवाक्यों का विश्लेषण करना भी आवश्यक बन जाता है।

प्रत्यक्ष समीक्षा में उपयोग में लाई जानेवाली अवधारणाओं का विश्लेषण करते-करते हमें सौंदर्य का आविष्कार करना था। दर्शन अथवा मनोविज्ञान की सहायता से या अपनी नवनवोन्मेषशलिनी प्रज्ञा पर निर्भर रहकर कोई सौंदर्य सिध्दांत निर्मित कर उसे सभी कलाकृतियों पर बलात् लादने की 'आधी कळस मग पाया' – पहले कलश, बाद में नींव-प्रणाली की अपेक्षा हमारी राय में नींव से कलश की ओर' वाली प्रणाली सत्यान्वेषण के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि अपनी पद्धति में कलाकृतियों के मूल स्वरूप पर अन्याय नहीं होता, फिर, हमारे निष्कर्षो की जड़ें चूँकि समीक्षा

की भूमि में बहुत गहरे धँसी हुई हैं, एक परीक्षा के रूप में निष्कर्षों की सहायता से प्रत्यक्ष समीक्षा कर दिखाने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। 'पहले कलश बाद में नींव' पद्धति से उत्पन्न सौंदर्य-सिद्धांतों के बारे में यह प्रश्न अटल रूप में उपस्थित होता है और अमूर्त विचार के स्तर पर स्वीकार्य लगनेवाले बहुत सारे सिद्धांत इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। हमारी पद्धति में यह दोष नहीं है। प्रत्यक्ष समीक्षा के लिए हमारे निष्कर्षों की उपयोग-क्षमता का प्रमाण हमारी निष्कर्ष निकालने की विशिष्ट पद्धति ही देता है।

अवधारणाओं का विश्लेषण दो अंगों से करना पड़ता है। एक तो अवधारणा-चिकित्सा करना पड़ता है। आधुनिक सौंदर्यशास्त्रज्ञों को प्राय: पहले प्रकार की खोज में रस होता है। इसके विपरीत, कांट जैसे अपवाद छोड़ दें, तो प्राय: अधिकांश पारंपरिक सौंदर्यशास्त्रज्ञों ने केवल आशय के विश्लेषण पर बल दिया है। असल में कला-समीक्षा में प्रयुक्त अधिकांश अवधारणाओं का दोनों अंगों से विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। उनमें से किसी भी एक अंग से किया हुआ विश्लेषण यथार्थदर्शी एवं फलप्रद नहीं सिघ्द होता। क्योंकि दोनों अंग परस्पर पूरक हैं।

हमने पहले हमारे लिए संगत अवधारणओं एवं सौंदर्यसंवाक्यों के तार्किक वैशिष्ट्यों का अन्वेषण किया। हमारा हाथ में लिया हुआ पहला प्रश्न था 'क्या सौंदर्य संवाक्य व्यक्ति विषयक ही होता है?' कांट का दावा यह था कि सौंदर्यसंवाक्य व्यक्तिविषयक ही होता है। किसी वर्ग की सभी चीजों के बारे में सार्वत्रिक सौंदर्यसंवाक्य संभव नहीं है अगर यह दावा सही है तो यह मानना पड़ेगा कि सुंदर चीजों एवं कलाकृतियों का अवधारणाओं की सहायता से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। उसी तरह सौंदर्य एवं कलाकृतियों की अच्छाई के सार्वत्रिक निकष संभव नहीं हैं। कांट का यह दावा सौंदर्य-शास्त्र एवं काव्यशास्त्र की जड़ पर ही आघात करता है, क्योंकि सौंदर्य एवं अच्छे काव्य के सार्वत्रिक निकष खोजना शास्त्रों का एक महत्त्वपूर्ण उद्दिदष्ट समझा जाता है। हमने निष्कर्ष निकाला कि कांट का दावा स्वीकार्य नही है। हर सुंदर चीज अथवा कलाकृति अन्य सुंदर चीजों या कलाकृतियों से अलग होती है, यह सही है लेकिन कांट कहता है उस प्रकार वह अनन्यसाधारण (unique) नहीं सिघ्द होती। हर कलाकृति अगर अनन्यसाधारण मानी जाए तो कलाकृतियों का मूल्यांकन ही नहीं, संपूर्ण वर्णन भी असंभव होगा। प्रत्यक्ष समीक्षा में अवधारणओं एवं निकषों का सतत उपयोग होता रहता है, यह हम जानते हैं। इसलिए कांट का सिद्धांत हमने अस्वीकृत कर दिया लेकिन हमने कांट का सिद्धांत भले ही न स्वीकारा हो तो भी हमने उससे एक महत्त्वपूर्ण बात सीखी। वह यह है कि समीक्षा में अवधारणओं एवं निकषों का उपयोग अटल होने पर भी यांत्रिकता आने देना ठीक नहीं, क्योंकि अलग-अलग कलाकृतियों में जिस तरह साम्य रहता है, वैसे भेद भी रहता है। समीक्षा में इन साम्य-

भेदों का ख्याल रखना ही पड़ता है। एक ही निकष का सरे आम उपयोग करने से कलाकृति के अनोखेपन पर या नवीनता पर अन्याय होता है। इसके स्थान पर एक ही कलाकृति के संदर्भ में अनेक निकषों का इस्तेमाल करना अधिक ठीक होता है। एक ही समय अनेक निकषों का उपयोग करने के लिए एक तरह का कौशल अपेक्षित होता है। निकषों का पुस्तकीय ज्ञान होने पर यह कौशल आता ही है, ऐसा नही इसलिए कहा जाता है कि समीक्षा शास्त्र न होकर कला है। लेकिन यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए निकषों का ज्ञान अगर बिल्कुल ही न होगा तो उपरोक्त कौशल आत्मसात् नहीं किया जा सकता। चर्चा के दौरान प्रस्तुत पुस्तक के महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का संकेत हो गया, वह है अनेक निकषों की आवश्यकता। इस अनेक निकषों की प्रणाली के उत्तम उपयोग की रीति है विशिष्ट कलाकृतियों या कुल कला-परंपरा का निकष के रूप में उपयोग करना।

तीसरे अध्याय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमने विचार के लिए लिया। 'सौंदर्यसंवाक्य का प्रमुख कार्य क्या हैं?' इस प्रश्न पर सौंदर्यशास्त्रज्ञों की दो भूमिकाएँ ये हैं (अ) सौंदर्य संवाक्य का और कुल मूल्यसंवाक्य का कार्य है यथार्थ के संबंध में जानकारी प्रदान करना। इस भूमिका को ज्ञानात्मकतावाद कहते हें। ज्ञानात्मकतावाद के दो वर्ग कल्पित किए जा सकते हैं। (1) रिचर्ड्स जैसे विचारक मानते है कि 'सुंदर' या 'अच्छा' शब्दों से विशिष्ट मनोवस्था एवं उसके कारण का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्देश होता है। मर्ढेकर जैसे सौंदर्यशास्त्रज्ञ सौंदर्य का समीकरण संवाद–विरोध–संतुलन–लय से करते हैं। रिचर्ड्स एवं मर्ढेकर में अन्य मुद्दों पर कितनी ही मत-भिन्नता हो एक मुद्दे पर एकमत है। दोनों की राय में सौंदर्य का विश्लेषण प्राकृतिक सृष्टि के गुण एवं संबंध और मनुष्य की विशिष्ट मनोवस्था की सहायता से किया जा सकता है। ऊपर उल्लिखित चीजें प्राकृतिक सृष्टि में समाविष्ट होती हैं। अत: प्राकृतिक-गुण-वाद या प्राकृतिकतावाद कहा जाता है। (2) इसके विपरीत, शिव या अच्छाई का प्राकृतिक गुण, संबंध, मनोवस्था में विश्लेषण हो ही नही सकता। मूर का यह मत है। इस मत के अनुसार अच्छाई अविश्लेष्य है इसलिए आव्याख्येय है। अच्छाई एक प्राकृतिक गुण है। उसका हमें प्रातिभ ज्ञान होता है। मूर ने अच्छाई के बारे में जो जो कहा है वह सौंदर्य पर भी लागू होता है। इस मत को अप्राकृतिक-गुण-वाद कहा जाता है। मूर एवं प्राकृतिकतावादियों के बीच कुछ बातों में मूलभूत भेद होने पर भी मूल्यसंवाक्य वास्तव के बारे में जानकारी देनेवाला ज्ञानात्मक संवाक्य है, इस मुद्दे पर एकमत है। मूर की राय है कि मूल्य अवधारणाएँ अव्याख्येय हैं। किन्हीं प्राकृतिक गुणों से उनका समीकरण हो नहीं सकता। लेकिन वह यह भी कहता है कि वे हमेशा प्राकृतिक गुणों के आश्रय से रहती हैं। ये आश्रयभूत गुण अनेक एवं पर्याप्त हो सकते हैं। इन गुणों को मूल्य अवधारणाओं का निकष माना जा सकता है। आश्रयभूत गुण अनेक एवं

पर्यायी होते हैं, यह मान्य करने पर मूल्य अवधारणाओं के निकष अनेक एवं पर्याप्त होते हैं, यह भी मान्य करना पड़ता है। इससे सह दिखता है कि अनेक निकष पद्धति को मूर जैसे प्रातिभ ज्ञानवादियों का समर्थन है।

(ब) दोनों प्रकार के ज्ञानात्मकतावादियों का तार्किक अनुभववादियों ने जोरदार विरोध किया है। उनकी राय में मूल्यसंवाक्य में वास्तववर्णन का अंश हो तो भी उसका प्रमुख कार्य वास्तव के बारे में ज्ञान ग्रंथित करना न होकर भावनाभिव्यंजना या भावजागृति करना है। इस मत को भावनार्थवाद कहते हैं। भावनार्थवादियों ने मूल्य-अभिधानों की परिभाषाओं के बारे में एक नई उपपत्ति दी है। उनकी राय में इन अभिधानों की अनेक परिभाषाएँ हो सकती हैं और वे सब अनुनयी होती हैं। इन परिभाषाओं का कार्य होता है कि अपने वांछित वर्णनात्मक अर्थ-खंड को विशिष्ट मूल्य अभिधान का संपूर्ण या सर्वाधिक योग्य अर्थ है, यह दूसरों को समझा देना। इस अभिधान का जो भावनात्मक अर्थ होता है वह इस वर्णनात्मक अर्थ खंड तक सीमित किए जाने के कारण लोगों के भावनात्मक दृष्टिकोण में चाहे जो परिवर्तन पैदा किया जा सकता है। हमने भावनार्थवादियों का मत नहीं स्वीकार किया, क्योंकि इस मत के अनुसार किसी मूल्य संज्ञा की अपनी रुचि के अनुसार मनमानी परिभाषा करना संभव होता है। लेकिन सौंदर्य, कला, काव्य इत्यादि संज्ञाओं की मनमानी परिभाषाएँ नहीं की जा सकतीं। क्योंकि इन परिभाषाओं पर प्राकृतिक सृष्टि का नहीं मानवी यथार्थ का नियंत्रण होता है।

प्रत्याभिज्ञानवादी और भावनार्थवादी - दोनों में अनेकानेक मतभेदों के बावजूद एक मुद्दे पर मतैक्य दिखता है। प्रातिभज्ञानवादियों की राय में मूल्यसंज्ञाओं की अनेक अनुनयी परिभाषाएँ संभव हैं। सभी सुंदर चीजों में अथवा कलाकृतियों में एक ही समान सत्व होता है -- इस गृहीतकृत्य का दोनों तत्त्व प्रणालियों को विरोध करना है।

सभी कलाकृतियों में अगर एक ही समान तत्त्व नही हो, तो उनके संबंध कितने प्रकार के होते हैं, यह प्रश्न हल करते समय विट्गिन्स्टाइन के कुलसाम्य की उपपत्ति की सहायता हमें मिली। कला के अगर अनेक निकष या अनेक वैकल्पिक परिभाषाएँ संभवनीय हों तो उनमें किस प्रकार के संबंध होते हैं, यह प्रश्न तय करते समय गैली की स्वभावत: वादग्रस्त अवधारणाओं के सिद्धांत की हमने सहायता ली। गैली से एक मुद्दे पर हमारा मतभेद हुआ। हमने उसका यह मत नहीं स्वीकार किया कि मूल्यअवधारणाएँ खुली होती हैं। कला एवं सौंदर्य के स्वरूप के बारे में अलग-अलग कालखंडों मे एक-ही-से सिद्धांत सामने आए दिख पड़ते हैं। उनका स्वरूप बदला हुआ लगने पर भी उस परिवर्तन के पीछे एक तरह की नियमितता दिखाई देती है। अधिक गहरे में जाकर विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इन अवधारणाओं के संबंध में विविध सिद्धांतों में से दो परस्पर विरोधी अवधारणाव्यूह एवं भूमिकाएँ

उत्पन्न होती हैं। इसपर से हमने यह निष्कर्ष निकाला कि ये अवधारणाएँ द्विध्रुवात्मक हैं। उनके स्वभावत: वादग्रस्त होने का कारण उनकी द्विध्रुवात्मकता है।

इनमें से पहला ध्रुव यह भूमिका है कि कला एवं सौंदर्य का विश्व स्वयंपूर्ण एवं स्वायत्त है। इस भूमिका का परिपोष कांट एवं विश्वचैतन्यवादियों ने किया। चूँकि आधुनिक काल में यह एक प्रभावपूर्ण भूमिका है, हमने चौथे और पाँचवें अध्यायों में उसका विस्तार से परिचय प्राप्त कर लिया। कांट ने दिखाया है कि सौंदर्य स्वायत्त एवं परायत्त दोनों प्रकार का होता है। उनमें से स्वायत्त सौंदर्य संबंधी विवेचन विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसका स्पष्टीकरण देते हुए कांट ने जो सैध्दांतिक व्यूह खड़ा किया उसके बहुत दूरगामी परिणाम हुए हैं।

कांट की राय में स्वायत्त सौंदर्य का अनुभव अलौकिक होता है। लौकिक अनुभव के तीन वैशिष्ट्य यहाँ जानबूझकर टाले गए हैं। वह अनुभव सुखस्वरूप होने पर भी सार्वजनीनता की वजह से वह रोचकता का या संवेदनासुख का अनुभव नहीं होता। उसके सार्वजनीन एवं अपरिहार्य होने पर भी उसमें अवधारणाओं का अभाव होने के कारण 'प्रयोजनशून्य' 'प्रयोजनपूर्णता' 'नियमरहित नियमितता', 'ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन' शब्दों के प्रयोग कांट करता है। स्वायत्त सौंदर्य से युक्त वस्तुओं के प्रत्यक्ष अस्तित्व के बारे में हम उदासीन होते हैं। इसलिए उनसे प्राप्त होनेवाला आनंद सब प्रकार से निरपेक्ष होता है और उनके संबंध में हमारी भूमिका अपरिहार्यत: तटस्थ अवलोकन की होती है। इस तरह लौकिकता की ओर जानेवाले व्यवहार, ज्ञान एवं रोचकता--इन तीनों मार्गों को बंद कर कांट ने स्वायत्त सौंदर्य की अ-लौकिकता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है।

कांट ने स्वायत्त सौंदर्य में अवधारणाओं को स्थान नहीं दिया। लेकिन परायत्त सौंदर्य में अवधारणाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अवधारणाएँ याने अलग अलग जातियों में प्रकृति द्वारा विनिर्मित प्रयोजन अथवा सत्त्व हैं। इन सब में मानवी सत्त्व को विशेष महत्त्व है क्योंकि मानव अपने जीवन का उद्देश्य अपने जीवन का साध्य स्वनिर्मित नैतिक नियमों की सहायता से निश्चित कर सकता है। इसीलिए मानवी नैतिकता एवं उससे अनुषंग से निर्मित होनेवाली आत्मिक स्थिति के ऐंद्रिय माध्यम की अभिव्यंजना को कांट ने 'आदर्श सौंदर्य' नाम दिया है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि वह सौंदर्य की उपरोक्त उपपत्ति में से विश्वचैतन्यवादियों का अभिव्यंजनावाद उत्पन्न हुआ।

कांट ने सौंदर्य के दो प्रकार माने थे। विश्वचैतन्यवादी उनको एक तत्त्व के नीचे ले आए। उनकी राय में विश्वचैतन्य की ऐंद्रिय माध्यम से अभिव्यंजना ही सौंदर्य है। अंतिम वास्तव का स्वरूप अनेकता में एकता है। अत: जहाँ-जहाँ अवधारणओं की मध्यस्थता के बिना अनेकता में एकता का झटिति प्रत्यय आता है वहाँ सौंदर्य है।

अर्थरहित घटकों की सुसंगत रचना में सौंदर्य की एक अभिव्यंजना दिखती है तो ऐसी अर्थयुक्त कलाकृति कि जिसको सुसंगत रचना में उसी की दूसरी ओर अधिक संपन्न अभिव्यंजना प्राप्त होती है। समस्त विश्व जिस तरह एक सेंद्रिय समष्टि है, उसी प्रकार कलाकृति भी एक सेंद्रिय समष्टि है। वह जितनी अधिक आशय संपृक्त उतना उसका मूल्य अधिक। विशेष-संपृक्त सामान्य को अमूर्त सामान्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व देनेवाले विश्वचैतन्यवादियों ने आशययुक्त सौंदर्य को आशयरहित केवल रचना के सौंदर्य से अधिक महत्त्व दिया हो तो आश्चर्य नहीं। समस्त जीवन को स्वीकार कर उसमें से अवधारणा एवं प्रयोजन की मध्यस्थता के बिना सुसंगत, सेंद्रिय समष्टि उत्पन्न करने की दुहरी जिम्मेदारी उन्होंने स्वीकार की।

हमने देखा कि, इस सिद्धांत का परिपोष हीगेल, बोसाँके, क्रोचे, कालिंगवुड़ ने कैसे किया, ऐसा नहीं कि इन विचारकों ने कांट के सिद्धांत के सभी अंगों पर समान रूप में बल दिया। बोसाँके ने भावनाभिव्यंजना को महत्त्व दिया, क्रोचे ने भावना एवं अभिव्यंजना संज्ञाओं को ज्ञानशास्त्रीय अर्थ देकर 'कला वैशिष्ट्यपूर्ण बिंब का प्रातिभ ज्ञान देती है', ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत किया और कांट के इस अभिमत का कि सौंदर्य-संवाक्य व्यक्तिविषयक ही होता है, समर्थन किया। लेकिन इन सबने सौंदर्यानुभव की अलौकिकता को समान उत्साह से स्वीकार किया।

हमने अलौकिकतावाद की बहुत गहरे जाकर चर्चा की, क्योंकि सैध्दांतिक स्तर के समीक्षाशास्त्र पर इस भूमिका की गहरी मुद्रा अंकित है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि सभी समीक्षा-व्यापार इस भूमिका के अनुसार चलता है। इस भूमिका को छेद देनेवाली बहुत चीजें प्रत्यक्ष समीक्षा में मिलती हैं। इसलिए उसकी जड़ें प्रत्यक्ष समीक्षा में कहाँ तक गहराई में जम गई हैं, यह देखना आवश्यक हो जाता है।

कला और सौदर्य की अवधारणाओं का दूसरा ध्रुव लौकिकतावाद है। इस मत के अनुसार सौंदर्यानुभव लौकिक स्तर का ही अनुभव है। प्रत्यक्ष अस्तित्व में होनेवाली वस्तुओं का जो सत्ताशास्त्रीय स्थान होता है वह कलाकृति का नहीं होता। फिर भी उसके कारण निर्मित होनेवाले अनुभव की अपनी कुल भूमिका लौकिक याने ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक - होती है। कलानुभव एवं अन्य लौकिक अनुभव के बीच का अंतर जाति का न होकर संख्यात्मक है। प्लेटो, अरस्तू, तोलस्तोय, मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्रज्ञ, ड्यूई, रिचर्ड्स आदि ने इस अभिमत को पुष्ट किया है।

लौकिकतावाद एवं अलौकिकतावाद की भूमिकाओं के बीच संघर्ष का दिग्दर्शन छः से ग्यारह अध्यायों में किया गया है। यह संघर्ष अलग-अलग संदर्भो में होता है। प्रत्यक्ष कला-समीक्षा में क्या घटित होता है यह देखकर ही हमने ये संदर्भ चुने और इस संघर्ष का निर्णय करने के लिए भी कलाकृतियों के बारे में अपनी प्रतिक्रियाओं का प्रमाण माना।

कला के बारे में अथवा किसी भी अन्य मूल्यवान चीजों के बारे में चर्चा करते समय पहला विचार जो सूझता है वह उसकी उत्पत्ति के बारे में है। कला कैसे निर्मित हुई होगी, इसकी चर्चा हमने स्पेन्सर, शिलर इत्यादि की सहायता से की। कलाकार के मन में चलनेवाली निर्मिति प्रक्रिया का प्रश्न हल करने के लिए हमने वालेस, स्पिअरमन एवं फ्रायड़ की सहायता ली। उसी तरह आर्थिक-सामाजिक, परिस्थिति का कला निर्मिति पर क्या परिणाम घटित होता है, यह मार्क्सवादियों की सहायता से देखा। इस चर्चा से हमारे ध्यान में आया कि कलासृजन के संदर्भ में अनेक कारण घटकों को ध्यान में लेना पड़ता है। उसी के साथ यह भी ध्यान मे आया कि केवल सृजन- प्रक्रिया के विश्लेषण से मूल्य-निकष प्राप्त नही होते। इसी संदर्भ में हमने कोलरिज की कल्पनाशक्ति एवं चमत्कृतिशक्ति के बारे में कथित सिध्दांतों का विचार किया। इससे यह सिध्द हुआ कि मन:शक्तियों का निर्देश करने से कलाकृतियों की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण नहीं मिलता। कलाकृतियों के दो प्रकार की संरचनाओं का वर्णन करने के लिए ही केवल उनका उपयोग करना उचित होगा। ये अवधारणाएँ इस्तेमाल करनी हों तो कलाबाह्य जीवन का एवं व्यक्तित्व का अध्ययन अनिवार्य है, ऐसा नहीं। उल्टे, इस अध्ययन से भ्रमित होने की शक्यता बहुत अधिक होती है। चरित्रात्मक समीक्षा लिखनेवाले अनेक लोग केवल रोचक जानकारी इकट्ठा करते हुए देखे जाते हैं। इस तरह मनोरंजक जानकारी मनुष्य अवश्य इकट्ठा करे, लेकिन उसे समीक्षा न कहे। वही बात सच्चाई, आत्मनिष्ठा, उत्स्फूर्तता-अवधारणाओं के बारे में भी सही है। उनका प्रमाण कलाकृति में ही खोजना पड़ता है। कलाकृति में कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना मिलती है, इस सिद्धांत की चर्चा करते समय हमारे ध्यान में आया कि कलाकार के कला के अंतर्गत व्यक्तित्व और कला के बाहर के व्यक्तित्व में भेद करने पर चरित्रात्मक समीक्षा- पद्धति की आवश्यकता नकार दी जा सकती है। अगर यह दिखाया जा सके कि कला-सृजन-प्रक्रिया प्राकृतिक प्रक्रियाओं में से एक है, तो कला की लौकिकता सिद्ध हो सकती है। इस विश्वास के साथ लौकिकतावादियो ने कला सृजन प्रक्रिया में रुचि ले रखी हो यह स्पष्ट है। लेकिन यह सिद्ध करने में उन्हें सफलता नही मिली। लेकिन इसलिए यह भी नही कहा जा सकता कि अलौकिकतावादियों की पूर्ण विजय हुई, क्योकि सच्चाई, आत्मनिष्ठा, उत्स्फूर्तता --इत्यादि अवधारणाएँ कला में संगत ठहरती हैं, यह एक बार मान्य करने पर कुछ अनुपात में लौकिकतावाद की विजय को भी स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ये अवधारणाएँ पूर्णत: लौकिक हैं।

इसके बाद आठवें अध्याय में हमने सौंदर्यास्वाद के सुख का या आनंद का विचार किया। सुख-अवधारणा का विश्लेषण करने पर यह दिखाई पड़ा कि उस में निम्नलिखित चीजों का अंतर्भाव होता है। (1) संवेदन सुख (2) प्रेरणा परितृप्ति का सुख (3)

सुखद मनोवस्था और उसके अनुषंग से प्राप्त क्षणिक सुखोर्मि। इसके अलावा (4) अच्छा लगना, रस लेना, विगलितवेद्यान्तरवृन्ति से कुछ करना। इन अर्थो के लिए भी 'सुख' एवं 'आनंद' शब्द इस्तेमाल किए जाते है। इस बात का विचार करने पर कि सौंदर्यास्वाद को आनंद रूप ही मानते समय समीक्षकों को इनमें से कौन-से अर्थ अभिप्रेत होते हैं, हमने सौंदर्यांनंद लौकिक है या अलौकिक, इसकी भी चर्चा की। उसमें से निष्कर्ष निकला कि संवेदन-सुख और प्रेरणा तृप्ति का सुख स्पष्टत: लौकिक होते हैं। सुखद मनोवस्था भी लौकिक होती है। फिर सब प्रकार के सौंदर्यानुभव में वे संगत ठहरती ही हैं, ऐसा नहीं। 'पसंद आना' लौकिक है अथवा नहीं, यह इसपर निर्भर है कि हमें क्या अच्छा लगता है। अमुक एक चीज हमें पसंद है, इसलिए उसे करने में उस चीज का साध्य रूप संकेतित होता है। अलौकिकतावादियों को कलानुभव की साध्यरूपता महत्त्वपूर्ण लगती है। लेकिन इसलिए साध्यरूप होनेवाली हर चीज अलौकिक नहीं ठहरती। उपर्युक्त विवेचन से यह ध्यान में आता है कि कलानुभव की आनंदरूपता अलौकिकता की पोषक है, ऐसा नही। कांट के स्वायत्त सौंदर्य के कारण मिलनेवाले निस्संग आनंद को ही केवल निश्चित रूप से अलौकिक कहा जा सकता है।

इसी अध्याय में हमने कलानुभव की भावनात्मकता का भी विचार किया। इस संदर्भ में इस सिद्धांत को महत्त्व मिलना स्वाभाविक था। इस संबध में दो प्रमुख मत हैं: शंकुक का तटस्थ अनुमितिवाद और अभिनवगुप्त का साधारणीकरण-अनुप्रवेशवाद। शंकुक की राय में रस नाट्यगत है और प्रेक्षक उसका अनुमान करता है। लेकिन यह अनुमान रूढ़ ज्ञान के प्रकारों में नहीं आता, क्योंकि कलाकृतियों को सत्ताशास्त्रीय स्थान न होने के कारण उसकी प्रतीति अलौकिक ठहरती है। इस मत की चर्चा कर हमने इस प्रकार निष्कर्ष निकाला: इस सिध्दांत को साधारणीकरण का सहारा दिए बीना अनुमति एवं अभिनेता द्वारा किया हुआ अनुकरण शक्य नहीं होता। साधारणीकरण के कारण ही यह प्रतीति होती है कि 'दुनिया में ऐसे लोग होते है' और इसी प्रतीति के कारण अलौकिक कलाकृति के माध्यम से दर्शक लौकिक जगत् में प्रवेश करता है। यद्यपि वह स्वयं नाट्यगत भावना से उद्वेलित नहीं होता, फिर भी वह भावना साधारणीकृत होने के कारण इस लौकिक भावनाओं की तरह व्यक्तिबद्ध नहीं होती। व्यक्तिबद्ध भावानुभव सुखदु:खरूप होता है। साधारणीकृत भावानुभाव सुखरूप ही होता है। और इसलिए वह अलौकिक सिद्ध होता है। इसपर चर्चा करते हुए ध्यान में आया कि (अ) साधारणीकरण की प्रक्रिया सभी अलौकिक व्यवहार की नींव होने के कारण प्रक्रिया से रस का अलौकिकत्व सिद्ध नहीं होता (आ) कलानुभव की भाँति व्यक्तिबद्ध न होने पर भी कुछ अन्य अनुभव होते हैं। उदाहरणार्थ, नैतिक अनुभव। लेकिन वे कांट के समावेशक अर्थ में अलौकिक सिद्ध नहीं होते। (इ) रसानुभव केवल सुखमय होता है यह बात जँचती नहीं है। इसपर से ध्यान में आता है कि कला

की भावनात्मकता लौकिक ही होती है। अपने अनुभव की कक्षाओं का विस्तार करना और किसी समग्र जीवन दृष्टि के माध्यम से अनुभव में सुव्यवस्था का निर्माण करने का कार्य अच्छी कलाकृतियाँ करती हैं।

कला एवं नीति के संबंधों का हमने नौवें अध्याय में विचार किया। 'नीति' का अर्थ 'जीवन-निष्ठा' अथवा 'जीवन मूल्य' किया जाए तो यह ध्यान में आता है कि उपर्युक्त प्रश्न आशययुक्त कला के संदर्भ में कितना महत्त्वपूर्ण है, इस प्रश्न के बारे में विचारकों ने निम्नलिखित भूमिकाएँ ली हैं: (अ) कला को प्रत्यक्षत: सद्‌गुण एवं सद्‌भावना का परिपोष करना चाहिए, (आ) कला अप्रत्यक्षत: नैतिकता का परिपोष करती है, वह ऐसे अनुभव को जन्म देती है कि जो नैतिक दृष्टि से मूल्ययुक्त सिद्ध होता है, (इ) सौंदर्यानुभव सुखस्वरूप होने के कारण एवं सुख अंतिम मूल्य होने के कारण सौंदर्यानुभव में सर्व श्रेष्ठ मूल्यात्मकता होती है। उपर्युक्त भूमिकाओं में से दूसरी भूमिका आधुनिक समीक्षकों को सर्वाधिक स्वीकार्य है। उसी तरह पहली भूमिका में आंशिक तथ्य है, यह अनदेखा नहीं किया जा सकता। मनुष्य की हर कृति का, अंतिम अर्थ में, नैतिक पहलू होना किस तरह अनिवार्य है, इस संबंध में मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी विचारकों के मत का विश्लेषण हमने की। इन मतों में बड़े अंशों में तथ्य है, यह आशययुक्त कलाकृतियों के बारे में विचार करते समय ध्यान में आता है।

कला और सत्य के संबंधों की चर्चा दसवें अध्याय में आई है। प्लेटो, रिचर्ड्स, मैक्डोनल्ड़ ने प्रस्तुत किए अभिमत की कि कला ज्ञान दे ही नहीं सकती, चर्चा कर हम इस निष्कर्ष तक आए कि कला ज्ञान दे सकती है, इतना ही नहीं बहुत बार उसका मूल्य भी ज्ञानात्मकता पर निर्भर रहता है। कलाकृति में ज्ञानात्मकता लानी हो तो उसके घटक किस प्रकार चुनने चाहिए और उसका संगठना किस प्रकार करना चाहिए, इन मुद्‌दों की चर्चा अरस्तू की सहायता से हमने की। इसी संदर्भ में कला सामान्य का ज्ञान देती है या विशिष्ट का, इसके संबंध में अलग-अलग काल के विचारकों ने जो भूमिकाएँ व्यक्त कीं, उनका भी परिचय प्राप्त कर लिया। कुछ कलाकृतियों में ज्ञानात्मकता नहीं होती, लेकिन वैचारिकता होती है और इस वैचारिकता के कारण कला जीवन का अर्थ लगा सकती है, जीवन की ओर देखने की समग्र दृष्टि दे सकती है, यह हमने देखा। इस अध्याय के अंत में लैंगर के इस सिध्दांत का कि कला भावना की संरचना का ज्ञान देती है, हमने विचार किया।

अध्याय छ: से दस में हमने देखा कि लौकिकतावाद हावी हो रहा है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इस प्रकरण में हम वाड्.मय जैसी आशययुक्त कलाओं के बारे में विचार कर रहे थे। वाड्.मयीन कलाकृतिओं के बारे में समीक्षक उत्स्फूर्त रूप में जो बोलते हैं उसे देखने पर लगता है कि लौकिकतावाद की भूमिका अटूट

है। लगता है कि कांट का अलौकिकतावाद-- ऐसी कलाकृतियों के संदर्भ में जिनमें आशय नहीं है, केवल रचना का ही महत्त्व है, याने कांट-प्रणीत स्वायत्त सौंदर्य के संदर्भ में ही समर्थनीय होगा। लेकिन अलौकिकतावादियों की महत्त्वाकांक्षा यह सिद्ध करने की है कि आशययुक्त कलाकृतियों के संदर्भ में भी उनकी भूमिका युक्तियुक्त है। एक ओर कलाकृति को अधिकाधिक आशयघन करते जाना और दूसरी ओर इस आशय का अलौकिक रचनातत्त्व की सहायता से संपूर्ण रूपांतर करना, लौकिकता में अलौकिकता प्रस्थापित करना उनका उद्देश्य है। लौकिक आशय की प्रचुरता मुख्यत: वाङ्.मय में प्राप्त होती है। अत: वाङ्.मय के संदर्भ में ही अलौकिकतावाद की सही परीक्षा हो जाती है। वाङ्.मय की समीक्षा में उत्स्फूर्तता से निर्मित एकाध अलौकिक रचनातत्त्व प्राप्त होता है या नहीं इसकी खोज हमने ग्यारहवें अध्याय में की। 'फार्म' संज्ञा का विश्लेषण करते हुए हमारे ध्यान में आया कि कला के संदर्भ में उसके दो प्रमुख अर्थ हैं - अभिव्यक्ति और संगठना। अत: यह आवश्यक बन जाता है कि 'आशय एवं अभिव्यक्ति' और 'घटक एवं संरचना' को एक दूसरे से अलग कर उनपर स्वतंत्र रूप में विचार किया जाए। वाङ्.मय की अभिव्यक्ति में नाद, उनकी संगठना, वाङ्.मय रचना का तकनीक, निवेदन पद्धति, शैली का अंतर्भाव होता है। आशय एवं अभिव्यक्ति के बीच का नाता साध्य-साधन का होता है और वह औचित्यपूर्ण हो तो कलाकृति मूल्ययुक्त समझी जाती है। उसके बाद हमने कलाकृति के आशय एवं अभिव्यक्ति इन दोनों अंगों का स्वतंत्र रूप में विचार किया। ऐंद्रिय घटकों एवं अर्थात्मक घटकों की संगठना करने के लिए कौन से तत्व उत्स्फूर्तता से इस्तेमाल किए जाते हैं, इसकी खोज की। ऐंद्रिय घटकों का संगठन करते समय लयतत्त्व का उपयोग करना पड़ता है। हमने लयतत्व की चर्चा मुख्यत: संगीत के संदर्भ में की। क्योंकि आशय को अलग रखकर ऐंद्रिय घटकों की सगठना का विचार यहाँ संगत था। बाद में हमने देखा कि केवल आशय के अंग के घटकों के संगठन के तार्किकतेर और व्यवहारिकेतर नियम प्राप्त होते हैं या नहीं। इस संदर्भ में हमने अरस्तू का स्वयंपूर्णता का तत्त्व, एम्पसन का अनेकार्यता का तत्व, ब्रूक्स का विरोधाभास का तत्त्व और मर्ढेकर की संवाद-विरोध-सन्तुलन लय की नियम-त्रयी का विचार किया। इस चर्चा से निष्कर्ष यह निकला कि समस्त वाङ्.मय कृतियों को जो सहजतापूर्वक लगाया जा सकता है और जिसके कारण इन कृतियों मूल्य का संपूर्ण स्पष्टीकरण प्राप्त हो सकता है, ऐसा अलौकिक रचना-तत्त्व प्राप्त नहीं होता।

कला की स्वायत्तता एवं अलौकिकता सिद्ध करने के लिए निम्नांकित बातों की आवश्यकता होती है। कलाकृति के संबंध में हमारी भूमिका ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक नहीं होनी चाहिए। वह तटस्थ अवलोकन की होनी चाहिए। यह भूमिका लेना संभव हो तो ज्ञान एवं व्यवहार के विषयों की अपेक्षा कलास्वाद का विषय मूलत:

भिन्न होना चाहिए। ज्ञान एवं व्यवहार के विषय को यथार्थ के एक पदार्थ के रूप में अस्तित्व होता है। कलावस्तु के प्रत्यक्ष अस्तित्व के बारे में आस्वादक को पूर्णत: उदासीन होना आवश्यक है। उसी तरह कलावस्तु की रचना इस तरह होनी चाहिए कि जिसके कारण ज्ञानात्मकता एवं व्यावहारिकता को कलानुभव में प्रवेश मिलना असंभव हो। अलौकिकता के तीन आधार हैं-तटस्थ अवलोकन की भूमिका, कलावस्तु के प्रत्यक्ष अस्तित्व के विषय में उदासीनता, कलावस्तु की अलौकिकता--याने ऐसी रचना जो ज्ञानात्मक तथा व्यवहारात्मक नहीं है। ये तीन आधार परस्पर पूरक हैं। इनमें से केवल कोई भी एक आधार अलौकिकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

आशययुक्त कलाकृतियों में इन तीन आधारों में से एक निश्चित ही उपस्थित होता है। वह है कलाकृति एवं वास्तव जगत की प्रत्यक्ष अस्तित्व में होनेवाली वस्तुओं में विद्यमान सत्ताशास्त्रीय अंतर। इस अंतर के कारण कलाकृति के बारे में हमारी भूमिका अलौकिकतावादी होनेकी शक्यता उत्पन्न होती है। लेकिन उसमें से अलौकिकतावादी भूमिका निश्चित रूप से उत्पन्न होगी ही, ऐसा नहीं है। कलाकृति के घटकों के साथ (उदाहरणार्थ, नाटक के पात्रों के साथ) वे प्रत्यक्ष अस्तित्व में न होने के कारण कुछ व्यवहार असंभव बनते हैं। (उदाहरणार्थ, 'एकच प्याला' के सुधाकर एवं सिंधु को भोजन के लिए दंपती के रूप में निमंत्रित हम नहीं कर सकते) लेकिन उनके साथ कुछ मानस-व्यवहार करना संभव होता है। उदाहरणार्थ, सिंधु के प्रति आदर रख सकते हैं। दूसरी बात यह कि नाटक के सभी पात्र यद्यपि यथार्थ सृष्टि के सीमित चरित्र नहीं होते फिर भी ऐसे चरित्र अस्तित्व में हो सकते हैं, यह बोध हमारे दृष्टिकोण पर परिणाम करता है। हम सुधाकर को व्यसनों से बचा नहीं सकते परंतु उसके सदृश लेकिन प्रत्यक्ष व्यावहारिक दुनिया में जीवित व्यक्तियों को हम बचा सकते हैं। 'एकच प्याला' पढ़कर ऐसे व्यक्तियों को बचाने की बुद्धि हममें पैदा हो सकती है, यह बात महत्त्वपूर्ण है। सुधाकर और सिंधु को व्यावहारिक दुनिया में जीवित व्यक्तियों की तरह सत्ताशास्त्रीय स्थान नहीं है, यह सही है। लेकिन उसके कारण उनके संबंध में और उनकी तरह से प्रत्यक्ष जीवित व्यक्तियों के बारे में प्रतिक्रियाएँ अलौकिक नहीं मानी जा सकतीं। और इन लौकिक प्रतिक्रियाओं को वाङ्.मयास्वाद में महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह मान्य करना पड़ता है।

ये प्रतिक्रियाएँ अलौकिक होती हों, तो कलाकृति की संरचना ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक तत्त्वों के अनुसार नहीं होनी चाहिए। लेकिन आशययुक्त कलाकृतियों में, विशेषत: वाङ्.मयकृतियों में यह अटल रूप में इन तत्त्वो के अनुसार ही बनती है। वह वैसी हो तो आस्वाद में ज्ञानात्मक या व्यवैहारात्मक भूमिका बिलकुल आशययुक्त कलाकृतियों के संदर्भ में नहीं टिक सकता। जिसमें आशय नहीं ऐसा संगीत,

चित्र, नक्काशी, कपड़ों पर अंकित डिजाइन, रंगोली, पुष्परचना के संदर्भ में ही अलौकिकतावाद सिद्ध हो सकता है।

ऐसा होने पर भी कला और सौंदर्य के अलग-अलग प्रकार होते हैं, यह निष्कर्ष हमने नहीं निकाला। ये अवधारणाएँ द्विध्रुवात्मक हैं, ऐसा निष्कर्ष निकाला। इसका कारण यह है कि अलौकिकता का गढ़ समझे जानेवाले संगीत में चित्र में, कपड़े की डिज़ाइन में लौकिकता के बीज प्राप्त हो सकते हैं। उल्टे, वाङ्.मय जैसी लौकिक कला में अलौकिकता की ओर झुकनेवाली भी बातें होती हैं। इसे हम संक्षेप में देखे।

संगीत के कुछ प्रकार आशय युक्त होते हैं --- उदाहरणार्थ, ठुमरी, नाट्यगीत इत्यादि --- इस मुद्दे का यहाँ हमें उपयोग नहीं करना है, क्योंकि ये प्रकार स्पष्टत: लौकिकता की ओर झुकनेवाले होते हैं। हमें आशयरहित संगीत का ही उदाहरण लेना चाहिए, क्योंकि उसकी अलौकिकता के बारे में शंका लेने का कोई कारण नहीं होता। आशयरहित संगीत में भी लैंगर जैसों को लौकिक भावना की रचना का प्रतीक दिखता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि यह ध्यान में रखना चाहिए कि लैंगर की उपपत्ति का उद्गम कांट द्वारा सुझाए गए विचार में है कि 'सौंदर्य नैतिकता का प्रतीक होता है। क्योंकि इन दोनों में रचना के तत्त्व समान होते हैं' ऐसी सुंदर वस्तु जिसमें से आशय निकाल दिया गया है, मूल में लौकिक आशय का प्रतीक बनती है। कपड़ों की डिज़ाइन अर्थयुक्त नहीं होती। लेकिन कुछ संदर्भो में उन्हें प्रतीकात्मकता प्राप्त होती है। उसी तरह फ्रायड़ का चश्मा पहनने पर अर्थविरहित लगनेवाली वस्तुओं में भी अर्थयुक्तता आती है। इसका कारण यह है कि दुनिया की हर वस्तु में एक तरह का द्व्यर्थित्व होता है। वह वस्तु केवल वही वस्तु है यह समझा जा सकता है या ऐसा भी माना जा सकता है कि किसी का प्रतीक है। उदाहरणार्थ, केसरिया रंग को केसरिया रंग के रूप में देखा जा सकता है अथवा उसे वैराग्य का प्रतीक भी माना जा सकता है। किसी भी वस्तु की ओर कैसे देखा जाए, यह हमारे अवधारणात्मक निर्णय पर अथवा अवधारणात्मक बोध पर निर्भर होता है। किसी वस्तु की ओर प्रतीक के रूप में देखा जाए तो आशय एवं लौकिकता का प्रवेश अपरिहार्यता हो जाता है।

उल्टे, वाङ्.मय में अलौकिकता की ओर झुकनेवाली कुछ चीजें होती हैं। वाङ्.मय में शब्दों के नादों की जो रचना होती है वह सदैव साधनरूप ही होती है, ऐसा नहीं वह आशयरहित रचना के रूप में भी सुंदर हो सकती है। ऐसी रचना में अलौकिकता को टेकने-भर के लिए जगह प्राप्त होती है, यह ध्यान में आएगा। उसी तरह उपरोध इत्यादि अलंकार, वालुकामय घड़ी का आकृति-बंध जैसे आकार इत्यादि चीजों का जब वाङ्.मयकृति के आशय के रचनात्मक तत्त्व के तौर पर उपयोग किया जाता है, तब हम अलौकिकता की ओर झुकते हैं।

अलौकितावादियों का ताटस्थ्य पर विशेष बल रहता है। अलौकिकतावादियों का

यह ताटस्थ ज्ञानात्मकता एवं व्यवहारात्मकता के अभाव के कारण ही शक्य होता है। इस प्रकार का ताटस्थ्य तो नहीं लेकिन उससे थोडा-सा रिश्ता रखने वाला एक अलग किस्म का ताटस्थ्य वाङ्.मयीन अनुभव में रहता है। यह लौकिकतावादियों ने भी मान्य किया है। रिचर्ड्स लौकिकतावादी सौंदर्यशास्त्रज्ञ है। फिर भी वाङ्.मयीन अनुभव में एक प्रकार का ताटस्थ्य, स्वविरहितता (impersonality) होती है, यह वह भी कहता है। रिचर्ड्स को अभिप्रेत ताटस्थ्यता प्रेरणाओं के अभाव के कारण उत्पन्न होता तो उनकी समृद्धि के कारण एवं उनकी सुव्यवस्था के कारण उत्पन्न होता है, यह भूलना नहीं चाहिए। निश्चित ही यह तटस्थता लौकिक है। फिर भी उसका अलौकिकतावादियों को अभिप्रेत तटस्थता के साथ कहीं थोड़ा रिश्ता है, ऐसा लगता रहता है। अलौकितावादी मानते हैं कि कलामूल्य स्वायत्त, स्वयंभू होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उनकी राय में कला को साधनमूल्य नहीं होता, साध्यमूल्य होता है। रिचर्ड्स नैतिकतावादी होने के कारण वह कला की स्वायत्तता को नहीं मानता। इसीलिए उसने कलामूल्य एवं नैतिकमूल्य, इस प्रकार मूल्यों की जातियाँ कल्पित न करते हुए कुल मूल्य-संकल्पना की खोज की। परंतु रिचर्डस ने प्रचार करने वाले अथवा उपदेश करनेवाले साहित्य का समर्थन नहीं किया। उसकी राय में वाङ्.मय के कारण जो मन:स्थिति उत्पन्न होती है वही मूलत: मूल्ययुक्त होती है. उसका मूल्य साधनमूल्य ही होता है यह कहा जा सकता है। अर्थात् रिचर्ड्स अलौकिकतावादी नहीं हैं क्योंकि नैतिकता एवं ज्ञानसाधना में पूर्णत: लौकिक चीजें भी साधनमूल्य से ही युक्त होती है। रिचर्ड्स पूर्णत: लौकिकतावादी होने पर भी अलौकिकतावादियों का प्रिय वाङ्.मयीन अनुभव के साध्यमूल्य का मुद्‌दा वह एक अर्थ में मान्य करता है।

कला एवं सौंदर्य में संवेदनाओं के कारण जो सुख प्राप्त होता है उसका विचार करें तो यही बात ध्यान में आती है। स्पेन्सर एक प्रकार के संवेदनासुख को सौंदर्य सुख मानता है। इसीलिए कांट कहेगा कि स्पेन्सर का सिध्दांत अलौकिकतावादी नहीं है। लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो संवेदन सुख प्रत्यक्षत: प्रेरणा परितृप्ति से संबद्ध नहीं है उसी को स्पेन्सर सौंदर्य-सुख कहता है। व्यवहारात्मकता को लौकिकता का केंद्रवर्ती भाग मान लिया जाए तो स्पेन्सर अलौकिकतावादी न भी ठहरे तो भी यह निश्चित है कि उसके सिध्दांत में ऐसा कुछ है जो अलौकिकतावादियों को प्रिय लगेगा। स्पेन्सर के उर्वरित-शक्ति-सिध्दांत के बारे में भी यही बात है।

इसपर से ध्यान में आएगा कि लौकिकतावाद और अलौकिकतावाद की जड़ें एक दूसरे में ऐसी उलझी हुई हैं कि यह कहने की अपेक्षा यह मानना कि अधिक वास्तविक होगा। ये द्विध्रुवात्मक हैं, दो अवधारणाएँ। मनुष्य की सभी कृतियाँ उसके लौकिक जीवन स्त्रोत से निकली हुई होती हैं और ये इस स्त्रोत का पोषण करती हैं। लेकिन जीवन में स्थैर्य एवं समृध्दि उत्पन्न होने पर मूल में साधन रूप होनेवाली कुछ कृतियाँ

साध्य रूप एवं स्वायत्त बनती हैं। और फिर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है कि मनुष्य जन्मत: साध्यरूप एवं स्वायत्त चीजों का निर्माण करने लगता है। संगीत इसका उत्तम उदाहरण है। वह पूर्णत: कृत्रिम एवं मानव निर्मित होता है एवं वह एक आशयरहित रचना के रूप में सुना भी जा सकता है। यहाँ अलौकिकतावाद बिलकुल स्वाभाविक रूप में प्रस्थापित होता है। आशययुक्त कलाएँ भी इसी दिशा में जाना चाहती हैं। इसीलिए संगीत को सभी कलाओं का ध्येय माना जाता है। लेकिन आशययुक्त कलाओं का स्वभाव ही ऐसा है कि वे संगीत की तरह पूर्णत: स्वायत्त एवं अलौकिक नहीं बन सकतीं। ख्याल संगीत को जनताभिमुख बनाने की कल्पना जितनी चमत्कारी है, उतनी ही चमत्कारी कल्पना है वाङ्.मय को अलौकिक बताने की। परंतु वाङ्.मय भले ही अलौकिक नहीं बने फिर भी जिन्हें अलौकिकता की छाया कहा जा सकता है, ऐसी चीजें --उदाहरणार्थ साध्य रूपता, तटस्थता -- वाङ्.मय में आ सकती हैं। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा दिखता है कि वह छाया के स्थान पर मूल पदार्थ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। लेकिन इस स्वभाव की नैसर्गिक सीमा यह है कि इस प्रयास में उसे सफलता न मिलेगी।

❑❑

कलाकृति का सत्ताशास्त्रीय स्थान

1.

यहाँ हम कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में विचार करेंगे। यह प्रश्न इस ग्रंथ में बीच-बीच में झाँक गया है और उसके बारे में हमने कुछ थोड़ी-सी चर्चा भी की है। उदाहरणार्थ, प्लेटो, कांट, लैंगर, मेक्डोनाल्ड, शंकुक के विचारों के संदर्भ में उपरोक्त प्रश्न उभरा था। इन अलग-अलग संदर्भों में हमने जो निष्कर्ष निकाले उन्हें एकत्र कर यह चर्चा थोड़ी आगे ले जाने का यहाँ उद्देश्य है। असल में कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान से संबद्ध प्रश्न में सामान्य रसिकों की अपेक्षा दार्शनिकों को ही रस रहता है फिर भी उसे उठाना आवश्यक है, क्योंकि तात्त्विक समीक्षा के स्तर पर वह प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: उपस्थित होता रहता है। विशेषत: अलौकिकतावादियों के विवेचन में उसे बहुत ही महत्त्व प्राप्त होता है।

पहले हम इस प्रश्न का स्वरूप संक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे। हम सामान्य मनुष्य के मत से प्रारंभ करेंगे। दुनिया की प्राकृतिक वस्तुओं एवं घटनाओं के बारे में बोलते समय हम जो अवधारणाएँ इस्तेमाल करते हैं वे अवधारणाएँ कलाकृतियों के बारे में बोलते समय भी इस्तेमाल में लानी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ अवकाश एवं काल की अवधारणाएँ लेंगे। हम कहते हैं कि 'विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन दक्षिण बम्बई में है और वह अमुक साल मे बाँधा गया।' ताजमहल के बारे में बोलते समय भी हम यही अवधारणाएँ उपयोग में लाते हैं। हम कहते है 'ताजमहल आग्रा में है और वह अमुक वर्ष मे बाँधा गया।' विक्टोरिया टर्मिनस एवं ताजमहल में अन्य मामलों में भी साम्य है। उदाहरणार्थ, इन दोनों इमारतों पर धूप और वर्षा के विशिष्ट परिणाम होते हैं, उनके हर पत्थर का विशिष्ट वजन, लंबाई, चौड़ाई, रंग इत्यादि। विक्टोरिया टर्मिनस एवं ताजमहल में अगर इतना साम्य है तो इन दोनों इमारतों को प्राकृतिक वस्तुएँ क्यों न माना जाए? वैसा मानने में हर्ज नहीं है, ऐसा ही किसी को लग सकता है। लेकिन सौंदर्यशास्त्रियों ने इसका विरोध किया है। उदाहरणार्थ, कांट ने कहा है कि किसी वस्तु का मूल्यांकन अगर कलाकृति के रूप में करना है तो वह दिखती कैसे है, उसी पर ध्यान केंद्रित करना होगा, प्रत्यक्ष अस्तित्व में होनेवाली एक प्राकृतिक वस्तु के रूप में उसके जो गुण होंगे, वे कलास्वाद के संदर्भ में असंगत होते हैं।

कलाकृति केवल देखने के लिए होती है, यह चित्रकला के संदर्भ में झट से मान्य होगा। चित्र याने एक फ्रेम में बध्द कैनवास का टुकड़ा। उसमें लंबाई, चौड़ाई, वजन,

गंध, इत्यादि गुण होते हैं। लेकिन चित्र देखने का मतलब कैनवस का रंग लगा टुकड़ा देखना नहीं। चित्र खींचते समय हम वह दीवार पर बना रहे हैं या कैनवस पर, वह जलरंगों में बनाना है या तैलरंगों में इसका विचार चित्रकार को करना होता है, क्योंकि इन बातों का चित्र के दृश्य रूप पर परिणाम होता है। लेकिन ऐसा होने पर भी चित्र देखते समय हमारा सारा ध्यान चित्र के दृश्य अंग पर ही केंद्रित रहता है। चित्र कैनवस के पृष्ठभाग पर ही होता है। इसलिए जहाँ चित्र होता है, वहाँ कैनवास के अन्य गुण भी होते हैं। लेकिन आस्वाद के समय उनकी ओर ध्यान नहीं देना होता।

वाङ्मय एवं संगीत की बात अलग है। इन दो कलाओं में कलाकृति का जो प्राकृतिक शरीर होता है वह वास्तु के शरीर से बहुत ही क्षीण होता है। 'रणांगण ' का प्राकृतिक शरीर याने कागज पर छपे चिह्न। जो मराठी भाषा और देवनागरी लिपि नहीं जानता उसकी दृष्टि में ये चिह्न याने केवल दाग़ होते हैं। लेकिन इन दोनों का ज्ञान रखनेवाले पाठक को उन चिह्नों के आधार से समूचा उपन्यास मन:चक्षुओं के सामने खड़ा करना संभव बन जाता है। 'रणांगण' याने मन:चक्षुओं के सामने प्रस्तुत उपन्यास, जिनकी सहायता से वह प्रस्तुत होता है वे चिह्न 'रणांगण' नहीं होते। लेकिन फिर भी मनोनिर्मित उपन्यास का चिह्नांकित कागज के साथ निश्चित संबंध होता है, क्योंकि 'रणांगण' माँगने के लिए कोई आ जाए तो हम शेल्फ पर रखा विशिष्ट उपन्यास ही देते हैं। यही संबंध गाना और नोटेशन के बीच भी है।

इसके अलावा एक और बात का निर्देश करना आवश्यक है। चित्र में एवं वाङ्मय में वास्तव जगत् की वस्तुओं का चित्रण रहता है। उदाहरणार्थ चित्र में घोड़े की अनुकृति होती है और 'रायगडाला जेव्हा जाग येते' नाटक में शिवाजी, संभाजी, ऐतिहासिक व्यक्तियों की अनुकृति होती है। उसी तरह यक्ष, किन्नर और सुधाकर-सिंधु जैसे पूर्णत: काल्पनिक पात्रों का चित्रण चित्रों या नाटकों में होता है। यह एक विकट प्रश्न है कि इस चित्रतुरग का या सुधाकर-सिंधु का सत्ताशास्त्रीय स्थान क्या है। लेकिन इस प्रश्न की विस्तृत चर्चा इसके पहले हुई है अत: उसको पुन: यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है।

'ताजमहल', 'मोनालिसा', 'रणांगण', 'एकच प्याला' ये वास्तुकला, चित्रकला, वाङ्मय, नाटक चार अलग-अलग प्रकारों के उदाहरण हैं। वाङ्मय एवं नाटक में यहाँ अंतर करने का कारण यह है कि 'रणांगण' का रंगमंच पर प्रयोग नहीं होता, 'एकच प्याला' का होता है। इसी भेद के कारण कुछ नए प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उनका अलग से विचार करना पड़ता है।

2.

कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में विचार करते समय एक बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। एक कला के संदर्भ में जो उत्तर स्वीकार्य होगा वह

सभी कलाओं के संदर्भ में स्वीकार्य होगा, ऐसा नहीं। अगर इस बात को भूलेंगे तो 'एकसत्त्वतर्काभास' दोष होगा। कुछ सौंदर्यशास्त्रियों ने यह भूल की है। इन दो उदाहरणों में - क्रोचे ने कहा है, सभी कलाकृतियाँ मानसिक हैं। क्रोचे चैतन्यवादी अथवा दार्शनिक था। जो चित्स्वरूपी है, वह जड़ तथा प्राकृतिक वस्तुओं से अधिक आत्मिक एवं मूल्यवान होता है, ऐसा अगर वह मानता हो तो उसमें आश्चर्य नहीं। कलाकृति की आत्मिकता को मन पर अंकित करने के लिए वह जड़ एवं प्राकृतिक न होकर, वह मानसिक तथा चिरस्वरूपी ही है, ऐसा क्रोचे का मानना समझ में आ सकता है। हमने जैसा कि ऊपर देखा है कि वाङ्‌मय की चिह्नरूप प्राकृतिक देह बहुत क्षीण होती है। इसलिए वाङ्‌मय मानसिक होता है। यह कोई भी झट से स्वीकार करता है। लेकिन वाङ्‌मय के अधिकांशत: मानसिक होने पर भी 'ताजमहाल' भी अधिकांशत: मानसिक है, यह स्वीकार्य होना कठिन है। लेकिन एक बार यह मान्य करने पर कि सभी कलाएँ समान होती हैं। यह गले उतारना ही पड़ता है कि 'ताजमहल' मानसिक है। दूसरा उदाहरण आज्बर्न का ले सकते हैं। उसकी राय में कलाकृति एक प्राकृतिक वस्तु न होकर संवेदनाओं की (सेंद्रिय) रचना की बहुत काल तक टिकनेवाली शक्यता होती है। संवेदनाओं की इस रचना में सौंदर्य होता है। जिस प्राकृतिक वस्तु के कारण ये संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं उस वस्तु में सौंदर्य नहीं होता।[2] अगर हम कहें कि प्राकृतिक वस्तु में सौंदर्य होता है, तो वाङ्‌मयीन और संगीत कलाकृतियों के संदर्भ में बड़ा पेंच पैदा हो सकता है, क्योंकि सौंदर्य का आरोप जिसपर किया जा सकता है ऐसी प्राकृतिक वस्तु इन कलाओं में लगभग नहीं होती। उपर्युक्त परिभाषा करते समय आज्बर्न के मन में मुख्यत: संगीत कला ही होगी। वाङ्‌मय और संगीत की चिह्न रूप देह बहुत क्षीण होती है, यह दोनों कलाओं में साम्य है। परंतु उनमें एक महत्त्वपूर्ण फर्क है। वह यह कि संवेदनाओं को संगीत में जो स्थान होता है वह उन्हें वाङ्‌मय में मिलना लगभग असंभव है। इसलिए "कलाकृति याने संवेदनाओं कि सेंद्रिय रचना की दीर्घ काल तक टिकने वाली शक्यता आज्बर्न की यह परिभाषा संगीत पर जिस तरह लागू होती है वैसी वह वाङ्‌मय पर लागू नहीं होती। उपरोक्त विवेचन से ध्यान में आएगा कि कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान विषयक प्रश्न का सभी कलाओं के संदर्भ में लागू होने या पड़नेवाले उत्तर की अपेक्षा हमें छोड़ देनी होगी। शायद वाङ्‌मय और संगीत के संदर्भ में एक स्पष्टीकरण स्वीकार्य होगा और स्थापत्यादि कलाओं के बारे में दूसरा ही स्पष्टीकरण देना पड़ेगा। कोई भी स्वीकार करेगा कि इन कलाओं में जो भेद है उसको ध्यान में लेते हुए यही संभवनीय है। हम पहले वाङ्‌मयीन कला का विचार करेंगे।[3]

'हैम्लेट' जैसी वाङ्‌मयीन कलाकृति एवं 'ताजमहल' जैसी वस्तु में एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। वह यह है कि 'ताजमहल' निश्चित किस स्थान पर है, यह बताया जा सकता

है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि 'हैम्लेट' निश्चित अमुक स्थान पर है। हम जब 'हैम्लेट' का उल्लेख करते हैं तो हम निश्चित किस बात का का उल्लेख करते हैं? शेक्स्पीअर की पांडुलिपि का? किसी विशिष्ट संस्करण का? लाखों प्रकाशित प्रतियों का? समझ लीजिए ये सारी प्रतियाँ एकदम किसी प्रलय में नष्ट हो गईं। ऐसी स्थिति में किसी अभिनेता मंडली ने 'हैम्लेट' का प्रयोग किया तो कहना पड़ेगा कि 'हैम्लेट' याने यह प्रयोग। लेकिन उसके हजारों प्रयोग होने पर उनमें से किस प्रयोग को 'हैम्लेट' कहेंगे? 'हैम्लेट' केवल प्रयोग नहीं है, क्योंकि एकाध प्रयोग खराब होने पर हम नहीं कहते कि 'हैम्लेट' खराब है। 'हैम्लेट' का प्रयोग एवं 'हैम्लेट की प्रति' शब्द प्रयोग ही संकेत करते हैं कि 'हैम्लेट' न विशिष्ट प्रयोग है न प्रति है। शेक्स्पीअर की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है, और फिर भी हम ऐसा नहीं कहते कि 'हैम्लेट' उपलब्ध नहीं है। शेक्स्पीअर की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई तो भी प्रकाशित प्रतियों की अपेक्षा प्रस्तुत संदर्भ में उसका अधिक महत्त्व नहीं है। यह सही है कि उसे एक अलग संदर्भ में महत्त्व प्राप्त होता है। जिस कारण से शेक्स्पीअर का जन्मस्थान महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है उसी कारण से उसकी हस्तलिखित प्रति भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। लेकिन इस अर्थ में 'महत्त्व का होना' हमें अभिप्रेत नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से यह ध्यान में आएगा कि 'हैम्लेट' के अस्तित्व का प्रश्न बहुत ही बिकट है, इस प्रश्न को हल करने का एक रास्ता. सी. ई. एस. म. जोड़ ने सुझाया है। उसने 'हैम्लेट' के अस्तित्व के बारे में ऊपर दिए हुए स्पष्टीकरण के अतिरिक्त एक और वैकल्पिक स्पष्टीकरण विचार में लिया है। वह स्पष्टीकरण यह है: यह कहा जा सकता है कि 'हैम्लेट' किसी के मन में है। इसपर जोड़ पूछते हैं कि वह किसके मन में है? यह नहीं कहा जा सकता कि वह शेक्स्पीअर के मन में है क्योंकि शेक्स्पीअर आज जीवित नहीं है। क्या यह कहा जा सकता है कि वह हम सबके मन में है? जोड़ इसका उत्तर भी नकार में देता है। उसके कारण ये हैं: (1) 'हम सब' शब्द-प्रयोग से जिनका संकेत होता है वे सब पाठक, दर्शक, अभिनेता एवं उनके मन हमें ज्ञात नहीं हैं। (2) अगर हम अपने स्वयं के मनों के बारे में बोल रहे हैं तो 'हैम्लेट' एक महान कलाकृति है' कहना अपनी ही प्रशंसा करना होगा। लेकिन हम 'हैम्लेट' को महान कहते हैं तो हम अपनी ही प्रशंसा करना नहीं चाहते (3) अगर 'हैम्लेट' के सभी पाठक, दर्शक, प्रयोग में भाग लेनेवाले अभिनेता नष्ट हो जाए तो उपरोक्त मत के अनुसार कहना पड़ेगा कि 'हैम्लैट' महान नहीं है। जोड़ की राय में यह विकल्प भी स्वीकार्य नहीं होगा। (4) जब हम कहते हैं कि तब हम किसी के मन के अनुभव का, मानसिक बात का निर्देश नहीं करते होते। हम उसका निर्देश करते हैं जिसके कारण वह अनुभव एवं वह मानसिक चीज पैदा हुई। अपने अनुभव का यह कारण स्वयं कोई अनुभव होना संभवनीय नहीं लगता, वह अनुभव की जाति का नहीं होना

चाहिए।

अगर 'हैम्लेट' शेक्स्पीअर का हस्तलिखित, उसकी छपी असंख्य प्रतियाँ, उसके होनेवाले प्रयोग, नाटककार, पाठक दर्शक के मन का अनुभव, इनमें से कुछ भी न होगा तो वह है क्या? जोड़ की राय में 'हैम्लेट' ऐसी चीज है कि जिसे मानसिक एवं प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता, लेकिन वह निस्संदेह विश्व में है। ऐसी अनेक चीजें विश्व में हैं। उदाहरणार्थ सामान्य पद (universals) निश्चित होते हैं लेकिन काल और अवकाश की चौखट में उपस्थित चीजों से वे भिन्न जाति के होते हैं। इनको जोड़ ने 'सब्सिस्टंट ऑबजेक्टस' नाम दिया है।[3]

'हैम्लेट' याने विशिष्ट लोगों के मन का अनुभव'। इस सिद्धांत के संबंध में जोड़ के मुद्दों पर हम बाद में विचार करेंगे। उसके अन्य मुद्दों के बारे में यह कहा जा सकता है कि 'हैम्लेट' एक सामान्य पद (universal) है। यह निष्कर्ष निकालने में जोड़ ने कुछ जल्दबाजी ही की है। उसका दिया हुआ प्रमाण और उससे निकाला गया निष्कर्ष, इनके बीच वह समझता है वैसा संबंध नही है। जोड़ सुझाते हैं कि 'हैम्लेट' एवं उसकी प्रकाशित प्रति इत्यादि के संबंध किसी वर्ग का सत्त्व उदाहरणार्थ गोत्व एवं उस वर्ग में समाविष्ट वस्तुएँ उदाहरणार्थ विशिष्ट गौएँ इनके बीच के संबंध की तरह होता है। लेकिन 'हैम्लेट' को सामान्यपद या सत्त्व नही माना जा सकता। अवकाश एवं काल के परे होने को जोड़ ने सामान्यपद एवं 'सब्सिस्टंट आबजेक्टस' का लक्षण माना है। वह लक्षण 'हैम्लेट' में नहीं प्राप्त होता। क्योंकि यह सिद्ध हुआ है कि शेक्स्पीअर ने अँग्लैंड में सोलहवीं शती के अंत में अथवा सत्रहवीं शती के आरंभ में 'हैम्लेट' लिखा। वाड्.मयकृतियाँ विशिष्ट काल में जन्म लेती हैं, उसी तरह विशिष्ट काल के बाद नष्ट भी हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'हैम्लेट' अवकाश और काल के परे है?

'हैम्लेट' भाषा में है, इससे एक अलग उपपत्ति सूझ रही है। उसका हम संक्षेप में विचार करें। भाषा मे शब्द, वाक्य इत्यादि घटकों के बारे में एक विशिष्ट द्व्यर्थित्व संभव होता है। उसे प्रकार-चिह्न-रूप द्व्यर्थित्व (type token ambiguity) कहते है। समझिए हमने लिखा 'घोड़ा' 'घोड़ा' 'घोड़ा' हमने तीन शब्द लिखे या एक? कहना होगा कि हमने एक ही शब्द लिखा। यह शब्द है याने प्रकार (type) है। उपरोल्लिखित 'घोड़ा', 'घोड़ा', 'घोड़ा' को चिह्न (tokens) कहते हैं। समझिए हमने 'घोड़ा' शब्द मोटे एवं तिरछे टाइप में लिखा, उन्हें भी चिह्न ही कहा जाएगा। यह छुट्टे शब्दों के बारे में जैसा सही है वैसा वाक्य पैराग्राफ, प्रकरण या नाटक के अंक एवं पूर्ण वाड्.मयकृति के बारे में भी सही है। इसपर से ध्यान में आएगा कि 'हैम्लेट' एक प्रकार न होकर 'हैम्लेट' की असंख्य प्रतियाँ 'चिह्न' हैं। 'हैम्लेट' नाटक होने के कारण उसके प्रयोग हो सकते हैं। एक सीमा तक इन प्रयोगों को भी चिह्न ही कहा जाएगा।

अब हम फर्ज करें कि अमेरिका जैसे संपन्न देश ने 'ताजमहल' जैसी सौ इमारतें बनवाईं। हूबहू ताजमहल जैसी इन इमारतों को हम मूल ताजमहल की प्रतिकृतियाँ मान लेंगे और कहेंगे कि मूल ताजमहल आग्रे के पास है। लेकिन मूल 'हैम्लेट' कहाँ है, यह तार्किक दृष्टि से चमत्कारिक है। लेकिन इसलिए जोड़ कहता है उस प्रकार 'हैम्लेट' सामान्यपद है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। 'हैम्लेट' एक प्रकार है और यह मानना अधिक युक्तियुक्त होगा कि विशिष्ट स्थल एवं काल में उसके अनेक चिह्न होते हैं। 'हैम्लेट' के संबंध में संगत ठहरनेवाले प्रकार - चिह्न - रूप द्वयर्थित्व ताजमहल के बारे में संभवनीय नहीं जान पडता।

4.

जोड़ द्वारा उपस्थित कुछ मुद्दों के बारे में हम बाद में विचार करनेवाले थे, अब उन मुद्दो की ओर चलेंगे। कुछ लोगों की राय में 'हैम्लेट' याने पाठक, दर्शक इत्यादि के मन में उत्पन्न हुए अनुभव हैं। इस राय की पुष्टि रिचर्ड्स ने की है। उसकी राय में कविता अनुभवों का एक विशिष्ट वर्ग होता है। कविता के पूर्ण होने के बाद उसे पढ़ते समय कवि को जो अनुभव मिलता है उससे इस वर्ग के अनुभव मिलते जुलते होते हैं।[4] जोड़ ने रिचर्ड्स की कुल भूमिका के बारे में जो मुद्दे प्रस्तुत किए हैं उनका संक्षेप में विचार करेंगे। यहाँ जोड़ रिचर्ड्स द्वारा प्रस्तुत सौंदर्य की ज्ञातृगतता से संबंधित सिद्धांत केवल काव्य के ही नहीं कुल कलाओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए उसका प्रतिवाद करते समय जोड़ ने चित्र का उदाहरण लिया है। समझिए हम एक लकड़ी का चौकोना टुकड़ा देख रहे हैं। हम यह नहीं कहते कि हमारा देखना चौकोना है। कोई चित्र देखने पर हम कहें कि वह चित्र सुंदर है तो यहाँ भी हम अपने मन की चहलपहल (उदाहरणार्थ, प्रेरणाओं का संतुलन) के बारे में नहीं बोलते बल्कि समझना चाहिए कि मन के बाहर की किसी चीज के बारे में ही बोल रहे हैं। रिचर्ड्स की राय में सौंदर्यानुभव में आस्वादक की प्रेरणाओं का संतुलन होता है। ऐसा संतुलन दुनिया की सभी वस्तुओ के कारण उत्पन्न नहीं होता, यह रिचर्ड्स को भी मान्य करना पड़ेगा। विशिष्ट प्रकार की चीजों के कारण वह होता है। यह मान्य करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उस विशिष्ट चीज में ऐसा कौन-सा वैशिष्ट्य है कि जिसके कारण रिचर्ड्स को अभिप्रेत परिणाम घटित होता है। जोड़ की राय में यह वैशिष्ट्य याने वस्तुगत सौंदर्य है।[5] इसके सिवा जोड़ ने एक और मुद्दा उपस्थित किया है। समझिए कि प्रलय हुआ और उसमें एक भाग्यवान व्यक्ति को छोड़कर शेष सब लोग मर गए। यह अकेला मनुष्य एक सुंदर चित्र देखता हुआ खड़ा है। उस चित्र को देखते समय उस शेष जीवित व्यक्ति को भी मृत्यु आई। जोड़ का प्रश्न यह है कि उस आदमी की मृत्यु से क्या उस चित्र में कोई परिवर्तन हुआ? उसकी राय में चित्र देखनेवाले में बदल हुआ इसलिए चित्र में भी बदल हुआ, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं

है।[6] रिचर्ड्स के 'सौंदर्य' ज्ञातृगत होता है' सिद्धांत के बारे में जोड़ लिखता है और इसलिए उसका दिया हुआ चित्र का उदाहरण कला के कुल संदर्भ में असंगत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन लगता है कि कलाओं के बीच के अंतर को जोड़ ने ध्यान में नहीं रखा, क्योंकि जो चित्र के बारे में सही है वह काव्य के बारे में भी सही होगा, ऐसा नहीं है, जोड़ चित्र का उदाहरण दे रहा है इसलिए कि वह उसके लिए सुविधाजनक है। जोड़ के उदाहरण में हम यह मानें कि वह आखिर का मनुष्य रूसी है। यह भी मान लें कि वह किसी चित्र के सामने खड़ा रहे तो उसे सुंदर कहेगा (वह रूसी न होकर मध्य आफ्रिका की नरमांसभक्षक टोलीका मनुष्य हो तो बड़ा संकट होगा) उस रूसी मनुष्य को चित्र का मर्म समझ में नहीं आया तो भी चित्र के रंग वह देखेगा और कहा जाएगा कि एक अर्थ में उसने चित्र देखा। समझिए, उस चित्र के पास पड़ी हुई 'हैम्लेट' नाटक की प्रति उसने उलट-पलटकर देखी। अगर वह अंग्रेजी नहीं जानता हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी अर्थ में उसने 'हैम्लेट' को पढ़ा। अंग्रेजी जाननेवाला आखिरी आदमी नष्ट होने पर 'हैम्लेट' नष्ट होगा। चिन्हांकित पृष्ठ शेष रहेंगे। कोई देखनेवाला न हो तो रंगीन कैनवस एक अर्थ में वैसा ही रहेगा। लेकिन 'हैम्लेट' के बारे में ऐसा नही होगा। इसलिए रिचर्ड्स का प्रतिवाद करने के लिए चित्र का उदाहरण लेने से कोई फायदा नहीं।

रिचर्ड्स पर अन्य आक्षेप भी लिए गए हैं। उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आक्षेप यह है कि अनुभव को उसने अपनी परिभाषा में केंद्रीय स्थान दिया है। लेकिन प्राय: कवि का अनुभव उपलब्ध नहीं होता। 'हैम्लेट' याने शेक्स्पीअर के अनुभव से मिलता जुलता अनुभवों का वर्ग कहा जाए तो शेक्स्पीअर का अनुभव भी उपलब्ध होना चाहिए। चूँकि शेक्स्पीअर जीवित नही है उसका अनुभव भी उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में रिचर्ड्स को अभिप्रेत अनुभवों की कक्षा की सीमाएँ निश्चित नहीं की जा सकतीं। मानदंड के रूप में प्रयोग हो सके ऐसा अनुभव उपलब्ध न हो तो 'हैम्लेट' पढनेवाले किसी भी पाठक का अनुभव ऊपर के वर्ग में समाविष्ट करना पड़ेगा। ऐसा करने पर 'हैम्लेट' पढकर एक को मिलनेवाला अनुभव दूसरे के अनुभव से अलग है, ऐसा तो कहा जा सकता हैं लेकिन वह अधिक अच्छा है यह भी तो नहीं कहा जा सकता। अमुक पाठकों के अनुभव सदोष होते हैं यह रिचर्ड्स ने अपनी 'प्रॅक्टिकल क्रिटिसिज़्म' ग्रंथ में दिखाया है। पुन: कलाशिक्षण एवं अच्छे वाङ्‌मयीन संस्कार करना जैसी अवधारणाओं का भी त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि ये अवधारणाएँ इस्तेमाल करनी हों तो यह माना पड़ेगा कि सबके अनुभव समान योग्यता के नहीं हैं। क्या ऐसा कहा जा सकता है कि 'कविता' याने अधिकारी पाठक का अनुभव? वेलेक एवं वारेन की राय में इससे भी प्रश्न हल नहीं हो सकते, क्योंकि 'अधिकारी' शब्द भी 'कविता' शब्द की भाँति तकलीफदेह है। फिर अच्छे अभ्यासवाले पाठक को भी लिया जाए तो

भी यह कहने में खतरा है कि कविता इस पाठक का अनुभव है। वह खतरा यह कि इस मत के अनुसार कविता का सत्त्व किसी के क्षणिक अनुभव में होता है, यह मानना पड़ता है। यह क्षणिक अनुभव ऐसा होता है कि जिसकी हुबहू पुनरावृत्ति उत्पन्न करना अधिकारी पाठक को संभव नहीं होता।[7] इसलिए वेलेक और वारेन का मत है कि 'कविता' का किसी के अनुभव के साथ समीकरण कल्पित करना गलत है। उनकी राय में कविता याने कोई भी एक अनुभव या अनुभवों का संकलन न होकर जिसके कारण विशिष्ट प्रकार का अनुभव उत्पन्न हो सकेगा ऐसा एक संभाव्य कारण है। उसका अनुभव योग्य या अयोग्य, गलत या सही पद्धति से लिया जा सकता है। योग्य पद्धति से लिया गया अनुभव ही हमें अभिप्रेत है, यह दिखाने की सुविधा 'कविता' की परिभाषा में इस प्रकार की जाती है: 'नमूनों की (अथवा आदेर्शो की) रचना या संग्रह।' कविता का हर अनुभव, उसका हर वाचन इन आदर्शों को उपलब्ध करने का एवं उसमें निहित नमूनों के अनुसार होने का कम या अधिक अनुपात में सफल होनेवाला प्रयत्न है। कोई भी प्रयत्न पूर्णत: सफल नहीं होता।[8] कविता की इस परिभाषा के बारे में दो-एक मुद्दे प्रस्तुत करना जरूरी है। (अ) वेलेक एवं वारेन ने 'अधिकारी एवं आदर्श पाठक' की अवधारणा को त्याज्य माना और आदर्श की अवधारणा का कविता की परिभाषा में ही अंतर्भाव किया। आदर्श की अवधारणा स्वभावत: वादग्रस्त है। फिर वह पाठक के संदर्भ में उपयोग में लाई गई हो अथवा 'कविता' की परिभाषा के संदर्भ में। आदर्श पाठक की अवधारणा के बारे में जो आक्षेप लिए जा सकते हैं वे ही कविता के आदर्शों की अवधारणा के बारे में भी लिए जा सकते हैं। फिर भी आदर्श की अवधारणा का उपयोग किए बिना रास्ता नहीं है। हमारे मूल्य-संवाक्यों को सर्वमान्यता होती है ऐसा दावा करना हो तो आदर्श की अवधारणा कहीं न कही इस्तेमाल करनी ही पड़ती है। 'सामने वाला वृक्ष हरा है' इस ज्ञानात्मक संवाक्य को जैसी सर्वमान्यता होती है वैसी, 'पड़ोसी की सहायता करना अच्छा होता है' संवाक्य को भी होती है और हमारी धारणा होती है कि मूल्यसंवाक्य केवल अपनी रुचि-अरुचियों की अभिव्यंजना नहीं करता। लेकिन हरेपन की भाँति अच्छाई इंद्रियगोचर गुण न होने के कारण अच्छाई वस्तुगत नहीं होती और अच्छाई के बारे में संवाक्य केवल ज्ञान-सापेक्ष या व्यक्ति-सापेक्ष होते हैं, ऐसा हमें लगने लगता है। लेकिन यह गलतफहमी है। हर समृद्ध समाज में विशिष्ट आदर्श उत्पन्न होते हैं। उनको एक अर्थ में वस्तुगतता होती है, हमारे मूल्य-संवाक्य उन पर आधारित होते हैं और इसीलिए वे सर्वमान्यता का दावा कर सकते हैं। अत: वेलेक एवं वारेन ने कविता की परिभाषा में ही आदर्श की अवधारणा अंतर्भूत की है, यह ठीक ही हुआ। (आ) लेकिन ये आदर्श कौन-से, यह उन्होंने स्पष्टत: नहीं कहा। इस संदर्भ में दो प्रकार के आदर्श संभवनीय हैं। यह मुद्दा स्पष्ट करने के लिए हम एक अलग संदर्भ का उदाहरण लें। हमने कहा कि 'क्ष' अच्छा

काम करता है। इसके दो अर्थ होते हैं। (1) 'क्ष' जो काम करता है उसे वह अच्छी तरह (व्यवस्थित ढंग से) करता है। (2) 'क्ष' जो काम करता है वह काम अच्छा है। कविता के संदर्भ में भी ये दो अर्थ संभवनीय हैं। समझिए हमने कहा कि 'क्ष' ने अच्छी कविता पढ़ी। उसके दो अर्थ होते हैं : (1) 'क्ष' ने कविता को जिस प्रकार पढ़ना चाहिए, मतलब अच्छी तरह, उस प्रकार पढ़ा। कविता जिस प्रकार पढ़नी चाहिए उस आदर्श तक पहुँचने में 'क्ष' को बहुत अंशों में सफलता मिली। (2) अच्छी कविता के बारे में जो आदर्श माना जाता है वह ('क्ष' द्वारा व्यवस्थित रूप में पढ़ी हुई) कविता ने बहुत बड़े अंश तक उपलब्ध किया है इसलिए यह कविता अच्छी है। हमें वाङ्‌मयकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में विचार करना है, उसकी गुणवत्ता का नहीं। इसलिए उपर्युक्त पहला अर्थ हमारे लिए संगत है। वेलेक एवं वारेन के मन में अगर यही अर्थ होगा तो उनका सिद्धांत ऐसे प्रस्तुत किया जा सकता है। कविता अनुभव का संभाव्य कारण होती है। उसके कारण विविध अनुभव उत्पन्न हो सकते हैं, उससे कौन-से अनुभव प्राप्त होने चाहिए, इसका आदर्श कविता में ही होता है। कविता का प्रत्येक अनुभव उसका प्रत्येक पठन इस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास होता है। इसी आदर्श में ही कविता होती है, आदर्श प्राप्त करने के प्रयास में याने विशिष्ट अनुभव में यह नहीं प्राप्त होती, लेकिन उल्टे, इन अनुभवों के माध्यम से आदर्श के दर्शन होते हैं। अपनी उपपत्ति स्पष्ट करने के लिए वेलेक एवं वारेन ने दो उदाहरण दिए हैं। एक भाषा का और दूसरा ज्ञान का। कुल भाषा और हमारे द्वारा बोला गया विशिष्ट वाक्य, इनमें जो संबंध है वही कविता एवं कविता के विशिष्ट अनुभव (उसका विशिष्ट पठन) में होता है। भाषा संकेत एवं आदर्श की एक समष्टि होती है। हमारे विशिष्ट भाषिक व्यवहार ठीक हैं या गलत, यह निश्चित होता है भाषा के आदर्शों के कारण। हम जो भी कुछ बोलते हैं वह इस समष्टि की सीमा में ही समाविष्ट हुआ रहता है। लेकिन इस संपूर्ण समष्टि का संपूर्णतः ठीक-ठीक उपयोग हम कभी नहीं कर सकेंगे। वेलेक एवं वारेन का दिया हुआ दूसरा उदाहरण ज्ञान का है। किसी भी वस्तु के सभी गुणों का ज्ञान हमें कभी नही होगा। लेकिन फिर भी हमें उस वस्तु का कुछ अंशों में निश्चय ही ज्ञान हो सकता है इस वस्तु का प्रत्येक अनुभव उसका यथार्थ ज्ञान देता है, ऐसा नहीं। कुछ के कारण यह ज्ञान मिलता है और अन्य कुछ के कारण नहीं मिलता। इसपर से ध्यान मे आएगा कि हमारे अनुभवों पर यथार्थ का नियंत्रण रहता है। ज्ञानद होने के लिए अनुभव कैसा होना चाहिए इसका आदर्श, यथार्थ हमपर लादता रहता है। भाषा के संदर्भ में हमारे विशिष्ट वाक्यों पर भाषा के आदर्शों का नियंत्रण होता है, ज्ञान के क्षेत्र में हमारे विशिष्ट अनुभवों पर यथार्थ द्वारा लादे गए आदर्शों का नियंत्रण होता है, उसी तरह कलाकृति के संदर्भ में हमारे आस्वाद पर विशिष्ट आदर्शों का नियंत्रण रहता है। ये आदर्श होते हैं इसलिए एक का आस्वाद दूसरे के आस्वाद से

अधिक अच्छा ठहर सकता है। ये आदर्श याने प्लेटो द्वारा कल्पित सत्त्व नहीं हैं, क्योंकि प्लेटो के सत्त्व अनादि-अनंत होते हैं। कलाकृतियाँ जन्म लेती हैं और नष्ट होती हैं। कलाकृति और भाषा में इस संबंध में बहुत साम्य होता है। वे दोनों अनादि-अनंत नहीं हैं। लेकिन वे अनुभवों की तरह अल्पजीवी भी नहीं हैं। असल में वे अनुभवों की जाति की चीजें ही नहीं हैं। भाषा एवं कलाकृति आदर्शों की समष्टि होती है। उनके दर्शन यद्यपि विशिष्ट अनुभवों एवं विशिष्ट भाषिक व्यापरों के माध्यम से होते हैं फिर भी ये समष्टियाँ याने अनुभव या भाषिक उपयोग नहीं हैं।[9] वे आदर्श कहाँ होते हैं? वेलेक और वारेन की राय में ये आदर्श समाज के मानस में होते हैं।[10] अपने इस निष्कर्ष के कारण वेलेक एवं वारेन ने नहीं दिए। लेकिन उसके पीछे का महत्त्वपूर्ण कारण यह हो सकता है कि वाङ्मय कृति भाषा के माध्यम में होने के कारण भाषा के अस्तित्व के वैशिष्ट्य वाङ्मयकृति में भी होंगे, यह मानना होगा। अगर भाषा मानव-मन-सापेक्ष होगी तो वाङ्मयीन कलाकृति भी मानव-मन-सापेक्ष सिद्ध होगी। लेकिन मानव-मन-सापेक्षता याने व्यक्ति-सापेक्षता नहीं, यह ध्यान में रखना होगा। इसलिए जिस तरह भाषा याने किसी एक व्यक्ति का किया हुआ भाषिक व्यवहार नहीं होता उसी तरह वाङ्मयकृति याने किसी एक पाठक का अथवा दर्शक का अनुभव नहीं। वाङ्मयकृति समाज-मानस में होती है ऐसा कहते समय वेलेक एवं वारेन के मन में यह होगा कि वह समाज-मन सापेक्ष होती है। अगर ऐसा है तो वाङ्मयकृति याने पाठक का अथवा दर्शक का अनुभव है, ऐसा कुछ विचारक क्यों मानते हैं? ऐसा नहीं कि यह मत केवल गलतफहमी पर आधारित है। हम प्रस्तुत पुस्तक में पहले देख चुके हैं कि बहुत बार वाङ्मयकृति में चित्रित जीवन एवं पाठक का जीवन समांतर होता है। रंगमंच पर उपस्थित भाव जीवन को देखते समय बहुत से दर्शक अपना स्वयं का जीवन जी रहे होते हैं। साधारणीकरण के कारण नाट्यकृति के साथ तादात्म्य प्राप्त करने पर वे दर्शक नाटक की भावनाएँ तटस्थतापूर्वक नहीं देखते, वे स्वयं अनुभव करते हैं, (undergo the experiences), ऐसे समय नाट्यकृति अपने ही मन में है ऐसा अगर वे समझें तो आश्चर्य नहीं। रस रसिकगत होता है। इस मत का अर्थ यही है। लेकिन ऐसा नहीं कि सबके बारे में तादात्म्य उत्पन्न होता है। कुछ दर्शकों की उत्स्फूर्त प्रतिक्रिया शंकुक के मत की पोषक होगी। उनके मन में पात्रों की भावनाओं की समांतर भावनाएँ जागृत न होकर अन्य भावनाएँ जागृत होंगी। उदाहरणार्थ, विनोदी पात्रों की धाँधली देखकर हँसी पैदा होगी। वेलेक और वारेन के सिद्धांत के अनुसार उपरोक्त मान्यताओं में से कौन-सी मान्यता ठीक है, इसका मार्गदर्शन कलाकृतियों की ओर से होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता। वेलेक और वारेन जैसे कहते हैं वैसे कौन अनुभव योग्य अथवा अयोग्य है, यह तय करने के लिए कलाकृति में निश्चित, एक ही एक आदर्श अथवा नियम नहीं होता, क्योंकि एक ही कलाकृति का आस्वाद

लेते समय उपर्युक्त दोनों प्रतिक्रियाएँ संभवनीय हैं और योग्य भी हैं। उसमें कौन-सी प्रतिक्रिया उचित है यह कलाकृति पर निर्भर न होकर हमारे अवधारणात्मक निर्णय पर अथवा बोध पर निर्भर होता है। 'हमारे निर्णय पर' शब्द प्रयोग का अर्थ 'दर्शक द्वारा लिए गए व्यक्तिगत निर्णय पर नहीं।' कलाकृतियों के बारे में प्रतिक्रियाओं के विविध प्रकार होते हैं, क्योंकि मनुष्यों के विविध प्रकार होते हैं और कलाकृति के विविध पहलू होते हैं। उसके कारण कला के संदर्भ में अलग-अलग सैद्धांतिक चौखटे उत्पन्न होते हैं। प्रतिक्रियाओं के ये प्रकार समाज के सांस्कृतिक जीवन से ही उत्पन्न होते हैं। मूल स्वभाव एवं समाज द्वारा किए गए संस्कारों के कारण विशिष्ट पाठक एवं दर्शक विशिष्ट प्रकारों की ओर खींचे जाते हैं और वे विशिष्ट अवधारणात्मक निर्णय लेते हैं अथवा उन्हें कला के स्वरूप का विशिष्ट बोध होता है। कोरे मन से कलाकृतियों का अनुभव लेकर यह बोध नही होता।

कुल विवेचन से ध्यान में आएगा कि वाङ्‌मयकृति भाषा में होने के कारण उसके संबंध में 'प्रकार-चिह्न-द्वियर्थित्व' उत्पन्न होता है। और इसलिए ताजमहल निश्चित कहाँ है यह जिस तरह बताया जा सकता है उस तरह एकाध कालाकृति निश्चित कहाँ है यह नहीं बताया जा सकता। हमने यह भी देखा है कि वाङ्‌मयकृति भाषा के माध्यम में होने के कारण वह मानव-मन-सापेक्ष है। वाङ्‌मयकृति का पूर्ण एवं उचित अनुभव लेना याने कौन-सा आदर्श प्राप्त करना है, यह समझने के लिए समाज द्वारा निर्मित अवधारणात्मक साँचे आवश्यक होते हैं। इसके कारण भी कलाकृति मानव-मन-सापेक्ष सिद्ध होती है। विशिष्ट सांस्कृतिक प्रवाह में ही उसका अस्तित्व संभव है और उस तक ही सीमित होता है। सांस्कृतिक जीवन के अन्य घटकों की तरह उसके अस्तित्व की जाति वैशिष्ट्यपूर्ण होती है, हाइकोर्ट की इमारत कहाँ है यह बताया जा सकता है, लेकिन 'हिन्दू कोड बिल' कहाँ है यह नही बताया जा सकता। उसी तरह 'हैम्लेट' कहाँ है यह नहीं बताया जा सकता। जीवन के प्रकार का एक घटक – इसी रूप में 'हैम्लेट' अस्तित्व में होता है।

5.

कलाकृति के अस्तित्व का प्रश्न अलग-अलग कलाओं के संदर्भ में अलग-अलग पद्धतियों से हल करना होगा, यह हमने प्रारंभ में ही देखा। वाङ्.मयकृति के संदर्भ में जो स्पष्टीकरण लागू पड़ता है वह वास्तु के संदर्भ में भी लागू होगा ऐसा नहीं। 'हैम्लेट' कहाँ है?' यह प्रश्न अगर हम ग्रंथपाल से पूछें तो वह हमें विशिष्ट अलमारी के पास ले जाकर एक पुस्तक निकाल कर देगा। समझिए पता चला कि उसे घुन खा गई हो तो ग्रंथपाल कहेगा कि 'हैम्लेट' की दूसरी प्रति कोई ले गया है वह वापस आने पर आपको दूँगा इससे हमें संतोष भी हो जाएगा। 'हैम्लेट' की एक प्रति घुन खा गई हो तो हम यह नहीं समझते कि 'हैम्लेट' नष्ट ही हुआ। हम दार्शनिक भले

ही न हों तो भी हम विशिष्ट चिह्न एवं प्रकार के बीच अंतर तो कर ही सकते हैं। लेकिन ताजमहल के बारे में चिह्न-प्रकार-द्वयर्थित्व लागू नहीं पड़ता और इसलिए आग्रे के पास का ताजमहल अगर भूकंप में नष्ट हो जाए तो हम समझेंगे कि ताजमहल नष्ट हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि ताजमहल कलाकृति का अस्तित्व एक विशिष्ट प्राकृतिक वस्तु के साथ अटूट संबंध से जुड़ गया है। दूसरी बात यह है कि चित्र देखते समय वह जिसपर निकाला गया है वह कौन-सा कैनवस का टुकड़ा कैसा है इसकी ओर ध्यान न देना हमारे लिए सहज संभव बनता है, (असल में उसकी ओर हमारा ध्यान जाता ही नहीं) लेकिन वास्तु के प्राकृतिक अंग की ओर ऐसा अनवधान नहीं होता। इसलिए चित्र देखने की प्रक्रिया के बारे में बोलते समय किसी भी प्राकृतिक बात का उल्लेख न करते हुए केवल रंगों का उल्लेख चल जाता है। अगर हम दार्शनिक हों तो हम केवल दृक् संवेदनाओं का उल्लेख करेंगे। लेकिन जब हम ताजमहल के बारे में बोलते हैं तब अन्य इमारतों के बारे में बोलते समय जो अवधारणाएँ इस्तेमाल करते हैं उन्हीं का उपयोग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ ताजमहल का गुंबद और हाइकोर्ट की इमारत का गुंबद, इन दो इमारतों के लिए इस्तेमाल किया गया पत्थर, ताजमहल की दीवारें और टाउन हॉल की दीवारें, ताजमहल का सफेद रंग और उधर की मस्जिद का सफेद रंग, इत्यादि। इसलिए 'चित्र देखना' याने 'संवेदनाओं के विशिष्ट संगठन का अनुभव लेना', यह शायद ठीक लगेगा। लेकिन ताजमहल देखना याने 'संवेदनाओं के विशिष्ट संगठन का अनुभव लेना' यह जँचना कठिन है। अत: स्थापत्यकला के संदर्भ में हमारे सामनेवाला प्रश्न हल करने के लिए अलग मार्ग का अवलंब करना होगा। यह मार्ग विट्गिन्स्टाइन ने 'देखना' अवधारणा की जो विवेचना की है, उससे सूझता है।
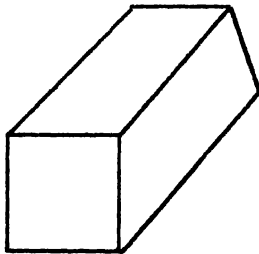
साथ में दी हुई आकृति देखिए। यह आकृति अलग-अलग संदर्भों में इस्तेमाल की जाती है। कभी काँच का क्यूब तो कभी उल्टी की हुई खुली संदूक अथवा तारों की चौखट, अथवा तीन स्तर इकट्ठा आने पर उत्पन्न होनेवाला घन कोन (solid angle) इत्यादि रूपों में जब यह आकृति विशिष्ट विषय की पुस्तक में प्रयुक्त होती है तब उसका उस संदर्भ में अर्थ भी वहाँ दिया हुआ होता है। लेकिन मान लीजिए। हमें यह आकृति बिना किसी भी स्पष्टीकरण के देखने को मिली। इस स्थिति में हम किसी समय क्यूब, दूसरे समय संदूक, इत्यादि रूपों में देख सकते हैं। हम पहले आकृति देखते हैं और फिर उसका अर्थ लगाते हैं, ऐसा न होकर उसका अर्थ लगाते ही हम उसे देखते हैं। हम

उसकी ओर 'क' अथवा 'ख' के रूप में ही देखते हैं।[11] हमारा देखना कोरा नहीं होता, अर्थसंपृक्त ही होता है। अर्थ लगाना 'अमुक रूप में देखना' (seeing as) इस अवधारणा में ही अंतर्भूत रहता हैं।[12] विट्गिन्स्टाइन के उपर्युक्त सिद्धांत की सहायता से आल्ड्रिच ने कलाकृतियों के सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में एक नई उपपत्ति ईज़ाद की है। उसका संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लें।

विट्गिन्स्टाइन ने जो द्वयर्थी आकृति उदाहरण के रूप में इस्तेमाल की है उसमें से 'वह एक खुला संदूक है' इत्यादि अर्थ अलग कर दिए, तो क्या रहेगा? एक दूरे से जुड़ी हुई सरल नौ रेखाएँ। इन रेखाओं को आदिम (primitive) चीज कहा जाएगा। ताजमहल जैसी कलाकृतियों और दुनिया की प्राकृतिक वस्तुओं के पार्श्व में भी अर्थान्वित न होनेवाली आदिम चीजें होती हैं। एक ही आदिम चीज की ओर एक अवधारणात्मक चौखट के माध्यम से देखा जाए तो प्राकृतिक वस्तु दिखाई देती है और दूसरी चौखट से देखा जाए तो कलाकृति दीखती है। इनको ही आल्ड्रिच 'कोटी' और चौखट बदलने को कोटि-संक्रमण (Categorical aspection) नाम देता है।[13] आल्ड्रिच ने "अेस्पेक्ट" शब्द विट्गिन्स्टाइन से ही लिया है। चौखट बदल गई है यह हम इस्तमाल कर रहे हमारी अवधारणात्मक भाषा से ही समझ में आता है। उदाहरणार्थ, यह कहना कि 'इस चित्र में पर्स्पेक्टिव के नियम पाले नहीं गए है।' एक चौखट से देखना हुआ, जब हम कहते हैं। 'यह चित्र बहुत बड़ा है, वह कार में नहीं आ सकता तो चौखट बदल जाती है। ताजमहल आग्रा के पास है, कहते समय हम एक चौखट से दीखनेवाली आदिम चीज के बारे में बोलते होते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं 'ताजमहल एक अ[illegible]र्थिव चित्र-सा दिखता है' तब हमारे मन में दूसरी चौखट से दिखनेवाली आदिम वस्तु होती है 'देखना' अवधारणा को आल्ड्रिच ने इस प्रकार स्पष्ट किया है: (अ) प्राकृतिक वस्तुओं को देखना याने (निरीक्षण करना, observation) (आ) कलाकृतियों को देखना याने प्रेक्षण करना (prehension)। निरीक्षण करने के कारण जो जगत् दिखता है वह सच्चा जगत् और प्रेक्षण करने से जो दिखता है वह सत्ताशास्त्रीय दृष्टि से हीन जगत् ऐसा बहुत बार समझा जाता है। प्रेक्षण से दिखनेवाला जगत् केवल मानसिक एवं भासात्मक है, ऐसा भी माना जाता है। आल्ड्रिच की दृष्टि में यह समझ गलत है, उसकी राय में प्रेक्षण से दिखनेवाले जगत् को भी निरीक्षण से दिखनेवाले जगत् की ही वस्तुगतता होती है। कलाकृतियों को प्राकृतिक वस्तुओं की भाँति वस्तुगतता है और वे प्राकृतिक वस्तुओं की अपेक्षा किसी प्रकार से कम दर्जे की नहीं हैं? वे उतनी ही खरी हैं जितनी प्राकृतिक वस्तुएँ, असल में निरीक्षण एवं प्रेक्षण एक ही आदिम जगत् की ओर जाने के समान महत्त्व के मार्ग हैं।[14]

आल्ड्रिच के सिद्धांत के बारे में दो चीजें दर्ज करनी होंगी- (अ) कोटिसंक्रमण

का सिद्धांत हमारे लिए नया नहीं है। शंकुक के चित्रतुरगन्याय के संदर्भ में हम उसकी चर्चा कर चुके हैं। (आ) निरीक्षण एवं प्रेक्षण में से दिखनेवाला जगत् समान महत्त्व के होते हैं, यह विश्वचैतन्यवादियों के सिद्धांत का पुनरुच्चार है। उनकी राय में अंतिम यथार्थ के सत्य, शिव एवं सौंदर्य, ये अंग समान महत्त्व के हैं, उनका कहना यह है कि आस्वाद के विषय के प्रत्यक्ष अस्तित्व के बारे में हम उदासीन होते हैं। इसका अर्थ यह कि सुंदर चीजें काल, अवकाश एवं कोटि के व्यूह में बैठनेवाली चीजें नहीं होतीं, इस व्यूह में बैठनेवाली चीजों से उनका कार्यकालादि संबंधों द्वारा किसी प्रकार का रिश्ता नहीं जुड़ सकता। कलाकृति में कार्यकारण संबंध होते हैं, यह सही है। उदाहरणार्थ, सुधाकर की लाठी लगने पर सिंधु मर जाती है। लेकिन यह कार्यकारण-शृंखला नाटक के बाहर नहीं जा सकती। उदाहरणार्थ हम सिंधु को अस्पताल में नहीं पहुँचा सकते। कलाकृति और बाहरी जगत् इनके बीच के संबंध को तोड़ने के लिए ही विश्वचैतन्यवादियों ने कलाकृति की भासरूपता (semblance) का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। लेकिन उनके सिद्धांत का कुल रुख देखा जाए तो लगता है उन्हें आल्ड्रिच की कोटिसंक्रमण की उपपत्ति जँच जाती। अर्थात् आल्ड्रिच का सिद्धांत मान्य करने पर भी अलौकिकतावाद स्वीकार करना पड़ता है ऐसा नहीं। हमने जैसा कि पहले देखा है नाटक के पात्रों को यथार्थ की चीजों का स्थान न होने के कारण उनसे कुछ व्यवहार करना असंभव है तो भी अन्य कुछ व्यवहार हो सकते हैं।

कलास्वाद एक प्रकार का देखने का अनुभव है, यह आल्ड्रिच की राय स्वीकार की जाए तो मान्य करना होगा कि आस्वादक के न होने पर भी आस्वाद का विषय अस्तित्व में हो सकता है। आज्बर्न की राय में आस्वादक न होगा तो कलाकृति ही आस्तित्व में नहीं आएगी। यह राय वाङ्मय, संगीत, कुछ अंशों में चित्रकला के संदर्भ में स्वीकार्य लगने पर भी शिल्प एवं स्थापत्य कलाओं के संदर्भ में चमत्कारिक लगती है। देखनेवाले लोग नष्ट होने पर भी पुतले एवं ताजमहल जैसी वस्तुएँ जैसी हैं वैसी ही रहेंगी, यह मत ऊपरी तौर पर तो अधिक ठीक लगता है।

6.

लेकिन आल्ड्रिच की उपपत्ति के कारण प्रेक्षण का विषय मानव-मन-सापेक्ष नहीं है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। सुंदर वस्तुओं का अस्तित्व कोटिसंक्रमण पर निर्भर है, ऐसा उसका अभिमत है। लेकिन एक बार कोटिसंक्रमण हो गया और जगत् का वह सौंदर्यात्मक पहलू प्रकाश में आया तो हम मान सकते हैं कि जो वस्तु हममें से किसी ने नहीं देखी वह भी सुंदर होगी। समझिए कि किसी समय एक काला पुतला सौंदर्य के लिए प्रख्यात था। भूकंप में वह जमीन के नीचे धँस गया। अनेक वर्षों के बाद उत्खनन में वह प्राप्त हुआ और सब कहने लगे कि कि वह सुंदर था। जब वह जमीन के नीचे था तब वह सुंदर था कि नहीं। इसपर सकारात्मक ही उत्तर देना होगा। इसका कारण

यह कि एक बार कोटिसंक्रमण हुआ और सौंदर्य का पहलू मानव को प्राप्त हुआ तो वह मान सकता है कि उसके द्वारा देखी न गई वस्तु भी सुंदर हो सकती है। मानव के पास रंग की अवधारणा न होती (अथवा मानव जाति के आँखें ही न होतीं) तो वस्तुओं का रंग है अथवा नहीं, इसके बारे में हम कुछ भी नहीं कह सकते। लेकिन यह अवधारणा एक बार पैदा होने पर कि समुद्र के तल में विद्यमान अथवा जमीन में गाड़ी गई वस्तुओं के भी रंग होंगे, यह हम कह सकते हैं। वही बात सौंदर्य के बारे में भी सही है।

उपरोक्त विवेचन में रिआलिस्ट सौंदर्यशास्त्रज्ञों की भूमिका का प्रतिवाद सूचित हुआ है। जोड़ और मर्ढेकर [15] की भूमिका यह है कि सुंदर वस्तुओं का अस्तित्व उनके आस्वाद पर निर्भर नहीं होता, याने सौंदर्य का अस्तित्व मानव-सापेक्ष नहीं होता। हम अगर एक मानव के बारे में विचार कर रहे हों तो उपरोक्त मत उचित सिद्ध होता है इसमें संदेह नहीं। फूलों के रंग की तरह उसका सौंदर्य किसी विशिष्ट व्यक्ति पर निर्भर नहीं होता। इसलिए व्यक्ति के संदर्भ में रिअलिस्ट भूमिका ठीक लगती है। लेकिन व्यक्तिनिरपेक्ष होना और मानव-जाति-निरपेक्ष होना, ये चीजें भिन्न हैं, अत: पहली मान्य करने पर दूसरी भी मान्य करनी ही पड़ती है। ऐसा तार्किक संबंध इनमें नहीं है। मानव-जाति में सौंदर्य की कोटि (category) विनिर्मित न होती तो किसी तरह का सौंदर्य अस्तित्व में होना असंभव होता। हमारे चारों ओर की सृष्टि का अस्तित्व मानवनिर्मित कोटियों पर निर्भर होता है, यह कांट ने दिखाया है। सौंदर्य के बारे में भी यही निष्कर्ष सही है। इसलिए मानवजाति की दृष्टि से विचार करने पर जोड़ और मर्ढेकर की रिआलिस्ट भूमिका स्वीकार करना असंभव लगता है।

□□

2

टिप्पणियाँ

अध्याय : 1

1.1 यह उदाहरण सुसन स्टेबिंग ने अपने "अ मॉडर्न इंट्रोडक्शन टु लॉजिक" (हार्बर टार्च बुक्स, पुनर्मुद्रण 1960) पुस्तक में दिया है। पृ. 233-244.

1.2 टुल्मिन, स्टीफन: फोरसाइट ऐंड अंडरस्टेंडिग, लंडन, हचिन्सन 1961 पृ. 45

1.3 वही, पृ. 57. 1.4 वही, पृ. 57.

1.5 "For the logician, these explanatory ideals pose a particular problem. On the one hand, they change and develop, as time goes on, in the light of discovery and experience : so they must be classed as 'empirical', in a broad enough sense of the term. On the other hand, one cannot confront them directly with the results of observation and experiment. They have to prove their worth over a longer term, in a way which still needs analysing, Though changing with history, they are also-for the individual scientist-'preconceived' notions : thought out beforehand, and applied only subsequently to particular scientific problems.

"Yet, if one speaks of these conceptions as preconceived, a distinction must be made, for they are 'preconceived' in a perfectly innocent sense of the word. Scientists are rightly suspicious of 'preconceived ideas' and themselves on coming to Nature in a spirit of objectivity..... When it comes to interrogating Nature..... we must leave her to answer fcr herself and answer without any prompting..... though Nature must of course be left to answer our interrogations for herself, it is always we who frame the questions. And the questions we ask inevitably depend on prior the oretical considerations" (Ibid, pp 100 - 101)

1.6 अ-सुंदर याने विद्रूप नहीं, क्योंकि विद्रूप चीजें भी सौंदर्यात्मक वस्तुस्थिति में आ जाती हैं।

1.7"In all judgments in which the relation of a subject to the predicate is thought... this relation is possible in two different ways. Either the predicate B belongs to the subject A, as something which is (convertly) contained in this concept A; or B lies outside

the concept A, although it does indeed stand in connection with it. In the one case I entitle the judgment analytic, in the other synthetic analytic judgemnts (affirmative) are therefore those in which the connection of the predicate with the subject is thought through identity ; those in which this connection is thought without identity should be entitled synthefic. The former, as adding nothing through the predicate to the concept of the subject, but merely breaking it up into those constituent concepts that have all long been thought in it, although confusedly, can also be entitled explicative. The latter, on the other hand, add to the concept of the subject a predicate which has not been anywise thought in it, and which no analysis could possibly extract from it; and they may therefore be entitled ampliative." Kant, Immanuel: Critique of pure Reason, tr. Norman Kemp Smith, Abridged ed., New York, The Modern Library, 1958, p. 30)

1.8 वही पृ. 31 1.9 संश्लेषणात्मक अनुभवपूर्व (synthetic priori) संवाक्यों का तीसरा वर्ग कांट ने कल्पित किया है। लेकिन उनका विचार यहाँ संगत नहीं। 10.10 देखिए: स्टेमिंग, सुसन,: उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक पृ. 243-244 1.11 इस दृष्टिकोण का अच्छा एवं विस्तृत विवेचन कार्ल पावर के 'दि ओपन सोसाइटी ऐंड इट्स एनिमीज' ग्रंथ के अध्याय 11 में है।

1.12 ......art never improves, but ....material of arts is never quite the same' (Eliot, T.S. : Selected prose, Penguin Books, 1953, p.25)

1.13 'सत्यकथा', जुलाई 1966 पृ. 27 1.14. वही, पृ. 31.1.15 वही. पृ. 21. 16. वही, पृ. 22 1.17. वही, पृ. 23 1.18. वही, पृ. 25, 26. 1.19. इन दो प्रकार के प्रश्नों में क्या अंतर है इसकी थोड़ी-सी कल्पना हमें प्रा. एयर के निम्नलिखित उद्धरण से आएगी। नोवल स्विच के 'एथिक्स' पुस्तक की प्रस्तावना में वे लिखते हैं:

"There is a distinction which is not always sufficiently marked, between the activity of a moralist who sets out to elaborate a moral code or to encourage its observance, and that of a moral philosopher whose concern is not primarily to make moral judgment but to analyse their nature. Mr. Nowell-Smith writes as a moral philosopher. He shows how ethical statements are related to and how they differ from statements of other types and what are the criteria which are appropriate to them...."

(Nowell-Smith, P. H. : Ethics, Penguin Books, 1954, p.7.)

1.20 इस संदर्भ में पीटर गीच का निम्नलिखित उद्धरण सतत मन में रखना चाहिए:

"I am afraid some recent philosophers have often been ensnared by this latter ambiguity of 'knowing the use of a word', and so they give us tedious and inaccurate supplements to Modern English Usage, instead of philosophical discussion of a 'way of using a word' which could be found in many languages." (Geach Peter: Mental Acts, London, Routledge and Kegan Paul, 1957. 16)

1.21 अनुभव एवं अवधारणा अथवा सिद्धांत के संबंधों के बारे में प्रस्तुत अध्याय में बहुत चर्चा आई है। इस प्रश्न के बारे में दर्शन के अनेक क्षेत्रों में वाद हुए हैं। ज्ञानशास्त्र के इस वाद के संदर्भ में कांट का किया हुआ निम्नांकित विवेचन हमारी दृष्टि में उद्बोधक होगा। वह कहता है:

"There can be no doubt that all our knowledge begins with experience... In the order of time, therefore, we have no knowledge antecedent to experience and with experience all our knowledge begins.

"But though all our knowledge begins with experience, it does not follow that it all arises out of experience For it may well be that even our empirical knowledge is made up of what we receive through impressions and what our own faculty of knowledge (sensible impressions serving merely as the occasion) supplies from itself." ((Kant, Immanuel: op. cit., p. 25).

अध्याय : 2

2.1 आज्बर्न का उदाहरण विशेष महत्वपूर्ण है; क्योंकि मूर के बादवाली तत्त्वप्रणालियों से लगता है कि वह कटकर दूर रहा है। विट्गिन्स्टाइन के 'लेक्चर्स ऑन इस्थेटिक्स, साइकोलोजी ऐंड रिलीजस बिलीफ' (आक्सफर्ड, ब्लेकवेल, 1966) पुस्तक की धज्जियाँ उड़ाई हैं। देखिए: 'द ब्रिटिश जर्नल आफ इस्थेटिक्स, अक्तूबर, 1966).

2.2 उसी तरह निम्नलिखित अवतरण भी देखिए:

"Aesthetics is a branch of critical philosophy. Its purpose is to understand what is meant by judgments involving the notion of beauty." Its data are provided by the practical appreciation of art recorded in art criticiam, but it is not itself normative and does not evaluate the specific beauties of particular objects of beauty. Its scope is defined by the initial definition of beauty as "the charac-

teristic and peculiar excellence of works of art." (Osborne, Harold: Theory of Beauty, London, Routlodge & Paul, 1952, p. 201)

इस पुस्तक में प्रयुक्त पद्धति एवं आज्बर्न की पद्धति दोनों बिलकुल समान हैं, यह मेरा दावा नहीं है। लेकिन ध्यान में रखना चाहिए कि इन दो पद्धतियों में कड़ी है।

2.3 देखिए: कैरिट, इ. एफ. : 'अ रिप्लाय' टु डॉ. पाटणकर ऑन 'एक्सप्रेशन' ('द ब्रिटिश जर्नल ऑफ इस्थेटिक्स', एप्रिल, 1962)। 2.4. 'काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य: समाम्नातपूर्व:': आनंदवर्धन 'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत का 2.5 कांट, इमान्युएल: 'क्रिटीक ऑफ जजमेंट', (अनुवाद) मेरेडिथ, जेम्स, क्रीड़; आक्सफोर्ड, क्लेरेन्डन प्रेस, 1911, पृ. 50 2.6 मर्ढेकर ने कांट के इस विवेचन का पूर्णत: गलत अर्थ लगाया है। देखिए-मर्ढेकर बी. सी.: 'सौंदर्य आणि साहित्य', मुंबई, मौज प्रकाशन गृह, 1955 पृ. 20 2.7 इस संबंध में स्पष्टीकरण चौथे अध्याय में आएगा।

"There can, therefore, be no rule according to which any one is to be compelled to recognise anything as beautiful. Whether a dress, a house, or a flower is beautiful is a matter upon which one declines to allow one's judgment to look at the object with our own eyes, just as if our delight depended on sensation. And yet, if upon so doing, we call the object beautiful, we believe ourselves to be speaking with universal voice, and lay claim to the concurrence of everyone...." (Kant, I: Critique of judgment p. 55)

2.9 देखिए: 'एस्थेटिक्स ऐंड लैंग्वेज', (संपा.) एल्टन, विल्यम, आक्सफर्ड, बेसिल ब्लैक्वेल,1959, इस ग्रंथ में हैंपशायर एवं पासमोर के लेख।

2.10 सार्त्र कहता है:

"... does anyone reproach an artist when he paints a picture for not following rules established *a priori* ? Does one ever ask what is the picture that he ought to paint? As everyone knows, there is no predefinded picture for him to make; the artist applies himself to the composition of a picture, and the picture that ought to be made is precisely that which he will have made. As everyone knows, there are no aesthetic values *a priori*, but there are values which will appear in due course in the coherence of the picture in the relation between the will to create and the finished work. No one can tell what the painting until it is done. What has that to do with morality? We are in the same creative situation." (Sartre, J. P.: *Existentialism and Humanism* tr. Philip Mairet. London, Methuen & co., repr. 1960. p. 49.)

2.11 अर्नल्डने प्रस्तुत विचार अपने 'द स्टडी ऑफ पोएट्री' शीर्षक से प्रख्यात निबंध

में प्रस्तुत किया है। (आर्नल्ड, मैथ्यू: एसेज इन क्रिटिसिजम, सेकंड सेरीज, लंडन मैक्मिलन, पुनर्मुद्रण 1959 प्रथम प्रकाशन 1988.)

आर्नल्ड की प्रणाली के कारण और भी एक लाभ होगा। कलाकृति के अधिकांश गुण ऐसे होते हैं कि जिनका प्रत्यक्ष अनुभव ही लेना पड़ता है। अत: कलाकृति का मूल्यांकन करते समय अमूर्त निकष इस्तेमाल करने के स्थान पर किसी महान कलाकृति का उपयोग करने से मूल्यांकन अधिक समझदारी से परीपूर्ण होगा। इसका अर्थ इतना ही है कि महान कलाकृति के संस्कार मन में रखकर ही हमें नई कलाकृति को ओर देखना चाहिए। यहाँ एक गलतफहमी टालनी होगी। मैं यह नहीं सुझा रहा हूँ कि सदैव पुरानी कलाकृतियों का ही निकष के रूप में उपयोग करना चाहिए, क्यों कि बहुत बार हम पुरानी कलाकृतियों का मूल्यांकन करने के लिए नई कलाकृतियों का उपयोग करते हैं। यह स्वाभाविक है और उचित भी है। एलियट ने अपने 'ट्रैडिशन ऐंड दि इंडिविज्युअल टैलेंट' लेख में ठीक इसी मुद्दे पर बल दिया है। पुरानी और नई कलाकृतियों का एक सेंद्रिय संबंध कलाकार के एवं समीक्षक के मन में रहता है। इस संबंध की सहायता से ही कलाकृतियों का मूल्यांकन होता रहता है। इस संबंध को सेंद्रिय संबंध कहने का कारण यह है कि उसके हर घटक का मूल्यात्मक स्थान अन्य घटकों के मूल्यात्मक स्थानों पर निर्भर रहता है। फिर अगर किसी घटक का स्थान बदल गया तो अन्य घटकों के स्थान भी बदलने पड़ते हैं। समझिए, हमें माड़गुलकर की कविताओं का मूल्यात्मक स्थान निश्चित करना है। केवल अकेले माड़गुलकर को कविता पढ़कर यह स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। उसके लिए कम-से-कम केशवसुत से मर्ढेकर तक के आधुनिक काव्य का संदर्भ मन में होना आवश्यक है। माड़गुलकर का मूल्यात्मक स्थान निश्चित करते समय उपर्युक्त संदर्भ में अन्य कवियों का स्थान निश्चित करना अंतर्भूत है। हर कवि का मूल्यात्मक स्थान संदर्भ सापेक्ष ही होता है। एकाध पाठक माड़गुलकर को मर्ढेकर से अधिक ऊपर का स्थान देगा तो दूसरा मर्ढेकर का स्थान अधिक ऊपर का बताएगा। अब मान लीजिए कि पहलेवाले को मर्ढेकर की कविता श्रेष्ठ लगने लगी। उसके मन के संबंधों में मर्ढेकर का स्थान ऊँचा उठेगा और माड़गुलकर का स्थान नीचे आएगा। 2 12. कांट इ. :"क्रिटीक आन जजमेंट, सेक्शन 47

अध्याय : 3

3.1 इस संज्ञा का स्पष्टीकरण इसी अध्याय में आगे आनेवाला है। 3.2 यहाँ एक बात स्पष्ट करनी होगी। मूर का विवेचन शिव या अच्छाई की अवधारणा के बारे में है, सौंदर्य की अवधारणा के बारे में नहीं। उसका किया हुआ सौंदर्य विषयक विवेचन

त्रुटिपूर्ण है और हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। 3.3 मूर, जो. इ.: "प्रिन्सिपिया एथिका", केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पुनर्मुद्रण 1960, पृ.10. 6. वही, पृ.8.4. वही, पृ.10 मूर ने गुणों के दो प्रकार कल्पित किए हैं, लाल, नमकीन, उष्ण इत्यादि गुणों को वह प्राकृतिक गुण मानता है। ये गुण इंद्रियगोचर सृष्टि से प्राप्त होते हैं, इसलिए उन्हें प्राकृतिक कहा जाता है। अंतर्निरीक्षण के द्वारा जानीजाने वाली सुखादि चीजें भी प्राकृतिक सृष्टि में ही गिनी जाती हैं। मूर मानता है कि इन गुणों के अलावा और भी अनेक प्रकार के गुण अस्तित्व में हैं। लेकिन ये गुण इंद्रियगोचर नहीं हैं और अंतर्निरीक्षण से भी उनका ज्ञान नहीं होता। उनका केवल प्रातिभ ज्ञान (intuition) हो सकता है। इन गुणों को मूर अ-प्राकृतिक गुण कहता है। मूर का मन्तव्य है कि शिव गुण अ-प्राकृतिक है। इस अ-प्राकृतिक शिव गुण के साथ प्राकृतिक गुण भी उपलब्ध होते हैं। लेकिन इन दो प्रकार के गुणों में नित्य साहचर्य होने पर भी उन्हें एक मानना प्राकृतिकतावादी हेत्वाभास करना होगा। असल में शिव को अन्य किसी भी गुण के साथ एकरूपता कल्पित करना मूर को मान्य नहीं था। इसलिए बहुत बार इस तरह की कोई एकरूपता कल्पित करना प्राकृतिकतावादी हेत्वाभास है, ऐसा उसका मानना है. 3.9 वही, पृ. 14.

3.10 मूर कहता है : "To take, for instance, one of the more plausible, because one of the more complicated, of such proposed definitions, it may easily be thought, at first sight that to be good may mean to be that which we desire to desire. Thus if we apply this definition to a particular instance and say 'When we think that A is good, we are thinking that A is one of the things which we desire" , our position may seem quite plausible. But if we carry the investigation further and ask ourselves. "Is it good to desire to desire A?" , it is apparent, on a little reflectin, that this question is itself as intelligible, as the original question "Is A good ? --- that we are, in fact, now asking for exactly the same information about the desire to desire A, for which we formerly asked with regard to A itself."

(Ibid, 15-16)

3.11 वही, पृ. 16-17. 3-12. "संश्लेषणात्मक" एवं "विश्लेषणात्मक" संज्ञाओं के अर्थ के लिए प्रस्तुत पुस्तक का पहला अध्याय देखिए। 3.13. देखिए, मूर जी. ई.: "फिलासाफीकल स्टडीज," लंडन, रटलेज ऐंड केगन पाल, 1922 अध्याय 8

3.14 सी. डी. ब्राड इस संदर्भ में लिखता है :

I am inclined to think that the fact which Moore has in mind here is that goodness, in the primary sense, is always dependent on the presence of certain non-ethical characteristics which I should call

'Good-making'. 'If an experience is good (or if it is bad), this is never an ultimate fact. It is always reasonable to ask: 'What makes it good? or 'What makes it bad?' as the case may be. We might, therefore, distinguish the characteristics of a thing into the following two classes, viz. ultimate and derivate. Goodness would certainly fall into the class of derivative characteristics." (Broad, C.D. : "Certain Features in Moore's Ethical Doctrines in Schilpp: Paul Arthur (Ed) : The PHilosophy of G.E. Moore, Evanston, Northwestern University, 1942, ;. 60)

3.15 मूर जी. इ.: "अ रिप्लाय-", वही पृ.588. 3.16 मूर जी. इ.: "प्रिन्सिपिया एथिका", पृ. २०-२१. 3.17 शिवत्व के बारे में इस प्रकार की भूमिका मूर को संभवतः मान्य है, ऐसा उसकी निम्नांकित पंक्तियों से लगता है:

"It is true, indeed, that I should never have thought of suggesting that goodness was 'non-natural', unless I had supposed that it was 'derivate' in the sense that whenever a thing is good (in the sense in question) its Goodness (in Mr. Broad's words) 'depends on the presence of certain non-ethical characteristics' possessed by the thing in question: I have always supposed that it did so 'depend', in the sense that, if a thing is good (in my sense), then that it is so follows from the fact that it possesses certain natural intrinsic properties", Which are such that from the fact that it is good it does not follow conversely that it has those properties". (Moore, G. E.: A reply....." in The Philosophy of G. E. Moore, ed. schilpp, p. 588.)

3.18 सौंदर्य की अनेक वैकल्पिक परिभाषाएँ होती हैं, ऐसा कहने से काम चलेगा। इन वैकल्पिक परिभाषाओं के परस्पर क्या संबंध होते हैं, इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे।

अनेक-निकषता का सिद्धांत मराठी में नया नहीं है। वा. म. जोशी और रा. श्री जोग ने "कारणानाम् अनेकता" का जो सिद्धांत बताया है, उसमें एवं अनेक-निकषता के सिद्धांत में बहुत साम्य है। पश्चिमी समीक्षा-वाङ्‌मय में यह सिद्धांत अरस्तू जितना पुराना है। अरस्तू-जोशी-जोग-प्रणीत सिद्धांत इकहरे सौंदर्य-सिद्धांतों की अपेक्षा बहुत अधिक समझदारी से युक्त हैं, यह बात समीक्षा वाङ्‌मय का पूर्वग्रहमुक्त दृष्टि से अवलोकन करनेवाले को सहज ही में स्वीकार्य होगी। और यह दीखेगा कि कलाकृतियों की प्रत्यक्ष समीक्षा में प्रायः यही सिद्धांत कार्यान्वित होता है। परंतु 'व्यवच्छेदक लक्षण' की तलवार लेकर जिहाद करने के लिए निकलनेवालों को यह सैद्धांतिक सौजन्य पिलपिला लगने की संभावना अधिक है। अनेक-निकषता का सिद्धांत मुझे मान्य है। लेकिन आधुनिक पाश्चात्य दर्शन और नीतिशास्त्री के आधार से मैंने इस सिद्धांत का

जो स्पष्टीकरण किया है वह ऊपर उल्लिखित मराठी के पूर्वसूरियों को मान्य होगा ही, ऐसा विश्वास मुझे नहीं है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की सहायता से इस सिद्धांत की ओर देखने के कारण जो प्रश्न उत्पन्न हुए हैं वे उन्हें महत्त्वपूर्ण न लगने की भी संभावना है। इन प्रश्नों का आधुनिक पद्धति से किया हुआ विचार उनके लेखन में स्पष्टत: नहीं प्राप्त होता। इसलिए इस संबंध में निश्चित कुछ लिखना साहस का काम होगा। (वा. म. जोशी ने अपनी भूमिका "विचार-सौंदर्य" पुस्तक में और रा. श्री. जोग ने अपनी भूमिका "सौंदर्य-शोध व आनंद-बोध" पुस्तक में प्रस्तुत की है।)

मूरवादियों ने निश्चित क्या साध्य किया यह मालूम होने के लिए यह आकृति देखिए:

प्राकृतिकतावादी

"सौंदर्य = अ" (इकहरी परिभाषा। उदाहरणार्थ, अ याने तीव्र भावना की सहज अभिव्यंजना या ऐसा ही कोई गुण।)

प्रातिभ ज्ञानवादी (मूरवादी)

सौंदर्य

अ आ इ ई
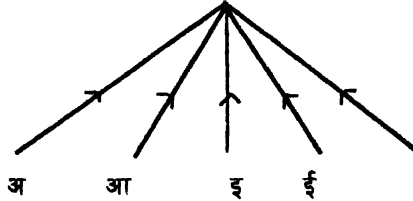
अ = तीव्र भावना की सहज अभिव्यंजना

आ = विशिष्ट प्रकार की रचना

ई = चमकदार शैली

ई = सूक्ष्म जीवनदर्शन

अ से ई ... ये सौंदर्यकारक गुण हैं।

3.19. "I... Beautiful" (and 'good'....) is an adjective you are inclined to say: "This has a certain quality, that of being beautiful..." 4. I have often compared language to a tool chest, containing a hammer, chisel, matches, nails, screws, glue. It is not a chance that all these things have been put together but there are important differences between the differnt tools-they are used in a family of ways-though nothing could be more different than glue and a chisel. There is constant surprise at the new tricks language plays on us when we get into a new field.

"5. One thing we always do when discussing a word is to ask

how we were taught it. Doing this on the one hand destroys a variety of misconceptions, on the other hand gives you a primitive language in which the word is used. Although this language is not what you talk when you are twenty, you get rough approximation to what kind of language game is going to be played ..... If you ask your-self how a child learns 'beautiful', 'fine', etc., you find it learns them roughly as interjections..... One thing that is immensely important in teaching is exaggerated gestures and facial expressions. The word is taught as a substitute for a facial expression or a gesture. The gestures, tones of voice, etc., in this case are expressions of approval. What makes the word an interjection of approval? It is the game it appears in, not the form of words. (If I had to say what is the main mistake made by philosophers of the present generation, including Moore, I would say that it is that when language is looked at, what is looked at is a form of words and not the use made of the form of words. (Wittgenstein, L.: Lectures and Conversations on Aesthetics, Psychology and Religious Belief. (Ed.) Warrett, Cyril, Oxford, Blackwell, 1966, pp. 1-2)

विट्गिनस्टाइन ने अपने सौंदर्यशास्त्र संबंधी व्याख्यान कुछ थोड़े छात्रों के सामने केंम्ब्रिज में दिए। उन विद्यार्थियों द्वारा बनाई गई टिप्पणियों के आधार से उसके उपरोक्त ग्रंथ की मुद्रण प्रति तैयार की गयी।

3.20 देखिए: एयर, ए. जे.: लैंग्वेल, ट्रुथ ऐण्ड लाजिक", लंडन, विक्टर गर्लेट, दूसरा संस्करण, पुनर्मुद्रण 1951 अध्याय 1.

प्रस्तुत भाग में केवल संश्लेषणात्मक संवाक्यों का ही विचार किया है क्योंकि विश्लेषणात्मक संवाक्य वास्तव के बारे में सही अथवा गलत जानकारी देने का दावा नहीं करते।

3.21 एयर कहता है:

".... in so far as statements of value are significant they are ordinary 'scientific' statements; and ... in so far as they are not scientific, they are not in the literal sense significant, but are simply expressions of emotion which can be neither true nor false" (ibid, pp. 102.03)

3.22 उपयुक्ततावादियों की राय में कोई चीज अच्छी है, इसका अर्थ है उसके कारण अधिक से अधिक लोगों को अधिकाधिक सुख प्राप्त होते हैं। यह समीकरण मान्य करने पर मूल्य-संवाक्य वस्तुस्थिति के बारे में जानकारी देनेवाला संवाक्य सिद्ध हो जाता है। और एयर का तो दृढ़ मत है कि मूल्य-संवाक्य जानकारी देनेवाला संवाक्य नहीं है।

3.23 एयर: उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक पृ. 104-105. 3.24. वही, पृ. 106
25. वही, पृ. 107, 108. उसी तरह आग्डेन रिचर्ड्स का निम्नांकित उद्धरण देखिए:

"It is only the indefinable 'good' which we suggest to be a purely emotive sign. The 'something more' or 'something else' which, it is alleged, is not covered by any definition of 'good' is the emotional aura of the word." (Ogden, C. K. and Richards, I. A.: The Meaning of Meaning, London, Routledge and Kegan paul, Tenth Edition, Repr. 1956, p. 125, First published in 1923.)

3.26 एयर: उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक पृ. 108 3.27 अधिक जानकारी के लिए देखिए: आस्टिन, जे. एच.: "फिलासाफिकल पेपर्स," अर्म्सन, जे. ओ. एवं वारनाक, जी. जे.: आक्सफर्ड, क्लेरेंडन प्रेस, 1961 लेख क्रमांक 10, एवं आस्टिन जे. एल.: हाउ टु डू थिंग्ज विथ वर्ड्स", आक्सफर्ड, क्लेरेन्डन प्रेस, 1962. 3.28. स्टीवन्सन, सी. एल.: "एथिक्स ऐंड लैंग्वेज," येल युनिव्हर्सिटी प्रेस, पुनर्मुद्रण 1965, पृ. 83 प्रथम प्रकाशन 1944. 3.29 वही, पृ. 21.3.30. मूल्यों की वस्तुगतता के बारे में (अथवा व्यक्तिनिरपेक्षता के संबंध में) मेरे विचार मैंने अपने "सौंदर्य-दृष्टीची संकल्पना" नामक लेख में विस्तार से प्रस्तुत किए हैं। देखिए: आष्टीकर, मधुकर (संपा: डॉ. कोलते गौरव ग्रंथ, अमरावती, 1969, पृ. 60-68.

3.31 सिज्विक के सुखवाद के बारे में मूर कहता है:

"I shall try to show you why my intuition denies it, just as his intuition affirms it. It may always be true not with standing; I am bound to be satisfied, if I can 'present considerations capable of determining the intellect to reject it'. (Moore, G. E.: Principia Ethica, p. 75.)

3.33 वही, पृ. 77. 3.34. वही, पृ. 91. 3.35 एयर: उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक पृ. 110-112 3.36. ऐसी युक्तियों के अनेक उदाहरण स्टिवन्सन ने "एथिक्स ऐंड लैंग्वेज" ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में दिये हैं। जिज्ञासु उन्हें जरूर देखें। 3.37. वही, पृ. 113, 3.38, हेअर, आर. एम. = "द लैंग्वजेस ऑफ मारल्स", "आक्स्फर्ड, क्लेरेंडन प्रेस, 1952 3.39. नोबेल स्मिथ, पी. एच.: 'एथिक्स', पेलिकन फिलासाफी सिरीज, 1954, अध्याय 5. 3.40. इसी को कालिंगवुड़ "कर्ट्सी टायटल" कहता है। 3.41 स्टिवन्सन: 30 उ. नि. पु.,पृ1. 210. 3.42 वही, पृ. 214. 3.43 विट्गिनस्टाइन लुड़विग = फिलोसाफिकल इन्विस्टिगेशन्स", (अनुवाद) ऐन्स्कोम्ब, जी. ई. एम. आक्सफर्ड, बेसिल ब्लेकवेल, 1958 पृ. 31-32. 3.44. यह प्रश्न इस संदर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है कि परिभाषा सत्त्व को शब्दांकित करती है या भाषा की सुविधा के लिए

विशिष्ट समुच्चय को लेबुल देने का कार्य करती है। विज्ञान में परिभाषा को विशेष महत्त्व नहीं है, पापर के इस अभिमत की चर्चा पहले अध्याय में आई ही है। विज्ञान में परिभाषा को महत्त्व प्राप्त हुआ है। मूल्य-अवधारणा की परिभाषा देते हुए, उसके निकष बताते हुए, हम वह अवधारणा खोजते नहीं, रचते होते हैं और प्रकारांत से हम अपने को भी रचते होते हैं। इसलिए मूल्य-अवधारणाओं की सही परिभाषाएँ एवं निकष प्राप्त करने के लिए लोग बहुत प्रयास करते पाए जाते हैं।

3.45 अवधारणाओं के संबंध में पारंपारिक दृष्टिकोण एवं विट्गिन्स्टाइन के दृष्टिकोण में अंतर निर्दिष्ट आकृतियों से स्पष्ट होगा:-

पारंपारिक दृष्टिकोण

जाति का सत्त्व

'अ1' से 'अ7' एक जाति के सदस्य इन सबमें अ है।
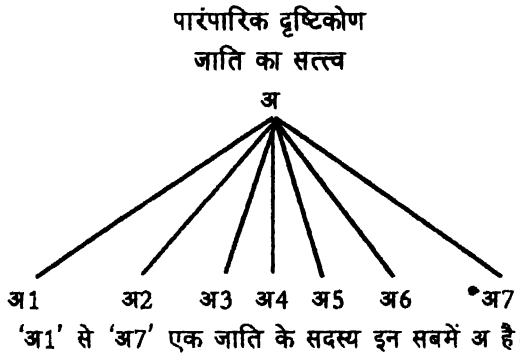
विट्गिस्टाइन का दृष्टिकोण
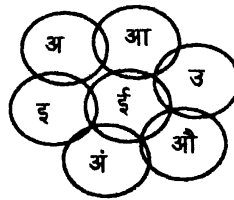
'अ' से 'औ' - एक कुल के सदस्य। इन सबमें समान सत्त्व होता ही है, ऐसा नहीं।

3.46 प्रा. के. जे. शहा-प्रमुख दर्शन विभाग, कर्नाटक विद्यापीठ) ने कुलसाम्य की अवधारणा के बारे में एक और मुद्दा सुझाया है। उनका कहना है कि किसी अवधारणा द्वारा निर्देशित चीजों में समान गुण होते हैं ऐसा समझना गलत होगा। लेकिन इन समस्त चीजों के बारे में समान प्रश्न पूछने की स्थिति बननी चाहिए, इन समान प्रश्नों को समान ही उत्तर मिलने चाहिए, ऐसा नहीं। उदाहरणार्थ, सभी स्थानों पर सकारात्मक उत्तर मिलने चाहिए ऐसा नहीं, लेकिन ये सभी समान प्रश्न समानरूप संगत सिद्ध होने चाहिए। ऐसे समान प्रश्न होते हैं, इसलिए अवधारणा को एकरूपता

प्राप्त होती है। लेकिन यह कहने से कि समानता को गुणों में न खोजते हुए प्रश्न में खोजना चाहिए, मुझे लगता है कि कुलसाम्य की अवधारणा पर विशेषत: इस अवधारणा में अंतर्भूत लचीलेपन पर अन्याय होता है। जो चीज गुणों के बारे में सही है, वही प्रश्नों के बारे में भी सही है। एकाध अवधारणा याने समान गुणविशेष नहीं है, वैसे ही समान प्रश्न भी नहीं हैं। जैसे गुणों में साम्य-भेद होता है, वैसे वह प्रश्नों में भी होता है। वाङ्‌मय का उदाहरण लेना हो तो कहा जा सकता है कि समूचे वाङ्‌मय में समान गुण नहीं होते, उसी तरह सभी वाङ्‌कृतियों की घटनाओं की संभवनीयता से संबंधित प्रश्न "हैम्लेट" एवं "भावबंधन" के संदर्भ में समान होते हैं। "हैम्लेट" में संभवनीयता है और भावबंधन में वह नही है, ऐसा होने पर भी दोनों स्थानों पर ये प्रश्न संगत हैं। लेकिन "एलिस इन वंडरलैंड" में संभवनीयता नहीं है। इतना कहकर हम वहाँ रुकते नहीं हैं। हम यही कहते हैं कि इस कलाकृति के संदर्भ में यह संभवनीयता का प्रश्न संगत नहीं है।

3.47 देखिए: वारट्झ, मॉरिस: "द रोल ऑफ थिअरी इन एस्थेटिक्स" राड़र, मेल्विन (संपा.): अ माडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स", न्यूयार्क होल्ट, रिन्टरहन्ट ऐंड विन्स्टन, तीसरा संस्करण, 1965, पृ. 199-208. 3.48 देखिए: गैली डब्ल्यू बी.: "इसेन्शली कन्स्टेस्टेड़ कान्सेप्ट्स", ब्लेक, मैक्स (संपा.): "द इम्पार्टन्स ऑफ लैंग्वेज," (इंगलवुड़ क्लिक्स प्रेन्टिस हाल, 1962 पृ. 121 - 46. 49. वही, पृ. 139-140.

3.50 एक चीज का स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है। मैंने ऊपर कही सौंदर्यसंबंधी लिखा है तो कहीं कला के संबंध में। मैं नही मानता कि ये दोनों अवधारणाएँ एक ही हैं। अनेक सुंदर वस्तुएँ कलाकृतियाँ नहीं होती (उदाहरणार्थ, चाँदी) और अनेक कलाकृतियों को 'सुंदर' विशेषण लगाते ही हैं, ऐसा नहीं। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि मर्ढेकर की "शिशिरागम" के अलावा अन्य कविताएँ प्रभावपूर्ण हैं, आशयघन हैं। लेकिन जिस अर्थ में हम बालकवि की कविता को बिना हिचक के सुंदर कह सकते हैं, उस अर्थ में मर्ढेकर की उपरिनिर्दिष्ट कविता सुंदर है, ऐसा हम नहीं कहेंगे। कला के संबंध में जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, वे सब सौंदर्य संबंधित होते हैं, ऐसा नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, सृजन का प्रश्न कला के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। लेकिन प्रकृति-सौंदर्य के संदर्भ में वह बिलकुल महत्त्वपूर्ण नहीं है। अत: स्पष्ट है कि कला और सुंदर अवधारणाएँ एक नहीं हैं। लेकिन कुछ संदर्भों में उनके बीच का साम्य महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, सौंदर्यमूल्य (aesthetic value) के कुछ तार्किक वैशिष्ट्यों की चर्चा करते हुए सौंदर्य एवं कला के बीच का भेद ध्यान में नहीं लिया जाए तो हर्ज नहीं। जिस संदर्भ में ये भेद महत्त्वपूर्ण हैं वहाँ मैं उन भेदों को स्पष्ट करते हुए विवेचन करूँगा। लेकिन ऊपर की चर्चा में ये भेद दिखाने का कारण नहीं था।

अध्याय: 4

4.1 विट्‌गिन्स्टाइन, लुडविग,: लेक्चर्स ऐंण्ड कान्वर्सेशन्स ऑन एस्थेटिक्स, सायकोलोजी ऐंण्ड रिलीजस बिलीफ", (संपा.) बेरेट, सिरिल, आक्सफर्ड, बेसिल ब्लेकवेल, 1966, पृ. 2.4.2 कांट, इमेनुएल": "क्रिटिक ऑफ जजमेंट" (अनु.) मेरेड़िथ, जेम्स क्रीड़, आक्सफर्ड क्लेरेंडन प्रेस, पुनर्मुद्रण 1964, पृ. 18. 4.3 कांट ने सौंदर्य-संवाक्य के चार अंगों का उसी तरह कला और विराटता का स्वतंत्र रूप में विचार किया है। कांट की सौंदर्य-मीमांसा की तफसील से चर्चा मैंने अपने कांट पर लिखे विवरणात्मक लेखमाला में की है। देखिए: "नवभारत", फरवरी, 1970 से जनवरी, 1971 (यह लेखमाला पुस्तकाकार रूप में "कांटचे सौंदर्यशास्त्र" शीर्षक से प्रकाशित हुई है: अनुवादक) 4.4 कांट: उ. नि. पु. पृ. 50

4.5 "... It was agreed that my endeavour should be directed to persons and characters supernatural or at least romantic; yet so as to transfer from our inward nature a human interst and a sembalance of truth sufficient to procure for these shadows of imagination that willing suspension of disbelief for the moment, which constitutes poetic faith". (Coleridge, S. T.: Biographia Literaria, London, Everyman's Library, repr. 1952, p. 147.)

4.6

"But the nature of literature emerges most clearly under the referential aspects. The centre of literary art is obviously to be found in the traditional genres of the lyric, the drama. In all of them the reference is to a work of fiction, of imagination. The statements in a novel, in a poem, or in a drama are not literally true, they are not logical propositions. There is a central and important difference between a statement, even in a historical novel or novel by Balzac which seems to convey information about actual happenings and the same information appearing in a book of history or sociology Even in subjective lyric, the 'I' of the poet is a fictional dramatic 'I.' A character in a novel differs from a historical figure or a figure in real life. He is made only of sentences describing him or put in to his mouth by the author. He has no past, no future, and sometimes no continuity of life... Time and space in a novel are not those of real life. Even an apparently most realistic novel, 'the very slice of life' of the naturalist, is constructed according to certain artistic conventions." (Wellek, Rene and Warren, Austin: Theory of Literature, Penguin Books, 1963, pp. 25-26).

"वाङ्‌मयीन विश्व के सत्ताशास्त्रीय (ontological) स्थान के बारे में दो भूमिकाएँ ली जा सकती हैं। (1) इस विश्व के सत्यासत्यता की चिकित्सा होकर यह तय हुआ है कि यह विश्व सत्य नहीं है। और इसीलिए उसे कल्पित विश्व कहा जाएगा। दिवास्वप्न इसी अर्थ में कल्पित होता है। (2) इस विश्व के सत्यासत्य के संबंध में चिकित्सा करना ही हमने नकारा है। वेलेक एवं वारेन को पहला अर्थ अभिप्रेत हो, तो कांट के सिद्धांत से उनका कहना बाधित हो जाता है। लेकिन अगर उनको दूसरा अर्थ अभिप्रेत होगा तो मानना हो कि वे कांट के ही सिद्धांत को अलग रूप में बता रहे हैं। 7. कांट, इ.: उ. नि. पु. पृ. 50 कांट ने सार्वभौमिकता (Universality) शब्द दो अर्थो में इस्तेमाल किया है: (1) किसी वर्ग के सभी सदस्यों के बारे में किया हुआ संवाक्य सार्वभौमिक होता है क्योंकि वह उन सभी सदस्यो को लागू पड़ता है। उदाहरणार्थ, "सभी कुत्ते भूँकते हैं" संवाक्य सभी कुत्तों पर लागू होता है। कांट इस सार्वभौमिकता को "वस्तुगत सार्वभौमिकता" (Objective universality) नाम देता है। (2) कोई ज्ञानात्मक संवाक्य यद्यपि एक विशिष्ट चीज के बारे में हो तो भी उसे अलग प्रकार की सार्वभौमिकता प्राप्त होती है। वह अगर एक ज्ञाता के लिए सत्य हो तो वह सभी ज्ञाताओं के लिए सही होता है। उदाहरणार्थ, "यह फूल लाल है" संवाक्य व्यक्तिविषयक है। लेकिन अगर वह सही हो तो सभी ज्ञाताओं को मान्य होना चाहिए। इस प्रकार की सार्वभौमिकता को कांट "ज्ञातृगत सार्वभौमिकता (Subjective universality) नाम देता है। प्रस्तुत संदर्भ में कांट को ज्ञातृगत सार्वभौमिकता ही अभिप्रेत है। उसका मत है कि सौंदर्य-संवाक्य की केवल ज्ञातृगत सार्वभौमिकता होती है। वस्तुगत नहीं। 4.8. वही, पृ. 58. 4.9 वही, पृ. 64 4.10 वही, पृ. 80 चौकोनिया कोष्टक में दिये हुए "पर्पज" और "पर्पजिवनेस" शब्द जे. एच. बर्नर्ड के द्वारा किए गये "क्रिटीक ऑफ जजमेंट" के अनुवाद में से हैं। मराठी पाठक "पर्पजिवनेस" और "पर्पज" शब्दों से 'फायनेलिटो' और "ऐंड" शब्दों की अपेक्षा अधिक परिचित हैं, इसलिए वे यहाँ दिये गये हैं। 4.11. वही, पृ. 61-62. 4.12. वही, पृ. 64. 4.13. उन्नीसवीं शती के बादवाले अंग्रेजी और बीसवीं शती के मराठी समीक्षा वाङ्‌मय में सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् मूल्यत्रय का बार बार उल्लेख मिलता है। उसका पहला स्पष्ट तात्त्विक विवेचन कांट में है। कांट के बाद हेगेलने इस विचार को प्रस्तुत किया। लेकिन हेगेल ने मूल्यों की सोपानपरंपरा को कल्पित करके कला को सत्य से नीचे का स्थान दिया, कांट ने ऐसा नहीं किया।

4.14. कांट कहता है,

"In painting, sculpture, and in fact in all the formative arts... the design is what is essentiel." (Ibid, p. 67)

4.15 वही, पृ.85

4.16 "Rather being such a necessity as is thought in an aesthetic judgment, it can only be termed exemplary. In other words it is the necessity of the assent of all to a judgment regarded as examplifying a universal rule incapable of formulation." (Ibid, p. 81)

4.17. वही, पृ. 82-84,

4.18 "The first presupposes no concept of what the object should be, the second does presuppose such a concept and, with it, an answering perfection of the object." (Ibid, p. 72)

4.19 वही, पृ.73 4.20. वही, पृ. 76 4.21. वही पृ. 76-77

4.22 "Here the ideal consists in the expression of the moral... The visible expression of moral ideas that govern men inwardly can, of course, only be drawn from experience; but their combination with all that our reason connects with the morally good in the idea of the highest finality–benevolence, purity, strength, or equanimity, £c- may be made, as it were, visible in bodily manifestation (as effect of what is internal), and this embodiment involves a union of pure ideas of reason and imaginative power, in one who would eve . ɔrm an estimate of it, not to speak of being the author of its presentation." (Ibid, pp. 79–80)

4.23 वही, पृ. 422. 4.24. वही, पृ. 224-२५ 4.25 वही, पृ. 225 2.26. वही, पृ. 162-63. 4.27. वही, पृ. 164. 4.28. वही, पृ. 166-165 4.29. वही, पृ. 166-167. पृ. 167 पर कांट ने ललित कलाकृति के सौंदर्य एवं प्रकृति सौंदर्य के बीच के और एक साम्यस्थल का संकेत किया है। प्रकृति की सुंदर चीजें कैसे दीखती हैं, यह महत्त्वपूर्ण होता है, वे कैसी हैं, इसका महत्त्व नहीं, सुंदर कलाकृति भी कैसे दीखती है, इसी का महत्त्व होता है।

4.30. "Fine art is the art of genius." (Ibid, p. 168)

4.31. "Since there may also be original nonsense, its products must at the same time be models, i. e. he exemplary; and, consequently, though not themselves derived from imitation, they must serve that purpose for others, i. e. as a standard or rule of estimating. (Ibid, pp. 168–69)

4.32 "...What kind of rule must this be? It cannot be one set down in a formula and serving as precept—for then the judgment upon the beautiful would be determinable according to concepts. Rather must the rule be gathered from the performance, i. e. from

the product, which others may use to put their own talent to the best, so as to let it serve as a model, not for imitation, but for following. The possibility of this is difficult to explain. The artist's ideas arouse like ideas on the part of his pupil, presuming nature to have visited him with a like proportion of the mental powers. For this reason the models of the fine art are the only means of handing down this art to posterity. This is something which cannot be done by more descriptions." (Ibid, p. 171)

"So all that Newton has set forth in his immortal work on the principles of Natural Philosophy may well be learned, however great a mind it took to find it all out, but we cannot learn to write in a true poetic vein, no matter how complete all the precepts of the poetic art may be, or however excellent its models. The reason is that all the steps that Newton had to take from the first elements of geometry to his greatest and most profound discoveries were such as he could make intuitively evident and plain to follow, not only for himself but for every one else. On the other hand no Homer or Wieland can show how his ideas, so rich at once in fancy and in thought, enter and assemble themselves in his brain, for the good in reason that he does not himself know, and so cannot teach others. In matters of science, therefore the greatest inventor differs only in degree from the most laborious imitator and apprentice whereas he differs specifically from one endowed by nature for fine art." (Ibid, pp. 169–70.)

4.34. वही पृ. 171-172. 4.35. देखिए: प्रस्तुत पुस्तक का अध्याय 4.36 कांट को यह विवेचन शायद मान्य होता। उसके द्वारा विवेचित imitation, following, oping, manarism अवधारणाओं की चर्चा से ऐसा लगता है। देखिए: कांट: उ. नि. पु. पृ. 181-182. 4.37 वही, पृ. 175-176. 4.38 वही, पृ. 176. 4.39. वही, पृ. 176-177. 4.40. यह ज्ञानशक्तियों का अनोखा प्रचोदन मन में असंख्य विचार पैदा करता है। इन विचारों में हम डूबते हैं, रस लेते हैं। श्री प्रभाकर पाध्ये इसी वैचारिक प्रचोदन को 'ज्ञान-रस' कहते होंगे। अर्थात् कांट इसे 'विचार-रस' कहेगा, 'ज्ञान-रस' नहीं कहेगा।

अध्याय : 5

5.1 देखिए: बोसाँके, बर्नर्ड: "इसेन्शियल्स ऑफ लाजिक", लंडन, मैकमिलन ऐंड कं. पुनर्मुद्रण 1928, अध्याय 2.5.2. देखिएँ: बोसाँके, बी.: "ए हिस्टरी ऑफ एस्थेटिक",

लंडन, ऐलन ऐंड अनविन, दूसरा संस्करण, पुनर्मुद्रण 1956, पृ. 265-66.

5.3 "The intrest of art, therefore, is distinguishable from the practical intrest of desire in virtue of the fact that it suffers its object to remain in its free independence, whereas desire applies it, even to the point of destruction, to its own uses. The contemplation of art, on the other hand, differs from that of a scientific intelligence in an analogous way in virtue of the fact that it cherishes an interest for the object in its isolated existence, and is not concerned to transform the same into terms of universal thought and notion." (Hegel: The philosophy of Fine Art, Vol. I, tr. F. P. B. Osmaston, London, G. Bell and Sons Ltd, 1920, p. 51.)

5.4 "...it is art's function to reveal truth under the mode of art's sensuous or material configuration ... it possesses its final aim in itself, in this representation in short and self-revelation." (Ibid, p. 77.)

5.5 "In the beautiful this separation is found to be abolished. The universal and the particular, purpose and means, idea and object completely interpenetrate each other. Thus, too, Kant sees the beauty of art as a concurrence, in which the particular itself is conformable to the conception. Particulars, taken alone, are primarily, both as against each other and the universal of contingent nature; and this contingent element, whether we find it in sense, feeling, susceptibility, or impulse, is now in the beauty of art not merely subsumed under the categories of the understanding, and dominated by the notion of freedom in its abstract universality, but united to the universal in such a way that it appears inwardly and on its own merits as realized fact adequate thereto. By this means thought is incorporated in fine art, and the material is not externally defined by such thought, but continues to exist in its own freedom. In other words, what is natural–the sense, emotional temperament, and so forth, possess in themselves measure, end, and agreement. Perception and feeling too in the same way are raised to a power of universality; and thought no less not merely renounces its hostility to Nature, but is made blithe therein." (Ibid, pp. 82-83)

5.6 "The beautiful may therefore be defined as the sensuous semblance of the idea." (Ibid, p. 154.)

5.7 "...We are justified in maintaining categorically that the beauty of art stands higher than Nature. For the beauty of art is a beauty begotten, a new birth of mind; and to the extent that spirit

and its creations stand higher than Nature and its phenomena, to that extent the beauty of art is more exalted than the beauty of Nature." (Ibid, p. 2.)

5.8 देखिए: बुचर, एस्. एच्.: "ऐरिस्टाटल्स आर्ट ऑफ पोएट्री ऐंड फाइन आर्ट", डोवर पब्लिकेशन, संस्करण 4 था, 1951 अध्याय 2-3-59. देखिए: बोसाँके, वी.: "ए हिस्टरी ऑफ एस्थेटिक", प्रस्तावना पृ. 13

5.10 हेगेल: उ. नि. पु. पृ. 11. 5.11 इस सौंदर्य-सिद्धांत का ऐसा विवेचन जो आधुनिकों को भी ठीक लगेगा। बोसाँके के "थ्री लेक्चर्स आन एस्थेटिक" (लंडन, मैकमिलन, 1915) ग्रंथ में प्राप्त होता है। इसी संदर्भ में ए. सी. ब्रेड्ली के "आक्स्फर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री" (लंडन, मैकमिलन, पुनर्मुद्रण 1962) पुस्तक के "पोएट्री फॉर पोएट्रीज सेक" लेख का उल्लेख करना जरूरी है। उसी तरह कैरिट के "ऐन इंट्रोड्क्शन टु एस्थेटिक्स" और "थिअरी आफ ब्यूटी" ग्रंथों में भी अभिव्यंजनावाद की सुंदर चर्चा आयी है। लेकिन कैरिट अभिव्यंजनावादी होने पर भी विश्वचैतन्यवादी चिंतक नहीं था, यह ध्यान में रखना जरूरी है। अभिव्यंजनावाद का प्रभाव जिन वाङ्मयीन समीक्षकों पर पड़ा हुआ दिखता है, उनमें वाल्टर, पेटर, कर्डिनल न्यूमन, मिल और हड्सन का उल्लेख करना होगा। देखिए: पेटर, वाल्टर: "ऐप्रिसिएशन्स" (लंडन, मैकमिलन, पुनर्मुद्रण 1922) में "स्टाइल" लेख; कार्डिनल न्यूमन: "सिलेक्ट डिस्कोर्सिस फ्राम दि आइडिया ऑफ ए यूनिवर्सिटी", (संपा.: मे यार्डले, केम्ब्रिज 1931) में "लिटरेचर" लेख, पृ. 132-156, मिल, जे. एस.: "पॉट्स ऑन पोएट्री ऐंड इटस वरायटीज", जोन्स, एड्मंड डी. (संपा.):"इंग्लिश क्रिटिकल एसेज, नाइंटीथ सेंचरी", लंदन, आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पुनर्मुद्रण 1928): हड्सन, डब्ल्यू एच.: ऐन इंट्रोडक्शन टु द स्टड़ी ऑफ लिटरेचर" (लंदन, हेरप ऐंड कं. दूसरा संस्करण, 1917). अध्याय 1.

लेकिन इन समीक्षकों पर वर्डस्वर्थ जैसों के रोमांटिक विचारों का प्रभाव होना संभवनीय है। दूसरी बात यह है कि इनमें से हड्सन ने अभिव्यंजनावाद का चरित्रात्मक समीक्षा-पद्धति (बायोग्राफिकल क्रिटिसिज्म) से जो संबंध जोड़ा वह ऐसा नहीं लगता कि विश्वचैतन्यवादी मान्य करेंगे।

5.12 "Now it is implied in these three properties permanence, relevance, community-that the aesthetic attitude has an object." (Bosanquet, Bernard: Three Lectures on Aesthetic, London, Macmillan & Co, Repr 1931, p. 5; originally published 1915.)

इसके पहले पैरे में बोसाँके "फीलिंग" शब्द का उपयोग करता है और उपर्युक्त वाक्य में "ऐटिट्युड" शब्द का इस्तेमाल करता है। लेकिन "ऐटिट्यूड" का अर्थ "दृष्टिकोण" या "भूमिका" उसे अभिप्रेत संभवत: नहीं है। कम-से-कम सौंदर्य-ग्रहण

में उसकी अभिप्रेत भूमिका एवं सौंदर्य-ग्रहण में आनेवाले सुखानुभव में उसने कभी अंतर नहीं किया है।

5.13. वही, पृ. 6

5.14 "...in creative art the production is as it were a form of perception; it is subordinate to the full imagining, the complete looking or hearing." (Ibid, p. 7)

5.15. वही, पृ. 8. 5.16. वही, पृ. 9. 5.17. वही, पृ. 13

5.18 "When you push home your insight into the order and connection of parts, not leaving out the way in which this affects the parts themselves; then you find that the form becomes (as a lawyer would say) 'very material' not merely outlines and shapes, but all the sets of gradations and variations and connections that make anything what it is–the life, soul, and movement of the object." (Ibid, pp. 15 –16)

5.18 "And it is the task of aesthetic perception when it passes into imagination to choose or create the object, the appearance, whose from or soul or life will satisfy feeling." (Ibid, p.18).

5.20 "The *I think* must accompany all, my representations, for otherwise something would be represented in me which could not be thought, in other words, the representation would either be impossible, or at least be, in relation to me, nothing. That representation which can be given previously to all thought, is called intuition, has, therefore, a necessary relation to the *I think*, in the subject in which this diversity is found. But this representation, *I think*, is an act of *spontaneity*; that is to say, it cannot be regarded as belonging to mere sensibility. I call it pure apperception, in order to distinguish it from empirical; or primitive apperception, because it is a self-consciousness which, whilst it gives birth to the representation. *I think*, must necessarily be capable of accompanying all our representations. It is in all acts of consciousness one and the same, and unaccompanied by it, no representation can extist *for me*. The unity of this apperception I call the transcendental unity of self- consciousness, in order to indicate the possibility of a *priori* cognition arising from it. For the manifold representations which are given in an intuition would not all of them be my representations. If they did not all belong to one self-consciousness, that is, as my representations, (even although I am not conscious of them as such), they must conform to the condition under which alone they can exist together in a common self-

consciouness, because otherwise they would not all without exception belong to me." (Kant, Immanuel: Critigue of Pure Reason, tr. Meiklegohn, Everyman's Library, repr. 1950, pp. 94-95).

5.21 बोसाँके: "थ्री लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक" पृ. 28-29. 5.22 वही, पृ. 2

5.23 वही, पृ. 34. इस संबंध में ए. सी. ब्रेड्ली की भूमिका बोसाँके की तरह है। वह कहता है:

"Pure poetry is not the decoration of a preconceived and clearly defined matter; it springs from the creative impulse of a vague imaginative mass pressing for development and definition. If the poet already knew exactly what he meant to say, why should he write the poem? The poem would in fact already be written. For only its completion can reveal, even to him, exactly what he wanted. When he began and while he was at work, he did not possess the meaning: it posessed him. It was not a fully formed soul asking for a body: it was an inchoate soul in the inchoate body of perhaps two or three vague ideas and a few scattered phrases. The growing of this body into its full stature and perfact shapes was the same thing as the gradual self–definition of the meaning. And this is the reason why such poems strike us as creations, not manufactures, and have magical efffect which more decoration cannot produce. This is also the reason why, if we insist on asking for the meaning of such a poem, we can only be answered 'It means itself'." (Bradley, A. C. Oxford Lectures on Poetry, London, Macmillan and Co., repr.: 1962, pp. 23–24.)

टी. एस. एलियट का अभिप्राय ऐसा ही है। वह कहता है:

"And what is the experience that the poet is so bursting to communicate? By the time it has settled down into a poem it may be so different from the original experience as to be hardly recognisable. The 'experience' in question may be the result of a fusion of feelings so numerous, and ultimately so obscure in their origins, that even if there be communication of them, the poet may hardly be aware of what he is communicating: and what is there to be communicated was not in existence before the poem was completed.; 'Communication' will not explain poetry.' (Eliot, T. S.: The Use of Poetry and the Use of Criticism London, Faber and Faber, repr. 1964, p. 138.)

इस संदर्भ में जेम्स सदरलैंड की "द मीड़ियम ऑफ पोएट्री" पुस्तक भी महत्त्वपूर्ण है। 5.24 बोसाँके, बी.: "थ्री लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक", पृ. 43. 5.25 वही. पृ. 48 5.26 वही, पृ. 51. 5.27 वही, पृ. 55-56. 5.28. वही, पृ. 59-60. 5.29. वही,

पृ. 62. 5.30 वही, पृ. 62. 5.31 क्रोचे बेने देत्तो: एस्थेटिक ऐज साइन्स ऑफ एक्सप्रेशन ऐंड जनरल लिंग्विस्टिक", (अनु.) डग्लस आइन्सले, लंदन, विज़न प्रेस, पीटर ओवेन, पुनर्मुद्रण 1953, अध्याय 13.5. 32 बोसाँकि, बी.: "थ्री लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक" पृ. 71. 5.33 मर्ढेकर, बी. एस्.: "आर्टस ऐंड मेन", बॉम्बे पाप्युलर बुक डेपो, 1960, पृ. 53-74. 5.34. वही, पृ. 89.

5.35. क्रोचे: उ. नि. पु. पृ. 12-14. 5.36. यहाँ प्रा. दि. के. बेड़ेकर द्वारा एक परिसंवाद में दिया हुआ उदाहरण ध्यान में आता है। मर्ढेकर के आत्मनिष्ठा संबंधी सिद्धांत के बारे में बोलते समय उन्होंने यह मुद्दा प्रस्तुत किया कि इस सिद्धांत के अनुसार आत्मनिष्ठा से कलाकृति के सौंदर्य में योगदान नहीं होता। कलाकृति का सौंदर्य उसमें सौंदर्य के तीन नियम पाले गए हैं या नहीं, इसी पर निर्भर होता है। चार इंच त्रिज्या का वर्तुल दो इंचवाले वर्तुल से अधिक बड़ा होगा, लेकिन वह अधिक वर्तुलाकार नहीं माना जाता। क्रोचे के संख्यात्मक निकष के बारे में बिलकुल यही कहा जा सकता है। 5.37. बोसाँकि, बी.: "थ्री लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक", पृ. 85. 5.38. वही पृ. 87-96. 5.39 वही, पृ. 96-97. 5.40 वही, पृ. 3-4. 5.41. क्रोचे: उ. नि. पु. पृ. 5. 5.42. वही, पृ. 102. 5.43. वही, पृ. 8-11.

5.44. इन तीनों अर्थों की अधिक विस्तृत चर्चा मेरी "एस्थेटिक्स ऐंड लिटररी क्रिटिसिजम", (बॉम्बे, नचिकेत, 1969) पुस्तक के "वॉट डज क्रोचे मीन बाइ एक्स्प्रेशन?" लेख में आई है। यहाँ यह चर्चा बहुत संक्षेप में दी गई है। 5.45. "प्रातिभा-ज्ञान" (Intuition) शब्द को अलग-अलग संदर्भ में अलग-अलग अर्थ प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ मूर कहता है कि शिव के स्वतंत्र अस्तित्व का बोध प्रातिभा-ज्ञान से होता है, यह समझने के लिए कि मैत्री शिव है, बौद्धिक युक्तिवाद करना नहीं पड़ता। जिस तरह फूलों का पीलापन बिना युक्तिवाद के समझा जाता है, उसी तरह मूर का कहना है कि मित्रता का शिवत्व भी बिना युक्तिवाद के ही बोधित होता है। लेकिन वह ज्ञान ऐंद्रिय नहीं होता। इसलिए जानने की इस पद्धति को मूर प्रातिभा-ज्ञान (Intuition) नाम देता है। कांट की परंपरा में "प्रातिभा-ज्ञान" का अर्थ अलग है। यहाँ ज्ञान के ऐंद्रिय घटकों को और उनके दिक् और काल के आकारों को और वे घटक जानने की प्रक्रिया को "प्रातिभा-ज्ञान" नाम दिया जाता है। ऐंद्रिय घटक एवं बुद्धिजन्य घटक के बीच के संबंध-विशेष और सामान्य के बीच के संबंधों की तरह होते हैं। इसलिए विशेष और विशेषों को जानने की प्रक्रिया को क्रोचे "प्रातिभा-ज्ञान" नाम देता है। मूर द्वारा प्रतिपादित प्रातिभा-ज्ञान सौंदर्य अवधारणा के तार्किक वैशिष्ट्यों की चर्चा के संदर्भ तक सीमित है। क्रोचे प्रणीत प्रातिभा-ज्ञान सौंदर्य अवधारणा का आशय विशद करता है। मूर और क्रोचे के सामने दो अलग अलग स्तरोंवाले प्रश्न थे, यह ध्यान में रखा जाए तो उनकी भूमिका में गड़बड़ नहीं होगा। 5.46. क्रोचे:

उ. नि. पृ. 1 से 22 5.47. वही, पृ. 4. 5.48. विल्डन कार, एच.: "द फिलासोफी आफ बेनेदेत्तो क्रोचे", लंदन, मैकमिलन, 1927, पृ. 43. 5.49. क्रोचे: उ. नि. पु. पृ. 2. 5.50. वही, पृ. 3-4 एवं क्रोचे के "लॉजिक" में से निम्नलिखित उद्धरण देखिए:

"Whether what is represented exist or not, is doubless indifferent to the intuitive man, to the poet or artist, simply because he does not leave the circle of representation. But it is not indifferent to the logical man, since he forms an individual judgement. He cannot judge of what does not exist." (Croce, Benedetto: Logic as the science of the Pure concept, tr. Douglas Ainslie, London, Macmillan, 1917, p. 166). But the individual judgement can take another name, much better known and more familiar: perception; and perception, in its turn, should be called, synonymously, individual judgement, or at least perceptive judgement, (Ibid, pp. 154–55)

5.51. कालिंगवुड़ ने इंद्रिय-संवेदना एवं कल्पना के बीच जो अंतर किया है वह इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उसकी राय में ज्ञान-प्रक्रिया में इंद्रिय-संवेदनाओं को स्थान न होकर अवधारणाओं को होता है, क्योंकि इंद्रिय-संवेदनाओं की सामग्री जड़ एवं अमानवीय होती है। इसकी सविस्तार चर्चा इसी अध्याय में बाद में आनेवाली है।

5.52 "And is not this activity truly determined, when one single function is attributed to it. not spacializing nor temporalizing, but characterizing? Or rather, when it is conceived as itself a category or function which gives as knowledge of things in their concreteness and individuality?" (Croce, B,: Aesthetic, p. 5.)

5.53 "....intuition or representation is distinguished as form from what is felt and suffered, from the flux or wave of sensation or from psychic matter; and this form, this taking possession is expression. To intuite is to express; and nothing else (nothing more but nothing less) than to express." (Ibid, p. 11.)

5.54. वही, पृ. 20. 5.55. देखिए: क्रोचे: "लॉजिक" पृ. 220-221.

5.56 प्रातिभा-ज्ञान के संबंध में अपने विवेचन का सार क्रोचे ने निम्नलिखित शब्दों में दिया है:

"Intuitive knowledge is expressive knowledge. Independent and autonomous in respect to intellectual function, indifferent to later empirical discriminations, to reality and to unreality, to formations and apperceptions of space and time, which are also later: intuition or representation is distinguished as form from what is felt and suffered, from the flux or wave of sensation, or from psychic matter; and this form, this taking possession, is expression. To

intuite is to express; and nothing else (nothing more, but nothing less) than to express." (Croce, B.: Aesthetic, p. 11.)

5.57. वही, पृ. 13-14. 5.58. वही, अध्याय 3.

5.59. उदा. संभवनीयता के बारे में वह कहता है:

"If 'probable' be translated 'coherent', a very just meaning will often be found in the discussions, examples, and judgements of the critics who employ this word. An improbable personage, an improbable ending to a comedy, are really badly drawn personages, badly arranged endings, happenings without artistic motive." (Ibid, p. 32)

5.60. वही, पृ. 36-37. 5.61. वही, अध्याय 6 और 13

5.62. "When we have achieved the word within us, conceived definitely and vividly a figure or a statue, or found a musical motive, expression is born and is complete, there is no need for anything else. If after this we should open our mouths–will to open them to speak or our throats to sing. that is to say, utter by word of mouth and audible melody what we have completely said or sung to ourselves... this second movement is a production of things, a practical fact, or fact of will... the work of art (the aesthetic work) is always internal and what is called external is no longer a work of art." (Ibid, pp. 50–51)

5.63. वही, पृ. 51.

5.64. क्रोचे कहता है:

"Faithful ugliness or faithless beauty.... is.... the dilemma with which every translator is faced." (Ibid, p. 68)

5.65. वही, अध्याय 5.66. क्रोचे कहता है।

"How could that which is produced by a given activity be judged by a differnet activity?... To judge Datne, we must raise ourselves to his level.... empirically we are not Dante, nor Dante we; but in that moment of contermplation and judgement, our spirit is one thing. In this identity alone resides the possibility that our little souls can echo great souls, and grow great with them in the universality of the spirit". (Ibid, p. 121.)

5.67. कैरेट इ. एफ्.: "द थिअरी ऑफ ब्यूटी", लंदन, मिथुअन, युनिवर्सिटी पेपर बैंक सीरिज' में पुनर्मुद्रण. 1962 पृ. 130-39. 5.68. कालिंगवुड, आर. जी.: "द प्रिन्सिपल्स ऑफ आर्ट, आक्सफर्ड, क्लेरेन्डन प्रेस, पुनर्मुद्रण 1963. 5.69. वही, अध्याय 8 5.70. वही, अध्याय 2.5.71. वही, अध्याय 3.

5.72. वही, अध्याय 4 और 5. 5.73. वही, अध्याय 6 एवं 7.

5.74. वही. पृ. 164. 5.75. वही, पृ. 197-198. 5.76, वही, पृ. 203 5.77. वही, पृ. 206. 5.78. वही, पृ. 209. 5.79. वही, पृ. 209

5.80. वही, पृ. 215. 5.81. वही, पृ. 217. 5.82. वही, पृ. 206-207.

5.83. वही, पृ. 238. 5.84. वही, पृ. 231-232. 5.85. वही, पृ. 232.

5.86 वही, पृ. 234-235. 5.87वही, पृ 235 5.88 वही पृ. 246

5.89. "...Scientific discourse in so far as it is scientific tries to rid itself of its own function as disourse or language, emotional expressiveness; but if it succeeded in this attempt it would no longer be discourse. From the point of view of language, therefore, the distinction Dr. Richards has drawn... is not a distinction separating scientific discourse from artistic; it is a distinction within artistic discourse between artistic discourse as such and artistic discourse subserving the purposes of intellect." (Ibid, p. 263.)

5.90. वही, पृ. 267. 5.9191. बोसँकि, बी.: "ए हिस्टरी ऑफ एस्थेटिक", पृ. 3 5.92. बोसँकि: "थ्री लेक्चर्स...", पृ. 106-107. 5.93. मेरिटेन ने अपने "आर्ट ऐंड स्कोलास्टिसिज्म" (अनु. स्कैशींड्न, जे. एफ, लंदन, सीन्ला ऐंड वार्ड, 1943) ग्रंथ में सेंट टामस के सिद्धांत की विस्तृत चर्चा की है। जिज्ञासु उसे देखें। 5.94. इस में वर्णनात्मक अतिभौतिकीय (डिस्क्रिप्टिव मेटेफिजिकल) सिद्धांतों का समावेश नहीं है। 5.95. डन, जान: "द फ्ली"।

अध्याय: 6

6.1 इसके लिए डॉ. डे जैसे विद्वानों ने संस्कृत काव्य-शास्त्रकारों को दोष दिया है। देखिए: डे. एस. के.: "संस्कृत पोएटिक्स ऐज अ स्टडी ऑफ एस्थेटिक" बर्कली ऐंड लास. ऐंजेलिस, युनिवर्सिटी ऑफ कालिफोर्निया प्रेस, 1963. पृ. 72. 6.2 श्री. के. क्षीरसागर द्वारा "स्वप्न-भूमि" (कानेटकर शं. के.: पुणे, वीनस प्रकाशन, 1965) पुस्तक के लिए लिखा "प्रास्ताविक", पृ. 7 इसी संदर्भ में देखिए: हड्सन, डब्ल्यू. एच.: "ऐन इंट्रोड्क्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर, पृ. 17, 19, 20, 23, 27. मर्ढेकर द्वारा "वाङ्.मयीन महात्मता" में प्रस्तुत आत्मनिष्ठा संबंधी विचार भी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। 6.3 पाध्ये, प्रभाकर: "कलेची क्षितिजे," कोल्हापुर, स्कूल ऐंड कॉलेज बुक स्टॉल, 1942, पृ. 2.2. 6.4 कुलकर्णी कृ. पां.: "भाषेची शुद्धि आणि विकास", निरंतर, गं. भा. व देव, दि. वि. (संपा.): "शारदाविहार", पुणे, 1940, पृ. 100-101. 6.5. कम-से-कम साक्रेटिस का यह अनुभव था:

"After the politicians, I went to the poets– tragic, dithyrabic, and

all sorts. And there, I said to myself, you will be instantly detected; now you will find out that you are more ignorant than they are. Accordingly I took them some of the most elaborate passages in their own writings, and asked what was the meaning of them,- thinking that they would teach me something. Will you believe me? I am almost ashamed to confess the truth, but I must say that there is hardly a person present who would not have talked better about their poetry than they did themselves. Then I knew that not by wisdom do poets write poetry, but by a sort of genius and inspiration; they are like diviners or soothsayers who also say many things, but do not understand the meaning of them." (Plato: Apology included in dialogues of Plato, vol. I, tr. Jowett, New York, Random House, P. 405.)

6.6. वर्डस्वर्थ, विल्यम: "प्रिफेस टु द एड्शिन ऑफ लिरिकल बैलड्स", जोन्स, एड्मंड डी. (संपा.): "इंग्लिश क्रिटीकल एसेज, नाइंटीन्थ सेंचरी", पृ. 14 और 21.

6.7. डार्विन का कहना यह है:

"... a strong case can be made out that the vocal organs were primarily used and perfected in relation to the propagation of the species."

(डार्विन के "द डिसेंट ऑफ मेन", खण्ड-2, पृ. 230, पर मुद्रित यह उद्घरण हर्बर्ट स्पेन्सर के "लिटररी स्टाइल ऐंड म्युजिक", थिंकर्स लायब्ररी 1950 में पृ. 78 पर दिया हुआ है।) 6.8. स्पेन्सर: वही, पृ. 81. 6.9. वही, पृ. 82-88. 6.10. उपर्युक्त विवेचन में कृ. पां. कुलकर्णी के सिद्धांत का उत्तर मिलता है। मानवीय भाषा का उद्गम केवल प्रेमभावना से हुआ यह जँचता नहीं है। एयर कहता है कि मानवी जीवन अनेकविध भावनाओं-प्रेरणाओं का भाषा की उत्पत्ति के साथ संबंध होगा। तुलना में स्पेन्सर का सिद्धांत अधिक समावेशक एवं अधिक स्वीकार्य लगता है।

6.11. वही, पृ. 47. 6.12. वही, पृ. 49. 6.13 वही, पृ. 51-58

6.14. वही, पृ. 56. 6.15. वही. पृ. 57. 6.16. "The foregoing facts sufficiently prove that what we regard as the distinctive traits of song are simply the traits of emotional speech intensified and systematised." (Ibid, p. 60)

6.17. वही, पृ. 61-66. 6.18. वही, पृ. 67. 6.19. स्पेन्सर का कहना है:

"Using the word cadence in an unusally extended sense, as comprehending all variations of voice. we may say that cadence is the commentary of the emotions upon the propositions of the intellect." (Ibid, p. 70.)

6.20. वही, पृ. 71-73. 6.21. वही, पृ. 74. संगीतादि कलाओं द्वारा अप्रत्यक्षत:

लौकिक जीवन का संवर्द्धन होता है। इसपर स्पेन्सर का आक्षेप है यह ध्यान में रखना चाहिए। उत्पत्ति-सिद्धांत लौकिकता की ओर झुकते हैं, यह जो ऊपर कहा है, उसके लिए प्रमाण डार्विन और स्पेन्सर में प्राप्त होते हैं।

6.22. सोलहवीं शताब्दी में सर फिलिप सिड़नी की राय में शिक्षण एवं आनंद काव्य के उद्देश्य हैं। वह कहता है कि शिक्षक के रूप में कवि का कार्य इतिहासकार एवं दार्शनिक के कार्य से अधिक प्रभावपूर्ण है। उसने ईसप की नीतिकथाओं एवं बाइबल की बोधपरक कथाओं का जो उल्लेख किया है, उससे उसका मत यह दीखता है कि काव्य का कार्य भी प्रत्यक्ष नीति शिक्षा का होता है। शेली ने भी काव्य की नैतिकता पर बल दिया है। उसका अभिमत है कि लेकिन कवि यह कार्य कल्पना शक्ति को बलवान करके एवं सहानुभूति की कक्षाओं को विस्तृत करके अप्रत्यक्षत: करता है। सिड़नी एवं शेली के विचारों की चर्चा आगे आठवें अध्याय में आएगी। वर्डस्वर्थ के अभिव्यंजना सिद्धांत में निवेदन (communication) का अंतर्भाव है। वह कहता है:

" But poets do not write for poets alone, but for men... the poet must descend from this supposed height, and in order to excite rational sympathy, he must express himself as other men express themselves." Wordsworth,W.: "A preface to Lyrical Ballads, " in Jones, Edmund D. (Ed.) : English Critical Essays, Nineteenth Century, P.22)

लेकिन मिल कि अभिव्यंजना के सिध्दांत में से निवेदन का उच्चाटन किया गया है। वह कहता है:

"Poetry and eloquence are both alike the expression or utterance of feeling. But if we may be excused the antithesis, we should say that eloquence is heard, poetry is overheard. Eloquence supposes an audience, the peculiarity of poetry appears to us to lie in the poet's utter unconsciousness of a listener.... All poetry is of the nature of soliloquy... But when he turns round and addresses himself to another person,when the act of utterance is not itself expressed, to work upon the feelings, or upon the belief, or the will of another, when the expression of his emotions is tinged also by that purpose, by that desire of making an impression upon another mind then it ceases to be poetry and becomes eloquence." (Mill, J.S. : Thoughts on Poetry and its Varieties", in Jones, Edmund D. (Ed.) : English Critical Essays, Nineteenth Century, Pp. 406-407.)

6.23. " The activites we call play are united with the aesthetic activities, by the trait that neither subserve, in any direct way, the processes conductive to life."(Spencer, Herbert: The Principles of

Psychology, vol.II, London, Williams and Norgate, 1881, Ch. IX, P. 627)

"It is, indeed, true that activities of these orders may bring the ulterior benefits of increased power in the faculties exercised; and that thus the life as a whole may be afterwards furthered. But this effect is one that pairs off with the like effect produced by the primory actions of the faculties, leaving the difference where it was...

"Inferior kinds of animals have in common the trait, that all their forces are expended in fulfilling functions essential to the maintenance of life... But as we ascend to animals of higher types, having faculties more efficient and more numerous, we begin to find that time and strength are not wholly absorbed in providing for immediate needs. Better nutrition, gained by superiority, occasionally yield a surplus of vigour. The appetites being satisfied, there is no craving which directs the overflowing energies to the pursuit of more prey or to the satisfaction of some pressing want." (Ibid, pp. 628-29)

"Every one of the mental powers, then, being subject to this law, that its organ when dormant for an interval longer than ordinary becomes unusually ready to act— unusually ready to have its correlative feelings aroused, giving an unusual readiness to enter upon all the correlative activities. It happens that a simulation of those activities is easily fallen into, when circumstances offer it in place of the real activities. Hence play of all kinds - hence this tendency to superflous and useless exercise of faculties that have been quiescent." (Ibid, pp. 629-30)

"The higher but less esential powers, as well as the lower but more essential powers, thus come to have activities that are carried on for the sake of the immediate gratifications derived, without reference to ulterior benefits. and to such higher powers, aesthetic products yield these substituted activities, as games yield them to various lower powers." (Ibid, P. 632.)

"The aesthetic feelings and sentiments are not, as our words and phrases lead us to suppose, feelings and sentiments that essentially differ in origin or nature from the rest. They are nothing else than particular modes of excitement of the faculties, sensational, perceptional, and emotional faculties which, otherwise excited, produce those other modes of consciousness constituting our ordinary impressions, ideas, and the only differences is in the

attitude of consciousness towards its resulting states.

"Throughout the whole range of sensations, perceptions and emotions which we do not class as aesthetic, the states of consciousness serve simply as aids and stimuli to guidance and action. They are transitory, or if they persist in consciousness some time, they do not monopolize the attention: that which monopolizes the attention is som thing ulterior, to the effecting of which they are instrumental. but in the states of mind we class as aesthetic, perceptions and emotions. These are no longer links in the chain of states which prompt and guide conduct. Instead of being allowed to disappear with merely passing recognitions they are kept in consciousness and dwelt upon; their nature being such that their continued presnece in consciousness is agreeable.

" Before this action of the faculties can arise, it is necessary that the needs to be satisfied through the agency of the sensational, perceptional, and emotional excitements shall not be urgent...." (Ibid, p. 647.)

" A final remark worth making is, that the aesthetic activities in general may be expected to play an increasing part in human life as evolution from superiority of organization, will have in the future effects like those it has had in the past.... A growing surplus of energy will bring a growing proportion of the aesthetic activities and gratifications; and while the forms of art will be such as yield pleasurable exercise to the simpler faculties. they will in a greater degree than now appeal to the higher emotions." (Ibid, P. 648)

स्पेन्सर का विवेचन इतने विस्तार से उद्धृत करने का कारण यह है कि उनकी पुस्तक अतिशय दुर्लभ हो गयी है।

6.24. कांट, इ. : "क्रिटीक ऑफ जजमेंट", सेक्सन 43.

6.25 शिलर, लैंग और ग्रूस के लेखन के चुने हुए उध्दरण "अ मॉड्रन बुक ऑफ इस्थटिक्स", राड़र मेल्विन, हेनरी होल्ट ऐंड कं. 1935 पुस्तक में अंतर्भूत किए गए है।

6.26 ...... the dialectic is said to operate by three laws, or have three characteristics.

"The first is the transformation of quantity into quality, or the gradual accumulation of small changes leading in time to a qualitative change or a new unity. In common language this would be differences of degree becoming so great that they amount to a difference in kind or quality.

"The second is the unity of opposites, sometines referred to as

the interpenetration or identity of oposities. When regarded in this way the dialectics is, Lenin said, 'the study of the contradictions within the very essence of things.' Contradictions (differences) appear which negate the thesis, or struggle to break the original unity; these accumulate to become the antithesis, and so we have the unity of opposites.

"They continue to accumulate, the negation of the thesis in time becomes intolerable, and we reach the synthesis— which is the third law, or " 'negation of the negation' At this last stages a transmition or a leap to a new equilibrium has been attained. The transition is always sudden and so the leap may be described as revolutionary." (Mayo, Henry B: Introduction to Marxist theory, New York, Oxford University press, 1960. pp. 41-42) उसी तरह देखिए– Engels, F. : Anti-Duhring, Moscow, Foreign Languages Publishing House, 1947, pp. 38, 177-212

6.27. साम्यवादी समाज-व्यवस्था छोड़ दें तो अन्य सभी समाज-व्यवस्थाओं की अच्छाई ऐतिहासिक संदर्भों पर निर्भर रहती है। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी समाज-रचना एक समय प्रगतिशील शक्ति थी। सामन्तवादी गिरफ्त से पूँजीवाद ने ही मानव को मुक्त किया। लेकिन आज पूँजीवाद एक प्रतिरोधी शक्ति बन गया है।

6.28 " The philosophers have interpreted the world in various ways: the point, however, is to change it." Marx, Karl: Theses on Feurbach in Marx, K. and Engels, F : Selected works, Vol. I, Moscow, Progress Publishers, 1969, P. 15)

6.29." Consequently the *enjoyment* of a work of art is enjoyment of the depiction (of an object, phenomenon or state of mind) advantegeous to the kind, *independently* of any conscious consideration whatsoever of such advantage.

"A work of art executed in images or sounds acts upon our *contemplative faculty* and not upon our *logical faculty*; and it is for this reason that there is no aesthetic enjoyment where a work of art arouses in us only consideration of social good: in such an instance there is only a substitute for aesthetic enjoyment, the pleasure afforded us by such a consideration..... It is to this latter faculty [The comtemplative faculty] that the true artist always turns, whereas tendentious work always seeks to evoke in us considerations of common good, in other words it acts in the last analysis, upon our logical faculty." (Plekhanov, G.V.: Art and Social Life, London, Lawrence and Wishart, 1953, pp. 109-10)

चतुष्कोणीय कोष्ठक के शब्द मूल में नहीं हैं।

6.30 " Literature must become part of the common cause of the proletariat, 'a cog and screw' of one single great Social-Democratic mechanism set in motion by the entire politically-conscious vanguard of the entire working class. Literature must become a component of organised, planned, and integrated Social-Democratic Party Work." (Lenin on Literature and Art, Moscow, Progress Publishers, 1967, p.23.)

कुछ मार्क्सवादी समीक्षक मानते हैं कि लेनिन ने यह कलात्मक वाङ्मय के बारे में नहीं कहा है। उदा. देखिए:–

" Thus, two years ago the Soviet magzine Drushba Narodov (1960, No. 4) published a hitherto unknown letter of Krupskaya's in which she declares that Lenin's famous 1905 essay *Party Organisation and Party Literature* was not concerned with literature as fine art - a view I have long held. The importance of this statement is considerable, for this essay was the bible of sectarianism in the arts during the ideological dictatorship of Stalin and Zhdanov." (Lukacs, Georg : The Meaning of Contemporary Realism, tr. John and Necke Mander, London, Merlin press, 1962 pp 7.8.

6.31. सार्त्र, ज्या–पाल : "वॉट इज लिटरेचर?" अनुवाद फेइटमान, बर्नर्ड, लंदन, मिथुअन, 1950, पृ. 140–42.

6.32 "Does not such a policy mean, however, that the party is going to have an unprotected flank on the side of art? This is a great exaggeration. The party will repel the clearly poisonous, disintegrating tendencies of art and will guide itself by its political standards. it is true, however, that it is less protected on the flank of art than on the political front But is this not true of science also? What are the metaphysicians of purely proletarian science going to say about the theory of relativity? Can it be reconciled with materialism, or can it not? Has this question been decided? Where and when and by whom? It is clear to anyone even to the unitiated, that the work of our physiologist, Pavlov, is entirely along materialist lines. But what is one to say about the psychoanalytic therory of Freud? Can it be reconciled with materialism, as, for instance, Karl Radek thinks (and I also). or is it hostile to it? The same quesion can be put to all the new theories of atomic structure, etc., etc." (Trotsky, Leon : Literature and Revolution, tr. Rose Strunsky, New York, International Publishers, 1925, pp. 219-20.)

6.33 काड़वेल क्रिस्टोफर : इल्युजन ऐंड रियलिटी" , दिल्ली, पीपल्स पब्लिशिंग

हाऊस, पुनर्मुद्रण 1956, अध्याय 9 एवं 10.

6.34 "Freud is certain to be remembered and honoured as one of the pioneers of scientific psychology. But it is probable that like Kepler he will be regarded as a scientist who discovered important empirical facts but was unable to synthesise these discoveries except in a semi–magical framework." (Caudwell, Chirstopher: Studies in a Dying Culture, London, The Bodley Head, repr. 1957, p. 158 and also see p. 183)

6.35. वही, "शॉ" पर अध्याय. 6.36. ल्यूकाक्स, जार्ज उ. नि. पु. पृ. 16 और 59. 6.37. मेयो हेन्री बी.: उ. नि. पु. पृ. 64-65. 6.38. देखिए: एंगल्स, एफ.: "द ओरिजिन ऑफ द फैमिली, प्रायवेट प्रॉपर्टी, ऐंड द स्टेट", लंदन, लारेन्स ऐंड विशार्ट, 1940. पृ. 68-69. 6.39. ल्युइस, सी. एस.: "अ प्रिफेस टु पेराड़ाइज लास्ट", लंदन, ओ. यु. पी. 1942 पृ. 72.

6.40. काड्वेल, क्रिस्टोफर: "रोमान्स ऐंड रिअलिजम - अ स्टड़ी इन इंग्लिश बूर्ज्वा लिटरेचर", (संपा.) हाइन्स, सैम्युअल: प्रिन्स्टन न्यू जर्सी, प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971, पृ. 40-41. 6.41. वही, पृ. 61-63. 6.42. इस संबंध में एंगल्स लिखता है:

"Political, judidical, philosophical, religious, literary artistic etc. development is based on economic development. But all these react upon one another and also upon the economic base. It is not that the economic position is the cause and alone active, while everything else only has a passive effect. There is, rather, interaction on the basic of the economic necessity, which ultimately always asserts itself.

"The further the particular sphere which we are investigating is removed from the economic sphere and approaches that of pure abstract ideology, the more shall we find it exhibiting accidents in its development, the more will its curve run in a zig–zig. But if you plot the average axis of the curve, you will find that the axis of this curve will approach more and more nearly parallel to the axis of the curve of economic development the longer the period considered and the wider the field dealt with." (Marx and Engels: Literature and Art, Selections from their Writings, Bombay, Current Book House, 1952, p. 8)

मार्क्सवादियों का विश्वास कि हर समाज की मूल नींव आर्थिक जीवन में होती है और यह नींव बदलने पर समाज अपने आप बदलेगा। लेकिन चीन में सांस्कृतिक क्रांति के अवसर पर चीनी मार्क्सवादियों ने इस विश्वास को त्याग दिया और वे यह मानने लगे कि समाज-रचना बदलने के लिए अलग-अलग प्रयास करने पड़ते हैं। एक

अर्थ में यह एक मूल मार्क्सवाद में घटित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है. देखिए: राबिन्सन, जोन: "कल्चरल रेवोल्यूशन इन चायना", पेलिकन, पुनर्मुद्रण 1972. 6.43. सार्त्र, ज्याँ - पाल: "द प्रॉब्लेम ऑफ मेथड़", (अनु.) बार्नेस, हेजल इ. लंदन, मिथुअन, 1963. 6.44 मार्क्स को शायद मान्य है कि व्यक्ति को बौद्धिक चुनाव का स्वातंत्र्य मिलना चाहिए। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो का नीचे उद्धृत अवतरण देखिए:

"Just as, therefore, at an earlier period, a section of the nobility went over to the bourgeoisic, so now a portion of the bourgeoisic goes over to the proletariat, and in particular, a portion of the bourgeois ideologists who have raised themselves to the level of comprehending theoretically the historical movement as a whole." (Marx and Engels: Manifesto of the Communist Party, Moscow, Foreign Languages Publishing House, 1948 p. 55.)

"That Balzac was thus compelled to go against his own class sympathies and political prejudices, that he saw the necessity of the downfall of his favourite nobles and described them as people deserving no better fate; that he saw the real men of the furture where, for the time being, they alone were to be found–that I consider one of the greatest triumphs of realism and one of the greatest features in old Balzac." (Engels, in Marx and Engels. Literature and Art, p. 38.)

ऐसा नहीं कि वर्ग के बंधनों कारण मनुष्य के सत्यानुसंधान में अड़चनें आती ही हैं। अपने विचार स्वातंत्र्य के कारण ही बाल्जाक अपने वर्ग की सीमाएँ लाँघ सका।

6.45. "Men make their history themselves, but not as yet with a collective will or according to a collective plan, or even in in a definitely defined given society. Their efforts clash, and for that very reason all such societies are governed by necessity which is supplemented by and appears under the forms of accident. The necessity which here assert itself amidst all accident is again ultimatley economic necessity. This is where the so–called great men come in for treatement. That such and such a man and precisely that man arises at that particular time in that given country is of course pure accident. But cut him out and there will be a demand for a substitute, and this substitute will be found... That Napoleon, just that particular Corsican, should have been the military dictator whom the French Republic. exhausted by its own war, had rendered necessary was an accident; but that if a Napoleon had been lacking, another would have filled the place, is proved by the fact that the man has always been found as soon

as he became necessary: Caesar, Augustus, Cromwell, etc. While Marx discovered the materialist conception of history Thierry, Mignet, Guizot, and all the English historians up to 1850 are the proof that it was being striven for and the discovery of the same conception by Morgan proves that the time was ripe for it and that indeed it had to be discovered." (Engels, in Marx and Engals: Literature and Art, pp. 9–10. Also see Sartre, Jean–Paul: What is Literature?, p. 160.)

6.46. इसी संदर्भ में बेकन के विचार उसके "ऐडवांस्मेंट ऑफ लॉजिक", में आए हैं। देखिए: जोन्स, एड्मंड डी. (संपा.): इंग्लिश क्रिटिकल एसेज, सिक्स्टीन्थ... सेंचरीज", ओ. यु. पी., पृ. 89-90. 6.47. वालेस, ग्राहम: द आर्ट ऑफ थाट", लंदन, जोनाथन केप, 1926 अध्याय 4. 6.48. साहचर्य नियमों की चर्चा के लिए देखिए: कोलरिज, एस. टी.: "बायाग्राफिया लिटरारिया", एवरीमन्स लायब्रेरी, अध्याय 5-6. अरस्तू के नियमों के लिए देखिए: वही, पृ. 50. 6.49. स्पिअरमन, सी. "द क्रिएटिव माईंड", लंदन, निस्बेट ऐंड कं. 1930, पृ. 15. 6.50. वही, पृ. 18

6.51. "When any item and a relation to it are present to mind, then the mind can generate in itself another item so related." (Ibid, p. 23)

6.32. वही, पृ. 26. 6.53. वही, पृ. 95. 6.54. वही, पृ. 97. 6.55. म्यूलर, राबर्ट इ.: "इन्वेन्टिव मैन," न्यूयार्क, लेंसर बुक्स, 1964 पृ. 58

6.56 "...the beautiful is the object (and perhaps... the satisfaction) of the constructive impulse when that impulse has become contemplative instead of practical."

(Alexander, Samuel: Beauty and Other Forms of Value, London, Macmillan, 1933. p. 22.)

6.57. वही, पृ. 18-20.

अध्याय: 7

7.1 देखिए: अध्याय 6 टिप्पणी 5. 7.2. "शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।" – मम्मट: "काव्यप्रकाश", उल्लास प्रथम, 7.3. सिडनी, सर, फिलीप: "ऐन अपालजी फार पोएट्री", जोन्स, एड्मंड डी. (संपा.): इंग्लिश क्रिटिकल एसेज, सिकस्टिन्थ सेवंटीन्थ, एटीन्थ सेंचरीज, पृ. 43 और बेन जान्सन-कृत "टु द मेमरी ऑफ माइ बिलवेड़ मास्टर विल्यम शेक्स्पीअर", जोन्स (संपा.): उ. नि. पु. पृ. 99.

7.4 फ्रायड सिग्मंड: न्यू इंट्रोड्क्टरी लेक्चर्स आन सायकोएनैलिसिस", (अनु.)

स्प्राट, लंदन, होगार्थ प्रेस, तीसरी आवृत्ति, 1946. पृ. 95-96.

7.5 वही, पृ. 85. उसी तरह अत्यंह की विशद चर्चा के लिए देखिए: फ्ल्युगेल, जे. सी.: मेन, मारब्स ऐंड सोसायटी", पेंग्विन बुक्स में पुनर्मुद्रित 1955, 7.6. फ्रायड: उ. नि. पु. पृ. 98-100. 7.7. वही, पृ. 100 7.8. फ्रायड़ ने लिबिड़ो की परिभाषा इस प्रकार दी है:

"...the energy of those instincts which have to do with all that may be comprised under the word 'love' (Quoted in H-Chrichton-Miller: Psychoanalysis and Its Derivatives, London, Home University Library, Second Ed. 1945 p. 32.)

"In psychoanalysis libidio signifies that quantitatively changeable and not at present measurable energy of the sexual insticnt which is usually directed to an outside object. It comprises all those impulses which deal with love in the broad sense. Its main component is sexual love; love for parents and childern. friendship, attachment to concrete objects, and even devotion to abstract ideas." (Still, A. A.: Introduction "to The Basic Writings of Sigmund Freud", Modern Library 'Giant', p. 16.)

7.9. फ्रायड़: उ. नि. पु. पृ. 128. 7.10. मनोग्रंथि अधिकांश में अचेतन मन में पड़ी हुई उलझन होती है। वह अचेतन मन में होने के कारण उसका हमें सहज बोध नहीं होता। इसलिए कि हमें यह मालूम नहीं होता, कॉम्प्लेक्स शब्द हम ढीलेपन से इस्तेमाल करते हैं। किसी मनुष्य को गर्व हो गया हो, तो हम कहते हैं कि इसे सुपिरिआरिटी कॉम्प्लेक्स है। कॉम्प्लेक्स शब्द का यह उपयोग उचित नही: "ए डिक्शनरी ऑफ साइकोलोजी" (संपा.) ड्रेवर, जेम्स पेंग्विन बुक्स (1952) में कॉम्प्लेक्स इडियस कॉम्प्लेक्स, इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स के बारे में निम्नलिखित जानकारी दी है:

"Complex: An idea or associated group of ideas, partly or wholly repressed, strongly tinged with emotion, and in conflict with other ideas or groups of ideas more or less accepted by the individual." (p. 45.)

"Edipus (Oedipus) Complex: In psychoanalytical theory, the complex, largely unconscious, developed in a son from attachment (sexual in character, according to analysts) to the mother and jealousy of the father, with the resulting feeling of *guilt* and emotional conflict on the part of the son, held to be normal in some form or other in any family circle." (p. 77.)

"Electra Complex: Attachment of daughter to father, with antagonism towards mother, and more or less counterpart of the Edipus complex with the son." (p. 79.)

7.11. "फ्रायड़, सिग्मंड: "कलेक्टेड़ पेपर्स", खंड 4, लंदन, होगार्थ प्रेस, 1925 पृ. 173-83. 7.12. उपर्युक्त नांदी को फोर प्लेजर कहते हैं। उसके लिए "पूर्वक्रीड़ासुख" प्रतिशब्द बाद में प्रयुक्त किया गया है।

7.13. "The first achivement of the dream–work is CONDENSATION; by this term we mean to convey the fact that the content of the manifest dream is less rich than that of the latent thoughts, is, as it were, a kind of abbreviated translation of the latter.... Condensation is accamplished in the following ways: (1) certain latent elements are altogether omitted; (2) of many complexes in the latent dream only aragment passes over into the manifest content; (3) latent elements sharing some common characteristic are in the manifest dream put together, blended into a single whole." (Freud, Sigmund: A General Intrduction to Psycho–analysis, tr. Joan Riviere, New York, Perma Books, repr. 1956, p. 179.)

7.14 उदाहरणार्थ, कामन्स सभा के एक सदस्य को सेंट्रल हॉल (Central Hall) के सदस्य के बारे में बोलना था। प्रत्यक्ष में वह बोला, "द आनरेबल मेंबर फॉर सेंट्रल हेल", (वही, पृ. 37). इस भाषण संबंधी प्रमाद के लिए फ्रायड़ द्वारा किए गए विश्लेषण के लिए देखिए: वही, पृ. 47. फ्रायड़ कहता है कि बोलने की गलतियाँ संक्षेप-प्रक्रिया के कारण होती हैं। यह कहते हुए "मर्चंट ऑफ वेनिस" में पोर्शिया के निम्नलिखित भाषण का फ्रायड़ ने उल्लेख किया है:

One half of me is yours, the other half yours –
Mine own, I would say, but if mine then yours
And so all yours.

7.15 प्रेस्काट, एफ्. सी.: "द पोएटिक माईंड" न्यूयार्क मैकमिलन, 1922, पृ. 175.

7.16 "Displacement takes two forms: first, a latent element may be replaced, not by a part of itself, but by something more remote, something of the nature of an allusion, and, secondly, the accent may be transferred from an important element to another which is unimportant, so that the centre of the dream is shifted as it were, giving the dream a foreign appearance." (Freud, S: A General Introduction to Psychoanalysis, p. 182.)

प्रेस्काट ने स्थानांतरण के उदाहरण के रूप में "एपिसल टु आर्बथनॉट" में से निम्नलिखित पंक्तियाँ दी हैं:

The tale revived, the lie so oft o'erthrown,
The imputed trash, and dullness not his own,
The morals blacken'd when the writings 'scape,

The libelled person and the pictured shape.

"Rankling in pope's mind as he wrote the last lines was probably the frontispiece of 'Pope Alxander's' *Supremacy and Infallibility* Examined, which showed the poet in the likeness of an ape. What he ostensibly objected to was being pictured: What he really objected to was being pictured like an ape. The real meaning lurks and betrays itself in the choice of words and rhyme *(scape–shape)*. Pope either wittily indicates the caricature he has in mind, or he unconsciously betrays the feeling of pique he professes he is supperior to. In either case there is a curious condensation and displacement."

(Prescott: op. cit. p. 185.)

7.17 'द बेसिक रायटिंग आफ सिग्मंड फ्रायड़', माडर्न लायब्ररी 1938 पृ. 338.

7.18. फ्रायड़, सिग्मंड: अ जनरल इंट्रोडक्शन टू सायको-अनालिसिस पृ. 190.

7.19. "The era to which the dream–work takes us back is 'primitive' in a two-fold sense: in the first place, it means the early days of the individual–his childhood and, secondly, in so far as each individual repeats in some abbreviated fashion during child-hood the whole course of the development of the human race, the reference is phyogenetic." (Ibid, p. 209.)

7.20. "The child may be said then to be polymorphously perverse." (Ibid, p. 219)

7.21. वही, पृ. 222.

7.22. वही, पृ. 235-38. फ्रायड़ ने निम्नलिखित स्वप्न का जो विश्लेषण किया है उससे इच्छा–तृप्ति का मुद्दा स्पष्ट होगा:

"The young woman who had already been married a number ot years dream as follows: She was at the theatre with her husband, and one side of the stall was quite empty, Her husband told her that Elise L. and her fiance also wanted to come, but could only get bad seats, three for a florin and a half, and of course they could not take those. She replied that in her opinion they did not lose much by that." (Ibid, p. 128)

स्वप्न देखने के पहले इस स्त्री को उसके पति ने बताया था कि एलिज का वाङ्‌मय निश्चय हुआ था। उसी तरह पहले ही हफ्ते में खूब जल्दी टिकट रिज़र्व करवाकर वह नाट्यमंदिर में गयी थी और उसने आधी जगहें खाली देखी थीं। टिकट रिज़र्व कराने की जल्दबाजी के लिए उसके पति ने उसे चिढ़ाया भी था। डेढ़ फ्लोरेन का संबंध उसकी भाभी ने पति से मिले हुए 150 फ्लोरेन जल्दबाजी में गहने खरीदकर कैसे उड़ाए इससे है। तीन आँकड़े का महत्त्व यह है कि एलिस उससे तीन महीनों से छोटी

थी। लेकिन उसकी शादी के दस वर्षो के बाद एलिस का विवाह होनेवाला था। उपर्युक्त स्वप्न की ओट में यह विचार छिपा हुआ सहज ही में ध्यान में आता है कि "मैंने विवाह में व्यर्थ ही जल्दबाजी से काम लिया, देर से विवाह किया होता तो भी अच्छा – असल में अधिक अच्छा पति मिल जाता", ये सारे विचार पश्चात्ताप एवं जरा दु:खद ही हैं। अगर हर स्वप्न इच्छातृप्ति का होगा तो इस स्वप्न में कौन-सी इच्छा तृप्त हुई– इसपर फ्रायड़ का कहना है यहाँ नाटक देखने की इच्छा पूर्ण हुई है। "देखने की इच्छा" तृप्त होना लैंगिक इच्छा का तृप्त होना होता हैं। यह इच्छा तृप्त हो इसीलिए ही यह स्वप्न उत्पन्न हुआ। नाटक देखने के लिए जाना याने विवाह करना, यह अर्थ यहाँ निष्पन्न होता है। जल्दी विवाह करने के कारण इस स्त्री को यद्यपि आज कुछ पश्चात्तांप हो रहा है, फिर भी विवाह के समय उसे निश्चय ही आनंद हुआ होगा। क्योंकि लैंगिक कौतुहल और विवाह करने की इच्छा की तृप्ति उपर्युक्त स्वप्न के कारण हुई। (तफसील से चर्चा देखिए: फ्रायड़: "जनरल इंट्रोड़क्शन...." पृ. 231-232 7.23 हेम्लेट के मन की भावनात्मक उलझन के विश्लेषण के लिए देखिए: जोन्स अर्नेस्ट: "हैम्लेट ऐंड़ ईड़ियस", लंदन, विक्टर, गलैंट, 1949, पृ. 88, 99, 122. 7.24. देखिए: लेसर, सायमन ओ.: "फिक्शन अेंड दी अनकान्शस," लंदन, पीटर ओवेन, 1960, पृ. 286-87. 7.25. वही, पृ. 161. 7.26. इस संदर्भ में इ. एँच्. गॉम्ब्रिच का "साइकोअनालिसिस ऐंड दि हिस्टरी ऑफ आर्ट" ('फ्रायड़ ऐंड द ट्वेंटिएथ सेंचरी', संपा. नेल्सन, बेंजामिन, न्यूयार्क, मेरिड़ियन बुक्स, 1958 और "फ्रायड्स एस्थेटिक्स") "एन्कौटर", जनवरी, 1966 शीर्षक निबंध महत्त्वपूर्ण हैं।

7.27. इस संबंध में बोड़ाइन लिखता है:

"We must apply to aesthetical psychology the methods which James and Flournoy applied to religious psychology: that is, we must clearly differentiate between an 'existential judgement' and a 'proposition of value' or 'spititual judgment.' In the present instance the 'judgment of value' is the prerogative of criticism. Psychology will do to keep to the 'judgment of fact', and to the 'biological interpretation' of the phenomena of art." (Baudouin, Charles: Psycho–analysis and Aesthetics, London, George Allen and Unwin 1924, p. 209)

7.28 फ्रायड़, सिग्मंड: 'लिओनार्दो द विंची', (अनु.) ब्रिल, ए. ए., लंदन, केगन पाल, ट्रेंच, ट्रबनर ऐंड कं. 1932. 7.29. वही, पृ. 19-20.

7.30. वही पृ. 32.

7.31. "It seems that it had been destined before that I should occupy myself so thoroughly with the vulture, for it comes to my mind as a very early memory, when I was still in the cradle, a vulture

came down to me, he opened my mouth with his tail and struck a few times with his tail against my lips." (Ibid, p. 34.)

7.32. वही, पृ. 35. 7.33. वही, पृ. 39, 7.34. वही, पृ. 41. 7.35. वही, पृ. 78. 7.36. वही, पृ. 91-93. 7.37. वही, पृ. 94. 7.38. वही, पृ. 121-122. 7.39. वही पृ. 123-124. 7.40 वही, पृ. 127-128.

7.41. "The imagination then I consider either as primary or secondary. The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perception, and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I AM. The secondary imagination I consider as an echo of the former, coexisting with the conscious will, yet still as identical with the primary in the *kind* of its agency and differing only in *degree*, and in the *mode* of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to recreate: or where this process is rendered impossible, yet still at all events it struggles to idealize and to unify. It is essentially vital, even as all objects (as objects) are essentially fixed and dead.

"Fancy, on the contrary, has no other counters to play with, but fixities and definites. The fancy is indeed no other than a mode of memory emancipated from the order of time and space; while it is blended with and modified by that empirical phenomenon of the will, which we express by the word choice. But equally with the ordinary memory the fancy must receive all its materials ready made from the law of association." (Coleridge, S. T.: Biographia Literaria, Everyman's Library, repr. 1952, pp. 145–46.)

7.42 वही, पृ. 70. 7.43. कांट इ.: "क्रिटिक ऑफ प्युअर रीज़न", संक्षेप एवं अनुवाद स्मिथ, नार्मन केम्प: माड्र्न लायब्ररी, पृ. 83-84.

7.44 वही, पृ. 109. 7.45. वही, पृ. 110. 7.46. इसी संदर्भ में आइ. ए. रिचर्ड्स की कोलरिज आन इमैजिनिशेन, पुस्तक एवं रस्किन का निबंध "पैथेटिक फैल्सी" पढ़ना उद्बोधक होगा।

7.47. "Milton had a highly *imaginative*, Cowley a very *fanciful* mind. If therefore I should succeed in establishing the actual existence of two faculties generally different, the nomenclature would be at once determined. To the faculty by which I had characterized Milton. We should confine the term "imagination"; while the other would be contradistinguished, that this division is no less grounded in nature than that of *delirium* from *mania*, or Otway's

Lutes, laurels, seas of milk, and ships of amber,
from shakespeare's

What I have his daughters brought him to this pass?

....the theory of fine arts, and of poetry in particular, could not but derive some additional and important light." (Coleridge: op, cit., p. 43)

48. मेकेन्टायर, ए. सी.: "दि अनकान्शस - अ कान्सेप्टच्युअल अनालिसिस", रटलेज ऐंड केगन पाल, 1958 पृ. 47-48.

49. यही बात विटगिस्टाइन ने जरा अलग ढंग से बतायी है:

"There is a kind of general disease of thinking which always looks for (and finds) what would be called a mental state from which all our acts spring as from a reservoir. Thus one says, 'The fashion changes because the taste of people changes'.

The taste is the mental reservoir. But if a tailor today designs a cut of dress different from that which he designed a year age, can't what is called his changes of taste have consisted, partly or wholly, in doing just this?" (Wittgenstein, L:The Blue and Brown Book, New York, Harper, Torchbooks, repr. 1965, p. 143.)

7.50. राइल्स, गिल्बर्ट: "द कान्सेस्ट ऑफ माईंड", पेंग्बिन बुक्स, पुनर्मुद्रण 1963 पृ. 17. 7.51 डे, एस. के.: संस्कृत पोएटिक्स ऐज अ स्टड़ी ऑफ एस्थेटिक्स, पृ. 70-71 एवं 72. 7.52. सदरलंड, जेम्स: "द मीड़ीयम ऑफ पोएट्री"

7.53. रिलियार्ड इ. एस. डब्ल्यू. और ल्युइस, सी. एस.: "द पर्सनल हैरसी - अ कान्ट्रोवर्सी", लंदन, ओ. यु. पी. 1939 पृ. 11-12.

7.54. वही, पृ. 28. 55. वही, पृ. 34-35 एवं 57.

7.56. इस भूमिका के सार के लिए देखिए: विम्सेट, डल्यू के. एवं. वीअर्ड्ले एम. सी.: "दि इन्टेन्शनल फैलसी" विम्सेट, डब्ल्यू. के. "द वर्बल आइकोन", लेक्सिंग्टन, युनिवर्सिटी ऑफ केंटुकी प्रेस, पुनर्मुद्रण, 1967 पृ. 4-5.

अध्याय: 8

8.1. मैं ने "सुख" ओर "आनंद" शब्दों में अंतर नहीं किया क्योंकि इन दोनों शब्दों के शब्द-कोशीय अर्थ समान हैं। देखिए: आपटे, वी. एस. (संपा.) "द स्टुडंट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी", पुनर्मुद्रण 1968.

आनंद: = happiness, joy, delight, pleasure, आनन्दं ब्रह्मणो, विद्वान्न बिभेति कदाचन।

सुख: = happiness, joy, delight, pleasure, comfort यदेवोपनतं दु:खात्सुखं तद्रसवत्तर।

8.2 यहाँ यह अंतर करना जरूरी है: सुंदर आशय एवं उसका सुंदर प्रस्तुतीकरण। किसी उपवन का चित्र दो अर्थो में होता है। एक और दूसरे उसकी रचना में कौशल होता है। उसका आशय सुखद होता है। इस कौशल में सुखदता होती है या नहीं, यह अलग प्रश्न है। यद्यपि यह तय हुआ कि यह कौशल सुखद है तो भी जिस अर्थ में आशय सुखद होता है, उस अर्थ में वह सुखद नही होता:

8.3 "Setting out whith the simplest sensations we shall find that the aesthetic character of a feeling is habitually associated with separateness from life-serving function." (Spencer, H.: The Principles of Psychology, Vol.II, p. 632.) " I do not mean that wherever a faculty of sensation has a sphere of exercise beyond the sphere of useful application, the sensations brought by non-useful exercise will have *necessarily* the aesthetic character.... I mean simply that this separableness from life-serving function, is one of the *conditions* to the acquirement of the aesthetic character." (Ibid, p. 633.) "For as we before saw that the aesthetic excitement is one arising when there is an exercise of certain faculties for its own sake, apart from ulterior benefits; so, in those cases we see that the conception of *beauty* is distinguished from the conception of *good* in this, that it refers not to ends to be achieved but to activites incidental to the pursuit of ends." (Ibid, p 635.) " Throught out the whole range of sensations, perceptions, and emotions which we do not class as aesthetic, the states of consciousness serve simply as aids and stimuli to guidance and action. They are transitory, or if they persist in consciousness some time, they do not monopolize the attention; that which monopolizes the attention is something ulterior, to the effecting of which they are instrumenta1. But in the states of mind we class aesthetic, the opposite attitude is maintained towards the sensations, perceptions and emotions. These are no longer links in the chain of states which prompt and guide conduct. Instead of being allowed to disappear with merely passing recognitions., they are kept in consciousness and dwelt upon, their natures being such that their continued presence in consciousness is agreeable.

"Before this action of the faculties can arise, it is necessary that the needs to be satisfied through the agency of the sensational, perceptional, and emotional excitements shall not be urgent...."

(Ibid , p. 647)

8.4. यह सही है कि सुंदर स्त्री इंद्रिय-सुख का विषय होती है। परंतु उससे सामान्य

अर्थ में इंद्रिय-सुख की अपेक्षा होती है- कि उसके विभ्रम बोलना, चलना भी सुखद अतएव सुंदर होते हैं। कभी उसका चिंतन भी सुखद होता है। मनुष्यों की दैहिक आवश्यकताओं से स्वादमय भोजन तैयार हुआ। उसमें से स्वादिष्ट पदार्थो का निर्माण हुआ, इतना ही नहीं थाली परोसने संबंधी सजावट की कल्पनाएँ भी पैदा हुईं, यह सब रहते हुए भी पेट भरने की इच्छा के विषय के संबंध में प्राकारिक अंतर नहीं हुआ। कामेच्छा के विषय में प्राकारिक बदल घटित होते हैं और उसका परितोष अलग–अलग प्रकार से हो सकता है। लैंगिक सुख याने संभोग का सुख, स्त्री के सान्निध्य का, इतना सीमित अर्थ हम नहीं लेते, उसको लेकर चिंतन का सुख भी हमें अभिप्रेत होता है। अगर स्त्री-सुख प्रत्यक्ष में साध्य होनेवाला न हो तो वह दिवास्वप्न, स्वप्न, इसी के आसपास आनेवाले उपन्यास इत्यादि के माध्यम से कुछ अंशों में प्राप्त किया जा सकता है। भूख लगने पर सचमुच का अन्न आवश्यक होता है, काल्पनिक अन्न से भूख का शमन नहीं होता। लेकिन कामेच्छा कुछ अंशों में काल्पनिक विषय से भी परितृप्त होती है। कामेच्छा के लिए अलग–अलग विषय प्रस्तुत होने का कारण उसका लचीलापन। दूसरा कारण यह है कि इस इच्छा पर सामाजिक बंधन बहुत होते हैं। अन्न की भूख पर ऐसे सामाजिक एवं नैतिक बंधन नहीं होते। इसलिए भूख लगने पर हम कुछ खा लेते हैं। क्षुधा-शांति के लिए अन्न-विकल्प खोजते नहीं रहते। इसलिए क्षुधा के विषयों में प्राकारिक वैविध्य नहीं होता। ये विविध पदार्थ एक ही तरह से, एक ही स्तर पर क्षुधा-शांति करते हैं। कामेच्छा के विषय के स्वरूप में बहुत वैविध्य होता है। वे एक ही तरह से कामेच्छा पूर्ण नहीं करते, इच्छा एवं परिस्थिति के बीच तनाव के कारण यह वैविध्य बढ़ता जाता है। इसके कारण शृंगारिक वाङ्‌मय विपुल है, लेकिन अन्न की भूख से निर्मित वाङ्‌मय लगभग अस्तित्व में नहीं है।

8.6. "Then after the mixed pleasures the unmixed should have their turn; this is the natural and necessary order... These , in turn , then, I will now endeavour to indicate; for with the maintainers of the opinion that all pleasures are a cessation of pain, I do not agree, but, as I was saying I use them as witnesses, that there are pleasures which seem only and are not, and there are others again which have great power and appear in many forms, yet are intermingled with pains, and are partly alleviations of agony and distress, both of body and mind..... True pleasures are those which are given by beauty of colour and form, and most of those which arise from smells; those of sound, again, and in general those of which the want is painless and unconscious, and of which the fruition is palpable to sense and pleasant, and unalloyed with pain........ I do not mean by beauty of form such beauty as that of animals or pictures.... understand me to mean straight lines and

circles, and the plane or solid figures which are formed out of them by turning-lathes and rulers and measures of angles; for these I affirm to be not only relatively beautiful, like other things, but they are eternally and absolutely beautiful, and they have peculiar pleasures, quite unlike the pleasures of scratching. And there are colours which are of the same character, and have similar pleasures.... when sounds are smooth and clear, and have a single pure tone, then I mean to say that they are not relatively but absolutely beautiful, and have natural pleasures associated with them....
The pleasures of smell are of a less ethereal sort, but they have no admixture of pain; and all pleasures, however and wherever experienced, which are unattended by pains, I assign to an analogous class. Here then are two kinds of pleasures.... To these may be added the pleasures of knowledge, if no hunger of knowledge and no pain caused by such hunger precede them." (Plato: Philebus in The Dialogues of Plato, Vol. II. tr. B. Jowett, New york, Random House, repr. 1937. pp. 386-87)

8.7 एड्मंड, इर्विन, : "आर्ट्स एण्ड द मैन ", मेन्टर बुक्स, पुनर्मुद्रण 1951.

8.8 "Nature has placed mankind under the governance of two sovereign masters, *pain* and *pleasure*, It is for them alone to point out what we ought to do, as well as to determine what we shall do. (Bentham, Jeremy: An Introduction to the Principles of Moral and Legislation, (Ed.) Burns, J. H. and Hart, H. L. A.; University of London, 1970, ch. I Paraghraph 1, p. 11)

8.9 " The principle of asceticism seems originally to have been the reverie of certain hasty speculators, who having perceived, or fancied, that certain pleasures when reaped in certain circumstances, have, at the long run, been attended with pains more than equivalent to them, took occasion to quarrel with every thing that offered itself under the name of pleasure, having then got thus far, and having forgot the point which they set out from, they pushed on and went so much further as to think it meritotious to fall in love with pain. Even this, we see, is at bottom but the principle of utility misapplied.

" The principle of asceticism never was, nor ever can be, consistently pursued by any living creature. Let but one tenth part of the inhabitants of this earth pursue it consistently, and in a day's time they will have turned it into a hell."(Ibid, ch. 2, paras 9-10, p.21.)

8.10. "Life would be a poor thing, very ill provided with sources of

8.10. "Life would be a poor thing, very ill provided with sources of happiness, if there were not this provision of nature, by which things originally indifferent, but conductive to, or otherwise associated with, the satisfaction of our primitive desires, become in themselves sources of pleasures more valuable than the premitive pleasures both in permanency, in the space of human existence that they are capable of covering, and even in intensity.
"Virtue, according to the utilitarian conception, is a good of this description. There was no original desire of it motive of it, save its conduciveness to pleasure, and especially to protection from pain. But through the association thus formed, it may be felt a good in itself, and desired as such with as great intensity as any other good.." (Mill, J.S. : 'Utilitarianism', London, Longmans, Green and co., 15th Edition, 1907, ch.4 pp. 56-57.
8.11. प्लेटो, उ. नि. पु. पृ. 353 8.12. वही, पृ. 364-66. 8.13. मूर, जी. इ.: प्रिन्सिपिया एथिका" पृ. 70—71. 8.14. राइल, गिल्बर्ट: "द कान्सेप्ट आफ माइंड" पेंग्विन बुक्स, पुनर्मुद्रण, 1963. पृ. 104, 127 और राईल, गिल्बर्ट : 'डिलेमाज', केंब्रिज, युनिवर्सिटी प्रेस, 1954, पृ. 58, 59, 60, 66. 8.15 राइल, गिल्बर्ट: द कॉन्सेप्ट आफ माइंड। पृ.105. 8.16 सुख का विश्लेषण करते समय विचारक प्राय: संवेदना-सुखको केंद्रीय स्थान देते थे। "सुख" के "पसंद आना:" "रस लेना" भी अर्थ है और वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राइल का कार्य महत्त्वपूर्ण है इसमें संदेह नहीं, लेकिन उसने "सुख" के अन्य अर्थों को थोड़ा अनदेखा किया है। इसलिए उसका विश्लेषण जरा एकांगी लगता है। तुलना में फान राइट का विश्लेषण अधिक संतुलित है।
"I think it is useful, at least for purposes of a first approximation to distinguish three main *forms*–as I shall call them–of pleasure."
"The first I call *passive pleasure*. It is the pleasure or better: the pleasantness, which we attribute primarily to sensations and other so-called states of consciouness and secondarily also to their causes in the physical world. Pleasantness as an attribute of sensations can also be spoken of as 'the pleasures of the senses' or 'as sensuous pleasure'....
"The second form of pleasure shall call, by contrast, *active pleasure*. It is the pleasure which a man derives from doing things which he is *keen on doing, enjoys* doing, or *likes* to do. Active pleasure can also be called 'the pleasures of an active life'....
"In addition to passive and active pleasure there is that which I shall call the *pleasure of satisfaction or contentedness*. It is the pleasure which we feel at getting that which we desire or need or

want— irrespective of whether the desired thing by itself gives us pleasure." (Wright, Georg Henrik von: 'The Varieties of Goodness', London, Routledge and Kegal Paul, 1963, pp. 64-65) "Substantially the same distinction between three forms of pleasure is made by Broad in *Five Types of Ethical Theory* (1930), pp. 197 f." (Ibid, p. 64, n.)
राइल फान राइट के दिये हुए तीन अर्थों में से केवल दूसरे अर्थ पर बल देता है। इसलिए फान राईट का विवेचन राइल के विवेचन से अधिक जँचने लायक लगता है। लेकिन राइल ने मनोवस्था (मूड्) का जो विश्लेषण किया है वह फान राइट में नहीं है।

8.17. देखिए: सांतायाना: उ. नि. पु. पृ. 47-49.

8.18. "Beauty is pleasure regarded as quality of a thing." (Ibid49)

8.19. वही, पृ. 40-44. 8.20. वही, पृ. 23-25. 8.21. वही, पृ. 37-40

8.22. कवि के संबंघ में प्लेटो का मन्तव्य:
"...We shall be right in refusing to admit him into a well-ordered state, because he awakens and nourishes and strengthens the feelings and impairs the reason;"... "Poetry feeds and waters the passions instead of drying them up, she lets them rule, although they ought to be controlled, if mankind are ever to increase in happiness and virtue." (Plato: Republic BK. X. in The Dialogues of Plato, tr. Jowett., Random House, Vol. I, pp. 863-864.)

8.23. "आयॉन" संवाद का विषय है वाङ्.मय के आस्वादन में बुद्धि का कुछ स्थान है अथवा नहीं। प्लेटो की राय में काव्य लिखनेवाला, उसे विशद कर उसका संकीर्तन करनेवाला एवं काव्य सुननेवाला सब स्फूर्ति पर निर्भर रहते हैं। काव्य का संकीर्तन प्रारंभ होने पर उस स्फूर्ति का सभी में प्रादुर्भाव होता है, सब एक ही लहर से खिंच जाते हैं, काव्यानंद में डूबने-तिरने लगते हैं। इस प्रक्रिया में जिस तरह स्फूर्ति का सार्वजनीन गहन स्पर्श होता है, उस तरह भावना का भी होता है। देखिए: डायलॉग्ज ऑफ प्लेटो, खंड 1•पृ. 288-91. 8.24. देखिए: करंदीकर गो. वि: "ॲरिस्टॉटल का काव्य-शास्त्र" पृ. 62.

8.25 "Sublime consists in a consummate excellence and distinction of language, and that this alone gave to the greatest poets and historians their pre-eminence and clothed them with immortal fame. For the effect of genius is not to persuade the audience but rather to transport them out of themselves. Invariably what inspires wonder casts a spell upon us and is always superior to what is merely convincing and pleasing. For our convictions are usually under our own control, while such passages exercise an irresist-

ible power of mastery and get upper hand with every member of the audience." (Longinus: 'On the sublime', tr. W. Hamilton fyfe, in Aristotle: The poetics, Longinus: On the sublim, Demetrius: 'On style', Harvard University Press, repr. 1953, ch 1, p. 125.) "There are, one may say, some five genuine sources of the sublime in literature, the common groundwork, as it were, of all five being a natural faculty of expression, without which nothing can be done. The first and most powerful is the command of full-blooded ideas... and the second is the inspiration of vehement emotion." (Ibid, ch. VIII, p. 141.)

8.26. देखिए: ड्रेवर, जेम्स (संपा.): "अ डिक्शनरी ऑफ साइकोलोजी; पेंग्विन रेफरन्स बुक्स, 1952, पृ. 80-81. 8.27. इसीलिए विशिष्ट शरीर-संवेदना याने भावना, यह अतिरेकपूर्ण सिद्धांत विल्यम जेम्स व लेंग ने प्रस्तुत किया था। देखिए: स्टाउट, जी. एफ.: "अ मैन्युअल ऑफ साइकोलोजी", लंदन, यूनिवर्सिटी ब्यूटोरिअल प्रेस, पाँचवाँ संस्करण, पुनर्मुद्रण, 1945, पृ. 365-66. 8.28. वही, पृ. 368-369. 8.29. मर्फी, गार्डनर: "ऐन इंट्रोड्क्शन टु साइकोलोजी", इंडियन एडिशन, कलकत्ता, दिल्ली, खरपूर, आक्सफर्ड, बुक कं. पुनर्मुद्रण 1964, पृ. नं. 8.30. स्टाउट, जी. एफ.: उ. नि. पु. पृ. 365-368. 8.31. भावना के विषय होता है इसपर से भावना संबंधस्वरूपी (relational) होती है, ऐसा मर्ढेकर मानते हैं। (देखिए, मर्ढेकर, बी. एस.: "आर्ट्स ऐंड मैन", पृ. 35) उनका कहना है कि वाङ्:मय में भावना एवं भावनाभिव्यंजना करनेवाले शब्द एवं वाक्य घटक होते हैं और वाङ्:मयीन कलाकृति भावनाओं के परस्पर संबंध से निर्मित होनेवाला पद्म-बंध है। इसलिए उन्होंने अपने लय-तत्त्व की परिभाषा में संबंधों को घटकों का स्थान दिया है। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं

"The Law of Contrast states that if two relations are simultaneously given such that one of them either is or tends to be opposite in quality to the other then the relation between them is that of contrast." (Ibid, pp. 33)

इसके वाङ्.मयीन उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रेम और द्वेष के पद्मबंध का उल्लेख किया है। (वही, पृ. 45) इस पद्मबंध के घटक भावना होने के कारण यहाँ संबंध में से विरोध-, संबंध प्रस्थापित हुआ है। लेकिन सभी "सुंदर चीजों के घटक भावना नहीं होते। अत: वाङ्:मयीन कलाकृति के संदर्भ में ही उचित लगनेवाले 'संबंध के संबंध' की अवधारणा वाङ्:मयेतर सुंदर चीजों के संदर्भ में इस्तेमाल नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी कलाकृति में संबंधों के संबंध संगत न होकर दो गुणों के संबंध संगत होंगे। मर्ढेकर का ही दिया हुआ उदाहरण देखिए:

"For instance, if you have a visual field of two adjacent patches of colour, one white and the other black, then your visual field is

treated in colour by contrast." (Ibid, p. 33.)
यहाँ दो गुणों में ही विरोध-लय उत्पन्न हुई है, संबंध में नहीं। इसपर से यह दीखता है कि मर्ढेकर ने जब संवाद-विरोध-संतुलन की परिभाषाएँ दीं तब उनके मन में केवल वाङ्:मय का ही विचार था। वाङ्.मयेतर संदर्भ में भी ये लय-तत्त्व उपयोजित करने होते हैं इसलिए परिभाषा में संबंधों के साथ गुणों का भी उल्लेख करना जरूरी है। लेकिन मर्ढेकर ने वह नहीं किया। 8.32. देखिए: स्टाउट: उ. नि. पु. पृ. 364 - 8.34. भट गो. के.: "संस्कृत काव्यशास्त्राची प्रस्तावना" कोल्हापुर, महाराष्ट्र ग्रंथ भंडार, 1963, पृ 51.
8.35. देशपांडे, ग. त्र्यं. "भारतीय काव्यशास्त्र", मुंबई, पाप्युलर प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1963, पृ. 267. 8.36. वही, पृ. 352. 8.37. "व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायी भावो रस: स्मृत:" मम्मट : "काव्य-प्रकाश", पुणे भांडारकर ओरिएंटल इन्स्टिट्यूट, छठा संस्करण, 1950, पृ. 86. 8.38. भट = उ. नि. पु. पृ. 74-75.
8.39. According to A. G. aesthetic knowledge is of a different from logical knowledge and therefore from the concepts of generality, etc., proper to the latter. The concept of sadharanya is completely independent of logical generality (Samanya)"(Gnoli, Raniero:' The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, Roma', 1956, p. 44)
8.40. देशपांडे, ग. त्र्यं.: उ. नि. पु. पृ. 308. 8.41. वही, पृ. 307.
8.42. झलकीकरशास्त्री "काव्य-प्रकाश" पर लिखी अपनी "बालबोधिनी" टीका में लिखते हैं: लोके हि तिस्त्रो विधा:। कानिचिद्वस्तूनि स्वयैव कानि चशत्रो [illegible]ानि पुन: शत्रु मित्रविलक्षणस्य उदासीनापरनाम्न: तटस्थस्यैव (मित्रवस्तुनोऽपि आत [illegible] बद्धित्वेन स्वकीयत्वमिति न विभागन्यूनता)" — मम्मट: " [illegible]व्य-प्रकाश" पुणे भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, 1950, पृ.92. 8.43 देशपांडे, ग. त्र्यं.: उ. नि. पु. पृ. 308. वाङ्.मय के द्वारा वैयक्तिक सुखदु:खों का अनुभव लेना रसविघ्न माना गया है। देखिए: वही, पृ. 312. 8.44. मराठी साहित्य संमेलन:. अध्यक्षीय भाषणे, खंड प्रथम, (संपा.) डॉ. भीमराव कुलकर्णी, पुणे, महाराष्ट्र साहित्य परिषद, 1971, पृ. 94-95, 96. 8.45. जान्सन, डॉ. सैम्युअल: "द प्रिफेस टु शेक्स्पीअर", ओ. यु. पी. पुनर्मुद्रण 1945, पृ. 46-48. प्रथम प्रकाशन 1763. 8.46. "मराठी साहित्य संमेलन: अध्यक्षीय भाषणे,: खंड प्रथम, पृ. 225-29. 8.47. देशपांडे: उ. नि. पु. पृ. 278. 8.48. वही, पृ. 279-81. 8.49. वही, पृ. 282-283. 8.50. वही, पृ. 283-84. 8.51. अन्य आक्षेपों के लिए देखिए: वही, पृ. 285-89. 8.52. वही, पृ. 286. शंकुक के सिद्धांतों के संबंध में तौतादि ने जो आक्षेप लिये हैं, उन्हें समझने के लिए निम्नांकित आकृति का उपयोग होगा:
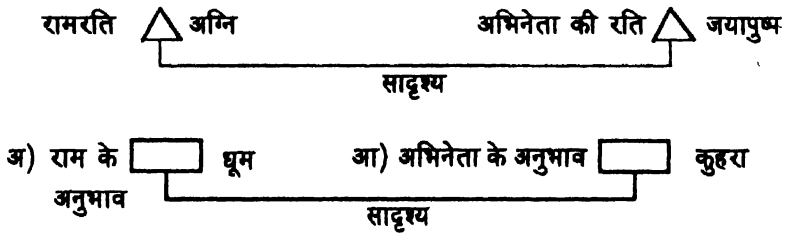
धूम और कुहरे में सादृश्य है। लेकिन जिस तरह धूम से अग्नि का अनुमान होता है वैसा धूम-सदृश कुहरे से अग्नि-सदृश जपापुष्प का अनुमान कैसे किया जा सकता है? और ऐसा अनुमान करने पर भी अभिनेता की रति राम की रति की अनुकृति है, यह कैसे कहा जा सकता है?

तौतादि का पूछा हुआ पहला प्रश्न है, सदृश कार्य से क्या सदृश कारणों का अनुमान किया जा सकता है। इस संबंध में निम्नलिखित उत्तर दिया जा सकता है: (अ) यह प्रश्न ज्ञान के सभी क्षेत्रों में उपस्थित किया जा सकता है। केवल नाट्य के संदर्भ में ही उचित होगा, ऐसा वह प्रश्न नहीं है। (आ) जो लोग सामान्य पद का अस्तित्व मानते हैं उनके सामने उपर्युक्त अनुमान विषयक प्रश्न नहीं उपस्थित होता, क्योंकि एक सामान्यपद (universal) के अंतर्गत आनेवाले विशेषों में कुछ मामलों में भेद होने के बावजूद कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में साम्य होने के फलस्वरूप इस साम्य के आधार पर तौतादि को अभिप्रेत अनुमान निकलना संभव है। दो वस्तुओं में जो साम्य है वह किन बातों में है यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। धूम और कुहरे के बीच का साम्य केवल इस बात तक सीमित है कि चीजें कैसे दीखती हैं। अत: इस साम्य के बल पर कोई अनुमान निकालना शायद गलत होगा। लेकिन दो चीजों के बीच का साम्य सदैव इसी प्रकार का होता है, ऐसा नहीं।

अगला प्रश्न, यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि अभिनेता की रति राम की रति का अनुकरण है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह प्रश्न ही जरा चमत्कारिक है। हमारे सामने अभिनेता के अनुभव हैं, उनसे उसकी रति का अनुमान करना है यह कहना वस्तुस्थिति के अनुसार नहीं होगा। एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में अभिनेता के अनुभाव देखने नहीं होते। वह अभिनेता है इसी का अर्थ है कि उसके अनुकरणरूप अनुभावों से राम की (नर की नहीं) रति का अनुमान करना होता है। असली प्रश्न यही है कि यह अनुमान कैसे किया जा सकता है। और वह नाट्य के क्षेत्र में ही उपस्थित होनेवाला प्रश्न है। इसके लिए निम्नांकित आकृति देखिए:
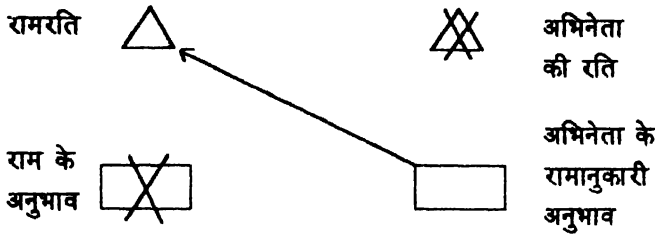
उपरोक्त प्रश्न का उत्तर "नाटक देखना" अवधारणा में अनुस्यूत है। 8.53. वही, पृ. 288. 8.54. मम्मट: उ. नि. पु. पृ. 90. 8.55. जोग रा. श्री. "अभिनव काव्य-प्रकाश", पुणे, वीनस प्रकाशन, संस्करण 5 वाँ, 1966. पृ. 113. 8.56. देशपांडे: उ. नि. पु. पृ. 333-36. 8.57. भरत ने नाट्यशास्त्र लिखा ई. स. पूर्व दूसरे शतक में। उसके बाद दो तीन शतक परचक्र के कारण देश में अस्थिर वातावरण था। इस युग में साहित्य एवं विद्या की अवनति हुई। पुन: ई. स. बाद दूसरे शतक में स्थैर्य पैदा हुआ और साहित्यादिकों का पुनरुत्थान होने लगा। इस काल में उपलब्ध सामग्री के आधार से जो पुस्तकें लिखी गईं उनमें "नाट्यशास्त्र" का अंतर्भाव होता है। भरत के समकालिक लेखकों ने इस ग्रंथ पर टीकात्मक विवरण लिखे भी हों, तो वे काल के उदर में अंतर्धान हुए हैं। अभिनवगुप्त की "अभिनव-भारती" आज उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन टीका है। अभिनवगुप्त का समय ई. स. नौवीं या दसवीं शती माना जाता है। मतलब, यह टीका "नाट्यशास्त्र" के सात-आठ सों वर्षों के बाद लिखी गयी। इसलिए "नाट्यशास्त्र" की टीकाओं में "अभिनव-भारती" को ही विश्वसनीय मानने का कोई कारण नहीं है। भरत के रससिद्धांत को अलग-अलग अर्थ देनेवाली विभिन्न परंपराएँ अभिनवगुप्त के समय अस्तित्व में थीं और उनमें से कुछ तौत-नायक-अभिनव परंपरा से भी पुराचीन थी। यह मानने का आधार है। उदाहरणार्थ, ताटस्थ्यवादी लोल्लट-शंकुक का मत सातवीं शती के दंडी के अभिमत की तरह है, यह स्वयं अभिनवगुप्त कहता है। अत: भरत को रस के बारे में क्या कहना है, यह बतानेवाला अभिनवगुप्त अकेला विश्वसनीय टीकाकार था, यह मानने का कोई कारण नहीं है। अभिनवगुप्त का विवेचन संपूर्णत: गलत होने की भी संभावना है। (देखिए: माईणकर, टी. जी= "द थियरी ऑफ संधीज ऐंड संध्यंगाज", पूना, जोशी ऐंड लोखंडेज पब्लिकेशन, 1960. पृ. 4) अगर ऐसा कहा जाए कि भरत को निमित्त बनाकर अभिनवगुप्त ही अपनी स्वयं की उपपत्ति दे रहा था, तो शंकुक के बारे में भी वही कहा जा सकता है। फिर शंकुक का ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है, अभिनवगुप्त ने उसके मत का जो सार दिया है वही हमारे सामने है। अत: शंकुक पर हमारी तरफ से अन्याय होने की संभावना है। हमें सावधानी बरतनी चाहिए कि ऐसा न हो। 8.58. दुख इत्यादि निजी

संवेदनाओं का ही हमें बोध कैसे होता है, इस पर पिछले 24-30 वर्षों में पाश्चात्य दार्शनिकों में बहुत विवाद हुआ है। यहाँ ऊपर ग्रहण की गई भूमिका सामान्यत: विट्गिन्स्टाइन की परंपरावाली है। इस विषय पर विट्गिन्स्टाइन के विचारों के लिए देखिए: माल्कम, नार्मन: "विट्गिन्स्टाइन - फिलॉसोफीकल इन्विस्टिगेशन्स", कैन के. टी., (संपा.): लुड़विग विट्गिन्स्टाइन - "द मैन ऐंड हिज फिलासाफी," न्यूयार्क, डेल पब्लिशिंग कं. 1967. 8.59. जोशी वा. म.: उ. शि. पु. पृ. 229-230. वाड्.मय द्वारा ऐसी दुनिया के दर्शन होते हैं जिसपर भावनाएँ आरोपित हुई हैं। इस मुद्दे के लिए देखिए: विसेंट, डब्ल्यू. के. ऐंड बीअर्डस्टले : 'दि इफेक्टिव फॅलेसी' विम्सेंट डब्ल्यू. के. "द बर्बल आयकोन", पृ. 37-39, और रिचर्ड्स, आय. ए.: कोलरिज ऑन इमॅजिनेशन, अध्याय 7-8.

8.60. "Well, but it may be objected, 'surely we do find more than aesthetic pleasure in some creations of poetry and other art. We get inspiration from them, and they even affect our will; for the ideals they represent appear to us as the very thing we should wish to be, and that stimulates us to imitate them, and to try and carry them out in our lives. In a sense we may even worship these ideals; and so the work of art is a vehicle of worship, though not itself the object of worship.' 'Certainly', I answer, 'this is so, but then it is so because you do not really regard the work of art as a more fiction or product of fancy. Or, if you prefer to put it thus, you regard the work of art itself as such a product, but you do not so regard the the ideal which it represents. Shakespeare made or invented his Cordelia: if he had never lived she would not have existed. But the ideal qualities, embodied in Cordelia he certainly did not make or invent. And, if you thought them the mere product of his fancy, the picture of them would have no effect upon your will, either morally or religiously." (Bradley, A. C.: Ideals of Religion, London, Macmillan and Co., 1940, pp. 84–85).

8.61. "If is a difference of outlook, due — if such a metaphor is permissible— to the insertion of Distance. This Distance appears to lie between our own– self and its affections, using the latter term in its broadest sense as anything which affects our being, bodily or spiritually, e. g., as sensation, perception, emotional state or idea. Usually, though not always, it amounts to the same thing to say that the Distance lies between our own– self and such objects as are the sources or vehicles of such affections." (Bullough, Edward: Aesthetics, London, Bowes and Bowes, 1967, p. 94.)

8.62 वही, पृ. 95. 8.63. वही, पृ. 97. 8.64. वही, पृ. 97-98.

8.65. "What is therefore, both in appreciation and production, most desirable is the utmost decrease of Distance without its disappearance." (Ibid, p. 100)
8.66. "In short, Distance may be said to be variable both according to the distancing power of the individual, and according to the character of the object." (Ibid, p. 100.)
8.67. "And so we too go to tragedies not in the least to get rid of emotions, but to have them more abundantly; to benquet, not to purge. Our lives are often dull; They are always brief in duration and confined in scope; but in drama or fiction, even the being 'whose dull morrow cometh and is as today is' can experience vicariously something more." (Lucas, F. L.: Tragedy, Serious Drama in Relation to Aristotle's Poetics, Allied Publishers, Indian Edition 1966, p. 73)
8.68. शोकात्म नाटक में जो आनंद होता है, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि ऐसा नाटक देखकर या पढ़कर कटु सत्य का आकलन होता है और उचित लगता है और सत्य कटु भी हो, तो भी उसके आकलन होने पर मनुष्य को एक तरह का आनंद होता है। (जोशी, वा. म.: उ. नि. पु. पृ. 230) और..
"...by tragedy, I think, we imply also something fundamentally true to life. It need not be the whole truth, but it must be true..." (Lucas, F. L.: op. cit, pp. 73–74)
"So the essence of tragedy reduces itself to this–the pleasure we take in a rendering of life both serious and true. (Ibid, p. 75)
8.69. "It is a terrible, stark insight into human life. Yet in the very excess of his suffering lies man's claim to dignity. Powerless and broken, a blind beggar hounded out of the city, he assumes a new grandeur, Man is ennobled by the vengeful spite or injustice of the gods. It does not make him innocent, but it hallows him as if he had passed through flame. Hence there is in the final moments of great tragedy, whether Greek or Shakespearean or neoclassic, a fusion of grief and joy, of lament over the fall of man and of rejoicing in the resurrection of his spirit." (Steiner, George: The Death of Tragedy, London, Faber and Faber, repr. 1963, pp. 9–10.)
8.70. मैसन, जे. एल. ऐंड पटवर्धन, एम. वी.: शांतरस ऐंड अभिनवगुप्ताज फिलासोफी ऑफ एस्थेटिक्स: पूना भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट 1969. प्रस्तावना पृ. IX–X.
8.71. "If we are to take it as a truth that knows no exception that everything living dies for internal reasons- becomes inorganic once again-then we shall be compelled to say that 'the goal of all

time evoked in inanimate matter by the action of a force of whose nature we can form no conception. It may perhaps have been a process similar in type to that which later caused the development of consciousness in a particular stratum of living matter. The tension which then arose in what had hitherto been an inanimate substance endeavoured to equalise its potential. In this way the first instinct came into being : the instinct to return to the inanimate state" . (Freud, s; Beyond the Pleasure Principle, tr. James Strachey, London, Hogarth press 1950, pp. 49-50).
"The dominating tendency of mental life, and perhaps of nervous life in general, is the effort to reduce, to keep constant or to remove internal tension due to stimuli (the 'Nirvana Principle', to borrow a term from Barbara Low..) a tendency which finds expression in the pleasure principle, and our recognition of that fact is one of the strongest reasons for believing in the existence of death instincts."
(Ibid, p. 76.)
8.72 वही पृ. 81

अध्याय: 9

9.1 गिल्बर्ट मरे लिखित प्रस्तावना, "ऐरिस्टॉटल ऑन दि आर्ट ऑफ पोएट्री, अनुवाद, बाय वाटर, आक्सफोर्ड, क्लेरेंड प्रेस, पुनर्मुद्रण 1954, पृ. 14-16.
9.2. कोहन, जे. एस.: "ए हिस्टरी ऑफ वेस्टर्न लिटरेचर", पेंग्विन बुक्स, 1956, पृ. 84. 9.3 देशपांडे ग. त्र्यं.: "भारतीय साहित्य-शास्त्र" पृ. 351-54. 9.4. मूर जी. इ.: "प्रिन्सिपिया एथिका", अध्याय 6.
9.5. "...whereas by words a man transmits his thoughts to another, by art he transmits his feelings." (Tolstoi, Leo: What is Art? Tolstoi Centenary Edition, London, O.U.P., p. 121.)
9.6. वही, पृ. 121-22.
9.7. "Art is a human activity, consisting in this, that one man consciously, by means of certain external signs, hand on to others feelings he has lived through, and that others are infected by these feelings, and also experience them." (Ibid, p. 123.)
9.8. वही, पृ. 123.
9.9 There is one indubitable sign distinguishing real art from its counterfeit – namely, the infectiveness of art." (Ibid. p. 227)
9.10. "... the degree of infectiousness is also the sole measure of

excellence in art.
"The stronger the inflection, the better is the art, as art, speaking of it now apart from its subject–matter–that is, not considering the value of the feelings it transmits." (Ibid, p. 228.)

9.11. वही, पृ. 231. 9.12. वही, पृ. 231. 9.13. वही, पृ. 231.

9.14. "The appraisement of feelings (that is, the recognition of one or other set of feeling as more or less good, more or less necessary for the well–being of mankind) is effected by the religious perception of the 'age'.

"In every period of history and in every human society there exists an understanding of the meaning of life, which represents the highest level to which men of that society have attained–an understanding indicating the highest good at which that society aims. This understanding in the religious perception of the given time and society." (Ibid, p. 232.)

9.15. वही, पृ. 234-35.

9.16. "The essence of the Christian perception consists in the recognition by every man of his sonship to God and of the consequent union of men with God and with one another.... Therefore the subject — matter of Christian art is of a kind that feeling can unite men with God and with one another." (Ibid, p. 238)

9.17. "And only two kinds of feelings unite all men: first, feelings flowing from a perception of our sonship to God and of the brother–hood of man; and next, the simple feelings of common life accessible to every one without exception–such as feelings of merriment, of pity, of cheerfulness, of tranquillity, and so forth. Only these two kinds of feelings can now supply material for art good in its subject–matter." (Ibid, p. 240.)

9.18. "So that in relation to feelings conveyed, there are only two kinds of good Christian art, all the rest of art not comprised in these two divisions should be acknowledged to be bad art, deserving not to be encourged but to be driven out, and despised, as being art not uniting but dividing people, such in literary art are all novels and poems which transmit ecclesiastical or patriotic feelings, and also exclusive feelings pertaining only to the class of the idle rich: such as aristocratic honour, satiety, pessimism, and refined and vicious feelings flowing from sex–love–quite incomprehensible to the great majority of mankind." (Ibid, pp. 247 –48.)

9.19. वही, पृ. 25. 9.20. वही, पृ. 248-49 9.21. वही, पृ. 256

9.22. वही, पृ. 257-62.
9.23. "... art will not be produced by professional artists receiving payment for their work and engaged on nothing, else besides their art. The art of the future will be produced by all the members of the community who feel need of such activity, but they will occupy themselves with art only when they feel such need." (Ibid, p. 270.)
9.24 वही, 271. वही, पृ. 176-177.
9.26. अपने समाज के ही बारे में बोलना हो तो सुशिक्षित, कुछ अंशों में संपन्न उच्च एवं मध्यम वर्ग के युवाओं और युवतियों की ओर उँगली दिखाई जा सकती है। पारिवारिक संपन्नता के कारण ये बच्चे समाज से दूर हो जाते हैं, उनकी शिक्षा प्राय: अंग्रेजी में हुई होती है, अत: मातृभाषा के साहित्य से होनेवाले संस्कारों से वे वंचित रहते हैं। मतलब यह है कि अपना समाज-जीवन उनका प्रत्यक्ष देखा हुआ नहीं होता और साहित्य के माध्यम से जाना हुआ नहीं होता। उनकी पढ़ाई प्राय: आजकल के अमेरिकन साहित्य के परे नहीं जाती। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि उनपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव हुआ है, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति की ऊपरवाली पर्त के सिवा उनकी गाँठ में कुछ भी नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ पाश्चात्य राष्ट्रों ने अपनी ऐहिक स्थिति में सुधार के लिए जो अपार कष्ट उठाए, फिर संपन्नता प्राप्त करने के लिए सद्य:कालीन सुखों को नकारने का जो संयम दिखाया, बुद्धि-निष्ठा और विज्ञान-निष्ठा को सँजोया, अपने कर्तव्य भली भाँति करने करने की ज़िद रखी, इनमें से उन युवाओं को कुछ भी नहीं मालूम होता। इसकी वजह से उन्हें पाश्चात्यों का जीवन अच्छी तरह से समझ में नहीं आता। लेकिन उनका आज का साहित्य पढ़कर ये बच्चे जीवन के संबंध में पाश्चात्यों की आज की प्रतिक्रियाएँ अंधेपन से स्वीकार करते हैं, सभी क्षेत्रों के ऊपर ऊपर की तकनीक स्वीकार करते हैं, उनका अनुकरण कर अंग्रेजी में कविता, नाटक, कहानियाँ लिखते हैं। उनको छापनेवाले लोग भी इसी वर्ग के होते हैं। यह इतना ही होता तो बहुत बिगड़ा न होता। इसमें भयावह बात यही है कि इन लोगों का समाज में रोबदाब बहुत रहता है। मराठी के हरिभाऊ, लक्ष्मीबाई तिलक, केशवसुत, माधव ज्युलियन, अनिल, मर्ढेकर, रेगे, जी. ए. कुलकर्णी, कमल देसाई के मराठी साहित्य से तुलना की जाए तो अंग्रेजी में लेखन करनेवाले हिंदी लोगों का साहित्य बहुत ही सामान्य होता है। परंतु केवल वे अंग्रेजी में लिखते हैं, इस कारण से इन दोयम या तिय्यम दर्जे के लेखकों का रोबदाब बहुत बड़ा होता है, क्योंकि हमारे देश से अंग्रेजी की राज्यसत्ता तो चली गई, परंतु उनकी (और अब शिष्यवृत्तियों, परिसंवादों की वर्षा करनेवाले अमेरिकनों की) सांस्कृतिक सत्ता यहाँ चल ही रही है। एक समय अंग्रेजी के अध्यापक को जो सम्मान मराठी समाज में था, वह आज कल इन आर्यांग्ल लेखकों को प्राप्त है। एक समय अंग्रेजी का प्राध्यापक ब्राह्मण और

मराठी एवं तत्सम भारतीय भाषाओं का प्राध्यापक शूद्र माना जाता था। परंतु आज परिस्थिति बदल गई है। अंग्रेजी के समझदार प्राध्यापकों को अपनी सांस्कृतिक परावलंबन एवं बौद्धिक नपुंसकता का भान हुआ है। अंग्रेजी का भारतीय प्राध्यापक असल में पराए समाज के सांस्कृतिक परिवर्तनों को नोट करनेवाला मानव-वंश-शास्त्रीय (cultural anthropologist) हो सकता है, स्वतंत्र मूल्यांकन करनेवाला समीक्षक नहीं हो सकता। और वह स्वतंत्र मूल्यांकन करे भी तो उसका अंग्रेजी वाङ्‌मय पर कुछ भी परिणाम नहीं होता।

अंग्रेजी में कविता इत्यादि लिखनेवालों की संख्या फिलहाल बढ़ रही है। तोलस्तोय यह सवाल निस्संदेह करेगा कि यह नकली वाङ्‌मय कहाँ तक मूल्यवान है। जिस वाङ्‌मय की समाज-जीवन में जड़ें नहीं हैं वह वाङ्‌मय याने एक तरह की सांस्कृतिक फफूंद है। यही तोलस्तोय का अभिप्राय होगा। अंग्रेजी में ललित लेखन करनेवालों की स्थिति एक अन्य कारण से दयनीय हो गयी है। विदेशी संस्कृति की भाषा में सफाईदार ललित रचना पैदा करनी है। लेकिन वे बहुत कम हैं और उनमें से अधिकांश एक विशिष्ट आर्थिक स्तर के हैं। सिर्फ इसी गुट के लोगों का ही जीवन "आर्यांग्ल" लेखक "अंदर" से समझ सकते हैं। इसलिए ये जब इन लोगों के बारे में लिखते हैं तभी उनका लेखन प्रत्ययकारी होता है। लेकिन इन लोगों के जीवन का कुल "नेटिव" समाज-जीवन से विशेष संबंध नहीं होता। अत: आर्यंग्ल लेखकों की अनुभव की कक्षा बहुत छोटी होती है। जिस अनुपात में अंग्रेजी उनकी मातृभाषा होती है, उस अनुपात में उनके अनुभव की परिधि छोटी होती जाती है। हिंदी मनुष्य को अच्छी अंग्रेजी में वाङ्‌मय लिखना हो तो अंग्रेजी उसकी मातृभाषा होनी चाहिए। लेकिन उसे अच्छा वाङ्‌मय लिखना हो, तो अंग्रेजी उसकी मातृभाषा बनकर काम नहीं चलेगा। इस प्रकार का यह पेंच है। 9.27. सिडनी, सर फिलिप: "ऐन अपालजी फॉर पाएट्री" – जोन्स (संपा.): इंग्लिश क्रिटिकल एसेज, सिक्स्टीन्थ .... सेंचरीज", पृ. 3. 9.28. प्लेटो: "रिपब्लिक", द डाइलाग्ज ऑफ प्लेटो", अनु. जावेद, खंड–1, पृ. 865–660.29. प्लेटो: "फीडस्", द डाइलाग्ज आफ प्लेटो, खंड–1, पृ. 254–9.55. 9.30. टेलर ए. इ. : प्लेटो – द मैन ऐंड हिज वर्क" , लंदन, मिथुअन, छठा संस्करण, पुनर्मुद्रण 1985, पृ. 279–80. 9.31 प्लेटो = "रिपब्लिक" "द डाइलाग्ज ऑफ प्लेटो", खण्ड–1, पृ. 690–707. 9.32. वही, पृ. 642.

9.33 " And we must beg Homer and the other poets not to be angry if we strike out these and similar passages, not because they are unpoetical, or unattractive to the popular ear, but because the greater the poetical charm of them, the less are they meet for the ears of boys and men who are meant to be free, and who shoud fear slavery more than death." (Ibid, p. 649.)

9.34 वही, पृ. 651 वही, पृ. 652–53. 9.36 वही, पृ. 655. 9.37 वही पृ658–59. 9.38 वही, पृ. 662–63. 9.39 वही, पृ. 664–65. 9.40 वही पृ. 862–863. 9.41 वही, पृ. 864. 9.42 उदाहरणार्थ, देखिए: वही, पृ. 652, 653. 9.43 वही, पृ. 864. 9.44 वही, पृ. 865–66, 9.45 सिड्नी, सर फिलिप. उ. नि. पु. पृ. 13–22. 9.46 लेसिंग का महत्त्वपूर्ण उध्दरण प्रा. गो. वि. करंदीकर ने अपनी पुस्तक "ॲरिस्टॉटलचे काव्यशास्त्र", मौज प्रकाशन गृह मुंबई, 1975 पुस्तक में 133 पृष्ठ पर दिया है। 9.47 करंदीकर : उ. नि. पु. पृ. 43–46.

9.48 " As against the view that solicitation of emotion by imaginary presentation can only foster the emotion solicited, Aristotle advances the celebrated purgation theory, which without vouching for absolute accuracy, we may fairly indicate as the conception of a safety- valve. It is both pleasurable and wholesome, he maintains to 'let yourself go' on certain occasions; the tendency to emotion is thus relieved, and the emotional forces lose their mischivevous character." Bosanquet, Bernard: A Companion to Plato's Pepublic, London, Rivingtons, II Ed., repr. 1925, p. 401) Bucher, S.H. : Aristote;e's theory of Poetry and Fine Art, Dover Publications, pp. 245-26. 9.49. " the effect of inferior art is to excite emotion in a cheap, shallow, unworthy way, and to induce emotions which we sum up together under the word "Sentimentality" ; all the crude forms of emotin which are rfoused only by broad and coarse situations, are among the things which Aristotle is trying to guard against. He wants people not to be emotionally sloppy or sententious; not to be violent or imperceptive." (House, Humphry : Aristotle's Poetics, London, Rupert Hart - Davis, 1956, pp. 110-111.)

9.50. बुचर एस. एच.: "ऐरिस्टोटल्स थिअरी ऑफ पोएट्र ऐंड फाइन आर्ट", डोवर पब्लिकेशन्स, चौथा संस्करण, 1951, पृ. 221-222, 224.

9.51. वही, पृ. 226. 9.52. वही, पृ. 228. 9.53. वही, पृ. 238.

9.52. "...the feelings of pity and fear in real life contain a morbid and disturbing element. In the process of tragic excitation they find relief, and the morbid element is thrown off." (Ibid, p. 254.)

9.55. "Thus in psychological analysis fear is the primary emotion from which pity derives its meaning. Its basis is a self-regarding instinct; it springs from the feeling that a similar suffering may happen to ourselves." (Ibid, p. 257)

9.56. वही, पृ. 258-59.

9.57. "...At the same time he is raised above us in external dignity

and station.... there is a gain in the hero being placed at an ideal distance from the spectator. We are not confronted with outward conditions of life too like our own. The pressure of immediate reality is removed; we are not painfully reminded of the cares of our own material existence. We have here part of the refining process which the tragic emotions undergo within the region of art. They are disengaged from the petty interests of self, and are on the way to being universalised. (Ibid, p. 261.)
"The tension of mind, the agonised expectation with which we await the impending catastrophe, springs from our sympathy with the hero in whose existence we have for the time merged our own... In the spectacle of another's errors or misfortunes, in the shocks and blows of circumstance, we read the 'doubtful doom of human kind'. The true tragic fear becomes an almost impersonal emotion, attaching itself not so much to this or that particular incident, as to the general course of the action which is for us an image of human destiny. We are thrilled with awe at the greatness of the issues thus unfolded, and with the moral inevitableness of the result. In this sense of awe the emotions of fear and pity are blended...." (Ibid, pp. 262-63.)"Pity and fear awakened in connection with these larger aspects of human suffering, and kept in close alliance with one another, become universalised emotions. What is purely personal and self-regarding drops away. The spectator who is brought face to face with grander sufferings than his own experiences a sympathetic ecstasy, or lifting out of himself. It is precisely in this transport of feeling, which carries a man beyond his individual self, that the distinctive tragic pleasure resides." (Ibid, p. 267.)
9.58. वही, पृ. 269. 9.59. वही, पृ. 271. 9.60. रिचर्ड्स आय. ए. "प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिजम" लंदन, रटलेज ऐंड केगन पाल, पुनर्मुद्रण, 1960, अध्याय 10. 9.61. वही, अध्याय 2. 9.62 वही, पृ. 16-17
9.63. वही, पृ. 35-36.
9.64. "We are accustomed to say that a picture is beautiful, instead of saying that it causes an experience in us which is valuable in certainways. The discovery that the remarks, 'This is beautiful', must be turned round and expanded in this way before it is anything but a more noise signalling the fact that we approve of the picture, was a great and difficult achievement." Ibid, p. 20.) "...the remarks we make as critics do not apply to such objects but to states of mind, to experiences." (Ibid, p. 22) "...In a full critical statement...the part which describes the value of the experience we shall call the

critical part. That which describes the object we shall call the technical part... All remarks as to the ways and means by which experiences arise or are brought about are technical, but critical remarks are about the values of experiences and the reasons for regarding them as valuable or not valuable. We shall endeavour in what follows to show that critical remarks are merely a branch of psychological remarks, and that no special ethical or metaphysical ideas need to be introduced to explain value." (Ibid, p. 23)

64. 'शिव' नामक एक अप्राकृतिक गुण है। मूर के इस सिद्धांत का रिचर्ड्स ने विरोध किया है और 'शिव' के बारे में एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है। (वही, अध्याय 6)

9.65. "...anything is valuable which satisfies an appetency or 'seeking after.'(Ibid, p. 47)

9.66. "Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more important appetency..." (Ibid, p. 48).

9.67. "The importance of an impulse, it will be seen, can be defined for our own purposes as the extent of the disturbance of other impulses in the indivisual's activities which the thwarting of the impulse involves." (Ibid, p. 51.)

9.68. वही, अध्याय - 3.

9.69. "The term 'desire' would do as well if we could avoid the implication of accompanying conscious beliefs as to what is sought and a further restriction to felt and recognised longings... Appetencies may be, and for the most part are, unconscious, and to leave out those which we cannot discover by introspection would involve extensive errors." (Ibid, p. 47).

9.70. वही, पृ. 86. 9.71. वही, पृ. 46. 9.72. वही, पृ. 52-53.

9.73. वही, पृ. 118-119. 9.74. वही, पृ. 145. 9.75. वही, पृ. 267-68.

9.76. वही, पृ. 107, 110-13, 251-52. 9.77. पही, पृ. 243.

9.78. "For it is the attitudes evoked which are the all important part of any experience. Upon the texture and form of the attitudes involved its value depends. It is not the intensity of the conscious experience, its thrill, its pleasure or its poignancy which gives it value, but the organisation of its impulses for freedom and fullness of life... the character of consciousness at any moment is no certain sign of the excellence of the impulses from which it arises... A more reliable but less accessible set of signs can be found in the readiness for this or that kind of behaviour in which we find

ourselves after the experience...The after-effects, the permanent modifications in the structure of the mind, which works of art can produce, have been overlooked. No one is ever quite the same again after any experience; his possibilities have altered in some degree. And among all the agents by which 'the widening of the sphere of human sensibility'may be brought about, the arts are the most powerful..." (Ibid, pp. 132-33; see also p. 230)

9.79. "It is often held that recent generations suffer more from nervous strain than some at least of their predecessors... As explanation not sufficiently noticed perhaps is the break-down of traditional accounts of the universe, and the strain imposed by the vain attempt to orient the mind by belief of the scientific kind alone. In the pre-scientific era, the devout adherent to the Catholic account of the world, for example, found a sufficient basis for nearly all his main attitudes in what he took to be scientific truth... Today this is changed, and if he believes such an account, he does not do so, if intelligent, without considerable difficulty or without a fairly persistent stain...Actually what is needed is a habit of mind which allows both reference and the development of attitudes their proper independence." (Ibid, pp. 280-81.) "That an objectless belief is a ridiculous or an incomplete thing is a prejudice deriving only from confusion.. When they are kept from tempering with the development of reference such emotional attitudes may be, a revelation doctrines in such strange forms maintain, among the most important and valuable effects which the arts can produce." (Ibid. p. 280.)

9.80 ड्युई, जॉन: "आर्ट ऐज एक्सपीरिअन्स", न्यूयार्क, कैप्रिकार्न बुक्स, पुनर्मुद्रण 1958 पृ. 3. 9.81. वही, पृ. 6-7. 9.82. वही, पृ. 8.

9.83. वही, पृ. 9

9.84. "The hostility to association of fine art with normal processes of living is a pathetic, even a tragic, commentary on life as it is ordinarily lived. Only because that life is usually so stunted, aborted, slack, or heavy laden, is the idea entertained that there is some inherent antagonism between the process of normal living and creation and enjoyment of works of aesthetic art." (Ibid, p. 27.)

9.85. वही, पृ. 11

9.86. "Life itself consists of phases in which the organism falls out of step with the march of surrounding things and then recovers unison with it.... And, in a growing life, the recovery is never more return to a prior state, for it is enriched by the state of disparity and

resistance through which it has successfully passed... Life grows when a temperary falling out is a transition to a more extensive balance of the energies of the organism with those of the conditions under which it lives..., here in germ are balance and harmony attained through rhythm. Equilibrium comes about not mechanically and inertly but out of, and because of tension....Form is arrived....is arrived at whenever a stable even though moving equlibribroum is reached...... Order is not imposed from without but is made out of the relations of harmonious interactions that energies bear to one another.' (Ibid, p. 14.)
9.87. "The rhythm of loss of integration with environment and recovery of union not only persists in man but becomes conscious with him; its conditions are material out of which he forms purposess. Emotion is the conscious sign of a break, actual or impending. The discord is the occasion that induces reflection. Desire for restoration of the union converts more emotion into interest in objects as conditions of realization is incorporated into objects as their meaning" (Ibid, p. 15.)
9.88. "Experience in the degree in which it is experience is heightened vitality.... Because experience is the fulfilment of an organism in its struggles and achivements in a world of things, it is art in germ. Even in its rudimentary forms, it contains the promise of that delightful perception which is esthetic experience." (Ibid, p. 19).
9.89. वही, पृ. 64-65
9.90. "With respect to the physical materials that enter into the formation of a work of art, every one knows that they must undergo change. Marble must be chipped, pigments must be laid on convas; words must be put together. It is not so generally recognized that a similar transformation takes place of the side of 'inner' materials, images, observations, memories and emotions. They are also progressively reformed; they, too, must be administered. This modification is the building up of a truly expressive act." (Ibid, p. 74.)
9.91. वही, पृ. 80-81 92. वही, पृ. 344-45.
93. "Allusion has several times been made to Tolstoy, and nothing in the recent history of aesthetic opinion is so remarkable as the onslaught made by that great artist against all the arts. No better example could be found of how not to introduce moral pre–

occupations into the judgment of values." (Richards: op. cit, p. 63.) "The great secret of morals is love; or a going out of our own nature, and an identification of ourselves with the beautiful which exists in thought, action, or person, not our own. A man, to be greatly good, must imagine intensely and comprehensively, he must put himself in the place of another and of many others; the pains and pleasures of his species must become his own. The great instrument of moral good is the imagination; and poetry administers to the effect by acting upon the cause....Poetry strengthens the faculty which is the organ of the moral nature of man, in the same manner as exercise strengthens a limb. A poet therefore would do ill to embody his own conceptions of right and wrong which are usually those of place and time, in his poetical creations, which participate in neither. By this assumption of the inferior office of interpreting the effect, in which perhaps after all he might acquit himself but imperfectly, he would resign a glory in participation in the cause." (Shelley, P. B.: 'A Defence of poetry', in Jones (ED.): English Critical Essays, Nineteeth Century, pp–132–33.) "Mathew Arnold's dictum that 'poetry is criticism of life' is a case in point. It suggests to the reader a moral intent on the part of the poet and a moral judgment on the part of the reader. It fails to see or at all events to state how poetry is a criticism of life, namely, not directly, but by disclosure, through imaginative vision addressed to imaginative experience (not to set judgment) of possibilities that are unrealized and that might be realized are when they are put in contrast with actual conditions, the most penetrating 'criticism' of the latter that can be made. It is by a sense of possibilities opening before us that we become aware of constrictions that hem us in and of burdens that oppress." (Dewey: op. cot., p. 346)

9.94. रिचर्ड्स: उ. नि. पु. अध्याय 25

9.95. सांतायाना, जी.: "द सेन्स ऑफ ब्यूटी", पुनर्मुद्रण, 1955, पृ. 23

9.96. वही, पृ. 27. 9.77. वही, पृ. 29

9.98. "In a class society human takes on class characteristics; there is no abstract human nature which stands above class distinctions." (Mao Tse Tung: Problems of Art and Literature Bombay: People's Publishing House 1952, p. 34)

9.99 वही, पृ. 28

9.100. "Secondly, we must say to you bourgeois individualists that your talk about absolute freedom is sheer hypocrisy. There can be

no real and effective 'freedom' in a society based on the power of money...This absolute freedom is a bourgeois or anarchist phrase (since, as a world outlook, anarchism is bourgeois philosophy turned inside out). One cannot live in society and be free from society. The freedom of the bourgeois writer, artist or actress is simply masked (or hypocritically masked) dependence on the money-bag, on corruption, on prostitution." (Lenin on Literature and Art, Moscow, Progress Publishers, 1967. p. 26).

9.101. सार्त्र: "वाट इज लिटरेचर?" लंदन, मिथुअन, 1950 पृ. 2-3.

9.102. "The empire of signs is prose; poetry is on the side of painting, sculpture, and music.... Poets are men who refuse to utilize language.. In fact, the poet has withdrawn from language-instrument in a single movement. Once and for all he has chosen the poetic attitude which considers words as things and not as signs" (Ibid, p. 4-5).

9.103. "To speak is to act...." (Ibid, p. 12.)

9.104. "Thus, the prose-writer is a man who has chosen a certain method of secondary action which we may call action by disclosure...The 'committed' writer knows that words are action. He knows that to reveal is to change and that one can reveal only by planning to change. He has given up the impossible dream of giving an impartial picture of society and the human condition. Man is the being towards whom no being can be impartial, not even God." (Ibid, p. 13).

9.105. "He should never say to himself, 'Bah; I'll be lucky if I have three thousand readers,' but rather, 'What would happen if everybody read what I wrote?". (Ibid, p. 14)

9.106. वही, पृ. 14. 107. वही, पृ. 31. 9.108. वही, पृ. 32

9.109. .....as the real world is revealed only by action, as one can feel oneself in it only by exceeding it in order to change it, the novelist's universe would lack depth if it were not discovered in a movement to transcend it.... Thus, of the world of the novel, that is, the totality of men and things, we may say that in order for it to offer its maximum density the disclosure–creation by which the reader discovers it must also be an imaginary participation in the action; in other words, the more disposed one is to change it, the more alive it will be." (Ibid, pp. 43-44). "...although literature is one thing and morality a quite different one, at the heart of the aesthetic imperative we discern the moral imperative." (Ibid, pp. 44-45).

9.110. "Thus, whether he is an essayist, a pamphleteer, a satirist or a novelist, whether he speaks only of individual passions or whether he attacks the social order, the writer, a free man addressing free man, has only one subject-freedom.
"Hence, any attempt to enslave his readers threatens him in his very art. A blacksmith can be affected by fascism in his life as a man, but not necessarily in his craft; a writer will be affected in both, and even more in his craft than in his life." (Ibid, pp. 45-46.) 9.111.
9.111 "Whether he wants to or not, and even if he has his eyes on eternal laurels, the writer is speaking to his contemporaties and brothers of his class and race.... Writing and reading are two facets of the same historical fact, and the freedom to which the writer invites us is not a pure abstract consciousness of being free. Strictly speaking, it is not; it wins itself in an historical situation; each book proposes a concrete liberation on the basis of a particular alienation." (Ibid, pp. 49 and 51.)
"It is not that he is not aiming through them at all men but it is through them that he is thus aiming. Just as one can catch a glimpse of eternal freedom at the horizon of the historical and concrete freedom which it pursues, so the human race is at the horizon of the concrete and historical group of its readers." (Ibid, p. 58.)

अध्याय: 10

10.1. स्टेबिंग, एल. एस: "अ माड्नर् इन्ट्रोड्क्शन टु लॉजिक", पृ. 390, 391.
10.2. टेलर, ए. इ.: "इलेमेण्ट्स ऑफ मेटाफिजिक्स", लंदन, मिथुअन, बारहवाँ संस्करण, 1946, पृ. 2-3.
10.3. प्लेटो ने पलंग का उदाहरण दिया है।
"Whenever a number of individuals have a common name, we assume them to have also a corresponding idea or form.... there are beds and tables in the world.... But there are only two ideas or forms of them.. One of the idea of a bed, the other of a table.... And the maker of either of them makes a bed or he makes a table for our use, in accordance with the idea.... but no artificer makes the ideas themselves.... And there is another artist... One who is the maker of all the works of all other workmen ... Do you see that there is a way in which you could make them all yourself?.... there are

many ways in which the feat might be quickly and easily accomplished, none quicker than that of turning a mirror round and round you would soon enough make the sun and the heavens, and the earth and yourself.... in the mirror.... And the painter too is, as I conceive, just such another... a creator of appearences...." (Plato: Republic in the Dialogues of Plato, tr. Jowett, Vol. I, pp. 852-™53.)

10.4. टेलर, ए. इ.: "प्लेटो - द मैन ऐंड हिज वर्क", लंदन, मिथुअन, पुनर्मुद्रण 1955, पृ. 285-289.

10.5 ". .. corresponding to these four divisions, let there be four faculties in the soul.. reason answering to the highest, understanding to the second, faith (or conviction) to the third, and perception of shadow to the last.. and let there be a scale of them, and let us suppose that the several faculties have clearness in the same degree that their objects have truth." (Plato: Republic, tr. Jowett, p. 773)

जावेट ने जिसे "फेथ" (या "कन्विक्शन") कहा है उसी को बोसाँकि "बिलीफ:" प्रैक्टिकल कॉमन सेन्स" नाम देता है। (बोसांके, बी.: "कम्पानियन टु प्लेटोज रिपब्लिक", पृ. 261) यह चित्शक्ति एवं ओपीनियन एक दूसरे के निकट आनेवाली चीजें हैं, शायद उनमें एकरूपता भी होगी। ओपीनियन के बारे में बोसाँकि लिखता है:

"...the use of the word opinion at the present stage is probably intentional, as indicating notions implanted by education, but not yet tested and established either by experience of life, or by profound theory." (Ibid, p. 119)

बोसाँकि ने चित्शक्तियाँ का खाका इस प्रकार दिया है:

Intelligible world.. deals with what *is*	1. *Intelligence or science.* Criticism in the light of first principle which is "form of good".
	2. *(abstract) Understanding.* Works with uncriticised hypotheses, mathematical sciences employing symbols.
Word of seeming or opinion... deals with what changes, or perishes and begins again	3. *Belief.* Practical common–sense. Organic creation and industrial productions.
	4. *The faculty of images.* Images, representations or likeness. Guess–work, art, poetry, rhetoric, etc. and imagination. (Ibid, p. 261).

Belief: It is knowledge at second hand, belonging to the region of likeness or embodiment, for the single object is only a more or less

imperfect embodiment of its purpose, and therefore, a judgment adequate to it is only likely or probable, not certain. (Ibid, p. 391.)
10.6. अनुकरण करनेवाले के बारे में लिखते हुए जावेट ने अपने अनुवाद में "थ्राईस रिमुवड़ फ्राम द ट्रूथ" शब्दों का उपयोग किया है (जावेट: पृ. 855). इसीलिए डेविस एवं वान ने "ट्वाइस रिमुवड़ फ्रॉम द थिंग ऐज इट वाज क्रिएटेड़" शब्दों का इस्तेमाल किया है. इस मुद्दे के लिए देखिए: बोसाँकि "कंपैनियन टु प्लेटोज रिपब्लिक" पृ. 385.
10.7 "Painting being in two dimensions only, must surrender not only the tactual image, but the combination of ocular images from different standpoints." (Bosanquet: op. p. 386)
10.8. प्लेटो: "रिपब्लिक", "द डायलाग्ज ऑफ प्लेटो" 10. पृ. 855.
10.9 वही, पृ. 856-57. 10.10. वही, पृ. 859. 10.11. वही, पृ. 860-61. 10.12. रिचर्ड्स, आय. ए.: "प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म", पृ. 83.
10.13. "So far as we are thinking about or referring to certain definite things our behaviour in all probability will only be appropriate (i. e., our thoughts true) in so far as it is determined by the nature of the present and past stimuli we have received from those things and things like them." (Richards I. A.: Principles of Literary Criticiam, p. 87)
10.14. "So far as we are satisfying our needs and desires a much less strict connection between stimulus and response is sufficient.... Any occasion may be sufficient for taking exercise, or for a quarrel, for falling in love or having a drink." (Ibid, p. 87.)
10.15. "To this partial independence of behaviour (from stimulus) is due the sometimes distressing fact that views, opinions and beliefs very so much with our differing moods. Such variation shows that the view, belief or opinion is not a purely intellectual product, is not due to thinking in the narrower sense, of response that is governed by stimuli, present or past, but is an attitude adopted to satisfy some desire, temporary or lasting." (Ibid, pp. 87-88.)
10.16. "Only that part of the cause of a mental event which takes effect through incoming (sensory) impulses or through effect of past sensory impulses can be said to be thereby known. (Ibid, p. 89.)
10.17. "On this account we make use of the fact an awareness, say of a variety of black marks on this page, is caused in a certain peculiar way, namely through impressions on a part of the brain (the retina) and various complicated connected goings on in other parts of the brain. To say the metal (neural) event so caused is

aware of the black marks is to say that it is caused by them and here 'aware of'= 'Caused by'. The two statements are merely alternative formulations." (Ibid, p. 90)
10.18. "What is essential in thought is its directions or reference to things." (Ibid, p. 125)
10.19. "A thought of the striking is nothing else and nothing more than a thought caused by it." (Ibid, p. 126).
10.20. "The word has become a sign of an object of that kind. The word which formerly was a part of cause of a certain effect in the mind is now followed by a similar effect in the absence of the rest of the previous cause, namely, an object of the kind in question." (Ibid, p. 127.)
10.21. वही, पृ. 127. 10.22. वही, पृ. 128
10.23. "So far as an impulse owes its character to its stimulus (or to such effects of past accompanying or connected stimuli as are revived) so far is it a reference...." (Ibid, p. 262.)
10.24. "For the term 'thinking' covers mental operation in which the impulses are so completely governed by internal factors and so out of control of stimulus that no reference occurs. Most 'thinking of'includes reference in some degree, of course, but not all, and similarly much reference would not commonly be described as thinking." (Ibid, p. 265)
10.25. "Science is simply the organisation of reference with a view solely to the convenience and facilitation of reference. It has advanced mainly because other claims, typically claims of our religious desires, have been set aside. For it is no accident that science and religion conflict. They are different principles upon which impulses may be organised, and the more closely they are examined the more inevitable is the incompatibility seen to be." (Ibid, p. 265.)
10.26. वही, पृ. 266 - 267 10.27. वही, पृ. 267-268.
10.28. "Further, in the scientific use of language not only must the references be correct for sucess, but the connections and relations of references to one another must be of a kind which we call logical. They must not get in one another's way, and must be so organised as not to impede further reference. But for emotive purposes logical arrangement is not necessary. It may be and often is an obstacle." (Ibid, p. 268)
10.29. वही, पृ. 269. 10.30. वही, पृ. 271, 10.31. वही, पृ. 272 10.32. वही,

पृ. 274-275.

10.33. "Scientific belief we may perhaps define as readiness to act as though the reference symbolised by the proposition which is believed were true. Readiness to act in all circumstances and in all connections into which it can enter... The bulk of the beliefs involved in the arts are of this kind, provisional acceptances, holding only in special circumstances (in the state of mind which is the poem or work of art) acceptances made for the sake of the 'imaginative experience' which they make possible. The difference between these emotive beliefs and scientific beliefs is not one of degree but of kind." (Ibid, pp. 277 and 278.)

10.34." It is the objectless belief which is masquerading as a belief in this or that, when ridiculous; more often than not it is also a serious nuisance. Which is they are kept from tampering with the development of reference such emotional attitudes may be, as revelation doctrines in such strange forms maintain, among the most important and valuable effects which the arts can produce." (Ibid, p. 280)

उपर्युक्त मन:स्थिति कैसे उत्पन्न होती है, इसके बारे में रिचर्ड्स लिखता है:

"Some system of impulses not ordinarily in adjustment with in itself or adjusted to the world finds something which orders it or gives it fit exercise. Then follows the peculiar sense of ease, of restfulness, of free, unimpeded activity, and the feeling of acceptance, of something more positive than acquiescence.... Such are the occasions upon which the arts seem to lift away the burden of existence, and we seem ourselves to be looking into the heart of things. To be cleared in vision and to be recipients of a revelation.' (Ibid, p. 283.)

10.35. वही, पृ. 285.

10.36. रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित "ज्ञानविषयरहित ज्ञानसदृश मन.स्थिति" एवं कांट की "ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन" अवधारणाओं में साम्य है। कांट एवं रिचर्ड्स दोनों का कहना है कि सौंदर्यानुभव ज्ञानानुभव से भिन्न है और फिर भी उनमें कुछ बातों में साम्य है। कांट को स्वभावत: भिन्न प्रेरणाओं का मेलन अभिप्रेत है। यह सही है कि यह भेद महत्त्वपूर्ण है। लेकिन स्वभावत: भिन्न -- असल में, विरोधी -- चीज़ों में सामंजस्य (reconciliation of opposites) प्रस्थापित करने की अवधारणा कांट एवं रिचर्ड्स दोनों में है।

10.37. "मैक्डोनल्ड, मार्गरिट: "द लैंग्वेज ऑफ फिक्शन", मार्गोलिस, जोसेफ

(संपा.): "फिलासोफी लुक्स ऐट आर्टस्", न्यूयार्क, 1962)
10.38. माडगूलकर, व्यंकटेश: "बनगरवाडी", मुंबई, मौज प्रकाशन गृह, पाँचवाँ संस्करण, 1968, पृ. 97. 39. "समग्र बालकवी" (संपा.) ठोमरे, श्रीमती पार्वतीबाई, पुणे, वीनस प्रकाशन, 1966, पृ. 2.
10.40. "One must distinguish 'trying to convince' from seeking to mislead.' To convince is a merit in work of fiction. To indulge someone to accept a fiction, however, is not necessarily to seduce him into a belief that it is real." (Macdonald, M.op. cit., p. 185)
10.41. वही, पृ. 185. 10.42. वही, पृ. 186. 10.43. वही, पृ. 186
10.44. "I want to stress this fact: in that fiction language is used *to create*. For it is this which chiefly differentiates it from factual statement. A story-teller performs; he does not-or not primarily-inform or misinform. To tell a story is to originate, not to report. Like the contents of dreams, the objects of objects of fiction may pre-suppose, but do not compete with, those of ordinary life... (A storyteller) invents by choice, not accident". (Ibid, p. 190.)
10.45. वही, पृ. 194-195. 10.46. रिचर्ड्स: उ. नि. पु. पृ. 272-273.
10.47. बुचर, एस. एच.: उ. नि. पु. पृ. 124-125.
10.48. "A work of art reproduces its original, not it is in itself, but as it appears to the senses". (Ibid, p. 127)
10.49. वही, पृ. 127-128. बुचर पर विश्वचैतन्यवादी विचारधारा का कितना प्रभाव था यह इससे स्पष्ट हो जाता है। कलाकृति भास-रूप होती है या उसके सत्ताशास्त्रीय स्थान के बारे में हम उदासीन रहते हैं। अत: कलास्वाद अलौकिक सिद्ध होता है। यहाँ बुचर दिखाना चाहता है कि कांट-हीगेल का यह सिद्धांत अरस्तू को भी अभिप्रेत था। हमने पहले देखा ही है कि कलाकृति के सत्ताशास्त्रीय स्थान के सिद्धांत से फलास्वाद का अलौकीकीरण सिद्ध नहीं होता।
10.50. वही, पृ. 150-51. 10.51. वही, पृ. 153-154.
10.52 "Fine art was no longer twice removed from the truth of things, it was the manifestation of a higher truth, the expression of the universal which is not outside of and apart from the particular, but presupposed in each particular." (Ibid, p. 60.) "Fine art, then is a completion of nature in a sense not applicable to useful art, it presents to us only an image, but a purified image of nature's original." (Ibid, p. 158)
10.53. करंदीकर गो. वि.: "ॲरिस्टॉटलचे काव्यशास्त्र", मुंबई, मौज प्रकाशन गृह, 1957. पृ. 68. 10.54. वही, पृ. 79. 10.55. वही, पृ. 100. 10.56. "चित्रकार

एवं कलाकार की भाँति कवि अनुकृति करनेवाला होने के कारण उसे निम्नांकित तीन में से एक वस्तु की अनुकृति करना आवश्यक होता है। जैसी पहले थीं या अभी हैं, ऐसी वस्तुएँ, वह जैसी हैं ऐसा कहा जाता है या समझा जाता है, ऐसी वस्तुएँ, या वे जैसी होनी चाहिए, ऐसी वस्तुएँ (उ. नि. पु. पृ. 101)। वे जैसी होनी चाहिए ऐसी (What ought to be) इस अवधारणा को बुचर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। Poetry, he means to say, is not concerned with fact, but with what transcends fact, it represents things which are not, and never can be in actual experience; it gives us the 'ought to be'; the form that answer to the true idea." (Butcher: op. cit, p. 168)

"वे जैसी हैं ऐसा कहा जाता है या समझा जाता है": नाटककार कभी कभी अपनी कथावस्तु पुराण में से लेते हैं। यह सही है कि उनकी सत्यता वैज्ञानिक कसौटी पर नहीं उतरती लेकिन ये पुराण जनमानस में इतने गहरे पैठ चुके हैं कि माना जाता हैं कि वे सत्य हैं। कोई चीज अपनी बुद्धि को न भी जँचे तो भी वह सचमुच में वैसी है, यह अगर कहा जाता रहा हो तो हम उसका स्वीकार करते हैं। इस पर से ऐसा दिखता है कि अरस्तू की राय में वास्तव घटना, अथवा वास्तव समझी जानेवाली घटनाएँ कवि की अपनी कलाकृतियों में स्थान पाएँ तो भी उनकी वास्तवदर्शिता को बाधा नहीं पहुँचती।

(देखिए: बुचर: उ. नि. पु. पृ. 169 एवं 176) असल में जो चीजें संभवनीयता के तत्त्व के विरुद्ध जाती हैं उन्हें वास्तवदर्शी नाट्यकृति में स्थान नहीं मिलना चाहिए। लेकिन हमें लगता है कि कभी संभवनीय न होनेवाली चीज घटित होने से जीवन-दर्शन व्यवस्थित होता है। जीवन का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसमें असंभवनीय चीजें घटित हों, यही ठीक जँचता है। इसलिए ऐसा दीखता है कि एक अर्थ में असंभवनीय, लेकिन दूसरे अर्थ में संभवनीय घटनाओं का नाट्यकृति में अंतर्भाव करने के लिए अरस्तू को आपत्ति नहीं थी। वह कहता है, "उसी के आगे हमें आग्रहपूर्वक कहना है कि जिस तरह संभवनीयता के विरुद्ध कोई घटना घटित होना संभवनीय होता है, उसी तरह विचारदुष्ट घटनाएँ कभी कभी विचारद्रोही नहीं होती।" (करंदीकर: उ. नि. पु. पृ. 106.)

10.57. बुचर: उ. नि. पु. पृ. 172. 10.58. क्रोचे बेनेदेत्तो= "एस्थेटिक", पृ. 33-34. 10.59. वही, पृ. 2-3. 10.50. उदाहरणार्थ, देखिए: "प्रॉब्लेम्स ऑफ माडर्न एस्थटिक्स-कलेक्शन ऑफ आर्टिकल्स", प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1969, पृ. 225-226, 310. 10.61. जो जीवन में अर्थ है, इस विश्वास से जीवन की ओर देखता है, उसी को जीवन में अर्थ नहीं है, इस कारण से विषण्णता पैदा होती है। विज्ञान के प्रश्न ही सही प्रश्न हैं, यह चेतना जिसके खून में द्रवीभूत हो गई है वह जीवन का अर्थ नहीं खोजेगा और उसे इस बात का दुख भी नहीं होगा कि जीवन निरर्थक है।

10.62. "Tregedy is only possible to a mind which is for the moment agnostic or Manichean. The least touch of any theology which has a compensating. Heaven to offer the tragic hero is fatal. That is why 'Romeo and Juliet' is not a Tragedy in the sense in which 'King Lear' is (Richards, I. A.: Principles of Literary Criticism, p. 246.)\ "Tragedy is alien to the judaic sense of the world... God has made good the havoc wrought upon his servant; he has compensated job for his agonies. But where there is compensation, there is justice, not tragedy." (Steiner, George: The Death of Tragedy, London, Faber and Faber, 1961, p. 4.) "The metaphysics of Christianity and Marxism are anti-tragic. That, in essence, is the dilema of modern tragedy." (Ibid, p. 324.) "Real tragedy can occur only where the tormented soul believes that there is no time left for God's forgiveness." (Ibid, p. 332)

10.63. "पवित्र शास्त्र" बंगलोर, भारत लंका बाइबल सोसायटी, 1960. नवा करार पृ. 60. 10.64. वही, पृ. 58.

10.65. "To the sufferers of the earth, this doctrine came as a mighty hope and solace.... Although this was the glorious promise of the Gospels, seeming to remove the tragic from human life, subsequent history behaved in the old tragic ways, and individual men-the man of flesh and blood- not only found himself fighting the old battles, within and without, but found the issues deepened, the enemy more real and tangible, and the stake infinitely greater. For one thing, man was presented with a great new dilemma: to believe or not to believe, a choice charged with terror." (Sewall, Richard B.: The Vision of Tragedy, New Haven and London, Yale University Press, repr. 1967, pp. 50-51.)

10.66. लैंगर, सुसन के.: "ऐन इंट्रोड्क्शन टु सिम्बाम्बिक लॉजिक", न्यूयार्क, ड़ोबर, पब्लिकेशन्स, दूसरा संस्करण आवृत्ति, 1953, पृ. 23-24.

10.67. वही, पृ. 30. 10.68. लैंगर सुसन के.: "फिलासोफी इन अ न्यू की", मेन्टर बुक्स, पुनर्मुद्रण 1953, पृ. 16.

10.69. "In the fundamental notion of symbolization...we have the keynote of all humanistic problems." (Ibid, p. 9.)

10.70. वही, पृ. 22.

10.71. "We use certain 'signs' among ourselves that do not point to anything in our actual surroundings. Most of our words are not signs in the sense of signals. They are used to talk *about* things, not to direct our eyes and ears and noses toward them.... They

serve, rather to let us develop a characteristic attitude toward objects in *absentia*, which is called 'thinking of' or 'referring to' what is not here . 'Signs' used in this capacity are not *symptoms* of things, but *symbols*." (Ibid, p. 24)

10.72. वही, पृ. 32. 10.73. वही, पृ. 33.

10.74. "For the brain is not merely a great transmitter, a super swichboard; it is better likened to a great transformer. The current of experience that passes through it undergoes a change of character, not through the agency of the sense by which the perception entered, but by virtue of a primary use which is made of it immediately: it is sucked into the stream of symbols which constitues a human mind." (Ibid, pp. 33-34.)

10.75. "Ritual, like art, is essentially the active termination of a symbolic transformation of experience." (Ibid, p. 36.)

10.76. वही, पृ. 44. 10.77. वही, पृ. 48.

10.78. "Symbols are not proxy for their objects, but are *vehicles for the conception of objects*. In talking about things we have conceptions of them, not the things themselves; and *it is the conceptions, not the things, that symbols directly 'mean'*." (Ibid, p. 49.)

10.79. वही, पृ. 51.

10.80. "*A proposition is a picture of a structure –the structure of a state of affairs.*" (Ibid, p. 55.)

10.81. वही, पृ. 55.

10.82. "...all language has a form which requires us to string out our ideas even though their objects rest one within the other: as pieces of clothing that are actually worn one over the other have to be strung side by side on the clothesline. This property of verbal symbolism is known as discursiveness; by reason of it, only thoughts which can be arranged in this peculiar order can be spoken at all, any idea which does lend itself to this 'projection' is ineffable, incommunicable by means of words" (Ibid, pp. 65–66.)

10.83. वही, पृ. 70.

10.84. "But this unconscious appreciation of forms is the primitive root of all abstraction, which in turn is the keynote of rationality; so it appears that the conditions for rationality lie deep in our pure animal experience in our power of perceiving, in the elementary fuctions of our eyes and ears and fingers." (Ibid, p. 72)

10.85. वही, पृ. 73. 10.86. वही, पृ. 73-74. 10.87. वही, पृ. 74.

10.88. वही, पृ. 75.
10.89. "The most radical difference is that visual forms are not discursive. They do not present their constituents successively, but simultaneously, so the relation determining a visual structure are grasped in one act of vision." (Ibid, p. 75.)
10.90. "But the symbolism furnished by our purely sensory appreciation of forms is a *non-discursive symbolism*, peculiarly well suited to the expression of ideas that defy linguistic 'Projection'." (Ibid, p. 75.)
10.91. वही, पृ. 76-77
10.92. "Furthermore, verbal symbolism, unlike the non–discursive kinds has primarily a *general* reference... In the non-discursive mode that speaks directly to the sense however, there is no intrinsic generality. It is first and foremost a direct *presentation* of an individual object." (Ibid, p. 78.)
10.93. वही, पृ. 79. 10.94. वही, पृ. 79-80. 10.95. वही, पृ. 80.
10.96. वही, पृ. 80-81
10.97. "The significant observation voiced in this passage is that feelings have definite forms, which become progressively articulated." (Ibid, p. 81.)
10.98. वही, पृ. 81-82.
10.99. "The earliest manifestation of any symbol-making tendency, therefore, is likely to be a more sense of significance attached to certain objects, certain forms or sounds, a vague emotional arrest of the mind by something that is neither dangerous nor useful in reality....Aesthetic attraction, mysterious fear, are probably the first manifestations of that mental function which in man becomes a peculiar 'tendency to see reality symbolically', and which issues in the power of conception, and the lifelong habit of speech.
"something very much like an aesthetic sense of the import is occasionally displayed by the anthropoid apes. It is like a dawn of superstition a forerunner of fetishes and demons, perhaps. (Ibid, p. 89.)
10.100. वही, पृ. 168-169
10.101. "Yet I believe 'artistic meaning' belongs to the sensuous construction as such, this alone is beautiful, and contains all that contributes to its beauty.... Music.... is preeminently non-represen-

tative even in the classical productions its highest attainments. It exhibits pure form not as an embellishment, but as its very essence; we can take it in its flower. for instance. German music from Beach to Beethoven- and have practically nothing but tonal structures before us; no object, no fact. That is a great aid to our chosen preoccupation with form. There is no obvious, literal content in our way." (Ibid, p. 169.)

10.102. वही, पृ. 175.

10.103. "If music has any significance, it is semantic, not symptomatic. Its 'meaning' is evidently not that of stimulus to evoke emotions, nor that of a signal to anounce them; if it has an emotional content, it 'has' it in the same sense that language 'has' its conceptual content.. *symbolically*....Music is not the cause or the cure of feelings, *but their logical expression...*" (Ibid. p. 176.)

10.104. वाग्नर का एक अवतरण देकर लैंगर लिखती है:

"This passage states quite clearly that music is not self-expression, but *formulation and representation* of emotions, moods, mental tensions and resolutions...a "logical picture" of sentient, responsive life, a source of insight, not plea for sympathy." (Ibid, p. 180.) "The content has been symbolized for us, and what it invites is not emotional response, but insight." (Ibid, p. 181) 10.105. वही, पृ. 183.

10.106. "Yet it is not, logically speaking, a language, for it has no vocabulary" (Ibid, p. 193)

10.109. वही, पृ. 194

10.110. "For music has all the earmarks of a true symbolism, except one: the existence ot an assigned connotation...for music at its highest, though clearly a symbolic form is an unconsummated symbol." (Ibid, pp. 194-194.)

10.111. वही, पृ. 209. 10.112. वही, पृ. 210.

10.113. "Besides, a picture is neither a person nor a vase of flowers. It is an image...." (Langer, Susanne K: Feelings and form...A Theory of Art developed from Philosophy in a New Key, London, Routledge & Kegal Paul, 1953, p. 46) "But the true power of the image lies in the fact that it is an abstraction, a symbol, the bearer of an idea." (Ibid, p. 47.) "An image is, indeed, a purely virtual 'object'. Its importance lies in the fact that we do not use it to guide us to something tangible and practical, but treat it as a

complete entity with only visual attributes and relations. It has no others; its visible character is its entire being." (Ibid, p. 48.)
10.144. लैंगर सूसन के.: "फिलिंग ऐंड फॉर्म," पृ. 51. 10.115. वही, पृ. 212. 10.116. वही, पृ. 214. 10.117. वही, पृ. 228. 10.118. वही, पृ 230.
10.119. "Unlike the simple metabolic process, the deathward advance of their individual lives has a series of stations that are not repeated; growth meturity, decline. That is the tragic rhythm." (Ibid, p. 351.)
10.120. "Tragedy dramatizes human life as potentiality and fulfilment... tragic Destiny is what the man brings, and the world will demand of him. That is his fate." (Ibid, p. 352.)
10.121. वही, पृ. 358. 10.122. वही, पृ. 360. 10.123. वही, पृ. 358. 10.124. वही, पृ. 358. 10.125. वही, पृ. 360.
10.126. "When the doctrine, theory, belief, or 'view of life' presented in a poem is one which the mind of the reader can accept as coherent, mature, and founded on the facts of experience, it interposes no obstacle to the reader's enjoyment, whether it be one that he accept or deny, approve or deprecate. When it is one which the reader rejects as childish or feeble, it may, for a reader of well-developed mind, set up an almost complete check." (Eliot, T. S.: 'The Use of Poetry and the Use of Criticism' London, Faber and Faber, repr. 1964, p. 96.)

अध्याय: 11

11.1 "For their object is to strengthen the ego, to make it more independent of the super–ego, to widen its field of vision, and so to extend it organization that it can take over new portions of the id. Where id was, there shall ego be....
"It is reclamation work, like the draining of the Zuyder zee." (Freud, S.; New Introductory Lectures on Psycho-analysis, London, Hogarth Press, 1946, p. 106.)
11.2. इस संदर्भ में लुकाक्स ने अपने "मीनिंग ऑफ कान्टेम्परारी रिअलिज्म" में जेम्स जाइस एवं काफ्का पर की हुई समीक्षा महत्त्व की है।
11.3. "There exists between many parts of our body (though not between all) a relation which has been familiarised by the fable, attributed to Menenius Agrippa, concerning the belly and its *members*. We can find in it parts such that the continued existence

of the one is a necessary condition for the continued existence of the other; while the continued existence of this latter is also necessary condition for the continued existence of the former. This amounts to no more than saying that in the body we have instances of two things, both enduring for some time, which have a relation of mutual causal dependence on one another...a relation of 'reciprocity'. Frequently no more than this is meant by saying that the parts of the body form an "organic unity', or that they are mutually means and ends to one another. And we certainly have here a striking characteristic of living things." (Moore, G.E.: Principia Ethica, pp. 31-32.)

हमें सजग रहना चाहिए कि मूर द्वारा प्रस्तुत सेंद्रिय संबंध की अवधारणा एवं विश्वचैतन्यवादियों द्वारा प्रस्तुत अवधारणा में गड़बड़ न हो। 11.4. करंदीकर गो. वि.: ॲरिस्टॉटलचे काव्यशास्त्र", पृ. 53. 11.5 वही, पृ. 55-56. 11.6. वही, पृ. 98-100. 11.7. देखिए: मान्कड, डी. आर.: "द टाइम्स ऑफ संस्कृत ड्रामा", कराची, उर्मि प्रकाशन, मंदिर, 1936. 11.8. क्रोचे: एस्थेटिक, अध्याय, 4. 11.9. रानड़े, अशोक दामोदर: "संगीताचे सौंदर्यशास्त्र" मुंबई, एस्थेटिक्स सोसायटी एवं मौज प्रकाशन गृह, 1971, पृ. 42. 11.10. वही, पृ. 46. 11.11. वही, पृ. 47. 11.12. वही, पृ. 48-49. 11.13. वही, पृ. 49. 11.14. इसी संदर्भ में रानड़े द्वारा किया गया कला-संगीत और अ-कला संगीत में भेद महत्त्वपूर्ण है। देखिए: वही, पृ. 3-6. 11.14. यहाँ एक गलतफहमी को टालना आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगने की संभावना है कि अन्य कलाओं में जीवन की केवल प्रतिकृति होती है और प्रकृति की लयबद्ध स्वयंपूर्ण चीजों को देखकर ही कलाकार को लय की अवधारणा सूझती है। इससे लगेगा कि लय की अवधारणा अनुभवजन्य है। लेकिन यह समझ उचित नहीं है। लय की अवधारणा, संवाद- विरोध की अवधारणा, वैविध्य में एकात्मता की अवधारणा इत्यादि सभी सौंदर्य तत्त्व मनुष्य उत्स्फूर्ततापूर्वक ही निर्मित करता है। ये तत्त्व मन में तैयार होते हैं इसीलिए लयबद्ध, स्वयंपूर्ण संबंध अलग-अलग माध्यमों में हमें दिखाई पड़ते हैं। चित्रकार की दृष्टि हो तो प्रकृति में भी चित्र दीख सकते हैं। चित्रकार कैमरा नहीं होता जो उतना ही दिखाए जितना दिख जाता है। सामान्य मनुष्य को जो दिखता है उससे बहुत अधिक अलग, एवं सौंदर्य दृष्टि से समृद्ध विश्व चित्रकार को दिखता है, क्योंकि किसी दृश्य के समग्र रंगपट से उसकी दृष्टि वही चुन लेती है जो वांछित है और कुछ घटकों की कल्पना द्वारा पूर्ति करती है। मतलब यह है कि चित्रकार का "देखना" सामान्य देखना नहीं होता। उसका देखना सृजनशील होता है। इस सृजनशील दृष्टि को प्रकृति सदैव पसंद आती है, ऐसा नहीं। इसीलिए तो वह चित्र बनाता है। मतलब चित्र प्रकृति की प्रतिकृति न होकर प्रकृति में चित्रकार द्वारा किया

गया मूल्यवान योगदान है। लेकिन चित्रकार कम-से-कम प्रकृति में बीज-रूप में निहित चित्र देखता है। संगीतकार का ऐसा नहीं होता। उसे वह मानव द्वारा विनिर्मित स्वरों की कृत्रिम दुनिया में ही उपलब्ध होता है। इस दुनिया के बाहर उसे ध्वनियों की यांत्रिक पुनरावृत्ति मिलेगी लेकिन संगीत नहीं मिलेगा। इसलिए संगीत का विश्व अन्य व्यापारों से कटकर रह सकता है। वह पूर्णत: अर्थरहित हो सकता है।

संगीत के विषय में एक और मुद्दे का निर्देश यहाँ करना आवश्यक है। हमने यह देखा कि संगीत लौकिक विश्व से पूर्णत: कटकर रह सकता है। किसी कथा के बारे में बोलते समय हम कहते हैं कि लेखक ने संयोंगों पर अनावश्यक अधिक बल दिया है। प्रत्यक्ष जीवन में इस प्रकार के संयोग बहुत अपवादात्मक रूप में घटित होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कथा के घटक एवं उनके संगठन पर वास्तव का प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष नियंत्रण होता है, याने कथा का विश्व एक बात में कम-से-कम स्वयंपूर्ण नहीं होता, क्योंकि उसपर वास्तव का नियंत्रण रहता है। लेकिन संगीत पर वास्तव का नियंत्रण नही होता। उसके घटक एवं संगठन पूर्णत: स्वायत्त हो सकता है। अर्थरहित संगीत का संगठन तत्त्व अलौकिक होता है। इस संबंध में वाद नहीं होगा। लेकिन उसके घटक भी तो बाहर की दुनिया में ही प्राप्त होते हैं न? यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि संगीत में चाहे जिस नाद को प्रवेश नहीं मिलता। संगीत का विश्व एक संदर्भ-चौखट में बंदिस्त रहता है। प्रा. रानड़े ने कहा है, "इस संदर्भ-चौखट के कारण नादों को स्वरत्व प्राप्त होता रहता है। नाद छुट्टा मिल सकता है। स्वर के बारे में यह संभव नहीं। स्वर एक चौखट का घटक ही होता है। नाद की तरह उसका अस्तित्व निरपेक्ष नही होता। स्वर का अस्तित्व सापेक्ष अस्तित्व होता है। दूसरे घटक-नाद के आधार से ही वह अवतरित होता है। इन घटक-नादों की परस्पर प्रक्रिया होती है। उनके परस्परावलंबित्व के कारण उनके प्रत्येक के स्वरूप की निश्चिति होती है। घटक-नाद परस्पर पूरक होते हैं और विशिष्ट संदर्भ चौखट ही उसकी अस्तित्व चौखट भी होती है। इसके बाहर उन्हें अर्थ ही नहीं होता।" (रानड़े: उ. नि. पु. पृ. 9) सप्तक के बारे में वे कहते हैं, "आरंभ स्वर और संपूर्ण संयोग स्वर इन स्थिर बिंदुओं के बीच की गतिमान संदर्भ-चौखट याने सप्तक है।" (वही, पृ. 19) और (सोपान की किसी भी सीढ़ी को आप नींव की सीढ़ी तय कर सकते हैं, लेकिन एक बार इस सोपान की नींव तय हुई तो उसके माथे की दिशा निश्चित होती है। सप्तक के बारे में तो आरंभ स्वर निश्चित होते ही संपूर्ण संयोग स्वर की (याने अंतिम स्वर की) दिशा ही नहीं तो उसका स्थान भी निश्चित होता है।" (वही, पृ. 19) इसपर से यह स्पष्ट होगा कि संगीतकार पूर्णत: कृत्रिम, स्वयंपूर्ण अवं अनुशासित माध्यम में काम करता है। कलाकृतियों में जिस स्वयंपूर्णता की अपेक्षा सौंदर्यशास्त्रज्ञ करते हैं वह अर्थरहित संगीत में - और अर्थरहित चित्र में - दिखती है। जिन कलाकृतियों को लौकिक जीवन का संदर्भ होता है उनमें ऐसी

पराकाष्ठा की स्वयंपूर्णता नहीं दिखती। एक अर्थ में वे कितनी स्वयंपूर्ण हों तो भी उनमें वास्तव का सूचन अंतर्भूत होने के कारण दूसरे अर्थ में वे संगीत की तरह स्वयंपूर्ण नहीं हो सकती।

11.16. काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास. 11.17. करंदीकर गो. वि.: उ. नि. पु. पृ. 66. 11.18. वही, पृ. 67. 11.19. वही, पृ. 66. 11.20. "क्षेमेंद्रप्रणीत औचित्य-सिद्धांत एवं औचित्य-विचार-चर्चा" (समीक्षक एवं संपा.) लेले, प्रा. वा. के., वाराणसी, 1966. पृ. 43. 11.21. वही, पृ. 25-26.

11.22. इस संबंध में अरस्तू का मत निम्नांकित था: शोकांतिका यथासंभव सूर्य की एक प्रदक्षिणा में रहने का प्रयास करती है अथवा इस सीमा का जरा-सा ही अतिक्रमण करती है, परंतु महाकाव्य के कर्म को काल की सीमा नहीं होती।" (करंदीकर: उ. नि. पु. पृ. 61) 11.23. देखिए: जान्सन, डॉ. सैम्युअल: "द प्रिफेस टु शेक्स्पीअर", ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, इंडियन एड्शिन, मैंगलोर, पुनर्मुद्रण 1945, पृ. 35-38. एकात्मता के नियम-त्रय से संबद्ध विवेचन के लिए देखिए: वही, पृ. 44-52.

11.24. एम्पसन ने अनेकार्थता का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से दिया है:
"Any verbal nuance. however slight, which gives room for alternative reactions to the same piece of language." (Empson, William: Seven Types of Ambiguity, penguin Books, third edition, repr. 1961, p. 1)
"The fundamental situation, whether it deserves to be called ambiguous or not, is that a word or a grammatical structure is effective in several ways at once." (Ibid, p. 2.)

11.25. वही, पृ. 2-3. 11.26. वही, पृ. 5, 6, 234, 235.

11.27. वही, पृ. 15. 11.28. वही, पृ. 102.

11.29. पिछले चालीस-पचास वर्ष बहुत-सारे अंग्रेजी समीक्षकों ने कविता के सूक्ष्म विश्लेषण की पद्धति एक प्रमुख समीक्षा-पद्धति के रूप मे इस्तेमाल की है। उसका उपयोग भी फैशन बन गया है। पिछले दस-पंद्रह वर्षों में इस फैशन के विरोध में बगावत करने का साहस भी कुछ विदेशी समीक्षकों ने दिखाया है। उदाहरणार्थ, देखिए: एल्डर आल्सन: "विल्यम एम्पसन, कन्टेम्परारी क्रिटिसिम्प ऐंड पोएटिक डिक्शन", क्रेन आर. एस. (संपा.): "क्रिटिक्स ऐंड क्रिटिसिज्म - एसेज इन मेथड़ बाइ अ ग्रुप ऑफ द शिकागो क्रिटिक्स", संक्षिप्त संस्करण, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, चौथा पुनर्मुद्रण, 1963). लेकिन सूक्ष्म भाषिक विश्लेषण की प्रणाली अभी भी "अधिकृत" समीक्षा-प्रणाली मानी जाती है ऐसा समझने में हर्ज नहीं है। इसका एक और प्रमाण दिया जा सकता है। पश्चिम की हवाएँ जहाँ पहले पहुँचती हैं, ऐसे बंबई जैसे प्रगत शहर के बुद्धिवानों को यह विश्लेषण-प्रणाली बहुत प्रिय लग रही है। यह देखिए, बंबई के तथाकथित

अग्रगामी शैक्षणिक केंद्रों में प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म के में घंटे में तरुण लोग बड़े उत्साह से केवल पहेलियाँ हल करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऐसे समय इस बात का प्रमाण मिलता है। उपर्युक्त प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म इधर हमारे यहाँ बहुत लोकप्रिय हुई है। अनेक विश्वविद्यालयों के समीक्षा-शास्त्र के परचे में ऐसा प्रश्न अनिवार्य बनाया जाता है। इसका समर्थन यों दिया जाता है कि विद्यार्थी समीक्षा-शास्त्र के जो तत्त्व पढ़ते हैं उन्हें कलाकृतियों पर घटित कर सकते हैं या नहीं, यह इन प्रश्नों से प्रतीत होता है। लेकिन इसमें दुहरा तार्किक गड़बड़ है। एक तो यह कि समीक्षा-शास्त्र कुछ अमूर्त तत्त्व पढ़ाता है और बाद में कलाकृतियों का विश्लेषण करते हुए उन्हें इस्तेमाल करता है, यह क्रम गलत है। कलाकृतियों के बारे में बोलते समय जो तत्त्व अर्थ स्फुट रूप में दीखते हैं, उन्हें स्पष्टता देने का काम समीक्षा-शास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र मुख्यत: करते हैं। दूसरी बात यह है कि प्लेटो - अभिनवगुप्त से लेकर रिचर्ड्स-लैंगर तक के समीक्षक केवल शब्द-विश्लेषण-पद्धति ही सिखाते हैं, यह कहना बिलकुल गलत है। वे रस, अलंकार, काव्य का सत्य, वाड्.मय की नैतिकता, कथावस्तु की संरचना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सिखाते हैं। यह सब विद्यार्थी समझे हैं या नहीं, यह किसी छोटी कविता का शाब्दिक विश्लेषण करके दिखा सकते हैं या नही, इस बात पर निर्भर रखकर देखना तार्किक अनाड़ीपन है। 11.30. देखिए: ब्रुक्स, क्लिअन्थ "द वैल-राट अर्न", लंदन, डेनिस डान्सन, 1960, अध्याय - 1.

11.31. "ध्वन्यालोक", (संपा.) डॉ. नगेंद्र, वाराणसी, ज्ञानामण्डल लिमिटेड, 1962, पृ. 11. 32. मर्ढेकर बा. सी.: "सौंदर्य आणि साहित्य", मुंबई-मौज प्रकाशन गृह, 1955 पृ. 14: और देखिए: वही, पृ. 123. ये तत्त्व मर्ढेकर ने कुछ थोड़ा फर्क करके पहले दीये थे।

"The Law of Harmony states that if two relations are simultaneously given such that one of them either is or tends to be indentical in quality with the other, then the relation between them is that of harmony... The Law of Contrast states that if two relations are simutaneously given such that one of them either is or tends to be opposite in quality to the other, then the relation between them is that of contrast.... The Law of Balance states that if a group of inter-related relations can be divided into two halves such that the number of relations in one is equal to the number of relations in the other, then the relation between the two halves is that of balance...." (Mardhekar, B. S.: Arts and Man, Bombay, Popular Prakashan, 1960, pp. 33-34.)

इस अंग्रेजी उद्धरण में मर्ढेकर मुख्यत: वाङ्मय कला के बारे में बोलते हैं, अत: उन्होंने संबंधों की अवधारणा को विशेष महत्त्व दिया है। उनकी राय में वाङ्मय

का माध्यम होता है भावनात्मक अर्थ। चूँकि भावना किसी के बारे में एवं किसी के संबंध में होती है। वह संबंध-बद्ध (relational) होती है। भावनात्मक अर्थों के संबंधों को संबंधों के संबंध (असल में संबद्ध-बद्ध के संबंध) कहना क्रमप्राप्त है। परंतु वाङ्मय के बाहर इस अवधारणा का महत्त्व नहीं होता। अत: हम संबंधों का निर्देश टालकर मर्ढेकर के तीन नियमों का ही केवल विचार करेंगे। 11.33. मर्ढेकर: "आर्टस ऐंड मैन" पृ. 25. 11.34. वही, पृ. 49. 11.35. वही, पृ. 45. 11.36. मर्ढेकर: "सौंदर्य आणि साहित्य", पृ. 191. 11.37. वही, पृ. 124-25. 11.38. मर्ढेकर: आर्टस ऐंड मैन", पृ. 37. 11.39. रिचर्ड्स, आय. ए.: प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म", अध्याय 6. 11.40. प्रा. रानड़े ने यह निबंध 'मुंबई मराठी साहित्य संघ' के तत्त्वावधान में 1971 में मर्ढेकर पर आयोजित परिसंवाद में पढ़ा था। 11.41. आचल, प्रा माधव: "किमया", बंबई, मौज प्रकाशन गृह, पृ. 4. 11.42. वही, पृ. 6. 11.43. वही, पृ. 39. 11.44. वही, पृ. 27. 11.45. करंदीकर: उ. नि. पु. पृ. 68.
11.46. "I believe that other people who have called a whole W an 'organic unity' have meant that W is such that no part of it could have existed unless all the other parts had existed and had stood to each other in the relations in which they in fact did stand." (Broad, C. D.: Examination of Mc Taggart's Philosophy, Vol. I, Cambridge, 1933, p. 316.
11.42 "The essence of an organic whole... is that it is a configuara-tion such that the whole is logically prior to the parts and the relations between the parts; the parts are what that are in virtue of the overall properties of the whole of which they are parts."
(Osborne, H. Aesthetics and Criticism, London, 1955, p. 250.)
11.48. वही, पृ. 240.
11.49. "But though you remove the head, the arms and the legs of a beautiful statue, its torso will remain a thing of beauty and its beauty will be in definite sense, the same beauty which once characterised the statue complete." (Ibid, p. 242.)
11.50. विश्वचैतन्यवादियों के लिए देखिए: मूर जी. ई.: "प्रिंसिपिया एथिका", पृ. 33-36. 11.51. आज्बर्न: उ. नि. पु. पृ. 240-247..

परिशिष्ट - 1

1. क्रोचे: "एस्थेटिक" अध्याय - 6.
2. "A work of art is not a meterial thing but an enduring possibility, often embodied or recorded in a material medium, of a specific set of sensory impressions, which is characterized by what we call beauty." (Osborne, H: Theory of Beauty, London, Routledge and Kegan Paul, 1952, p. 202.)
3. देखिए: जोड़ सी. ई. एम.: "गाईड टु फिलासोफी", लंदन, विक्टर, गलैंट, पुनर्मुद्रण, 1948 पृ. 266-70.
4. "...in fact it is the only workable way of defining a poem, namely, as a class of experiences which do not differ in any character more than a certain amount, varying for each character from a standard experience of the poet when contemplating the completed composition. (Richards, I. A.: Principles of Literary Criticism, pp. 226–™27)
5. जोड़ उ. नि. पु. पृ. 341-344. 6 वही, पृ. 346 - 347.
7. Wellek, Rene and Warren, Austin: Theory of Literature, London, Jonathan Cape, repr. 1961, p. 147.)
8. "A poem...is not an individual experience or a sum of experiences, but only a potential cause of experiences.Definition in terms of states of mind fails because it cannot account for the normative character of the genuine poem, for the simple fact that it might be experienced correctly or incorrectly. In every individual experience only a small part can be considered as adequate to the true poem. Thus, the real poem must be conceived as a structure of norms, realized only partially in the actual experience of its many readers. Every single experience...is only an attempt..more or less successful and complete..to grasp this set of norms or standards." (Ibid, p. 151.)
9. "The literary work of art is neither an empirical fact, in the sense of being a state of mind of any given individual or of any group of individuals, nor is it an ideal changeless object such as a triangle. The work of art may become an object of experience; it is, we admit, accessible only through individual experience, but is not identical with any experience." (Ibid, p. 155)
10. "It is a system of norms of ideal concepts which are intersubjective. They must be assumed to exist in collective ideology, changing with it, accessible only through individual mental expe-

riences based on the sound-structure of its sentences." (Ibid, p. 157.)

11. Wittgenstein L: Philosophical Investigations, tr. Anscombe, G.E.M., Oxford, Basil Blackwell, 1958, p. 193.

12. "Hence the flashing of an aspect on us seems half visual experience, half thought." (Ibid, p. 197.)

13. "Categorical aspection involves as change of categorical aspects, the same material thing is perceived now as physical object, now as an aesthetic object, neither of which involves seeing it as another thing. The difference between categorical aspects has to do with modes of perception and the kinds of space in which their objects are realised. Moreover, such aspection... involvs an educated looking which is a gradual achievement." Aldrich, Virgil C.: Philosophy of Art. Prentice Hall, 1963, p. 22.)

14. "...the distinction between'physical object' and 'aesthetic object' is not anything like the distinction between 'material' and 'mental'. Any object is material thing appearing one way or another. There are no mental objects, fundamentally speaking.

"...the mind, as a potential for this or that sort of experience of material things, does not necessarily become subjective when it gives up obsering them. The notion that it does become subjective was the unfortunate result of the traditional unilinear model. There is another access to material things .. as objective in its own way as the observational in its way...that the mind may take as prehending subject. In such a rapport, the things, will be realized as aesthetic object, in the prehensive mode of preception. (Ibid, p. 23.)

15. मर्ढेकर केवल इसी मुद्दे को लेकर रिआलिस्ट हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए।

4

पारिभाषिक शब्द - सूची

अच्छा / शिव – Good
अच्छाई / शिवत्त्व – Goodness
अतार्किक – a logical
अतिदेश – Extension
अतिभौतिकी – Metaphysics
अतिवास्तववादी – Surrealism-ist
अत्यहं – Super-ego
अनन्यसाधारण – Unique
अनुकरण – Imitation
अनुकृति – Imitation
अनुनयी व्याख्या – Persuasive definition
अनुभवपूर्व – A priori
अनुभवाधिष्ठित – Empirical
अनेकार्थता द्व्यर्थित्व – Ambiguity
अपरिहार्यता – Necessity
अप्रत्यक्ष प्रमाण – Indirect Proof
अबोध मन (अवचेतन)– Unconscious
अभिधान/संज्ञा – Name
अभाषिक प्रतीक – Non-discursive Symbolism
अभिव्यंजना – Expression
अभ्युपगम-निगामी पद्धति – Hypothetico-deductive Method
अमूर्तीकरण – Abstraction
अर्थपूर्ण आकृति – Significant Form
अवकाश – Space
अवधारणा / संकल्पना – Concept
अ-सुंदर – Non–beautiful
अस्तित्व-निरपेक्ष – Disinterested

अहं – Ego
आत्मव्याघात – Self-contradiction
आदिम – Primitive
अभिव्यंजनावाद – Expressionism
आशयात्मक – Substantial
आशय-संपृक्त – Representational
आस्था – Interest
इंद्रियगोचर सृष्टि – Phenomenal World
इंद्रियसंवेदना – Impression of Sense
इच्छाशक्ति – Will
उत्पत्ति-तर्काभास – Genetic fallacy
उत्पत्ति-सिद्धांत – Genetic theory
उन्नयन / उदात्तीकरण – Sublimation
उपयोजन – Application
उपपत्ति-निरपेक्ष – Theory-neutral
उपादान - कारण – Material Cause
उर्वरित शक्ति-सिद्धांत – Surplus Energy Theory
एकरूप – Identical
एकसत्व-तर्काभास – Essentialist Fallacy
ऐंद्रिय घटकों की सामग्री – Sensory Manifold
कला-मीमांसा – Philosophy of Art
कलास्वरूप-शास्त्र – Philosophy of Art
कल्प – Schema
कल्पनाशक्ति – Imagination
कल्पनाशक्ति, दोयम श्रेणी की – Imagination, Secondary
कल्पनाशक्ति, निर्मितिशील – Imagination, Productive
कल्पनाशक्ति, पुन:प्रत्ययकारी – Imagination, Reproductive
कल्पनाशक्ति, प्रथम श्रेणी की – Imagination, Primary
कल्पित – Fictions
कारण – Cause/Reason
कुलसाम्य – Family Resemblance
कृति – Praxis
केवलचिद्वाद-दी/विश्वचैतन्यवाद-दी – Absolute Idealism-ist

केवल चैतन्याभिव्यंजना/केवल-आत्माभिव्यंजना — Abstract or a priori Expression
कोटि — Category
कोटि-भेद — Category Difference
कोटि-संभ्रम — Category Mistake
खुली अवधारणा — Open Concept
गतिशील जडतत्त्व — Matter in Motion
गृहीतक (गृहीतकृत्य) — Assumption, Axiom
चमत्कृति-शक्ति — Fancy
चिंतनशीलता — Contemplative Faculty
चिंतन की भूमिका (वृत्ति) — Contemplative Attitude
चिह्न — Sign
चेतना का भ्रष्टीकरण — Corruption of Consciousness
जाति — Genus
ज्ञातृगत / ज्ञातृ सापेक्ष — Subjective
ज्ञान — Knowledge / Wisdom
ज्ञानविधान/ज्ञानात्मक विधान — Cognitive judgment
ज्ञानशक्तियों का मुक्त मेलन — Free play of the Cognitive Faculties
ज्ञानशास्त्रीय — Epistemologygical
ज्ञानात्मकतावाद-दी — Cognitivismist
ज्ञानात्मकता विरोधवाद-दी — Non-Cognitivism-ist
ज्ञानात्मक पहलू आयाम — Theoretical Moment
तटस्थ अवलोकन की भूमिका — Contemplative Attitude
तत् — Id
तार्किक अनुभववाद — Logical Positivism
तार्किकता — Rationality
दोयम व्यवस्थापन — Secondary Elaboration
दो स्तरों का संबंध — Relation of Double Degree
द्रव्य — Material/Matter
द्विध्रुवात्मकता — Bipularity
धारणा — Belief/opinion
न-नैतिक — A–Moral
निबद्ध निर्णय — Determinate Judgment

निमित्त-कारण – Efficient Cause
निरवयव – Simple
निर्णय-शक्ति – Judgment (Faculty of)
स्वच्छंदवादी – Romantic
निवेदन/संप्रेषण – Communication
निश्चिति – Certainty
निसर्ग-व्यवस्था के आदर्श – Ideals of Natural Order
नीति-संवाक्य – Ethical Judgment
नैतिककर्ता – Moral Agent
पदार्थ – Substance
परायत्त सौंदर्य – Dependent Beauty
पराश्रयी (गुण) – Derivative (Characteristic)
पुनर्रचनात्मक अतिभौतिकी – Revisionary Metaphysics
पूर्वक्रीडासुख – Fore-pleasure
प्रकट स्वप्न – Manifest Dream
प्रकार - रूपी द्व्यर्थित्व – Type taken Ambiguity
प्रतिगमन – Regression
प्रतिभा – Genius
प्रतीक – Symbol
प्रतीक, प्रत्यक्षदर्शनात्मक – Symbol, Presentational
प्रयोजन – Purpose
प्रयोजन-पूर्णता – Purposiveness
प्रयोजन-कारण – Final Cause
प्रयोजनरहित प्रयोजनपूर्णता – Purposeless, Purposiveness
प्राकृतिकतावादी हेत्वाभास – Naturalistic Fallacy
प्राकृतिक विज्ञान – Natural Science
प्रातिभ ज्ञान – Intuition
प्रातिभ विगमन – Intuitive Induction
प्रेरणा – Impulse
प्रेक्षण – Prehension
बिंब – Image
बिंब मुक्त – Image, Free
बिंब, संबद्ध – Image, Tied

बोधपूर्व (चेतनपूर्व) – Pre-conscious
बौद्धिकता – Rationality
भावना – Feeling/Emotion
भावनार्थवाद-दी – Emotivism-ist
भाषाव्यवहार, भाषाव्यापार – Language Game
मान्यता (राय), धारणा, समझ – Belief/opinion
मन:शक्ति – Faculty
मनोग्रंथि – Complex
मनोवस्था – Mood
माध्यम – Medium
मानसिक अंतर – Psychical Distance
मुक्त अवधारणा – Open concept
मुक्त कल्पनासाहचर्य – Free Association of Ideas
मुक्त-निर्णय – Reflective judgment
मूर्त सामान्य – Concreté Universal
मूलादर्श – Exemplar/Paradigm
मूल्यनिकष – Value Criterion
मृत्यु की सहजप्रेरणा– Death Instinct
रचना-प्रेरणा– Impulse of Construction
रतिशक्ति – Libido
रूढ़-परिभाषा– Conventional Definition
रूप-कारण– Formal Cause
रूपात्मक – Formal
रोचक – Agreeable
लयतत्त्व – Rhythm
वर्णनात्मक अतिभौतिकी – Descriptive Metaphysics
वस्तुगत – Objective
वास्तवतत्त्व/यथार्थ तत्त्व – Reality Principle
विवेक – Wisdom
विवेकशीलता – Rationality
विराट – Sublime
विरोधविकासशील – Dialectical
विशिष्ट (वस्तु चीज) – Particular

विशेषतत्त्व – Character, Individual Physiognomy
विशेषसंपृक्त सामान्य – Concrete Universal
विश्लेषणात्मक – Analytical
व्यक्तिवाद-दी – Individualism-ist
व्यक्तिविषयक संवाक्य – Singular Judgment
व्यवच्छेदक लक्षण – Differentia
व्यवहारात्मक पहलू/अंग – Practical Moment
व्याज-संकल्पना – Pseudo-concept
व्यामिश्र – Complex
शिवकारक गुण – Good–making Propety
शोकांतिका/शोकात्मिका – Tragedy
संकल्पना/अवधारणा – Concept
संवाक्य – Judgment/Statement/Proposition
संगत/प्रासंगिक – Relevant
संगति – Harmony/Relevance
संबंध-बद्ध अनुभव – Relational Experience
संबंधरहित अनुभव – Non.–Relational Experience
संमिश्र निर्मिति – Composite Formation
संकेतजनक परिभाषा – Stipulative Defination
संवेदना – Sensation/Sense Data
संवेदनाजन्य ज्ञान – Sense Perception
संश्लेषण – Synthesis
संश्लेषणात्मक – Synthetic
संज्ञा/नामाभिधान/अभिधान – Name
सत्ताशास्त्रीय स्थान – Ontological Status
सत्त्व – Essence
सत्त्व का प्रकाश – Effulgence of Form
सबोध (सचेत) सचेतन – Conscious
समधातता – Equilibrium
समष्टि और व्यष्टि – Whole and Part
सर्वसामान्यता/सार्वत्रिकता/सार्वभौमिकता/सार्वजनीनता – Universality
साधारणता – Generality
सामान्य – Universal/General

सार्वजनीन/सार्वभौमिक संवाक्य – Universal Judgment
साहचर्य के नियम – Laws of Association
सुखवाद-दी – Hedonism-ist
सुखात्मिका – Comedy
सेंद्रिय – Organic
सेंद्रिय एकता – Organic Unity
सेंद्रिय संबंध – Organic Whole
सौंदर्यविधान – Aesthetic Judgment
सौंदर्यशास्त्र – Aesthetics
सौंदर्यसुखवाद – Aesthetic Hedonism
सौंदर्य का आदर्श – Ideal of Beauty
स्थानांतर – Displacement
स्थिरप्रवृत्ति – Disposition
स्वभावतः वादग्रस्त संकल्पना – Essentially Contested Concept
स्वायत्त सौंदर्य – Free Beauty

❑❑